राजनारायण गुप्त ★ राधानाथ चतुर्वेदी

पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास

(सोक्रेटीज़ से हिटलर और मुसोलिनी तक)

किताबमहल प्रकाशन

पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास

[सोक्रेटीज़ से हिटलर और मुसोलिनी तक]

राजनारायण गुप्त
राधानाथ चतुर्वेदी



किताब महल (होलसेल डिवीजन) प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस : ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

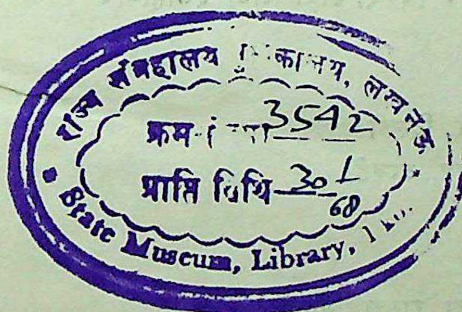


पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास

[सोक्रेटीज से हिटलर और मुसोलिनी तक]

राजनारायण गुप्त

राधानाथ चतुर्वेदी




किताब महल (होलसेल डिवीजन) प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस : ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

१९६४

ग्रन्थ संख्या : ३९०

प्रथम संस्करण, : १९५६

द्वितीय संस्करण : १९५९

तृतीय संस्करण : १९६४

प्रकाशक

किताब महल (होलसेल डिवीजन) प्राइवेट लिमिटेड

रजिस्टर्ड आफिस : ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद

●

शाखाएँ

२८, फैज़ बाजार, दिल्ली

२३५, हार्नबी रोड, बम्बई

●

एजेन्सियाँ

अटल भवन चौड़ा रास्ता, जयपुर

अशोक राजपथ, पटना

१२-डी, यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

●

मुद्रक

प्रेम प्रेस, कटरा,

इलाहाबाद।

●

आवरण मुद्रक

ईगल आफसेट प्रिन्टर्स

१५, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों के बी० ए० के छात्रों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए लिखी गयी है। किसी हद तक एम० ए० के छात्र भी इससे सहायता ले सकते हैं। पुस्तक की विषय-वस्तु की गंभीरता देखते हुए यथाशक्ति सरल और सुबोध बनाने का यत्न किया गया है लेकिन राजदर्शन के विद्यार्थी इस पुस्तक को आरंभ करने के पूर्व यदि कोई छोटी-मोटी पुस्तक यूरोप के इतिहास के संबंध में पढ़ लेंगे तो प्रस्तुत पुस्तक से और भी अधिक लाभ उठा सकेंगे।

कुछ शब्द इस पुस्तक की लेखन-पद्धति के संबंध में भी कह देना आवश्यक है। हमने इस पुस्तक की पद्धति विज्ञान की पुस्तकों की भाँति रखी है। प्रत्येक अध्याय कई अनुध्यायों में विभक्त है। हर अनुध्याय पर अंक पड़े हैं। अनुध्याय में यदि तत्संबंधी अन्य बातों को उठाया गया है तो आरंभ में अनुध्याय की संख्या लिख दी गई और फिर उस बात की। उदाहरण के लिए यदि प्लेटो के सम्पति संबंधी विचारों की आलोचना की गयी है तो ऊपर शीर्षक दिया गया है। 'प्लेटो के सम्पति संबंधी विचारों की आलोचना' इस शीर्षक के पहले अनुध्याय की संख्या है। इसके बाद जितनी आलोचनाएँ हैं उनको क्रम से अनुध्याय की संख्या सहित दिया गया है। मान लीजिए यदि उक्त अनुध्याय की संख्या ६ है और आलोचना करते हुए ५ बातें कही गयी हैं तो हर बात ६.१, ६.२, ६.३, ६.४, आदि इस तरह अंक पड़े मिलेंगे।

पुस्तक को यथाशक्ति त्रुटिहीन बनाने का यत्न किया गया है। लेकिन यदि फिर भी त्रुटियाँ रह गयी हों तो आश्चर्य नहीं। इस दिशा में जो भी सुझाव दिये जायँगे उनका हम स्वागत करेंगे और उन सुझावों के प्रकाश में उनमें सुधार करने का यत्न अगले संस्करण में करेंगे।

पुस्तक संबंधी कार्य में श्री राजेन्द्रकुमार से पर्याप्त सहायता मिली है जिसके लिए हम उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं।

——लेखक

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

राजदर्शन की प्रकृति और विस्तार

१. ज्ञान-संसार में राजदर्शन का स्थान--२. राजदर्शन का जन्म और विकास--
३. राजदर्शन के भेद और उपभेद--४. पौर्वात्य राजदर्शन का सिंहावलोकन--
५. पौर्वात्य राजदर्शन का साहित्य--६ उपसंहार।

सभ्यता और संस्कृति के जिस उच्चतम शिखर पर आज हम समग्र मानव-जाति को उन्नत-भाल से खड़ा देखते हैं और उसमें जिस सफलता की चरम-परिणति के दर्शन करते हैं--वह संसार के किसी एक कोने में रहने वाले मानव-समाज या किसी एक युग के मानव-वंशजों के कार्यों-व्यापारों का परिणाम नहीं है। वह तो अनादि काल से निरन्तर प्रवहमान काल-धारा की तरंगों पर बैठकर जय-यात्रा के लिये निकली मानव-जाति के शाश्वत-प्रयत्नों और चेष्टाओं का परिणाम है। यह सत्य है कि युगधारा की हिलोरों पर बैठी मानव-जाति ने अनेक बार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उत्थान एवं पतन के दृश्य देखे हैं, किन्तु यह बात कौन अस्वीकार कर सकता है कि गतिदिशा सदैव प्रगति की ओर ही रही है।

मानव-समाज का वर्तमान भूत से तथा भविष्य वर्तमान से संबद्ध है। इन तीनों का एक दूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध है। जिस प्रकार आज की जय-पराजय, सफलता-विफलता एवं सुख-दुख अतीत से संबंधित हैं उसी प्रकार भावी विजयों, सफलताओं और सुखों का भाग्य हमारी वर्तमान दूरदर्शिता या कुदर्शिताओं, सुनियोजनों के या कुनियोजनों के उत्साह या अनुत्साह पर निर्भर है। वर्तमान मानवीय चेष्टाओं और व्यापारों का एक सीमा तक अतीत द्वारा पथ-प्रदर्शन होता है। अतीत का ज्ञान भविष्य में प्रगति करते रहने के लिए आवश्यक है। अतीत के अनुभवों की संचित राशि ही इतिहास कहलाती है। यह इतहिास ही हमारी ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य साधन है।

१. ज्ञान-संसार में राजदर्शन का स्थान

लेकिन यह ज्ञान क्या है? उसका स्वरूप क्या है? क्या ज्ञान के भी कुछ भेद हैं? यदि हैं तो क्या? आदि आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो हमें घेर लेते हैं। ज्ञान-परिधि में राजदर्शन के इतिहास का स्थान स्थिर करने के लिये पहले इन प्रश्नों के उत्तरों को भली भाँति समझ लेना आवश्यक है।

१.१ ज्ञान क्या है?--व्युत्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से 'ज्ञान' शब्द संस्कृत की 'ज्ञ'[1] धातु से बना है--जिसका अर्थ है 'जानने की इच्छा'। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सभी प्रकार की जानकारी एक-सी नहीं होती और न उसके अध्ययन के साधन ही समान होते है। ज्ञान के भेद उनके अध्ययन के साधन के आधार पर किये जाते हैं। साधन जितने ही स्थूल होंगे--ज्ञान उतना ही सीमित होगा। हमारी ज्ञान-प्राप्ति के प्राथमिक साधन इन्द्रियाँ हैं। अर्थात् आँखों से देखना, कानों से सुनना, नासिका से सूँघना, जिह्वा से चखना आदि। लेकिन यह साधन अति स्थूल हैं। इनसे प्राप्त ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। इन्द्रियों से अधिक उन्नत मन होता है। यह कल्पना के पंखों पर सरपट दौड़ लगाता है। कवि का

---

१ 'ज्ञ' का उच्चारण 'ज्य' है; 'ग्य' नहीं।

अर्थ इसीलिए एक कल्पनाशील व्यक्ति से लिया गया है। कहा गया है 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'। प्लेटो को उसकी अद्भुत कल्पना-शीलता के कारण ही कवि बतलाया गया है। कल्पना से कुछ ही क्षणों में हम लाखों मील की सैर कर आते हैं, किन्तु मन से भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि होती है और बुद्धि के आगे कल्पना भी नत है क्योंकि गणित की सहायता से चुटकियों में करोड़ों-अरबों मील दूर सूर्यादि ग्रहों की दूरी भी गणितज्ञ या ज्योतिषी नाप डालते हैं, जब मन या कल्पना द्वारा यह संभव नहीं है। यहाँ ज्ञान शब्द का प्रयोग बुद्धि की वृत्तियों के आशय में किया गया है। वस्तुतः सभी विद्याओं की ज्ञान-प्राप्ति का साधन यह बुद्धि की वृत्तियाँ ही हैं।

१.२ ज्ञान के भेद--स्थूल रूप से देखा जाय तो हमें संसार का समस्त ज्ञान एक इकाई-सा प्रतीत होगा। हम ज्ञान की उपमा एक ऐसे वृत्त या चक्र से कर सकते हैं जिसके केन्द्र-बिन्दु या धुरी से परिधि की ओर असंख्य रेखाएँ या शलाकाएँ प्रस्फुटित होती दिखलायी पड़ती हैं। ये रेखाएँ यद्यपि विभिन्न स्थानों से आरंभ होती हैं किन्तु इनका लक्ष्य एक ही होता है। मोटे तौर पर ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है--'कला' और 'विज्ञान'। ज्ञान के सुव्यवस्थित रूप को विज्ञान की संज्ञा दी जाती है। इसमें केवल जानकारी तथा उसके व्यवस्थित रूप पर अधिक बल दिया जाता है। कला में विषय की जानकारी पर इतना अधिक बल दिया जाता है जितना उसके प्रयोग की चतुराई पर। इसीलिए कला का अर्थ है वास्तविक जीवन में ज्ञान का प्रयोग। राजदर्शन के विषय में यह कहना कि वह 'विज्ञान' है अथवा 'कला', अत्यन्त कठिन कार्य है। लेकिन इस विषय पर विचार करने से पहिले हमें यह समझ लेना चाहिए कि राजदर्शन क्या है ?

१.३ राजदर्शन की स्थिति---हम यह तो समझ ही गये हैं कि बुद्धि की विभिन्न वृत्तियों से जिन विषयों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है उन्हीं विषयों में से एक विषय राज-शास्त्र भी है। लेकिन इतना ही जान लेना पर्याप्त नहीं है। राज-शास्त्र बड़ा व्यापक विषय है। इस शास्त्र को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं : (१) राजनीति-कला, (२) राजनीति-विज्ञान और (३) राजदर्शन। राजनीति कला हमें व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देती है जिनमें राजनीति का ज्ञान ही अपेक्षित नहीं होता, अपितु उस ज्ञान को व्यावहारिक क्षेत्र में चतुराई से प्रयोग करने की क्षमता भी अपेक्षित होता है। राजनीति-विज्ञान में विषय-वस्तु को व्यवस्थित रूप दिया जाता है। यह व्यवस्थित रूप पर्यवेक्षण, अध्ययन और अनुभव का परिणाम होता है जिसे इस तरह उपस्थित किया जाता है कि वह सम्पूर्ण प्रतीत हो। इसके बाद हम राजदर्शन की परिभाषा पर विचार करेंगे; किन्तु ऐसा करने से पहिले यह जान लेना अच्छा होगा कि 'दर्शन' शब्द का क्या अर्थ है। दर्शन शब्द की उत्पत्ति 'दृश' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'देखना'। जिन विषयों में हमें राज्य-संचालन और तत्संबंधी सिद्धान्तों का अध्ययन करना पड़े, वही राज-शास्त्र की संज्ञा से संबोधित किया जाने योग्य है। राज-शास्त्र में विशिष्टताओं का अध्ययन नहीं किया जाता, उनमें अनुभवों का साधारणीकरण (Generalisation) किया जाता है। राजदर्शन में राजनीति के अनिवार्य और मौलिक तत्वों को स्थिर किया जाता है।[१] इस प्रकार जिस विषय में हमें राज्य संबंधी सिद्धान्तों के--विचारों के--जन्म और विकास आदि की व्याख्या करनी पड़े, वही विषय राजदर्शन हुआ। विचारों को क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित ढंग से उपस्थित किया जाना उनको समझने के लिये नितान्त आवश्यक है। लेकिन इन विचारों का प्रतिपादन और उपस्थितीकरण इस प्रकार किया जाता है जिससे पाठक या श्रोता प्रतिपादक से सहमत हो

१. Gettell, *Political Science*, p. 5.

जायँ। इसी कारण विचारक में विशेष चतुराई की अपेक्षा होती है और दर्शन भी विज्ञान की सीमा से एक चरण आगे रखकर कला के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। 'राजदर्शन' इस दृष्टि से। कला और विज्ञान दोनों है लेकिन सामान्यतः इसे कला ही माना जाता है। राजदर्शन को कला इसलिये माना जाता है कि उसकी सामग्री अत्यन्त व्यापक और जटिल है। दूसरे, उसमें शोध और प्रयोगों के शुद्ध वैज्ञानिक साधनों को प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। तीसरे, राजदर्शन की विचार-पद्धतियों, सिद्धान्तों और परिणामों के संबंध में सभी विचारकों का एकमत होना आवश्यक नहीं होता। चौथे और अन्त में, राजदर्शन के अध्ययन द्वारा हम भावी घटनाओं के संबंध में कोई निश्चित भविष्यवाणी भी नहीं कर सकते। कारण, सामाजिक और राजनीतिक संबंध बराबर बदलते रहते हैं। अतः इन सब बातों को दृष्टि में रखकर हमें राजदर्शन को विज्ञान के क्षेत्र में न रखकर कला के क्षेत्र में ही रखना पड़ता है।

२. राजदर्शन का जन्म और विकास

जिस प्रकार हम किसी भी विषय के लिये यह नहीं कह सकते कि अमुक शास्त्र या विद्या का जन्म अमुक सन् या सम्वत् में हुआ उसी प्रकार राजदर्शन के लिये भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका जन्म कब और किस तिथि को हुआ। उसकी उत्पत्ति का पता केवल प्राचीनतम मानव-प्रवृत्तियों के मूल से ही लगाया जा सकता है।

२.१ राजदर्शन का जन्म कैसे हुआ ?—यह कहने की तो आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होता कि मानव-वृत्तियों की रचना और उनका निर्माण तथा विकास भौगोलिक वातावरण पर निर्भर करता है। यह मानव-प्रवृत्तियाँ समाज की विभिन्न आवश्यकताओं को जन्म देती हैं। आवश्यकताओं से मानव-संस्थाओं या सामाजिक-संस्थाओं (Sccial institutions) की सृष्टि होती है। राजनीतिक संस्थाओं का स्वरूप कुछ सामाजिक संस्थानों का ही विकसित रूप है। उदाहरण के लिये राज्य को ही लीजिये। यह क्या है ? इसकी आवश्यकता क्यों पड़ी ? इसीलिये न कि वह सामाजिक-आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। लेकिन राजनीतिक संस्थान कभी एक समान नहीं रहे। उनमें बराबर परिवर्तन होता गया। इस परिवर्तन का कारण भी आवश्यकताओं का क्रमशः जटिल होता जाना था। ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्नति करता गया और उसका मस्तिष्क विकसित होता गया, त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ जटिल होती गयीं और अपने राजनीतिक-संस्थानों को भी—अन्य संस्थानों को विकसित करने की इच्छा की भाँति ही—विकसित करने की आकांक्षा उसे सताती रही। यही बेचैनी राजदर्शन के जन्म का कारण बनी। यह राजदर्शन के उद्भव की मनोवैज्ञानिक भूमिका है। इस प्रकार राजदर्शन में हम जहाँ एक ओर राज्य के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं—वहाँ दूसरी ओर हम राजनीतिक परम्पराओं के क्रमागत विकास और इतिहास का भी अध्ययन करते हैं।

२.२ राजदर्शन की विविधता के कारण—जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है—राजदर्शन की मनोवैज्ञानिक भूमि मानव-समाज की वृत्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। यह बात तो ऐसी है जो सभी देशों के राजदर्शन के लिए समान रूप से लागू होती है। किन्तु इतने पर भी हम देखते हैं कि सभी देशों के राजदर्शन का इतिहास बिल्कुल एक समान नहीं है। उनमें परस्पर बड़ी विविधताएँ हैं। यही नहीं एक देश के दो विचारकों में भी सदैव मतैक्य नहीं पाया जाता। किन्तु इसके साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे विचारक शुभानुध्यायी बुद्धि रखने वाले नहीं थे। उदाहरण के लिये यहाँ पर **प्लेटो** और **अरस्तू** को ही ले लीजिए। दोनों ही विचारक और दार्शनिक यही चाहते थे कि यूनान के नगर-राज्यों का पतन न होने पाये। वे कीर्ति और

कर्म के उच्चतम शिखर पर सदैव आसीन रहें। लेकिन लक्ष्य एक होते हुए भी दोनों के 'साधन' भिन्न थे, दृष्टियाँ भिन्न थीं। जहाँ **प्लेटो** समूह की दृष्टि से विचार करता है और व्यक्ति को महत्व नहीं देता––वहाँ **अरस्तू** की दृष्टि व्यक्तिवादी है। उसे व्यक्तिवाद में ही समूहगत लाभ के दर्शन होते हैं। यह तो विविधता का एक स्थल और सीमित-सा उदाहरण हुआ। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य कई कारण भी उल्लेखनीय हैं। विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ होती हैं और उन समस्याओं के राजदर्शन में दार्शनिक और विचारक अपने-अपने ढंगों से निदान करते हैं। यह निदान विभिन्न प्रकार के राजनीतिक सिद्धान्तों को जन्म देते हैं। एक सिद्धान्त की प्रतिक्रिया उसके निर्माण के बाद होती है और वह प्रतिक्रिया दूसरे विरोधी सिद्धान्त को जन्म देती है। अन्त में मूल सिद्धान्त और विरोधी सिद्धान्त के बीच समन्वय होता है और उन दोनों के आधार पर एक नया समन्वयकारी सर्वमान्य सिद्धान्त जन्म लेता है। कालान्तर में इसकी भी प्रतिक्रिया होती है और यह क्रम अनन्त रूप से चलता जाता है। सिद्धान्तों की क्रिया-प्रतिक्रिया का यह मत कल्पनाशील विचारक **हीगल** ने बड़े अच्छे ढंग से प्रतिपादित किया है। लेकिन यह तो निर्विवाद सत्य है कि राजदर्शन के विभिन्न सिद्धान्त अपने-अपने समय की माँगों की देन होते हैं। अतएव इन सिद्धान्तों को भली भाँति समझने के लिये तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया है। किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिये उसकी सामाजिक-भूमिका को जानना उतना ही आवश्यक है जितना अपना मुँह देखने के लिये दर्पण की।

२.३ राज-शास्त्र और राजदर्शन में अन्तर––यहाँ से राजदर्शन दो भागों में विभक्त हो जाता है। एक मार्ग तो स्थूल और भौतिकवादी दिशा की ओर चला जाता है और दूसरा सूक्ष्म की ओर––जिसमें विचार और कल्पना ही प्रगति की आधार-शिलाएँ मानी जाती हैं। पहली दिशा में हम शासन-प्रशासन, विधियाँ (law), अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क आदि के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। दूसरी दिशा में हम राज्य के विकास और सिद्धान्तों, राज्य की उपयोगिता, राज्य के तत्वों आदि पर विचार करते हैं। वस्तुतः इन दोनों विषयों के स्वरूपों में मौलिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है और वे एक ही मुद्रा के दो पहलुओं के समान हैं। किन्तु राजदर्शन के इतिहास में हम मुख्य रूप से उल्लिखित दूसरे पक्ष का अध्ययन करते हैं। राजदर्शन की गतिदिशा स्थूल से सूक्ष्म की ओर, विग्रह से एकता की ओर तथा विशृंखलताओं और असमानताओं से सामंजस्य और समन्वय की ओर रहती है। राजदर्शन की दृष्टि उस अंतिम सत्य पर केन्द्रीभूत रहती है जहाँ समस्त ज्ञान-विज्ञान आकर एकाकार हो जाते हैं और अखिल जीवन और जगत के कल्याण-मार्ग की ओर निर्देश करते हैं।

२.४ राजदर्शन की समस्याएँ––राजदर्शन के विद्यार्थी की सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि वह किसी एक दार्शनिक या विचारक के निर्णयों और विचारों, निदानों और सुझावों को अंधे-श्रद्धालु की भाँति स्वीकार कर लेने में असमर्थ होता है। दूसरी ओर स्थिति यह है कि प्रत्येक राजनीतिक विचारक यही समझता है कि जो कुछ उसने किसी समस्या पर लिख दिया है––वही अंतिम शब्द है। इन दोनों ही दृष्टियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। यदि हम एक विचारक के शब्दों को अंतिम मान लेते हैं तो फिर प्रगति की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती और यदि हम किसी विद्वान की कोई बात स्वीकार ही नहीं करते तो किसी भी परिणाम पर पहुँचेंगे कैसे? इस समस्या का सबसे अच्छा समाधान यह है कि मध्यमार्ग का अवलम्बन किया जाय। नीर-क्षीर विवेक से हंस के समान मोतियों को चुन लिया जाय और कंकड़ियों को छोड़ दिया जाय। लेकिन इसके लिये राजदर्शन के विद्यार्थी को भी सामान्य-स्तर से अधिक ऊँचे धरातल पर जाना होगा।

विभिन्न राजनीतिक विचारकों में आज हमें अनेक त्रुटियाँ दिखलायी पड़ती हैं और हमें आश्चर्य होता है कि इतने विद्वानों ने अपना विचार-शृंखला में ऐसी अशुद्धियाँ कैसे रह जाने दीं ? लेकिन हम यह बात उस समय बड़ी आसानी से समझ लेंगे जब किसी वर्तमान समस्या पर विचार करने बैठेंगे। उदाहरण के लिये बीसवीं सदी के उत्तरार्ध की मुख्य समस्या 'विश्वशान्ति की स्थापना है'। इस समस्या को हल करने में आज जितनी विघ्न-बाधाओं का सामना हमें करना पड़ रहा है—कालान्तर में वही विघ्न-बाधाएँ भावी पीढ़ियों को स्वल्प और अत्यन्त सरल प्रतीत होंगी। यही बात अतीत के विचारकों के साथ भी है। अतीत की जो समस्याएँ हल की दृष्टि से हमें इतनी सरल प्रतीत होती हैं—वही तत्कालीन युग में आज की समस्याओं की भाँति ही कठिन रही होंगी—इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से देखने पर विभिन्न विचारकों और दार्शनिकों की विचारधाराओं की त्रुटियों एवं अशुद्धियों का कारण स्पष्ट हो जाता है। विचारकों की त्रुटियों और अशुद्धियों के होते हुए भी राजदर्शन का अध्ययन मस्तिष्क के विकास तथा उच्चतर अभिव्यक्तियों की क्षमता प्राप्त कर लेने के लिये आवश्यक है।

२.५ **रूढ़िवादी और प्रगतिशील विचारों का संघर्ष**—राजदर्शन के इतिहास का यदि हम ध्यान से अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होने में अधिक समय न लगेगा कि इसमें भी दो पक्ष हैं जिनके बीच राजदर्शन के आदि काल से एक प्रकार का शाश्वत संघर्ष चलता आया है। यह संघर्ष **कट्टर** है और **प्रगतिशील** तत्वों का। कट्टरता पक्षपाती तत्व स्वभाव से ही अनुदार है और इसका इतिहास बतलाता है कि समाज के उसी स्वरूप की उसने एक स्वर से हिमायत की है जिसमें वह रहता चला आया है। उसने क्रान्तियों और परिवर्तनों का सब भाँति विरोध किया है। इसके विपरीत प्रगतिशील तत्व सदैव से आदर्शवादी रहा है और उसका विचरण-क्षेत्र कल्पनालोक का विस्तृत अंचल है। प्रगतिशील तत्व ने परिवर्तनों तथा क्रान्तियों की माँग की है। अन्यायकारी प्राचीन व्यवस्थाओं के विरोध में अपना दृढ़ कण्ठस्वर उठाया है। लेकिन दोनों ही पक्षों की अपनी-अपनी त्रुटियाँ और अभाव तथा कुछ विशेषताएँ रही हैं। जहाँ अनुदारतावादी कट्टर पक्ष ने शांति और व्यवस्था को स्थिरता में महत्वपूर्ण योगदान दिया है—वहाँ दूसरी ओर यह भी सिद्ध है कि उसने प्रगति के स्रोत का मार्ग अवरुद्ध किया है और बहुधा अत्यन्त आवश्यक सुधारों के रास्ते में रोड़ा अटकाया है। अतएव इस पक्ष की दृष्टि से उत्पन्न होने वाली सड़ाँध को रोकने तथा जीवन-नीर को अबाध गति से प्रस्रवित होने देने के लिये यह जरूरी है कि इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे एवं विरोधी पक्ष के तत्वों का जन्म हो। प्रगतिशील तत्व जहाँ प्रथम पक्ष के दोषों का परिष्कार तथा परिमार्जन कर जीवन धारा को आगे प्रवाहित करने में औषधि का कार्य करता है—वहीं दूसरी ओर इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि प्रगतिशील पंथ के लोग अपने कल्पनायुक्त आदर्शों को मूर्तिमान रूप देने की धुन में व्यावहारिकता और यथार्थवादी पक्ष को बिलकुल ही भूल जाते हैं और वास्तविकताओं के प्रति उनकी यह अवहेलना, प्रायः अशान्ति एवं अव्यवस्था को जन्म देती है।

२.६ **अध्ययन के स्रोत**—राजदर्शन के अध्ययन के अनेक स्रोत हैं। इन स्रोतों में चार-पाँच अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे पहला स्रोत **विभिन्न विचारकों की लिखित-सामग्री** है। लिखित-सामग्री के अध्ययन से हमें लेखक के विचारों तथा उसकी कल्पनाओं का ज्ञान हो जाता है। लेकिन यदि हम केवल लिखित-सामग्री का अध्ययन ही करते रहे तो वह साहित्य के अध्ययन के तुल्य हो जाता है—दर्शन का अध्ययन नहीं रहता। अतएव हम दूसरे स्रोतों का सहारा लेते हैं। दार्शनिकों के विचारों को भलीभाँति हृदयंगम करने के लिये हम **तत्कालीन सामाजिक स्थितियों का अध्ययन** करते हैं। दार्शनिक अपने समय के

जिन-जिन विषयों से प्रभावित हुआ है—उनका भी हम अध्ययन करते हैं। इन स्रोतों के अध्ययन से दार्शनिक की विचारधारा को समझने में हमें सहायता मिलती है। हम उसके विचार की त्रुटियों और गुणों का अवलोकनात्मक अध्ययन करने में सफल हो जाते हैं। अध्ययन का तीसरा स्रोत **अधिकारियों और जनता के नेताओं के भाषण** हैं। चौथा स्रोत **सरकारी कागज-पत्र** होते हैं। पाँचवाँ स्रोत **तत्कालीन साहित्य** होता है जिसमें उस समय की समस्त प्रवृत्तियाँ दिग्दर्शित होतीं हैं। किन्तु, इन सभी स्रोतों के अध्ययन में चाक्षुष अवलोकन (observation) अनिवार्य है। बिना इसके अशुद्ध परिणामों के निकलने की आशंका बराबर बनी रहती है।

२.७ अनुदाय एवं मूल्यांकन—राजदर्शन के इतिहास का सबसे बड़ा अनुदान यह है कि वह अतीत के विचारकों को समझने में बड़ी सहायता प्रदान करता है। प्राचीन और मध्ययुगीन तथा आधुनिक दार्शनिकों के मतों एवं विचारों के अध्ययन से हम न केवल उनको तथा उनके युग के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को समझते हैं अपितु अपने आपको समझते हैं। अपने आपको समझने की यह प्रक्रिया—जिसे आत्मज्ञान की संज्ञा भी सीमित अर्थों में दी जा सकती है—हमारी उच्चतर कल्पनाओं की अभिव्यक्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। यदि राजदर्शन के अध्ययन से विद्यार्थी में अपने आपको समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तो उसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

राजदर्शन में सिद्धान्तों का नहीं विशिष्ट युग की मूल प्रवृत्तियों का विचारकों के विचारों के माध्यम से विश्लेषण किया जाता है। इस विश्लेषण से हम कुछ उपयोगी परिणाम निकाल सकते हैं जो बोधपाठों का कार्य भी कर सकते हैं किन्तु इसके लिये कुछ सावधानी रखनी चाहिए। किसी भी युग के बोधपाठों से प्राप्त शिक्षाओं को व्यावहारिक क्षेत्र में प्रयुक्त करते समय यह भूल जाना चाहिए कि तब और अब की परिस्थितियों में कितना अन्तर हो चुका है। जो परामर्श नगरराज्यों के युग में उनकी सत्ता को स्थिर बनाये रखने के लिये दिये जा सकते थे—उनका राष्ट्र-राज्यों के अस्तित्व की रक्षा में एक सीमा तक ही प्रयोग किया जा सकता है और बहुत-सी दशाओं में तो वे सलाहें सर्वथा असामयिक भी हो सकती हैं।

जैसा **गैटिल** ने लिखा है, राजदर्शन का एक सबसे महत्वपूर्ण अनुदान यह भी है कि विचार-विनिमय, उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना से हम में एक प्रकार की मानसिक और बौद्धिक सहिष्णुता प्रस्फुटित हो विकसित हो जाती है। वह हमें अपने विरोधी के भी विचारों को सुनने, समझने तथा उन पर विचार करने के लिये वाध्य करती है। यदि इतनी-सी प्रवृत्ति भी हम में राजदर्शन के अध्ययन से उत्पन्न हो जाती है तो उसके अध्ययन का औचित्य स्पष्ट ही है।

३. राजदर्शनके भेद और उपभेद

स्थूलतः राजदर्शन को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं: (अ) प्राचीन और (आ) आधुनिक। आधुनिक राजदर्शन में पाश्चात्य राजदर्शन ही महत्वपूर्ण है—जो इस पुस्तक का मुख्य विषय है। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में पूर्वी देशों में भी राजदर्शन का विकास हुआ था। प्रस्तुत खण्ड में अतीत काल में राजनीतिक-संस्थाओं के जन्म तथा विकास पर द्रुत दृष्टिपात करते हुए हम पूर्वी देशों में राजदर्शन की विकास-विशेषताओं का भी सिंहावलोकन करेंगे।

३.१ प्राचीन राजदर्शन—इसके पहले कि हम अतीतकालीन राजदर्शन की विशेषताओं का द्रुत अवलोकन करें हमें तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के स्रोतों को भी देख लेना होगा। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अतीतकाल की राजनीतिक-विचारधारा

का ज्ञान प्राप्त करने के हमारे स्रोत अत्यन्त सीमित हैं। फिर भी जो कुछ हैं––वे इस प्रकार हैं : (क) उन राजनीतिक-संस्थाओं के मौलिक-सिद्धान्त जिन पर वे आधारित थे और जिनकी प्राचीन ग्रंथों में तथा अन्य लिखित सामग्री में हमें चर्चा मिलती है : (ख) आरंभिक काल में मानव समाज के कुछ विश्वास, प्रथाएँ और परम्पराएँ जिनके अध्ययन से भी हमें अतीत के राजदर्शन का ज्ञान प्राप्त होता है और (ग) उन जातियों के रीति-रिवाजों तथा जीवन-व्यापारों का सूक्ष्म अवलोकन जिनका अभी समुचित विकास नहीं हो पाया है––तथा जो अब भी प्राचीन-काल की अवस्थाओं में जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

प्राचीन काल के राजदर्शन के उक्त स्रोतों को अध्ययन करने से जो सबसे बड़ी विशेषता हमें प्रतीत होती है––वह यह है कि अतीत में विभिन्न मानव-जातियाँ धर्म और रीति-रिवाज तथा विधि के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं कर पाती थीं। तीनों ही वस्तुएँ एक दूसरे की सीमाओं से सटी हुई हैं कि कोई एक लकीर तीनों के बीच नहीं खींची जा सकती। प्रत्येक जीवन-व्यापार में धर्म को प्राथमिकता दी जाती थी और तत्कालीन मानव-समाज के प्रत्येक कार्य में धार्मिक भीरुता की स्पष्ट छाप थी। आज के राष्ट्र-राज्यों की भाँति सामाजिक एकता का सूत्र मातृदेश न होकर 'धर्म की समनता' था। अधिकांश मनुष्य जाति-समूह या कबीलों के रूप में जीवन-यापन करती थी। शासन-कार्य के अधिकार का स्रोत भी दैवी माना जाता था। आधुनिक राजनीति के शब्दों में शासक की संप्रभुता का स्रोत देवता होते थे––कबीले वाले या समूह में निवास करने वाले मनुष्य नहीं।

यदि अतीत की विधि संहिताओं का अध्ययन किया जाय तो इस परिणाम पर पहुँचने में अधिक समय न लगेगा कि तत्कालीन विधियों का मुख्य उद्देश्य निषेधात्मक होता था। विधियों की निषेधात्मक विशेषता का स्रोत तत्कालीन समाज के अंध-विश्वास तथा अल्प ज्ञान में ही है। प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान सीमित तथा अधिकांशतः बाह्य था। वैज्ञानिक अध्ययन के अधिक साधन उपलब्ध नहीं थे। अल्प ज्ञान से अंध-विश्वास तथा अंध-विश्वास से जादू-टोनों का जन्म हुआ था। आज भी प्राचीन साहित्य में जादू-टोनों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित करने के मंत्र मिलते हैं। ऋग्वेद में तो ऐसे मंत्रों का स्पष्टतः उल्लेख है।

३.२ मातृक परिवारों का युग––पारिवारिक संस्थान ने राजदर्शन के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लिया है। उदाहरण के लिए, राज्य के जन्म तथा विकास में तो उसका बड़ा ही महत्व माना गया है। परिवार-विकास की कथा में एक ऐसा स्थल है––जहाँ हमारे आज के विश्वासों के विपरीत पिता के स्थान पर परिवार की अध्यक्षा माता होती थीं। बच्चों की पीढ़ियाँ मातृक होती थीं ; अर्थात् अमुक इस बच्चे की माँ है––इसी से समाज में परिचय दिया जाता था। पिताओं की संख्या एक से अधिक हुआ करती थी। यह रक्त-संबंध ही समूह या कबीले की एकता का कारण था। एक ही परिवार में परस्पर विवाहादि निषिद्ध थे। विवाह-संबंध अन्य परिवारों से किये जाते थे। आज भी इस प्रकार के मातृक परिवारों के समाज कई स्थानों में पाये जाते हैं जैसे ट्रावनकोर, कोचीन इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। मातृक समाज के जन्म तथा विकास के संबंध में **सर हेनरी मेन, मॉर्गन, मेकलेनान** तथा **जेक्स** और **विलोबी** आदि विद्वानों में काफी मतभेद रहा है और इस प्रश्न को लेकर इनके बीच काफी लम्बा शास्त्रार्थ भी चला है जो रोचक तो है ही––साथ ही ज्ञानवर्धक भी है।

३.३ पैतृक परिवार––मातृक परिवार उस काल की विशेषता है जिसमें मनुष्य जाति के जीवनयापन के साधन सीमित थे और वह जंगलों में घूम-घूम कर अपने जीवन-निर्वाह की सामग्री तलाश किया करती थी। किन्तु, सामाजिक विकास की अवस्था में एक ऐसी स्थिति आयी जब मानव-समाज ने पशु-पालन की कला सीख ली। इस प्रकार बनजारों

के जीवन का सूत्रपात हुआ। पशुओं को पालकर उनके द्वारा जीवन-निर्वाह करना इस काल की विशेषता है। इस युग में समूह के राजनीतिक विचार परिपक्व हो गये। स्त्री परिवार की स्वामिनी नहीं रही—पुरुष उसका स्वामी हो गया और इस प्रकार एक ऐसा युग आरम्भ हुआ जिसमें पिता के नाम से परिवार चलने लगा। पैतृक-परिवार के युग में ही शत्रुओं की हत्या करने के बजाय उन्हें बन्दी बनाकर अपने काम कराने की प्रथा चल पड़ी। यह दास-प्रथा का सूत्रपात था। अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करने वाली विधियों में या तो यह माना गया कि पीड़ित व्यक्ति लड़कर अपराधी को मार डाले या अपराधी पीड़ित को अपने अपराध के प्रायश्चित-स्वरूप एक निश्चित रकम दे। पाकिस्तान के सीमा प्रान्त में इस प्रकार की प्रथा आज भी देखने को मिलती है। पैतृक परिवारों के युग में भी सामूहिक एकता का श्रृंखला-सूत्र मुख्यतः रक्त-संबंध हुआ करता था।

३.४ परिवार-युग की कुछ कठिनाइयाँ—रक्त-संबंध पर आधारित पारिवारिक जीवन प्रधान युग को अपनी कुछ कठिनाइयाँ भी थीं। ऐसी कोई संस्था न थी जो परिवारों के बीच शान्ति रख सके और ऐसी व्यवस्था कर सके जिसमें अशान्ति का उन्मूलन हो जाय। पारस्परिक छोटे-मोटे झगड़ों को निपटाने के लिये भी कोई सर्वमान्य सत्ता न थी। युद्ध की अवस्था में एक ही रक्त के अनेक परिवारों की रक्षा करने के लिए संयुक्त कार्रवाई की व्यवस्था करने वाली भी कोई सत्ता न थी। इस प्रकार (१) आन्तरिक शान्ति, (२) न्याय-व्यवस्था तथा (३) बाह्य आक्रमणों से उत्पन्न होने वाले भयों के निवारण के लिये अपेक्षाकृत बलवान और व्यापक शक्ति की आवश्यकता थी जो उस समय के पारिवारिक-जीवन के युगों में पूरी नहीं हो पा रही थी। इन तीनों आवश्यकताओं ने परिवार-समूहों के एक सरदार चुने जाने की प्रथा तथा भारत में जाति-व्यवस्था का सूत्रपात किया। भारत में क्षत्रिय जाति का उत्थान इसी प्रकार हुआ। पश्चिम में ग्राम सरदारों के चुनाव की परिपाटी पड़ी। सरदारों का चुनाव उनकी आयु, योग्यता, बल तथा बुद्धि के आधार पर किया जाता था। उनके अधिकार शान्ति-काल में युद्ध-काल की अपेक्षा अधिक सीमित हुआ करते थे। यही व्यवस्था क्रमशः उन्नत होती गयी और धीरे-धीरे सरदार के हाथ में विधायन कार्य तथा कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकार भी केन्द्रित हो गए। अंत में इसी सरदार की सत्ता ने राजा का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार परिवार के बीज से आरम्भ होकर समाज में सामन्तशाही तथा राजतंत्र प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। समय की प्रगति के साथ-साथ राजा की शक्ति बढ़ती गई और सामाजिक क्षेत्र में राजकीय-स्तर और अधिकार बराबर प्रबल होता चला गया।

छोटे-छोटे गाँवों में रहने वाले जन-समूहों से बढ़कर, बड़े राज्यों का निर्माण प्राचीन काल में अनेक प्रकार से हुआ। पद्धति यह रही कि या तो कोई समूह परस्पर विलयित हो गये अथवा छोटे-छोटे समूहों को बल-प्रयोग से बड़े समूह ने अपनी सत्तान्तर्गत कर लिया। उस समय के युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि अस्थायी अन्तर्राज्यीय मैत्रियाँ नहीं हुआ करती थीं। पड़ोसी राज्य सदैव एक दूसरे को अपना शत्रु ही माना करते थे। राज्यों के स्थायी संघ तो अश्रुत थे। साम्राज्यों की स्थापना तलवार के बल से होती थी। बड़े राज्य छोटे राज्यों पर आक्रमण कर अपने प्रभाव-क्षेत्र को निरंतर बढ़ाने के कार्य में लगे रहते थे। इसी बल-प्रयोग की क्रिया से बड़े-बड़े साम्राज्यों का विस्तार हुआ।

४. पौर्वात्य राजदर्शन का सिंहावलोकन

पौर्वात्य राजनीति-दर्शन का जन्म और विकास मुख्यतः यहूदियों, हिन्दुओं और चीनियों में हुआ है। मिस्र, बेबीलोनिया, असीरिया तथा फारस में राजदर्शन अधिक विकसित नहीं हो सका। प्राचीन भारत तथा चीन में राज-व्यवस्था के पीछे धर्म का हाथ

सर्वोपरि था। उस काल म राजनीति, धर्म तथा सामाजिक नियमों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता था। धार्मिक गुरु या पुरोहित हो के हाथ में राजनीतिक शक्ति केन्द्रित रहती थी। पौर्वात्य दर्शन ने राजनीतिक संस्थाओं को पवित्रता के आसन पर बैठाया और समाज के सामूहिक जीवन को ही सब कुछ समझा। पौर्वात्य दर्शन व्यक्ति को नहीं, समाज को महत्व देता है। आधुनिक काल के व्यक्तिवादी विचारकों को पौर्वात्य दर्शन में भले ही व्यक्ति को स्वतंत्रता का अपहरण दिखलायी पड़े लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि जब तक उनकी व्यवस्था में दोष या त्रुटियाँ बाह्य स्रोतों से प्रविष्ट न हुईं, वह व्यवस्था बड़ी सफलतापूर्वक चली। यही कारण है कि पाश्चात्य-दर्शन ने जहाँ भौतिक दृष्टि से चाहे जितनी प्रगति की हो--आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में उसने जो भी प्रगति की है--वह उसे सब पौर्वात्य दर्शन द्वारा ही मिली है।

४.१ पौर्वात्य दर्शन के अनुदान--पौर्वात्य देशों के दर्शनों की विशेषताओं पर अलग-अलग विचार करने के पूर्व नीचे की कुछ पंक्तियों में पौर्वात्य दर्शन के कुछ अनुदानों पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयोगी होगा। पाश्चात्य दर्शन की तुलना में, जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, पौर्वात्य दर्शन ने जीवन के प्रति भौतिकवादी और ऐहिकता-परक दृष्टिकोण अधिक नहीं रखा है। पौर्वात्य दर्शन ने इहलोक के जीवन को ही सब कुछ नहीं समझा। इस संसार और इस लोक से परे भी एक जीवन है। पौर्वात्य दर्शन की बौद्धिक-कल्पना में पारलौकिक जीवन को इस सांसारिक-जीवन से अधिक महत्व दिया गया है। 'कर्मफल' और 'पुनर्जन्म'--ये दो विश्वास पौर्वात्य दर्शन के अधिकांश भाग में--विशेषकर भारतीय या हिन्दू-दर्शन में--सबसे ऊँची स्थितिप्राप्त सिद्धान्त हैं। यही कारण है कि भौतिक एवं सांसारिक प्रगति की दिशा में पौर्वात्य दर्शन की जिज्ञासा आवश्यकता से अधिक नहीं दिखलायी पड़ती। **ब्राह्मणों में, बौद्ध साहित्य में, कनफ्यूशियस** के लेखों में--जो अधिकांशतः इहलौकिक है--राजदर्शन की दृष्टि धर्म-दर्शन की तुलना में अत्यल्प है। इतना होते हुए भी हिन्दुओं ने तथा चीनवासियों ने पाश्चात्य-विचारकों से कहीं पहले मानव-समानता तथा प्रजातंत्रवादी आदर्शों के दर्शन कर लिये थे।

४.२ शासक को ईश्वर का अंश मानने की प्रवृत्ति--पौर्वात्य दर्शन की कल्पना में राज्य की रूपरेखा मुख्यतः धर्म-प्रधान रही है। इसीलिए पूर्व के देशों में शासक को केवल भौतिक शक्तियों का प्रतीत कभी नहीं समझा गया। शासक को पहले ईश्वर की शक्ति का प्रतीक माना गया और तब जनता का प्रतिनिधि। यह मान्यता चीन और भारत में ही सीमित नहीं रही--मिस्र आदि देशों में भी यही सिद्धान्त शासक के संबन्धमें स्थिर रखा गया। मिस्र में तो शासक को कुछ समय तक ईश्वर ही माना जाता था। असीरिया और फारस में अवश्य ही वह ईश्वर नहीं बल्कि ईश्वर की शक्ति का प्रतिनिधि समझा जाता था। इन शासकों को या राज्यों को प्रशासन अथवा राज्य-कार्य चलाने के लिये अमात्य या मंत्रि-परिषद् की नियुक्ति करने का परम्परागत अधिकार था लेकिन शासक पर धर्म-पुरोहित का बड़ा नियंत्रण रहता था।

४.३ राज्य का एकता सूत्र देवताओं की समानता--पौर्वात्य राजदर्शन का अध्ययन एक अन्य विशेषता की ओर भी निर्देश करता है--और वह यह है कि राज्य की एकता का सूत्र भाषा या जातियों के रक्त की समानता न होकर देश के देवताओं की समानता हुआ करता था।

दिग्विजयों और साम्राज्यों की स्थापना का विचार भी मूलतः पौर्वात्य ही है। पूर्व में ही सबसे पहले दूसरे देशों को विजय करके साम्राज्यों की स्थापना की गयी। यही नहीं,

शक्तिशाली राजा की अधीनता स्वेच्छा से तथा अपने राज्य की रक्षा की दृष्टि से निर्बल राजाओं द्वारा स्वीकार कर लेने की परम्परा भी सर्वप्रथम पूर्व में ही उदयीभूत हुई।

४.४ पौर्वात्य साम्राज्य क्यों असफल रहे ?——जिस प्रकार पश्चिम में संश्लिष्ट और सुगठित प्रशासनिक-व्यवस्था का विकास हम पाते हैं——वैसा विकास पूर्व के साम्राज्यों में नहीं हुआ। उनका प्रशासनिक कार्य सदैव ढुलमुल तथा शिथिल-सा रहा। अधिकृत राज्यों को साम्राज्य की इकाइयाँ नहीं माना गया——बल्कि उनको स्वतंत्र राज्य ही समझा गया जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय सत्ता की अधिकार-सीमा छोटी रही। अधीन राजाओं द्वारा वार्षिक राजकर तथा युद्ध की अवस्था में केन्द्रीय सत्ता की सैनिक-सहायता कर देना ही सम्राट तथा साम्राज्य के प्रति उनके कर्त्तव्यों की इतिश्री समझी जाती थी। इसका एक दुष्परिणाम यह होता था कि अधीन राज्य साम्राज्य की केन्द्रीय-शक्ति के निर्बल पड़ते ही विद्रोह कर देते थे।

५. पौर्वात्य राजदर्शन का साहित्य

भारतीय हिन्दू-साहित्य, चीनी और यहूदी साहित्य में हमें सबसे अधिक राजदर्शन मिलता है। प्रस्तुत परिखण्डों में क्रमशः हिन्दुओं, चीनियों तथा यहूदी राजदर्शनों की विशेषताओं का ही संक्षेप में उल्लेख किया जायगा।

५.१ भारतीय राजदर्शन——भारतीय राजदर्शन का इतिहास संभवतः सबसे अधिक पुराना है। यूनान में नगर-राज्यों की स्थापना तो ईसा के जन्म के सात सौ वर्ष पूर्व हुई थी लेकिन भारत में नगरराज्य इसके बहुत पहले स्थापित हो चुके थे। सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में भारतीय गणराज्यों का जिक्र मिलता है। उससे प्रतीत होता है कि आर्यावर्त में उत्तर, पश्चिम और दक्षिण में गणराज्य थे। पाणिनी की अष्टाध्यायी के गण-पाठ में पश्चिमोत्तर तथा उत्तर-पूर्व के अनेक गणराज्यों के नाम मिलते हैं। महाभारत में भी अनेक गणराज्यों के नाम दिये गये हैं। जैन तथा बौद्ध साहित्य तो गणराज्यों के नामों से भरे पड़े हैं। इन सबसे विदित है कि भारत में गणराज्यों की स्थापना का इतिहास २००० शती ईसा पूर्व से भी अधिक पुराना है। गणतन्त्र राज्यों की यह प्रणाली ईसा के पश्चात् पाँचवीं शती तक बनी रही। यूनान नगर-राज्यों को एक साम्राज्य में देखने की कल्पना करता ही रह गया लेकिन भारत में नगर-राज्यों का विकास अपनी सीमाओं को लाँघता हुआ साम्राज्यों तक पहुँच गया। ई० सन् पूर्व चार सौ वर्ष पहले यूनान के नगर-राज्य जब परस्पर लड़ते हुए अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे तब भारत में गंगा-यमुना की घाटी में संभवतः संसार का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित हो चुका था और द्रुतगति से भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल की ओर चरण रखता चला जा रहा था।

भारत ने राजदर्शन के विकास में सक्रिय भाग लिया। भौगोलिक दृष्टि से भारत इतना विस्तृत और समृद्ध देश है कि इसमें बाहर से आने वाली अनेक जातियाँ आकर बस सकीं और अपना बौद्धिक विकास कर सकीं। यह सत्य है कि भारत में कोई साम्राज्य बहुत अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सका लेकिन यह बात तो यूरोप के बारे में भी लागू होती है।

हिन्दू-राजदर्शन के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता संभवतः यह है कि उसमें समन्वय, सामंजस्य एवं अनुपात पर सबसे अधिक बल दिया गया। सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता और इस प्रकार वेदान्तिक दृष्टि का रखना भी भारतीय साम्राज्य के शासकों की विशेषता थी। धर्म को ऊँचा माना गया——लेकिन उसे जीवन के व्यक्तिगत पक्ष तक ही सीमित रखा गया। पर-धर्मावलम्बियों की हत्या करना भारतीय राजदर्शन के इतिहास में अश्रुतपूर्व है। पुरोहितों को और ऋषियों को राज्य सर्वाधिक मान देता था लेकिन वे धर्म के नाम पर

शासक के दैनिक राज्य-कार्य में कभी भी हस्तक्षेप नहीं किया करते थे। मैकियावली की भाँति शासक और शासितों के लिये भारतीय धर्म-प्रवक्ताओं ने आचार और नैतिकता के दो धरातल कभी निर्धारित नहीं किये।

भारतीय या हिन्दू विचारक मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं को समझते थे। वे इन निर्बलताओं पर संयम और अनुशासन से विजय प्राप्त करने के पक्षपाती थे। वे राज्य का और राजा का कर्त्तव्य यह मानते थे कि मानव स्वभाव की दुर्बलताओं के शमन एवं दमन की व्यवस्था करता हुआ व्यक्ति को उच्चतर मानवीय मस्तिष्क की अभिव्यक्तियों की ओर लेता चले। शमन कार्य के लिये उन्होंने बल-प्रयोग के औचित्य को सिद्ध किया है। शठ को अधिक शठता करके ही दबाया जा सकता है--यह सिद्धान्त भी उन्होंने निर्धारित किया। इसमें उसकी व्यावहारिक दृष्टि परिलक्षित होती है।

इतना होते हुए भी राजा को विधियों, नैतिक एवं आचारशास्त्र की परम्पराओं एवं प्रथाओं से मुक्त नहीं किया गया। भारतीय राजदर्शन में ऐसे उदाहरण हैं जहाँ जन-हित की अवहेलना करने वाले तथा सामाजिक रीतियों और नीतियों का निरादर करने वाले राजाओं को भी हटा दिया गया है। राजा के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार प्रजा को दिया गया था। शुक्र नीति में हमें उन सब नियमों का उल्लेख मिलता है जो राजाओं को प्रजा के ऊपर शासन करते समय पालन करने पड़ते थे।

राजा की शक्तियाँ अपरिमित थीं। इसकी कल्पना इसी बात से की जा सकती है कि राजा का शब्द ही कानून या विधि माना जाता था। न्याय के मामलों में उसका फैसला अंतिम होता था। सारे राज्य-कार्य तथा प्रशासन को उचित ढंग से चलाने का उत्तर-दायित्व राजा पर ही हुआ करता था। लेकिन हिन्दू राजा अपने पद-भार को बड़ा गुरु मानते थे और साथ ही उसके खतरों से भी परिचित थे। यही कारण है कि वे प्रजा के प्रतिनिधियों से बराबर सलाह लेते रहते थे। हिन्दू विचारकों ने निरंकुश एवं स्वच्छन्द राजा के स्थान पर संयमित तथा सीमित राजशक्ति की कल्पना की थी। प्राचीन गण-राज्यों की शासन-प्रणाली से जिसमें राजा मंत्रिमंडल, जनपद, मतदान तथा गंभीर विचार के द्वारा ही अपनी प्रजा पर राज करते थे, यह बात एकदम स्पष्ट है। प्रजातंत्रवादी समानता और बंधुत्व के जिस सिद्धान्त का नारा १७वीं शताब्दी में फ्रांस की राज्यक्रांति के दौरान में लगाया गया--वह समानता और बन्धुत्व का सिद्धान्त बुद्ध की शिक्षाओं के कारण पाँचवीं शताब्दी में भारत में तथा इसके बाद भारत द्वारा विश्व भर में सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त कर चुका था।

हिन्दू राजदर्शन की एक विशेषता यह भी थी कि उसने शांतिवाद का समर्थन किया। आचार-नीति ने हिंसा को बुरा बतलाया और बल-प्रयोग को अच्छा नहीं माना और इसी को स्वाभाविक उपसिद्धि के रूप में सेनादि को भी कम महत्व दिया लेकिन कभी-कभी राजा को सैन्य-बल प्रयोग की भी निश्चित सलाह दी गयी। हर स्थिति का सामना करने के लिये तैयार रहने की शिक्षा भी राजा को दी गयी। राजा के लिए कूटनीति और शठता का औचित्य भी सिद्ध किया गया। चाणक्य की शिक्षाएँ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

५.२ चीन का राजदर्शन--हिन्दू राजदर्शन के विकास के साथ ही साथ लगभग उसी गति एवं बल से चीन में भी राजदर्शन का उत्थान हुआ है। चीन तथा भारत के राजदर्शनों में अन्य पौर्वात्य देशों के राजदर्शनों की तुलना में कहीं अधिक समानता है। भौगोलिक दृष्टि से चीन का भू-विस्तार भारत से भी अधिक बड़ा तथा जनसंख्या भी भारत से अधिक रही है। चीन की सीमाओं पर लुटेरों के बराबर आक्रमण होते रहे और उनमें से कुछ तो चीन में आकर बस भी गये लेकिन चीन पर कोई विशेष शक्ति लम्बे

समय तक अपना आधिपत्य नहीं रख सको। आन्तरिक अशान्ति और उद्वेलन से चीन मुक्त रहा। केन्द्रोय साम्राज्य सत्ता तो रहो किन्तु वह इतनो सशक्त कभी नहीं हो सकी कि स्थानोय स्वतंत्रताओं का अपहरण कर ले या विचारों को भिन्नता का दमन कर दे। यहो कारण है कि विभिन्न विचारों के उदयास्त ने वहाँ को संस्कृति को कल्पनातीत रीति से समृद्ध बनाया है। विचार-स्वातंत्र्य और सहिष्णुता चान के राजदर्शन को विशेषता रहा है। वहाँ को सामाजिक स्थिति में बृद्धों को सर्वत्र मान्य माना गया है जिसके परिणाम-स्वरूप अनुभवी विचारकों के विचार—वे चाहे जिस विषय पर हों, सदैव बड़े आदरपूर्ण ढंग से देख जाते रहे हैं। इस भावना ने चोन के राजदर्शन के इतिहास को जीवित बनाये रखने में बड़ी सहायता प्रदान की है। चोन के विचार-दर्शन का स्वर्ण-काल ईसा के जन्म से ११ वीं और ३रो शताब्दो के बोच का है। वहाँ के सबसे अधिक प्रसिद्ध और ख्यातिलब्ध विचारकों में **कनफ्यूशियस, मैनशोयस, मोह्-तो** और **साओ त्से** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

५.३ मानव प्रकृति के संबंध में विचार—चोन के दार्शनिकों के विचार मानव प्रकृति या स्वभाव के सम्बन्ध में भी बड़े ही सुलझे हुए हैं। जहाँ वे एक ओर मानव-स्वभाव की उच्चता तथा उन्नति की आकांक्षा से परिचित थे—वहीं वे यह भी जानते थे कि प्रकृतितः मनुष्य की बुद्धि संयम और अनुशासन के अभाव में ऊर्ध्वगामिनी भी हो सकती है। वे यह जानते थे कि प्राचीन शासकों ने आचार-शास्त्र, नैतिक-शास्त्र एवं विधि-संहिता आदि की रचना मानव-प्रकृति की दुर्बलताओं के उन्मूलन के लिये ही की। यह विचार **सुन त्से**[1] का था लेकिन **मेनशोयस** कहा करता था कि मनुष्य "भलो बातों को तरफ ठीक उसो प्रकार बढ़ता है जिस प्रकार पानो ढाल को ओर।" **मेनशोयस** की यह उक्ति मानव-स्वभाव की सहज शुभ-वृद्धि को ओर इंगित करती है।

मोह्तो ने ई० पू० सन् ५०० से ४२० तक सार्वभौमिक बन्धुत्व के धर्म को निःसृत किया था।

मेनशोयस ने राज्य में सबसे अधिक महत्व प्रजा को और इसके बाद धर्म को तथा सबसे कम महत्व राजा को दिया था। मेनशोयस समाजवादी एकता के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रवर्त्तक था। उसका कहना था, सब मनुष्य समान हैं और राजा का धर्म है कि वह अपनी संगीत, पार्क तथा आमोद-प्रमोद की सुविधाओं का जनता के साथ मिलकर उपभोग करे। यह सिद्धान्त प्रजा को शक्तिमत्ता और आधुनिक लोक संप्रभुता की ओर संकेत करता है। पंच-परमात्मा का सिद्धान्त चीन में भो प्रचलित रहा है। जनता-जनार्दन को इच्छा ही ईश्वर की इच्छा है—यह बात चीन में युगानुयुग से मानी जाती रही है।

चीन में तो राजा को दण्डित करने को प्रथा भो प्रचलित थी। वहाँ धर्मपुरोहित अस्थायी रूप से राजा को बुराइयों के सुधारने तक नजरबन्दी में भी रख सकता था।

युद्ध को चोन के विचारकों ने बर्बर सभ्यता का प्रतोक बतलाया है। युद्ध-कला तथा सामरिक-कुशलता को चोन के इतिहास में बहुत अच्छो दृष्टि से नहीं देखा गया है। इसका पाश्चात्य शक्तियों ने तथा पड़ोसी जापान ने अनुचित लाभ भी उठाया है। लेकिन आधुनिक काल में चीन की रणकौशल विद्या ने बड़ी उन्नति की है और वहाँ एशिया के बड़े अच्छे-अच्छे सेनापतियों ने जन्म लिया है।

---

१ सूहूने मुन-त्से की *Development of Logic in Ancient China* **का अनुवाद किया है।**

चीन के राजदर्शन का निष्कर्ष उसकी मौलिक उदारता तथा प्रगतिशीलता में निहित है।

५.४ यहूदी का राज्यदर्शन—मिस्र, बेबीलोनिया तथा असीरिया आदि पौर्वात्य देशों की भाँति यहूदियों का राजदर्शन भी मूलतः धार्मिक है। उसमें भारतीय तथा चीनी विचारकों की-सी धर्म-निरपेक्ष दृष्टि का सर्वथा अभाव है। यहूदी राज्य के उद्गम के संबंध में दैवी-सिद्धान्त को मानते हैं लेकिन अन्य पूर्वी देशों की तुलना में यहूदी विचारधारा पर इस तथ्य का संभवतः सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है कि वहाँ एक देवता की उपासना पर ही सबसे अधिक बल दिया गया है। अतएव धार्मिक एकता यहूदी विचारधारा की प्रमुख विशेषता है। अन्य पौर्वात्य साम्राज्यों की तुलना में उक्त कारणवश राज्य की एकता अधिक सुदृढ़ रही है। राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय लक्ष्यों की समानता यहूदी राजदर्शन में कहीं अधिक पायी जाती है।

५.५ राज्य का उद्गम—यहूदी राजनीतिक-विचारधारा के अनुसार राज्य का जन्म ईश्वर की इच्छावश हुआ और राज्य के विधि-विधान यहूदियों के देवता **जेहोवा** की इच्छा के परिणाम हैं। उक्त विधि-विधान प्रजा और राजा दोनों के लिये समान रूप से मान्य समझे गये हैं। पारलौकिक कल्याण के लिये, कहा जाता है, यहूदियों ने राज्य के बंधनों को स्वीकार किया है। यदि वे विधियों (Law) का उल्लंघन करते हैं तो वे दोषी हैं और दण्ड के भागी हैं। इससे स्पष्ट है कि राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार प्रजा को नहीं दिया गया है।

यहूदियों का यह भी विश्वास रहा है कि **जेहोवा** से समय-समय पर सलाह ली जा सकती है। यह सलाह **जेहोवा** के चुने हुए पैगम्बर या दूत ही देते हैं। ये देवदूत किसी एक वर्ग के या वंश के नहीं होते अपितु जो अपनी योग्यता—स्वभावगत योग्यता के बल पर आगे बढ़ जाते हैं—वही ईश्वरीय दूत समझे जाते हैं। धार्मिक पुरोहित राजा और प्रजा तथा ईश्वर के बीच का प्रतिनिधि माना जाता है। यह भी माना जाता है कि पुरोहित सैम्यूअल के जरिये प्रथम यहूदी राजा **सॉल** को गद्दी दी गयी थी।

५.६ जनमत का महत्व—यहूदी राजदर्शन में प्रजातंत्रवादी तत्वों का भी साक्षात्कार होता है। राज्य संबंधी समझौते का सिद्धान्त प्रतिनिधित्व को प्रकट करता है तथा इसके साथ ही यह निर्देश कि राजा जनमत के अनुसार चले—जनमत के अनिवार्य प्रतिनिधित्व की ओर भी इंगित करता है। यहूदी अपने राजाओं के कार्यों की—जब भी वे अनुचित हुए आलोचना करने से कभी नहीं चूके। राजा **डेविड** तथा राजा **अहाब** की तो बहुत ही आलोचना की गयी है। **सोलोमन** की कठोर शासन-व्यवस्था, साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा भारी कर-व्यवस्था तथा बेगार आदि को बुरा बतलाया गया है। यही नहीं, जन-कल्याण तथा लोक-मंगल की दृष्टि राजा के लिये अत्यन्त आवश्यक बतलायी गयी है। सम्पत्ति का समान वितरण आधुनिक समाजवादी सिद्धान्तों की ओर संकेत करता है। न्याय-कार्य में धर्मनिरपेक्षता की दृष्टि उल्लेखनीय है। उन्होंने मुसलमानों जैसा धार्मिक अत्याचार धार्मिक एकता के बावजूद कभी नहीं किया। **मोजेज** की विधि-संहिता प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य कई विधि संहिताएँ भी यहूदी दर्शन में उपलब्ध हैं। ई० पूर्व पाचवीं शताब्दी में विधियों को अंतिम रूप से संहिताओं में संकलित किया जा चुका था।

यहूदी विचार पर आलोचनात्मक दृष्टिपात किये बिना यह अध्याय संभवतः अपूर्ण-सा ही रह जायगा। यहूदी विचार में कालान्तर में कुछ दोष उत्पन्न हो गये। विविध देवताओं की उपासना तथा विविध धर्मावलम्बियों के कारण जहाँ भारतीय या हिन्दू तथा चीनी राजदर्शन ने विविधता के प्रति एक प्रकार की सहिष्णुता उत्पन्न कर ली थी—

वहाँ दूसरी ओर कालान्तर में यहूदी दर्शन में असहिष्णुता का दुर्गुण आ बसा। धार्मिक कट्टरता और युद्धाचार की प्रवृत्ति ने यहूदियों में आपस में संघर्ष करा दिया। बाद में यहूदी धर्म में यूनानियों तथा ईसाइयों ने सुधार किया और उसे यूरोप भर में फैला दिया।

६. उपसंहार

प्राचीन पौर्वात्य दर्शन के इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय विधि संहिता का अभाव है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का मुख्य आधार शक्ति हुआ करती थी। राजा को कूटनीति की शिक्षा दिया जाना अनिवार्य समझा जाता था। प्रजा को इस बात की शिक्षा दी जाती थी कि उसका कल्याण भले स्वभाव के विकास में ही है। धार्मिक तथा रक्त-संबंधों पर राज्यों की एकता कायम रखी जाती थी। व्यापार-वाणिज्य का आधुनिक-काल की भाँति विकास नहीं हुआ था। इस क्षेत्र में यहूदियों तथा मिस्रवासियों ने अच्छा कार्य किया तथा मैत्रीपूर्ण व्यापार संबंध रखकर अन्य देशों का इस दिशा में पथ-प्रदर्शन किया।

पौर्वात्य-राजदर्शन की विशेषताओं को इस द्रुत-सिंहावलोकन में समझ लेने के बाद अब हम प्राचीन पाश्चात्य राजदर्शन पर विचार करेंगे जो यूनानी राजदर्शन से आरंभ होता है।

यूनान में राजदर्शन का विकास

१. यूनान की भौगोलिक स्थिति तथा इतिहास--२. यूनान के राजनीतिक संस्थान--३. यूनानी विचारों की प्रकृति--४. यूनान के राजदर्शन की विशेषताएँ।

गत अध्याय में हम ज्ञान-संसार की कला शाखा में राजदर्शन के स्थान, जन्म तथा विकास आदि पर विचार करते हुए पौर्वात्य राजदर्शन की एक झाँकी दे चुके हैं। यह भी बतलाया जा चुका है कि राजदर्शन को स्थूलतः पौर्वात्य और पाश्चात्य राजदर्शनों में विभक्त किया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक का विषय-वस्तु पाश्चात्य राजदर्शन का अध्ययन करना है। पिछले अध्याय में पौर्वात्य राजनीतिक विचारों के इतिहास का द्रुत सिंहावलोकन राजदर्शन के एक पक्ष का हलका-सा चित्र पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये दे दिया गया था।

प्रस्तुत अध्याय से पाश्चात्य राजदर्शन का अध्ययन आरंभ होता है। राजदर्शन के इस पक्ष का हमें विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन करना है।

पाश्चात्य राजदर्शन के इतिहास का आरंभ यूनानी राजदर्शन से होता है। यूनानी राजदर्शन में भी मुख्यतः ऐसे दो विचारक हैं--प्लेटो और अरस्तू--जो यूरोप के राजदर्शन के अग्रसर माने जाते हैं। शायद ही कोई ऐसा यूरोपियन विचारक हो जो इन दो दार्शनिकों से अलग-अलग या सामूहिक रूप से प्रभावित न हुआ हो। इसमें सन्देह नहीं कि प्लेटो और अरस्तू दोनों हो महान् दार्शनिक थे लेकिन उनके विचारों को विकसित करने में तत्कालीन अन्य विचारों तथा विरोधी राजनीतिक विचार-धारा में विश्वास करने वालों का भी पर्याप्त हाथ था। अतएव, इन दो विचारकों के साथ ही यूनान के तत्कालीन राजनीतिक-सम्प्रदायों एवं पंथों की पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना होगा।

यूनानी विचारकों या विचार-पंथों पर प्रकाश डालने के पूर्व यह जान लेना उपयोगी होगा कि यूनानी राजदर्शन की क्या विशेषताएँ हैं ?

यूनानी विचारकों के कण्ठस्वर में हमें दो बातें स्पष्ट रूप से ध्वनित होती दिखलायी पड़ती हैं--पहली तो यह कि उन्होंने अपने समय के यूनान को पतन के गर्त में जाने से बचाने का भरसक प्रयत्न किया और दूसरी यह कि सुधारों के लिये उन्होंने जो भी प्रयत्न किये वे अपनी बौद्धिक सच्चाई से किये। यही कारण है कि जहाँ एक ओर हम यह देखते हैं कि उनके विचार-दर्शन का स्वर स्थानीय है--वहाँ दूसरी ओर राज्य तथा तत्संबंधी सिद्धान्तों की बौद्धिक व्याख्या का सच्चाई से किया गया प्रयत्न उनके स्वर में सार्वभौमिकता की विशेषता को भी अंकित करता हुआ चलता है।

१. यूनान की भौगोलिक स्थिति तथा इतिहास

यूनान की राजनीतिक विचार-संस्कृति एक विशिष्ट भौगोलिक वातावरण की देन थी। अतएव इस विचार-संस्कृति की धारा की तरंगों का सूक्ष्म अवलोकन कर उनके

सौन्दर्य का वास्तविक आनन्द लाभ करने के और यह जानने के लिये कि उसकी जानकारी से क्या लाभ उठाया जा सकता है, हमें यूनान की भौगोलिक स्थिति पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

१.१ यूनान की भौगोलिक स्थिति—यूनान भौगोलिक दृष्टि से पूर्वी यूरोप का प्रायद्वीप है जो दक्षिण समुद्र में अन्दर तक घुसा चला गया है। यूनान ३९° अक्षांश से ३६° अक्षांश तक तथा २०° देशान्तर से २३° देशान्तर तक लम्बा और फैला हुआ है। यूनान की भूमि पहाड़ी और पठारी है। कुल वर्गफल १,३२,५६२ किलोमीटर या ५१,१६८ वर्गमील है। देश के भूमि-भाग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। मुख्य भूमि-भाग का वर्गफल ४१,३१७ वर्गमील है और द्वीपों का ९,८५० वर्गमील[1]।

भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से यूनान पहाड़ियों और घाटियों का देश है। घाटियों में तथा पहाड़ की तलहटियों में बसी प्राचीन बस्ती में लगभग २७०० वर्ष पूर्व यूनानी सभ्यता तथा संस्कृति का विस्तार हुआ था। तत्कालीन संसार में यूनानी विचार-संस्कृति आज भी श्रेष्ठ मानी जाती है।

१.२ इतिहास का सिंहावलोकन—यूनान के राजदर्शन का इतिहास ईसा के जन्म से ७०० वर्ष पहले से आरंभ होता है। तत्कालीन परम्पराओं, प्रथाओं तथा इतिहास की अन्य सामग्रियों से विदित होता है कि उस समय यूनानी राज्यों का शासन-कार्य राजा के रूप में नगर का वृद्धतम और अनुभवी पुरुष किया करता था। पद-भार सपूर्ण जीवन के लिये हआ करता था और एक राजा की मृत्यु के बाद दूसरे राजा की नियुक्ति हो जाती थी। लेकिन शनैः-शनैः इस व्यवस्था के दोष बढ़ते गये तथा शक्ति का राजाओं के पास से हटकर आभिजात्य वर्ग के कुछ लोगों के पास आना आरंभ हो गया। आभिजात्य वर्ग का शासन जब तक शुभ-बुद्धि एवं निस्स्वार्थ सेवा के भाव से होता रहा तब तक कोई गड़बड़ी नहीं हुई लेकिन बाद में स्वार्थी तथा लोक-कल्याण की बातों की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों के एक समूह के हाथ में शक्ति आ गयी। तब आभिजात्य वर्ग के इस पतन का अंत करने के लिए शक्ति जनता ने अपने हाथ में ले ली। परन्तु शासन का वास्तविक नेतृत्व अब भी जनता के द्वारा चुने हुए आभिजात्य वर्ग के कुछ लोग ही करते रहे। उदाहरण के लिए पेरीक्लीज और उनके साथी ऐसे ही नेताओं में से थे।

१.३ पारस्परिक एवं आन्तरिक संघर्ष—परन्तु समस्या प्रजातंत्रवाद की स्थापना से ही समाप्त नहीं हो गयी। यूनानी नगर राज्यों में आपस में ही संघर्ष आरंभ हा गये। हेलाज या यूनान के नेतृत्व के लिये विभिन्न राज्यों में आपस में होड़ चल पड़ी और प्रत्येक नगर राज्य अखिल यूनान का नेतृत्व करने का सपना देखने लगा। अन्य छोटे-मोटे नगर-राज्यों के ये सपने तो मिट्टी के खिलौनों की तरह जल्दी ही टूट गये लेकिन स्पार्टा तथा एथेन्स का संघर्ष अन्त तक बन्द न हुआ। इसी प्रतिद्वंद्विता ने पेलोपोनेशियन युद्ध को जन्म दिया जो लम्बे समय तक चला और जिसमें दोनों ही राज्य समाप्त हो गये।

१.४ एकता के प्रयत्न—ऐसा नहीं है कि जिन दिनों नगर राज्यों के पारस्परिक संघर्ष चल रहे थे उन दिनों यूनान की एकता की कल्पना राजनीतिक विचारकों के मस्तिष्क में न आयी हो। कई विचारकों ने नगर राज्य के संघ-शासन की रूपरेखाएँ तैयार कीं परंतु वे अपूर्ण ही रहीं तथा क्रियान्वित न की जा सकीं। बीच में एक बार ऐसा अवश्य हुआ कि फारस ने यूनान के नगर-राज्यों पर हमला किया। इस आक्रमण से रक्षा के लिये नगरराज्यों ने परस्पर एकता कर ली; परंतु यह एकता अस्थायी ही रही—स्थायी न हो सकी।

---
1 Statesman Year Book, 1957.

२. यूनान के राजनीतिक संस्थान

यूनान में निवास करनेवाली जातियों का जहाँ तक संबंध है, उनका उद्गम-सूत्र एक ही था। उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि भी समान थी। सभी यूनानी यूनान से बाहर निवास करनेवालों तथा अपने से भिन्न जाति के लोगों को बर्बर एवं असभ्य मानते थे। अरस्तू ने तो बर्बर जातियों को जीतकर उनको सभ्य बनाने की शिक्षा भी दी थी। सभ्यता और संस्कृति के एकमात्र ठेकेदार होने का यूनानियों का स्वप्न उस समय भंग हुआ जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ के राज्य-संस्थानों को यूनान के बहुत से संस्थानों की तुलना में कहीं अधिक शक्तिशाली एवं समुन्नत पाया।

यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति के मूल आधार नगर-राज्य थे। वे राजनीतिक दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र रहा करते थे। राजदर्शन की सारी पृष्ठिभूमि यूनानी विचारकों को यूनान के नगर-राज्यों की सभ्यता से ही मिली। तत्कालीन यूनानी नगर-राज्यों के समाज में दो ही आदर्श नगर-राज्य माने जाते थे——पहला तो स्पार्टा और दूसरा एथेन्स। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अन्य छोटे-छोटे नगर-राज्य इनमें किसी भी राज्य के आदर्श का अनुकरण करते थे। यह रुचि राजदर्शन के अध्ययन में अभी तक चली आयी है। एक फ्रेंच लेखक ने लिखा है, "स्पार्टा——एथेन्स . . . ये दोनों नगर एक दूसरे से मुश्किल से १०० मील की दूरी पर होंगे। किन्तु दोनों में कितना अन्तर था——उनकी राजनीति, उनका रहन-सहन, उनके आदर्श, सभी कुछ तो एक दूसरे से भिन्न थे। स्पार्टा का जीवन युद्ध करते बीता और एथेन्स का व्यापार करते। यदि जर्मन इतिहास लेखकों का सबसे रुचिकर विषय स्पार्टा है तो अँग्रेजों का एथेन्स।"[१]

यदि हम एक बार स्पार्टा और एथेन्स के संविधानों को ध्यान से देख लें तो हमें यूनान के राजनीतिक संस्थाओं का ज्ञान भली भाँति हो जायगा।

२.१ स्पार्टा का संविधान——स्पार्टा के संविधान पर विचार करते हुए हम सबसे पहले वहाँ के सामाजिक-संघटन का एक चित्र उपस्थित करेंगे। स्पार्टा की सामाजिक व्यवस्था मूलतः कृषि पर आधारित थी। वहाँ का समाज तीन भागों में विभक्त था। तीन सामाजिक वर्गों में सबसे नीचे का वर्ग दासों का था जो या तो पराजित यूनानी युद्धबंदी हुआ करते थे या यूनानियों से भिन्न जातियों के लोग हुआ करते थे। दासों को प्राप्त करने का स्रोत या तो युद्ध हुआ करता था अथवा खरीदारी। तत्कालीन यूनान में ऐसे व्यापारी थे जो दासों का व्यापार किया करते थे। इस दास वर्ग को स्पार्टावासी हीलट (Helot) कहा करते थे। इस वर्ग को भोजन-वसन के अतिरिक्त समाज में कोई अधिकार प्राप्त न था। इसका कार्य उच्चतर समाज की विभिन्न सेवाएँ करना ही हुआ करता था। यदि तुलना की जाय तो भारतीय वर्ण-व्यवस्था में जो स्थान शूद्रों का था——उससे कहीं भ्रष्ट स्थान स्पार्टा वासियों ने दासों को दिया था। दासों के व्यक्तिगत जीवन में वह आत्मगौरव का भाव नहीं मिलता जो आरंभ में वर्ण-व्यवस्था में रखे गये शूद्रों में था। भारतीय वर्ण-व्यवस्था कार्य-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित रही। वैदिक काल में शूद्रों के साथ कभी नीच व्यवहार नहीं किया

---

१. "Sparta Athens ; the antithesis is just a shade too facile, but it expresses admirably the particularism which was the outstanding characteristic of classical Greece. The two cities were less than a 100 miles apart yet they differed utterly from one another in politics in manners, in ideals. Sparta lived for war, Athens for trade. Sparta has been the delight of German historians, Athens the pride of the English". Rene Seddillot in *A Bird's eye view of World History*, P, 52,

गया। उन्हें सामाजिक व्यवस्था का एक अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी वर्ग माना गया। यह ठीक है कि आगे चलकर जाति-व्यवस्था जटिल हो गई और विशेषकर दक्षिण में शूद्रों के साथ, अमानुषिक व्यवहार किया गया परन्तु फिर भी स्पार्टा के दासों से भारतीय शूद्रों का स्थान कहीं उच्चतर था। दास-वर्ग से ऊँचा लेकिन यूनानी नागरिक वर्ग से नीचा मध्यम श्रेणी के स्त्री-पुरुषों का भी एक वर्ग था जो उद्योगों तथा व्यवसायियों का संचालन कर अपना जीवन व्यतीत किया करता था। इस वर्ग पर दासों की भाँति बंधन न थे। व्यवसाय-चयन या अपने मन का उद्योग आरंभ करने की स्वतंत्रता इस वर्ग को प्राप्त थी लेकिन इस वर्ग को भी किसी भी प्रकार के कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। इस वर्ग को स्पार्टावासी यूनानी भाषा में **'पेरियोक्रोई** (Perioiko) कहा करते थे।

२.२ **स्पार्टा का उच्चतम या नागरिक वर्ग**——स्पार्टा के बहुसंख्यक निवासी तो दासों या मध्यम-वर्ग के लोगों में आते थे, जो बाकी बचे वे स्पार्टा के उच्चतम वर्ग के व्यक्ति माने जाते थे। यही स्पार्टा के नागरिक थे। स्पार्टा के नागरिकों का यह सीमित और लघु समूह उन मूल विजताओं का वंशज था जो अपने आपको **डोरियन कहा** करते थे। स्पार्टा का सम्पूर्ण शासन इसी उच्च-वर्ग के हाथों में था। इस उच्च-वर्ग के बालकों को नगर-राज्य का शासक-वर्ग सात वर्ष की अवस्था के बाद से उनके माता-पिताओं से ले लेता था तथा उनकी सारी शिक्षा-दीक्षा राजकीय व्यय से होती थी। सात वर्ष की अवस्था से लेकर युवावस्था तक स्पार्टा के विद्यार्थियों को अनिवार्यतः सैनिक शिक्षा दी जाती थी। सभी विद्यार्थियों की देखरेख एक वृद्ध अधिकारी या मैजिस्ट्रेट किया करता था। युवकों को अपनी शिक्षा के आरंभ से लेकर अन्त तक एक ही भोजनालय में एक साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था। सभी प्रकार की विलासिता या आराम की सामग्रियों का उपभोग करना निषिद्ध था। लिखित विधियों के लिये कोई स्थान न था। प्रायः सभी मामलों में न्यायाधीशों का निर्णय अंतिम समझा जाता था।

२.३ **स्पार्टा के राजनीतिक संस्थान**——समस्त स्पार्टा-वासियों की एक सभा (असेम्बली) होती थी। इस सभा के साथ २८ निर्वाचित सदस्यों की एक परिषद (सीनेट) हुआ करती थी। दो राजा हुआ करते थे। शक्ति एक ही किन्तु सीमित वर्ग के हाथ में थी। ऐसे सदस्यों को हटा दिया जाता था जो सार्वजनिक-भोजनालयों को चलाने के लिये अन्न-राशि न दे पाते थे। ऐसा करने में बहुत से नागरिक असफल रहते थे। फलस्वरूप वे निष्कासित कर दिये जाते थे और शक्ति निरन्तर एक लघु से लघुतर वृत्त में सीमित होती जाती थी। इन सबके ऊपर पाँच सदस्यों का एक मण्डल भी था——जो सर्वशक्तिमान था। इसे 'एफर' (Ephor) कहा जाता था।

स्पार्टा-वासियों की असेम्बली या सभा——जिसमें सभी नागरिक भाग लिया करते थे——किसी भी मामले का अंतिम रूप से फैसला किया करती थीं किन्तु इसकी बैठकें बहुत कम हुआ करती थीं और जब हुआ भी करती थीं तो उसके कार्यक्रम को परिषद या सीनेट ही निर्धारित किया करती थी। पाँच सदस्यों का मण्डल सर्वशक्तिमान सत्ता था। दिन-प्रति-दिन का शासन-कार्य वही चलाता था। दो राजाओं में से एक तो सेना का सर्वोच्च सेनापति हुआ करता था और दूसरा धर्माध्यक्ष किन्तु दोनों के ही हाथ में शक्ति कुछ भी न होती थी। उन्हें निर्वाचित मण्डल की आज्ञाओं को ही मानना पड़ता था।

अपने इन राजनीतिक-संस्थाओं के फलस्वरूप तथा कठोर शासन-व्यवस्था के कारण स्पार्टा ने सामाजिक स्थिरता तथा सैनिक-सफलताओं के क्षेत्र में उच्चतम शृंगों तक पहुँचने का कठिनतम मार्ग तय किया था।

२.४ एन्थस का संविधान——एथेन्स की अर्थ-व्यवस्था का मूल आधार व्यापार तथा वाणिज्य था। स्पार्टा की भाँति एथेन्सवासी कृषि-कार्यों पर ही निर्भर नहीं रहते थे। व्यापार वाणिज्य-प्रधान अर्थ-व्यवस्था ने एथेन्स के यूनानियों की दृष्टि को विस्तृत एवं मस्तिष्क को नये-नये विचारों से युक्त कर दिया था। स्पार्टा ने अच्छे सेनापति भले ही पैदा किये हों—लेकिन वहाँ विचारक एक भी पैदा नहीं हुआ। स्पार्टा के सैनिकों का मस्तिष्क संकुचित विचार सीमित तथा दृष्टि संकीर्ण हुआ करती थी——इसके विपरीत एथेन्स का सामान्य नारिक स्पार्टा के नागरिक से कहीं अधिक ज्ञानवान तथा व्यवहार-कुशल हुआ करता था। कठोरता नहीं उदारता उसका मुख्य गुण था। यह अन्तर शिक्षा-दीक्षा तथा संस्थाओं की व्यवस्थाओं का अन्तर था। यह उन आदर्शों का अन्तर था जो दोनों नगर-राज्यों ने अपने-अपने सामने रखे थे।

२.५ सामाजिक-व्यवस्था——एथेन्स की सामाजिक व्यवस्था में भी स्पार्टा की भाँति तीन वर्ग हुआ करते थे। सबसे नीचा वर्ग दासों का था। पहले एथेन्स में भी इस वर्ग का वही हाल था जो स्पार्टा में, लेकिन बाद में दासों की अवस्था में सुधार हो गया। यह सब अरस्तू तथा उसके समकालीन-विचारकों की शिक्षाओं का फल था। दासता संबंधी अन्य पक्षों पर हम आगे विचार करेंगे। दास-वर्ग से ऊपर चलने पर मध्य वर्ग में एथेन्स के विदेशी-निवासियों का वर्ग आता था। एथेन्स में यह वर्ग इसलिये पनप गया कि वहाँ पर व्यापार कार्य के लिये बराबर विदेशों के निवासी आया करते थे और उनमें से कुछ वहीं बस गये। इन दोनों वर्गों के ऊपर नागरिकों का वर्ग था। जहाँ एक ओर दास उत्पादन-कार्य करते थे और मध्य-वर्ग के सदस्य व्यापार-वाणिज्य द्वारा नगर-राज्य की सम्पत्ति बढ़ाते थे——वहाँ दूसरी ओर नागरिक वर्ग का कार्य केवल राजनीतिक कार्य करते रहना था। एथेन्स के नागरिक वर्ग का व्यवसाय ही राजनीति था। यूनानी साहित्य में चौराहों, बाजारों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में राजनीतिक एवं अन्य सार्वजनिक विषयों पर विवाद करते हुए एथेन्स के नागरिकों का यथेष्ट विवरण मिलता है।

२.६ प्रजातंत्रवादी शासन व्यवस्था का रूप——एथेन्स में प्रजातंत्रवादी शासन-व्यवस्था का रूप कुछ मिश्रित-सा था। मिश्रित इन अर्थों में कि जहाँ शासन की समस्त शक्ति नागरिकों में स्थित थी वहाँ उसका संचालन और परिचालन ऐसे नेताओं के हाथ में था जो आभिजात्यवर्ग के थे। यह आभिजात्यतंत्र (Aristocracy) मुख्यतः बौद्धिक था। पेरीक्लीज तथा उनके साथी इसी वर्ग के व्यक्ति थे जिन्होंने एथेन्स के प्रजातंत्रवादी आदर्शों पर बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है।[१]

यद्यपि बौद्धिक आभिजात्य नेताओं के हाथ में ही सम्पूर्ण शक्ति रहा करती थी किन्तु ये नेता अपनी शक्ति नागरिकों की महासभा या असेम्बली से प्राप्त करते थे। यह असेम्बली ही सब मामलों पर अंतिम निर्णय करती थी। इसके अतिरिक्त एक परिषद् भी हुआ करती थी जिसके ४०० सदस्य होते थे। इन दोनों ही संस्थाओं की स्थापना ई० पू० ५७० में हुई थी——जब एथेन्स से निरंकुश शासक को निकाल दिया गया था। अधिकारों तथा पदों के वितरण के लिये नागरिकों को चार भागों में विभक्त कर दिया गया था। जहाँ प्रथम वर्ग के नागरिक राज्य के उच्चतम पदों तक पहुँच सकते थे, वहाँ चतुर्थ वर्ग के नागरिकों को शासनाधिकार के किसी पद पर नियुक्त नहीं किया जाता था। अन्त में चतुर्थ वर्ग को भी कुछ अधिकार दिये गये थे लेकिन यह व्यवस्था भी बाद में हो पायी थी।

---

१. देखिय पेलोपोनेशियन युद्ध में मारे गये प्रथम सैनिक की अंत्येष्टि क्रिया के समय पेरीक्लीज का भाषण।

इसके पहले तो आभिजात्यतंत्र के सदस्यों का ही सब पदों पर बोलबाला रहा करता था। नयी व्यवस्था समझौतों और सुधारों का परिणाम थी। इन सुधारों को कराने में एथेन्स के प्रसिद्ध नेता **सोलोन** ने बड़ा नाम कमाया था।

नागरिकों की महासभा या असेम्बली का कार्य विधियाँ (कानून) बनाना नहीं था क्योंकि एथेन्सादि नगरों में जो रीति-रिवाज वर्षों से चले आ रहे थे--उन्हीं को विधि के समान माना जाता था। पहले वे लिखे हुए नहीं थे किन्तु बाद को उनका संकलन कर लिया गया था। फिर भी असेम्बली में नयी व्यवस्थाओं के प्रस्ताव कभी-कभी रख दिये जाया करते थे। इतना अवश्य था कि परम्परा-विरुद्ध व्यवस्था का प्रस्ताव रखनेवाले को अपराध सिद्ध हो जाने पर दण्डित किया जाता था।

एथेन्स में नागरिकों की संख्या काफी थी तथा परिषद् में भी चार सौ सदस्य होते थे। इसका फल यह हुआ कि दोनों ही संस्थाओं की बैठकें बहुधा नहीं हो पाती थीं। वह केवल कभी-कभी ही हुआ करती थी। सभी निर्णय बहुमत से होते थे।

असेम्बली या महासभा तथा परिषद् की बैठकें जल्दी-जल्दी न हो सकने के कारण दस सेनापतियों तथा दस अनुभवी राजनीतिज्ञों के दो मण्डल थे जो सेना संबंधी व्यवस्थाएँ करते और कूटनीतिक एवं प्रशासनिक कार्य करते थे।

३ यूनानी विचारों की प्रकृति

यूनानियों में आदि आर्यों की भाँति प्रकृति-पूजा का भाव बहुत अधिक था। उनके देवता भी अधिकांशतः प्राकृतिक शक्तियों का ही प्रतिनिधित्व करते थे। अतएव, समस्त प्राकृतिक तत्वों और पदार्थों में यूनानियों को बड़ा विश्वास था। यही विश्वास उनको प्रत्येक प्राकृतिक तत्व में तर्कसंगतता का दर्शन कराता था। वे मानते थे कि प्रकृति मानव-हितकारिणी है और वह जो कुछ भी करती है उसमें मानव-मंगल की भावना प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से छिपी रहती है। धर्म यूनानी-समाज में सदैव व्यक्तिगत और अप्राथमिक माना गया। परिणामतः पाश्चात्य-दर्शन में लौकिकता या धर्म-निरपेक्षता (Secularism) का विचार यूनानी विचारकों से ही ग्रहणकर विकसित किया गया। यूनानियों के देवता नगर-देवता हुआ करते थे और उनमें वीरपूजा का भाव रहा करता था। यूनान में मध्यपूर्व के देशों की भाँति या मध्ययुग के ईसाइयों की तरह धर्मान्धिता नहीं थी। अतएव देवताओं के नाम से जो भी कार्य होते थे--उनमें अंधविश्वास नहीं अपितु बौद्धिकता की छाप अमिट रूप से अंकित रहा करती थी। रूढ़िवादिता के अभाव ने दो गुण यूनानियों के समाज तथा उनके संस्थानों को प्रदान किये--जो आगे चलकर आधुनिक पाश्चात्य राजदर्शन के लिये भी वरतुल्य सिद्ध हुए। ये गुण थे सहिष्णुता और समन्वयता। अपने इन्हीं गुणों के कारण यूनानी समाज ने अपने अन्दर पुरोहितों जैसा कोई वर्ग विकसित न होने दिया। इसका यह आशय नहीं है कि वहाँ पुरोहित होते ही नहीं थे--वे होते थे, लेकिन भारत में जैसी शक्ति ब्राह्मण वर्ण ने बौद्धिक आभिजात्यतंत्र स्थापित कर प्राप्त कर ली थी--वैसी शक्ति यूनानी समाज में कोई ऐसा वर्ग न पा सका।

जीवन के विकास के लिये यूनानी दार्शनिकों ने बौद्धिक विकास को आवश्यक बतलाया। उच्चतर बौद्धिक अभिव्यक्तियाँ मानवीय क्षमता के विकास के लिये आवश्यक हैं--यह बात प्लेटो और अरस्तू आदि ने प्रकारान्तर से दोहरायी हैं। मनुष्य का अधिकतम और उच्चतम विकास समाज में ही हो सकता है तथा अच्छा समाज राज्य में ही बना रह सकता है--इसीलिये यह यूनानी सिद्धान्त कहावत की भाँति चल निकला कि "मनुष्य राज-नीतिक जीव है"। मनुष्य राज्य के बिना नहीं रह सकता। यदि कोई ऐसा दावा करता है

कि वह राज्य के बिना भी रह सकता है तो अरस्तू के शब्दों में वह "या तो पशु है अथवा देवता।"

समाज और राज्य को इतनी आवश्यकता बता देने के बाद यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि यूनानी दार्शनिक इस बात पर बल देते कि राजनीतिक गतिविधियों में यूनानी नागरिक सबसे अधिक रुचि ग्रहण करें और सक्रिय रूप से भाग लें। यूनानी दार्शनिकों की इस माँग ने नगर-राज्यों में प्रजातंत्रवाद के विकास में बड़ी सहायता दी। फलतः नगर-राज्यों को सीमित जनसंख्या तथा भूमि-विस्तार एवं दार्शनिक वर्ग के आग्रह के कारण प्रत्यक्ष प्रजातंत्रवाद की ऐसी पद्धति विकसित हो गयी—जो मूलतः आधुनिक राष्ट्र-राज्य के प्रजातंत्र स्वरूप से भिन्न नहीं है। यद्यपि इसका वाह्य-स्वरूप यूनानी प्रजातंत्र की तुलना में अवश्य जटिल हो गया है।

राज्य को सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिये इतनी अधिक उपयोगिता मान ली गयी थी (शासन के स्वरूपों की चाहे कितनी ही आलोचनाएँ-प्रत्यालोचनाएँ की गयी हों) कि राज्य की आलोचना अथवा उसकी प्रारंभिक उपयोगिता के संबंध में किसी दार्शनिक ने कभी कोई संदेह प्रकट नहीं किया। यहाँ तक कि राज्य को जीवन की अन्तरंग बातों के नियंत्रण का भी अधिकार दे देने में कुछ यूनानी दार्शनिकों या शासकों को कोई आपत्ति नहीं प्रतीत हुई। प्लेटो का स्त्रियों और सम्पत्ति का साम्यवाद—तथा स्पार्टा की सात वर्ष के बाद बालकों को राज्य के सुपुर्द कर देने की प्रथा इसी दिशा की ओर इंगित करती है। राजनीतिक अधिकारों को कल्पना तो यूनानी विचार-दर्शन में मिलती है, परंतु नागरिक अधिकारों की नहीं। इसका कारण है और वह यह कि राजनीतिक अधिकार, सामाजिक और समूहगत अधिकारों से संबंधित हैं। नागरिक अधिकारों का संबंध व्यक्तियों से है और चूँकि समाज से व्यक्ति को यूनानी राजदर्शन-शास्त्रियों ने बिल्कुल ही भिन्न नहीं माना, इसलिये उन्होंने समाज के अधिकारों को ही व्यक्ति का अधिकार भी समझा। यूनानियों के मतानुसार व्यक्ति और समाज के हित में किसी प्रकार का विरोध नहीं था। 'समाज एक वृहद व्यक्ति है', यही यूनानियों की धारणा थी। इसी कारण समाज के विरुद्ध व्यक्तियों के अधिकारों का प्रश्न कभी उठाया ही नहीं गया। जो समाज के लिए श्रेयस्कर है वही व्यक्ति के लिए हितकर है, यही इन दार्शनिकों का मत था।

४. यूनानी राजदर्शन की विशेषता

यूनानी राजनीतिक-विचारकों के स्वभाव की इस संक्षिप्त और लघु भूमिका को पृष्ठ-भूमि में रखकर अब हम सुविधापूर्वक यूनानी विचार-दर्शन को विशेषताओं को उंगलियों पर गिन सकते हैं। ये सभी विशेषताएँ यूनानियों के (क) विशिष्ट भौगोलिक वातावरण (ख) प्रकृति और जीवन संबंधी दृष्टिकोण (जिसकी ऊपर की पंक्तियों में विस्तारपूर्वक चर्चा हम कर आये हैं) और (ग) उनकी कृषि या व्यापारिक अर्थ-व्यवस्था पर—जो मूलतः दास प्रथा पर आधारित थी—आश्रित हैं। विशेषताएँ इस प्रकार हैं (अ) नगर राज्यों का जीवन (आ) नागरिक जीवन को सफल बनाने के लिये निर्धारित और सुनिश्चित शिक्षा पद्धतियाँ, (इ) नागरिकता संबंधी विचार, (ई) विधियों के प्रति अति श्रद्धाभाव और (उ) धर्म (justice) संबंधी विचार। इनमें से प्रत्येक पर अब हम क्रमपूर्वक विचार कर सकते हैं।

४.१ नगर राज्यों का जीवन—यूनानी नगर-राज्यों की सबसे बड़ी और उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि वहाँ का शासन-कार्य प्रत्यक्ष-प्रजातांत्रिक प्रणाली से हुआ करता था। यूनान में प्रत्यक्ष-प्रजातांत्रिक प्रणाली में सफलता से कार्य इसलिये संभव हो सका क्योंकि (१) नगर-राज्य छोटे और सीमित भूमि-क्षेत्र में बसे हुए रहते थे, (२) उनकी जनसंख्या

स्वल्प (१० हजार से ३०–४० हजार तक) हुआ करती थी और नागरिक वर्ग के लोग एक दूसरे से भली भाँति परिचित होते थे तथा (३) उनकी जातिगत समानता उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे रहती थी। नागर-राज्यों के शासन-स्वरूप भले ही भिन्न हुआ करें किन्तु वास्तविक शक्ति और सत्ता नागरिकों के समूह में ही केन्द्रित रहा करती थी। नगर-देवता की पूजा सब नागरिकों को समान रूप से करनी पड़ती थी। ऐसा नहीं हाता था कि नागरिकों का एक वर्ग किसी एक देवता की पूजा करे और दूसरा वर्ग किसी दूसरे देवता की। राज्य और धर्म के प्रति भक्तियाँ विभक्त नहीं थीं। नगर-जीवन में शासन-संस्थानों (Government institutions) का गहरा प्रवेश था और यह नहीं माना जाता था कि व्यक्ति के अधिकार अलग हैं तथा राज्य के अलग। व्यक्तिगत जीवन में भी राज्य अनेक बातों का नियंत्रण किया करता था। उदाहरणार्थ स्पार्टा में सात वर्ष की अवस्था के बाद बालकों को राज्य अपने नियंत्रण में ले लिया करता था। आजकल की सरकारें ऐसे अधिकारों से वंचित हैं। यूनानी नागरिक का सारा समय नगर के बाजारों, चौराहों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में राजनीतिक विषयों की चर्चा करते ही बीता करता था। किसी एक नागरिक का कोई एक कार्य निर्धारित नहीं था। यही कारण है कि यूनान के इतिहास में जहाँ एक ओर किसी नागरिक को हम सेनापति का पद-भार सँभालते पाते हैं——वहीं थोड़े काल पश्चात दूसरी ओर उसे दण्डनायक (Magistrate) या न्यायाधीश के रूप में भी काम करते देखते हैं। **बारकर** ने लिखा है 'राज्य बनाम नागरिक' के अधिकारों का संघर्ष यूनानियों के लिये कल्पनातीत था। इसका अर्थ यही है कि यूनान में राज्य तथा व्यक्तिगत अधिकारों में कोई अन्तर नहीं माना जता था। यूनानियों का नगर-जीवन केवल व्यक्तियों का समूह नहीं हुआ करता था वरन् वह इससे भी कुछ अधिक होता था। वे समूहगत जीवन को ही जीवन मानते थे और उनका तत्संबंधी दृष्टिकोण सावयव था। वे यह मानते थे कि जिस प्रकार कटे हुए हाथ का किसी व्यक्ति से अलग होकर कोई जीवन शेष नहीं रहता ठीक उसी प्रकार व्यक्ति का राज्य तथा समाज से अलग कोई जीवन नहीं होता। उनके इसी दृष्टिकोण ने **अरस्तू** की इस प्रसिद्ध लोकोक्ति को जन्म दिया कि "मनुष्य राजनीतिक प्राणी है।" इस लोकोक्ति में यह अर्थ निहित है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी भी है। राज्य समाज का बौद्धिक रूप से विकसित स्वरूप है——इसीलिये मनुष्य को राजनीतिक प्राणी कहा गया। **अरस्तू** ने राजकार्यों की कल्पना के जगत में राजनीति को वही स्थान दिया है जो व्यक्ति के जीवन में आचार-शास्त्र का होता है। **अरस्तू** का कहना था कि संविधान से शासन के पदों तथा अधिकारियों की व्यवस्था का ही ज्ञान नहीं होता वरन उससे किसी भी समाज के रहन-सहन के तौर-तरीकों का भी पता चल जाता है। इस कथन की उपयोगिता आज भी स्वयं-सिद्ध है।

४.२ **शिक्षा संबंधी यूनानी दृष्टिकोण**——शिक्षा संबंधी यूनानी दृष्टिकोण अत्यन्त विकसित था। सॉक्रेटीज के पहले होमर के समय में यूनानी शिक्षा-पद्धति अत्यन्त साधारण और अविकसित थी। यूनानी नागरिक छोटे-छोटे समूहों में रहा करते थे और उनको शिक्षा प्रकृति के अंक में मिला करती थी। वृद्ध नागरिक बालकों को परम्परागत ज्ञान दिया करते थे। सॉक्रेटीज के पहले शिक्षा का उद्देश्य बालकों को मुख्यत: व्यवहारकुशल बनाना होता था। वे भलीभाँति भाषण-संभाषण कर सकें और उन्हें रण-नीतियों का ज्ञान हो जाय——शिक्षा बस इन्हीं दो बातों तक सीमित थी। बाद में शिक्षा संबंधी दृष्टिकोण को प्लेटो तथा अरस्तू ने बहुत अधिक विकसित किया और यह सिद्धान्त स्थिर किये कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो नगर-राज्यों के संविधान के अनुरूप हो तथा ऐसे नागरिकों का निर्माण कर सके जो नगर-राज्यों की परम्पराओं के अनुकूल चलकर परम्पराओं का

निर्वाह कर सके। इस प्रकार सोद्देश्य शिक्षा देने के सिद्धान्तों को यूनानी विचारकों ने ही जन्म दिया। रूसो ने तो यूनानियों को सबसे उत्तम शिक्षा-विशेषज्ञ माना है। प्लेटो की **रिपब्लिक** के बारे में उसने कहा था कि "रिपब्लिक शिक्षा संबंधी संसार रचना है।"

४.३ **नागरिकता संबंधी विचार**—यूनानियों के नागरिकता संबंधी विचार आजकल के राष्ट्र-राज्यों (Nation states) के विचारों से भिन्न थे। नागरिकता संबंधी उनकी दृष्टि संकीर्ण और सीमित थी। वे यह नहीं मानते थे कि नगर-राज्य में रहनेवाले सभी व्यक्तियों को नागरिकता के अधिकार दिये जाने चाहिए। जो व्यक्ति राज्य-कार्य में रुचि ले सके, तत्संबंधी समस्याओं पर अपने विचार प्रकट कर सके और विरोधी विचारों को भी सुन सके—वे ऐसे व्यक्ति को ही नागरिकता के अधिकार देने को प्रस्तुत होते थे। नागरिकता का प्राप्त हो जाना नाजनीतिक-गतिविधियों और हलचलों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो जाने का अर्थ रखता था। नागरिकता इन अर्थों में सीमित थी कि जो यूनानी होते थे और नगर-राज्य की सत्ता-प्राप्त जाति के होते थे—उन्हीं को नागरिकता का अधिकार मिल पाता था। ऐसा नहीं था कि विदेशी या दास वर्ग केलोग भी नागरिकता के अधिकार पा सकें। एथेन्स में आंशिक-नागरिकता दीर्घकाल से रहनेवाले कुछ विदेशियों को दे दी जाती थी लेकिन यह अपवाद था—नियम नहीं। शारीरिक श्रम करनेवाले वर्ग के लोग तो नागरिकता के योग्य माने ही नहीं जाते थे। नागरिकों के लिये सैनिक-शिक्षा अनिवार्य थी।

४.४ **विधि**—विधि या कानून (Law) को यूनान में ईश्वरीय देन माना जाता था। इसका अर्थ यह है कि विधियाँ केवल एक व्यक्ति की बुद्धि द्वारा जन्म नहीं लेतीं वरन् वे युग-युग से चले आनेवाले समाज की देन हैं। जिस प्रकार भारतीय साहित्य में वेदों को अपौरुषेय माना गया है—ठीक उसी प्रकार विधियों को भी यूनानी विचारकों ने दैवी माना और उनके प्रति सब भाँति श्रद्धा रखने के लिये विशेष बल दिया। **प्लेटो** ने अपनी प्रथम रचना **'रिपब्लिक'** में यद्यपि विधि को कोई स्थान नहीं दिया है किन्तु बाद में **'दि लॉज'** (The Laws) नाम की पुस्तक में उनकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए यह माना है कि समाज का शासन विधियों के आदेशानुसार ही होना चाहिए। यह बात यूनानियों के इस स्वभाव से भी सिद्ध हो जाती है कि वे परम्पराओं के निर्वाह तथा उनके पालन के लिये बड़े सजग रहा करते थे। विधियाँ चाहे गलत हों या सही, उनका पालन किया जाना अनिवार्य समझा जाता था। विधियाँ संचित बौद्धिकता की प्रतीक मानी जाती थीं। विधियों में निहित सिद्धान्त स्थायी तथा पूर्ण माने जाते थे। विधियों का स्रोत प्रकृति मानी जाती थी—लोक-इच्छा नहीं। प्रकृति की नैतिकता में विश्वास होने के कारण मानवीय नैतिकता की दृष्टि से विधियों का पालन अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था।

४.५ **धर्म** (Justice) **संबंधी यूनानी विचार**—यूनानियों ने धर्म में मानवीय गुणों की व्यावहारिकता के दर्शन किये थे। धर्म संबंधी विचारों को वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय **प्लेटो** को प्राप्त है। **प्लेटो** ने धर्म को मनुष्य के अन्तर से संबद्ध बतलाया। **प्लेटो** की सारी तर्क-बुद्धि यही सिद्ध करने में जुटी रहती है कि धर्म मनुष्य पर बाहर से थोपी गयी कोई वस्तु नहीं है। वह बाह्य उपकरणों की देन नहीं है। धर्म अन्तरंग है। उसका विकास मानव-मस्तिष्क और आत्मा में होता है। प्लेटो की रचना **'रिपब्लिक'** से प्रकट होता है कि **प्लेटो** से पहले धर्म संबंधी विचार भली भाँति व्यवस्थित न थे और उनको सबसे पहले प्लेटो ने ही स्पष्ट किया, तथा उन्हें सुव्यवस्थित रूप प्रदान

किया। सीफॉलस, पोलीमारकस, थ्रेशेसीमेकस तथा ग्लाऊकन के विचारों का खण्डन तथा निषेध तत्कालीन विचारों की अस्पष्टता को ही सिद्ध करता है।

अरस्तू तथा **प्लेटो** दोनों ने यह स्वीकार किया कि धर्म कल्याण और मंगल-चिन्तन तथा विधियों के पालन के लिये उद्यत रहने में निहित है। अधिकारों तथा कर्तव्यों का सामंजस्य धर्म का अंतिम लक्ष्य है। **प्लेटो** की दृष्टि से जिस राज्य में उक्त सामंजस्य हो--वही सर्वोत्तम है। अरस्तू ने भी इन्हीं रेखाओं पर सोचते हुए अति का सर्वत्र निषेध किया और 'स्वर्णिम मध्यम मार्ग' (The golden mean) के सिद्धान्त को निर्धारित किया।

४.६ **उपसंहार**--यूनान के विचारकों ने जो दर्शन एवं विचार-संस्कृति आज से २५०० वर्ष पूर्व विकसित कर ली थी, उसके महत्व की कल्पना आधुनिक युग में करना सहज नहीं है। आज का युग प्रायः सभी प्रकार के आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों तथा साधनों का सहज प्रयोग करने के लिये स्वतंत्र है किन्तु उस समय जब सभ्यता यूनान की सीमाओं में ही घिरी-सी मानी जाती थी और यूरोप के देश जंगली जीवन से कुछ ही उभरे थे--उस समय यूनानियों का इतना बढ़ जाना उनकी महानता की ओर ही संकेत करता है लेकिन विचार और दर्शन के क्षेत्र में यूनानियों को महान पद पर आसीन करनेवाला यदि कोई वर्ग था तो वह दासों का था। यदि लक्ष-लक्ष दासों ने अपना रक्त बहाकर यूनानियों को आर्थिक-व्यवस्था को सुदृढ़ न बनाया होता तो यूनानी शायद इतना आगे न बढ़ पाते।

प्लेटो के पूर्ववर्ती विचारक

१. साफिस्टों और सोक्रेटीज की युगभूमि--२. अध्यापक वर्ग के ज्ञान स्रोत--
३. साफिस्टों का जन्म--४. सोक्रेटीज और उसके अनुयायी--५ आइसोक्रेट्स तथा--
६. सिनिक्स और सिरेनिक्स।

प्लेटो के पूर्ववर्ती-विचारकों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान **सोक्रेटीज** (या सुकरात) का है। किन्तु सुकरात के पूर्व भी कुछ राजनीतिज्ञ हुए थे जिन्हें **सॉफिस्ट** कहा जाता है। **सोक्रेटीज** के विचारों का एक बहुत बड़ा अंश **सॉफिस्टों** के जीवन दृष्टिकोण की आलोचना तथा प्रत्यालोचन है। **सोक्रेटीज** की आलोचना तथा जीवन एवं राजदर्शन संबंधी विचार इतने परिपक्व तथा परिमार्जित थे कि उनको यूनान के प्रसिद्धतम विचारकों ने भी थोड़ा-सा हेर-फेर करके या उन्हें और विकसित करके अपना लिया। उदाहरण के लिये **सोक्रेटीज** की शिक्षाओं का उसके शिष्य प्लेटो पर बड़ा प्रभाव पड़ा था और उसने सोक्रेटीज के अनेक सिद्धान्तों को न केवल ज्यों का त्यों अपना लिया था--वरन् उन्हें विकसित कर अनेक उपयोगी विचारों से पल्लवित कर दिया था। उदाहरण के लिये 'ज्ञान ही गुण है' (Knowledge is virtue)--यह सिद्धान्त **सोक्रेटीज** ने ही सर्वप्रथम निर्धारित किया था। इसी विचार को प्लेटो ने विकसित कर यह सिद्ध किया कि गुणों को सिखाया जा सकता है और इसका साधन ज्ञान ही है।

प्लेटो के पूर्व ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे पहले सॉफिस्टों (Sophists) का नाम आता है और इसके बाद **सोक्रेटीज** का और फिर **सिनिक्सों** (सनकियों) और **सिरेनिक्सों** का। इन सब के विचारों का अध्ययन इसलिये आवश्यक है कि पाश्चात्य राजदर्शन का अधिकांश भाग **प्लेटो** तथा **अरस्तू** से आरंभ होता है और **प्लेटो** तथा **अरस्तू** के बहुत से विचारों की आधार-भूमि हमें इन्हीं विचारकों में मिलती है। यह दूसरी बात है कि **प्लेटो** तथा अरस्तू ने अपने पूर्ववर्ती-विचारकों की सभी बातें ज्यों की त्यों स्वीकार न की हों--परन्तु उनके विचारों को विकसित होने में सबसे बड़ी प्रेरणा इन्हीं विचारकों से मिलती है।

१. सॉफिस्टों तथा सोक्रेटीज की युग-भूमि

सॉफिस्टों, सोक्रेटीज तथा उसके अनुयायियों का तारा जब यूनान के राजदर्शन संसार में चमका उस समय ईसा के जन्म के पूर्व पाँचवीं शताब्दी चल रही थी। यह शताब्दी यूनानी नगर-राज्यों के इतिहास की सर्वाधिक अशान्तिमय शताब्दी है। पाँचवीं शताब्दी में जितनी आर्थिक तथा राजनीतिक हलचलें हुईं उतनी हलचलें उसके पूर्व यूनान के इतिहास में कभी नहीं देखी गयी थीं। इस शताब्दी का आरंभ तथा अन्त, दोनों ही, दो महायुद्धों से हुए और इन महायुद्धों ने यूनान के नगर-राज्यों के अस्तित्व का सर्वथा उन्मूलन ही कर डाला तथा गौरवशालिनी यशस्वी यूनानी जाति को अप्रतिष्ठा, अगौरव तथा अपयश के अँधेरे गर्त में गिरा दिया। ई० पू० पाँचवीं शती के आरंभिक काल में यूनानियों तथा फारसवासियों के बीच पहला महायुद्ध हुआ। इस महायुद्ध में दो सिद्धान्तों का संघर्ष था। एक पक्ष तो फारस के निरंकुश शासक तथा उनके समर्थकों का था तथा दूसरा पक्ष यूनानियों का था जो स्वायत्त शासन के पक्के हिमायती थे। फारस के साथ होनेवाला पहला महायुद्ध तो एक

अन्तर्राज्य या आधुनिक राजनीतिक शब्दावली में अन्तर्राष्ट्रीय संग्राम था किन्तु दूसरा युद्ध जो इस शताब्दी के अन्त में स्पार्टा तथा एथेंस के बीच हुआ——वह तो करीब-करीब यूनान का गृहयुद्ध ही था। यह दूसरा युद्ध यूनानी इतिहास में **पेलोपोनेशियन महायुद्ध** के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम महायुद्ध से यूनान की इतनी क्षति नहीं हुई जितनी इस भयंकर महायुद्ध से। वस्तुतः यह युद्ध स्पार्टा के सीमित तथा अयोग्य आभिजात्यतंत्र तथा एथेंस के प्रजातंत्रवादी संस्थाओं का था। इन दो युद्धों ने यूनान के समस्त बौद्धिक वर्ग को सिर से पैर तक हिला दिया और सभी विचारक यह समझने के लिये आकुल हो उठे कि इस अशान्ति तथा अव्यवस्था का क्या कारण है और क्या उस कारण का उन्मूलन हो सकता है ? क्या कोई ऐसा संविधान और शासन स्थापित हो सकता है जिससे आये दिन की अशान्तियों से मुक्त हुआ जा सके ? ये दो प्रश्न ऐसे थे जिन्होंने यूनानी विचारकों को सम्पूर्ण देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक संस्थानों तथा उनकी दशाओं की छानबीन और खोज तथा जाँच-पड़ताल के लिये विवश कर दिया। ऐसी अवस्था में राजदर्शन की उपयोगिता सर्व-सम्मत महत्व पा गयी तथा उसकी शिक्षा के लिये एक अध्यापक वर्ग उठ खड़ा हुआ। इसी वर्ग ने सॉफिस्टों तथा सोक्रेटीज आदि को जन्म दिया।

२. अध्यापक वर्ग के ज्ञान-स्रोत

इस अध्यापक वर्ग ने ज्ञान-प्राप्त के लिये मुख्यतः यूनान के साहित्य की शरण ली। होमर के काव्य से उन्होंने सीखा कि राजा ईश्वर का अंश है। उसकी स्थिति उस चरवाहे की भाँति है जो अज्ञानी भेड़ों का चराता है। भेड़ प्रजा बतलायी गई है। लेकिन **हीसियड** (Hesiod) राजा के प्रति प्रकट की जानेवाली होमरकालीन भक्तिभाव में कुछ अन्तर आ गया प्रतीत होता है। इसमें राजा के अधिकारों को द्वितीय स्थिति दे दी जाती है और कर्तव्यों का पालन प्राथमिक बतलाया जाता है। सार्वजनिक हितों का राजा कितना ध्यान रखता है तथा उसके अनुशासन में वह कितना रत रहता है—यह जानने की स्पष्ट प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। सात संतों की वाणी तथा **नॉमिक** (Gnomic) कवियों की स्फुट रचनाओं में भी इसी मत की पुष्टि की गयी है। इससे राजवंशों की शक्ति का क्षीण पड़ना स्वाभाविक ही था। इस शक्ति-क्षीणता से राजवंशों का पतन हुआ। सत्ता पहले योग्य तथा इसके बाद अयोग्य आभिजात्य वंशों के हाथ में गयी और अन्त में वह प्रजा के हाथ में केन्द्रित हो गई। एथेंस के प्रजातंत्रवादी युग में न केवल राजदर्शन ही पनपा अपितु ललित कला तथा साहित्य का भी विकास हुआ। यही कारण है कि पेरीक्लीज का युग एथेंस के इतिहास में यूनान के स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। इन सभी स्रोतों से समय-समय पर नवोदित अध्यापक वर्ग ने सहायता ली। इनकी शिक्षाओं के ढंग भिन्न-भिन्न थे और उद्देश्य भी अलग-अलग थे जिनकी चर्चा बीच-बीच में प्रसंग के अनुसार की जायगी।

३. सॉफिस्टों का जन्म

सॉफिस्ट का अर्थ 'बुद्धिमान' होता है और यह शब्द यूनानी भाषा के शब्द 'सोफियस' से बना है। सॉफिस्टों के समय में राजदर्शन की शिक्षा का महत्व अत्यधिक बढ़ गया था——यह तो अभी ऊपर के अनुच्छेदों में बतलाया ही चा चुका है। अतएव सॉफिस्टों ने अपने कंधों पर राजनीति की व्यावहारिक शिक्षा-दीक्षा का भार ले लिया था। ये सॉफिस्ट किसी विशेष विचारधारा की शिक्षा नहीं देते थे अपितु ज्ञान के सम्बन्ध में इनका अपना एक विशेष दृष्टिकोण था। वही इनको समानता प्रदान करता है। वे अपने समय के युवकों को ऐसी शिक्षा देते थे जिससे वे अपने व्यावहारिक जीवन में सफलता प्राप्त कर सकें। क्योंकि राजनीति ही उन दिनों सबसे अधिक लाभदायी समझी जाती थी——इसलिये वे उसी की शिक्षा देते थे। वक्तृत्व कला सिखाना उनकी शिक्षा का मुख्य विषय था। किसी

भी विषय के पक्ष-विपक्ष में एक ही व्यक्ति किस प्रकार बोल सकता है—यह सिखाना वे भली भाँति जानते थे।

सॉफिस्टों की प्लेटो के युग के आते-आते तो यह दशा हो गयी थी कि आधुनिक वकीलों की भाँति बिना पैसा लिये तो बोलते ही नहीं थे और जब वे बोलने खड़े होते थे तो जो पक्ष उन्हें पैसा देता था वह उसी का समर्थन करते थे। यदि विपक्ष की ओर से अधिक पैसा मिल जाता था तो वे दूसरी ओर से भी बोल देते थे। किसी सिद्धान्त विशेष के लिये ही ज्ञान का उपयोग करना वे आवश्यक नहीं समझते थे। वे ज्ञान को व्यावहारिक जीवन में सफलता का साधन समझते थे—साध्य नहीं।

३.१ सॉफिस्टों का दर्शन—उनका मुख्य कार्य सब विषयों की शिक्षा देना था। इसलिये वे सभी विषयों का भली भाँति अध्ययन करते थे। सॉफिस्टों के पूर्व ज्ञान की शाखाएँ स्पष्ट न थीं। वे एक दूसरे में लिपटी और उलझी हुई थीं। सॉफिस्टों ने बुद्धिपूर्वक उनका अध्ययन किया तथा हर विषय के ज्ञान को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। वे एक प्रकार से सबसे पहले व्यक्तिवादी थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह सिद्धान्त स्थिर किया कि मनुष्य ही सब कुछ है।[१] जो कुछ उसके काम में आता है वही लाभकारी और अच्छा है और जो काम में नहीं आता वह निरर्थक और निरुपयोगी है। आधुनिक काल के आरंभ में उपयोगितावादी बेंथम तथा उनके अनुयायियों ने जो कुछ लिखा है—उसका बहुत कुछ आधार सॉफिस्टों में मिल जाता है। सॉफिस्ट सत्य तथा धर्म के निराधार विचारकों में विश्वास न करते थे। इससे पुराने आचार-शास्त्र संबंधी नियमों का अनुपयोगी हो जाना स्वाभाविक था। तर्क की कसौटी पर प्रत्येक तथ्य को कसकर देखना ही सॉफिस्टों की मुख्य शिक्षा थी। वह अंध-विश्वास के घोर विरोधी थे तथा क्यों, क्या, कैसे इत्यादि, प्रश्नों द्वारा वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करते थे।

३.२ विधि संबंधी दृष्टिकोण—विधियों संबंधी सॉफिस्टों का दृष्टिकोण यह था कि वे परम्परागत होती हैं; स्वभावतया प्रकृतिगत नहीं होतीं। वे अपने इस दृष्टिकोण को सिद्ध करने के लिये कहते थे कि इसका सबसे अच्छा प्रमाण हमें विधियों की विभिन्नता से मिल जाता है। यदि विधियों का जन्म प्रकृति से हुआ होता तो उनमें समानता होती, विविधता नहीं। वे प्रकृति के सदैव बुद्धियुक्त होने में भी विश्वास नहीं करते थे।

३.३ मानव प्रकृति संबंधी विचार—सॉफिस्टों के मानव-प्रकृति संबंधी विचारकों का यदि अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उनकी विचारधारा बहुत कुछ हॉब्स से मिलती थी। वे मानते थे कि मनुष्य स्वभाव से ही लोभी और स्वार्थी होता है। निःस्वार्थ भाव से काम करना मनुष्य की प्रकृति के विपरीत है। जब तक मनुष्य को कोई लोभ न हो, वह कोई भी काम मन लगाकर नहीं करता। लेकिन मानव-समाज में बल-प्रयोग होता है। अतएव जो अधिक बलवान होता है वही दूसरों के स्वार्थों को दबाकर अपना स्वार्थ साधता है। वे 'बल ही सत्य है' के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। राज्य के उद्गम के संबंध में सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त (Principle of social contract) इसी प्रकृति का परिणाम है। राज्य बनने के दो ही कारण थे; या तो सभी निर्बल मनुष्यों ने मिलकर अपनी शक्ति संघटित कर ली तथा एक बली को मार भगाया या एक बली ने निर्बलों को अपने शासन में रहने के लिये विवश कर दिया।

३.४ विधि और नैतिकता की तुलना—सॉफिस्टों ने विधि और नैतिकता की भी तुलना की थी। उन्होंने बतलाया कि कभी-कभी ऐसी भी विधियाँ होती हैं जो मनुष्य को

[१] 'Man is the measure of all things.'

अपनी बुद्धि के विपरीत कार्य करने के लिए विवश कर देती हैं। इसका कारण यह है कि विधियों का उद्गम राजनीतिक-सत्ता से हुआ है। नैतिकता व्यक्तिवादी होता है, अतएव नीतिशास्त्र के नियम विधियों से अधिक उपयोगी हैं। विधियों को सॉफिस्ट अधिक उपयोगी नहीं मानते क्योंकि विधियाँ समूहगत आचारशास्त्र की ओर संकेत करती हैं––जो सॉफिस्टों को व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुकूल नहीं है।

३.५ **आलोचना**––प्लेटो आदि विचारकों ने सॉफिस्टों की बड़ी आलोचना की है। प्लेटो ने तो यूनानी नगर-राज्यों के पतन का कारण भी यही बतलाया था कि उनमें व्यक्तिवादियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी थी। राज्य में सत्ता के लिये लड़नेवाले तत्वों की संख्या बहुत अधिक हो गयी थी। प्लेटो के विचार के अनुसार यह तत्व सॉफिस्टों की शिक्षाओं के ही परिणाम थे––जो राज्य को निर्बल बना देते थे। यही कारण है कि प्लेटो ने अपनी कल्पना के राज्य में शिक्षा व्यक्तिवादी नहीं वरन् समूहवादी रखी और यह भी कहा कि शिक्षा का नियंत्रण राज्य करेगा और वह व्यक्तियों के हाथ में न रहेगी। इस प्रकार प्लेटो ने सॉफिस्ट विचारधारा का बिलकुल ही उन्मूलन कर डाला।

३.६ **सॉफिस्टों का अनुदान और मूल्यांकन**––सॉफिस्टों के आलोचकों ने यह बात बहुत अधिक कही है कि राजनीतिक दृष्टि से सॉफिस्टों की शिक्षाओं का प्रभाव अत्यन्त पतनकारी सिद्ध हुआ; लेकिन उसका अपना एक रचनात्मक अनुदान भी है और वह यह कि सॉफिस्टों ने अपने दृष्टिकोण की समानता से एक ऐसी व्यक्तिवादी आँधी उठा दी कि उसमें बहुत-सी पुरानी और सड़ी-गली प्रथाएँ तथा परम्पराएँ उड़ गयीं। उन्होंने कहा कि सत्य की वास्तविक अनुभूति व्यक्ति को ही होती है, अतएव वही सर्वप्रथम है। सॉफिस्टों के अनुदानों को हम इस प्रकार संक्षिप्त रूप में उपस्थित कर सकते हैं––

(१) सॉफिस्टों ने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं को निश्चित सीमा-रेखाओं में बाँधा और उनकी सीमाओं में उन्हें व्यवस्थित रूप प्रदान किया।

(२) सॉफिस्टों के पूर्व राजनीतिक-ज्ञान बड़ा अस्त-व्यस्त था। सॉफिस्टों ने राजनीति शास्त्र का अध्ययन कर न केवल उसे व्यवस्थित रूप दिया वरन् व्यावहारिक शिक्षा का साधन बना दिया।

(३) सॉफिस्टों का विचारक वर्ग पहला वर्ग था जिसने व्यक्तिवादी विचारधारा को जन्म दिया।

मूल्यांकन की दृष्टि से जब हम उनके पहले अनुदानों पर विचार करते हैं तो इस परिणाम पर पहुँचने में हमें अधिक विलम्ब नहीं लगता कि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के व्यवस्थित हो जाने से विचारक वर्ग का कार्य अधिक सुगम हो गया और विभिन्न शास्त्रों के आधारों का अध्ययन कर सामान्य सूत्रों की रचना भी की जा सकी। व्यवस्थित ज्ञान के कारण विचारकों की कल्पना अधिक निश्चित और शुद्ध होने लगी। राजनीति शास्त्र के व्यवस्थित रूप का लाभ राजदार्शनिकों ने उठाया। सॉफिस्टों के प्रसिद्ध आलोचक प्लेटो ने उनके बहुत से राजनीतिक आदर्शों तथा मान्यताओं को न्यून परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया। सॉफिस्ट अपने व्यक्तित्व में तत्कालीन संशयात्मक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी व्यक्तित्व तक ही सीमित रहनेवाली विचारधारा का यह परिणाम है कि प्लेटो तथा अन्य विचारकों ने आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाया जो मुख्यत: कल्पनात्मक था। सॉफिस्टों की व्यक्तिवादी विचारधारा तथा अन्य शिक्षाओं ने सोक्रेटीज जैसे महान् दार्शनिकों को जन्म दिया।

जार्जियाज (ई० पू० ४२७) **प्रोटागोराज** (ई० पू० ५००–४३०) और **ए डीफोन** आदि कुछ प्रमुख सॉफिस्ट थे।

४. सोक्रेटीज और उसके अनुयायी

सोक्रेटीज (ई०पू० ४६९-३९९) को यूनानी (एथेन्सवासी) विचारकों की क्रमधारा में सॉफिस्टों का उत्तराधिकारी माना जाता है। सोक्रेटीज की विचारधारा में सॉफिस्ट प्रभाव स्पष्ट दिखलायी पड़ता है--यद्यपि उसका प्रवाह सॉफिस्टों की शिक्षाओं के विरुद्ध है। "**रिपब्लिक में सोक्रेटीज द्वारा थ्रेसीमेकस** का विरोध इसी ओर संकेत करता है। सोक्रेटीज ने सॉफिस्टों की यह बात मान ली थी कि 'सत्य की अनुभूति व्यक्ति की बुद्धि पर निर्भर करती है--उसे धर्म या परम्परागत प्रथाओं पर आधारित नहीं माना जा सकता।' सोक्रेटीज मनुष्य की नैतिक प्रकृति में सुधार करना चाहता था। यही उसका सॉफिस्टों से मतभेद था। सॉफिस्टों की दृष्टि से जब मनुष्य स्वभाव से ही लोभी और स्वार्थी है तो फिर उसमें सुधार की कल्पना नहीं की जा सकती ; लेकिन सोक्रेटीज ने यह बात मानते हुए भी कहा कि उसमें सुधार किया जा सकता है और उस सुधार का साधन ज्ञान है। सोक्रेटीज ने 'ज्ञान' को ही गुण[२] माना है और ज्ञान की विभिन्न शाखाओं को भिन्न-भिन्न गुण बतलाया है। सोक्रेटीज का कहना था कि ज्ञान से गुण-प्राप्ति होती है और गुण-प्राप्ति से आत्मज्ञान होता है। अतएव सोक्रेटीज ने अपना लक्ष्य-बिन्दु "आत्मज्ञान प्राप्त करो" बनाया था। आत्मज्ञान से सोक्रेटीज का कहना था 'इहलोक तथा परलोक दोनों के आवरण स्वयमेव खुलते चले जाते हैं।' इन शिक्षाओं के प्रकरण में विचारक सोक्रेटीज पर जब हम विचार करते हैं तो हमें इस परिणाम पर पहुँचने में अधिक विलम्ब नहीं लगता कि सोक्रेटीज में दार्शनिकता की अपेक्षा देवदूतत्व की मुद्रा अधिक अंकित थी। सोक्रेटीज का विश्वास था कि बौद्धिक-आभिजात्यवर्ग ही शासन के उपयुक्त है। वह प्रजातंत्रवाद को समूहतंत्र-शासन से अधिक महत्व नहीं देता था। संक्षेप में सोक्रेटीज के स्थूल सिद्धान्तों से परिचय पा लेने के बाद नीचे की पंक्तियों में सोक्रेटीज के दार्शनिक तत्वों का तनिक विस्तार से विश्लेषण करते हुए हम उन पर विचार करेंगे। लेकिन इसके पूर्व अच्छा होगा कि सोक्रेटीज का थोड़ा-सा जीवनवृत्त जान लिया जाय।

'प्लेटो तथा अरस्तु को समझने के लिये सोक्रेटीज के विचारों की पृष्ठभूमि आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। विशेष रूप से प्लेटो के सम्बन्ध में किसी भी प्रश्न का उत्तर लिखते समय यह संकेत करना परमावश्यक होता है कि उस विचार-विशेष को प्रतिपादित करने म प्लेटो ने सोक्रेटीज से कितनी सहायता ली है।

४.१ **जीवनवृत्त--सोक्रेटीज** का जन्म एथेंस में ई० पू० ४६९ में हुआ था। सोक्रेटीज का परिवार शिल्पियों का था। शिल्पकार के पुत्र सोक्रेटीज ने पाषाण की मूर्तियाँ भले ही न गढ़ी हों किन्तु इतना सत्य है कि उसने युग का निर्माण किया था और यदि उसे युगशिल्पी कहा जाय तो अनुचित न होगा। सोक्रेटीज की मृत्यु विषपान द्वारा ई० पू० ३९९ में हुई थी।[३]यदि हम ४६९-३९९ ई० पू० के समय पर इतिहास की दृष्टि से विचार करें तो यह परिणाम निकालने में हमें अधिक विलम्ब न लगेगा कि सोक्रेटीज का शैशव और बाल्यकाल जहाँ पेरीक्लीज के स्वर्णयुग में बीता वहीं मृत्यु का आलिंगन करते समय एथेंस और स्पार्टा आत्महत्याकारी महायुद्ध पेलोपोनेशियन संग्राम में जुटे थे। सोक्रेटीज

---

[१] "Conceptions of right must be subjected to the scrutiny of individual reason and not rest upon religion or upon traditional custom"—*Socrates.*

[२] "Knowledge is virtue."—*Socrates.*

[३] **ई० पूर्व ३९९ में सोक्रेटीज को राज्य द्वारा दंडित व्यक्ति के रूप में विषपान करना पड़ा था। विषपान संबंधी मर्मभेदी विवरण जानने के लिए प्लेटो का प्रसिद्ध डायलाग फेदो (Phaedo) पढ़ें।**

जैसे संचेत्य विचारक के लिये उस युद्ध के परिणामों की कल्पना करके आकुल हो जाना स्वाभाविक था और यही कारण है कि उसने एथेन्स की छिछली ज्ञानबुद्धि के विरुद्ध पूरी शक्ति से आन्दोलन छेड़ा और एथेन्स के सत्तारूढ़ व्यक्तियों ने सोक्रेटीज को मृत्युदण्ड दिलाकर उसका बदला लिया। सोक्रेटीज केवल दार्शनिक या विचारक ही नहीं था, उसने सैनिक के रूप में थ्रेस के युद्ध में भी भाग लिया था। डीलियम के युद्ध में उसकी वीरता की सारे एथेन्स में प्रशंसा हुई थी। ६५ वर्ष की आयु में सोक्रेटीज को परिषद् का सदस्य बनाया गया था। लेकिन बाद में सोक्रेटीज के शत्रुओं ने उसे अपदस्थ करा दिया। शेष जीवन भर उसने भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों का अध्ययन किया। किन्तु इस अध्ययन से सोक्रेटीज को कोई संतोष नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि सभी यंत्र की भाँति यह बतलाते जाते थे कि वस्तुएँ किस प्रकार बनती हैं ; लेकिन वे क्यों बनती हैं—यह कोई नहीं बतलाता था। वह वस्तुओं को सोद्देश्य कल्पना[१] के मूल तक पहुँचना चाहता था सोक्रेटीज का यह चरण बड़ा महत्वपूर्ण था और इसी चरण ने उसे प्रत्येक युग का सबसे महत्वपूर्ण विचारक बना दिया। सोक्रेटीज की इस जिज्ञासा के संबंध में **बारकर**[२] ने लिखा है, "यह एक महान चरण था, ऐसा महान चरण जिसने अकेले ही हमें **एनेक्झीमेडार** और **हैराक्लिटस** के विचार संसार से **प्लेटो** तथा अरस्तू के दर्शन-संसार तक पहुँचा दिया।"

सोक्रेटीज के व्यक्तित्व में तीव्र समझ तथा सामान्य बुद्धि का अदभुत सम्मिश्रण था, तथा उसकी परिहार-प्रियता ने उसके व्यक्तित्व को बड़ा निखार दिया था। शारीरिक दृष्टि से कुरूप होते हुए भी मानसिक और बौद्धिक-सौन्दर्य में शायद ही कोई यूनानी विचारक उसकी तुलना में ठहर सके।

४.२ **सोक्रेटीज की पद्धति**—सोक्रेटीज की पद्धति का अध्ययन करते समय इस शीर्षक को हमें दो भागों में विभक्त करना होगा—(१) शिक्षा पद्धति और (२) अध्ययन पद्धति। जहाँ तक अध्ययन पद्धति का संबंध है, ऊपर के अनुच्छेद में हम यह बतला चुके हैं कि उसने अध्ययन में वस्तुओं के जन्म के उद्देश्यों की तह तक पहुँचने का यत्न किया। इस पद्धति को हम अध्ययन की सोद्देश्य पद्धति (teleological) कह सकते हैं। शिक्षा-पद्धति से हमारा आशय उस पद्धति से है जिसके अनुसार सोक्रेटीज अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करता था। यह पद्धति प्रश्नोत्तरी की थी। यदि आप चाहें तो इसे कथोपकथन पद्धति भी कह सकते हैं। किन्तु प्रश्नोतरी पद्धति ही कहना अधिक उचित होगा क्योंकि सोक्रेटीज अपनी शिक्षाएँ उपदेशों, प्रवचनों या भाषणों के रूप में न देकर अपने शिष्यों से प्रश्न किया करता था और उनके उत्तरों की आलोचना करके अपने संदेश की ओर संकेत किया करता था।

४.३ **ज्ञान संबंधी विचार**—सोक्रेटीज के ज्ञान संबंधी विचारों का अवलोकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह दो ज्ञानों के अस्तित्व में विश्वास करता था। सोक्रेटीज की ज्ञान संबंधी कल्पना को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(क) इन्द्रिय ज्ञान तथा (ख) बुद्धि-ज्ञान या सत्य ज्ञान।

(क) इन्द्रिय ज्ञान—जो ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा होता है—वह तो इन्द्रिय-ज्ञान हुआ। जो कुछ हम अपनी आँखों से देखते हैं—कानों से सुनते हैं, नाक से सूंघते हैं और जिह्वा से चखते हैं—यह सब इन्द्रिय-ज्ञान हैं। इन्द्रिय-ज्ञान नश्वर और परिवर्तनशील होता है। अतएव वह सत्य नहीं है क्योंकि पुष्प का सौन्दर्य स्थायी नहीं होता—उसका सुवास ज्यों का त्यों नहीं बना रहता है, अच्छे भोज्य पदार्थों का स्वाद सदैव नहीं बना रहता अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुएँ—भौतिक वस्तुएँ नश्वर और परिवर्तनशील हैं।

१ Teleological conception of things.
२ *Plato and His Predecessors*, P. 87,

(ख) **सत्यज्ञान**––सोक्रेटीज का कहना था कि संसार के समस्त भौतिक पदार्थों के पीछे एक और तत्व छिपा है। सब भौतिक पदार्थ किसी न किसी ऐसे विचार या ऐसी कल्पना का प्रतिनिधित्व करते हैं जो शाश्वत है, अनश्वर है, अपरिवर्तनशील है और सदैव ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसी विचार या कल्पना का साक्षात्कार करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इसी ज्ञान को––सत्य या सच्चे ज्ञान को–सोक्रेटीज ने 'शिवम' (True goodness) बतलाया था। 'शिवम' का अर्थ कल्याण होता है और सोक्रेटीज का मत था कि कल्याण की वृत्ति मनुष्यमात्र में होती है और यह वृत्ति अपने आप में ही बड़ी क्षमता रखती है। शिक्षा का उद्देश्य इसी वृत्ति को उभारना है।

ज्ञान की इस कल्पना के आधार पर सोक्रेटीज ने जीवन के विभिन्न पक्षों पर अपने विचार प्रकट किये थे। **सोक्रेटीज** ने स्वयं कुछ भी नहीं लिखा है। उसके शिष्यों ने उसके विचारों का संकलन किया था––उसी संकलन से हमें सोक्रेटीज के विचार प्राप्त होते हैं। जनोफन (Xenophon) तथा प्लेटो द्वारा संकलित विचार इनमें मुख्यतः उल्लेखनीय हैं।

४.४ **विधि संबंधी दृष्टिकोण**––सोक्रेटीज ने विधियों (Laws) को अत्यन्त पुनीत और महत्वपूर्ण माना है। उसका कहना था कि विधियों की संहिता (Code of Laws) में मानव-समाज की बौद्धिक-अनुभूतियों की राशि संचित रहती है। सोक्रेटीज के पूर्व जो सॉफिस्ट थे––उनका विधियों में विश्वास न था। वे उनको कल्पनाजन्य और भौतिक आधारों से रहित मानते थे। वे यह भी कहते थे कि वे विधियाँ मानवीय आचरण के पथ-प्रदर्शन के लिये अधिक उपयुक्त नहीं हैं। इसके विपरीत सोक्रैटीज का मत था कि विधियों की संचित राशि का अध्ययन करने के कुछ ऐसे आचारिक नियम बनाये जा सकते हैं जो सब के लिये समान रूप से उपयोगी सिद्ध होंगे। विधियों के प्रति सोक्रेटीज की श्रद्धा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वह उन्हें ईश्वर की आज्ञा के बाद प्राथमिक स्थान देता है और कारागृह में जब सोक्रेटीज को भाग जाने की सलाह दी गयी तो सोक्रेटीज ने यह कहकर कि ऐसा करना विधि-सम्मत न होगा––भाग जाने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। विधि के अतिरिक्त अन्य किसी नियम को सोक्रेटीज ने प्राकृतिक धर्म (Natural justice) नहीं माना। विधियाँ शासक और शासित दोनों से ऊपर हैं। विधियाँ "नागरिकों का एक ऐसा लिखित समझौता है" जिसमें यह सुनिश्चित कर दिया जाता है कि क्या किया जायगा और क्या नहीं।"

४.५ **मानव-स्वभाव**––मानव-स्वभाव के संबंध में सोक्रेटीज का विचार यह था कि वह मिश्रित है। उसके दो पक्ष हैं। एक तो दुर्बल और दूसरा सबल। दुर्बल पक्ष मानव मात्र की अकल्याणकारी, लोभी, स्वार्थी और संकुचित प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। यह पक्ष स्थायी नहीं होता। इसके विपरीत दूसरा पक्ष मानव-स्वभाव की 'शिवम्' या कल्याणकारी वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ मनुष्य लोभ, स्वार्थ तथा संकुचित वृत्तियों के सीमित क्षेत्रों से ऊपर उठकर लोक-कल्याण के चिन्तन स्थल तक पहुँच जाता है। मनुष्य के इसी पक्ष को सोक्रेटीज ने अपनी चिन्ता-धारा का आधार माना है। इसी आधार पर सोक्रेटीज ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और राज्य उसके सर्वोत्तम शारीरिक और बौद्धिक विकास के लिये आवश्यक तथा अनिवार्य है।

४.६ **राज्य और राजनीति**––राज्य के संबंध में सोक्रेटीज ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि मनुष्य की बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अंतिम साधन राज्य ही है। परिवार तथा समाज में उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य होती है लेकिन यह पूर्त्ति एक सीमा तक ही होती है।

राजनीति को कला बतलाते हुए **सोक्रेटीज** ने कहा था कि इस दृष्टि से राजनीति के दो पक्ष हैं––(१) जहाँ राजनीति को विशेषज्ञों का क्षेत्र माना जाता है और सब प्रकार की दक्षता पर विशेष बल दिया जाता है। यह पक्ष अपने प्रथम स्वरूप में अप्रजातांत्रिक भले ही दृष्टिगोचर हो लेकिन उसकी कार्यक्षमता में कोई संदेह नहीं रह जाता। (२) इस पक्ष में लोकमत को ही महत्व दिया जाता है अर्थात राजनीति में विशेषज्ञता नहीं अपितु मतसंख्या को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है––जिसका परिणाम यह होता है कि उसमें प्रजातांत्रिकता के तत्वों के रहते हुए भी न तो दक्षता रहती है और न सक्षमता। सोक्रेटीज ने क्षमता और दक्षता को प्राथमिकता देते हुए बौद्धिक आभिजात्यतंत्र का समर्थन किया था। राजनीतिज्ञ का आदर्श लोक कल्याण का चिन्तन निर्धारित किया गया था।

बुद्धिजीवी ज्ञानवान् राजनीतिज्ञ के निरंकुश शासन का सोक्रेटीज कट्टर समर्थक था।

४.७ सोक्रेटीज की मृत्यु और उसका महत्त्व––ई० पू० ३९९ में सोक्रेटीज तथा उसके चार अनुयायियों को पकड़कर उन पर एथेन्स की महासभा में मुकद्दमा चलाया गया। मेलीटस तथा उसके अन्य जिन साथियों ने सोक्रेटीज पर अभियोग लगाये थे, वे स्वयं भी किसी-न-किसी रूप में अपने राजनीतिक जीवन की प्रारंभिक अवस्था में सोक्रेटीज के शिष्य या अनुयायी रहे थे।

(क) अभियोग––एथेंस की महासभा में सोक्रेटीज पर जो अभियोग लगाये गये थे––वे दो प्रकार के थे :––(१) वे अभियोग जिनमें सोक्रेटीज को अधार्मिक बतलाते हुए यह कहा गया था कि उसने नगरदेवताओं का पूजन करना अस्वीकार किया है तथा (२) वे अभियोग जिनका आधार नैतिकता थी और जिनमें यह कहा गया था कि सोक्रेटीज एथेन्स के नवयुवकों को भ्रष्ट करने के लिये उत्तरदायी है। पहला अभियोग सत्य नहीं था। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिल सका जिससे सोक्रेटीज की नगर-देवताओं के प्रति अवमानता सिद्ध की जा सके। लेकिन दूसरे अभियोगों का रहस्य यह था कि सोक्रेटीज ने एथेन्स की प्रजातांत्रिक शासन-प्रणाली की कटु आलोचना की थी और कहा था कि महासभा या असेम्बली की रचना सदोष है और एथेन्स के राजनीतिज्ञ अज्ञानी हैं। यही नहीं, उस समय तक स्वयं एथेन्सवासी अपनी शासन-प्रणाली की दुर्बलताओं को अनुभव कर रहे थे और यह समझ रहे थे कि वे बड़े अरक्षित हैं। यही कारण है कि वे सोक्रेटीज की आलोचनाओं से झुंझला उठे और नैतिक अभियोगों को प्रमाणित मानते हुए उसे विषपान की आज्ञा दे दी गयी।

(ख) दो महत्वपूर्ण सिद्धान्त––यह सत्य है कि सोक्रेटीज की विषपान द्वारा मृत्यु हो गयी लेकिन उससे केवल उसके पंचभूत शरीर का ही अन्त हुआ––उन सिद्धान्तों का नहीं जिनके लिए उसने जीवन और मरण दोनों को समान समझा। सोक्रेटीज की मृत्यु से दो सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते हैं (१) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि से अच्छी या बुरी बात का निर्णय करने का अधिकार है। उसकी अन्तरात्मा जो कुछ कहती है––उसके लिये वही अंतिम सत्य है तथा (२) जहाँ एक ओर व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करने के लिये स्वतंत्र है––वहाँ दूसरी ओर उसे राज्य के न्याय तथा निर्णयों विधियों को मान्यता देनी चाहिए। व्यक्ति अपने विचारों तथा क्रियाओं के लिये स्वतंत्र है लेकिन उसे राज्य की सत्ता को ही अंतिम मानना पड़ेगा और यहाँ पर ए० एम० एडम्स के शब्दों में "सोक्रेटीज ने शासक-सत्ता की निरंकुशता और अनुत्तरदायित्व की वृत्ति का हॉब्स की भाँति स्पष्ट समर्थन किया है"।[१] सोक्रेटीज और महात्मा गांधी के विचारों में कितनी सत्यता है यह इस बात से स्पष्ट है कि दोनों व्यक्तिगत तर्क को अच्छाई का मूल मानते

---

[१] A. M. Adams, *Plato—Moral and Political*, P. 19.

हैं, परन्तु जहाँ गाँधी जी ने उस तर्क को आगे बढ़ाकर व्यक्तियों को राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करना सिखाया, वहाँ सोक्रेटीज ने ऐसा नहीं किया। उसने किसी भी दशा में राजाज्ञा का उल्लंघन श्रेयस्कर नहीं माना।

५. आइसोक्रेट्स (Isocrates)

सोक्रेटीज ने अपनी विचार-धारा द्वारा जिस चिन्तन दिशा की ओर संकेत किया था—यूनान के सभी विचारक महारथी उसी ओर बढ़े। प्लेटो की समस्त राजनीतिक-चिन्ता-धारा सोक्रेटीज पर आधारित थी और अरस्तू ने अपने विचार-क्षेत्र की सीमाओं के निर्धारण में प्लेटो से पथ-प्रदर्शन ग्रहण किया था। लेकिन सोक्रेटीज के बाद एक और भी उल्लेखनीय सोक्रेटीज का शिष्य था जिसका नाम था **जेनोफन** (Xenophon)। आइसोक्रेट्स की विचार-धारा उन्हीं से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। **जेनोफन** तथा **आइसोक्रेट्स** दोनों ही द्वितीय वर्ग के विचारक थे। इनका राजनीति पर महान दार्शनिकों-सा अधिकार न था लेकिन अपने युग की प्रवृत्तियों को सूत्र रूप में कह देने की दार्शनिकों जैसी क्षमता उनमें अवश्य थी। इनकी कल्पना-दृष्टि सूक्ष्म और भविष्यदर्शी नहीं थी। लेकिन आइसोक्रेटों का दृष्टिकोण सोक्रेटीज से कुछ भिन्न था। वे लोकमत से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना अधिक उचित समझते थे और यह नहीं मानते थे कि निरर्थक ज्ञान-प्राप्ति में समय नष्ट किया जाय। उनका कहना था कि राजनीति संबंधी महत्वपूर्ण विषयों पर संभावित लोकमत की कल्पना करके ही कोई कार्य करना चाहिए। एक प्रकार से आइसोक्रेट-विचारकों के वर्ग का यह विश्वास था कि राजनीति में लोक-मनोविज्ञान की शिक्षा से बड़ा लाभ उठाया जा सकता है।

५.१ **राज्य संबंधी विचार**—आइसोक्रेट विचारकों का विश्वास था कि यूनान के नगर-राज्यों की आन्तरिक अव्यवस्था तथा अशान्ति से तब तक मुक्ति नहीं हो सकती जब तक अखिल यूनानी साम्राज्य की स्थापना नहीं हो जाती। उनका विश्वास था कि सारे यूनान की संस्कृति समान है। लेकिन वे यह साम्राज्य किसी सांस्कृतिक या आध्यात्मिक उन्नति के लिये न चाहकर पूर्वी देशों की विजय के लिये चाहते थे। इस दृष्टि से वे सच्चे यूनानी नागरिक[१] थे। आइसोक्रेट्स के इन विचारों का तत्कालीन राजनीति पर काफी प्रभाव पड़ा था।

६. सिनिक्स और सिरेनिक्स (Cynics and Cyrenics)

'सिनिक्स' का अर्थ 'सनकी' होता है और 'सिनिक्स' लगभग 'सनकी' का ही पर्यायवाची शब्द है। कुछ यूनानी विचारकों को सनकी क्यों कहा गया ? इस प्रश्न का रहस्य इस उत्तर में निहित है कि इस वर्ग के विचारक लौकिक परम्पराओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति अति उदासीन रहा करते थे। विचारधारा की दृष्टि से वे सोक्रेटीज के शिष्य थे और जो शिक्षाएँ सोक्रेटीज ने उन्हें दी थीं—उनको उन्होंने अपने जीवन में व्यावहारिक रूप दे डाला था। सोक्रेटीज ने आत्मज्ञान को ही जीवन का उच्चतम लक्ष्य बतलाया था। इस आत्मज्ञान को प्राप्त करने का साधन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सोक्रेटीज ने कहा था कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ न्यूनतम कर देनी चाहिए। अतएव सिनिक्स और सिरेनिक्स वर्ग के विचारकों का पथ-प्रदर्शनकारी सिद्धान्त "आत्मनिर्भर हो जाने" का था। सोक्रेटीज के ये शिष्य जीवन में आत्मा को ही सब कुछ समझते थे और बाह्य वातावरण से कोई संबंध न रखते थे। वे उग्र व्यक्तिवादी थे और किसी भी सामाजिक-

---

१ लिसियाज का भाषण जेब की 'एटिक ओरेटर' नाम की पुस्तक में पृष्ठ १५६ पर। इस भाषण में लिसियाज ने अपने आपको "यूनान का (किसी नगर राज्य का नहीं—ले०) नागरिक" बतलाया है।

संस्थान को उपयोगी नहीं मानते थे। सिनिक्स विचारक राज्य की सत्ता नहीं स्वीकार करते थे और न अपने आपको उसका नागरिक ही मानते थे। उनकी तुलना एक भारतीय लोकोक्ति में "रमता जोगी और बहता पानी" से की जा सकती है। जिस प्रकार बहता पानी का कोई ठिकाना नहीं होता वैसे ही इन विचारकों का भी कोई घर-द्वार न था। सारा विश्व उनका अपना राज्य था और वे विश्व के नागरिक थे। मानवमात्र को समान समझना उनका सिद्धान्त था। अराजकतावादियों की भाँति सम्पत्ति, परिवार, समाज और राज्य से उनकी शत्रुता थी। उनका कहना था कि यदि ज्ञान ही सब गुणों की खान है तो भौतिक पदार्थों से किसी भी प्रकार का मोह क्यों किया जाय। प्लेटो के स्त्रियों तथा सम्पत्ति के साम्यवाद की बहुत आलोचना हुई है लेकिन इस प्रकार के साम्यवाद की कल्पना एक सिनिक विचारक ने ही सबसे पहले की थी। इका नाम **डायोजिनीज** था। **डायोजिनीज** परिवार को मोह का कारण मानता था और कहता था कि परिवार की वजह से हो सम्पत्ति जुटाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि स्त्रियों का उपयोग परिवार की स्थापना के लिये न किया जाय अर्थात् उनका कोई एक पति न हो तो सम्पत्ति को जुटाने के लोभ की वृत्ति ही पैदा न होगी और इस प्रकार एक ऐसे मोह का बड़ा भारी साधन नष्ट हो जायगा जो ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में बाधा डालता है।

सिरेनिक्स विचारकों की दृष्टि भी सिनिक्स विचारकों से अधिक भिन्न न थी। वे बौद्धिक-आनन्दों की प्राप्ति पर विशेष बल देते थे। राज्य की उनकी दृष्टि से कोई आवश्यकता न थी।

यदि इस विचारक वर्ग की तुलना आइसोक्रेटों से की जाय तो हम पायेंगे कि जहाँ ाइसोक्रेट यूनानी नागरिकता तक ही सीमित थे वहीं सिनिक्स और सिरेनिक्स विचारक ,विश्व की नागरिकता के समर्थक थे। इस वर्ग के विचारकों के रूप में यूनान में एक ऐसी बौद्धिक श्रेणी के व्यक्ति पैदा हो गये जो भिक्षा माँग कर जीवन-निर्वाह करते थे।

प्लेटो

१. प्लेटो का जीवन चरित—२. प्लेटो पर प्रभाव—३. प्लेटो की राजनीति—४. प्लेटो की रचनाएँ—५. रिपब्लिक—६. प्लेटो के पूर्ववर्तियों के धर्म संबंधी विचार ७. प्लेटो का आदर्श राज्य—८. प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त—९. साम्यवाद—१०. शासनतंत्रों का विभक्तीकरण—११. प्लेटो का राज्य संबंधी सिद्धान्त—१२. कार्य विशेषज्ञता के सिद्धान्त और उसके दोष—१३. स्टेट्समैन—१४. लॉज (The Laws)—१५. प्लेटो का अनुदाय और महत्व।

प्लेटो की विचारधारा तथा उसमें झलकने वाला राजदर्शन संभवतः यूनान के उज्ज्वलतम विचारों का प्रतीक है। प्लेटो का राजदर्शन यूनान के स्वर्णयुग के इतिहास के एक ऐसे पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जिसे मानव-इतिहास में विस्मृत नहीं किया जा सकता। प्लेटो के जन्म-काल तक विभिन्न शासन-प्रणालियों के प्रयोगों का एक वृत्त पूरा हो चुका था तथा यूनान द्रुत गति से विनाश की ओर बढ़ा चला जा रहा था। चारों ओर अव्यवस्था और अशान्ति फैल रही थी। फूट, बैर और कलह के बीज यूनान के नगर-राज्यों में बोये ही नहीं जा चुके थे—वरन् उनमें अंकुर भी निकल आये थे।

१. प्लेटो का जीवन-चरित

यूनान के नगर-राज्यों की ऐसी अस्त-व्यस्त अवस्था में ई० पू० ४२८ में प्लेटो का जन्म एथेंस में हुआ। प्लेटो के माता-पिता का नाम एरिस्टन और पेरिक्टियन था। वंश ऊँचा और आभिजात्य वर्ग से संबंधित था। प्लेटो की प्रारंभिक शिक्षा के बाद युवावस्था में ही सोक्रेटीज के विद्यालय में भेज दिया गया जहाँ प्लेटो ने आठ वर्षों तक सोक्रेटीज के चरणों में बैठकर ज्ञान-लाभ किया। इसी बीच ई० पू० ३९९ में जब सोक्रेटीज को मृत्युदण्ड मिला तो प्लेटो पर उसकी ऐसी मानसिक प्रतिक्रिया हुई कि सोक्रेटीज का यह तरुण शिष्य एथेंस में अधिक दिनों तक न रह सका और वह भ्रमण के लिये निकल पड़ा। दस वर्ष से भी अधिक समय तक प्लेटो एशिया माइनर से लेकर दक्षिणी इटली तक के देशों में घूमता फिरा और उसने उन देशों की तत्कालीन विद्याओं का अध्ययन किया। एक युग बीत जाने पर पितृभूमि के प्रेम ने प्लेटो को फिर सताया और वह एथेन्स लौट आया। सोक्रेटीज की मृत्यु के ठीक ग्यारह वर्ष बाद विदेश-यात्रा से लौटकर प्लेटो ने ई० पू० ३८८ में एक विद्यालय खोला जिसमें उसने शेष जीवन बिता दिया। बीच-बीच में केवल कुछ दिनों के लिये प्लेटो सायराक्यूज अवश्य गया लेकिन वहाँ अधिक समय न देकर वह अपने एथेंस स्थित विद्यालय ही वापस लौट आया। ई० पू० ३४७ में प्लेटो की मृत्यु हो गयी। मृत्यु के पूर्व प्लेटो ने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे। 'रिपब्लिक' में जिस कल्पना-दृष्टि का आश्रय प्लेटो ने लिया है—'स्टेट्समैन' में वह नहीं रही है। 'स्टेट्समैन' में एक आदर्श राजनीतिज्ञ को खोजने का यत्न है। इसके बाद जब यह भी प्रयत्न विफल हुआ तो प्लेटो ने 'दि लॉज' में विधि की संप्रभुता के दर्शन कराये हैं। दार्शनिक राजा से आदर्श राजनीतिज्ञ की ओर तथा आदर्श-राजनीतिज्ञ से विधि की संप्रभुता की ओर—यह प्लेटो की गतिदिशा है। कल्पना और आदर्श के काव्य सदृश मधुर अंचल से प्लेटो ने शनैः-शनैः यथार्थवाद की कठोर वस्तुस्थितिपूर्ण बातों को मान्यता दी है। 'रिपब्लिक' से

'दि लॉज' की रचना तक की प्लेटो की प्रगति एक ऐसे पक्षी की ओर इंगित करती है जो निस्सीम सुनील गगन का चक्कर काटते हुए जब क्षितिज में संध्या की गहरी कालिमा के प्रवेश को देखता है तो चुपचाप अपने पंख समेट घोंसले को वापस चला आता है।

२. प्लेटो पर प्रभाव

वैसे तो प्लेटो पर अपने समय की सभी विचारधाराओं का किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ा था लेकिन उसकी रचनाओं पर तीन स्रोतों का सैद्धान्तिक प्रभाव सर्वाधिक पड़ा था। वे हैं (अ) मेगेरियन और पाइथागोरियन (आ) सोक्रेटीज के विचार तथा (इ) व्यावहारिक राजनीति।

२.१ **मेगेरियन और पाइथागोरियन**--प्लेटो में यह प्रभाव हम वहाँ पाते हैं--जब उसका गणित तथा संगीत के लिये विशेष आग्रह देखते हैं। उसने गणित तथा संगीत के मानसिक विकास पर पड़नेवाले प्रभावों का अध्ययन अपने इटली के प्रवास में किया था। अपने आदर्श कल्पना-राज्य में प्लेटो ने शिक्षा-व्यवस्था निर्धारित करते हुए दार्शनिक-राजा के लिये इनकी शिक्षा दिया जाना आवश्यक बतलाया है। यही नहीं शासकों के जिस बौद्धिक वर्ग की कल्पना प्लेटो ने की है वह बहुत अंशों में तीन सौ पाइथागोरियनों के मण्डल (लीग) पर आधारित है।

२.२ **सोक्रेटीज के विचार**--प्लेटो पर अपने गुरु सोक्रेटीज के विचारों तथा उसकी मृत्यु का बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। पहले प्रभाव ने उसकी दार्शनिक विचार-धारा का सुनिश्चित दिशा में गति दी तथा दूसरे प्रभाव ने प्लेटो को एथेन्सवासियों की प्रजातांत्रिक व्यवस्था का कठोर आलोचक बना दिया। इन प्रभावों पर हमें जरा विस्तार से विचार करना होगा। इसलिये हम इनको दो भागों में विभक्त करेंगे--पहला दार्शनिक प्रभाव और दूसरा प्रजातांत्रिक व्यवस्था का विरोध।

गत अध्याय में सोक्रेटीज की दार्शनिक विचारधारा की चर्चा करते हुए हम यह तो बतला ही आये हैं कि सोक्रेटीज ज्ञान को ही गुण तथा ज्ञान की विभिन्न शाखाओं को गुणों के विभिन्न स्वरूप माना करता था। प्लेटो ने इस सिद्धान्त को और विकसित किया तथा कहा कि ज्ञान मनुष्य को सिखाया जा सकता है--इसलिये, इसका अर्थ यह है कि ज्ञान की शिक्षा द्वारा मनुष्य को गुण-सम्पन्न भी बनाया जा सकता है। प्लेटो ने यह भी कहा कि ज्ञान केवल तथ्यों की संचित राशि ही नहीं है इसका आचरण से भी निकटतम संबंध है। ज्ञान बुद्धि को प्रभावित करता है और बुद्धि ज्ञान के प्रभाव से सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। ज्ञान द्वारा ही संयम की शिक्षा मिलती है और व्यक्ति साहस, सहिष्णुता एवं धर्म के विभिन्न गुणों से अपने आपको सुसज्जित करता है। वास्तविकता संबंधी सोक्रेटीज के विचार भी प्लेटो के विचारों के आधार थे। इस सिद्धान्त के अनुसार "वास्तविकता विचारों पर आधारित रहती है--ऐसे विचारों पर जो अपने आप में पूर्ण, स्थायी और अपरिवर्तनीय होते हैं।" भौतिक पदार्थ इन्हीं वास्तविक पदार्थों की छाया मात्र होते हैं जो निरन्तर घटते-बढ़ते रहते हैं। प्लेटो की समस्या यह थी कि "वास्तविक विचारों" या "सत्य के ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त किया जाय। प्लेटो ने इसका हल यह निकाला था कि "सत्य" की प्राप्ति दर्शन (विचारों के साक्षात्कार) से ही हो सकती है। "सत्य" विचारों के संसार में है और उसके गुण हैं 'पवित्रता, सुन्दरता और मंगलमयता'। विचारों के या दर्शन के संसार तथा इन्द्रिय-ज्ञान के संसार के बीच एक खाईं है जिसको पार करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। जीवन का लक्ष्य दर्शन-संसार में पहुँचकर "सत्यं, शिवम, सुन्दरं" का साक्षात्कार करना है।

प्लेटो इस भौतिक संसार को दर्शन-संसार की छाया मात्र मानता है और भौतिकता में विचारों का साक्षात्कार करते हुए एक सशक्त कवि की भाँति उसकी कल्पना इतनी अधिक ऊँची उठ जाती है कि साधारण व्यक्ति के लिए उस पर दृष्टि रखना कठिन हो जाता है। इसी कारण प्लेटो के विचारों में व्यावहारिकता का स्पर्श बहुत कम है और वह एक कवि की भाँति विचारों की दुनियाँ में छलांग लगाने में आनन्द लेता है।

प्लेटो यह स्वीकार नहीं करता था कि राजनीति—व्यावहारिक राजनीति—साधारण जनों का कार्यक्षेत्र है। व्यावहारिक-राजनीति प्लेटो के मतानुसार विशेषज्ञों की वस्तु है और साधारण जनों को विशेषज्ञों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। अपने गुरु सोक्रेटीज के मृत्युदण्ड को प्लेटो ने प्रजातांत्रिक-व्यवस्था का सबसे बड़ा अभिशाप माना था। वह ऐसी व्यवस्था का स्पष्टतः विरोधी था जिसमें सोक्रेटीज जैसे विद्वानों के विचारों के लिये सहिष्णुता न हो। सोक्रेटीज की भाँति प्लेटो भी बौद्धिक आभिजात्य वर्ग के शासन का प्रबल समर्थक था।

२.३ **व्यावहारिक राजनीति**—प्लेटो को व्यावहारिक राजनीति के सम्पर्क में अपने मित्र सायराक्यूज के निरंकुश शासक, डायोनिसियस, की वजह से आना पड़ा क्योंकि वह समय-समय पर प्लेटो से मंत्रणा किया करता था। प्लेटो ने परामर्शदाता के रूप में ही कार्य करते हुए दार्शनिक-राजा की संभाव्यता को अनुभव किया और इसके बाद यह भी अनुभव किया कि 'आदर्श राजनीतिज्ञ' का उत्पन्न होना भी कितना कठिन है। इसके पश्चात् ही उसने अपने अंतिम पुस्तक 'दि लॉज' में विधियों की संप्रभुता स्वीकार की। इस प्रकार व्यावहारिक राजनीति का प्लेटो पर कितना प्रभाव पड़ा यह स्पष्ट है।

३. प्लेटो की राजनीति

प्लेटो की राजनीति की परिभाषा करने यदि हम बैठें तो आधुनिक राजनीति की परिभाषाओं तथा राजनीति संबंधी प्लेटो के विचारों में हमें जमीन-आसमान का अन्तर दिखलायी पड़ेगा। प्लेटो को राजनीति आधुनिक राजनीति से कहीं अधिक व्यापक है। जो सिद्धान्त हम समाजविकास शास्त्र, नीति और आचार शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा धर्मशास्त्र में पढ़ते हैं—वे सब न्यूनाधिक अंश में प्लेटो की राजनीति में आ जाते हैं। यह प्लेटो की राजनीतिक रचनाओं के अध्ययन की पहली कठिनाई है। दूसरी कठिनाई इस संबंध में यह है कि प्लेटो की शिक्षा-पद्धति भी प्रश्नोत्तरी है। इस प्रश्नोत्तरी में प्लेटो रूपक खड़े करता है और उन रूपकों से प्लेटो के विभिन्न सिद्धान्त छन-छनकर निकलते हैं। राजनीति की व्यापकता और रूपकों की प्रधानता से प्लेटो की रचनाओं में काव्य तथा कल्पना का अनोखा सम्मिश्रण झलकता है।

४. प्लेटो की रचनाएँ

अपने जीवनकाल में कुल मिलाकर प्लेटो ने ३६ ग्रंथ लिखे हैं। इन सब में लेखन प्रणाली प्रश्नोत्तरी की ही है। किन्तु इन ३६ ग्रंथों में सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं:—(१) दि रिपब्लिक (२) दि स्टेटसमैन और (३) दि लॉज। 'रिपब्लिक' को प्लेटो ने ई० पू० ३८६ में लिखा था। इसमें आध्यात्म, नैतिकता, शिक्षा और राजदर्शन संबंधी विचार हैं। 'स्टेटसमैन' ६ वर्ष बाद ई० पू० ३८० में लिखा गया तथा अंतिम ग्रंथ 'दि लॉज' प्लेटो की मृत्यु के बाद (ई० पू० ३२७ के बाद) प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त 'एपॉलाजी' 'प्रोटागोराज', 'जॉर्जियाज', 'क्रिटियाज,' 'क्राइटो' और 'मेनो' आदि छोटे-छोटे ग्रंथ भी प्लेटो ने लिखे हैं। 'मेनो' तथा 'प्रोटागोराज' में प्लेटो ने यह बतलाया है कि

गुणों की शिक्षा दी जा सकती है या नहीं। 'क्राइटो' में विधियों के प्रति आज्ञाकारिता पर विशेष बल दिया गया है।

५. रिपब्लिक

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' (जिसका यदि भाषान्तर किया जाय तो अर्थ "गणतंत्र" होता है) चालीस वर्ष की परिपक्व अवस्था में लिखी। प्लेटो के समस्त ग्रंथों में रिपब्लिक का स्थान सब प्रकार से अद्वितीय है। यूनानी विद्वता की इसमें सर्वोत्कृष्ट झाँकी मिलती है और इसके विचारों की सर्वमान्यता और सार्वभौमिकता इसकी दूसरी विशेषता है। 'रिपब्लिक' में यूनान के किसी एक नगर-राज्य को चित्रित नहीं किया गया है, अपितु प्लेटो ने अपनी कल्पना से एक आदर्श राज्य का निर्माण किया है। व्यावहारिक जगत में यह आदर्श-राज्य आपको कहीं भी नहीं मिलेगा लेकिन कल्पना जगत में तर्क द्वारा जहाँ-जहाँ दार्शनिक जा सका है—वहाँ-वहाँ वह गया है और व्यावहारिक जगत में न सही तो कम-से-कम कल्पना जगत में सम्पूर्ण, सर्वविधि सम्पन्न तथा सक्षम राज्य का निर्माण करने का प्रयत्न 'रिपब्लिक' में किया गया है। 'रिपब्लिक' के संबंध में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न प्रकार के मत अभिव्यक्त किये हैं। शेली[१] के शब्दों में "वह (प्लेटो) संभवतः, प्रथम और अंतिम ऐसा विचार था जिसने यह स्थिर किया कि किसी भी राज्य का शासन सबसे बड़े धनिकों या महत्वाकांक्षियों या सबसे बड़े धूर्तों द्वारा नहीं, अपितु सबसे अधिक बुद्धिमानों द्वारा होना चाहिए।" रूसो[२] ने रिपब्लिक को "शिक्षा पर लिखा गया सर्वोत्तम निबंध" बतलाया है। नैटिलशिप[३] ने लिखा है कि "रिपब्लिक मानव-जीवन के दर्शन का नाट्य रूप है।"

१ **'रिपब्लिक' के पाँच भाग**—अध्ययन की दृष्टि से 'रिपब्लिक' को आर्नेस्ट बार्कर ने निम्नांकित पाँच भागों में विभक्त किया है :—

(क) आध्यात्मिक भाग—इसमें क्या 'अच्छा' 'भला' या नेक' (Good) है—इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्लेटो ने इन शब्दों की परिभाषा की है और सब भौतिक पदार्थों में एक ही तत्व की समानता बतलायी है। इस भाग में हमें प्लेटो के एक रहस्य-वादी (Mystic) के रूप में दर्शन होते हैं।

(ख) नैतिक दर्शन—इस भाग में मानस-आत्मा के गुणों पर प्रकाश डाला गया है और बतलाया गया है कि धर्म (Justice) के संयोग से ही आत्मा पूर्णता प्राप्त करती है।

(ग) शिक्षा—इस विभाग में आदर्श राज्य के निवासियों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था दी गई है। प्लेटो सोद्देश्य शिक्षा पर विशेष बल देता है क्योंकि आदर्श राज्य का संचालन दार्शनिक-शासक किसी एक वंश का नहीं, अपितु राज्य की शिक्षा द्वारा ही तैयार किया गया व्यक्ति हो सकता है।

(घ) सम्पत्ति और परिवार—एक वर्ग विशेष के लिये स्त्रियों और सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था की गई है।

(ङ) आदर्श राज्य का पतन—इतिहास के दर्शन की ओर इंगित करते हुए प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के इस भाग में बतलाया है कि यदि उन अवस्थाओं पर नियंत्रण न रक्खा जाय

---

१ "He first and perhaps last maintained that a state ought to be governed, not by the wealthiest or the most ambitious or the most cunning but by wisest".—*P. B. Sheller.*

२ "The finest treatise on Education that was ever written"—*Rousseau*

३ "Republic is a dramatised philosophy of human life".—*Nettleship.*

जिनके अस्तित्व पर ही आदर्श राज्य वर्तमान रह सकता है तो वह किस प्रकार निरंकुश और अत्याचारी राज्य में बदल सकता है।

इन पाँच भागों में दूसरे, तीसरे तथा चौथे भाग ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। अतएव पहले हम संक्षेप में प्रथम भाग पर विचार करेंगे और फिर इसके बाद कुछ अधिक विस्तार से दूसरे, तीसरे तथा चौथे भाग पर।

(५.२) **अच्छा या भला क्या है?**—प्लेटो की रिपब्लिक का यह आध्यात्मिक भाग है। प्लेटो ने बतलाया है कि अच्छा या भला सत्य है। यह सत्य कल्पना-जगत् में अवस्थित है और इसकी प्राप्ति का साधन दर्शन है जिसमें विचारों का साक्षात्कार होता है। संसार के समस्त भौतिक पदार्थों में सत्य ही प्रतिविम्बित होता है। इस प्रकार प्लेटो संसार की प्रत्येक वस्तु में उस एक और अंतिम सत्य के दर्शन करके हमारे सामने अपने रहस्यवादी व्यक्तित्व के पक्ष को उपस्थित करता है। प्लेटो का कहना है कि यही अंतिम सत्य प्राप्त करना मानव जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य जब सब में सम्यक्दृष्टि रखने लगता है तो वह 'भला' (महान्) बन जाता है।

(५.३) **धर्म क्या है?**—ऊपर के अनुच्छेदों में 'अच्छे' 'भले' या 'नेक' की परिभाषा कर देने के बाद 'रिपब्लिक' के दूसरे भाग में प्लेटो ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि भला मनुष्य कौन है? मनुष्य को भला बनाया जा सकता है या नहीं? यदि हाँ तो कैसे? इन प्रश्नों का उत्तर यह है—मनुष्य को नेक, भला या अच्छा बनाया जा सकता है, उसे गुण-सम्पन्न बनाकर। गुणों की शिक्षा ज्ञान द्वारा दी जा सकती है। ज्ञान शिक्षा द्वारा दिया जा सकता है—इसलिये मनुष्य को गुण-सम्पन्न भी बनाया जा सकता है लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। गुणों का गुण क्या है? प्लेटो कहता है—गुणों का गुण धर्म है। इसी के पालन से मनुष्य का उत्थान होता है। तो धर्म[१] (Justice) क्या है? प्लेटो इसी प्रश्न से अपने आदर्श राज्य के निर्माण की ओर चरण बढ़ाता है।

६. प्लेटो के पूर्ववर्तियों के धर्म सम्बन्धी विचार

प्लेटो के धर्म संबंधी विचारों को जानने के पूर्व यह अधिक अच्छा होगा कि हम प्लेटो के पूर्ववर्तियों के धर्म संबंधी विचार जान लें। प्लेटो के पूर्ववर्तियों के धर्म संबंधी विचारों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। यथा, (१) धर्म संबंधी परम्परागत दृष्टिकोण, (२) सॉफिस्टों का क्रान्तिकारी धार्मिक दृष्टिकोण तथा (३) कार्य-कारण द्वारा उत्पन्न धर्म। अब हम इनमें से प्रत्येक पर क्रम से विचार करेंगे।

६.१ **धर्म संबंधी परम्परागत दृष्टिकोण** (ई० पू० ३२७-३३६):—**'रिपब्लिक'** की प्रश्नोत्तरी सोक्रेटोज[२] के इस प्रश्न से आरंभ होती है कि "धर्म क्या है?" सोक्रेटोज के आसपास एथेंस के कई विद्वान नागरिक बैठे हुए हैं; वे इसका अपने-अपने ढंग से उत्तर देते हैं। सबसे पहले एथेंस का एक प्रवासी नागरिक (मेटिक) **सीफॉलस** उत्तर देने के लिये खड़ा होता है। वह उत्तर देता है कि परम्परा के अनुसार सत्य बोलना और अपने ऋणों से उऋण होना ही धर्म है। लेकिन सीफॉलस उस नाटक के पात्र के रूप में अधिक दिन नहीं रह पाता और उसकी मृत्यु के कारण उसका पुत्र **पोलीमारकस** उसके दृष्टिकोण का समर्थन करता है। योग्य पुत्र **पोलीमारकस** अपने पिता के दृष्टिकोण को और भी विकसित करता है और बतलाता है कि परम्परागत धर्म वह है जिसमें हम प्रत्येक व्यक्ति के साथ

---

१ 'धर्म शब्द Justice का अनुवाद है।

२ रिपब्लिक में मुख्य पात्र सोक्रेटोज है और उसी के द्वारा प्लेटो ने अपने सारे विचार प्रकट किये हैं।

उचित व्यवहार करते हैं। लेकिन यह 'उचित व्यवहार' क्या है? इसका उत्तर यह मिलता है कि मित्र के साथ मित्रवत् और शत्रु के साथ शत्रुवत् व्यवहार करना ही उचित व्यवहार है। इसका अर्थ यह निकाला जाता है कि धर्म कला है क्योंकि कला का ही तो चतुराई से प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये शल्य-चिकित्सा (Surgery) करने वाले डाक्टर को ले लीजिए। उसने शल्य-चिकित्सा को कला सीखी है; यदि वह चाहे तो किसी रोगी के जीवन की रक्षा करने के स्थान पर उसे मार भी सकता है। तो क्या इसका अर्थ यह है कि धर्म भी ऐसी ही कला है। सोक्रेटीज इसका निषेधात्मक उत्तर देता है। शत्रु और मित्र की पहचान नहीं की जा सकती क्योंकि यदि कोई मित्रवत् आचरण प्रकटतः करता है और गुप्त रूप से शत्रुता करता है——तब क्या होगा ? कभी-कभी बाह्य रूप धोखे का होता है। परम्पराएँ कठिनाइयों के सामने ताश के घर के समान गिर जाती हैं। दूसरे परम्परागत धर्म का पालन वही व्यक्ति कर सकता है जिसके पास विपुल साधन हों जिनसे वह मित्रों को उपकृत कर सके और शत्रुओं का प्रतिकार कर सके। परन्तु यह दृष्टिकोण समाज के लिये घातक है——क्योंकि ऐसा व्यक्ति समाज की अवहेलना करेगा। अंत में प्लेटो कहता है कि धर्म का अर्थ यह नहीं है कि मित्रों से मित्रवत् तथा शत्रुओं से शत्रुवत् व्यवहार किया जाय।

६.२ **क्रान्तिकारी सॉफिस्टों का दृष्टिकोण**——सॉफिस्टों का धर्म संबंधी क्रान्तिकारी दृष्टिकोण यह है कि वे धर्म को "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली दृष्टि से देखते हैं। सॉफिस्टों का प्रतिनिधित्व थ्रेसीमेकस करता। सोक्रेटीज अपने प्रश्नों द्वारा थ्रेसीमेकस को दो बातें कहने के लिये विवश कर देता है जिसका परिणाम यह होता है कि वे दोनों ही बातें गलत निकल जाती हैं और **थ्रेसीमेकस** पराजित होकर बैठ जाता है।

थ्रेसीमेकस सबसे पहले तो यह कहता है कि समाज में जो बलवान् होता है——वही शासन करता है और उसी की बात चलती है। यदि ऐसा है तो जो शासक है——वह सबसे बलवान है——उसी की बात चलनी चाहिए किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। कभी-कभी शासक भी अपने मन की बात नहीं कर पाता। दूसरे, सच्चा धार्मिक तो वही हुआ जो शासक की आज्ञा का पालन करे। लेकिन इसका अर्थ यह है कि लोग जैसा चाहेंगे वैसा नहीं कर सकेंगे। इसलिये वे अपने धर्म का पालन नहीं कर सकेंगे क्योंकि इसके पहले **थ्रेसीमेकस ने** यह कहा था कि प्रत्येक कार्य की अच्छाई या बुराई इस बात पर निर्भर करती है कि उस कार्य से व्यक्ति को संतोष होता है या नहीं। यह जरूरी नहीं है कि शासक की आज्ञा पालन से हर बार व्यक्ति को आत्मसंतोष भी हो।१ ऐसी अवस्था में उस व्यक्ति ने शासक के प्रति अपने धर्म का पालन तो किया लेकिन अपने धर्म का अपने प्रति पालन नहीं किया। क्योंकि धर्म अविरोधी होता है——इसलिये वह धर्म कोई धर्म नहीं है जिसमें दोनों पक्ष संतुष्ट न हों।

थ्रेसीमेकस यहाँ बौखला-सा जाता है और यह कह बैठता है कि जहाँ बलप्रयोग का भय हो वहाँ तो व्यक्ति को शासन की आज्ञा का पालन करना चाहिए और जहाँ वह शासक की निगाह बचा सके वहाँ उसे निगाह बचाकर निकल जाना चाहिए। इसका दूसरे शब्दों में यह अर्थ हुआ कि अधर्म धर्म से कहीं अधिक अच्छा है। यह बात अपने आप में ही गलत है।

इस प्रकार **थ्रेसीमेकस** दो दृष्टिकोण उपस्थित करता है:——पहला यह कि सरकारें अपने हितों के लिये शासन करती हैं और दूसरा यह कि अधर्म धर्म से अच्छा है।

सोक्रेटीज दोनों दृष्टियों की एक-एक करके आलोचना करता है और दोनों दृष्टियों के पुष्ट करने वाले तर्कों को काट देता है। सोक्रेटीज ने कहा था कि शासन करना या

---

१ उदाहरण के लिए यदि शासक अधिक कर माँगता है और बलप्रयोग का भय दिखा कर वह उसे वसूल भी कर लेता है तो इससे प्रजा को संतोष कैसे होगा ?

सरकार चलाना एक कला है। प्लेटो ने इसी कथन का विस्तार कर कहा कि शरीर के किसी न किसी दोष के कारण ही कलाओं का जन्म होता है। गुरु शिष्य के मस्तिष्क के दोषों को दूर करता है--अतएव शिक्षा एक कला है। चिकित्सक रोगी के रोग को दूर करता है--अतएव रोग शरीर का दोष है और शरीर को दोषमुक्त कर मरीज को नीरोग कर देना कला है। अतएव शासक जब तक निस्वार्थ भाव से शासितों के हितों की रक्षा करता है तब तक कोई अनुचित बात नहीं करता। जीवनयापन के लिए धनार्जन करना अपराध नहीं है। गुरु और चिकित्सक भी ऐसा करते हैं। वैसा ही शासक भी करता है तो कुछ बुरा नहीं करता। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि शासक सदैव अपने हितों के लिए ही शासन करता है।

थ्रेसीमेकस के दूसरे विश्वास का उत्तर देते हुए प्लेटो ने सोक्रेटीज से कहलवाया है कि प्रत्येक वस्तु के लिए कोई-न-कोई एक कार्य निर्धारित होता है। वह कार्य अन्य कोई दूसरी वस्तु नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए आँख का काम कान से और कान का काम आँख से नहीं लिया जा सकता। जब कोई वस्तु अपना निर्धारित कार्य भली भाँति करती है तब वह अपना गुण सिद्ध करती है। यह कार्य जितना ही अच्छा होगा उतना ही संतोष सब संबंधित तत्वों को होगा। उदाहरण के लिए आँख का काम देखना है। अच्छी दृष्टि होना आँख का गुण है। जितनी ही अच्छी दृष्टि होगी उतना ही साफ अच्छी दृष्टिवाले व्यक्ति को दिखलायी पड़ेगा। अतएव गुण क्या है? जो कार्य जिस वस्तु या व्यक्ति के लिए निर्धारित हो जब वह उसके द्वारा भली भाँति होता है तो वही उस वस्तु या व्यक्ति का गुण होता है। इसी प्रकार आत्मा का कार्य जीवन को आगे बढ़ाना है। यदि आत्मा जीवन को दीर्घ न बना सके तो वह अपना कार्य नहीं कर पा रही है। जब उसे अपना कार्य करने दिया जायगा तभी वह अपना गुण दिखा सकेगी। आत्मा का गुण अच्छा जीवन देना है। हमें दीर्घजीवी बनाकर ही आत्मा अच्छे जीवन की ओर अग्रसर कर सकती है। क्योंकि आत्मा का गुण अच्छा या भला जीवन है। इसलिए वही आत्मा का या व्यक्ति का धर्म है। अच्छे का अच्छे से कोई विरोध नहीं हो सकता। अतएव धर्म अच्छा होने के कारण अविरोधी है। इसीलिए यह भी स्वाभाविक ही है कि अधर्म से धर्म अच्छा है।

६.३ **धर्म का कार्य-कारण पर आधारित दृष्टिकोण**--इस पक्ष का प्रतिपादन **ग्लाकन** ने किया है। **ग्लाकन** का कहना है कि धर्म वस्तुतः कृत्रिम है और वह परम्पराओं तथा प्रथाओं का परिणाम है। जब मनुष्य प्रकृति के अंक में था तो बहुधा उस पर अन्याय हो जाया करते थे जिनकी वजह से वह कष्ट उठाया करता था। इन कष्टों ने स्थिति असह्य कर दी। इसके तीन परिणाम हुए; पहला, निर्बलों ने आपस में एक समझौता किया; दूसरा, इस समझौते में विधि निर्धारित कर दी गयी और उस विधि को ही अच्छे आचरण का आदर्श मान लिया गया; और तीसरा, मानव ने अपने स्वभाववश विधियों तथा परम्पराओं में छिपी आत्म-संतोष की वृत्ति को भुला दिया और केवल भयवश उनका पालन करने लगा। धर्म भी इसी प्रकार बना। अतएव धर्म भय का परिणाम है।[1] इस प्रकार जहाँ थ्रेसीमेकस ने मनुष्य की पशुवृत्ति को शासक में देखा है और कहा है कि शासन दूसरों का दमन करने के लिए किया जाता है और वह शक्तिशाली व्यक्ति के लिए ही लाभदायी है--वहीं **ग्लाकन** का कहना है कि भयवश शासक को जन्म दिया जाता है क्योंकि वह सब कमजोरों के हितों की रक्षा करता है।

६.४ **तीनों दृष्टिकोणों की विशेषता**--सीफॉलस और पोलीमारकस, थ्रेसीमेकस तथा ग्लाकन जिन तीन दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं--उन तीनों की ही एक समान

[1] "Justice is the child of fear", *Plato & His Predecessors* by E. Barker P. 150.

विशेषता है और वह यह कि वे धर्म को बाह्य मानते हैं। इनके विपरीत प्लेटो धर्म को आत्मा की—अन्तर की वस्तु मानता है और इसी आधार पर वह तीनों दृष्टिकोणों के समर्थकों को परास्त कर देता है। प्लेटो का कहना है कि धर्म आत्मा की उचित अवस्था है। यह अवस्था मानवीय स्वभाव की माँग है। राज्य व्यक्ति का ही विकसित स्वरूप है—इसलिए धर्म व्यक्ति में भी होता है और राज्य में भी। राज्य में धर्म और स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार छोटे अक्षरों को यदि किसी दूरबीन से देखा जाय तो बड़े-बड़े दिखलायी पड़ेंगे और उनको आसानी से पढ़ा जा सकेगा। अतएव धर्म को बतलाने के लिए प्लेटो अपने आदर्श के कल्पित-राज्य की प्रतिष्ठा करता है।

६.५ **व्यक्ति का धर्म और कल्पित राज्य के गुण**—अपने आदर्श कल्पित-राज्य[1] के प्लेटो ने चार मौलिक गुण बतलाये हैं—(१) धर्म, (२) विद्वत्ता या बुद्धिमानी, (३) साहस और (४) आत्म-संयम या सहिष्णुता। कल्पित आदर्श राज्य के निवासियों को तीन वर्गों में बाँटा गया है—(१) शासक वर्ग, (२) सैनिक या रक्षक वर्ग (३) सेवक या उत्पादक वर्ग। शासक वर्ग का गुण बुद्धिमान और विद्वान होना है। सैनिक और रक्षक वर्ग का गुण साहसी होना है तथा सेवक या उत्पादक वर्ग का गुण आत्मसंयमी या सहिष्णु होना है। प्लेटो का कहना है कि जब ये तीनों वर्ग अपने-अपने गुणों के अनुसार कार्य करते हैं तब ही राज्य में धर्म का अस्तित्व माना जा सकता है। धर्म वस्तुतः अपने कर्त्तव्य पालन से परे कोई वस्तु नहीं है। जब व्यक्ति अपने वर्ग में रहते हुए जहाँ वह नियुक्त है उस स्थान के कर्त्तव्य का पालन करता है—तभी वह धर्मवान है, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार प्लेटो ने राज्य को तीन वर्गों में विभक्त किया है। उसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क को भी त्रिपक्षीय माना है। प्लेटो के अनुसार राज्य की भाँति मानव-मस्तिष्क में भी शासक, सैनिक तथा उत्पादक के गुण होते हैं। मानव-मतिष्क बौद्धिकता, साहस तथा संयम तीनों का संयोजन है। ये तीनों गुण जब उचित अनुपात में मानवीय मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं—तभी वह अपने धर्म का पालन कर पाता है। इस प्रकार प्लेटो ने धर्म को स्वस्थ मानव-मस्तिष्क का स्वभाव तथा आत्मा का गुण बतलाया है। राज्य में जब शासक निस्स्वार्थ भाव से शासितों के हितों की रक्षा करता है, सैनिक अपनी जान हथेली पर रख देश की सीमाओं की रक्षा करता है और उत्पादक वर्ग सब कष्टों को सहन कर अपने उपयोग से अधिक उपभोग की सामग्रियाँ पैदा करता है—तब ही राज्य में धर्म कायम रहता है। मनुष्य भी इसी प्रकार जब अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हुए जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ साहस दिखलाकर सहिष्णुतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करता है—तभी वह धार्मिक कहलाने का अधिकारी होता है। व्यक्ति का धर्म यही है कि वह अपनी बुद्धि, अपने साहस तथा अपनी क्षुधा को उचित सीमाओं में रखे। उसे अपने शासक की समस्त आज्ञाओं का बिना किसी आपत्ति के पालन करना चाहिए।

६.६ **प्लेटो के धर्म की आलोचना**—प्लेटो ने व्यक्ति के धर्म का निर्धारण कर एथेन्स को पतन से बचाने का प्रयत्न किया था। परन्तु प्लेटो के धर्म की सबसे पहली त्रुटि तो यह है कि इसमें व्यक्ति या नागरिक से राज्य के प्रति अत्यधिक श्रद्धा की माँग की गयी है। जितना राज्य (या देश) प्रेम प्लेटो में एथेन्स के प्रति है—आवश्यक नहीं कि वह उतना ही अन्य सब में भी हो। दूसरी त्रुटि यह है कि प्लेटो का धर्म केवल व्यक्ति के कर्त्तव्यों को ही निर्धारित करता जाता है—उसके अधिकारों की कहीं चर्चा ही नहीं है। किसी भी राज्य को सफल बनाने के लिये यह बात अत्यन्त आवश्यक है कि कर्त्तव्यों तथा अधिकारों के बीच उचित समन्वय हो। यदि ऐसा नहीं होता तो किसी भी राज्य की सफलता

१ **प्लेटो के आदर्श कल्पित राज्य की चर्चा आगे के पृष्ठों में है।**

संदिग्ध हो जायगी। **तीसरी** त्रुटि प्लेटो के धर्म में यह दिखलायी पड़ती है कि उसमें व्यक्ति के विकास के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को शासक, रक्षक या उत्पादक इन तीन वर्गों में से किसी एक वर्ग में रख दिया गया है और इसके बाद फिर राज्य के कर्णधार उस व्यक्ति के अस्तित्व को एक वर्ग के अस्तित्व में विलयित कर देते हैं। इससे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि व्यक्ति की प्रगति रुक जाती है, स्वयं समाज का विकास संकट में पड़ जाता है। यह स्थिति व्यक्ति और समाज के साथ राज्य को भी ले डूब सकती है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। **चौथी बात** इन्हीं त्रुटियों के साथ यह भी कही जा सकती है कि प्लेटो के धर्म में शासकों को अत्युच्च स्थान दिया गया है। किन्तु शासक भी तो भ्रष्ट हो सकते हैं इसलिए यह कैसे कहा जा सकता है कि एक बार आदर्श राज्य स्थापित होने के बाद व्यक्ति को अपनी सारी चिन्ताएँ छोड़ देनी चाहिए केवल अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। कुल मिलाकर प्लेटो के धर्म के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह एक शुभानुध्यायी बुद्धिवाले व्यक्ति की एक अव्यावहारिक कल्पना है।

७. प्लेटो का आदर्श राज्य

प्लेटो की कल्पना के आदर्श राज्य के संबंध में एक बात स्पष्ट रूप से आरम्भ में ही समझ लेनी चाहिए। वह यह है कि प्लेटो ने अपनी कल्पना के आदर्श राज्य के निर्माण में व्यावहारिकता का नहीं—कल्पनात्मक तर्कों का सहारा लिया है। प्लेटो ने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि वह किसी ऐसे राज्य का चित्र नहीं उपस्थित करने जा रहा जो वस्तुतः कहीं हो; वरन उसका उद्देश्य तो एक ऐसे राज्य की रूपरेखा तैयार कर देना है जैसा राज्य होना चाहिए। प्लेटो का उद्देश्य राज्य की आदर्श कल्पना उपस्थित करना था—उस कल्पना को ऐसा रूप प्रदान करना नहीं जिससे वह व्यावहारिक रूप धारण कर सके।

लेकिन स्पष्ट है कि कल्पना का आदर्श राज्य भी व्यक्ति की सादृश्यता में बनाया गया था। प्लेटो की व्यक्ति संबंधी कल्पना भी यूनानी विश्वासों तथा संस्थानों पर आधारित थी। इस सादृश्यता को स्थापित करने में राज्य तथा व्यक्ति के बीच अनेक समान बातें प्लेटो ने बतलायी हैं लेकिन उनमें से कुछ तो सर्वथा कपोल-कल्पित हैं।

७.१ आदर्श राज्य का आधार—प्लेटो के आदर्श राज्य का आधार मनोविज्ञान है। प्लेटो ने यह मनोविज्ञान पाइथागोरियन विद्वानों से ग्रहण किया है। पाइथागोरियनों ने समाज को तीन भागों में विभक्त किया था : (१) बौद्धिक विकास के प्रेमी, (२) सम्मान या आदर के प्रेमी तथा (३) धन के प्रेमी। इसी आधार पर संभवतः प्लेटो ने समाज को और उसके आधार पर व्यक्ति के मस्तिष्क को इन तीनों भागों में बाँटा था—(१) बुद्धि, (२) साहस और (३) क्षुधा। क्षुधा उत्पादन की प्रेरणा देती है। उत्पादन से सम्पत्ति बढ़ती है। सम्पत्ति से राज्य विस्तार होता है। राज्य विस्तार और सम्पत्ति-वृद्धि से उसकी रक्षा की आवश्यकता होती है। रक्षा की प्रवृत्ति के लिए आक्रमण भी कभी-कभी आवश्यक होता है जो बिना साहस के नहीं होता और अन्त में दोनों वर्गों को उचित सीमाओं में रखने के लिए या क्षुधा तथा साहस की वृत्तियों को अनुपात में रखने के लिए शासक वर्ग या बुद्धि प्रकाश में आता है। प्लेटो का कहना है कि व्यक्ति का साहस अल्पजीवी होता है लेकिन राज्य का साहस हम एक बार युद्धों में देख लेने के बाद युगों तक इतिहास में पढ़ते हैं। व्यक्ति की सम्पत्ति भुलायी जा सकती है—लेकिन राज्य का वैभव इतिहास की वस्तु है। इसलिए व्यक्ति को समझने के लिए राज्य को समझने की आवश्यकता है।

७.२ आदर्श राज्य का निर्माण—प्लेटो आदर्श राज्य का निर्माण तीन बार में करता है। सबसे पहले वह एक शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा खींचता है। शिक्षा-योजना को

कार्यान्वित करने का दायित्व वह राज्य के कंधों पर रखता है। इसके बाद सम्पत्ति का दो वर्गों के लिए राष्ट्रीयकरण कर देता है। यह राष्ट्रीयकरण प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धान्त के नाम से अधिक प्रख्यात है और अन्त में राज्य को स्थिर कर देने के लिए वह दार्शनिक शासक को व्यवस्था देता है।

दार्शनिक-शासक के संबंध में प्लेटो का मत यह है कि वह बुद्धि का प्रतिनिधित्व करता है। बुद्धि के दो कार्य होते हैं। एक तो यह कि बुद्धि से हमें ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरे यह कि जब हम बुद्धि द्वारा किसी अच्छी बात को समझ जाते हैं तो उससे प्रेम करने लगते हैं। दार्शनिक-शासक बुद्धि का प्रतिनिधित्व करता है—इसलिए वह राज्य के हित को भी समझता है और उससे प्रेम भी करता है। यदि ऐसा शासक राज्य का शासन-भार सँभाले है तो वह निश्चित रूप से निस्स्वार्थ भाव से शासन करेगा।

यहाँ प्लेटो का यह भी कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक नहीं हो सकता। व्यक्ति में दार्शनिक बनने की प्रतिभा होनी चाहिए लेकिन केवल प्रतिभा ही पर्याप्त नहीं है—उसके साथ उचित शिक्षा तथा ज्ञानानुभूति भी होनी चाहिए। उसे भले-बुरे, सुन्दर-असुन्दर का ज्ञान होना चाहिए। इस व्यक्ति में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि उसकी सहायता से राज्य अपने पावन-लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर होता जाय। अतएव दार्शनिक-शासन आदर्श राज्य की प्रथम और अंतिम तथा अनिवार्य आवश्यकता है।

७.३ प्लेटो के राज्य के वर्ग—यह तो हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि प्लेटो ने मानवीय प्रवृत्तियों को पाइथागोरियन मनोविज्ञान के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा है। क्षुधा आर्थिक आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करती है क्योंकि वही उत्पादन का कारण है—इसलिए राज्य में किसानों तथा कारीगरों के रूप में उत्पादक वर्ग उत्पन्न होता है। इनकी रक्षा के लिए सैनिक वर्ग आता है और इन दोनों वर्गों में सन्तुलन बनाये रखने के लिए शासक वर्ग की आवश्यकता होती है। वह दोनों वर्गों तथा अपने वर्ग की भी शिक्षा की व्यवस्था करता है तथा राज्य के संविधान को कार्यान्वित करता है। फिर भी प्लेटो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वर्ग व्यवस्था सदैव सभी पीढ़ियों के लिए एक-सी नहीं रह सकती। शासकों को प्लेटो ने यह स्पष्ट आज्ञा दी है कि जब भी कोई बालक उत्पन्न हो वे उसके ऊपर यह दृष्टि रखें कि उसकी प्रतिभा क्या और कैसी है तथा वह बालक जिस वर्ग के सबसे अधिक अनुकूल हो उसे उसी वर्ग के उपयुक्त शिक्षा दी जाय।

७.४ प्लेटो के आदर्श राज्य की त्रुटियाँ—प्लेटो के आदर्श राज्य की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमे सामूहिकता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है, व्यक्ति के विकास की अवहेलना की गयी है। दूसरे उत्पादक वर्ग की बिलकुल उपेक्षा की गयी है। एक प्रकार से वे यूनानी नगर-राज्यों के दास वर्ग के लोग बना दिये गये हैं। इस प्रकार एक ढंग से प्लेटो दासता को निन्दा करने में असफल रहा है। इस कारण इसकी संभावनाएँ अधिक हैं कि एक वर्ग दूसरे के विरुद्ध संतुष्ट रहे तथा वास्तविक प्रगति न हो सके। प्लेटो का आदर्श राज्य-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग सम्पत्ति तथा पत्नियों का साम्यवाद है, जिसपर हम इसी अध्याय में आगे विचार करेंगे। जिस प्रकार के साम्यवाद की कल्पना प्लेटो ने की है उसकी स्थापना न केवल असंभव है वरन अहितकर भी। आदर्श राज्य का चित्रांकन करते समय प्लेटो जैसे मानव स्वभाव को भुला सा देता है। जीवन के अन्य सभी पहलुओं की भाँति प्लेटो शिक्षा को भी पूर्णतः राजकीय नियंत्रण में कर देता है। अब तक का अनुभव यही बताता है कि ऐसा करना अंततः हितकर सिद्ध नहीं होता। अंत में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्लेटो अपने आदर्श राज्य में विधियों को तनिक भी महत्त्व नहीं देता। वह अपने दार्शनिक-शासक को विधियों के बंधनों में बाँधना पसन्द नहीं करता ऐसा लगता है जैसे प्लेटो ने इस संभावना पर विचार ही नहीं किया कि उसके दार्शनिक-

शासक का भी पतन हो सकता है, अथवा सत्ता उसे भ्रष्टकर सकती है। प्लेटो की आदर्श राज्य की कल्पना की सबसे बड़ी आलोचना यही है कि अपनी बाद में लिखी पुस्तक 'दि लाज' में स्वयं प्लेटो एक द्वितीय कोटि के आदर्श राज्य का चित्र खींचता है जिसमें न तो साम्यवाद के लिए कोई स्थान है और न विधि बंधनहीन दार्शनिक-शासक के लिए।

८· प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

साम्यवाद के अतिरिक्त प्लेटो के राज्य में शिक्षा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि कुछ विचारकों ने यह आरोप लगाया है कि शिक्षा-व्यवस्था का भार राज्य के कंधों पर डाल-कर प्लेटो ने राज्य का कार्य-भार बढ़ा दिया है। लेकिन वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यदि प्लेटो राज्य के शासकों को शिक्षा-व्यवस्था नियंत्रित करने का आदेश देता है तो विधि-रचना[१] के कार्य से भी तो उनको मुक्त कर देता है। डनिंग के शब्दों में, "यदि नागरिकों का चरित्र दृढ़ है तो विधियाँ अनावश्यक हैं—यदि चरित्र शिथिल है तो विधियाँ निरर्थक हैं"।[२] शिक्षा द्वारा राज्य-धर्म[३] के पालन के लिए तथा व्यक्ति को धर्मवान् बनाने के लिए शिक्षा प्लेटो के राज्य का आवश्यक अंग है।

शिक्षा से प्लेटो का आशय व्यक्ति के मस्तिष्क को विकसित कर देने के लिए एक ऐसे वातावरण में रख देना है जिससे उसकी उन्नति का क्रम स्वयमेव बनता चले। जहाँ साम्यवाद व्यक्ति के विकास तथा उन्नति के मार्ग में प्रलोभन रूपी अवरोधों को हटाता है——वहाँ दूसरी ओर शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के विकास-मार्ग को प्रशस्त बनाना है। प्लेटो की शिक्षा व्यक्ति के विकास की पद्धति मात्र ही नहीं है—वह एक समाज-निर्माण की प्रणाली भी है जिसके बिना आदर्श-राज्य के वर्गों की रचना ही नहीं हो सकती। दार्शनिक-शासक का शासन प्लेटो की शिक्षा का प्रत्यक्ष परिणाम है। शिक्षा द्वारा ही प्लेटो व्यक्ति का सत्य से साक्षात्कार कराता है।

८.१ **प्लेटो से पूर्व शिक्षा की व्यवस्थाएँ**——प्लेटो से पहले जो शिक्षा-व्यवस्थाएँ थीं, उनके दो ही आदर्श आधार थे——पहला एथेन्स की शिक्षा-प्रणाली और दूसरा स्पार्टा की शिक्षा प्रणाली। यूनान के नगर राज्यों की शिक्षा इन्हीं दो प्रणालियों में से किन्हीं एक पर आधारित रहा करती थी। प्लेटो ने दोनों ही प्रणालियों के गुण-दोषों का अध्ययन कर अपनी शिक्षा-प्रणाली आविष्कृत की थी——इसलिए अच्छा होगा कि हम यह जान लें कि दोनों प्रणालियों का क्या स्वरूप था।

एथेन्स की शिक्षा-प्रणाली पर राज्य का कोई नियंत्रण नहीं था और वह व्यक्तिगत उद्यम पर निर्भर करती थी। सम्पूर्ण शिक्षा को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। (च) प्राथमिक, (छ) माध्यमिक तथा (ज) सैनिक या उच्च शिक्षा। प्राथमिक शिक्षा में तो केवल साधारण अक्षर-ज्ञान तथा अंकगणित से परिचय करा दिया जाता था। प्राथमिक शिक्षा १४ वर्ष की आयु तक दी जाती थी। इसके बाद माध्यमिक शिक्षा का विधान था। माध्यमिक शिक्षा १४ वर्ष से १८ वर्ष तक की अवस्था तक दी जाती थी। वह धनिकों का विशेषाधिकार था। इसके बाद उच्च शिक्षा सैनिक शिक्षा के रूप में प्रदान की जाया करती

---

१ Law-making

२ "If the character of people is sound laws are unnecessary, if unsound laws are useless" Dunning—*A History of Political Theories*, P.31

३ cf. **तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजान् व्यभिचारयेत।**
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह न निंदति॥
——कौटिलीय अर्थशास्त्र

थी। एथेंस की शिक्षा की चार विशेषताएँ थीं : (१) वह अत्यन्त व्यय-साध्य हुआ करती थीं, (२) शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण नहीं था, (३) शिक्षा व्यापक हुआ करती थी, और (४) इस शिक्षा के परिणामस्वरूप अच्छे नागरिक बना करते थे।

स्पार्टा में शिक्षा-प्रणाली एथेन्स से बिलकुल भिन्न थी। वहाँ सात वर्ष की आयु के बाद बालकों पर राज्य का अधिकार हो जाया करता था। बालक राज्य की सम्पत्ति समझे जाते थे और उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था भी राज्य ही करता था। स्पार्टा में सम्पूर्ण शिक्षा का आधार ही सैनिक-प्रशिक्षण था। वहाँ कलात्मक-विद्याओं के अध्ययन पर विशेष बल नहीं दिया जाता था। यदि कोई कला सिखाई जाती थी तो वह युद्धकला थी। स्पार्टा की शिक्षा की विशेषताएँ यह थीं : (१) सैनिक अपढ़ हुआ करते थे। (२) उनका दृष्टि संकोर्ण और अनुदार होती थी, (३) उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता था और (४) स्पार्टावासी बड़े चतुर सैनिक हुआ करते थे।

८.२ **प्लेटो की प्रणाली**—यदि एथेंस तथा स्पार्टा की प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह परिणाम निकालने में अधिक समय न लगेगा कि प्लेटो की शिक्षा प्रणाली एथेंस तथा स्पार्टा की शिक्षा-प्रणालियों का सम्मिश्रण थी। प्लेटो को जहाँ एक ओर एथेंस की शिक्षा-प्रणाली अपनी व्यापकता तथा अच्छे नागरिक पैदा करने की क्षमता के कारण पसन्द थी वहीं उसे उसका व्यक्तिगत उद्यम के रूप में चलाया जाना पसन्द नहीं था। प्लेटो स्पार्टा की भाँति शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण चाहता था और वह यह भी चाहता था कि अच्छे नागरिकों के साथ ही अच्छे सैनिक भी प्रशिक्षित हों। स्पार्टा के सैनिकों की भाँति उनकी दृष्टि संकीर्ण और अनुदार न हो। शिक्षा ऐसी हो जो व्यक्ति के विकास में पूरी-पूरी सहायता कर सके। इस प्रकार एथेंस और स्पार्टा दोनों की ही शिक्षा प्रणालियाँ एक दूसरे को पर्याप्त ले-दे सकती थीं। प्लेटो ने यह विनिमय करा दिया और स्पार्टा की शिक्षा-संघटन व्यवस्था एथेंस के पाठ्यक्रम से सम्बद्ध कर दी गयी।

८.३ **प्लेटो का शिक्षा दर्शन**—अच्छा हो यदि प्लेटो की शिक्षा-प्रणाली पर विचार करने के पूर्व हम प्लेटो के शिक्षा-दर्शन पर भी विचार कर लें। प्लेटो का मत था कि मनुष्य का मस्तिष्क सदैव सक्रिय रहता है। वह अपने आसपास के वातावरण में जो कुछ देखता है—उसी की तरफ दौड़ता है। अध्यापक को प्लेटो के अनुसार विद्यार्थी की इसी शक्ति पर निर्भर करना चाहिए। मानव-मस्तिष्क की सक्रियता पर विश्वास करते हुए अध्यापक को वातावरण की वस्तुओं पर ध्यान देना चाहिए। जहाँ बालक को शिक्षा के लिए रखा जाय उसके आसपास सुन्दर वस्तुएँ ही होनी चाहिए। मस्तिष्क जिज्ञासा-शक्ति की प्रेरणा से उन सुन्दर वस्तुओं की ओर स्वयमेव आकृष्ट होगा। मस्तिष्क इतना सचेत्य होता है कि उस पर सुन्दर वस्तुओं का प्रभाव तत्काल पड़ता है। इस प्रकार एक वाक्य में प्लेटो का शिक्षा-दर्शन मस्तिष्क में होने वाली वातावरण की प्रतिक्रिया पर आधारित है। मस्तिष्क को शरीर की भाँति खाद्य चाहिए। शिक्षा द्वारा मस्तिष्क को उसके अनुकूल भोजन मिलना चाहिए। मस्तिष्क का विकास निरन्तर होता जाता है, इसलिए उसे भोजन भी निरन्तर चाहिए ही। ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जब मस्तिष्क को खाद्य की आवश्यकता न पड़ती हो; अतएव, प्लेटो की शिक्षा जीवन भर चलती है। राज्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शिक्षा के प्रसंग में प्लेटो ने कहा है कि वह मस्तिष्क का ही तो विकसित स्वरूप है। अतएव शिक्षा का लक्ष्य केवल तथ्यज्ञान कराना ही नहीं है—अपितु नागरिक-कर्त्तव्यों की शिक्षा देना भी है। जिस प्रकार मस्तिष्क से राज्य का विकास हुआ है उसी प्रकार प्रत्येक शिशु के मस्तिष्क का भी उन्हीं अवस्थाओं में से होते हुए विकास होना चाहिए, जिन-जिन अवस्थाओं से राज्य को गुजरना पड़ा है।

प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य तथा उसकी विषय-वस्तु मानव-जीवन की अनुभूति की पूर्णता पर आधारित है। प्लेटो की शिक्षा का यह लक्ष्य प्लेटो की धर्म संबंधी धारणा की प्रत्यक्ष उपसिद्धि है।

८.४ **शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था**—शिक्षा-व्यवस्था इस प्रकार रखी गयी है : प्रथमतः शिक्षा सोद्देश्य है। शिक्षा का उद्देश्य अंतिम सत्य से साक्षात्कार कराना है। पूरे पाठयक्रम को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है। वे हैं : पहला, शरीर-निर्माण; दूसरा, विद्यासंस्कार; तीसरा, संगीत शिक्षा। प्लेटो ने जब शिक्षा में शरीर-निर्माण को प्राथमिक स्थान दिया तो उसका लक्ष्य केवल व्यायाम-अभ्यास करना ही नहीं था। प्लेटो ने शरीर-निर्माण का व्यापक अर्थ ग्रहण किया था। अध्यापक को ऐसे सुविज्ञ वैद्य की भाँति कार्य करना चाहिए जिससे वह छात्र की शारीरिक दुर्बलताओं को समझकर उसके लिए ऐसी भोजन सामग्री निश्चित करे कि वे उन निर्बलताओं की पूर्ति कर दें तथा शरीर का अधिकतम विकास हो सके। यहाँ प्लेटो का पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त यह था कि "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है।" सैनिकों की शिक्षा में तो शारीरिक व्यायामों को बड़ा महत्व दिया जाया करता था। मस्तिष्क की स्नायुविक त्रुटियों के निवारण करने के लिए प्लेटो ने संगीत की व्यवस्था की थी। जिस प्रकार शरीर-निर्माण की शिक्षा द्वारा अध्यापक को छात्र के शरीर के विकास के समस्त अवरोध दूर करने हैं ठीक उसी प्रकार अध्यापक को संगीत द्वारा मस्तिष्कको समस्त त्रुटियों से छात्र को मुक्ति दिलानी है। शरीर और मस्तिष्क के विकास के मार्ग को प्रशस्त करने के उपरान्त उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी जिसमें गणित का प्रथम स्थान था। गणित की शिक्षा पर प्लेटो ने जो इतना बल दिया है वह पायथागोरियन प्रभाव का परिणाम है। गणित में सबसे पहले छात्र को अंकगणित में प्रशिक्षित किये जाने का विधान था। इसके उपरान्त रेखागणित तथा बीजगणित में छात्र का प्रवश कराया जाता था। प्लेटो के मत से गणित द्वारा मस्तिष्क के छोटे-मोटे दोष भी दूर हो जाते हैं। इसके बाद ज्योतिषादि विषयों की शिक्षा का विधान था।

प्लेटो की शिक्षा का सारा उद्देश्य यह था कि जब उच्च शिक्षा समाप्त हो उस समय संसार मे "सत्यं शिवं सुन्दरम" क्या है—इसका पूरा-पूरा ज्ञान छात्र को हो जाय। इससे न केवल व्यक्ति ही का विकास होगा वरन् समाज की उन्नति होगी।

८.५ **शिक्षक और छात्र का रूपक**—प्लेटो ने एक छोटे से रूपक द्वारा अत्यन्त कुशलता-पूर्वक शिक्षक और छात्र की स्थितियों का चित्रण किया है। छात्र की तुलना एक गहरी अँधेरी गुफा में पड़े व्यक्ति से की गयी है। उसे अपने आस-पास कुछ नहीं दिखलायी पड़ता। अध्यापक बाहर प्रकाश में हैं। यह अध्यापक का ही कार्य है कि वह छात्र को उस अँधेरी गुफा से बाहर निकाल कर लायें। अध्यापक प्रकाश में हैं।—वह सब कुछ देख सकता है—इसीलिये छात्र को अपना पूरा उत्तरदायित्व अध्यापक को ही सौंप देना चाहिए।

शिक्षा के संबंध में प्लेटो की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने स्त्री-पुरुषों दोनों की समान शिक्षा-व्यवस्था की है। शिक्षा-प्रणाली में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन करने की अनुमति प्लेटो ने आदर्श राज्य के दार्शनिक-शासक को भी नहीं दी है।

शिक्षा संबंधी वर्ग आयु के अनुसार निश्चित किये गये हैं। प्राथमिक शिक्षा ७ वर्ष की आयु से लेकर बीस वर्ष की आयु तक दी जायगी तथा इसके बाद एक परीक्षा होगी। इस परीक्षा में असफल होने वाले विद्यार्थी उत्पादक वर्ग में तथा सफल होने वाले छात्र सैनिक वर्ग में भेज दिये जायेंगे। बीस वर्ष से तीस वर्ष तक सैनिक शिक्षा की व्यवस्था है जिसके बाद पुनः एक परीक्षा होगी। इस परीक्षा में सफल होने वाले व्यक्तियों को शासक वर्ग में तथा असफल होने वाले व्यक्तियों को सैनिक वर्ग में भेज दिया जायगा। इसके बाद

शासक वर्ग की विज्ञान संबंधी शिक्षा चलती रहेगी और इसी वर्ग में से एक को दार्शनिक-शासक के पद के लिये चुना जायगा। दार्शनिक-शासक का राज्य शासन तथा शिक्षादि की समुचित व्यवस्था करेगा। राज्य में उसका स्थान सर्वोपरि होगा। उसकी आज्ञाएँ तथा निर्णय राज्य की विधियाँ होंगे। शासक-वर्ग के शेष सदस्यों की शिक्षा बराबर होती रहेगी जो जीवन की अंतिम घड़ियों तक जारी रहेगी।

त्रुटियाँ––**प्लेटो** को शिक्षा-प्रणाली की कुछ बड़ी जबर्दस्त त्रुटियाँ हैं। इनमें सबसे **पहली** त्रुटि यह है कि **प्लेटो** की शिक्षा में उत्पादक वर्ग को प्रारम्भिक शिक्षा के बाद कोई और ज्ञान देने की व्यवस्था नहीं की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्पादक वर्ग को शिक्षा देने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गयी और सारा ध्यान शासक तथा सैनिक वर्ग को शिक्षा पर ही केन्द्रित कर दिया गया। **प्लेटो** का कहना है कि उत्पादक वर्ग को प्रारंभिक से अधिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। सबसे बड़ी और उल्लेखनीय **दूसरी** त्रुटि यह है कि इस शिक्षा-व्यवस्था में विविधता के लिये कोई स्थान नहीं है। सबको एक-सी ही शिक्षा दी जायगी और सब नागरिक एक ही प्रकार के निकलेंगे जो उत्पादक, सैनिक या शासक––इन तीनों में से किसी एक वर्ग में अनिवार्यतः रखे जायेंगे। आलोचकों का कहना कि ऐसा करके प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की विविधता संकीर्ण कर दी है जो अहितकर है। **तीसरे**, इस शिक्षा का परिणाम यह होगा कि दार्शनिक ही अधिक निकलेंगे और ऐसे व्यक्ति न पैदा हो सकेंगे जो कर्मवीर हों। किन्तु इस आलोचना में कुछ अधिक बल नहीं है क्योंकि जब प्रारम्भ से ही ऐसी शिक्षा दी जायगी कि शासक का मस्तिष्क और शरीर–– दोनों ही पुष्ट रहें तो कोई कारण नहीं कि शासक सदैव विचारक ही बना रहे और समय पड़ने पर सक्रिय न हो सके। यह कहा जा सकता है कि वह दार्शनिकों को पैदा करने के अधिक योग्य हो। यह तो प्लेटो का उद्देश्य ही है। यह कहना तो ठीक इसी प्रकार होगा कि प्लेटो अपने उद्देश्य में सफल रहा। **चौथे**, प्लेटो की शिक्षा-प्रणाली में साहित्य-शिक्षा को कम स्थान दिया गया है और गणित को अधिक।

९. साम्यवाद

प्लेटो के आदर्श राज्य में से यदि साम्यवाद को निकाल भी दिया जाय तो भी उसकी पूर्णता में कोई अन्तर नहीं आता। वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि प्लेटो का साम्यवाद सतर्कतात्मक (Cautionary) चरण से अधिक कुछ भी नहीं है। उसका एक मात्र उद्देश्य यही है कि शासक और सैनिक वर्ग के नागरिकों के सामने पथ-भ्रष्ट करने वाले कोई प्रलोभन न आ सकें। किन्तु, यह सतर्कतात्मक चरण भी उस समय अनावश्यक-सा प्रतीत होता है––जब हम यह देखते हैं कि प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिए कितनी व्यापक शिक्षा व्यवस्था का विधान निर्धारित कर दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो को मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं का ज्ञान भली-भाँति था––इसीलिए शिक्षा की दुर्भेद्य रक्षा-पंक्ति खड़ी कर देने के बाद भी उसने साम्यवाद के रूप में दूसरी रक्षा पंक्ति खड़ी कर दी। प्रोफेसर नैटिलशिप का विचार है कि प्लेटो का साम्यवाद शिक्षा द्वारा उत्पन्न की हुई भावना को प्रभावी बनाने वाला एवं उसे नवशक्ति देने वाला अनुपूरक यंत्र है।[१]

प्लेटो के साम्यवाद को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं:––(१) सम्पत्ति का और (२) स्त्रियों का। इन दोनों प्रकार के साम्यवादों की जो व्यवस्था आदर्श राज्य के लिए प्लेटो ने दी है उसमें से साम्यवाद का दूसरा भाग तो ऐसा है कि उससे आज तक मानवीय कल्पना समझौता नहीं कर सकी है और कोई आश्चर्य नहीं कि उस समय भी यूनान में इसका

[१] Nettleship, R. L., Lectures on Plato's Republic, P. 168.

कठोर विरोध हुआ हो। **अरस्तू** द्वारा की गई आलोचना उस कठोर-विरोध का प्रतीक है।

९.१ **साम्यवाद के विचार का यूनानी इतिहास**––क्या प्लेटो ने साम्यवाद की व्यवस्था निर्धारित करने में अपनी मौलिक कल्पना का आश्रय ही लिया था ? या उसके पहले भी साम्यवाद यूनानी नगर-राज्यों में कहीं-कहीं पर था ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर यूनान के इतिहास के अवलोकन से हमें मिल जाता है। इनका उत्तर यह है कि प्लेटो ने इस संबंध में अपनी मौलिक कल्पना का ही प्रयोग नहीं किया था। सबसे पहले तो स्पार्टा के सार्वजनिक-भोजनालयों की व्यवस्था का ही नाम इस संबंध में लिया जा सकता है। सार्वजनिक भोजनालय व्यक्तिगत रूप से भूमि जोतने वालों से राज्याज्ञा द्वारा अन्न वसूल करके चलाये जाते थे। यही नहीं, स्पार्टा में तो पति राज्य के कार्य से अपनी पत्नियों को कुछ काल के लिए अन्य पुरुषों को दे दिया करते थे। क्रीट में समस्त भूमि के जोतने-बोने का प्रबंध राज्य के जिम्मे ही था। **यूरीपाइड्ज** ने अपनी एक रचना **'प्रोटेसिलास'** में स्त्रियों के साम्यवाद का समर्थन किया है।

९.२ **सम्पत्ति का साम्यवाद**––सम्पत्ति के साम्यवाद के प्लेटो ने दो आधार बतलाये हैं : मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक। इन्हीं दो आधारों पर प्लेटो ने सिद्ध किया है कि सम्पत्ति का साम्यवाद संभव है। प्लेटो का दृष्टिकोण सामूहिकतापरक है। वह व्यक्ति को या व्यक्तियों की विविधता को कोई महत्व नहीं देता। प्लेटो का कहना है कि प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति की उपयोगिता का आधार समाज है। यदि वह सामाजिक दृष्टि से उपयोगी है तो रहेगी, अन्यथा नहीं। व्यक्ति को केवल अपना निश्चित कार्य निश्चित स्थान पर करना चाहिए। इससे अधिक उसे न तो कुछ सोचने की आवश्यकता है और न करने की। उसे राज्य के अतिरिक्त और किसी शक्ति में अपना हित नहीं समझना चाहिए। अतएव उसे निजी सम्पत्ति रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। प्लेटो को भय था कि निजी सम्पत्ति रखने की लालसा पारस्परिक संघर्ष का कारण बन सकती है। यह संघर्ष व्यक्ति और व्यक्ति में ही नहीं––व्यक्ति तथा राज्य के बीच भी हो सकता है। इसलिए उसे बचाने के लिए सर्वोत्तम विधि यह होगी कि सम्पत्ति रखी ही न जाय। शासक तथा सैनिक वर्ग की पूर्ण व्यवस्था का भार राज्य पर रहेगा और वही उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। शासकों और सैनिकों को न परिवार रखने की आवश्यकता है और न धन की। इस प्रकार की व्यवस्था से वे अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति भली-भाँति कर सकेंगे क्योंकि एक ओर तो वे समस्त व्यक्तिगत चिन्ताओं से मुक्त हो जायेंगे और दूसरी ओर उनके बीच पारस्परिक संघर्ष के कारण का अंत हो जाएगा। प्लेटो का आशय यह कदापि नहीं था कि उसके आदर्श राज्य के "संरक्षक" त्यागी-विरागी हों और वे निर्धनों जैसा जीवन व्यतीत करें। उनकी समस्त भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व तो वह राज्य को सौंप ही देता है। प्लेटो के ही शब्द में "वे तथा उनके बालक निःशुल्क भोजन एवं निःशुल्क वे सब वस्तुएँ प्राप्त करने के अधिकारी हैं जो जीवन के लिए आवश्यक हैं; जीवितावस्था में आदरपूर्ण पुरस्कार पाते हैं...और मृत्यु के पश्चात् उनके योग्य अंतिम संस्कार।"[१]

९.३ **स्त्रियों का साम्यवाद**––शासक और सैनिक वर्ग के लिए परिवार तथा सम्पत्ति वर्जित कर देने के बाद प्लेटो ने स्त्रियों का साम्यवाद दो प्रकार से स्थापित किया है। सबसे पहले तो परिवारों की चहारदीवारी से स्त्रियों को मुक्ति दिला दी गयी है और दूसरे विवाह-व्यवस्था में सुधार कर दिया गया है। पहली अवस्था तो समान शिक्षा-व्यवस्था देकर

1- Plato, *The Republic*, Book V (463 B-465 A)

उत्पन्न कर दी गयी है जिससे स्त्री-पुरुष दोनों ही अपने आपको समान स्तर पर अनुभव कर सकें। दूसरी अवस्था में विवाह जीवन भर के लिए न होकर अस्थायी रूप से होने की व्यवस्था की सिफारिश की गई है। यह व्यवस्था मुसलमानों में प्रचलित 'मुता विवाह' से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इस व्यवस्था का एक मुख्य उद्देश्य यह था कि संतान उत्पन्न करने का अधिकार समाज के केवलस्वस्थ एवं बुद्धिमान व्यक्तियों को ही मिले जिससे उनकी संतान भी यशस्वी और कर्मशील बन सके। कौन व्यक्ति किस स्त्री के साथ सम्बंध स्थापित करे, यह राज्य द्वारा निर्धारित किया जाय जिससे परिवार-विज्ञान (Eugenics) की शिक्षा से लाभ उठाकर समाज में अति बुद्धिमान एवं सबल व्यक्तियों को जन्म दिया जा सके। इसका एक अन्य उद्देश्य भी था और वह यह था कि "संरक्षक गण" परिवार के प्रति समुचित प्रेम और भक्ति में न फँस समस्त राज्य का हित संपादन कर सकें। जब तक उनके अपने परिवार होंगे व सदैव अपने स्त्री-बच्चों के प्रति कर्त्तव्यों को राज्य के प्रति कर्त्तव्यों की पूर्ति के मार्ग में बाधा के रूप में पाएँगे। इस द्वैधता से मुक्ति दिलाने का मार्ग प्लेटो का स्त्रियों और बच्चों का साम्यवाद ही नजर आता है। न किसी संरक्षक के स्त्री बच्चे होंगे और न उसके उनके प्रति कोई कर्त्तव्य। ऐसी दशा में वह एकनिष्ठ होकर राज्य की सेवा कर सकेगा। साथ ही राज्य को शरीर और मस्तिष्क दोनों को ही दृष्टि से स्वस्थ बालक भी प्राप्त होंगे।

९.४ प्लेटो के साम्यवाद की विशेषताएँ—प्लेटो का साम्यवाद आधुनिक साम्यवाद से भिन्न है। इसका उद्देश्य शासकादि वर्गों के लिए प्रलोभनहीन वातावरण तैयार करना है। इस दृष्टि से वह सोमित और आंशिक है। दूसरे प्लेटो का विश्वास था कि धन और सत्ता तथा उपभोग-सामग्रियों की विपुलता किसी भी बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति को भ्रष्ट करने को सामर्थ्य रखती है। शासकों को तथा रक्षकों को भिक्षुओं की भाँति सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त रहना चाहिए। सामूहिक दृष्टि से प्लेटो का कहना था, "यदि कुछ लोगों को अपने सुखों को भी तिलांजलि देनी पड़े तो उन्हें ऐसा करने से हिचकना नहीं चाहिए।" इस दृष्टि से साम्यवाद राजनैतिक है, आर्थिक नहीं।

९.५ आधुनिक साम्यवाद और प्लेटो के साम्यवाद में अन्तर—निम्नांकित बातों में आधुनिक साम्यवाद तथा प्लेटो के साम्यवाद में अन्तर है: (१) उत्पादन के सारे साधन प्लेटो के साम्यवाद में राज्य के हाथों में नहीं सौंपे जाते। प्लेटो का साम्यवाद केवल उत्पादित वस्तुओं के समान वितरण तक ही सीमित रहता है। (२) प्लेटो का साम्यवाद आधुनिक साम्यवादी विचार-धारा की भाँति प्राथमिक नहीं है क्योंकि वह द्वितीय रक्षा-पंक्ति के रूप में हमारे सामने आता है। उसमें प्राथमिकता बौद्धिक आभिजात्यतंत्र को दी गयी है। (३) आधुनिक साम्यवाद की भाँति प्लेटो के साम्यवाद के लक्ष्य आर्थिक नहीं हैं—वरन् व आध्यात्मिक हैं। इन आध्यात्मिक लक्ष्यों द्वारा राज्य की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया है। (४) आधुनिक साम्यवाद सब वर्गों के लिए है जब कि प्लेटो का साम्यवाद केवल दो हो वर्गों अर्थात् शासक और सैनिक वर्गों के लिये था, साधारण जनता के लिये नहीं।

९.६ आधुनिक साम्यवाद तथा प्लेटो के साम्यवाद में समानता—परन्तु इन भेदों के रहते हुए भी दोनों प्रकार के साम्यवादों में कुछ समानताएँ हैं—उदाहरणार्थ (१) दोनों का ही उद्देश्य राज्य को एकता की रक्षा करना है। (२) दोनों में राज्य के किसी भी पदभार के लिए खुली प्रतिद्वंद्विता करने का कोई क्षेत्र नहीं है। ऐसा कर देने से इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि राज्य में गृह-कलह तथा राज्यद्रोही प्रवृत्तियाँ बल ग्रहण कर लें। (३) दोनों ही साम्यवादों में शासकों को बंधु और मित्र की दृष्टि से देखा जाता है—स्वामियों या शोषकों की दृष्टि से नहीं।

९.७ **आलोचनात्मक सिंहावलोकन**——प्लेटो के साम्यवाद की सबसे कठोर आलोचना उसके शिष्य अरस्तू ने की। इस पर हम नीचे के अनुच्छेद में विचार करेंगे। सामान्य आलोचनात्मक सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो ने सम्पत्ति और व्यक्ति का विच्छेद करा के मानवीय स्वभाव की एक आवश्यक दुर्बलता की अवहेलना की है। इस बात की अनिवार्यता को सिद्धान्ततः अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्पत्ति व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को प्रकट करने का साधन रही है। यह ऐसी आवश्यकता है जिस पर युगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। प्लेटो का साम्यवाद विविधता का अन्त कर देता है। इसके परिणाम-स्वरूप शक्ति का अत्यधिक केन्द्रीकरण हो जाता है। स्त्रियों का साम्यवाद सर्वथा अस्वाभाविक ही नहीं——अव्यावहारिक भी है। प्लेटो का बड़े से बड़ा भक्त और प्लेटो के दर्शन में पूर्ण विश्वास रखनेवाला व्यक्ति भी इस कल्पना को मूर्त रूप नहीं दे सकता। राजनीतिक जीव होते हुए भी मनुष्य व्यक्ति बना रहता है। उसके व्यक्तित्व का बिल्कुल दमन कर देने की माँग करना उसके मौलिक स्वभाव के विरुद्ध जाना है। स्त्रियों की कोमल भावनाओं को सार्वजनिक कर्तव्यों के पाषाण-भार के नीचे बुरी तरह दबा दिया गया है। कुछ कहते हैं कि बौद्धिक माता-पिता को सन्तान भी बौद्धिक होगी। लेकिन स्वयं प्लेटो ने यह स्वीकार किया है कि ऐसा होना जरूरी नहीं है। इसका उल्टा भी हो सकता है।

अरस्तू ने प्लेटो के साम्यवाद को विविधता का शत्रु ठहराया है। अरस्तू का कहना था कि बिना विविधता के बौद्धिकता का विकास हो ही नहीं सकता। अतएव ऐसा करके प्लेटो ने बौद्धिक विकास के द्वार को ही बंद कर दिया है। अरस्तू का कहना था कि एकता अनेकता में होनी चाहिए। निर्जीव एकरूपता नाशकारी है। नैतिक दृष्टि से प्लेटो के स्त्रियों के साम्यवाद में निकट संबंधियों के साथ भी अनाचार हो जाने की शंका है। योग्य युगलों का खोजना राज्य के लिए कोई आसान बात नहीं है। इससे असामंजस्य अधिक होगा। समाज दो भागों में बँट जाता है। यही नहीं सबके बच्चे किसी के बच्चे न होंगे और उन पर कोई ध्यान न देगा। जिसके परिणामस्वरूप वे सब के सब उपेक्षित रहेंगे। परन्तु इन सब त्रुटियों के होते हुए भी यह बात स्मरणीय है कि प्लेटो के साम्यवाद का आधार-सिद्धान्त कि राजनीतिक और आर्थिक सत्ता एक स्थान पर केन्द्रीकरण समाज के लिए अहितकर होता है, गलत नहीं है। प्लेटो का दोष यही है कि वह व्यावहारिकता का ध्यान न कर मात्र तर्क के सहारे आगे बढ़ता चला जाता है और इसी कारण उसकी सम्पूर्ण योजना अव्यावहारिक हो जाती है।

१०· शासनतंत्रों का विभक्तीकरण

प्लेटो ने परिवर्तन के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्लेटो ने यह भी माना है कि कोई शासनतंत्र शाश्वत नहीं होता वह चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो। इसी आधार पर प्लेटो ने शासनतंत्रों को पाँच भागों में विभक्त किया है। इस विभाजन में स्वभावतः प्रथम स्थान दार्शनिक-शासक के आदर्श राज्य को दिया गया है। इसके बाद आभिजात्यतंत्र आता है। आभिजात्यतंत्र के बाद अयोग्य धनिकवर्ग का शासनतंत्र उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। प्रजातंत्र अयोग्य धनिकवर्गतंत्र का उत्तराधिकारी है। प्रजातंत्र के पतन पर निरकुश और स्वच्छन्द शासनतंत्र आता है। इनमें से प्रथम यथा अंतिम तंत्र में एक ही शासक रहता है। बीच के तीन तंत्रों में से प्रथम दो तंत्रों में सत्ता दो वर्गों के हाथ में रहती है तथा तीसरे तंत्र में सत्ता जनता के हाथ में चली जाती है। प्लेटो को न केवल निरंकुश शासनतंत्र से चिढ़ थी, वरन् वह प्रजातंत्र के भी विरुद्ध था।

प्रजातंत्र के विरुद्ध अत्यन्त निकृष्ट धारणा होने का कारण प्लेटो के तत्कालीन एथेंस के अपने व्यक्तिगत अनुभव भी थे। प्लेटो के अंतिम काल में एथेंस का शासन अयोग्य,

अदूरदर्शी, स्वार्थी तथा निकृष्ट श्रेणी के लोगों के हाथ में चला गया था। प्लेटो के अत्यन्त संवेद्य मस्तिष्क पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा था। प्लेटो ने सोक्रेटोज को मृत्युदण्ड दिये जाने के बाद यह समझ लिया था कि उसका नगर-राज्य यदि प्रजातन्त्र बना रहा तो अवश्य नष्ट हो जायगा। दूसरे, प्लेटो स्वयं एक बड़े ऊँचे घराने का था। प्लेटो को भली-भाँति प्रशिक्षित बौद्धिकता में विश्वास था। वह जनता को सामान्य बुद्धि में बिल्कुल विश्वास नहीं करता था।

११. प्लेटो का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त

प्लेटो ने राज्य को व्यक्ति का विकसित रूप ही माना है। व्यक्ति के तथा राज्य के गुणों को भी वह समान मानता है। इसीलिए व्यक्ति का धर्म निर्धारित करते समय वह राज्य के धर्म की खोज में चल पड़ता है और कहता है कि जिस प्रकार छोटे अक्षरों की तुलना में बड़े अक्षर आसानी से पढ़े जा सकते हैं उसी प्रकार राज्य के धर्म को समझ लेने के बाद हम व्यक्ति के धर्म को आसानी से समझ सकते हैं। जर्मन विचारकों की भाँति प्लेटो ने या प्लेटो की भाँति जर्मन विचारकों ने यह सोचा था कि राज्य ही मानव-गुणों का अधिक से अधिक विकसित स्वरूप है। राज्य के विभिन्न संस्थाओं द्वारा मनुष्य के विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों की झाँकी मिलती है। मानव-मस्तिष्क को प्लेटो ने तीन भागों में बाँटा था : (१) क्षुधा या लालसा, (२) शौर्य और (३) बुद्धि। इन्हीं तीन तत्वों की विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए प्लेटो ने राज्य के निवासियों को तीन वर्गों में विभक्त किया : (१) किसान और कारीगर या उत्पादक वर्ग, (२) सैनिक वर्ग तथा (३) शासक या दार्शनिक वर्ग। इससे हमें प्लेटो के मनोवैज्ञानिक राज्य-सिद्धान्त का ज्ञान हो जाता है। प्लेटो ने **राज्य का आर्थिक सिद्धान्त** भी हमारे सम्मुख रखा है। प्लेटो ने यह स्वीकार किया कि जिस प्रकार समाज की समस्त आवश्यकताओं को एक ही वर्ग द्वारा पूरा नहीं कराया जा सकता उसी प्रकार एक व्यक्ति अपने आप सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इसके लिये पारस्परिक या सामाजिक सहयोग की आवश्यता पड़ती है। अतएव सर्वप्रथम आर्थिक दृष्टि से राज्य की आवश्यकता पड़ती है। नागरिक शीघ्र ही आर्थिक आधारों पर कार्य-विभाजन (Division of Labour) और विशेषज्ञता (Specialisation) के लाभों को अनुभव करने लगते हैं। किन्तु आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही मनुष्य सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह विकास और विस्तार चाहता है। इसलिये राज्य का क्षेत्र बढ़ता है। अतएव सैनिक वर्ग प्रकाश में आता है। यह वर्ग युद्ध-कला में प्रवीण होता है। इसको युद्ध-कला में विशेषज्ञता की शिक्षा दी जाती है। अन्त में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न होता है जो सब वर्गों की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देता है--अर्थात उनका शासन करता है। संक्षेप में, **प्लेटो** का विश्वास था कि राज्य सर्वप्रथम आर्थिक सहयोग की लालसा के कारण उत्पन्न हुआ और कार्यों में विशेषज्ञता प्राप्त करने की प्रेरणा तीन उल्लिखित मौलिक मानवीय प्रवृत्तियों से मिलीं--जिन्होंने तीन विभिन्न वर्गों को जन्म दिया : उत्पादक, सैनिक और शासक वर्ग। यह वर्ग क्रमशः क्षुधा, शौर्य और बुद्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं। राज्य में ये तीनों वर्ग होते हैं। इसलिए ऐसे राज्य में धर्म, विद्वत्ता, साहस और आत्म-संयम ये चारों गुण विद्यमान होते हैं।

१२. कार्य-विशेषज्ञता का सिद्धान्त और उसके दोष

प्लेटो के आदर्श राज्य की चर्चा करते हुए हम यह कह चुके हैं कि वह व्यक्तियों तथा वर्गों की कार्य-विशेषज्ञता तथा कार्य-विभाजन की प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। प्लेटो का कार्य-विशेषज्ञता का सिद्धान्त **सोक्रेटीज** के "ज्ञान ही गुण है"--इस सिद्धान्त वाक्य पर

आधारित है। कैसे ?——इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि प्लेटो ने यह माना था कि मनुष्यों की प्रवृत्ति एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की होती है; लेकिन इसके साथ ही प्लेटो यह भी मानता था एक ही व्यक्ति या वर्ग सबकी या केवल अपनी ही सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इसीलिये एक दूसरे के परिश्रम से लाभ उठाने की अथवा सहयोग की वृत्ति प्रकाश में आती है। अतएव जो व्यक्ति या वर्ग कोई एक कार्य कर सकता है, वह उसमें विशेषज्ञता प्राप्त करने का यत्न करता है तथा दूसरा वर्ग उसकी सेवाओं का लाभ उठाता है। यही बात दूसरे वर्ग के संबंध में भी लागू होती है अर्थात् दूसरे वर्ग की विशेषज्ञता का लाभ पहला वर्ग उठाता है। सहयोग की वृत्ति से प्लेटो का यही अभिप्राय है। कार्य-विशेषज्ञता (Specialisation) प्लेटो के धर्म की प्रत्यक्ष उपस्थिति है। प्लेटो के धर्म का अर्थ है कि निश्चित स्थान पर निश्चित वर्ग या व्यक्ति द्वारा निश्चित कार्य भली प्रकार से किया जाना। ऐसा तभी हो सकता है——जब व्यक्ति या वर्ग विशेष अपने कार्य मे दक्षता प्राप्त कर ले। यदि कृषक या उत्पादक वर्ग भली प्रकार अन्न उपजाता है या समुचित उत्पादन करता है तो किसी के असंतुष्ट होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार यदि शासक योग्यता से शासन करता है तो उस राज्य में क्रान्तियों आदि के लिये कोई गुंजाइश नहीं हो सकती क्योंकि शासक से कोई भी असंतुष्ट नहीं रहेगा।

प्लेटो ने इसी आधार पर अर्थात् कार्य-विशेषज्ञताजनित दक्षता के आधार पर राज्य को तीन वर्गों में बाँटा है। इसमें संदेह नहीं कि इससे दक्षता तथा गति में वृद्धि होती है लेकिन निम्नलिखित ऐसे दोष भी आ जाते हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती :

(१) मनुष्य का मस्तिष्क एक है। उसे बिलकुल अलग-अलग तीन भागों में नहीं बाँटा जा सकता। जब हम मस्तिष्क की किसी एक प्रवृत्ति की बात करते हैं तो यह समझ लेना चाहिए कि उसमें अन्य दो प्रवृत्तियाँ भी समाविष्ट हैं। यदि क्षुधा की प्रवृत्ति कहीं पर है तो यह नहीं कहा जा सकता कि शौर्य तथा बुद्धि की प्रवृत्तियाँ हैं ही नहीं। प्लेटो ने मस्तिष्क की प्रवृत्तियों को बिलकुल अलग-अलग मानकर पहली तथा मौलिक भूल की।

(२) यदि मनुष्य मस्तिष्क की केवल एक ही वृत्ति को विकसित करेगा तो उसका विकास एकांगी होगा। इसका मतलब यह हुआ कि उसका पूर्ण व्यक्तित्व कभी भी निखर न सकेगा।

(३) विशेषज्ञता के आधार पर खड़ी की गयी वर्ग-व्यवस्था नौकरशाही में बदल जायगी। उसकी दृष्टि स्थूल और सीमित होगी और वह अनेक भूलें करेगी।

(४) प्लेटो ने सारी सत्ता दार्शनिक-शासकवर्ग को दे दी है। ऐसी अवस्था में ऐसी संभावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह वर्ग अन्य वर्गों के हितों को अपनी विशेषज्ञता के भ्रम में बिलकुल भूल जाय और इस प्रकार राज्य के समस्त शासन-कार्य को ही बिगाड़ दे।

१३. 'स्टेट्समैन' (The Statesman)

'रिपब्लिक' के बाद प्लेटो की दूसरी महत्वपूर्ण रचना 'स्टेट्समैन' है। 'स्टेट्समैन के पढ़ने से ऐसा लगता है कि प्लेटो 'रिपब्लिक' के कल्पना तथा काव्य जगत के क्षेत्र में असफल होकर यथार्थवादिता की दिशा में बढ़ा है। 'रिपब्लिक' की तुलना में 'स्टेट्समैन' अधिक क्रमबद्ध और तर्कसंगत है। 'रिपब्लिक' लिखने के बाद संभवतः प्लेटो ने यह अनुभव किया कि आदर्श राज्य का दार्शनिक-शासक व्यावहारिक संसार के तल पर मिलना असंभव है। अतः वह दार्शनिक शासक के बजाय एक ऐसे आदर्श राजनीतिज्ञ को खोजता है जो

भली भाँति शासन कर सके। स्टेट्समैन में मुख्यतः दो प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। **पहला** तो यह है कि यदि कोई व्यक्ति सच्चा शासक बनना चाहता है तो उसे कैसी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और किन आदर्शों की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए ? **दूसरे**, शिक्षा में राजनीतिशास्त्र या दर्शन का क्या महत्व है ? प्लेटो ने इस संबंध में कहा है कि राजनीति द्वारा जनता को गुण तथा धर्मों की शिक्षा दी जानी चाहिए।

१३.१ **विधि और शासनतंत्र**—प्लेटो ने **स्टेट्समैन** में यह स्वीकार कर लिया है कि वास्तविक राज्यों में विधि के बिना शासन नहीं हो सकता। वास्तविक राज्यों के शासकों को प्रजा को भलाई और लाभ तथा धर्म की शिक्षाएँ देनी चाहिए। शासक यह शिक्षाएँ नहीं दे सकता यदि वह स्वयं भला नहीं है। जैसा शासक होता है वैसी ही प्रजा भी होती है। विधियाँ युगों के भले और अच्छे अनुभवों की संचित राशि हैं—इसलिए वे वास्तविक राज्यों के लिए आवश्यक हैं। उन्हीं के आधार पर राज्यों की शासन-नीति का वर्गीकरण किया जा सकता है। प्लेटो ने विधिसम्मत और विधि-विरुद्ध दोनों राज्यों की ओर स्पष्टतः निर्देश किया है।

१३.२ **विधि के आधार पर वर्गीकरण**—प्लेटो ने विभिन्न शासन-तंत्रों का विधि के आधार पर इस प्रकार वर्गीकरण किया है।

विधिसम्मत शासनतंत्र	भ्रष्ट शासनतंत्र
(१) **राजतंत्र** (Monarchy) में केवल एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता रहती है। राजा सत्ता का प्रजा के हित में प्रयोग करता है।	(१) **निरंकुशतंत्र** (Tyranny) में सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती है किन्तु वह उसका दुरुपयोग करता है।
(२) **आभिजात्यतंत्र** (Aristocracy) में सत्ता एक ही वर्ग के हाथ में रहती है जो उसका उपयोग सबके हित में करता है।	(२) **अयोग्यधनिकतंत्र** (Oligarchy) में सत्ता अयोग्यवर्ग के हाथ में चली जाती है जो उसका अनुचित प्रयोग करता है।
(३) **सहिष्णु प्रजातंत्र** (Democracy) में सत्ता प्रजा में होती है जिसका सावधानी से सोच-समझकर प्रयोग किया जाता है।	(३) **समूहतंत्र** (Mobocracy) में सत्ता मूर्ख प्रजा के हाथ में चली जाती है और उसका वह अनुचित कार्यों में प्रयोग करती है।

इस वर्गीकरण में प्लेटो के मत से राजतंत्र सबसे अच्छा है, लेकिन इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जब किसी निरंकुश व्यक्ति के हाथों में सत्ता चली जाती है, तब वह सबसे अधिक भ्रष्ट शासनतंत्र हो जाता है। आभिजात्यतंत्र राजतंत्र के बाद आता है। इसमें बौद्धिक वर्ग प्रजा के हितों की रक्षा करते हुए शासन करता है। लेकिन कभी-कभी आभिजात्यतंत्र के नाम पर ऐसा धनिक वर्ग शासनारूढ़ हो जाता है जिसे शासन-कार्य का कोई अनुभव या योग्यता नहीं होती। वह अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए प्रजा का शोषण करता है। प्लेटो ने प्रजातंत्र को सबसे निकृष्ट तंत्र माना है। प्लेटो का कहना है कि इससे किसी भी दशा में कोई लाभ नहीं होता। प्रजातंत्र में सत्ता अदूरदर्शिता तथा अपढ़ों के हाथ में चली जाती है।

१४. 'लाज़' (The Laws)

'लॉज' प्लेटो का तीसरा और अंतिम सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के आदर्श राज्य की अव्यावहारिकता अनुभव कर ली है और कल्पना से प्रेरणा

न लेकर जागतिक आवश्यकताओं का ध्यान रखा है। 'लॉज' में पहली और सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें प्लेटो ने यह अनुभव कर लिया है कि विवाह और परिवार ये दोनों सामाजिक संस्थान आवश्यक हैं। इनको किसी भी प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि प्लेटो ने व्यक्तिगत जीवन में सम्पत्ति की भी महत्ता स्वीकार कर ली है। इन दोनों को अर्थात विवाह और सम्पत्ति को अनिवार्य मानकर प्लेटो ने साम्यवादी कल्पना का परित्याग कर दिया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्लेटो ने उनका बिना किसी शर्त के साथ समर्थन किया है। प्लेटो ने विवाह तथा सम्पत्ति की अनिवार्यता जीवन में स्वीकार की है—लेकिन साथ ही यह भी कहा है कि दोनों पर राज्य का कठोर नियंत्रण रहना चाहिए। विवाह के मामलों में राज्य यह देखे कि अनमेल जोड़ों द्वारा अयोग्य सन्तानोत्पत्ति तो नहीं की जा रही है। साथ ही वह यह भी देखे कि किसी वर्ग के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति तो नहीं है। यदि हो तो उस पर राज्य अधिकार कर ले।

इसके अतिरिक्त **'रिपब्लिक'** की तुलना में 'लॉज' में शिक्षा पर राज्य का अधिक कठोर नियंत्रण नहीं रखा गया है। स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही माना गया है और उन्हें समस्त सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार दिया गया है।

१४.१ विधि की महत्ता को मान्यता—स्त्रियों और सम्पत्ति के साम्यवाद की कल्पना से मुक्त होने के बाद प्लेटो ने यह स्वीकार किया है कि जिस आदर्श मानव या आदर्श राज्य की बात वह सोचता है—वह संभव नहीं है। इसका अर्थ यह है कि मानव-चरित्र सदा त्रुटिपूर्ण रहेगा। इन त्रुटियों पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है। अतएव बिना विधियों के यह कार्य अन्य कोई शक्ति नहीं कर सकती। इसीलिए 'लॉज' में ('लॉज' का शब्दार्थ ही 'विधियाँ' है) विधियों को सर्वोच्च मान्यता दी गयी है।

१४.२ सामाजिक व्यवस्था—प्लेटो ने 'लॉज' में सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की रखी है कि अधिकतम सम्पत्ति बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों के पास ही रहे और राजनीतिक सत्ता पर उसका पूरा-पूरा अधिकार रहे। सम्पत्ति का मौलिक आधार भूमि को ही माना गया है। वाणिज्य को महत्व नहीं दिया गया है। सम्पत्ति-वितरण की दृष्टि से सम्पूर्ण समाज को चार वर्गों में बाँट दिया गया है। सबसे नीचे वाले वर्ग के लिए भूमि का एक क्षेत्रफल निश्चित कर दिया गया है। दूसरे, तीसरे तथा सबसे ऊँचे और चौथे वर्ग के पास पहले वर्ग की तुलना में क्रमशः दुगुनी, तिगुनी और चौगुनी भूमि रहेगी। यदि कभी किसी के पास अधिक भूमि चली जाती है तो राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह उसे जब्त कर ले क्योंकि अधिक सम्पत्ति से पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष तथा संघर्ष बढ़ते हैं जिनके परिणामस्वरूप राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ने की संभावना बनी रहती है। समाज में यदि सम्पत्ति निश्चित अनुपात में रहती है तो अनुपातहीन सम्पत्ति वाले समाज की अपेक्षा उस समाज में अधिक सामंजस्य रहेगा।

१४.३ शासनतंत्र की रूपरेखा—विधियों को सर्वोच्च मान्यता देने वाले समाज या राज्य के शासनतंत्र की रूपरेखा भी प्लेटो ने दी है। इस व्यवस्था के अधीन ३७ व्यक्तियों की एक सर्वोच्च परिषद रहेगी जो राज्य के सम्पूर्ण शासनतंत्र को अपने हाथों में रखेगी और जिसकी सदस्यता केवल वही नागरिक प्राप्त कर सकेंगे जिनकी आयु ५० वर्ष से अधिक तथा ७० वर्ष से कम होगी। आयु की उच्च सीमा निर्धारित करने का कारण यह है कि प्लेटो अनुभव को ही योग्यता की सबसे बड़ी कसौटी मानता है। ७० वर्ष से अधिक अवस्था के नागरिक शारीरिक दृष्टि से निर्बल हो जाते हैं—इसलिए उन्हें सक्रिय राजनीति से अलग कर दिया गया है। ३७ व्यक्तियों की इस सर्वोच्च परिषद के नीचे ३६० सदस्यों का एक शासन मण्डल रहेगा जिसका चुनाव होगा। इसमें द्वितीय वर्ग के नागरिक लिये जायँगे।

प्लेटो का यह संकेत ध्यान देने योग्य है। सर्वोच्च-परिषद की सदस्यता को जहाँ सर्वोच्च वर्ग के नागरिकों तक ही सीमित रखा गया है––वहाँ दूसरे प्रशासन-मण्डल की सदस्यता की योग्यता के संबंध में प्लेटो अधिक उदार हो गया है। सर्वोच्च परिषद् का कार्य अधिकांशत: निर्देशात्मक रखा गया है। दूसरे शब्दों में जहाँ राज्य को महत्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण सर्वोच्च परिषद् का कार्य रहेगा, वहाँ उन नीतियों को कार्यान्वित करने का भार प्रशासन-मण्डल पर पड़ेगा। इसके अतिरिक्त एक न्यायपालिका की भी व्यवस्था की गई है जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से नियुक्त किये जा सकते हैं। दस व्यक्तियों के एक सर्वोच्च-न्यायालय की व्यवस्था भी की गई है जिसका कार्य यह देखना होगा कि संविधान का पालन होता है या नहीं और ऐसा तो नहीं है कि संविधान के विरुद्ध विधियाँ पारित की जा रही हैं। इस न्यायपालिका की सहायता के लिए दो समितियों की व्यवस्था की गयी है : (क) २० गुणसम्पन्न पुरोहितों की समिति तथा।(ख) २० प्रतिभासम्पन्न तरुणों की समिति। ये दोनों समितियाँ इसका ध्यान रखेंगी कि वृद्ध अपनी सनक में और तरुण अपनी धुन में कहीं कोई ऐसा काम तो नहीं करने जा रहे हैं जिससे राज्य की क्षति हो।

यह व्यवस्था नागरिकों के राजनीतियों में तथा राज्य की गतिविधियों में सक्रिय रुचि लेने के अधिकार पर स्थिर है। शासनतंत्र को संतुलित और नियंत्रित रखने का भी प्रयत्न किया गया है।

शासनतंत्र की रूपरेखा उपस्थित करने में प्लेटो ने 'लॉज' में स्पार्टा तथा एथेंस की लाभदायी व्यवस्थाओं का संयोग करा दिया है।

१५. प्लेटो का अनुदाय और महत्व

प्लेटो केवल एक यूनानी विचारक ही नहीं था। उसके विचार अपने समय तथा देश की सीमाओं के पाश में ही आबद्ध नहीं रहे। वे यूनान से बाहर आज विश्व भर के राजदर्शन का आधार बने हुए हैं। प्लेटो की **'रिपब्लिक'** ने केवल आधुनिक विचारक **सरटामसमूर** को ही प्रभावित नहीं किया––वरन् **सिसरो** की **'डो रिपब्लिका'** में भी **प्लेटो** की इस रचना का उल्लेख किया गया है। **सेण्ट ऑगस्टाइस** ने **'रिपब्लिक'** की सहायता से ही दैवी नगर की कल्पना को चित्रित किया है। रोम साम्राज्य के पतन के कारण बतलाते हुए **सेण्ट आगस्टाइन** ने प्लेटो के भी उद्धरण दिये हैं। मध्ययुग में भी प्लेटो ने अपने विचारों से विचारकों को प्रभावित किया है। मध्ययुग को सामाजिक व्यवस्था के वर्गीकरण का उद्गम प्लेटो के सामाजिक वर्गीकरण में देखा जा सकता है। प्लेटो ने जो कार्य राज्य को सौंपे थे––वही कार्य मध्ययुग में चर्च करते नजर आते हैं। **दाँते** की **'डी मोनार्क्रिया'** बहुत अंशों में प्लेटो से प्रभावित है। आधुनिक काल में प्लेटो ने अपने विचारों से राज्य उद्गम के अनुबंध के सिद्धान्त के विचारकों को प्रभावित किया। इन सब विचारकों में **रूसो** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार प्लेटो का महत्व युगों पर पड़नेवाली प्रभाव-किरणों से होने वाले प्रकाश से स्पष्ट है।

प्लेटो की सार्वभौमिकता का प्रमाण उसकी शिक्षा-व्यवस्था व्यक्तियों की समानता, बौद्धिक वर्ग के शासन के लिए किये जानेवाले आग्रह, राज्यदण्डविधि (Criminal Law) तथा व्यवहार विधि (Civil Law) के बीच किये जाने वाले अन्तर आदि के विचारों से स्पष्ट है। आज वे यूनान के विचार नहीं माने जाते। वे संसार के, अखिल मानवता के विचार माने जाते हैं। शिक्षा पर आज भी राज्य का नियंत्रण अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। रूस और अमेरिका तक ही यह बात सीमित नहीं है––संसार का प्रत्येक प्रगतिशील देश शिक्षा को राष्ट्रीय आधारों पर नियोजित कर उस दिशा में चरण बढ़ा रहा

है। स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से मुक्त करा के उन्हें सार्वजनिक हलचलों और गतिविधियों में भाग लेने के लिये राज्यों द्वारा प्रोत्साहन दिया जाने लगा है। नवनिर्मित संविधानों में उनको समानता को माना जा रहा है। भारत का संविधान इसका स्पष्ट उदाहरण है। राज्य-दण्ड तथा व्यवहार विधियों का अन्तर तो अब अभ्यास के कारण पुराना-सा पड़ गया है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि प्लेटो ने सभी बातें सार्वभौतिक महत्व की ही कहीं। कई स्थल ऐसे भी हैं जहाँ ऐसा नहीं हुआ है। प्लेटो के आदर्श राज्य का बाह्य ढाँचा स्पार्टा के सामाजिक एवं शासनतांत्रिक संस्थाओं से ग्रहण किया गया है। स्पार्टा की शिक्षा-व्यवस्था को तो आदर्श माना ही गया है। सोने-चाँदी पर प्रतिबंध, प्रशासकों के लिए सार्वजनिक भोजनालयों की व्यवस्था, दुर्बल शिशुओं को नष्ट कर देने पर बल, ये सब विचार स्पार्टा की परम्पराओं तथा विचारों से लिये गये हैं। 'लॉज' में बहुत-सी बातें एथेंस की परम्पराओं तथा संस्थानों से ली गयी हैं। प्रतिनिधि-शासन का सम्पूर्ण विचार ही एथेंस का है।

प्लेटो पाश्चात्य राजदर्शन के इतिहास में ऐसा प्रथम विचारक है जो राजनीतिक-प्रगतिवाद का प्रतिनिधित्व करता है। उसके विचार क्रान्तिकारी तथा सामाजिक-व्यवस्था की सड़ी-गली वस्तुओं को जड़ से हिला देने वाले हैं। प्लेटो को व्यवस्थित विचारों के कारण ही पाश्चात्य संसार राजदर्शन का प्रथम विचारक मानता है—यद्यपि राजनीति के विषय-क्षेत्र की सीमाओं का निर्धारण करने में वह भी सफल नहीं रहा है। राजनीति शास्त्र की सीमाएँ उसकी परिभाषा तथा राजनीतिक साहित्य को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय अरस्तू को है—जिसके विचारों का हम अगले अध्याय में अध्ययन करेंगे।

———

५

अरस्तू और उसके उत्तराधिकारी

१. जीवन-कथा और विचार-पद्धति--२. प्लेटो और अरस्तू--३. राज्य की उत्पत्ति और विकास--४. दासता संबंधी विचार--५. आलोचना--६. नागरिकता--७. सर्वोत्तम राज्य (Best State of Aristotle)--८. राजक्रान्तियाँ--९. संप्रभुता --१०. विधि और धर्म--११. अरस्तू का अनुदाय और प्रभाव--१२. एपीक्यूरियन विचारक--१३. स्टोइक विचारधारा।

अरस्तू ने जब राजदर्शन के क्षेत्र में प्रवेश किया तब राष्ट्रीय राज्यों का विचार उभरना आरंभ हो गया था। जहाँ तक नगर-राज्यों का संबंध है, उनका स्वर्णकाल तो प्लेटो के समय से ही समाप्त होना आरम्भ हो गया था। स्पार्टा ने एथेंस को पराजित कर दिया--निपट पशुबल से। प्लेटो पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। **'रिपब्लिक'** इसी प्रभाव के परिणाम-स्वरूप लिखी गयी। कालान्तर में स्पार्टा को थेबीज ने परास्त कर दिया और प्लेटो को अपने विचार बदलने पड़े। **'स्टेट्समैन'** और **'लॉज'** की रचना इसका प्रमाण है। ई०पू० ३८४ में एक और आँधी आयी। मेसीडोनिया के तरुण शासक सिकन्दर ने यूनान के समस्त नगर-राज्यों को अपने सैनिक-शक्ति के समक्ष नतमस्तक होने के लिए विवश कर दिया और इस प्रकार 'राष्ट्र राज्य' की कल्पना ने जन्म लिया। अरस्तू के राजदर्शन की रंगभूमि में आगमन का काल नगर-राज्यों की सभ्यता का पतन-काल था। अरस्तू के विचार युग-संधि के विचारों के प्रतीक हैं। उनमें प्लेटो की कल्पना और आदर्शवाद का अभाव है। अरस्तू के विचार-दर्शन में यथार्थवाद की रक्तिम-रेखा सुस्पष्ट रूप से अंकित है। विचारों में व्यवस्था है। वे तर्क और तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित हैं।

१. जीवन-कथा और विचार-पद्धति

आज संसार अरस्तू से एथेंस के विचारक के रूप में परिचित है। किन्तु उसका जन्म एथेंस में नहीं हुआ। अरस्तू का जन्म स्टेजिरा नगर की थीरेस नाम की बस्ती में ई० पू० ३८७ में हुआ था। अरस्तू के पिता एक मध्यवर्गीय डाक्टर थे। उनका संबंध मेसीडोनिया के राज्यघराने से एक चिकित्सक के रूप में था। अरस्तू का पालन-पोषण सम्पन्नता और विपुलता के वातावरण में हुआ। सत्रह वर्ष की अवस्था में अरस्तू को प्लेटो के विद्यालय में अध्ययन करने के लिये भेज दिया गया। वहाँ १७ वर्ष तक अरस्तू ने अपनी पढ़ाई जारी रखी। पढ़ाई समाप्त करने के बाद अरस्तू ने विदेश-भ्रमण किया। इसी बीच तीन वर्ष तक वह मेसीडोनिया में भी सिकन्दर के शिक्षक के रूप में रहा। तेरह वर्षों तक देश-विदेश की यात्रा करके जब वह एथेंस वापस लौटा तो उसने अपने मित्र तथा निरंकुश शासक **हर्मियास** की गोद ली हुई पुत्री से विवाह कर लिया। अरस्तू का यह दाम्पत्य-जीवन इतना सुख पूर्ण सिद्ध हुआ कि अपने अनुभवों के आधार पर अरस्तू ने प्लेटो के साम्यवाद की अत्यन्त कटु आलोचना की। अरस्तू साधारणतः जीवन भर सम्पन्न रहा और वह पारिवारिक जीवन तथा निजी सम्पत्ति को अनिवार्य आवश्यकताएँ मानता था। अरस्तू अपने युग का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् था। उसकी बुद्धि बड़ी तेज तथा दृष्टि सूक्ष्मतत्वदर्शिनी थी। उसका नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिआदि विषयों पर बड़ा व्यापक अधिकार

था और इन सभी विषयों पर उसने विपुल मात्रा में लिखा है। तर्कशास्त्र (Logic) का तो वह जन्मदाता ही है। केवल गणित से ही उसे अरुचि थी।

सिकन्दर की मृत्यु के बाद कुछ दिनों के लिए अरस्तू विपत्तियों में पड़ गया था। उसके विरोधियों ने उसके विरुद्ध कुछ दोषारोपण किये। अभियोगों तथा न्यायालय से बचने के लिए अरस्तू को एथेंस से हट जाना पड़ा। वह नहीं चाहता था कि विद्या और विद्वानों के विरुद्ध एथेंस पुनः इतिहास के न्यायालय में अपराधी की भाँति खड़ा हो। कुछ दिनों बाद वह पुनः एथेंस वापस लौट आया और उसने अपने जीवन के शेष दिन अपनी जमींदारी चालसीज में शान्तिपूर्वक बिताये। ई० पू० ३२२ में ६२ वर्ष की अपेक्षाकृत अल्पायु में अरस्तू की मृत्यु हो गयी।

कहा जाता है कि अरस्तू राजनीतिशास्त्र और राजदर्शन का जनक था। यह कथन अक्षरशः सत्य है। राजनीति को नीति और आचारशास्त्र से अलग कर उसे स्वतंत्र और निश्चित स्वरूप दे देने का श्रेय अरस्तू को ही है। यह कार्य प्लेटो भी नहीं कर सका था। बुद्धि-जीवी जगत शताब्दियों से राजनीति के इस जनक को विद्वानों के गुरू के रूप में मान्यता देता आया है और यह मान्यता अरस्तू के बौद्धिक अनुदानों पर आधारित होने के कारण सर्वथा उचित ही है।

१.१ **विचार-पद्धति**––अरस्तू की विचार-पद्धति व्याप्तिमूलक (Inductive) और विश्लेषणात्मक (Analytical) है। व्यक्तिवादिता और यथार्थवादिता उसकी विशेषता है। प्लेटो जैसी सामूहिकतापरकता का उसमें अभाव है। वह आदर्शवादी और कल्पनाशील न होकर पर्यवेक्षणशील (Observational) है। संश्लिष्टता उसका दूसरा गुण है। प्लेटो और अरस्तू की विचार-पद्धति में एक बात समान है और वह यह कि दोनों ने प्रश्नोत्तरी प्रणाली का अवलम्बन किया है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि अरस्तू की विचार-शैली सर्वथा त्रुटिहीन और निर्दोष है। उसकी सामग्री और कृतियों का अध्ययन बड़ा कठिन है। छोटी-छोटी बातों पर बारम्बार के आग्रह से उनमें पुनरुक्ति दोष आ गया है। प्लेटो तथा उसके पूर्ववर्ती विचारकों की अनेक स्थलों पर अनावश्यक आलोचना की गयी है। वह अपने विचारों को कहीं-कहीं स्पष्ट नहीं करता और आगे बढ़ जाता है––यह आश्वासन देते हुए कि वह उन्हें अन्य किसी स्थल पर विस्तारपूर्वक समझायेगा। लेकिन वे स्थल पुनः कभी नहीं आते। विचार-पद्धति के गुणों में कथनों की व्यापकता, दूरदर्शिता, शुभानुध्यायिता एवं सार ग्रहण करने की प्रवृत्ति आदि गुण उल्लेखनीय हैं। वह मध्यमार्ग का आग्रही है। अरस्तू का राज्य तथा समाज संबंधी दृष्टिकोण सावयवी (Organic) है। वह व्यक्ति को समाज और राज्य का अंग मानता है। वह व्यक्ति की समाज या राज्य से अलग कोई हैसियत नहीं समझता। भौतिक संसार की प्रत्येक वस्तु में उसे एक चरमशक्ति की परिणति दिखलायी पड़ती है और उनका अस्तित्व अरस्तू को सोद्देश्य (Teleological) प्रतीत होता है। प्रत्येक वस्तु गतिशील है और अरस्तू के अनुसार वह एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती जा रही है। सबकी सामान्य वृत्ति स्थूल से सूक्ष्म की ओर है––इसीलिए वह शरीर से अधिक आत्मा को, लालसाओं से अधिक बुद्धि को महत्व देता है।

१.२ **अरस्तू की कृतियाँ**––अरस्तू की मुख्य कृति **'पॉलिटिक्स'** (Politics) है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने अन्य कई पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें 'कान्स्टीटयूशन ऑव एथेंस' (Constitution of Athens) का नाम उल्लेखनीय है। अरस्तू के सिद्धान्तों का ज्ञान हमें उसके एक शिष्य के व्याख्यान-संकेतों (Lecture notes) से मिलता है जो उसके विद्यालय की कक्षाओं में लिखे गए थे। **'पॉलिटिक्स'** में उसके विचारों का संग्रह है।

यद्यपि इसमें प्रश्नोत्तरी प्रणाली का अवलम्बन किया गया है किन्तु अरस्तू ही प्रश्न करता है और वही उन प्रश्नों का उत्तर भी देता है। यह ग्रंथ अत्यन्त अस्पष्ट, अव्यवस्थित और अपूर्ण-सा है। ऐसा लगता है कि उसके विभिन्न भागों को बलात् किसी ने एक साथ जोड़-तोड़कर मिला दिया है। पूरा ग्रंथ आठ पुस्तकों में विभक्त है। लेकिन ये सब की सब एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। विभिन्न पुस्तकों की असम्बद्धता उनके संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हो जायगी।

प्रथम पुस्तक––ग्रंथ के आरंभ में ही अरस्तू मानव-स्वभावादि पर विचार न करके दासता पर वाद-विवाद छेड़ देता है।

दूसरी पुस्तक––इसमें प्लेटो के आदर्श राज्य की समालोचना की गयी है। प्लेटो ने शासन तंत्रों का जो वर्गीकरण किया है उसकी भी चर्चा इसमें है।

तीसरी पुस्तक––संविधानों के उल्लेखनीय स्वरूपों को स्पष्ट किया गया है। शासनतंत्रों के भेद बतलाये गए हैं और यह संकेत किया गया है कि सामान्यतः कैसा संविधान अच्छा होता है।

चौथी पुस्तक––इस भाग में शासनतंत्रों का और अधिक सूक्ष्म वर्गीकरण और उनकी समालोचना है।

पाँचवीं पुस्तक––यह भी चौथी पुस्तक का ही एक अंग है।

छठी पुस्तक––इसमें राज्यक्रान्तियों के कारणों और उनके विरोधों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

सातवीं पुस्तक––सर्वोत्तम राज्य कौन-सा है ? यहाँ इस प्रश्न के संबंध में अरस्तू ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

आठवीं पुस्तक––राज्य के विभिन्न स्वरूपों तथा उनकी समस्याओं पर विस्तारपूर्वक पुनः विचार किया गया है।

इन आठों पुस्तकों को संश्लिष्ट करके विचार-निरूपण की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–(क) राज्य के मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन (पुस्तक १,२ और ३) (ख) संविधानों के स्वभाव और उनके अन्तर का निरूपण (पु० ४. ५ और ६) और (ग) सर्वोत्तम राज्य के संबंध में विचार (पु० ७ और ८)

अरस्तू के सर्वोत्तम राज्य के सिद्धान्त मूलतः प्लेटो की 'लॉज' नामक पुस्तक से ग्रहण किये गये हैं। वार्नर जेगर के अनुसार **'पॉलिटिक्स'** को दो बार में लिखा गया है और विद्वानों ने शोधकर के पता लगाया है कि ग्रन्थ को तैयार करने में पन्द्रह वर्षों का समय लगा था।

अरस्तू के राज्य, नागरिकता, संप्रभुता, राज्यक्रान्ति, शिक्षादि संबंधी विचार उल्लेख योग्य तथा महत्वपूर्ण हैं जिन पर हम लोग आगे के पृष्ठों में विचार करेंगे। इसके पहले अच्छा होगा यदि संक्षेप में प्लेटो तथा अरस्तू का तुलनात्मक अध्ययन कर लिया जाय।

२· प्लेटो और अरस्तू

बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या प्लेटो और अरस्तू में कोई मौलिक अन्तर है ? यदि समानताएँ हैं तो वे क्या हैं और यदि अन्तर हैं तो वे क्या हैं ? इनका उत्तर बड़ा सहज है। मौलिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो राज्य के उद्गम और उसके उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के संबंध में प्लेटो तथा अरस्तू के बीच कोई मतभेद नहीं है। यथा: (१) प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति स्वाभाविक है। उसका जन्म मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ। राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक अनुबंध अथवा परम्परागत निर्माण के सिद्धान्त में उनका विश्वास नहीं है जैसा कि **ग्लाउकन** तथा **सॉफिस्टों** आदि का विश्वास था, (२) वे यह भी मानते थे कि भले जीवन के

लिए ही राज्य का अस्तित्व बना रहता है।[१] (३) दोनों ने आचारशास्त्र (Ethics) तथा राजनीति शास्त्र को एक दूसरे से संबद्ध माना है। यह संबद्धता इस प्रकार सिद्ध की गयी है कि राज्य और व्यक्ति के गुणों को एक-सा बतलाया गया है और (४) शिक्षा-व्यवस्था के संबंध में दोनों का मत यह है कि उसका नियंत्रण राज्य द्वारा होना चाहिए। लेकिन यह मतैक्य केवल मौलिक बातों के संबंध में ही है। इन मौलिक सिद्धान्तों को जहाँ तक कार्यान्वित करने का प्रश्न है--दोनों के दृष्टिकोणों में आकाश और भूमि का अन्तर है। प्लेटो इन मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर कल्पनात्मक आदर्शों का हवाई किला खड़ा कर लेता है। इसके विपरीत अरस्तू के चरण भूमि-स्पर्श करना नहीं छोड़ते। उसमें दूरदर्शिता के साथ व्यावहारिकता स्पष्टतः झलकती है। अन्तर निम्नांकित बातों से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसे, (१) राज्य की एकता के संबंध में प्लेटो और अरस्तू के विचार। प्लेटो के आदर्श राज्य में सामाजिक-वर्गीकरण एक बार कर दिया जाता है और इसके बाद जो जिस वर्ग में आ गया सो आ गया। उत्पादक वर्ग, सैनिक वर्ग में नहीं आ सकता और सैनिक शासक वर्ग में नहीं जा सकता और न इसका उल्टा ही हो सकता है। प्लेटो ने राज्य की एकता बनाये रखने के लिये प्रत्येक नागरिक की स्वरूपात्मक एकता (Uniformity) पर बड़ा बल दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्लेटो के राज्य में भिन्न प्रकार से सोचनेवाले दो नागरिक मिल ही नहीं सकते। अरस्तू का यह स्वरूप यांत्रिक और अमानवीय-सा लगता है। प्लेटो के जटिल सामाजिक वर्गीकरण से पूर्णतः सहमत होते हुए भी अरस्तू ने यह बतलाया है कि राज्य की एकता किस प्रकार बनी रह सकती है। अरस्तू का कहना है कि स्वरूप और स्वभाव की एकता हो जाने पर कहीं कोई मतभेद रहेगा ही नहीं तो बौद्धिक प्रगति के समस्त मार्ग अवरुद्ध हो जायँगे। बौद्धिक प्रगति के लिए मतभेद और असंतोष——ये दो तत्व आवश्यक हैं। लेकिन इतने पर भी सभी नागरिकों में मौलिक बातों पर मतैक्य हो सकता है——जो राज्य की एकता की रक्षा करेगा। इस प्रकार अरस्तू ने विविधताओं और अनेकताओं के बीच राज्य की एकता के दर्शन किये हैं। प्लेटो और अरस्तू का यह विचारान्तर मानवीय-स्वभाव संबंधी दृष्टिकोण के कारण है। यदि हम प्लेटो के विचारों का इस संबंध में सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्लेटो मानवीय मस्तिष्क या उसके विभिन्न पक्षों को विभिन्न जातीय (Heterogeneous) मानता है। इससे आशय यह है कि मस्तिष्क के तीन पक्षों (क्षुधा, शौर्य और विवेक) में से जब प्लेटो किसी एक पक्ष पर विचार करता है तो यह नहीं मानता कि अन्य दोनों पक्ष भी उस एक ही पक्ष में उपस्थित रहते हैं। इसके विपरीत अरस्तू ने मानव-मस्तिष्क को सजातीय (Homogeneous) माना है। अर्थात् जब हम मानव-मस्तिष्क के किसी एक पक्ष पर विचार करते हैं तो उससे शेष दो पक्षों के प्रभाव को विचार से परे नहीं कर सकते। इस मौलिक अन्तर के कारण राज्य की एकता के संबंध में प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों में इतना अन्तर पड़ गया है। (२) अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति तथा स्त्रियों के साम्यवाद के सिद्धान्त से पूर्ण असहमति प्रकट की है। प्लेटो ने किन कारणों से सम्पत्ति से अपने राज्य के शासकों को वंचित रखा था——यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। यहाँ इस बात पर विचार करेंगे कि अरस्तू ने सबके लिए सम्पत्ति क्यों आवश्यक बतलायी। अरस्तू का इस संबंध में मत यह है कि सम्पत्ति व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का साधन है। सम्पत्ति द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि किस व्यक्ति की क्षमता किस कोटि की है। यदि व्यक्ति को सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाता है तो सभी क्षमताओं के व्यक्ति समान हो जाते हैं। यह समानता पुनः बौद्धिक-विकास की अवरोधक है इसलिए अरस्तू ने साम्पत्तिक-साम्यवाद का विरोध किया है। स्त्रियों के साम्यवादीकरण के विरोध

१ State is born for life but exists for good life.

का कारण स्पष्ट करते हुए अरस्तू ने लिखा है कि राज्य का मूल आधार व्यक्ति है और व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन परिवार है और परिवार में सर्वाधिक महत्व का स्थान गृहिणी का है। यदि वही परिवार में नहीं रहती तो परिवार का उन्मूलन हो जाता है। और परिवार के उन्मूलन का अर्थ व्यक्ति का या व्यापक रूप से राज्य का निराधार हो जाना है। अतएव व्यापक अर्थों में राज्य के लिये और सीमित अर्थों में व्यक्ति के लिए परिवार अत्यावश्यक है क्योंकि वही दोनों के विकास का मूलभूत आधार है। स्त्रियों के साम्यवादीकरण के सिद्धांत के विरोध में अरस्तू का एक व्यक्तिगत तत्व भी था और वह था सरस और सुखी दाम्पत्य जीवन का अनुभव । अरस्तू को अपने वैवाहिक जीवन में बड़ा सुख मिला था——इसीलिए वह परिवार-रूपी सामाजिक संस्थान का कट्टर समर्थक हो गया था। अरस्तू ने प्लेटो के द्वारा उत्पादक-वर्ग की अवहेलना की जाने की भी शिकायत की है। अरस्तू का कहना है कि शिक्षा के क्षेत्र में प्लेटो ने उत्पादक वर्ग के नागरिकों को उचित शिक्षा देने की व्यवस्था नहीं की। किन्तु अरस्तू की यह शिकायत ठीक नहीं है क्योंकि वह स्वयं भी अपने राज्य के निम्नवर्गीय निवासियों को नागरिकों के अधिकार नहीं देता। इतने पर भी अरस्तू प्लेटो के प्रभाव से मुक्त नहीं है। अपने सर्वोत्तम राज्य का रेखा-चित्र उपस्थित करते हुए अरस्तू ने प्लेटो के 'लॉज' से प्रत्यक्षतः बहुत अधिक सहायता ली है।

.३ राज्य की उत्पत्ति और विकास

प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों की मौलिक समानताओं तथा बाह्य अन्तरों तथा असमानताओं पर विचार कर लेने के बाद अब हम अरस्तू के राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त पर विचार करेंगे। अरस्तू के विचारों में राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त सर्वाधिक महत्व का है और वह विकास सिद्धान्त के रूप में हम लोग बहुत पहले से जानते आये हैं। इस प्रश्न को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं, (अ) मानव स्वभाव, (आ) राज्य का विकास, (इ) राज्य की प्राथमिकता या स्वाभाविकता और अनिवार्यता। इस प्रकार के विभक्ती-करण के उपरान्त हम एक-एक भाग पर आसानी से विचार कर सकते हैं।

३.१ मानव स्वभाव——राज्य का स्वभाव और उत्पत्ति जानने के लिए मानव-स्वभाव पर विचार करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि अरस्तू ने भी अन्य यूनानी राजनीतिक विचारकों की भाँति राज्य को व्यक्ति का विकसित स्वरूप ही माना है। इसलिये यदि मानव स्वभाव को पहले समझ लिया जाय तो राज्य का स्वभाव भी बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। जिस प्रकार प्लेटो ने मानव-मस्तिष्क को तीन पक्षों में (क्षुधा, शौर्य और विवेक) विभक्तीकरण किया है, उसी प्रकार किन्तु कुछ भिन्न ढंग से अरस्तू ने भी मानव-मस्तिष्क को तीन भागों में विभक्त किया है। यह विभक्तीकरण इस प्रकार है—(क) जड़ अवस्था (Vegetative Soul), (ख) पशु अवस्था (Animal Soul) और (ग) बौद्धिक अवस्था (Intellectual Soul)। लेकिन इस विभक्तीकरण का यह आशय नहीं है कि जड़ावस्था में मानव-मस्तिष्क के पशु एवं बौद्धिक अवस्था के तत्व मिश्रित नहीं रहते हैं या पशु अवस्था में जड़ावस्था तथा बौद्धिकावस्था के तत्व नहीं रहते हैं। हमें यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि अरस्तू मानव-मस्तिष्क को सर्वाङ्गीण या सजातीय (Homogeneous) मानता था। यह समझ लेने के बाद अब हम मानव-मस्तिष्क की सभी अवस्थाओं पर शनैः-शनैः विचार कर सकते हैं।

जड़ अवस्था (Vegetative Soul)——अरस्तू ने मानव-मस्तिष्क की पहली अवस्था की पेड़-पौधों की अवस्था से तुलना की है। पेड़-पौधों का क्या स्वभाव होता है?

पहला तो यह कि जीवनधारण किये रहे और दूसरा यह कि अपनी जाति का विस्तार करें। जीवन-धारण करने के लिये सबसे पहले आवश्यकता इस बात की पड़ती है कि भोजननादि की सामग्री मिलती रहे। जाति-विस्तार के लिये पुंसवन की आवश्यकता पड़ती है। ये दोनों ही कार्य पेड़-पौधे तथा अन्य जड़ पदार्थ प्रकृति-दत्त साधनों की सहायता से करते हैं। यहाँ जड़ता केवल गतिहीनता (Lack of mobility) की ही द्योतक है।

पशु अवस्था (Animal Soul)—पशुओं की क्या अवस्था होती है? पशुओं में जड़-जीवों या पेड़-पौधों का यह गुण तो होता है कि वे अपने मतलब की भोजन-सामग्री खोजकर जीवनधारण किये रहें तथा मादा पशु के समागम से अपनी जाति (Species) परंपरा को आगे बढ़ायें लेकिन उनके साथ एक और गुण होता है और वह यह कि वे चल-फिर भी सकते हैं अर्थात उनमें गतिशीलता (Mobility) भी होती है।

बौद्धिक अवस्था (Intellectual Soul)—मनुष्य के मस्तिष्क की प्रारंभिक अवस्था में उसमें पहली स्वाभाविक प्रवृत्ति तो भोजनादि प्राप्त करके जीवनधारण करने की होती है और इसके बाद अपना वंश बढ़ाने की। यह दोनों प्रवृत्तियाँ जड़ या पेड़-पौधों के स्वभाव का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसके बाद मस्तिष्क मे गतिशीलता (Mobility) भी होती है। इस रूप में वह पशुओं की अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु इसके अतिरिक्त मानव-मस्तिष्क विवेकयक्त (Reason) भी होता है। जड़ पदार्थों में या पशुओं में विवेक नहीं होता—इसी प्रकार प्रारंभिक अवस्था में तथा द्वितीय अवस्था में मानव-मस्तिष्क पूर्णतः बुद्धिहीन न होते हुए भी बुद्धि के पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं कर पाता। बुद्धि का पूरा-पूरा विकास तीसरी अवस्था में ही होता है।

३.२ **राज्य का विकास**—अरस्तू ने परिवार, गाँव और राज्य को वाह्य रूप से मानवीय-मस्तिष्क की इन्हीं तीन अवस्थाओं का प्रतीक—भौतिक और चाक्षुष प्रतीक—माना है। अरस्तू का कहना है कि परिवार में मानव या व्यक्ति के मतिष्क की जड़ावस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अर्थात परिवार में मनुष्य को जीवनधारण करने के लिये भोजन-सामग्री मिलती है और वह परिवार में ही अपने वंश की वृद्धि भी कर पाता है। अरस्तू ने परिवार में इन दो उद्देश्यों की सिद्धि के लिए दो प्रकार के संबंध बतलाये हैं—(१) स्वामी और दास का तथा (२) पति और पत्नी का। स्वामी और दास का संबंध इसलिये आवश्यक है कि दास खेतों में काम करता है—स्वामी के निर्देशों के अनुसार तथा अपने तथा स्वामी और परिवार के लिये भी अन्न उपजाता है जो भोजन का आधार है। पति पत्नी के संबंधों द्वारा वंश-विस्तार होता—इसलिये वह जड़ अवस्था की दूसरी आवश्यकता की पूर्ति करता है। लेकिन यहीं संबंधों की समाप्ति नहीं हो जाती है। परिवार का एक तीसरा संबंध भी होता है—वह है माता-पिता द्वारा बच्चों के अभिभावकत्व का। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, उनका भविष्य, सुख-दुःख बहुत कुछ माता-पिता की समझदारी पर ही निर्भर करते हैं। अतः यह संबंध बौद्धिकता का प्रतीक है और मस्तिष्क की सर्वांगीणता की एक झलक दिखलाता है। किन्तु परिवार से ही मनुष्य की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो जाती। व्यक्ति को परिवार से जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का आधार तो अवश्य मिलता है लेकिन और लोगों से मिलने-जुलने की प्रवृत्ति भी मनुष्य में होती है। इस मानसिक प्रवृत्ति को हम सामाजिक-वृत्ति कह सकते हैं। फलतः जो परिवार दूर-दूर भी बस सकते थे वे पास-पास आकर बसने लगते हैं और इस प्रकार ग्राम की उत्पत्ति होती है। ग्राम में मनुष्य की गतिशीलता की पशु-दशा की अवस्था की पूर्ति हो जाती है और वह दूसरे के आसपास उठने-बैठने लगता है। इस प्रकार धीरे-धीरे

अनेक ग्राम बस जाते हैं और इनके संगठन और संश्लिष्टीकरण की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे शब्दों में हम इसे प्रशासन भी कह सकते हैं। इस प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य की उत्पत्ति होती है। अतएव अरस्तू ने राज्य को व्यक्तियों का उच्चतम संघ (Koimonia) बतलाया है। राज्य विस्तार तथा अन्य सभी आवश्यकताओं की दृष्टि से आत्मनिर्भर होता है।

३.३ **राज्य की प्राथमिकता या स्वाभाविकता तथा अनिवार्यता**—अरस्तू ने राज्य के प्रश्न पर विचार करते हुए यह भी कहा कि राज्य प्राथमिक है। वह व्यक्ति से भी पहले आता है। यह कहते समय अरस्तू का यह भाव नहीं था कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले हुआ—वरन् उसके कहने का अभिप्राय यह था कि मानसिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले ही हो चुका था। यह कैसे हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर एक दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगा। जब आप एक वृत्त या गोला खींचते हैं तो उस गोले को खींचने का भाव या विचार सबसे पहले आपके मस्तिष्क में आता है और आप पेंसिल उठाकर तदनुसार रेखा खींचना आरंभ कर देते हैं। तो प्रत्यक्षतः पूरा वृत्त या गोला तो आपकी दृष्टि के सामने बाद में आया—इसमें सन्देह नहीं लेकिन उस वृत्त को मानसिक दृष्टि से तो आपने अपने मस्तिष्क में पहले ही देख लिया था। वृत्त की कल्पना वास्तविक वृत्त से पहले आपके मस्तिष्क में आयी—इसलिये यह कहा जा सकता है कि पूर्णवृत्त का जन्म वृत्त के एक भाग के कागज पर रेखा रूप में आने के पहले ही हो चुका था। इसी प्रकार मनुष्य के बौद्धिक विकास की पूर्ण कल्पना के रूप में राज्य का जन्म व्यक्ति, परिवार, ग्राम के अस्तित्व में आने के पूर्व ही हो चुका था—इसलिए, राज्य व्यक्ति से भी पहले आता है। वह प्राथमिक है।

इसके बाद यह प्रश्न उठता है कि राज्य स्वाभाविक (Natural) और आवश्यक (Necessary) क्यों है ? इस प्रश्न को हम दो भागों में विभक्त कर लेंगे। पहले तो यह देखेंगे कि स्वाभाविकता से अरस्तू का क्या आशय है और इसके बाद राज्य की अनिवार्यता पर विचार करेंगे।

यह तो हम अपने दैनिक जीवन में भी देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु सदा एक-सी नहीं रहती। कलम का निब, जिससे हम लिखते हैं वैसा नहीं है जैसा कलम को खरीदते समय था और आज से चार-पाँच बरस बाद जैसा वह आज है, वैसा भी न रहेगा। इतना समयान्तर दे देने का आशय यह है कि परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ने लगता है। अरस्तू ने भी पर्यवेक्षण द्वारा यह देखा कि प्रत्येक वस्तु लगातार बदलती रहती है। वस्तु को अरस्तू ने पदार्थ (Matter) कहा है। अपने पर्यवेक्षण से अरस्तू ने यह सूत्र निकाला कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है। यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि पदार्थों के स्वरूप में परिवर्तन क्यों नहीं होता है। अरस्तू के विचार से संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि परिवर्तन बिना किसी उद्देश्य या लक्ष्य के नहीं होता। उसका भी एक लक्ष्य है और वह यह कि स्वरूपहीन पदार्थ (Formless matter) पदार्थहीन स्वरूप (matterless form) में बदल जाय। परिवर्तन कैसे होता है ? परिवर्तन के कारण क्या हैं ? यह प्रश्न महत्व का है। इसे भलीभाँति समझ लेना चाहिए। अरस्तू ने परिवर्तन के चार कारण बतलाये हैं—(१) पदार्थिक कारण (material cause), (२) क्रियात्मक कारण (Efficient cause), (३) औपचारिक कारण (Formal cause) और (४) अंतिम या स्वरूप कारण (Final cause)। ये चारों कारण किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिये आवश्यक हैं। यदि इनमें से कोई भी कारण अनुपस्थित रहता है तो

परिवर्तन न हो सकेगा। इनमें से प्रत्येक कारण से अरस्तू का आशय क्या है?—यह भी समझ लेना चाहिए।

पदार्थिक कारण (Material cause)——जब तक कोई पदार्थ (matter) न होगा तब तक कोई परिवर्तन संभव नहीं है।

क्रियात्मक कारण (Efficient cause)——परिवर्तन के लिये कोई न कोई क्रियाशील शक्ति भी चाहिए, चाहे वह शक्ति मनुष्य की हो या प्रकृति की।

औपचारिक कारण (Formal cause)——परिवर्तन के उपयुक्त सामग्री या वातावरण का होना भी आवश्यक है। बिना इसके कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता।

अंतिम कारण (Final cause)——अंतिम कारण से आशय पदार्थ के उस विकसिततम स्वरूप से है जिसके लिये उल्लिखित समस्त परिवर्तन होते हैं।

दो उदाहरणों से यह कथन बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा। बीज और वृक्ष को पहले ले लीजिए। वृक्ष की कल्पना बीज का विकसिततम स्वरूप है। इसलिये वह अंतिम कारण (Final cause) है। इस स्वरूपसिद्धि के लिए बीज बोया जाता है। इसलिये बीज पहला और पदार्थिक कारण हुआ। प्रकृति उस बीज को पनपाती है——अंकुरित करती है——अतः वह क्रियात्मक कारण हुई और वायु, जल, धूप आदि औपचारिक कारण हुए। इसके विपरीत मेज को लीजिये। मेज वृक्ष की लकड़ी का परिवर्तित स्वरूप ही तो है। अतएव लकड़ी पदार्थिक कारण हुई। बढ़ई ने उस लकड़ी को काटा, छीला और मेज का रूप दिया। इसलिये वह क्रियात्मक कारण हुआ। बढ़ई की आरी, उसका बसूला आदि औपचारिक कारण हुए और मेज अंतिम कारण जिसकी कल्पना के कारण लकड़ी को मेज का विकसिततम रूप मिल सका।

लेकिन जहाँ हम बीज के वृक्ष के रूप में पनप जाने को स्वाभाविक कहते हैं——वहीं लकड़ी के मेज के रूप में आ जाने को वैसा नहीं कहते और कहते हैं कि वह कृत्रिम (Artificial) है। क्यों? इसलिये कि जहाँ बीज में परिवर्तन का क्रियात्मक कारण प्रकृति है——वहाँ लकड़ी को परिवर्तित स्वरूप देने का क्रियात्मक कारण मनुष्य है। इसलिये जो परिवर्तन प्रकृति के कारण हो वह स्वाभाविक होता है और जो मनुष्यकृत होता है वह कृत्रिम। राज्य को अरस्तू ने स्वाभाविक इसलिये बतलाया कि उसने यह नहीं माना कि राज्य का निर्माण करने वाला मनुष्य है। राज्य-निर्माण या उत्पत्ति का क्रियात्मक साधन मनुष्य नहीं; मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव है——अतः राज्य स्वाभाविक हुआ। बिना राज्य के मनुष्य शांतिपूर्वक व्यवस्थित जीवन नहीं बिता सकता। इसलिये वह अनिवार्य है। एक क्षण के लए बिना राज्य के मानव-जीवन की कल्पना तो कीजिए। पुलिस न रहे, न्यायालय न रहें, सरकारें और विधानसभाएँ न रहें——तो बलवान् व्यक्ति को दुर्बलों पर अत्याचार करने से कौन रोक सकता है? उन्हें लूट-पाट करने से, मारने-पीटने से कौन रोक सकेगा? यह राज्य की संघटित शक्ति ही है जो बलवान् व्यक्तियों को अन्याय से रोकती है। हमारे जीवन को तुलनात्मक दृष्टि से अधिक शान्त और सुखमय बनाती है। इसलिये राज्य आवश्यक है——दूसरे शब्दों में अनिवार्य है। वह पहले जीवन रक्षा के लिये आविर्भूत होता है और इसके बाद जीवन को अधिक अच्छा बनाये रखने के लिये चलता रहता है।

अरस्तू की दृष्टि से सर्वोत्तम राज्य कौन-सा है——इस पर इसी अध्याय में हम लोग आगे विचार करेंगे।

४. दासता संबंधी विचार

अरस्तू ने अपनी पुस्तक **'पॉलिटिक्स'** में सबसे पहले राज्य की उत्पत्ति आदि के संबंध में विचार न करके दासता के संबंध में ही अपने विचार प्रकट किये हैं। इसका कारण

यह है कि प्रारंभ में ही अरस्तू के सामने यह समस्या आ खड़ी हुई है कि वह दासता की राष्ट्रव्यापी प्रथा के औचित्य को सिद्ध करे। उन दिनों कुछ क्रान्तिकारी सॉफिस्ट विचारक तथा कुछ अन्य तत्व दासता की प्रथा के विरोध में स्वर उठा रहे थे। अरस्तू यथार्थवादी विचारक के नाते यह भलीभाँति अनुभव कर रहा था कि यदि दासता की प्रथा के विरुद्ध स्वर सबल हो उठता है और उसको यदि व्यावहारिक क्षेत्र में लाया जाता है तो यूनान के नगर-राज्यों की समस्त आर्थिक व्यवस्था भरभराकर गिर पड़ेगी और उसे फिर किसी भी प्रकार सँभालना कठिन हो जायगा। आदर्शवादी न होने के कारण अरस्तू प्लेटो की भाँति इस प्रश्न पर मौन न रह सका और एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ की दृष्टि से उसे इस संबंध में अपने विचार स्पष्टतः रखने पड़े। अरस्तू ने दास को प्रारंभ से ही बुद्धिहीन माना है। दासता के समर्थन में अपने विचार अरस्तू ने यह कहते हुए प्रकट किये हैं कि दासता स्वाभाविक है। दास बुद्धिहीन होता है और स्वामी बुद्धिमान--इसलिये यह दोनों के हित में है कि दास-प्रथा जारी रहे। अरस्तू का दासता-समर्थन का सिद्धान्त दो तत्वों पर आधारित है--(१) स्वभाव या बुद्धि की असमानता और (२) गुणी तथा गुणहीन व्यक्तियों के बीच में अन्तर। अरस्तू बौद्धिक असमानता का प्रथम विचार तत्व तो आसानी से सिद्ध कर देता है--लेकिन वह दूसरा विचार तत्व सिद्ध करने में कठिनाई का अनुभव करता है। इतना अवश्य है कि अरस्तू दासता का समर्थन बिना किसी शर्त के नहीं करता। स्वामी का दास के प्रति दयालु होना, उसके साथ निर्दय व्यवहार न करना, दास के हितों का ध्यान रखना आदि यह सब कर्त्तव्य अरस्तू ने स्वामी के लिये आवश्यक बतलाये हैं। दास को स्वतंत्रता की आशा भी दिलायी गई है। वह यह भी कहता है कि दास को चाहिए कि वह अपने स्वामी की आज्ञा का पालन उसे अपना मित्र तथा शुभैषी समझ कर करे।

५. आलोचना

दासता का समर्थन करते हुए अरस्तू ने कहा है कि दास परिवार की सजीव सम्पत्ति है। वह परिवार की सम्पत्ति की उत्पत्ति का क्रियात्मक साधन है।

अरस्तू यह मानता है कि सभी व्यक्तियों में समान बुद्धि नहीं होती। कुछ व्यक्ति जन्म से ही बुद्धिमान होते हैं और कुछ बुद्धिहीन। वह कहता है कि बुद्धिहीनों को बुद्धिमानों की आज्ञा का अनुवर्ती होना चाहिए। प्रकृति में भी योग्यता और क्षमतावान तत्व अयोग्य एवं अक्षमों का नेतृत्व करते हैं। लेकिन यह सोदाहरण सिद्ध कर देने के बाद भी अरस्तू यह नहीं बता पाता है कि यह कैसे पता लगाया जाय कि कौन जन्मजात दास है और कौन जन्मजात स्वामी।

दासता के संबंध में इस प्रथा का समर्थन करते हुए जो विचार अरस्तू ने प्रकट किये हैं वे सर्वथा त्रुटिहीन नहीं हैं और निम्नलिखित आधारों पर उनकी पर्याप्त आलोचना की जा सकती है :

५.१ अरस्तू यह बतलाने में सर्वथा असफल रहा है कि दासता का अधिकारी कौन है और स्वामित्व का अधिकारी कौन। जब तक यह स्पष्ट न हो जाय कि दासता और स्वामित्व के तत्व किसमें हैं और किसमें नहीं तब तक जन्मजात दास और जन्मजात स्वामी को उसकी उचित संज्ञाएँ किस प्रकार दी जायेंगी।

५.२ अरस्तू ने यह कहा है कि दास को अपना व्यक्तितत्व स्वामी के व्यक्तितत्व में विलयित कर देना चाहिए। उसे दो शरीर एक आत्मा समझना चाहिए। यह कहकर अरस्तू ने दास को बिल्कुल पशुओं से भी निकृष्ट कोटि में रख दिया है।

५.३ यदि हम दासता की अरस्तूवादी परिभाषा को मान लें तो उत्पत्ति के साधनों

के रूप में जितने श्रमजीवी कार्य करते हैं—वे सब के सब दास हो जाते हैं। आधुनिक श्रमजीवी इस स्थिति को किसी भी दशा में स्वीकार करने के लिये राजी न होगा।

५.४ अरस्तू ने एक स्थल पर यह भी कहा है कि दास को स्वामी का अपना मित्र समझना चाहिए। यह नहीं हो सकता क्योंकि जो स्वामी दास को पशुओं की श्रेणी में पहुँचा देता है उसे दास अपना मित्र कभी नहीं मान सकता। दास अपना व्यक्तित्व पूर्णतः स्वामी में विलयित कभी नहीं कर सकता क्योंकि उसकी अपनी निजी भावनाएँ और अनुभूतियाँ भी होती हैं। वह परिस्थिति-वश शारीरिक दृष्टि से भले ही गुलामी करता रहे किन्तु वह मानसिक दृष्टि से पूर्ण आत्मसमर्पण के लिये शायद ही कभी राजी किया जा सके।

५.५ अरस्तू ने दासता का सिद्धान्ततः समर्थन करके मानव-समानता और स्वाधीनता की समस्त कल्पनाओं के उद्‌गम-द्वार पर एक जबर्दस्त प्रहार किया है।

५.६ दासता संबंधी अरस्तू के विचार एक दूसरे का खण्डन भी करते हैं। एक ओर तो वह कहता है कि दास स्वामी से बुद्धि के क्षेत्र में हीन होता है और दूसरी ओर कहता है कि यदि दास को उचित अवसर दिया जाय तो वह उन्नति भी कर सकता है और इस उन्नति के उपरान्त वह अपनी मुक्ति का अधिकारी है।

इतने पर भी अरस्तू को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने उन लोगों के विरुद्ध आवाज उठायी जो पूरी-पूरी जातियों को दास बनाने का व्यापार किया करते थे और उसे अपना अधिकार—विधिसम्मत अधिकार—समझते थे। अरस्तू ने स्वाभाविक दासता का समर्थन किया है, विधिसम्मत दासता का नहीं। अरस्तू यूनानियों की श्रेष्ठता में विश्वास करता था। इसलिये उसने यूनानियों को युद्धबंदी हो जाने के कारण दास बना लिये जाने का भी विरोध किया है। उसने सॉफिस्टों तथा सिनिक्स के दासता-विरोधी विचारों का भी खण्डन किया क्योंकि वे नगर-राज्यों की आर्थिक व्यवस्था के मूल आधार को ही नष्ट किये दे रहे थे। इस प्रकार एक बार दासता संबंधी विचारों में अरस्तू को हम मध्यमार्ग का अवलम्बन करते हुए पाते हैं और देखते हैं कि वह किस प्रकार दो उग्र विचारधाराओं का विरोध करते हुए एक "सम्यक्" मध्यमार्ग का समर्थन करता है।

६. नागरिकता

अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' की तीसरी पुस्तक में अरस्तू ने नागरिकता की परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। नागरिकता का प्रसंग इस प्रकार छिड़ता है। पहले अरस्तू स्वयं ही यह प्रश्न करता है कि "राज्य क्या है?" और फिर स्वयं ही उत्तर भी देता है। वह कहता है "बाह्य दृष्टि से राज्य नागरिकों का एक समूह है।" इसके उपरान्त प्रश्न उठता है कि नागरिक कौन है?" नागरिकता की क्या परिभाषा है? अरस्तू इसका उत्तर निश्चयात्मक रूप में न देकर निषेधात्मक रूप से देता है। पहले वह बतलाता है कि किन-किन दशाओं में किसी व्यक्ति को नागरिक नहीं माना जायगा। अरस्तू ने किसी व्यक्ति को राज्य में रहते हुए भी नागरिक न मानने की चार दशाएँ बतलायी हैं :

६.१ किसी राज्य विशेष में रहने से ही मनुष्य को उसकी नागरिकता नहीं मिल जाती क्योंकि राज्य में तो विदेशी और दास भी रहते हैं, किन्तु वे हर दशा में नागरिकता से वंचित ही रखे जाते हैं।

६.२ न्यायालयों में न्याय की याचना करने के अधिकार से भी नागरिकता नहीं मिल जाती क्योंकि यह अधिकार विदेशी भी संधि द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।

६.३ मताधिकार से वंचित या निष्कासित व्यक्ति भी राज्य के नागरिक नहीं माने जायँगे, और

६.४ नागरिकता वंशानुगत क्रम से ही मिलनेवाली वस्तु भी नहीं मानी जा सकती।

नागरिकता को अरस्तू ने दो पक्षों में विभक्त किया है। पहला पक्ष तो यह है कि किसी व्यक्ति को नगर के राजकार्य में भाग लेने का अधिकार हो—और यह अधिकार अनिश्चित काल के लिये हो। दूसरे, उसे निवास, न्याय-प्राप्ति या न्याय-याचना आदि के अधिकार प्राप्त हो; किन्तु इन अधिकारों को अरस्तू ने गौण स्थान दिया है। नागरिक का एक मुख्य गुण अरस्तू ने यह बतलाया है कि उसमें शासक और शासित दोनों बन सकने के गुण होने चाहिए। नागरिक के लिये अरस्तू ने परिवार और पर्याप्त अथवा सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति भी आवश्यक बतलायी है जिससे वह राज्य-कार्य में निर्द्वन्द्वतापूर्वक भाग ले सके। अरस्तू का मत है कि जिसके पास यथेष्ट सम्पत्ति न हो और जो शारीरिक श्रम द्वारा ही जीवन-निर्वाह करता हो उसे नागरिकता का अधिकार नहीं मिलना चाहिए।

प्लेटो की तुलना में अरस्तू के नागरिकता संबंधी विचार संकुचित हैं। प्लेटो अपने आदर्श राज्य में अशिक्षित तथा अराजनीतिक जनसमूहों को भी राज्य में रहने के कारण नागरिकता का अधिकार दे देता है लेकिन अशिक्षित एवं अराजनीतिक दासों तथा अन्य प्रकार के गरीबों तथा शरीर-श्रम पर जीवन यापन के लिये निर्भर रहनेवाले व्यक्तियों को अरस्तू अपने सर्वोत्तम राज्य में नागरिकता के अधिकार नहीं देता। परन्तु यदि और सूक्ष्म दृष्टि से दोनों दार्शनिकों के विचारों का अध्ययन किया जाय तो दोनों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होगा क्योंकि प्लेटो ने अपनी कल्पना के आदर्श राज्य में भी ऐसे नागरिकों को जो अशिक्षित और अराजनीतिक हैं केवल दार्शनिक शासक वर्ग के नागरिकों की आज्ञा पालन करते रहने का आदेश दिया है।

६.५ **आलोचना**—अरस्तू के नागरिकता संबंधी विचारों को यदि हम आलोचनात्मक दृष्टि से देखें तो हमें जो एक बात सबसे पहले स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ेगी वह यह है कि अरस्तू ने समाज को दो भागों में विभक्त कर दिया है, और वे भाग हैं—(१) शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूर और (२) उन मजदूरों द्वारा कमायी गयी सम्पत्ति पर मौज उड़ानेवाले आभिजात्य वर्ग के नागरिक। नागरिकता का यह दृष्टिकोण आधुनिक राष्ट-राज्यों के लिये कल्पनातीत है। दूसरे, अरस्तू ने प्रतिनिधि शासन की तो कल्पना ही समाप्त कर दी है। अरस्तू के नागरिकता संबंधी इस दृष्टिकोण का इतना महत्व अवश्य है कि इसमें मानव-बुद्धि की स्वाभाविक असमानता स्पष्ट रूप से प्रकाश में आ जाती है। इतना होते हुए भी उस दृष्टिकोण को अनुदारता के पाश से तो मुक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि नागरिकों का वर्ग धनिकों का वर्ग होगा। वह धनिकों के विपक्ष में राज्य द्वारा कोई विधि पारित न होने देगा और इस प्रकार राज्य का शासन अयोग्य धनिक वर्ग के हाथ में रहेगा और वह वर्ग केवल अपने ही वर्ग के लोगों के हित में काम करेगा—राज्य के सब निवासियों के लाभ के लिये नहीं।

७. सर्वोत्तम राज्य (The Best State)

प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी सर्वोत्तम राज्य की कल्पना की है। अरस्तू की दृष्टि से सर्वोत्तम राज्य वह राज्य है जिसमें शासन-तंत्र का नियंत्रण मध्यवर्ग के हाथ में रहता है। संस्कृत की कहावत "अति सर्वत्र वर्ज्यते" की भाँति उसने उग्रता और अति को प्रत्येक स्थल पर निषिद्ध बतलाया है। मध्यम मार्ग को अरस्तू ने "स्वर्ण-पथ" कहा है। उदाहरण के लिये धन की विपुलता मनुष्य को अशिष्ट बना देती है और बहुत अधिक धनिकों के बच्चे

आज्ञाकारिता को आवश्यक गुण नहीं मानते और वे अक्षम एवं अदक्ष बने रहते हैं। इसके विपरीत दरिद्रता अत्यधिक दासता अथवा परोपजीवी मनोवृत्ति उत्पन्न कर देती है और फिर इस प्रकार के वातावरण में रहे व्यक्ति के लिये शासकों जैसी गरिमा अपने व्यक्तित्व में लाना असंभव हो जाता है।

७·१ **राज्यों का वर्गीकरण**––अरस्तू ने विभिन्न राज्यों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है: (१) आदर्श राजतंत्र, (२) विशुद्ध आभिजात्यतंत्र, (२) मिश्रित आभिजात्य तंत्र, (४) प्रजाराज्य (मध्यवर्गतंत्र), (५) अति सहिष्णु प्रजातंत्र, (६) अति सहिष्णु अयोग्य धनिकवर्ग तंत्र (७) प्रजातंत्र और अयोग्य धनिक तंत्र के बीच के शासनतंत्रों की दो प्रजातंत्र दशाएँ तथा (८) उग्र प्रजातंत्र और (९) निरंकुश राजतंत्र।

अरस्तू ने प्रथम तीन प्रकार के राजतंत्रों को आदर्श बतलाते हुए उन्हें सामान्यत: व्यावहारिक नहीं माना है किन्तु चौथे प्रकार के शासनतंत्र को–जिसे प्रजाराज्य (Polity) या मध्यमवर्गतंत्र कहा है––व्यावहारिक माना है। शेष पाँच प्रकार के शासनतंत्र किसी एक वर्ग के हित का ही पोषण एक न एक रूप में करते हैं; अत: उनको अनपेक्षित बतलाया गया है। इस प्रकार ९ प्रकार के राज्यों में अरस्तू ने मध्यवर्ग तंत्र वाले प्रजाराज्य को ही ऐसा सर्वोत्तम राज्य माना है जो सब प्रकार से व्यावहारिक हैं।

७.२ **राज्य और शासन**––अरस्तू ने राज्य (State) और शासन (Govern-ment) का अन्तर भी स्पष्ट किया है। इस अन्तर को स्पष्ट करने में अरस्तू ने अपनी वैज्ञानिकों-जैसी सूक्ष्मतादर्शिनी बुद्धि आ परिचय दिया है। विचारक ने वतलया है कि राज्य तो नागरिकता का समूह है और शासन (Government) नागरिकों का वह वर्ग है जिसके हाथ में राज्य की सर्वोच्च सत्ता रहतो है। शासनतंत्र को एक नागरिक वर्ग के हाथ से राजसत्ता छीनकर दूसरे नागरिक-वर्ग के हाथ में दे देने से बदला जा सकता है लेकिन राज्य के स्वरूप को राज्य का संविधान (Constitution) बदलने से ही परिवर्तित किया जा सकता है। राज्य का स्वरूप संविधान के स्वरूप पर निर्भर करता है। तब संविधान क्या है? संविधान की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने लिखा है, "संविधान में राज्य के अंगों की व्यवस्था, उनके बीच अधिकारों की वितरण-संप्रभुता की स्थिति और उस राज्य के लक्ष्यों का विवरण रहता है।" राज्य के लक्ष्यों की पूर्ति को अरस्तू ने राज्य का प्राथमिक कर्तव्य बतलाया है। राज्य के संविधान में परिवर्तन हो जाने से यदि नया राज्य चाहे तो वह गत राज्य के उत्तरदायित्वों से एक घोषणा द्वारा मुक्ति पा सकता है।

७.३ **शासन**––शासन या शासनतंत्रों पर विचार करते हुए अरस्तू ने उनके संघठन के तीन आधारतत्व माने हैं और वे हैं:––(क) जन्म, (ख) धन और (ग) संख्या। विभिन्न प्रकार के राज्यों के शासनतंत्र इन्हीं में से किसी एक तत्व पर आधारित होते हैं अथवा किन्हीं दो तत्वों के मिश्रण से निर्मित होते हैं। जन्म पर राजतंत्र आधारित होता है किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि एक राजा संभवत: अत्यन्त योग्य सिद्ध हो और उसका उत्तराधिकारी निपट अयोग्य हो जाय। दूसरे धन पर आधारित आभिजात्यतंत्र आयोग्य भी हो सकता है क्योंकि केवल धन ही योग्यता या गुणसम्पन्नता का द्योतक नहीं है। संख्या पर आधारित शासनतंत्र के संबंध में अरस्तू का मत है कि कुल जनता की बुद्धि किसी एक वर्ग की बुद्धि अथवा एक व्यक्ति की बुद्धि से अधिक तीव्र होती है। जनता के साथ यह कठिनाई अवश्य है कि वह राजनीति के गहन विषयों का सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन कर उन पर अपने निर्णय नहीं दे सकती, लेकिन इतना अवश्य है कि जनता सामान्य बुद्धि से अपने हित-अहित का उचित निर्णय कर सकती है। यही कारण है कि अरस्तू जहाँ एक ओर बौद्धिक वर्ग के शासक होने का समर्थक है, वहाँ वह यह भी कहता है कि सत्ता सम्पूर्णत: जनता में

केन्द्रित होनी चाहिए। लेकिन जनता भी अशुद्धियों और त्रुटियों से मुक्त नहीं है—इसलिए शासन में विधि की संप्रभुता (Sovereignty) का उसने समर्थन किया है। अरस्तू विधि को गणों का साक्षात् प्रतीक मानता है।

७.४ **शासनतंत्रों का वर्गीकरण**—यह जान लेने के पश्चात् कि शासन या शासनतंत्र क्या है—अब हम अरस्तू के शासनतंत्रों के वर्गीकरण पर संक्षेप में विचार करेंगे। इससे हमें अरस्तू के सर्वोत्तम राज्य के शासनतंत्र का ज्ञान हो जायगा। शासनतंत्रों के वर्गीकरण में अरस्तू ने निम्नलिखित दो तत्वों को दृष्टि में रखना आवश्यक बतलाया है। ये तत्व हैं—(१) संप्रभुता कितने व्यक्तियों तक सीमित है और (२) शासनतंत्रों का मूल लक्ष्य-बिन्दु क्या है? इन आधारों की कसौटी पर किसी भी शासनतंत्र को कसकर हम उसकी उपयोगिता या भ्रष्टता के संबंध में निर्णय कर सकते हैं।

उक्त दो तत्वों के आधार पर अरस्तू ने विभिन्न राज्यों के शासनतंत्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है:

(क) शासनतंत्रों का उपयोगी स्वरूप	**(ख) शासनतंत्रों का भ्रष्ट स्वरूप**
(१) राजतंत्र (Monarchy)	(१) निरंकुश राजतंत्र (Tyranny)
(२) आभिजात्यतंत्र (Aristocracy)	(२) अयोग्यधनिकतंत्र (Oligarchy)
(३) प्रजाराज्य का मध्यमवर्गीय तंत्र (Polity)	(३) समूहतंत्र (Democracy)

इन शासनतंत्रों के विभिन्न स्वरूपों पर यदि हम विचारपूर्ण दृष्टि डालें तो निम्न बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम, राजतंत्र सर्वोतम शासनतंत्र है क्योंकि उसका लक्ष्य अरस्तू के शब्दों में लोक-कल्याण है किन्तु राजतंत्र को यह विशेषता बरावर बनी नहीं रहती। इतिहास के अध्ययन द्वारा अरस्तू को यह परिणाम निकालने में अधिक कठिनाई नहीं हुई कि राजतंत्र शासन में, जो जन्म पर आधारित है, वंश-परम्परा का प्रथम शासक लोक-कल्याण का उतम चिन्तक हो सकता है और उसके बाद के एक-दो उत्तराधिकारी भी न्यूनाधिक रूप से उक्त गुण-सम्पन्न बने रह सकते हैं किन्तु कालान्तर में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाना कठिन नहीं है जिसमें बाद के उत्तराधिकारी लोक-कल्याण चिन्तक होने के बजाय स्वार्थ-चिन्तक अधिक हो जायँ और इस प्रकार लोकमान्य मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुए निरंकुश शासन स्थापित कर लें। इसी प्रकार आभिजात्यतांत्रिक शासन लोककल्याण तथा धनसम्पन्नता का मिश्रित स्वरूप है। जब कि अयोग्य धनिकतंत्र केवल धनिक वर्ग के हितों का ही प्रतिनिधित्व करता है और सामूहिक-कल्याण-कार्यों की अपेक्षा। प्रजाराज्य के मध्यमवर्ग तंत्र को अरस्तू ने श्रेष्ठ बतलाया है क्योंकि इसमें धनी और निर्धन, लोक-कल्याण तथा वर्गहित साधन दोनों का संतुलित अस्तित्व विद्यमान रहता है और सत्ता मध्यवर्ग के हाथ में रहती है। इसके विपरीत समूहतंत्र में सत्ता निर्धनों के हाथ में चली जाती है। बौद्धिकता का पतन हो जाता है और निर्धनता तथा बुद्धिहीनता के समस्त दुर्गुण उसमें आ जाते हैं।

७.५ **सर्वोत्तम राज्य का संविधान**—राज्यों के स्वरूप, शासन और राज्य का अन्तर, शासनतंत्रों के भेद, राज्य का संविधान आदि जान लेने के बाद हम लोग अब अरस्तू के सर्वोत्तम राज्य के संविधान पर विचार करेंगे। सर्वोत्तम राज्य के संविधान की चर्चा करते हुए[१] अरस्तू ने आदर्शवादिता और व्यावहारिकता का उत्तम मिश्रण किया है। संविधान के निर्माण में प्लेटो के 'लॉज' से अरस्तू ने उदारतापूर्वक सहायता ली है। अरस्तू ने सर्वोत्तम

१. Aristotle—*Politics*, Book VII and VIII.

राज्य के संविधान को पाँच भागों में बाँटा है जो इस प्रकार है--जनसंख्या, क्षेत्रफल, सामाजिक वर्गीकरण, राज्यवासियों का चरित्र और शिक्षा-व्यवस्था। सबसे पहले **जनसंख्या** की चर्चा करते हुए अरस्तू ने बतलाया है कि सर्वोत्तम राज्य की जनसंख्या कम से कम इतनी अवश्य होनी चाहिए कि वह अपनी आवश्यकता भर की जीवनोपयोगी सामग्री का उत्पादन कर ले। जनसंख्या का कोई न्यूनतम या अधिकतम अंक निर्धारित नहीं किया गया है किन्तु यह कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक एक दूसरे से इतना परिचित अवश्य होना चाहिए कि वह उसके बारे में आवश्यकता पड़ने पर कोई भी अच्छा या बुरा फैसला कर सके। **क्षेत्रफल** के संबंध में अरस्तू ने पुनः मध्यम मार्ग का "स्वर्णपथ" अपनाया है। क्षेत्रफल न तो इतना बड़ा होना चाहिए कि शासनाधिकारी उसकी समुचित व्यवस्था करने में असमर्थ और असफल हों और न इतना कम ही होना चाहिए कि राज्य के समस्त निवासियों को रहने-बसने और उपयुक्त जीवनोपयोगी सामग्री का उत्पादन करने के लिए भूमि का अभाव प्रतीत हो। भूमि इस प्रकार की होनी चाहिए कि वहाँ के रहने वालों को प्रवेश में कोई कठिनाई न हो लेकिन साथ ही विदेशी शत्रु उसमें सुविधा से प्रवेश न पा सकें। **सामाजिक वर्गीकरण** की दृष्टि से राज्य के निवासियों को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम, नागरिकों का वर्ग और द्वितीय, अनागरिकों का वर्ग। नागरिक वर्ग में तो सैनिक, सम्पन्न और धनिक, पुरोहित तथा शासक श्रेणी के लोग आते हैं तथा अनागरिक वर्ग में शारीरिक श्रम पर निर्भर रहनेवाले, खेतिहर, कारीगर तथा दास अर्थात् सेवक श्रेणी के लोग आते हैं। राज्य की अधिकांश भूमि नागरिक वर्ग की श्रेणियों में आनेवाले लोगों के पास रहेगी।[1] अरस्तू ने अपने सर्वोत्तम राज्य के **राज्यवासियों का चरित्र** भी निर्धारित किया है। इस बारे में अरस्तू का कहना है कि चरित्र और योग्यता की दृष्टि से राज्यवासी समस्त यूनानी गुणों से विभूषित होने चाहिए। उनमें बौद्धिकता और शौर्य का संतुलित एवं समुचित मिश्रण होना चाहिए। **शिक्षा** के संबंध में अरस्तू का कहना है कि वह राज्य के संविधान के अनुरूप होनी चाहिए। राज्य का जैसा लक्ष्य हो उसी के अनुसार नागरिकों तथा शेष राज्यवासियों को **शिक्षा** मिलनी चाहिए। राज्यवासियों का चरित्र तथा समाज का कण्ठ-स्वर बहुत कुछ शिक्षा पर ही निर्भर करता है। शिक्षा से ही बौद्धिक और शारीरिक सौन्दर्य और गुणों की अभिवृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त सर्वोत्तम राज्य की सुरक्षा, उसकी भौगोलिक स्थिति, जलपूर्ति-व्यवस्था आदि के संबंध में भी अरस्तू ने प्रकाश डाला है। अरस्तू ने यह भी बतलाया है कि शासन को तीन भागों में विभक्त होना चाहिए और वे हैं : (१) कार्यपालिका (Executive), (२) विधायिका (Legislature) और (३) न्यायपालिका (Judiciary)। विधि-निर्माण के लिए सर्वोच्च संस्थान एक विधान सभा को बनाया गया है जिसकी सदस्यता प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य बतलायी गयी है।

७.६ **आलोचना**--सर्वोत्तम राज्य की अरस्तू की कल्पना सर्वथा त्रुटिहीन नहीं है। यद्यपि इस कल्पना को व्यावहारिक रूप लेने के लिए मध्यम मार्ग के "स्वर्णपथ" का अवलम्बन किया गया है किन्तु यह कहने में राजदर्शन के किसी भी विद्यार्थी को शायद ही कोई हिचक हो कि इसकी कल्पना में दूरदर्शिता का अभाव है। अरस्तू ने सर्वोत्तम राज्य का काल्पनिक निर्माण करते समय अतीत की सामग्री से अधिक सहायता ली और भावी परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि अरस्तू का सर्वोत्तम राज्य देशराज्यों या राष्ट्रराज्यों के विकास की संभावनाओं की ओर संकेत भी नहीं करता--केवल नगर-राज्यों की तत्कालीन कल्पनाओं पर ही आधारित है। अतः इसका उपयोग आधुनिक

---

[1] Aristotle—*Politics*, Book VII and VIII.

राष्ट्रराज्यों या देशराज्यों के लिए लगभग बिलकुल ही नहीं किया जा सकता। नागरिकता संबंधी अरस्तू की परिभाषा जिसमें श्रमजीवियों को दासता के साथ बाँध दिया गया है, आजकल के समाजवादी लक्ष्यों की दिशा में बढ़नेवाले राज्यों को किसी प्रकार पसन्द नहीं आ सकती और प्रजातंत्रवादी राज्य भी उसको मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

अरस्तू के विचारों में कुछ बातें ऐसी हैं जो कालविजयी और सार्वभौमिक हैं और उनकी उपयोगिता कभी नष्ट नहीं हो सकती। जैसे मध्यम मार्ग की पुष्टि और अति का अथवा उग्रता का निषेध। आजकल का "नियंत्रण और संतुलन का सिद्धान्त" (Theory of checks and Balances) इसी पर आधारित है। जनसंख्या के नियोजन पर आधुनिक राष्ट्र राज्यों में भी ध्यान दिया जा रहा है। भूमि-वितरण को भी उपयुक्त प्रणालियाँ खोजी जा रही हैं। शिक्षा-व्यवस्थाओं को भी राज्य के नियंत्रण में रखा जाने लगा है। रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशों में तो शिक्षा-व्यवस्था पूर्णतः राज्याधीन है। अमेरिका तथा इंगलैंड में भी जो वैयक्तिक उद्यम के सिद्धान्त के पूँजीवादी देश हैं, शिक्षाव्यवस्था पर्याप्त मात्रा में राज्य के नियंत्रण में ही रहती है।

८. राजक्रान्तियाँ

'पॉलिटिक्स' नाम के अपने महाग्रंथ की पाँचवी पुस्तक में राजक्रान्तियों के संबंध में अरस्तू ने अपने विचार प्रकट करते हुए राजक्रान्तियों के होने के कारण और उनके निरोध के उपाय बतलाये हैं। अरस्तू ने राजक्रान्तियों के तीन स्वरूप बतलाए हैं। पहली प्रकार की राजक्रान्तियाँ तो ऐसी होती हैं जिनमें राज्य का क्रान्तिकारी तत्व बलपूर्वक शासन के अधिकारियों को अपदस्थ कर देता है तथा राज्य का रूप बदलने की कोई कोशिश नहीं करता, अर्थात् ऐसी राजक्रान्ति में सरकार बदल जाती है राज्य का संविधान नहीं बदलता।[1] दूसरे प्रकार की राजक्रान्तियों में सत्ता एक वर्ग से दूसरे वर्ग के हाथ में चली जाती है। जैसे रूसी क्रान्ति में धनी और राज-घराने के लोगों के हाथ से सत्ता निकलकर श्रमजीवी वर्ग के हाथ में चली गयी। तीसरी प्रकार की गति में ऐसी राजक्रान्तियाँ आती हैं जिनमें शासनतंत्र को नहीं बदला जाता अपितु व्यक्तियों को या व्यक्तियों के एक समूह को अपदस्थ कर दिया जाता है।

राजक्रान्तियाँ सामान्यतः तीन कारणों से होती हैं। वे हैं पद-लाभ, सम्मान-लाभ और समानता की आकांक्षा। यदि किसी राज्य में सब वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व तथा पद-भार वितरित किये जायँ तो उस राज्य में अपेक्षाकृत क्रान्ति होने का कम अवसर आयेगा। कभी-कभी राजक्रान्तियों के कारण राजकर्मचारियों की उद्धतता, पक्षपात, नियुक्तियों में योग्यता की तरफ ध्यान न देना आदि भी होते हैं। इनको सतर्कता द्वारा रोका जा सकता है — विभिन्न प्रकार के राज्यों में क्रान्तियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण होते हैं। उदाहरण के लिए समूहतंत्रों (Democracies) में कुछ नेता धनी वर्ग पर इतना अत्याचार करते हैं कि वे उनके विरुद्ध हो जाते हैं। अयोग्य धनिकतंत्र (Oligarchy) अयोग्यता तथा अपने वर्ग के अन्दर होनेवाले पारस्परिक संघर्षों के कारण क्रान्ति द्वारा अपदस्थ कर दिया जाता है। आभिजात्यतंत्र में भी कभी-कभी बुद्धिवादी नेताओं के मतभेद इतने बढ़ जाते हैं कि उनके कलह का लाभ उठाकर क्रान्तिकारी वर्ग उन्हें पदच्युत कर देता है। इनके संबंध में अरस्तू ने विरोध के कूटनीतिक उपाय बतलाये हैं जो मुख्यतः सतर्कता, दूरदर्शिता और समझदारी पर आधारित हैं।

[1] थाईलेंड में ऐसी राजक्रान्तियाँ बहुत होती हैं।

९. संप्रभुता

संप्रभुता (Sovereignty) का विधिगत (Legal) दृष्टिकोण अपेक्षाकृत राजदर्शन का नूतन विकास है। संप्रभुता के आधुनिक विधिगत दृष्टिकोण से यूनानी जगत् अपरिचित था। इसलिए अरस्तू को भी इसका आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के अनुरूप व्यवस्थित ज्ञान नहीं है। फिर भी सर्वोच्च राज-सत्ता के संबंध में उसने जो विचार यत्र-तत्र प्रकट किये हैं––उनको यहाँ संकलित रूप से उपस्थित किया जा रहा है। उसने '**पॉलिटिक्स**' में एक स्थल पर बतलाया है कि राज्य की सर्वोच्च सत्ता कहाँ स्थित रहनी चाहिए। इस प्रश्न पर विचार करते हुए भी अरस्तू ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। अरस्तू का कहना है कि यदि सर्वोच्च राजसत्ता (या संप्रभुता) निर्धनों के हाथ में चली जाती है तो वे उसका प्रयोग धनिक वर्ग को तंग करने के लिये करेंगे। यदि सर्वोच्च सत्ता केवल धनिक वर्ग के हाथ में रहती है तो वे ऐसी विधियाँ बनायेंगे जिससे निर्धन वर्ग को क्षति होगी। यदि वह एक व्यक्ति के हाथ में रहती है तो वह उसका अपने हितों के साधन के लिए उपयोग करेगा। ऐसी स्थिति में अरस्तू ने संप्रभुता की सबसे अच्छी स्थिति वह बतलायी है जहाँ वह मध्यम वर्ग के हाथ में रहे। अरस्तू की दृष्टि से संप्रभुता की स्थिति ही राज्य का स्वरूप निर्धारण करती है। जिस राजक्रान्ति से उच्चतम सत्ता या संप्रभुता की स्थिति नहीं बदलती वह केवल शासन-परिवर्तन के लक्ष्य से की गयी क्रान्ति है। अरस्तू ने संप्रभुता को आधुनिक विचारकों की भाँति विधि-विधायन (Legislation) की शक्ति तक ही सीमित नहीं कर दिया है। अरस्तू का यह भी कहना है कि राज्य की संप्रभुता स्वाभाविक विधि (Natural law) पर आधारित है। लोकप्रिय संप्रभुता का विचार अरस्तू के मस्तिष्क में नहीं था। लेकिन राज्य की सर्वोच्च सत्ता को अरस्तू ने विधि की मर्यादा-रेखा के पाश में बाँध दिया है। राजसत्ता या संप्रभुता चाहे जिस वर्ग, समूह या व्यक्ति के हाथ में हो उसे संप्रभुता की शक्ति का प्रयोग राज्य के विधियों की स्पष्ट आज्ञाओं की सीमारेखा में ही करना चाहिए।

१०. विधि और धर्म (Laws & Justice)

अरस्तू ने विधि को तर्कबुद्धि या विवेक का तटस्थ रूप माना है। उसने यह तो अवश्य कहा है कि विधियाँ (Laws) पौरुषेय या मनुष्य-निर्मित हैं अपौरुषेय नहीं; किन्तु वे स्वाभाविक हैं, अतएव जीवन-रक्षक तथा वर्धक हैं और अपने इस गुण के कारण उनका नैतिक मूल्य है। सभी यूनानियों की भाँति अरस्तू भी आचरण के सामान्य नियमों को जो विवेकजन्य होते हैं, स्वाभाविक विधियाँ (Natural laws) मानता है। विधियाँ सामाजिक अनुभवों और परिपक्व सामूहिक विद्वता और विवेक का प्रतिनिधित्व करती हैं। स्वाभाविक विधियों के नियमों तथा सिद्धान्तों का ध्यान विधि-निर्माण करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों को रखना चाहिए। विधि बन जाने के बाद राज्य के किसी नागरिक को यह अधिकार नहीं है कि वह विधियों का किसी भी आधार पर उल्लंघन करे। अरस्तू स्वाभाविक विधियों (Natural Laws) का तो समर्थक था लेकिन वह स्वाभाविक अधिकार (Natural Rights) नहीं मानता था ? विधि का शासन व्यक्ति या व्यक्तियों के शासन से अच्छा है। अच्छी या बुरी विधियों का बनना राज्य के संविधान पर निर्भर करता है।

धर्म संबंध। अरस्तू की कल्पना प्लेटो की भाँति ही थी। जिस प्रकार प्लेटो ने धर्म को गुणों का सक्रिय या व्यावहारिक रूप बतलाया था अरस्तू ने भी धर्म को उसी प्रकार माना था। अरस्तू का कहना था कि प्रत्येक नागरिक को समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों

की पूर्ति करनी चाहिए। सामान्य या पूर्ण धर्म या लोकधर्म वह है जो समग्र समाज में नैतिक-समन्वय स्थापित कर दे।

११. अरस्तू का अनुदाय और प्रभाव

अपने समय से लेकर आधुनिक काल तक अरस्तू ने विभिन्न युगों के विचारकों को अपनी मौलिक प्रतिभा तथा विचार-सम्पन्नता द्वारा प्रभावित किया है। राजनीति में ही नहीं आचार-शास्त्र, नैतिक-शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि क्षेत्रों में भी अतीत काल से अरस्तू के विचारों से प्रत्येक विचारक ने किसी न किसी रूप में सहायता अवश्य ली है। यह बात दूसरी है कि कभी अरस्तू के विचारों का खण्डन किया गया हो तो कभी मण्डन, लेकिन वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करते रहे हैं—यह कथन अविवादास्पद है। यहाँ हमें संक्षेप में देखना है कि राजदर्शन के क्षेत्र में अरस्तू का क्या अनुदाय है और उसका प्रभाव कहाँ तक पड़ा है।

इसमें संदेह नहीं कि अरस्तू की विचारधारा पर तत्कालीन यूनानी राजनीतिक परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। नगर-राज्य, दासता, नागरिकता, आदि संबंधी अरस्तू के विचारों पर यूनानी विचार-दर्शन की मुद्रा स्पष्टतः अंकित है। शिक्षा-पद्धति संबंधी उसकी विचारधारा भी स्पार्टा से प्रभावित है। अरस्तू एक यूनानी या फासिस्ट जर्मन विचारक की भाँति जाति-श्रेष्ठता में विश्वास करता है तथा यूनानी जाति से इतर जातियों को बर्बर कहता है और उनके दास बनाये जाने पर भी उसे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु इन्हीं यूनानी विचार-रेखाओं के ताने-बाने में सार्वभौमिकता की रक्तिम रेखा स्पष्ट रूप से चमकती दिखलायी पड़ती है। यदि विचार किया जाय तो सार्वभौमिकता के सिद्धान्त का आदि प्रवर्तन हमें अरस्तू में ही देखने को मिलेगा। संक्षेप में अरस्तू के अनुदायों का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है:

११.१ अधिकार और स्वतंत्रता के बीच संतुलन एवं समन्वय की शाश्वत आवश्यकताओं पर अरस्तू ने उचित बल दिया है। अधिकारों द्वारा सत्ता का भाव जागृत होता है। परन्तु मदोन्मत्त व्यक्ति बहुधा अधिकारों की सीमा का उल्लंघन कर अपने नाश के बीज बो लेता है। अरस्तू ने शासकों को मदान्धता से सावधान रहने की चेतावनी दी है। उसने स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि इसका अर्थ निस्स्वार्थ एवं सांविधानिक शक्तियों की सत्ता स्वीकार कर लेना है। विधि के प्रति प्रत्येक नागरिक में पूर्ण आज्ञापालन का भाव होना चाहिए। अरस्तू यह नहीं मानता कि स्वतंत्रता का अर्थ सब प्रकार के निषेधों का अभाव होता है। वह यह भी विश्वास नहीं करता कि सब व्यक्ति समान होते हैं। सब व्यक्तियों की क्षमताओं को बराबर समझने वाला समानता का सिद्धान्त अरस्तू की दृष्टि से अराजकताजनक है।

११.२ **संप्रभुता संबंधी विचार**—विधि की संप्रभुता का समर्थन करने वाले अरस्तू के विचार युगों के आवरणों को लाँघकर सुदूर भविष्य को भी देख लेनेवाली सूक्ष्म-दर्शिनी बुद्धि का परिचय देते हैं। विधि को उच्चतम स्थान देने का समर्थन करके अरस्तू ने अपने आपको आधुनिक विचारकों की कोटि में रख लिया है। विधियों को उच्चतम मान्यता देने के बाद अरस्तू ने बहुमत की क्रूरता एवं निरंकुश शासकों की स्वच्छन्दता से सर्वथा मुक्ति दिला दी है।

११.३ आधुनिक युग में लोकमत को बड़ा महत्व दिया जाता है किन्तु मूलतः लोकमत की वर्तमान श्रेष्ठतम स्थिति में **प्रतिष्ठा** करने का श्रेय अरस्तू को ही है।

११.४ अरस्तू ने "निर्णयात्मक उच्चतम शक्तियुक्त मानव"[1] का महत्व पहले ही अनुभव कर लिया था। यही वस्तु बाद में ऑस्टिन की संप्रभुता की परिभाषा के रूप में सामने आयी।

११.५ शासनतंत्र के अंगों का विभक्तीकरण सबसे पहले अरस्तू ने ही किया था। अरस्तू ने यह बतलाया कि प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि उसे कार्यपालिका (Executive), न्यायपालिका (Judiciary) और विधान मंडल (Legislature)——इन तीनों अंगों में विभक्त कर दिया जाय। यही विभक्तीकरण का सिद्धान्त **मॉण्टेस्क्यू** के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त (Theory of separation of power) के रूप में हमारे सामने और अधिक विकसित रूप में आया।

११.६ अरस्तू ने यह बतलाया कि राजनीतिक संस्थानों के नाश और निर्माण में आर्थिक तत्वों का भी बड़ा हाथ रहता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विचार-दर्शन में यह बात पूर्ण रूप में सामने आती है। मार्क्स ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि स्मरणातीत काल से लेकर अब तक जो भी राजनीतिक उथल-पुथल हुई हैं उनका एकमात्र संचालन-बिन्दु आर्थिक शक्तियों का स्थान-परिवर्तन होना ही रहा है।

११.७ अरस्तू ने मध्यम मार्ग का सुनहला सूत्र राजदर्शन के आचार्यों के हाथ में दिया। उसी के परिणामस्वरूप आधुनिक काल में नियंत्रण और संतुलन का सिद्धान्त विकसित हुआ।

११.८ यूनानी विचारकों में अरस्तू पहला उच्चकोटि का व्यक्तिवादी विचारक था। इस दृष्टि से यदि आधुनिक व्यक्तिवादी (Individualistic) विचारधारा का जनक अरस्तू को बतलाया जाय तो कोई आश्चर्य नहीं है।

बहुधा अरस्तू को आधुनिक राजनीतिशास्त्र का जनक, प्रणेता या पितामह कहा जाता है। ये संज्ञाएँ और विशेषण अरस्तू के उल्लिखित अनुदायों के प्रमाण तो हैं ही——साथ ही वे इस बात की ओर भी संकेत करते हैं कि वह राजनीति को कितना अधिक महत्व देता था। इसमें संदेह नहीं कि व्यवस्थित राजनीतिक विचार का इतिहास यूरोपियन दर्शन में अरस्तू से ही आरंभ होता है। इसमें संदेह नहीं कि प्लेटो ने भी राजदर्शन में कुछ अमूल्य विचार-रत्न दिये। किन्तु प्लेटो की राजनीति की रासायनिक शोध की जाय तो उसमें राजनीति के अलावा अन्य कई शास्त्रों के तत्व भी मिलते हैं। इसके विपरीत अरस्तू ने राजनीति को अन्य शास्त्रों के तत्वों से बिल्कुल अलग कर दिया। उसने आचारशास्त्र को व्यक्तियों के आचरणों को नियमित करनेवाले शास्त्र तक ही सीमित रखा और राजनीति को सामूहिक या सामाजिक कल्याण का साधन माना। अर्थशास्त्र अरस्तू के अनुसार पारिवारिक कल्याण का चिन्तन करनेवाला शास्त्र है और वह राजनीति के बाद आता है। आचार-शास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बीच अरस्तू ने राजनीतिशास्त्र को श्रेष्ठतम स्थान दिया है। यही कारण है कि अरस्तू को राजनीतिशास्त्र का जनक कहा जाता है। राजनीतिशास्त्र की वर्तमान स्वतंत्र स्थिति अरस्तू की ही देन है। प्लेटो की भाँति अरस्तू ने आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र को एक विषय नहीं माना है और न एक ग्रंथ में ही उनके संबंध मे विचार किये हैं। उसने दोनों को अलग-अलग विषय मानते हुए अलग-अलग ग्रंथों में दोनों पर विचार प्रकट किये हैं। अरस्तू के विचार सुस्पष्ट, परिणाम तर्कसंगत और व्यवहार योग्य होते हैं। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

---

१ Determinate human superior.

अरस्तू के राजनीतिक विचारों का प्रभाव अपने समय की राजनीति पर तो पर्याप्त मात्रा में पड़ा ही था किन्तु बीच में एक ऐसा समय भी आया जब अरस्तू की **'पॉलिटिक्स'** नाम की पुस्तक लुप्त-सी हो गयी। मध्ययुग में रोमन विचारकों में से किसी एक विद्वान् ने **'पॉलिटिक्स'** का लैटिन में अनुवाद किया। चर्च (गिर्जा) के पादरियों ने इसका गहन अध्ययन किया और अरस्तू को "विद्वानों का गुरु" (Master of those who know) माना। यह तेरहवीं शताब्दी की बात है। आगे जब हम पादरी **टामस एक्वोनाज** के विचारों का अध्ययन करेंगे तब हमें ज्ञात होगा कि अरस्तू के दर्शन का **सेण्ट टॉमस एक्वीनाज** पर कितना प्रभाव पड़ा। अरस्तू की भाँति एक्वोनाज का भी विश्वास है कि विधि ही विवेक है। दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि सर्वोत्तम शासनतंत्र वही है जो विधि पर आधारित हो अर्थात् जिसका मूल आधार बुद्धि और विवेक हो। इस प्रकार धार्मिक विचारधारा के विचारकों पर अरस्तू का कितना प्रभाव पड़ा यह बात एक्वोनाज के विचारों से प्रकट हो जाती है। लेकिन इतना ही नहीं, अरस्तू के विचारों ने चर्च विरोधी विचारकों को भी प्रभावित किया। **मार्सीलिओ ऑफ पेडुआ** की पुस्तक "**डिफेन्सर पेसीज**" के अध्ययन से यह धारणा प्रमाणित हो जाती है। **दाँते** ने भी अरस्तू की "**पॉलिटिक्स**" में प्रकट किये गये विचारों के अध्ययन से हुए लाभ के लिये कृतज्ञता प्रकट की है। मध्ययुग का सबसे अधिक प्रसिद्ध विचारक **मैकिश्रावली** था। **मैकियावली** ने अपने ग्रंथ "**प्रिंस**" में राजा और व्यक्ति—दोनों के लिये आचरण की भिन्न कसौटियाँ निर्धारित की हैं। यह प्रभाव स्पष्टतः अरस्तू का ही है क्योंकि अरस्तू ने आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र को दो भिन्न विषयों के रूप में जगत के सामने रखा था।

आधुनिक काल में **बोदां, हेरिंगटन** तथा **मांटेस्क्यू** ने अरस्तू के विचारों का पर्याप्त उपयोग किया है और अपनी विचार-सामग्री के लिये वे अरस्तू के काफी ऋणी हैं। माण्टेस्क्यू का शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त तो अरस्तू के शासनतंत्र के अंगों के विभक्तीकरण का ही विकसित रूप है। **हीगल** ने कहा कि किसी देश का संविधान "उस राज्य की आत्मचेतना' का ही प्रतिनिधित्व करता है। इस कथन की विचार-रेखाओं का मूल हमें स्पष्टतः अरस्तू के संविधान संबंधी विचारों में दिखलायी पड़ता है। संभवतः यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि अरस्तू के संप्रभुता संबंधी विचार हो **ऑस्टिन** की संप्रभुता की परिभाषा के मौलिक आधार हैं। **कार्ल मार्क्स** ने कहा है कि राजनीतिक उथल-पुथलों में आर्थिक तत्वों का ही हाथ मुख्यतः रहता है। इसका उद्गम भी अरस्तू में खोजा जा सकता है।

१२. एपीक्योरियन विचारक

प्लेटो और अरस्तू को पढ़ने के बाद एपीक्योरियन विचारधारा के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि हम सॉफिस्टों के युग में पुनः वापस चले गये हैं। एपीक्योरियन विचारधारा मुख्यतः व्यक्तिवादी है और उसका केन्द्रीय भाव यही रहता है कि राजनीति से जहाँ तक संभव हो, दूर रहा जाय। अरस्तू तथा उसके गुरु प्लेटो ने जहाँ एक ओर यह शिक्षा दी थी कि राज्य ही व्यक्ति के जीवन को सुखी करने का सबसे बड़ा साधन है, वहाँ एपीक्योरियन विचारकों ने बतलाया कि ऐसी कोई बात नहीं है। व्यक्ति अपने निजी हित की चिन्ताओं में लगा रह सकता है—और राजनीति में भाग न लेने से या न्यूनतम भाग लेने से उसे कोई विशेष क्षति नहीं होती। एपीक्योरियन विचारक राजनीतिक जीवन के विकास के बजाय आध्यात्मिक और पारमार्थिक जीवन के विकास पर अधिक बल देते हैं।

१२.१ **जन्म और विकास**—इस विचारधारा के संस्थापक के रूप में एपीक्योरस (ई० पू० ३४२) का नाम लिया जाता है। किन्तु इसका प्रतिनिधि विचारक **ल्यूक्रीशस**

नाम का एक रोमन कवि है। एपीक्योरियनों का जीवनदर्शन व्यक्तिगत आनन्द की प्राप्ति था। वे यह व्यक्तिगत आनंद भौतिक आवश्यकताओं को न्यनतम करके तथा आत्मसाधना द्वारा प्राप्त करने के पक्षपाती थे। **एपीक्योरस** का कहना था कि सब यही चाहते हैं कि उन्हें कम से कम दुःख और अधिक से अधिक सुख मिले। इस भौतिक संसार में कम से कम दुखी होने का मार्ग यही है कि भौतिक सम्पदाओं से न्यूनतम लगाव रखा जाय। ल्यूक्रीशस का कहना था कि व्यक्ति यदि सच्चे आत्मानंद को अनुभव करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह सामाजिक गतिविधियों से दूर रहे, परिवार में न रहे। उसे केवल मित्रता करनी चाहिए। उनका कहना था कि मनुष्य पहले कुछ इच्छाएँ करता है। इच्छाएँ उसे पूर्ति के लिये प्रयत्न करने को प्रेरित करती हैं और जब वह अपने प्रयत्नों में असफल हो जाता है तो दुखी होता है। इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। इसलिये बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह इच्छा ही न करे। इस प्रकार वह कष्टों से और दुखों से बचा रहेगा। जीवन के व्यवहारों में केवल आवश्यकता भर के लिये ही प्रवेश किया जाय। भौतिक जीवन की हलचलों से दूर रहने पर जो भी समय व्यक्ति को मिले वह उस समय को अपनी आध्यात्मिक अन्तरंग उन्नति में लगाये। वे आनन्द चाहते थे किन्तु भौतिक जगत के सुखों से दूर भागते थे।

१२.२ **मानव स्वभाव**—एपीक्योरियनों ने मानव-स्वभाव को मूलतः स्वार्थी माना है। स्वार्थी होने के कारण वे मानव प्रकृति को संकीर्ण और संकुचित मानते हैं और जहाँ तक मानव-स्वभाव की अन्य बातों का संबंध है, हॉब्स का उनसे पूरा-पूरा मेल बैठ जाता है।

१२.३ **राज्य की उत्पत्ति**—क्योंकि मानव स्वभाव से ही स्वार्थी होता है, इसलिये उसे राज्य के अभाव में कष्ट उठाने पड़ते हैं। अतः वह आपस के समझौते से एक ऐसी शक्तिमान सत्ता स्थापित करता है जो लोगों को अन्याय और अत्याचार करने से रोकती है। इस शक्ति की स्थापना ही राज्य की स्थापना है। शासन, विधियाँ और न्याय आदि उसी उद्देश्य की सिद्धि के साधन हैं। एपीक्योरियन इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के मामले में अनुबंध के सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। वे ऐसे किसी भी राज्य को मानने के लिये तैयार है जो शान्ति और व्यवस्था की रक्षा कर सकता हो। उनको इस बात से कोई संबंध नहीं है कि शासन दयालु है या स्वच्छन्द।

एपीक्योरियनों की विचारधारा इस प्रकार यूनान की पतनशील विचार-प्रवृत्तियों की ओर निर्देश करती है। एपीक्योरियनों ने जहाँ एक ओर राज्य की उत्पत्ति के मामले में समझौते के सिद्धान्त की ओर चरण बढ़ाये हैं, वहीं दूसरी ओर मनुष्य का लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना बताकर उन्होंने **बैन्थम** और **मिल** की व्यक्तिवादी उपयोगितावादी विचारधारा की भी नींव रखी।

१३. स्टोइक विचारधारा

स्टोइक-विचारकों का दर्शन विवेक-बुद्धि (Reason) से आरंभ होता है। वे लालसाओं या वासनाओं (Passions) से एपीक्योरियन-विचारकों की भाँति अपना विचार दर्शन आरंभ नहीं करते। स्टोइक्स 'सत्यं शिवम्' चाहते थे। वे ऐसे आनन्द को प्राप्त करने के प्रयत्न में संलग्न रहते थे जो स्थायी हो। वासनाएँ या उनको शान्त करने वाले साधन स्थायी नहीं होते हैं। बहुधा वासनाओं से या वासनाओं को शान्त करने वाली सामग्री से कष्ट ही होता है। इन्द्रियों का सुख स्थायी नहीं होता। स्टोइक विचारकों का ध्यान मुख्य रूप से पारलौकिक कल्याण पर केन्द्रित रहता था। वे नैतिकता और प्रकृति को समान बतलाते हुए कहते थे कि प्राकृतिक नियमों या विधियों का पालन ही नैतिक आचरण है तथा उनके विरुद्ध चलना ही अनैतिकता।

१३.१ स्टोइक विचारधारा के जन्मदाता—इस विचारधारा की मुख्य बातों को जान लेने के बाद अब इसके जन्मदाताओं के विषय में भी थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर लेना अच्छा होगा। इस विचारधारा का मख्य प्रवर्तक **जेनो** (ई० पू० ३२ में मृत्यु) था। **जेनो** ने इस विचारधारा के अन्तर्गत दो मुख्य सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया। इनमें से पहला सिद्धान्त था प्राकृतिक 'विधि' और दूसरा सार्वदेशिकता। सार्वदेशिकता (Cosmopolitanism) का इतिहास सिनिक विचारकों से आरंभ होता है, किन्तु सिनिक विचारकों के युग में उसका पनपना कठिन था। वह सिद्धान्त जेनो के समय में ही फल-फूल सका क्योंकि उस समय तक सिकन्दर महान् की विजयों ने सार्वदेशिकता के सिद्धान्त के लिये वातावरण तैयार कर दिया था। जेनो के बाद सिसेरो, सेनेका और मारकस आरेलियस आदि ने इस विचारधारा का प्रतिपादन किया और जेनो की सार्वदेशिकता के सिद्धान्त को मानवतावादी सिद्धान्त में बदल दिया।

१३.२ प्रकृति और प्राकृतिक विधियाँ—स्टोइक विचारक प्रकृति को सर्वोत्कृष्ट निर्देशक मानते हैं। उनकी दृष्टि से प्रकृति "उस एक और अविभक्त शक्ति की प्रतीक है जो इस संसार के प्रत्येक भौतिक पदार्थ में विद्यमान है और जिसके द्वारा सब पदार्थ एक दूसरे से संबद्ध हैं तथा जिनका आधार उचित विवेक है।" इसलिये प्रकृति में जीवन तथा विकास के संबंध में जिन नियमों का पालन हम देखते हैं—वही मनुष्य के भी जीवन-रक्षक हैं, अतः नैतिक हैं और इसी नैतिकता का पालन मनुष्य को करना चाहिए। स्टोइक विचारकों का यह मत था कि प्राकृतिक नियम या विधियाँ सार्वभौमिक होती हैं। इसका अर्थ यह था कि वे कहीं भी बदलती नहीं हैं। वे काल और देश के बंधनों से मुक्त हैं। वे अलौकिक या दैवी हैं क्योंकि उनकी रचना करना या नष्ट करना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है। प्राकृतिक विधियों द्वारा ही हम सभी प्राकृतिक पदार्थों में उचित समन्वय और सामंजस्य देखते हैं। अतएव, यह सिद्ध होता है कि उनकी पृष्ठिभूमि में कोई तर्कबुद्धि है जो विवेकपूर्वक सब पदार्थों का इस जगत् में उचित स्थान निर्धारण करती है। अतएव प्राकृतिक विधियों को कार्यान्वित करनेवाली शक्ति मनुष्य के विवेक के विरुद्ध नहीं जा सकती। वस्तुतः मनुष्य के स्वभावगत विवेक का बाह्य रूप प्राकृतिक विधियों में दृष्टि-गोचर होता है। इस प्रकार मनुष्यमात्र के लिये प्राकृतिक विधियों का पालन नैतिक उपयोग का बताकर स्टोइक विचारकों ने कहा कि शासनों (Governments) द्वारा बनायी जानेवाली नागरिक विधियों (Civil Laws) का आधार भी प्राकृतिक विधियों को ही होना चाहिए क्योंकि प्राकृतिक विधियाँ संप्रभु और अपरिवर्तनीय होती हैं। यही कारण है कि स्टोइक विचारकों ने एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं माना है। उनकी दृष्टि से यूनानी और बर्बर तथा असभ्य जातियों के मनुष्य समान हैं यही उनका सार्वभौमिकता (Cosmopolitanism) का सिद्धान्त है।

इस प्रकार यूनानी विचारदर्शन में पहली बार स्टोइक विचारधारा के अन्तर्गत प्राकृतिक विधियों को इतना सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया गया है।

१३.३ मानव स्वभाव—स्टोइक विचारकों का कहना था कि मानवता को यदि सामूहिक रूप में देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि वह अदूरदर्शी, स्वार्थी एवं वासनाओं की दास है किन्तु यदि व्यक्ति के अनुरूप मानव-स्वभाव का विश्लेषण किया जाय तो अंतिम तत्व यह निकलेगा कि वह स्वहिताकांक्षी है। वह अपनी भलाई चाहता है—अपना कल्याण चाहता है। इस दृष्टि से एपीक्योरियनों तथा स्टोइक विचारकों में कोई विशेष भेद नहीं प्रतीत होता किन्तु दोनों की पद्धतियों में अन्तर है। जहाँ एपीक्योरियन मानव-स्वभाव की जागतिक वासनाओं तथा लालसाओं की पूर्ति की भी थोड़ी-सी अनुमति देते हैं, स्टोइक

विचारक व्यक्ति को समाज से बिलकुल संबंध तोड़ लेने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। उनका धर्म व्यक्ति का धर्म है, समाज या लोकधर्म नहीं है। वे व्यक्ति को श्रेष्ठतर स्थिति में पहुँचाकर उसके स्वभाव को समाज की सब गतिविधियों के प्रति तटस्थ बना देना चाहते हैं । वे व्यक्ति को ही इकाई मानते हैं। स्टोइक विचारकों का कहना था कि अपनी मंगल-कामना के स्वभाव से प्रेरित होने के कारण मनुष्य स्वयं भी समाज की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत विकास तथा उन्नति की ओर अधिक ध्यान देता है। वे मानव-स्वभाव के इसी पक्ष को और सबल बनाना चाहते थे।

१३.४ **समाज और राज्य**—समाज और राज्य के प्रति व्यक्ति के संबंधों का विवेचन करते हुए स्टोइक विचारकों ने बतलाया था कि व्यक्ति की स्वतंत्रता आवश्यक होते हुए भी वह समाज से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। अतएव उसे समाज को और कालान्तर में राज्य को भी एक "अनिवार्य बुराई" के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।

१३.५ **स्टोइक तथा एपीक्योरियन विचारकों की समानताएँ और असमानताएँ**—स्टोइक तथा एपीक्योरियन दोनों ही विचारधाराओं के प्रवर्तक **व्यक्तिवाद** के समर्थक हैं और दोनों ही **व्यावहारिक जीवन** की शिक्षाएँ देते हैं। दोनों ने ही यह भी माना है कि **राजनीतिक व्यवस्था** तथा **राज्य**—ये दोनों **बुराइयाँ** हैं और इनसे जहाँ तक हो सके बचना चाहिए।

स्टोइक विचारक **विवेक-बुद्धि** पर बल देते हुए यह कहते हैं कि मनुष्य को या व्यक्ति को अपना श्रेष्ठतम कल्याण पहले देखना चाहिए जब कि एपीक्योरियन सुखी जीवन को श्रेष्ठतर स्थान देते हैं। एपीक्योरियनों का लक्ष्य व्यक्ति को अधिक से अधिक सुख देना है जब कि स्टोइक विचारक मुख्य रूप से ऐसी नैतिक व्यवस्था की स्थापना के पक्षपाती हैं जो सार्वभौमिक कल्याण को दृष्टि में रखती है।

१३.६ **स्टोइक और एपीक्योरियन विचार-धाराओं का प्रभाव**—स्टोइक तथा सम्मिलित विचारधाराओं का प्रभाव आधुनिक राजनीतिक विचारों के विकास पर पर्याप्त रूप से पड़ा है। आधुनिक व्यक्तिवादी तथा उपयोगितावादी विचारधाराएँ इन्हीं के आधारों पर पनपी हैं। स्टोइक विचारधारा के दो अनुदाय बड़े महत्वपूर्ण हैं और वे हैं : (१) मनुष्यमात्र की समानता तथा (२) विश्व-बंधुत्व। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक विधियों संबंधी उनकी व्याख्या आज भी आधार-तत्व के रूप में मानी जाती है। मनुष्य मात्र की समानता से स्टोइक विचारकों का अभिप्राय यह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी उन्नति तथा विकास के लिये स्वतंत्र है और उसके इस कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़नी चाहिए। विश्वबंधुत्व से उनका आशय यह था कि जब सभी मनुष्य प्राकृतिक विधियों से संबद्ध हैं तो उनकी विवेक-बुद्धि के अस्तित्व में तो कोई अन्तर हो ही नहीं सकता। यह बात दूसरी है कि किसी की विवेक-बुद्धि का विकास कम हुआ हो किसी का अधिक। अतएव अधिक सभ्य को दयालुता का परिचय देते हुए पिछड़े हुए व्यक्तियों को आगे बढ़ने के लिये सहारा देना चाहिए। स्टोइक विचारधारा के इस दर्शन का रोमन शासकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और इन विचारों की मुद्रा उनकी राजनीतिक लेखसामग्री में अंकित मिलती है। ईसाई धर्म पर भी स्टोइकों ने किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव डाला है।

६

यूनानी विचारों के अनुदाय तथा उनका प्रभाव

१. मनुष्य राजनीतिक जीव है--२. नगर-राज्य भक्ति बनाम देश भक्ति--३. राज्य और व्यक्ति का मंगल--४. विधि की संप्रभुता--५. विचार स्वातंत्र्य, तथा ६. स्वतंत्रता और प्रजातांत्रिकता

गत चार अध्यायों में हमने ईसा के जन्म से ७०० वर्ष पूर्व फलने-फूलनेवाली यूनानी सभ्यता के राजनीतिक विकास और ह्रास के इतिहास पर दृष्टिपात किया और यूनानी राजनीतिक दर्शन की एक झाँकी देखी। आज से लगभग पौने तीन हजार वर्ष पूर्व चमकी हुई इस सभ्यता का आज नाम-निशान भी शेष नहीं है। केवल इतिहास में ही हम उसका स्मरण करते चले आते हैं। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य राजदर्शन पर यूनानी प्रभाव एकदम स्पष्ट तथा व्यापक है। प्रस्तुत अध्याय में हम उन यूनानी अनुदायों का सार रूप में क्रमपूर्वक सिंहावलोकन करेंगे जिन्होंने आधुनिक राजनीतिक विचारधारा को प्रभावित किया है।

१. मनुष्य राजनीतिक जीव है

यूनानी नगर-राज्य नागरिक जीवन के आधार हुआ करते थे। प्लेटो तथा अरस्तू ने तो नगर-राज्यों को सर्वोच्च स्थान दिया ही था, सॉफिस्ट, एपीक्योरियन तथा स्टोइक विचार-धाराओं के विचारक भी पूर्ण रूप से व्यक्तिवादी होते हुए भी राज्य का बहिष्कार करने में असफल रहे थे। इसका कारण यह था कि तत्कालीन यूनानी नागरिकों का मत ऐसी किसी विचारधारा को श्रेष्ठता प्रदान करने के लिये प्रस्तुत न था जो राज्य का बहिष्कार करे। यूनानी नागरिक के लिये उसका नगर-राज्य ही सब कुछ था। वह नगर को अपने ही जीवन का विकसित स्वरूप मानता था और उसकी राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेना अपना परम कर्तव्य समझता था। नगर राज्यों के निवासियों के लिये नागरिक होना उनके जीवन की पुनीततम कल्पना थी और यूनानियों की इन्हीं मनोवृत्तियों का संश्लेषण कर अरस्तू ने निष्कर्ष निकाला था कि "मनुष्य स्वभाव से ही राजनीतिक जीव है।" अरस्तू का निष्कर्ष आज भी सत्य के रूप में विद्यमान है और संसार भर के सभी विचारक यह मानते हैं कि मनुष्य बिना समाज या राज्य के जीवित नहीं रह सकता। वे यूनानी विचारकों के इस मत से पूर्णतः सहमत हैं कि जो व्यक्ति बिना राज्य या समाज के जीवित रह सकता है उसके बारे में विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह या तो पशु है या देवता। इसका अर्थ यह है कि ऐसे प्राणी शायद ही कभी पैदा होते हैं और यदि कभी पैदा भी हो गये तो उनकी संख्या इतनी कम होती है कि उन्हें उक्त नियम का अपवाद मान कर छोड़ा जा सकता है। राजनीति सामूहिक विज्ञान है---व्यक्तिगत नहीं।

२. नगर-राज्य-भक्ति बनाम देश-भक्ति

नगर-राज्यों के यूनानी नागरिकों की दूसरी उल्लेखनीय बात उनका नगर-प्रेम था। आजकल देशप्रेम एवं राष्ट्रभक्ति की बहुत चर्चा चलती है। यह यूनानी नागरिकों की नगर-राज्य भक्ति का ही विकसित स्वरूप है। आधुनिक राष्ट्रभक्ति की भावना

उतनी गहन नहीं है जितनी वह यूनानी नगर-राज्यों के नागरिकों में थी। यूनानी नगर-राज्यों के नागरिकों के लिये राज्य की सत्ता उन्हीं के जीवन का एक अंग थी। वह उनके समस्त जीवन आचार-विचार और शिक्षा-दीक्षा तथा धार्मिक एवं आर्थिक जीवन पर अपनी प्रभुता स्थापित किये हुए थी। अतएव यूनानी नागरिक के लिये नगर-राज्य ही धर्म था, नगर-राज्य ही विद्यालय था और नगर-राज्य ही समस्त राजनीतिक जीवन का केन्द्र-विन्दु था। नगर-देवताओं के प्रति आस्था प्रकट करना, उनकी पूजा करना और उनसे भयभीत रहना——नागरिकों का सामान्य धर्म था। और कोई नागरिक अपने नगर-देवताओं के अतिरिक्त किसी अन्य नगर के देवताओं को नहीं मानता था, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ राजद्रोह हो जाता था। नगर-राज्यों जैसा प्रेम आधुनिक राष्ट्र-राष्ट्यों या देश-राज्यों में नहीं मिलता क्योंकि अब न तो वसा भौगोलिक वातावरण है और न वैसी आर्थिक व्यवस्था। इन्हीं परिवर्तनों के प्रकाश में राष्ट्र-प्रेम या देश-प्रेम की भावनाएँ भी परिष्कृत हो गयी हैं। आज देश-राज्यों में एक ही प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था नहीं है। उनमें एक ही धर्म नहीं माना जाता और विभिन्न जातियों, धर्मों तथा भाषाओं के बोलनेवाले व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं। उनमें जो सहिष्णुता की भावना आज दृष्टिगोचर होती है, वह यूनानी नगर-राज्यों के युग में कल्पनातीत थी। फिर भी उन स्थानों के प्रति सहज मोह हो जाना जहाँ कोई भी रहता हो, नगर-राज्य या देश-राज्य के प्रति अनन्य भक्ति का प्रतीक है।

३. राज्य और व्यक्तिगत मंगल

यूनानी विचारक राज्य को व्यक्ति का ही विकसित स्वरूप मानते थे। अतएव वे व्यक्ति के स्वभाव का विश्लेषण कर इस परिणाम पर पहुँचते थे कि व्यक्ति न केवल जागतिक-कल्याणाकांक्षी होता है अपितु वह पारमार्थिक मंगल का अभिलाषी भी होता है। वह अपने परम कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आचरण संबंधी नियम निर्धारित करते थे और चाहते थे कि राज्य के भी ऐसे लक्ष्य हों जिनसे वह व्यक्ति की इस सर्वोच्च कामना में अधिकाधिक सहायक हो सके। आचारशास्त्र यूनानी राजनीतिक विचारकों की दृष्टि से व्यक्तिगत कल्याण का शास्त्र था और राजनीतिशास्त्र राज्य के मंगल-चिन्तन का साधन। यूनानी विचारकों ने दोनों को इस प्रकार संयुक्त कर दिया था कि उससे राज्य और व्यक्ति के लक्ष्यों में किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न न होने पाये। आज भी इस सिद्धन्त की परिपुष्टि अनेक देशों के संविधान करते हैं और उनमें राज्यों के संबंध में यह घोषणा की जाती है कि वे कल्याणकारी राज्य (Welfare State) हैं, पुलिस राज्य नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि आजकल राज्य के कर्तव्य केवल निषेधात्मक ही नहीं समझे जाते। राज्य के कर्तव्य-क्षेत्र में व्यक्ति के विकास के लिये वे आवश्यक बातें भी समाविष्ट हैं, जो व्यक्ति की निजी उन्नति के लिये आवश्यक हैं। शिक्षा, सफाई आदि की व्यवस्था, चिकित्सा-प्रबंध आदि राज्य के हाथों में होना कल्याणकारी राज्य की दिशा में अग्रसर होने वाले चरणों का ही द्योतक है। अरस्तू तथा प्लेटो ने प्रारंभ से ही नगर-राज्यों के शासकों को उक्त विषय अपने हाथ में रखने का परामर्श दिया था।

४. विधि की संप्रभुता

विधियों को यूनानी विचारक युगों की विवेक-बुद्धि की संचित राशि मानते थे। प्लेटो ने केवल अपने दार्शनिक-शासक को विधियों से युक्त रखा था किन्तु बाद में प्लेटो ने भी विधियों को सर्वोच्च स्थान दिया था। 'रिपब्लिक' के बाद 'स्टेट्समैन' तथा 'लॉज' की रचनाएँ इस कथन का प्रमाण हैं। अरस्तू ने तो सर्वोच्च प्राथमिकता विधियों को ही

दी। वह जनता की संप्रभुता (Peoples sovereignty) को भी उतना नहीं मानता जितना विधियों को संप्रभुता को। नागरिक विधियों के दास समझे जाते थे। आधुनिक विधि के शासन (Rule of Law) का सिद्धान्त इसी आधार पर विकसित हुआ है। इंगलैण्ड तो इसका केन्द्रस्थल ही है। अमेरिका में भी न्यायपालिका (Judiciary) को इतना ऊँचा स्थान विधियों की संप्रभुता की भावना को मान्यता देने की मनोवृत्ति पर आधारित है।

५. विचार-स्वातंत्र्य

विचार-स्वातंत्र्य का प्रारंभिक अनुदाय भी हमें यूनानी-विचारकों से ही मिला। **सोक्रेटीज** की मृत्यु के बाद से विचार-स्वातंत्र्य का सिद्धान्त स्थिर हो गया। सोक्रेटीज ने स्वयं प्राण त्याग करके यह शिक्षा दी कि मनुष्य तब तक स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने का अधिकारी है जब तक वह राज्य के निर्णयों के विरुद्ध नहीं जाता है और उसे अपने विचारों के अनुसार कार्य करने का भी अधिकार है। सोक्रेटीज के प्राणोत्सर्ग का परिणाम यह हुआ कि एथन्सवासी नागरिक विचारों के मामले में पर्याप्त सहिष्णु हो गये और प्लेटो ने जब स्त्रियां तथा सम्पत्ति के साम्यवाद की शिक्षा दी तब उसका विरोध उग्रतापूर्वक भले ही किया गया हो किन्तु प्लेटो को अपने विचारों का जवाब देने के लिये किसी न्यायालय के सम्मुख नहीं उपस्थित होना पड़ा। एक बार भावावेग में अरस्तू के शत्रुओं ने अरस्तू पर मुकदमा चलाने को ठानी लेकिन कुछ समय के पश्चात् वे भी ठण्डे पड़ गये और अरस्तू पर कोई मामला एथेन्स वापस लौटने पर नहीं चलाया गया। गेटिल के मतानुसार पार्वतिय बौद्धिक जीवन की तुलना में यूनान में बौद्धिक जीवन अपेक्षाकृत स्वतंत्र, अंध-विश्वास-हीन और बाह्य नियंत्रणों से मुक्त था।

विचार-स्वातंत्र्य तथा कार्य-स्वातंत्र्य की इस परम्परा का प्रभाव पाश्चात्य राजनीतिक परम्पराओं पर और उनके द्वारा विश्व भर पर पड़ा। आजकल प्रजातंत्रवादी देशों की संसदों और विधान मण्डलों का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि उनके सदनों में कही गयी बातों के लिये किसी भी न्यायालय में मामला नहीं चलाया जा सकता। प्रत्येक नागरिक को प्रत्येक प्रजातंत्रवादी देश में एक न्यूनतम विचार और कार्य-स्वातंत्र्य का अधिकार दिया जाता है। बहुत से देशों में तो ये अधिकार मौलिक अधिकारों में सम्मिलित कर लिये गये हैं और संविधान में उनका उल्लेख कर दिया गया है। भारत का संविधान विचार-स्वातंत्र्य प्रदान करता है। अमेरिका में भी यही व्यवस्था है। इस प्रकार बौद्धिक जीवन को राजनीतिक शक्तियों के चंगुल से छुड़ाने में यूनानी विचार-दर्शन ने विचार-स्वातंत्र्य के क्षेत्र में बड़ा योगदान दिया।

६. स्वतंत्रता और प्रजातांत्रिकता

विचार क्षेत्र में यूनान के राजनीतिज्ञों के और अनुदाय तो हैं ही, स्वतंत्रता और समानता के क्षेत्र में उनके अनुदायों को कभी भुलाया नहीं जा सकता। यूनानी नागरिक अपनी तथा अपने नगर-राज्य की स्वतंत्रता का सबसे कट्टर समर्थक हुआ करता था। जब हम तत्कालीन इतिहास पर विचार करते हैं तब उसके सिंहावलोकन मात्र से हमें यह ज्ञान प्राप्त कर लेने में कोई कठिनाई नहीं होती कि उन दिनों व्यक्तिगत स्वतंत्रता का फारस के निरंकुश और स्वच्छन्द राजाओं के सामने क्या मूल्य था। किन्तु यूनानी नगर-राज्यवासी नागरिकों ने शक्तिशाली फारस के शासकों की स्वच्छन्दता के विरुद्ध राजनीतिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का ध्वज खड़ा किया और व्यक्ति की स्वतंत्रता की सफलतापूर्वक रक्षा की। लेकिन यूनानियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कल्पना संकीर्ण थी। वे यह स्वतंत्रता केवल

अपने यहाँ के नागरिकों को ही देते थे और विदेशियों की तो बात ही क्या, जीवन भर सेवा कराने के बाद दासवर्ग के नगरवासियों को भी यह स्वतंत्रता प्राप्त न हो पाती थी। स्त्रियों के लिए भी इस प्रकार की स्वतंत्रता वर्जित थी। प्लेटो ने स्त्रियों को पुरुषों के समान लाकर कुछ स्वतंत्रता अवश्य प्रदान की थी किन्तु प्लेटो ने पुरुषों की स्वतंत्रता भी राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप द्वारा सीमित कर दी थी। रोमन शासकों की विजयों ने यूनानी नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया, लेकिन उसका प्रभाव अन्य विचारों की भाँति पाश्चात्य राजदर्शन पर पड़ा और व्यक्तिवादी सिद्धान्तों के आधुनिक राजनीतिक विचारकों ने यूनान की स्वतंत्रता संबंधी कल्पनाओं से यथेष्ट सहायता ली। यूनानियों की स्वतंत्रता की कल्पना में कुछ त्रुटियाँ भी थीं। वे अपने नगर-राज्य को सर्वथा बाह्य नियंत्रण से मुक्त इकाई के रूप में रखना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी नगर-राज्यों का कभी कोई संघ नहीं बन सका और उनको रोमन शासकों ने अपने शक्ति के चक्र में पीस डाला। लेकिन इस स्वतंत्रता की कल्पना का एक लाभ भी हुआ और वह यह कि निरंकुश राजाओं का शासन या अयोग्य धनिकों का शासनतंत्र कभी लोकप्रिय नहीं हो सका।

अरस्तू ने कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा की उन्नति तथा साम्पत्तिक विकास के लिये एक न्यूनतम स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। इसी आधार पर बेंथम, मिल, स्पेन्सर आदि ने अनेक व्यक्तिवादी सिद्धान्तों की मीनारें खड़ी कीं। यूनानी स्वतंत्रता की कल्पना ने प्रेरणादायी आदर्श का कार्य किया।

आधुनिक प्रजातंत्र के मूल सिद्धान्त अपने अविकसित स्वरूप में हमें यूनान के नगर-राज्यों में देखने को मिलते हैं। यूनान के प्रजातंत्रवादी सिद्धान्तों को अविकसित सिद्धान्त इसलिये कहा गया है कि वहाँ अप्रत्यक्ष प्रजातंत्रवादी प्रतिनिधि शासन की पद्धतियाँ नहीं थीं। यूनान के नगर-राज्य अपनी भौगोलिक अवस्थाओं के कारण छोटे-छोटे हुआ करते थे और वहाँ सब नागरिक एकत्रित होकर राज्य-कार्य पर विचार कर सकते थे। इस प्रकार शासनतंत्र प्रत्यक्ष प्रजातंत्रवादी पद्धति के अनुसार चल जाता था। लेकिन शनैः-शनैः राज्यों की सीमाओं में विस्तार होता चला गया और राष्ट्रीय राज्यों की नींव पड़ी जिनके फलस्वरूप प्रजातंत्रवादी शासन की प्रत्यक्ष पद्धतियाँ अव्यवहार्य हो गयीं। ऐसी अवस्था में संसदीय या विधानमण्डलीय प्रतिनिधि-शासन या अप्रत्यक्ष शासन-पद्धतियों का विकास हुआ।

समानता का सिद्धान्त भी अन्य प्रजातंत्रवादी सिद्धान्तों की भाँति ही यूनान में ही विकसित हुआ। इसमें संदेह नहीं कि प्लेटो ने दासता की निन्दा नहीं की और अरस्तू ने यूनानी जाति के व्यक्तियों को अन्य जातियों के समकक्ष नहीं माना लेकिन इसके बाद स्टोइक-विचारधारा ने यह बात सिद्ध की कि सब मनुष्य बराबर होते हैं। उनमें मौलिक क्षमताओं की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होता। यह बात दूसरी है कि कुछ जातियों के व्यक्तियों को अपने बौद्धिक विकास का अधिक अवसर मिल जाय और कुछ जातियाँ ऐसे अवसरों से वंचित रहें। ऐसी अवस्था में उन्हें जन्मजात अयोग्य सिद्ध कर देना ठीक नहीं है। करुणा और दयालुता से सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हुए उनका भी बौद्धिक विकास किया जा सकता है। यह बात स्टोइक विचारकों से रूसो ने ग्रहण की। रूसो से यह विचार फ्रांसीसी क्रान्ति के द्रष्टाओं तक पहुँचा और उनके द्वारा अमेरिका गया तथा विश्व भर में फैला। जातियों की और मनुष्यमात्र की समानता में आज सार्वभौमिक रूप से विश्वास किया जाता है। दक्षिणी अफ्रीका के शासक वर्ग जैसे समानता के सिद्धान्त के लिये केवल अपवाद मात्र हैं।

रोम की राजनीतिक विचारधारा और उसके विचारक

१. राजनीतिक संस्थान--२. रोमन राजनीतिक विचारों का स्वभाव--३. रोमनों का विधि सिद्धान्त--४. रोमन विचारक--पोलिबियस, सिसरो और सेनेका--५. रोमन राजनीतिक विचारधारा के अनुदाय।

इटली में पो नदी के दक्षिण में यूनान के नगर-राज्यों को भाँति ही पर्वतों के आँचल में रोम का राजनीतिक विकास भी आरंभ हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से रोम की सभ्यता यूनानी नगर-राज्यों की तुलना में अपेक्षाकृत नयी है। रोम का राजनीतिक विकास भी एथेंस, स्पार्टा आदि यूनानी नगर-राज्यों के बाद ही आरंभ हुआ। किन्तु रोम ने यूनानी नगर-राज्यों को गतिदिशा का ही अनुकरण नहीं किया। यूनानी नगर-राज्य आरंभ से अन्त तक नगर-राज्य ही बने रहे। किन्तु रोम की विकास-कथा कुछ भिन्न है। इसमें सन्देह नहीं कि आरंभ में रोम की स्थापना नगर-राज्य के रूप में हुई, लेकिन रोमन गणतंत्र महानता के उच्चतम शिखर तक पहुँचकर अन्त में निरंकुश साम्राज्य में बदल गये। रोमन-साम्राज्य का प्रभाव एकदेशीय या क्षेत्रीय न रहा। रोमन व्यवस्था का प्रभाव रोमन-साम्राज्य द्वारा समग्र यूरोप के देशों पर पड़ा। यह प्रभाव सार्वभौमिक था। यूनानी नगर-राज्य की कल्पना में इतने आधुनिक तत्व विद्यमान नहीं हैं जितने रोमन साम्राज्य में। आधुनिक देश-राज्य तथा राष्ट्र-राज्यों का उद्‌गमस्थल रोमन-साम्राज्य ही है। इतना सब होते हुए भी रोमन सभ्यता प्लेटो या अरस्तू की भाँति कोई महान-विचारक मानवता को नहीं दे सकी। यूनान के राजनीतिक द्रष्टाओं की तुलना में रोमन विचारक बौनों जैसे प्रतीत होते हैं। उनमें यूनानी विचारकों-सी मौलिक प्रतिभा-सम्पन्नता का अभाव है। इसके विपरीत रोमन विचारकों में विचारों को संश्लिष्ट और संघटित कर उन्हें व्यावहारिक रूप देने की विलक्षण क्षमता थी। रोमन विचारकों का मस्तिष्क अनिवार्यतः वैधानिक था। इसलिये जहाँ रोमन विचारधारा ने आधुनिक संसार को विधियों का व्यवस्थित और संचित अनुदाय दिया वहाँ राजदर्शन के क्षेत्र में उनका अनुदाय शून्यवत है।

१. राजनीतिक संस्थान (Political Institutions)

रोम की नगर-राज्य के रूप में स्थापना प्रथमतः आसपास के पहाड़ों पर रहनेवाली जातियों ने मिलकर की थी। नगर-राज्य का शासन राजतंत्रात्मक था। राजतंत्र वंशपरम्परा के अनुसार नहीं चलता था अपितु राजा का निर्वाचन किया जाता था। अतएव रोम का शासन प्रारंभ में वंशक्रमानुगत राजतंत्र के हाथ में न होकर निर्वाचनात्मक राजतंत्र के हाथ में रहा करता था। रोम का समाज दो भागों में विभक्त था। पहले वर्ग में तो आभिजात्यवर्ग के लोग आते थे जो **पेट्रीशियन** (Patrician) कहलाते थे और दूसरे वर्ग में सर्वसाधारण थे जिन्हें **प्लेब्स** (Plebs) कहा जाता था। राजसत्ता पर वास्तविक अधिकार आभिजात्यवर्ग या पेट्रीशियनों का ही रहा करता था। पेट्रीशियनों की एक सभा थी जो कि **कमेटिया क्यूरियाटा** (Comitia Curiata) कहलाती थी। इसका मुख्य कार्य राजा का निर्वाचन कर उसके हाथ में जीवन भर के लिए राजसत्ता सौंप देना

होता था। इसके अतिरिक्त एक राज्य-परिषद् भी हुआ करती थी जिसे सीनेट (Senate) कहा जाता था। ये दोनों संस्थाएँ राज्यकार्य में सहायता दिया करती थीं। नागरिक-शासन और सैनिक व्यवस्था की सर्वोच्च शक्तियों का सूत्र राजा के हाथ में ही रहा करता था। कोई भी रोमन राजा हो सकता था लेकिन एक बार किसी के भी राजा निर्वाचित हो जाने पर उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा का कर्त्तव्य हो जाता था। राजसत्ता के प्रश्न को लेकर कुछ दिन बाद प्लेब्स और पेट्रीशियनों में ही संघर्ष हो गया। इस संघर्ष में पेट्रीशियनों को हार हुई और एक नयी संस्था स्थापित की गयी जिसका नाम 'कमेटिया सेंचुरियाटा' (Comitia Centuriata) या लोक सभा रक्खा गया। राज्यसभा (Comitia Curiata) भी चलती रही। उसका उन्मूलन नहीं कर दिया गया किन्तु सत्ता मुख्य रूप से लोक सभा के हाथ में आ गयी जिसमे प्लेब्स और पेट्रीशियन दोनों का प्रतिनिधित्व हो गया।

१.१ **गणतंत्र की स्थापना**—ई० पू० ५१० में एक और घटना हुई। यह घटना थी राजतंत्र की समाप्ति। रोम के नागरिकों ने राजा **टार्कीनियस सुपर्बस** (Tarquinius Superbus) को पदच्युत कर निष्कासित कर दिया। इस निष्कासन के परिणाम-स्वरूप रोम नगर-राज्य को गणतंत्रात्मक राज्य घोषित कर दिया गया और लगभग दो सौ वर्षों के लम्बे गृह-विग्रह के पश्चात् प्लेब्स और पेट्रीशियन—दोनों को रोम की नागरिकता के समान अधिकार प्रदान कर दिये गये। इन दोनों को ही नागरिकता के अन्तर्गत समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। राजतंत्रात्मक सत्ता में आभिजात्यवर्ग अर्थात् पेट्रीशियनों का जो बोलबाला था अब उसका अन्त कर दिया गया। गणतंत्र को स्थापना के बाद यह प्रश्न उठा कि राजा का स्थान कौन ग्रहण करे। परिणामस्वरूप यह निश्चय किया गया कि दो अमात्यों (Consuls) को प्रतिवर्ष निर्वाचित किया जाय और सर्वोच्च सैनिक और नागरिक सत्ता उन दोनों व्यक्तियों के ही हाथ में रहे। लेकिन निर्वाचनों की व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि अमात्यों के पद पर केवल आभिजात्य-वर्गीय पेट्रीशियन ही चुने जाते थे। वास्तव में बात यह थी कि लोकसभा (Comitia Centuriata) का संघटन कुछ इस प्रकार किया गया था कि सत्ता की नियंत्रणात्मक शक्ति पेट्रीशियनों के ही हाथ में रहती थी, अमात्यों की नियुक्ति के साथ ही अन्य बहुत से संशोधनों और परिवर्तन भी सरकारी पदों में हुए। दण्डनायकत्व का अधिकांश कार्य पेट्रीशियनो के हाथ में रहा। न्याय-कार्य भी उन्हीं के हाथ में बना रहा। बीच-बीच में अधिनायकतंत्र भी स्थापित हो जाता था। इधर प्लेब्स दण्डनायकत्व (Magistracy) के अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने अपनी एक और सभा को स्थापना कर ली थी जिसमें केवल उन्हीं के प्रतिनिधि रहते थे। इसका नाम लोक-परिषद् (Concilium Plebis) था। लोक-परिषद् के निर्णयों को लोकसभा के प्लेब्स-सदस्य सर्वोच्च मान्यता देते थे और अनिवार्य मानते थे। लोक-परिषद् ऐसे अधिकारियों का भी निर्वाचन करती थी जो उसके निर्देशों के अनुसार कार्य करते थे। इन अधिकारियों का प्रमुख (Tribune) सबसे बड़ा अधिकारी होता था और उसे प्लेब्स के पक्ष में अमात्यों के कार्य के विरुद्ध—जो पेट्रीशियन होते थे—निषेधाधिकार प्रयोग (Veto) को भी शक्ति थी। प्रमुख जब भी यह समझता कि अमात्यों के किसी कृत्य से प्लेब्स के हितों की क्षति होगी, वह निषेधाधिकार का प्रयोग कर उन्हें रोक सकता था। बाद में प्लेब्स दण्डनायक वर्ग में भी प्रविष्ट हो गए और प्रमुख (Tribune) के पद की विशिष्टता लुप्त हो गयी किन्तु रोम के पतनकाल तक यह पद निरन्तर महत्वपूर्ण बना रहा और सांवैधानिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता निरन्तर मानी जाती रही। जब प्लेब्स तथा पेट्रीशियन दोनों के बीच का सत्तात्मक अन्तर भी समाप्त हो गया तब लोकपरिषद् (Concilium

Plebis) लुप्त हो गयी और प्रमुख लोक-परिषद् (Comitia Tributa) आ गयी जिसका कार्य विधेयन (Legislation) करना था। लोकसभा (Comitia Centuria) अब भी थी लेकिन वह विधेयन कार्य (Legislation) नहीं करती थी। उसका कार्य केवल अमात्यों (Consuls) का निर्वाचन करना रह गया था। आभिजात्यवर्गीय सभा (Comitia Curiata) केवल पूर्व स्वरूप की प्रतीक मात्र रह गयी और उसका कार्य यही रह गया था कि वह धार्मिक मामलों का फैसला और समस्याओं का निदान कर उनका हल निकाला करे। इसके विपरीत राज्य-परिषद् (Senate) का महत्व नहीं नष्ट हुआ। वह शासनिक कार्य में अन्त तक भाग लेती रही और उसमें सदैव आभिजात्यवर्ग का ही प्रतिनिधित्व होता रहा। राज्य-परिषद् की सदस्यता अनुभवी राजनीतिज्ञों, गणतंत्रों के अवकाशप्राप्त अफसरों आदि के लिये ही सीमित कर दी गयी और सिद्धान्ततः यह स्थिर कर दिया गया कि राज्यपरिषद् के कर्तव्य और अधिकार परामर्श देने तक ही सीमित रहेगें। किन्तु शासनिक विभाग राज्य-परिषद् के नियंत्रण में ही ऐसे बने रहे कि वे उसकी शक्ति के कम कर दिये जाने पर भी उससे छीने नहीं गये। राज्यपरिषद् के कृत्यों को कोई विधिगत मान्यता (Legal character) प्राप्त न थी। वह जो कुछ कार्य करती थी वह सब उन अधिनियमों (Acts) और विधियों (Laws) के निर्देशन में करती थी जो रोम के नागरिकों द्वारा पारित कर दिये जाते थे। जब रोम केवल एक गणतंत्र राज्य के रूप में ही सीमित नहीं रहा—साम्राज्य के रूप में बदल गया तब विदेश-संपर्क तथा अन्य अधोनस्थ देशों की प्रजा पर शासनादि के कार्य पूर्णतः सीनेट (Senate) के ही हाथ में रहे। राज्य के वित्तीय मामलों तथा सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में भी राज्य-परिषद् का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य हुआ करता था। गणतंत्र राज्य की अपनी भी कुछ समस्याएँ थीं। वे यह थीं कि वह अपने आन्तरिक संघर्षों के कारण विदेशी-शत्रुओं का समुचित रूप से सामना करने में अपने आपको असमर्थ पा रहा था। ऐसी अवस्था में रोमन-गणतंत्र की सैनिक शक्ति का सिकास हुआ

१.२ **साम्राज्य का निर्माण-कार्य**—सैनिक शक्ति के विकास के परिणामस्वरूप विजय अभियान आरंभ हुए। प्रारम्भ में रोमन विजेताओं की नीति यह थी कि वे विजित राज्यों को आन्तरिक मामलों में पूरी-पूरी स्वाधीनता दे देते थे। केवल बाह्य विषयों में विजित राज्य पर नीति सम्बन्धी नियंत्रण रखा जाता था। रोमन गणतंत्र का रोमन साम्राज्य के रूप में विकास इटली के पड़ोसी राज्यों पर प्राप्त विजयों से आरम्भ हुआ। स्थानीय मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता देने की नीति प्रारम्भ में ऐसे राज्यों में व्यवहृत की गयी जिन्हें मित्र (Socii) समझा गया किन्तु बाद के विजय अभियानों में यह बात भी स्पष्ट हुई कि कुछ राज्यों को यह अधिकार पूर्णतः नहीं दिया जा सकता अतएव रोमन-सम्राटों ने ऐसे राज्यों में नागरिक परिषदों या प्रीफेक्टों की नियुक्ति आरम्भ कर दी। इन प्रीफेक्टों का कार्य यह हुआ करता था कि वे स्थानीय जनता के राजनीतिक अधिकारों का निश्चय किया करते थे। इनको यह कार्य भी सौंपा गया कि वे अधीन राज्यों के नागरिकों द्वारा रोम की सेना की सेवा के कर्तव्य-भार की समुचित पूर्ति करावें; अर्थात् यह देखें कि आवश्यक संख्या में अधीनस्थ राज्य की प्रजा रोम की सेना में भरती होती है या नहीं। इस प्रकार की सतर्कता रोम में भी व्यवहृत होती थी। कई अधीन राज्यों ने रोम की सैनिक दृष्टि से बड़ी सहायता की थी। ऐसे राज्यों को रोम-साम्राज्य ने मित्र राज्य मानते हुए वहाँ के नागरिकों को रोम की आंशिक नागरिकता (ins-latii) प्रदान कर सम्मानित किया था। ई० पू० ९० तक पो नदी के दक्षिण में जितने इटालियन थे उन सब को नागरिकता के पूरे अधिकार दिये जा चुके थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि नागरिकता के ये आंशिक-अधिकार मित्र-

राज्यों की प्रजा के लिए लाभदायी सिद्ध हुए, क्योंकि इन अधिकारों के अन्तर्गत रोमन नागरिकों के अतिरिक्त अन्य लोगों को भी जीवन तथा सम्पत्ति रक्षा के न्यूनतम अधिकार मिल गए जो रोमन अधिकारियों के भ्रष्ट हो जाने के बाद बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। किन्तु रोमन सभाओं के सदस्यों की संख्या इतनी बढ़ गयी थी कि इन अधिकारों को देते समय बड़ा आगा-पीछा सोचा जाता था—जो ठीक ही था। बहुत अधिक सदस्य-संख्या बढ़ जाने से राज्य-कार्य निपटाने में बड़ी बाधा पड़ती थी।

१.३ **साम्राज्य की शासन व्यवस्था**—रोम नगर की शासन-व्यवस्था पर तो ऊपर संक्षेप में हम प्रकाश डाल ही आये हैं, लेकिन रोम साम्राज्य के अन्तर्गत जो राज्य थे उनमें किस प्रकार की शासन-व्यवस्था थी—यह जान लेना भी उपयोगी होगा। राज्यों को रोमन-साम्राज्य का प्रान्त मान लिया गया था। इन प्रान्तों की शासन-व्यवस्था के लिए एक दण्डनायक (magistrate) भेजा जाता था जो उप-अमात्य (Vice-Consul) कहलाता था। प्रान्त की सैनिक तथा असैनिक समूची सत्ता इसी उप-अमात्य के हाथ में रहती थी। रोम जब तक गणराज्य रहा तब तक प्रान्तवासियों को रोमन नागरिकता नहीं दी जाती थी। कुशासन के विरुद्ध केवल यही मार्ग था कि जब उप-अमात्य का कार्य-काल समाप्त हो जाय तो उस पर रोम जाकर महाभियोग (impeachment) लगाया जाय। इतनी अधिक स्वच्छन्दता से उप-अमात्यों का शासन निरंकुश-शासकों से भी अधिक खतरनाक हो गया। शासन में व्यवस्था तथा भ्रष्टाचार का चारों ओर बोलबाला हो गया। स्वयं रोम की यह दशा हो गयी कि वहाँ महाभियोग की कोई भी कारवाई सफल नहीं हो पाती थी। इस सारी कुव्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि जिस समय गणतंत्र शासन का रोम में पतन हुआ उस समय शासित प्रान्तों की बड़ी दुर्दशा हो चुकी थी।

जूलियस सीजर और **ऑगस्टस** के बाद रोम में सम्पूर्ण राजसत्ता एक ही व्यक्ति के याह में रहने लगी थी। यह कार्य जूलियस तथा उसके उत्तराधिकारियों का ही था। सीटने अधिनायक तंत्र में भी काफी उपयोगी सिद्ध हो रही थी। लोकसभाओं के सदस्यों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी थी उनका राज-कार्य में कोई स्वर शेष न रह गया था। **डायोक्लोटियन** तथा **कांस्टेनटीन** (ई० पू० ३००) ने काफी शासन-सुधार किये और उनका यह परिणाम हुआ कि रोम की साम्राज्य शासन-व्यवस्था का प्रत्यक्षतः प्राचीन शासन-व्यवस्थाओं से कोई सम्बन्ध न रह गया। पहले सत्ता का स्रोत जनता को माना जाता था लेकिन बाद में यह स्थिति उत्पन्न हो गयी कि राजा को दैवी शक्ति का प्रतिनिधि माना जाने लगा। किन्तु जब रोम का राज्य-धर्म ईसाई-धर्म मान लिया गया तो राजा को दैवी शक्ति न मानकर राजसत्ता को दैवीशक्ति माना जाने लगा। राजा दैवी-इच्छा से अपने अफसरों द्वारा शासन करता था। वह दैवी-इच्छा का निमित्त मात्र था।

२. रोमन राजनीतिक विचारों की प्रकृति

सामान्यतः रोमन राजनीतिक विचारों पर यूनानी राजनीतिक विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, विशेष रूप से स्टोइक राजनीतिक विचारकों का। रोम के राजनीतिक-संस्थान परम्पराओं और आवश्यकताओं की देन थे। उनके निर्माण में किसी सुविचारित या सुचिन्तित योजना का स्थान कभी नहीं रहा। इसमें संदेह नहीं कि रोम अपने दो शत्रुओं को परस्पर लड़ा देता था और बाद में उनके झगड़ों में हस्तक्षेप कर उनका क्षेत्र अपने राज्य में मिला लेता था किन्तु यदि देखा जाय तो रोम का साम्राज्य तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम ही अधिक प्रतीत होता है, किसी निश्चित योजना का सुफल नहीं। इतने बड़े

साम्राज्य के निर्माण के बाद भी अरस्तू की भाँति रोम में किसी ऐसे राजनीतिक विचारक का न उत्पन्न होना जो सम्पूर्ण रोमन राजनीतिक विचारों को सुव्यवस्थित कर सकता—इस ओर संकेत करता है। इतना होते हुए भी रोमन राजनीतिज्ञों ने बहुत से राजनीतिक विचार यूनानियों से ग्रहण किये और उनका समुचित संशोधन कर व्यावहारिक प्रयोग किया। यह व्यावहारिक प्रयोग प्रगति का हो चिह्न है। इनमें **सकारात्मक विधि** (Positive Law) का नाम लिया जाना आवश्यक है। रचनात्मक विधि के विचार को लेकर रोमनों ने राजनीतिशास्त्र तथा आचारशास्त्र को विभक्त कर दिया। राज्य का कल्पित स्वरूप निर्धारित किया और उसके वैधानिक व्यक्तित्व के विकास के विचार को उन्नत बनाया।

रोमन राजनीतिक विचारों की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें यूनानियों को भाँति राज्य में व्यक्ति को विलयित नहीं कर दिया गया है। रोमनों ने राज्य और व्यक्ति दोनों का स्थान अलग-अलग माना था और यह भी स्वीकार किया था कि दोनों के कर्त्तव्य और अधिकार भी भिन्न-भिन्न हैं। राज्य के सामाजिक स्वरूप की रूपरेखा का आवश्यक और स्वाभाविक अंग बतलाते हुए रोमन विचारकों ने व्यक्ति को अपने राजनीतिक चिन्तन का विचार-केन्द्र माना। रोमन विचारक राज्य को एक वैधानिक व्यक्ति मानते हैं जिसे अपने अधिकारों का एक निश्चित सीमा में प्रयोग करने का अधिकार है। नागरिक को भी एक वैधानिक व्यक्ति माना जाता है जिसके कुछ निश्चित अधिकार हैं। रोमन विचारकों को भय था कि नागरिक के उन अधिकारों का भी शासक द्वारा कहीं अपहरण न हो जाय। इसी आधार पर रोमनों को **निजी विधि** (Private Laws) का इतना अधिक विकास हुआ है। रोमन विचारक यह भी मानते हैं कि राजसत्ता का स्रोत जनमत होता है। रोमन विचारक यूनानियों को भाँति राज्य को इतना स्वाभाविक मानते हैं कि उनकी दृष्टि से राज्य का औचित्य सिद्ध करने को कोई आवश्यकता ही नहीं है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के आधार पर राज्य की उत्पत्ति में उनका कोई विश्वास नहीं है। वे यह अवश्य मानते ह कि शासक तथा शासितों के बीच अवश्य समझौता होता है। लेकिन वे यह नहीं मानते थे कि यदि शासन (Government) अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने में असमर्थ है और वह समझौते की अपनी शर्तों को पूरा करने में असफल सिद्ध हुआ तो उसे पदच्युत कर देने का शासितों को अधिकार है। उन्होंने प्रजा को ऐसी क्रान्ति का कोई हक नहीं दिया। उनका कहना था कि एक बार किसी व्यक्ति को जब प्रजा राज-शक्ति दे देती है तो उसे वापस लेने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। वे हॉब्स की भाँति शासक को निरंकुश-स्वच्छन्दता में विश्वास करते थे। शासक की इच्छा को ही सब कुछ मानते थे। विधि के सम्बन्ध में उनका मत था कि वह शासक की इच्छा नहीं है। विधि उनकी दृष्टि से ऐसा समझौता है जो दोनों पक्षों से विचार-विमर्श करने के पश्चात् राज्याधिकारियों द्वारा लागू किया जाता है। रोमनों की निजी विधियाँ (Private laws) उनकी मानव-स्वभाव की इस कल्पना पर आधारित है कि व्यक्ति के सम्बन्धों में समझौतों का बहुत बड़ा स्थान है।

३. रोमनों का विधि सिद्धान्त

रोमनों के विधि-सिद्धान्तों का मूल स्थल खोजने की चेष्टा करने पर विदित होगा कि उनका आरम्भ सबसे पहले धार्मिक-रीति रिवाजों के रूप में ही हुआ। प्रारम्भ में सार्वजनिक हितों के विरुद्ध किया गया किसी भी व्यक्ति का कोई भी कार्य देवताओं के विरुद्ध किया गया अपराध माना जाता था। किन्तु धीरे-धीरे धार्मिकता के विरोध म किये गये कृत्यों तथा सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध किये जाने वाले अपराधों को अलग-अलग श्रेणियों में रख दिया गया और रोमन विधियों को प्रथम संहिता (Code) ई० पू० ४५० में

प्रादर्भूत हुई। यह १२ सूत्रों में थी। इस संहिता में केवल तत्कालीन परम्पराओं अर्थात् धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं को लिखित रूप प्रदान कर दिया गया था। लेकिन इस द्वादश सूत्रीय संहिता का सबसे बड़ा अनुदान यह है कि इसने धार्मिकता के तत्व को दबा दिया और विधि का उल्लंघन राजाज्ञा का उल्लंघन माना। इसका अर्थ यह था कि जब कोई व्यक्ति विधि का उल्लंघन कर कोई अपराध करता है तो वह राज्य के विरुद्ध अपराध करता है—देवताओं के विरुद्ध नहीं,अतएव, अपराधी को दण्ड देने का अधिकार राज्य को है न कि देवताओं को। इस प्रकार विधि-संहिताओं में से क्रमशः धार्मिकता लुप्त हो गयी। विधियों को क्रियान्वित करने का अधिकार भी राज्य के हाथ में चला गया। विधि को राज्य की इच्छा माना जाने लगा। द्वादशसूत्रीय विधि-संहिता में परिवर्तन भी किया जा सकता था ; लकिन, इसके लिये यह आवश्यक समझा जाता था कि प्रत्येक संशोधन के लिये समस्त रोम-वासियों की स्वीकृति ले ली जाय। सभी परिवर्तनों, संशोधनों और परिवर्धनों के लिये प्लेब्स और पेट्रीशियनों की सामूहिक संयुक्त स्वीकृति आवश्यक थी। परिणामतः रोमन विचारकों ने विधियों को राज्य की इच्छा का प्रकट-स्वरूप माना और यह कहा कि उनकी रचना करने का एकमात्र अधिकार राज्य को ही है। ज्यों-ज्यों रोम का नगर राज्य एक विशाल साम्राज्य के रूप में बदलता गया त्यों-त्यों रोमन विधियों का भी विकास और विस्तार होता गया। जो विधियाँ केवल नगर-राज्य की सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त समझी जाती थीं—वही विश्व-साम्राज्य के शासन के लिये जब अपर्याप्त सिद्ध हुईं तो उनको भी आवश्यकतानुरूप परिवर्द्धित किया गया। इस कार्य म रोम के न्यायपालिका के अधिकारियों तथा सम्राटों का योगदान उल्लेखनीय है। इन अधिकारियों के न्याय-कार्यों के परिणाम-स्वरूप रोमन विधियों का अभिनवीकरण हुआ और सार्वभौमिक विधि (Jus gentium) तथा प्राकृतिक विधि (Jus-naturalae) के विकास का मार्ग खुला।

३.१ **सार्वभौमिक और प्राकृतिक विधियाँ**—इस स्थल पर सार्वभौमिक विधि (Jus gentium) तथा प्राकृतिक विधि(Jus Naturalae) के स्वरूप, प्रकार तथा अन्तर को भली भाँति समझ लेना उपयोगी होगा। सार्वभौमिक विधि का अर्थ ऐसी विधियों से लिया जाता है जिनका सब राष्ट्रों में बिना किसी भेदभाव के प्रयोग किया जाता है। रोमन विधि सिद्धान्त में वे विधियाँ सार्वभौमिक विधि (Jus gentium) मानी जाती थीं जो रोम साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले सभी राज्यों में स्वाभाविक न्याय, परम्पराओं और कानूनों के अनकूल मानी जाती थीं। इसी आधार पर न्याय के कुछ स्वाभाविक सिद्धान्त भी स्थिर हुए। ये सिद्धान्त सहज मानवीय विवेक पर आधारित थे। अतएव इनके आधार पर जो कानून या विधियाँ विकसित हुईं वे स्वाभाविक विधियाँ (Jus naturalae) कहलायी जाने लगीं। सार्वभौमिक विधि(Jus gentium) के विकास के तथा उसकी सामग्री के संबंध में बहुत से विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के मत प्रकट किये हैं। उदाहरण के लिए **नेटिलशिप** का कहना है कि "सार्वभौमिक विधि का अर्थ है संसार भर की, सारी, मानवता की परम्पराएँ।" कहा जाता है, इस शब्द का प्रयोग, सबसे पहले ई० पू० दूसरी शताब्दी में हुआ था। इसका प्रयोग सबसे पहले उन विधियों के लिये हुआ था जो अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों, यात्राओं तथा व्यापार-वाणिज्य के दौरान में विकसित हो गयी थीं। इसके विपरीत **सोहम** ने यह कभी नहीं माना कि सार्वभौमिक विधियाँ रोम की रचनात्मक (Positive) विधियों के एक अंश के अतिरिक्त और कुछ भी थीं।

सार्वभौमिक-विधि (Jus gentium) तथा प्राकृतिक विधि (Jus Naturalae) के संयुक्तीकरण के परिणामस्वरूप रोमन विधि सिद्धान्त और विधि-संहिताओं में उदारता

एवं व्यापकता का तत्व अधिक मात्रा में आ गया। रोमन साम्राज्य के विभिन्न भागों से जो वैधानिक अपीलें रोमन सम्राटों के पास आया करती थीं उनको वे रोमन न्यायालयों के पास भेज देते थे और उनके सम्बन्ध में जो भी फैसले होते उनको उतना ही महत्व प्राप्त होता था जितना किसी विधि को। ये न्यायाचार्य अपने फैसलों में ऐसे सामान्य न्याय-सिद्धान्तों को स्थिर कर देते थे जिनका सर्वत्र, बिना देश-काल के भेद के प्रयोग किया जा सके। उन्हीं पर न्याय की वैज्ञानिक-व्यवस्था स्थिर करने का भी दायित्व था। इसमें **जस्टीनियन की संहिता** भी सम्मिलित है। जस्टीनियन संहिता में स्टोइक-विचारधारा का स्पर्श हमें स्पष्टतः दिखलायी पड़ता है। स्टोइक विचारक मानवता के बीच जिस विश्व बंधुत्व की भावना का प्रचार करते थे उसे इस संहिता में विधि की सार्वभौमिकता के रूप में व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया है।

३.२ **जस्टीनियन संहिता**—पाश्चात्य विचारधारा पर जस्टीनियन संहिता का ईसाई धर्म के बाद सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। यह संहिता सम्राट् जस्टीनियन के शासन-काल (सन् ५२७-६५) में संकलित की गयी थी। जस्टीनियन संहिता को निम्नांकित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—(१) दि इन्स्टीट्यूट्स, (२) दि डाइजेस्ट, (३) इम्पोरियल लॉज, (४) दि नॉवेली। पहले भाग में रोमन न्यायाचार्यों गेस (Gaius) **मार्सीयन** (Marcian) तथा **फ्लोएण्टीनस** (Fle entinus) के विधि-सम्बन्धी विचारों का संकलन है। इन तीनों को रोम का सबसे बड़ा न्यायाचार्य माना गया है। दूसरे भाग म, रोम के अन्य न्यायाचार्यों के विधियों-संबंधी महत्वपूर्ण विचारों का संकलन किया गया है। प्रथम और द्वितीय ये दोनों ही भाग सन् ५३३ में प्रकाशित किये गये थे। तीसरे भाग म साम्राज्य के आरंभिक काल से लेकर जस्टीनियन के समय तक की विधियों तथा फैसलों का संग्रह किया गया है। इनमें निजी विधियों (Private Laws) तथा सार्वजनिक विधियों (Public Laws) दोनों से संबंधित मामलों में महत्वपूर्ण फैसले संकलित किये गये हैं। चौथे भाग में सम्राट् जस्टीनियन की विधियों को संकलित किया गया है।

जस्टीनियन संहिता में विधियों सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इन पक्षों पर हम निम्नांकित रूप से विचार कर सकते हैं :—(क) विधियों के विभिन्न स्वरूप, (ख) दासता और सम्पत्ति की वैधानिकता, (ग) नागरिक विधि और (घ) राजनीतिक सत्ता का स्वभाव और उद्गम।

(क) विधियों के विभिन्न स्वरूप—विधियों के विभिन्न स्वरूपों पर विचार करते हुए संहिता में गेस (Gaius) के मत को उद्धृत किया गया है। गेस ने तीन प्रकार की विधियाँ बतलायी हैं —(१) सार्वभौमिकता विधियाँ (Jus gentium), (२) नागरिक विधियाँ (Jus civile) और (३) प्राकृतिक विधियाँ (Jus Naturalae)। विभिन्न देशों को विधियाँ या अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ सार्वभौमिक विधियाँ (Jus gentium) हैं। नागरिक विधियों से गेस का आशय रोम की निगम विधियों (Municipal Laws) से है। प्राकृतिक विधियाँ वे हैं जो न्याय और विवेक के स्वाभाविक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। गेस का मत है कि प्राकृतिक विधियाँ ही आदर्श विधियाँ हैं। समस्त विधि संहिताएँ प्राकृतिक-विधियों के आदर्श की दिशाओं की ओर ही बढ़ने का प्रयत्न करती हैं। प्राकृतिक-विधियाँ वे कानून हैं जिनको स्वयं प्रकृति ने सारी मानवता को पढ़ाया है।

(ख) दासता और सम्पत्ति—यूनानी दासता को स्वाभाविक मानते थे। उदाहरण के लिए अरस्तू के उस कथन को इस स्थल पर याद किया जा सकता है जब उसने कहा था कि सब लोगों की प्रकृति एकसमान नहीं होती। स्वभावों में भेद होता है। कुछ शासक बनने के लिए पैदा होते हैं और कुछ शासित। यह स्वभाव का अन्तर ही सिद्ध करता है और

उसके इस मत को स्पष्ट करता है कि दासता की प्रथा को प्रकृति का समर्थन प्राप्त है। लेकिन रोमन विचारकों ने विशेषकर **गेस** ने यह नहीं माना। उसने दासता को कृत्रिम बतलाया। **अल्पियन** (Ulpian) ने भी कहा कि दासता मानव-स्वभाव की दुष्टता का ही परिणाम है। **सेनेका** (Seneca) और **सिसेरो** (Cicero) ने कहा कि दासों के साथ दयापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। सम्पत्ति को भी रोमन विचारकों ने कृत्रिम माना है। उनका कहना है कि सम्पत्ति संग्रह मनुष्य के दुष्ट हो जाने का परिणाम है। किन्तु, उन्होंने इतने पर भी संपत्ति को पूर्णतः त्याज्य नहीं बतलाया है और मानव इतिहास में उसका औचित्य ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

(ग) नागरिक विधियाँ—गेस ने कहा कि विधियाँ मानव-विवेक की संचित राशि हैं। लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है—मानव-विवेक क्या है? विवेक का कोई स्थिर मानदण्ड नहीं है। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" को संस्कृत लोकोक्ति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के विवेक का अपना मानदण्ड होता है। **मार्सीयन** का कहना था कि देवताओं की आज्ञा ही विधि है। **अल्पियन** का कहना था कि मनुष्य की अन्तरात्मा बराबर यह बतलाती रहती है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। अन्तरात्मा का जो पक्ष अच्छाई की ओर संकेत करता है—वह विवेक है और उसी को आज्ञा का विधियों में प्रतिनिधित्व किया जाता है। लेकिन इसमें भी अनेक शंकाएँ उठती हैं। इसी प्रकार अन्य कई रोमन विचारकों ने भी विधि की परिभाषाएँ की हैं लेकिन ये सभी परिभाषाएँ अपूर्ण, विवादास्पद और शंकायुक्त हैं। इन त्रुटियों के होते हुए भी विधि के सम्बन्ध में दो बातों को सभी विचारकों ने स्वीकार किया है और वे हैं (अ) विधियों की आज्ञाओं का पालन अवश्य होना चाहिए और (आ) विधियाँ किसी न किसी वाह्य शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। रोमन विचारकों ने विधियों का कार्य न्याय करना तो बतलाया लेकिन यह नहीं बतलाया कि न्याय क्या है। अल्पियन ने एक अस्पष्ट परिभाषा-सी दी है जिसका संक्षेप में आशय यह निकलता है कि न्याय का अर्थ व्यवहार की समानता है। जस्टीनियन संहिता के प्रथम भाग में न्याय की इच्छा का वह स्थिर और शाश्वत स्वरूप बतलाया जिसके द्वारा सबके साथ जो उचित होता है—वही व्यवहार किया जाता है। लेकिन क्या "उचित" है जो होना चाहिए—यह तय करनेवाला कौन है? जब तक यह निश्चित न हो जाय तब तक यह व्याख्या तथा परिभाषा निरर्थक-सी है। नागरिक विधि के विषय में रोमन विचारकों ने बतलाया कि उसमें न तो सार्वभौमिक और न प्राकृतिक विधियों का पूर्णतः बहिष्कार किया जाता है और न पूर्णतः अनुसरण। इस विधि का उद्देश्य मनुष्यों को नगर-निवास के योग्य बनाना है। यही कारण है कि रोम के निगम की विधियों (Municipal Laws) को ही मुख्यतः नागरिक विधियाँ माना जाता था।

(घ) राजनीतिक सत्ता का स्वभाव और उद्गम—राजनीतिक सत्ता के स्वभाव और उद्गम के सम्बन्ध में रोमनों का अन्य कई विषयों की भाँति कोई निश्चित या स्थिर मत नहीं है। वे राजनीतिक सत्ता का उद्गम यूनानी विचारक अरस्तू की भाँति परिवार में नहीं मानते। यदि हम रोमनों के सांविधानिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह प्रारंभ में ही स्पष्ट हो जायगा कि वे जनता को ही राजनीतिक सत्ता का केन्द्रस्थल मानते थे और यह भी स्वीकार करते थे कि जनता को यह अधिकार है कि वह यह सत्ता अपने हित के लिए किसी को भी सौंप दे। गेस (Gaius) ने कहा भी है कि "जनता ही समस्त वैधानिक सत्ता का स्रोत है।" जनता की सत्ता एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथ में भी दे देने का अधिकार है। शासक की इच्छा ही विधि है और इसे 'रेक्स-लेजिस" कहा गया है किन्तु यह इच्छा भी तो अन्त में जनता की सहमति पर ही निर्भर करती है। शासक की इच्छा को विधि मान लिया जाता है क्योंकि जनता शासक की इच्छा को विधि के रूप में मान लेने के लिए तैयार है। इसी सिद्धांत

के आधार पर पाश्चात्य राजनीतिज्ञों ने विशेषकर **ऑस्टिन** आदि जैसे वैधानिक विचारकों ने संप्रभुता की परिभाषाएँ बनायीं। यही नहीं जनता ही में संप्रभुता स्थित है—यह कल्पना भी रोमन विचारकों की ही देन है। नागरिक विधि का स्रोत इसी सत्ता को बतलाया गया है।

४. रोमन विचारक

रोम के राजनीतिक संस्थानों, सांविधानिक विकास के इतिहास की मुख्य बातों, राजनीतिक विचारों के स्वभाव तथा विधि सिद्धान्तों के स्वरूपों पर सामान्य विचार कर लेने के बाद अब हम तीन मुख्य रोमन राजनीतिशास्त्रियों के विचारों पर दृष्टि डालेंगे।

४.१ **पोलिबियस** (Polybius)—रोमन विचारकों में सबसे पहले नाम पोलिबियस का लिया जाता है; लेकिन वस्तुतः पोलिबियस रोम का निवासी न था। वह यूनानी था जिसे रोमन बंधक के रूप में रोम ले आये थे। उसका जीवन-काल ई० पू० २० से १२२ तक माना जाता है। उसकी सबसे प्रसिद्ध कृति **'रोम का इतिहास'** है। इस पुस्तक में रोम की महानता का वर्णन करते हुए उसकी उन्नति के कारण पर प्रकाश डाला गया है। जिस समय पोलिबियस ने रोम का इतिहास लिखना आरंभ किया उस समय रोम का गणराज्य अपनी महानता की चरम स्थिति में पहुँच गया था। वह अपने ग्रंथ में रोम की शक्तिशालिता पर प्रकाश डालना चाहता था और बतलाना चाहता था कि उसका शासन-प्रबंध किस प्रकार होता है। ऐसा करते हुए पोलिबियस ने सबसे पहले राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है, शासन के विभिन्न भेद बतलाये हैं और यह भी बतलाया है कि सर्वोत्तम राज्य कौन-सा होता है।

(क) शासन के भेद—शासन के भेदों (Classification of Governments) पर प्रकाश डालते हुए पोलिबियस ने इस दिशा में अरस्तू का ही अनुसरण किया है। उसने स्वीकार किया है कि शासन (Government) तीन प्रकार के होते हैं—(१) राजतंत्र (Monarchy), (२) आभिजात्यतंत्र (Aristocracy) और (३) प्रजातंत्र (Democracy)। पोलिबियस का कहना है कि शासन-भेद राज्यों में अपने शुद्ध या भ्रष्ट किन्हीं दो स्वरूपों में से एक में सदैव बना रहता है। प्रत्येक शासन में अपनी उन्नति के साथ ही अपने पतन के बीज छिपे रहते हैं। राजसत्ता का प्राचीनतम स्वरूप राजतंत्र (Monarchy) है। राजतंत्र की सत्ता का आधार बल प्रयोग है। बल प्रयोग द्वारा ही स्वभावतः एकता के सूत्र में बँधे जनसमूह पर राजतंत्र का पहला शासक अपनी राजसत्ता स्थापित करता है। ज्यों-ज्यों अनुभव तथा विवेक ने शासन का महत्व और उसकी आवश्यकताओं को सिखलाया और ज्यों-ज्यों न्याय, धर्म और नैतिकता के विचारों का विकास होता गया त्यों-त्यों जनता राजा की आज्ञाओं का स्वेच्छा से पालन करती चली गयी। लेकिन जब राजा ने जनहित के विरुद्ध रीति-रिवाजों और सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करना आरंभ कर दिया तो राजतंत्र भ्रष्ट होकर निरंकुश शासन में बदल गया और अन्त में इस भ्रष्ट स्वरूप का अन्त आभिजात्यतंत्र (Aristocracy) ने किया। राजतंत्र की भाँति ही आभिजात्यतंत्र का भी पतन हुआ और प्रजातंत्र आया। बारम्बार होनेवाले इन परिवर्तनों को रोकने के लिए पोलिबियस ने यह सलाह दी कि शासन के इन तीनों ही स्वरूपों के अच्छे तत्वों को मिलाकर जो शासनतंत्र स्थापित किया जायगा वह स्थायी होगा और उसके भ्रष्ट होने की संभावना भी कम रहेगी।

(ख) मिश्रित शासनतंत्र ही सर्वोत्तम शासन—तीनों प्रकार के शासनतंत्र के सर्वोत्तम तत्वों से मिलकर बने शासन को स्थायित्व का गुण प्रदान करने के बाद इसी मिश्रित शासनतंत्र को पोलिबियस ने सर्वोत्तम शासन बतलाया है। मिश्रित शासनतंत्र का

विचार पोलिबियस की अपनी मौलिक कल्पना नहीं थी। **लाइकरगस** (Lycurgus) ने स्पार्टा के लिये भी पहले एक ऐसा ही संविधान बनाया था। किन्तु इस संविधान का स्पार्टा में प्रयोग न हो पाया। इसके विपरीत रोम में इसको अत्यन्त सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया गया। रोम में अमात्य (Consuls) राज तंत्रात्मक तत्व का प्रतिनिधित्व करते थे। राज्य-परिषद् (Senate) आभिजात्यतंत्र की प्रतिनिधि थी तथा लोक सभाएँ (Popular Assemblies) प्रजातंत्र के तत्व का प्रतिनिधित्व करती थीं। इन सभी राजनीतिक संस्थानों में किसी न किसी रूप में सत्ता विद्यमान रहती थी लेकिन सम्पूर्ण सत्ता का प्रयोग अपनी इच्छा के बल पर कोई एक संस्थान नहीं कर सकता था। प्रत्येक राजकार्य के लिए प्रत्येक संस्थान की सहमति आवश्यक थी। प्रत्येक संस्थान का एक दूसरे पर किसी-न-किसी रूप में नियंत्रण बना रहता था। इस प्रकार रोम की शासन-व्यवस्था में पोलिबियस ने नियंत्रण और सन्तुलन का एक व्यवस्थित क्रम दिखलाया था। वैसे तो **प्लेटो** तथा **अरस्तू** ने भी इस सिद्धान्त का अपनी राज्य सम्बन्धी कल्पनाओं में एक सीमा तक प्रतिपादन किया था, किन्तु सामान्यतः उनकी दृष्टि साधारण शासन-स्वरूप निर्धारित कर देने तक ही सीमित रही थी। उन्होंने उसमें जटिलता नहीं आने दी। मिश्रित शासन-व्यवस्था के पक्ष में अपना दृढ़ मत प्रकट करने वाला प्रथम विचारक पोलिबियस था। मिश्रित शासन सम्बन्धी पोलिबियस का यह मत बाद के युगों में भी व्यवहारतः नहीं तो सिद्धान्ततः तो अवश्य ही माना जाता रहा और इसका प्रभाव आधुनिक पाश्चात्य राजनीति की कल्पना पर भी पड़ा है।

पोलिबियस की विशेषता यह थी कि उसने रोम के गुण-दोषों का विवेचन एक तटस्थ पर्यवेक्षक के रूप में किया था। उसकी दृष्टि निष्पक्ष तथा बौद्धिक प्रधान थी। वह मानवस्वभाव के बारे में यह मानकर चलता था कि वह स्वार्थवश ही कोई भी कार्य करता है अतएव राजनीतिज्ञ को मनुष्य के स्वार्थों को राजनीति का गतित्व या शक्तितत्व मानकर ही आगे बढ़ना चाहि। अच्छी राजनीतिक-व्यवस्था में सभी वर्गों के स्वार्थों का सन्तुलित स्वरूप बना रहता है। यह सन्तुलन पारस्परिक नियंत्रणों का ही परिणाम होता है जो प्रतिबंधों के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस प्रकार पोलिबियस ने मानव-स्वभाव का विवेचन करते समय एक सीमा तक उस दृष्टिकोण की रचना की थी जिसको **मैकियावली** (Machiaveli) ने आगे चलकर अपनाया।

४.२ **सिसरो** (Cicero)—पोलिबियस ने स्थायी और सर्वोत्तम शासनतंत्र के सिद्धान्त तो स्थिर कर दिये लेकिन यहीं पर कार्य समाप्त नहीं हुआ। मिश्रित शासन तंत्र को चलने की शक्ति सन्तुलन और नियंत्रण के सिद्धान्त से मिलती है और सन्तुलन तथा नियंत्रण का सिद्धान्त गतिरोध के आधार पर आगे बढ़ता है। शान्तिकाल में जब शासन के किन्हीं दो अंगों में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है तो वह समझौतों एवं अधिकारों और सुविधाओं के आदान प्रदान द्वारा दूर हो जाता है लेकिन जब सामाजिक तनातनी और अशान्ति की स्थिति होती है तब इस गति-रोध को दूर करने के लिए बहुधा बल का प्रयोग किया जाता। रोमन गणतंत्र के अंतिम काल में बल-प्रयोग ही गतिरोधों को दूर करने का नियम-सा बन गया था। रोम का गणतंत्र अपने अंतिम समय में साम्राज्य बन गया था और बहुत से राज्य उसके शासनाधीन हो गए थे। इसका प्रभाव रोम के समाज पर भी पड़ा था। रोम का सम्पूर्ण समाज दो भागों में विभक्त हो गया था। पहले वर्ग के पास तो बहुत अधिक धन संचित हो गया था और दूसरा बिल्कुल निर्धन था। इन दोनों ही वर्गों के प्रतिनिधि राज्यपरिषद् (Senate) तथा लोक सभाओं (Assemblies) में पहुँच गए थे। दोनों ही संस्थाओं में अपने-अपने वर्ग के हितों को लेकर बहुधा गतिरोध उत्पन्न हो जाते थे और इन गतिरोधों का अन्त गृहयुद्धों द्वारा होता था। इन गृहयुद्धों की दशा में राजदर्शन का विकास होना असंभव सा-था।

(क) सिसरो की रचनाएँ––सिसरो ने देखा कि इन गृहयुद्धों की आग में रोम का सारा सांविधानिक ढाँचा की जला जा रहा है। ऐसी अवस्था में उसने दो पुस्तकें लिखीं : (१) **डी रिपब्लिका** (De Republica) और (२) **डी लेजिबस** (De Legibus)। इन दोनों ही पुस्तकों को मुख्य आधार रेखा रोमनों का यह शिक्षा देना है कि वे शासन के पुराने सांविधानिक ढंग को ही न अपना लें। लेकिन उस समय सिसरो की यह शिक्षा सुनने के लिये कोई तैयार न था। विचारों और शब्दावली की दृष्टि से अत्युच्च कोटि की पुस्तकें होने पर भी इनका अपने समकालीन राजनीतिज्ञों पर कोई प्रभाव न पड़ा क्योंकि उस समय युद्ध का वातावरण था और कोई किसी की बात सुनने के लिये तैयार न था। डी रिपब्लिका और डी लेजिबस का प्रभाव रोमनों के बाद साम्राज्यवादी विधानाचार्यों (Imperial lawyers) तथा ईसाई पादरियों पर अवश्य पड़ा लेकिन कालान्तर में जिस स्वरूप में उनकी रचनाएँ आधुनिक राजनीति के विद्यार्थी के सामने आयीं उनसे वह अधिक लाभ नहीं उठा सका।

डी रिपब्लिका में सिसरो ने प्लेटो के आदर्श राज्य की भाँति अपनी कल्पना के सर्वोत्तम राज्य को अंकित करने का प्रयत्न किया है। इसकी रचना भी प्रश्नोत्तरी प्रणाली के आधार पर ही की गयी है। लेकिन प्लेटो की रिपब्लिक की भाँति सिसरो का सर्वोत्तम राज्य केवल कल्पना संसार की ही वस्तु नहीं है––वह व्यावहारिकता और सांसारिकता को भी अपने सामने रखता है। सिसरो की इच्छा यह है कि वह सर्वोत्तम राज्य एक ऐसा सच्चा राज्य हो जो पृथ्वी पर निर्मित किया जा सके। वह यह मान कर आगे चलता है कि मनुष्य स्वभावतः अन्य ममुष्यों के साथ रहना चाहता है। सामाजिकता मनुष्य के स्वभाव का मुख्य लक्षण है। वह एकान्त में अपने आपको निर्बल अनुभव करता है। सामाजिकता की मानव-स्वभाव की प्रवृत्ति ही शासन (Government) की स्थापना में सहायक होती है। **पोलिबियस** की भाँति सिसरो भी यह मानता है कि राजतंत्र, क्षाभिजात्यतंत्र और प्रजातंत्र तीनों चक्रवत् घूमते हैं और तीनों के ही अपने गुण-दोष हैं जिनकी वजह से उनका उत्थान और पतन होता रहता है। सिसरो यह मानता है कि गणतंत्रात्मक पद्धति ही ऐसी शासन पद्धति है जिसमें तीनों शासन के अच्छे तत्वों का समावेश है और वही सर्वोत्तम पद्धति भी है। आचारशास्त्र, न्यायशास्त्र और राजनीति सिद्धान्त के संगम बिन्दु पर डी रिपब्लिका में सिसरो द्वारा प्रकट किये उक्त विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सिसरो ने स्वाभाविक विवेक तथा विधि के बीच निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर यह बतलाया कि मानवीय कार्य-व्यापार उन्हीं से संचालित होते हैं। सिसरो ने राज्य को स्टोइक विचारकों के विपरीत सामाजिक न मानकर उसके राजनीतिक स्वरूप पर अधिक आग्रह किया था। सिसरो ने यह बतलाया कि शासन जनता का अभिकर्ता (एजेंट) मात्र होता है। संप्रभुता या अंतिम राजसत्ता पर वस्तुतः जनता का ही अधिकार होता है।

डी लेजिबस में सिसरो ने **'डी रिपब्लिका'** के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। इसमें सिसरो ने बतलाया है कि नागरिक तथा सांविधानिक विधियों का आधार प्राकृतिक विधियों और विवेक पर ही होना चाहिए। अगर नागरिक और सांविधानिक विधियों के उक्त आधार नहीं हैं तो वे अवैध हैं। सिसरो प्राकृतिक विधियों की सार्वदेशिकता में विश्वास करता था। उसका लक्ष्य भी विश्वबंधुत्व का प्रचार करना था और इस स्थल पर स्टोइक विचारकों के विचारों की मुद्रा सिसरो पर स्पष्ट रूप से अंकित मिलती है। सिसरो की नागरिक और सांविधानिक विधि संहिताएँ सार्वभौमिकता पर आधारित थीं। इसका आशय यह है कि वे संहिताएं केवल रोमन गणतंत्र के निवासियों के लिए ही नहीं अखिल मानवसमाज के लिए थीं और दूसरे उनका प्रभाव केवल रोमन युगों तक ही सीमित न रहकर बाद के युगों में भी प्रति–

ध्वनित होता रहा था। सिसरो में कोई विशेष मौलिक प्रतिभा न थी। उसके विश्वबंधुत्व के सिद्धान्त रोमन विश्व साम्राज्य की कल्पना के अनुकूल थे। उसने रोमन विधि सिद्धान्तों को अनिवार्यतः न्याय और समानता की आधार-भूमि पर खड़ा करके उनकी व्यापकता और बढ़ा दी थी। जहाँ प्राकृतिक विधियों की व्यापकता और सार्वभौमिकता का सम्बन्ध है—वह भी उसने स्टोइकों से ही प्राप्त की थी। रोम की वैधानिक विचारधारा में सिसरो के न्याय तथा प्राकृतिक विधियों सम्बन्धी विचारों का बड़ा गहन प्रभाव पड़ा है। साम्राज्यवादी न्यायाचार्यों तथा ईसाई लेखक सिसरो के इन विचारों से बड़े प्रभावित हुए हैं—यह बात हम ऊपर भी एक स्थल पर कह आये हैं।

(ख) **मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार**—सिसरो के मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार प्लेटो तथा अरस्तू से भिन्न थे। प्लेटो तथा अरस्तू जहाँ एक ओर यह मानकर आगे चले हैं कि समस्त मनुष्यों का स्वभाव एक समान नहीं होता, उनमें मौलिक भेद होता है, वहाँ सिसरो का यह कहना है कि मनुष्य स्वभावतः समान होते हैं—या सभी मनुष्यों का स्वभाव समान होता है। इसका अर्थ यह होता है कि ऐसी कोई जाति या सामाजिक वर्ग नहीं होता जो सर्वथा गुणहीन हो या किसी गुण को प्राप्त न कर सके। इस आधार पर सिसरो ने दासता सम्बन्धी अरस्तू के इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया था कि दासता स्वाभाविक होती है। सिसरो का कहना था कि दासता की प्रथा अस्वाभाविक और कृत्रिम है।

(ग) **राज्य सम्बन्धी विचार**—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सिसरो का कहना था कि चाहे कोई समझौता हुआ हो या न हुआ हो—राज्य की उत्पत्ति अनिवार्यतः जनता की स्पष्ट सहमति के आधार पर हुई है। राज्य की उत्पत्ति के कारण पर भी सिसरो ने प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में सिसरो का कहना है कि राज्य इसलिए निर्मित नहीं हुआ कि जन-समूह के लोग अपने आपको निर्बल अनुभव करते थे—अपितु इसलिए हुआ कि वे साथ-साथ रहना चाहते थे : उनमें सामाजिकता की स्वाभाविक वृत्ति थी। इसी से राज्य की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार विभिन्न स्वार्थवाले वर्गों के एक जनसमूह में एक सर्वोच्च वैधानिक सत्ता की स्थापना हुई। इस प्रकार राज्य में सभी व्यक्ति विधियों के बंधनों में बँधे रहते हैं।

(घ) **विधि का सिद्धान्त**—सिसरो ने विधि के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी अपना मत प्रकट करते हुए बतलाया है कि सच्ची या वास्तविक विधि क्या है। इस सम्बन्ध में विधि की एक परिभाषा सिसरो ने दी है जो इस प्रकार है "विधि स्वभावसम्मत सामान्य विवेक है जो सार्वभौमिक और शाश्वत होती है।" इसका अर्थ यह है कि विधि के दो महत्वपूर्ण गुण हैं—पहला तो यह कि सच्ची विधि का प्रयोग सब पर सब व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है। इसे हम सार्वभौमिकता (Universalism) कह सकते हैं। सच्ची विधि का दूसरा युग यह होता है कि उसका प्रयोग किसी भी काल में किया जा सकता है। युगों का, काल का या समय परवर्तन का उस विधि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह गुण सच्ची विधि को शाश्वतता प्रदान करता है। सिसरो का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति का आधार भी यही विधिसिद्धान्त है। इस दृष्टि से सिसरो की 'डी रिपब्लिका' या उसका सर्वोत्तम राज्य प्लेटो या अरस्तू के सर्वोत्तम राज्य से भी अधिक विधि पर निर्भर करता है। राजनीति में विधि का प्रभाव उसी प्रकार बना रहता है जिस प्रकार व्यक्तिगत आचरण में नैतिकता का। इस प्रकार राजनीति के आचारों का निर्धारण करनेवाली विधियाँ ही होती हैं।

४.३ **सेनेका** (Seneca)—सेनेका रोम के पतित और भ्रष्ट सम्राट् नीरो का परामर्शदाता था। उसने इस पद पर लगभग आठ वर्षों तक कार्य किया। वह भी स्टोइकों के विश्व-बंधुत्व तथा मानवमात्र की समानता के सिद्धान्तों में विश्वास करता था। उसने एक ऐसी स्थिति की कल्पना की थी जिसमें मनुष्य बिल्कुल मासूम, निर्बाध और दोषरहित था। इस अवस्था

में वह बड़ा सुखी था। इस अवस्था में--जिसे बाद के विचारकों ने प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) बतलाया है--न तो दास प्रथा थी और न सम्पत्ति। सभी मनुष्य समान थे और उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता थी। लेकिन **सेनेका** (Seneca) ने बतलाया है कि मनुष्य इस अवस्था में बना न रह सका और शनैः शनैः उसका पतन हो गया। मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ की प्रवृत्ति आयी। स्वार्थ की प्रवृत्ति ने सम्पत्ति रखने का भाव पैदा किया। सम्पत्ति को लेकर विवाद और संघर्ष हुए जिनके परिणामस्वरूप राज्य का जन्म हुआ। इस प्रकार सेनेका के राज्य सम्बन्धी विचार यह बतलाते हैं कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य में आने वाली बुराइयों के कारण हुई। राज्य का प्राथमिक कर्तव्य निषेधात्मक (Negative) और प्रतिबंधात्मक है। अर्थात् राज्य को सबसे पहले यह देखना है कि कोई व्यक्ति किसी के अधिकार न छीने, किसी की सम्पत्ति न हड़पे अथवा किसी की स्वतंत्रता का अपहरण न करे। यदि ध्यान से देखा जाय तो **सेनेका** के इन कथनों में कोई मौलिकता नहीं है। यह सब बात स्टोइक विचारक पहले ही कह चुके थे। इन्हीं को लेकर ईसाई पादरियों ने राज्य की उत्पत्ति का विवेचन किया और उसे एक आवश्यक बुराई बतलाया। सेनेका का राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त बहुत अधिक विकसित नहीं है। यदि उसका समुचित विकास हुआ होता तो उसकी मूल और आरंभिक प्रवृत्तियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वह राज्य की उत्पत्ति के परम्परागत सिद्धान्त का विवेचन कर रहा था। कोई मौलिक विचार न देने के कारण ही सेनेका को महत्वपूर्ण विचारक नहीं समझा जाता।

५. रोमन राजनीतिक विचारों का अनुदाय

रोमन राजनीतिक विचारधारा का अनुदाय यूनानी राजदर्शन की भाँति किसी महान् दार्शनिक को उत्पन्न करने के रूप में नहीं हुआ है। यूनानी राजनीतिक विचारों में जहाँ एक ओर हम कल्पना-प्राचुर्य पाते हैं, वहाँ दूसरी ओर उनमें व्यावहारिकता का अभाव भी हमें स्पष्टतः खटकता है। इसी प्रकार रोमन राजनीतिज्ञों में जहाँ एक ओर राजनीतिक कल्पना-दृष्टि का अभाव है, वहाँ दूसरी ओर व्यावहारिकता की प्रबल क्षमता है। जो राजनीतिक विचार यूनानी नगर-राज्यों के काल में काल्पनिकता के आँचल में छिपे रहे उनको रोमन राजनीतिक विचारक व्यावहारिकता के मूर्तिमान रूप में ले आये। प्लेटो ने राज्य में जिस एकता की कल्पना की थी, जिसकी व्यावहारिकता आज भी संदिग्ध है, उसे रोमन गणतंत्र में प्रत्यक्ष कर दिखलाया गया। अरस्तू ने अपने सर्वोत्तम राज्य में जिस मिश्रित शासनतंत्र की कल्पना में राज्य की अनेकता और विविधमयता में एकता के दर्शन किये थे वह भी रोमन गणतंत्र में साक्षात् हो सकी। इसी प्रकार विधि को सर्वोच्च स्थान भी रोमनों ने ही दिया। यही कारण है कि **गेटिल** ने एक स्थान पर यूनानी और रोमन राजनीतिक विचारों की तुलना करते हुए उन्हें एक दूसरे का "पूरक" बतलाया है।[१] इसका अर्थ यह है कि यूनानी राजनीतिक कल्पना व्यवहार के क्षेत्र में यदि शिथिल पड़ती थी तो उस शिथिलता को रोमनों ने अपनी राजनीतिक-व्यवहार-कुशलता द्वारा दूर कर दिखलाया और रोमन राजनीतिक क्षमता कल्पना के क्षेत्र में यदि निर्बल पड़ती दिखलायी देती है तो उसकी पूर्ति यूनानी विचारधारा करती है।

आधुनिक देश और राष्ट्रराज्यों में हमें चार ऐसी उल्लेखनीय विशेषताएँ दिखलायी पड़ती हैं जिनका श्रीगणेश रोमन साम्राज्य से ही हुआ था, वे हैं:—विधि-व्यवस्था, सत्ता का केन्द्रीकरण, राज्य की एकता और सार्वभौमिकता की भावना। ये चारों विशेषताएँ रोमन राजनीतिक व्यावहारिकता के ऐसे अनुदाय हैं जिनको आधुनिकयुग विस्मृत नहीं कर सकता है।

१ "The Political Ideals of the Greeks and of the Romans were complementary, each being strong where the other was weak", R. G. Gettell, *History of Political Thought*, p. 78.

५.१ विधि-व्यवस्था——प्लेटो ने **'लॉज'** (The Laws) में विधि की सर्वोच्चता पर सबसे पहले बल दिया था क्योंकि प्लेटो ने **'रिपब्लिक'** (The Republic) में जिस आदर्श राज्य की कल्पना की थी बाद में उसे ऐसा लगा कि वह कल्पना-जगत की वस्तु ही रह जायगी और संसार में ऐसा दार्शनिक राजा शायद ही पैदा हो जो आदर्श राज्य का आदर्श राजा बन सके। इसके बाद अरस्तू ने भी अपने सर्वोत्तम राज्य में विधि की प्राथमिकता पर विशेष रूप से बल दिया। लेकिन प्लेटो तथा अरस्तू द्वारा विधि की दी गयी यह प्राथमिकता यूनानी नगर राज्यों में जैसा वह चाहते थे——उस तरह से कार्यान्वित नहीं हो सकी। उसका सच्चा स्वरूप रोमन गणतंत्र और रोमन-साम्राज्य में ही निखर सका। विधि के क्षेत्र में रोमनों की प्रतिभा अत्यन्त सफल रीति से मुखरित हुई। रोम की **जस्टीनियन विधि संहिता** इसका प्रमाण है। यह संहिता एक दिन के प्रयत्न का परिणाम नहीं है। शताब्दियों से इस संहिता को संकलित करने के लिए अनेक प्रतिभासम्पन्न विद्वानों ने प्रयत्न किये तब जाकर यह कहीं तैयार हो सकी ? रोमनों के धैर्य तथा बौद्धिक-क्षमता की इस संहिता के अध्ययन द्वारा भली भाँति कल्पना की जा सकती है। आजकल का शायद ही ऐसा कोई सभ्य राष्ट्र हो जिसकी नागरिक विधियाँ किसी न किसी रूप में रोमन विधि संहिताओं से प्रभावित न हों। इसका कारण रोम के प्रति किसी विशेष रुचि का होना नहीं है——अपितु रोमन विधि संहिताओं की व्यापकता तथा सार्वदेशिक उपयोगिता का गुण ही है। रोमन विधिवेत्ताओं ने ही संसार को यह शिक्षा दी है कि विधियाँ लोकमत को व्यक्त करती हैं और उन्हीं ने नैतिक आचरण तथा विधिसम्मत आचरण——इन दोनों के बीच अन्तर स्थापित करते हुए बतलाया कि यह अनिवार्य नहीं है कि प्रत्येक नैतिक कार्य को सदैव विधि का भी समर्थन प्राप्त हो। नैतिकता व्यक्तिगत आचरण की वस्तु है और नैतिकतासम्मत प्रत्येक कार्य को विधि का समर्थन मिलना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है। लेकिन एक स्थिति ऐसी भी आती है जब नैतिकता की सार्वभौमिक मान्यताओं के आधार पर ही विधियों का निर्माण हो जाता है। लेकिन रोमन मस्तिष्क विधियों पर बहुत अधिक आग्रह करने के कारण एक सीमा के बाद इतना कुंठित हो गया कि व्यावहारिकता के जिस लक्ष्य को लेकर आगे चला था——वही नष्ट हो गया। विधियों पर बहुत अधिक बल देने के कारण कभी-कभी ऐसी भी बातें हो गयीं जो व्यावहारिकता की दृष्टि से त्याज्य थीं। नागरिक-विधियों में कानून संबंधी भी बहुत से दोष हम देखते हैं——वे इसी वैधानिकता के अपविकास के द्योतक हैं। उदाहरण के लिये विधियों में विशेषकर रोमन विधि में मान्यताओं में दोष सिद्ध करने के लिए प्रमाणों को उपस्थित करने के लिए इतना बल दिया जाता है कि उचित प्रमाण उपस्थित कर सकने की अवस्था में दोषी व्यक्ति भी बेदाग छूट जाते हैं और कभी-कभी इसका उलटा भी हो जाता है। अत्यधिक वैधानिक मस्तिष्क में यह दोष आ जाना स्वाभाविक है और यही दोष हम रोमन विधि प्रणाली में पाते हैं।

रोमनों ने ईसाई धर्म का प्रचार होने के बहुत पहले ही यूरोप भर में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इस साम्राज्य में व्यवस्था स्थापित करने के लिए उन्होंने बड़े-बड़े राजपथों का निर्माण कराया था। प्रतिरक्षा के लिए सीमाओं पर बड़ी-बड़ी दीवालें बनवायी थीं जिनमें सैनिकों के पहरों की व्यवस्था थी। साम्राज्य भर में शान्ति बनाये रखने के लिए जगह-जगह पर रोमनों के नगर-रक्षक सैनिक दल (Roman legious and garrisons) रहा करते थे। इसी व्यवस्था के बने रहने के कारण रोम साम्राज्य में व्यापार और वाणिज्य खूब पनपा था। लेकिन विधि-व्यवस्था की स्थापना का लक्ष्य शान्ति की रक्षा करने तक ही बाद में सीमित न रहा बल्कि शान्ति रक्षा के नाम पर कुछ काल बाद रोमन अधिकारियों ने और सैनिक अफसरों ने प्रजा का दमन करना आरंभ कर दिया। इसलिए शान्ति-व्यवस्था के

नाम पर की जाने वाली सरकारी कार्रवाइयों को निरंकुश आतंकवाद की संज्ञा दी जाने लगी। प्रजातंत्रवाद तथा समानता, यूनानी नगर-राज्यों के इन राजनीतिक आदर्शों को कुचल डाला गया। रोमन साम्राज्य में शान्ति-व्यवस्था के नाम पर किसी भी नए काम को करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि रोमन साम्राज्य का स्वाभाविक विकास रुक गया और "जैसी स्थिति थी वैसी ही स्थिति बनी रहे" की भावना ने उन्माद जैसा भाव धारण कर लिया। यह विचार-भ्रष्टता रोमन साम्राज्य के पतन का कारण बन गयी।

५.२ **सत्ता का केन्द्रीकरण**––सत्ता को एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित कर देने की कल्पना भी अपने मौलिक स्वरूप में यूनानी ही है। सबसे पहले प्लेटो ने ही यह बतलाया था कि आदर्श राज्य की सत्ता दार्शनिक-राजा के हाथ में ही केन्द्रित होनी चाहिए। बाद मे इस कल्पना में यह संशोधन किया गया कि सत्ता विधि-सम्मत राजनीतिक संस्थाओं मे केन्द्रित कर दी जाय इसी का समर्थन अरस्तू ने भी किया था। लेकिन यूनानी नगर-राज्यों के क्षेत्रीय दृष्टि से सीमित होने के कारण सत्ता के केन्द्रीकरण की आवश्यकता यूनानी नगर-राज्यों के शासकों ने कभी अनुभव नहीं की। लेकिन रोमन साम्राज्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और उसमे यह संभव नहीं था कि प्रत्यक्ष प्रजातंत्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार शासन-कार्य चलाया जा सके। इस प्रकार रोमन साम्राज्य में सत्ता का केन्द्रीकरण एक राजनीतिक आवश्यकता बन गयी। समस्त साम्राज्य का शासन-कार्य रोम से ही संचालित होता था। लेकिन सत्ता के इस केन्द्रीय-करण के कारण एक बड़ी क्षति यह हुई कि शासकों और शासितों के दो अलग वर्ग बन गये और उनमें परस्पर कोई समानता शेष न रह गयी। इसके साथ ही यूनानी नगर-राज्यों में जो प्रजातंत्रवादी भावना थी वह भी समाप्त हो गयी। शासकों और शासितों के राजनीतिक अधिकारों म बड़ा अन्तर आ गया। लेकिन सत्ता के केन्द्रीकरण का लाभ भी हुआ। वह यह कि विधि के अनुसार साम्राज्य का शासन होने लगा—व्यक्तियों की इच्छा के अनुसार नहीं। रोमन साम्राज्य में एथेन्स या स्पार्टा की भाँति किसी एक व्यक्ति की जनसमूह को सम्मोहित कर लेने की योग्यता पर राज्य का शासन नहीं चलता था। वहाँ तो निश्चित राजनीतिक संस्थान (Political Institution) थे। उनके विधि द्वारा निर्दिष्ट अपने कर्तव्य और अधिकार थे जिनके अनुसार शासन-कार्य हुआ करता था। यद्यपि यूनानी ढंग का प्रजातंत्र, जिसे आजकल हम **प्रत्यक्ष प्रजातंत्र** (Direct Democracy) की संज्ञा देते हैं, रोमन-साम्राज्य ने नहीं चल सका किन्तु उसने उस प्रतिनिधि प्रजातंत्र के लिए मार्ग खोल दिया जो आजकल राष्ट्र-राज्यों में सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय है।

५.३ **राज्य की एकता**––आधुनिक राष्ट्र-राज्यों में हम अनेक जातियों विभिन्न भाषा-भाषियों तथा विभिन्न संस्कृति के लोगों को एक साथ रहते पाते हैं। अमेरिका, चीन, रूस, स्विट्जरलैण्ड, भारत आदि ऐसे ही राष्ट्र राज्य हैं। यदि इस अवस्था की तुलना हम प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों से करें तो देखेंगे कि तत्कालीन यूनानी नगर-राज्य के किसी भी नागरिक के लिए ऐसी कल्पना करना भी कठिन था। एक राज्य में विभिन्न जातियों, संस्कृतियों और भाषाओं के संगम की कल्पना सर्वप्रथम रोमन साम्राज्य में ही मूर्तिमान हुई थी। यूरोप के अधिकांश राज्य रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इन सभी राज्यों को एकता के सूत्र में पिरो देने का कार्य रोमन साम्राज्यने किया था। रोमन अधिकारियोंने इन सभी राज्यों को एक-से राजनीतिक संस्थान और एक-सी विधि-व्यवस्था प्रदान की। राजनीतिक संस्थानों की एकता तथा विधियों की समानताने विभिन्न जातियों को शिक्षा दी कि वे एकही राज्य में एक स्थान में भी रह सकती ह बशर्ते उनके अधिकार विधि द्वारा रक्षित हों। रोमन साम्राज्य नष्ट हो गया लेकिन उसकी ये विशेषताएँ राष्ट्र-राज्यों के विकास के लिए वरदान तुल्य सिद्ध हुईं।

५.४ सार्वभौमिकता—रोमन साम्राज्य भर में क्रमशः राजनीतिक, वैधानिक और सामाजिक संस्थानों के एक समान हो जाने के कारण उसकी व्यापकता बहुत अधिक बढ़ गयी। स्थानीय भेद-भावों के प्रति लोग सहिष्णु हो गए और उन्हें अत्यन्त तुच्छ दृष्टि से देखा जाने लगा। यह भी समझा जाने लगा कि सभी मनुष्य समान हैं। समानता के इस भाव ने एक नयी स्नेह या प्रेम की भावना को जन्म दिया जो कालान्तर में विश्वबंधुत्व के नाम से विख्यात हुई। आजकल विश्वबंधुत्व की भावना रोमन साम्राज्य के दिनों की अपेक्षा और भी प्रबल हो गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की पृष्ठभूमि में एक सीमा तक विश्वबंधुत्व की भावना ही है। मानवाधिकार आयोग (Human Rights Commission) का कार्य तो इसी भावना से प्रेरित है। यूनानी नगर-राज्यों के जीवन के अंतिम काल में स्टोइक विचारकों ने जिस विश्वबंधुत्व का प्रचार किया था, उसको आगे बढ़ाने में रोमन विचार-धारा ने अजागरूक रूप से सक्रिय सहयोग दिया।

ईसाई तथा उनके अनुयायी

१. ईसाई धर्म का प्रभाव और उसकी पृष्ठभूमि--२. ईसा का जन्म--३. सन्त पॉल और ईसाई धर्म--४. फिलो, जस्टीनियन और टर्टूलियन--५. सन्त एम्ब्रोस और पोप गिलोसियस प्रथम--६. सन्त ऑगस्टाइन का जीवन परिचय--७. ऑगस्टाइन के राज्य, सम्पत्ति और दासता सम्बन्धी विचार--८. सन्त ऑगस्टाइन का प्रभाव और स्थान--९. सारांश।

१. ईसाई धर्म का प्रभाव और उसकी पृष्ठभूमि

वैसे तो ईसाई धर्म का प्रभाव सम्पूर्ण मध्ययुग पर दिखलायी पड़ता है लेकिन ईसा के जन्म से लेकर आठवीं शताब्दी तक ईसाई धर्म का मध्ययुग में विशेष रूप से अभ्युदय हुआ। मध्ययुग की गतिधारा को निश्चित करने वाली तीन शक्तियाँ थीं। पहली शक्ति यूनान तथा रोम की विचारधारा थी; दूसरी, बर्बर जातियों की शक्ति थी और तीसरी शक्ति थी ईसाई धर्म तथा उनके मठों की। ईसाई धर्म तथा मठों के अधिष्ठाता एवं अध्यक्ष ईसाई पादरी और सन्त हुआ करते थे। अतएव मठों की शक्ति सम्पूर्णत: उन्हीं के हाथों में रहा करती थी और क्योंकि उन दिनों जनता अत्यन्त धर्मभीरु थी इसलिए जनता पर मठों तथा उनके मुख्य पादरियों का प्रभाव भी बहुत अधिक रहा करता था। इस प्रभाव का कारण यह था कि ईसाई धर्म की विचारधारा बर्बर जातियों के आक्रमणों तथा अत्याचारों से त्रस्त जनता की उद्धार की आशा दिलाती थी। वह सांसारिक जीवन से अधिक पारलौकिक जीवन का महत्व बतलाती हुई व्यक्ति को मोक्ष के द्वार तक ले जाने का दावा करती थी। रोमन साम्राज्य के बाह्य प्रदर्शनों तथा विकास एवं वैभव से ऊबी जनता को ईसाई धर्म में ही अपनी मुक्ति की आशा दिखलायी पड़ी। यूनानी विचारधारा दासता की प्रथा का समर्थन करती थी जो कल्याण की दृष्टि से अभीष्ट न था। ईसाई धर्म ने दासता की प्रथा को निकृष्ट मानकर मानव मात्र की समानता का प्रचार किया। फलत: जनता का उसकी ओर झुकना स्वाभाविक था।

यद्यपि पश्चिमी यूरोप में रोमन साम्राज्य का बड़ा प्रबल प्रभाव था तथापि ज्यों-ज्यों पश्चिम से पूर्व की ओर रोमन साम्राज्य का विस्तार बढ़ा त्यों-त्यों उसमें रोमनों के प्रति विद्रोह की भावना अपने आप प्रकट होती दिखलायी पड़ने लगी। फिलस्तीन में रोमन साम्राज्य के शक्तिकाल में भी ऐसे तत्व थे जो रोम की विलास-प्रियता तथा बाहरी तड़क-भड़क के पीछे रोमनों के बौद्धिक तथा मानसिक दिवालियेपन का अनुभव करते थे। वे तत्कालीन जनता को रोमनों की नकल से सावधान भी किया करते थे। ऐसे प्रचारकों में यहूदी सम्प्रदायों का मुख्य रूत से हाथ था। इन यहूदी सम्प्रदायों के प्रचारक नबी या रब्बी कहलाते थे। इनका कहना था कि आडम्बर जीवन से सादा जीवन कहीं अधिक अच्छा है और जो लोग सादा जीवन व्यतीत करते हैं वही ईश्वर के कृपा-पात्र होते हैं और एक दिन समूचे विश्व में ऐसे ही लोगों का राज्य भी होगा ये विचार आज भले ही रूढ़िवादी प्रतीत होते हों किन्तु उस समय इन्हें बड़ा क्रान्तिकारी समझा जाता था। रोमवासी भी यहूदियों की इस क्रान्तिकारिणी राष्ट्रीयता से सजग रहते थे और यथाशक्ति तुष्टीकरण की नीति द्वारा यहूदियों की विद्रोही भावनाओं को

सन्तुष्ट रखने में ही अपना कल्याण समझते थे। यही कारण है कि जहाँ तक धार्मिक आचार-विचारों का संबंध है, रोमनों ने यहूदियों को कभी तंग नहीं किया। यहूदियों को रोमन काल में अपने धर्मानुकूल आचरण करने तथा संघटन करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। परन्तु इतने पर भी रोमनों के धर्म-पुरोहित तथा उनकी धार्मिक संस्थाएँ यहूदियों को हेय दृष्टि से ही देखती थीं। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि रोमनों का यही दृष्टिकोण उनके पतन का मुख्य कारण बना।

२· ईसा का जन्म

ईसा का जन्म रोमनों से अपमानित किन्तु सादा जीवन में विश्वास करनेवाले इन्हीं यहूदी सम्प्रदायों में से एक में हुआ। इनकी माँ का नाम कुमारी मेरी (Virgin Mary) था। ईसा के बड़े होने पर लगभग ३० वर्ष की अवस्था में एक आकाशवाणी हुई जिसमें ईसा को भगवान का पुत्र घोषित किया गया और सर्वसाधारण से कहा गया कि वे ईसा के उपदेशों के अनुसार आचरण करें—इसी से उनका कल्याण होगा। ईसा ने अपनी शिक्षाओं में व्यावहारिक जीवन में नैतिकता पर अधिक बल दिया तथा सांसारिक जीवन से पारलौकिक जीवन को अधिक दिव्य बतलाया। ईसा ने कहा कि सांसारिक जीवन में कष्ट उठाकर भी जो सबके प्रति करुणापूर्ण व्यवहार करते हैं—वही स्वर्ग में ईश्वर के निकट स्थान प्राप्त करते हैं। ईसा ने व्यक्ति की गरिमा तथा मानव की प्रतिष्ठा पर बल दिया। उन्होंने सर्व प्रथम मानव-एकात तथा समानता का पाठ पढ़ाया और बतलाया कि बड़े वही हैं जो नैतिक आचरण में विश्वास रक्खें। इस प्रकार उन्होंने बताया कि व्यक्तियों के नैतिक आचरण से समाज अपने आप ही नैतिक हो जायगा। यही कारण है कि व्यक्ति के आन्तरिक सुधार तथा आत्मोन्नति पर ईसा ने सबसे अधिक बल दिया।

२.१ **ईसा की शिक्षाएँ**—संक्षेप में ईसा की शिक्षाएँ इस प्रकार थीं—ईश्वर का दर्शन उहीं को हो सकता है जो पवित्र हैं। पवित्र वही व्यक्ति कहला सकते हैं जिनका हृदय शुद्ध है अतएव, प्रत्येक व्यक्ति को अपना हृदय शुद्ध रखना चाहिए तभी वह पवित्र हो सकता है और उसे ईश्वर के दर्शनों की प्राप्ति हो सकती है। मानसिक पाप भी उतना ही त्याज्य है जितना वह पाप जो व्यवहारतः किया जाता है। जिस प्रकार चोरी त्याज्य है उसी प्रकार मन में चोरी करने की भावना का जन्म होना भी पाप है। मनसा, वाचा, कर्मणा मनुष्य को पवित्र विचारों में विश्वास रखना चाहिए। उसे शत्रुओं से प्रेम करना चाहिए। यदि कोई हमारे गाल पर एक थप्पड़ मारे तो उसके सामने हमें दूसरा गाल भी कर देना चाहिए। यदि कोई हमें गाली दे तो हमें उसे आशीर्वाद देना चाहिए। सब मनुष्य एक ही ईश्वर के पुत्र हैं, अतएव सब भाई-भाई हैं। न कोई किसी से बड़ा है और न कोई किसी से छोटा। जो बुद्धि तथा बल में बढ़े-चढ़े हैं उनका कर्तव्य है कि वे पिछड़े हुए लोगों को भी अपने बराबर लाने का यत्न करें। धन त्याज्य है; क्योंकि उससे अहंकार बढ़ता है और अहंकारी व्यक्ति कभी स्वर्ग में प्रवेश नहीं पा सकता। वह कभी सच्चा ईश्वर-पुत्र नहीं हो सकता। ईश्वर-पुत्र विनम्र तथा सहृदय व्यक्ति ही हो सकता है।

२.२ **शिक्षाओं का प्रभाव**—ईसा की शिक्षाओं का तत्कालीन समाज पर बड़ा क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। यदि हम ईसा की शिक्षाओं की तुलना प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों से करें तो हमें दोनों विचारधाराओं का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। **प्लेटो** तथा अरस्तू व्यक्ति को साधन मानकर राज्य को साध्य मानते थे। यही कारण है कि प्लेटो ने विवेक तथा ज्ञान पर अधिक बल दिया और करुणा, सहानुभूति, दया और दान आदि को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया। अरस्तू ने भी प्लेटो के ही विचारों की पुष्टि की। इनके विपरीत ईसा की शिक्षाओं ने एक ऐसी

विचार-रेखा अंकित की जो उपरोक्त विचारधाराओं से सर्वथा भिन्न थी। अरस्तू ने स्पष्टतः कहा था कि मनुष्य स्वभावतः असमान होते हैं। प्लेटो न भी मानवमात्र की समानता का प्रतिपादन नहीं किया और दासता की प्रथा को उचित ठहराया। ईसाई धर्म ने जहाँ एक ओर मनष्यमात्र को समानता का समर्थन कियावहीं इसके साथ दासता की प्रथा का विरोध किया। यह तो हुई यूनानी विचारधारा से ईसाई विचारधारा की भिन्नता। अब हम ईसाई धर्म की रोमन विचारधारा से भिन्नता का अध्ययन करेंगे। सिकन्दर की दिग्विजय से लेकर रोमन साम्राज्य के अन्त से कुछ पूर्व तक स्थिति यह थी कि राजनीति को दैवी कार्यों से अधिक श्रेष्ठ माना जाता था। धर्म राजनीति का एक अंग मात्र समझा जाता था। वीर-पूजा की भावना को प्रमुखता प्राप्त थी। यह वीरत्व क्या था ? इसका आधार क्या था ? इन प्रश्नों का उत्तर बड़ा आसान है। मध्ययुग का सारा वीरत्व पशुबल पर आधारित था। इस काल में जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती थी। डाकू और सिकन्दर का प्रसिद्ध वार्तालाप इसी ओर संकेत करता है। एसी परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ईसा की शिक्षाओं का प्रभाव यह हुआ कि राजनीति और धर्म का बिल्कुल पृथक्-पृथक् अस्तित्व हो गया। ईसा ने अपनी शिक्षाओं में कहा कि "जो सीजर का है उसे सीजर को दो और जो ईश्वर का है उसे ईश्वर को दो।" इस शिक्षा का आशय यह था कि राजनीतिक जीवन बाह्य एवं सांसारिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है तथा दैवी या आध्यात्मिक जीवन व्यक्ति के अन्तरतम का। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह बाह्य और आन्तरिक दोनों संसारों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करे। आध्यात्मिक संसार को बाह्य या भौतिक संसार को अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करना चाहिए। ईसा ने यह भी कहा कि आध्यात्मिक या दैवी और भौतिक आदर्शों में जब संघर्ष हो तो मनुष्य को दवी आदर्शों को मानना चाहिए। ईसाई विचार धारा ने राज्य की कल्पना को स्टोइक विचारकों की भाँति नगर-राज्य की सीमित एवं संकुचित परिधि से बाहर निकालकर उसे एक सार्वभौमिक रूप देने का प्रयत्न किया। कुछ विचारकों को ऐसा भी लगता है कि ईसा ने अपनी विचारधारा द्वारा राज्य की एकता को मिटान का प्रयत्न किया। लेकिन ऐसा सोचना ठीक नहीं है। ईसा व्यक्ति के नैतिक उत्थान के कट्टर समर्थक होते हुए भी अराजकतावादी नहीं थे। ईसा की विचारधारा अपेक्षाकृत उदार थी। वे आत्मसंतोष की शिक्षा देते थे। भौतिक पदार्थों की लिप्सा बढ़ाने का यत्न नहीं करते थे। किसी प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलन की सृष्टि करना उनका लक्ष्य नहीं था। यही कारण है कि रोमनों ने उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की। एक बार उनके विरुद्ध मुकदमा भी चलाया गया तो रोमन न्यायालय ने ईसा को निर्दोष घोषित करके छोड़ दिया। यहूदियों को ईसा से चिढ़ थी। इस चिढ़ का कारण यह था कि ईसा धन को पाप का घर मानते थे। वह धनिकों से तो नहीं लेकिन धन के प्रभावों से घृणा करते थे। यह मानते थे सांसारिक धन और वैभव आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी बाधा है। इस काल में यहूदी ही अधिकतर धनी थे; अतएव, उन्हें लगता था कि ईसा उनके विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं। दूसरे, यहूदी पुरोहितों या रब्बियों में ईसा पर कोई विश्वास न था। इस सबसे जल कर कुछ विद्वेषी यहूदियों ने ईसा को उनके एक शिष्य जूडो की सहायता से पकड़ लिया और अपनी अदालत के सामने पेशकर ३३ वर्ष की अल्पावस्था में सूली की सजा सुना दी। कहा जाता है कि यहूदियों पर आज तक जो भाँति-भाँति के अत्याचार किए जाते हैं वे सब ईसा की हत्या के ही अभिशाप हैं।

ईसा की मौत के बाद ईसाई धर्म के प्रचार तथा प्रसार पर रोक लगा दी गयी। ईसा के बहुत से शिष्यों को पकड़ लिया गया। कई को फाँसी दे दी गयी तथा कई कालकोठरियों में डाल दिये गये। उनके अनुयायियों पर भी भाँति-भाँति के अत्याचार किये गये। इतने पर भी ईसाइयों ने यहूदियों के हित के लिए जहाँ तक

संभव हुआ, कार्य किये। प्रारंभ में ईसाई-धर्म का प्रचार यहूदियों में ही हुआ औय बाद मे वह अन्य लोगों म फैला।

३. सन्त पॉल और ईसाई धर्म

ईसा के सूली पर चढ़ा दिये जाने के बाद ईसाई धर्म का ध्वज टारसस नगरवासी सन्त पॉल ने उठाया। सन्त पॉल पहले यहूदी था परन्तु कहा जाता है कि एक बार यात्रा करते समय उसे अकस्मात् दैवी वाणी सुन पड़ी कि संसार में ईसाई धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। इससे वह ईसाई धर्म का अनन्य भक्त बन गया। सन्त पॉल का ईसाई बनने के पूर्व का नाम सॉल था। वह रोमन नागरिक था और इस नाते उसने ईसाइयों पर बड़े अत्याचार किये थे। बाद मे दैवी प्रेरणावश उसके विचार बदल गए और उसे स्वयमेव विश्वास हो गया कि ईसाई धर्म अखिल विश्व के लिए कल्याणकारी है। वह यहूदियों के लिए ही नहीं, सारी मानवता के लिए मोक्षगामी है। इस विश्वास ने सन्त पॉल को अपूर्व शक्ति प्रदान की और वह ईसाई धर्म के प्रचार और प्रसार में जी जान से जुट गया।

३.१ **विचार स्रोत**––सन्त पॉल के विचारों का अध्ययन करने से उसके विचार-स्रोत स्पष्ट हो जाते हैं। इन विचारों पर यूनानी तथा यहूदी प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। पॉल जन्म से यहूदी था परन्तु जिस काल में वह पैदा हुआ उस पर यूनानी प्रभाव सर्वोपरि था। सन्त पॉल ने दोनों स्रोतों से प्रभावित होकर उनकी अच्छी बातों को अपनाया। उसने एक ओर यहूदी समाज को अपनी व्यापक दृष्टि से गति प्रदान की और दूसरी ओर यूनानी दृष्टिकोण की कभी-कभी निराधार रह जाने वाली कल्पनाओं को साधार और यथार्थ बनाया।

३.२ **मनुष्य का स्वभाव**––मनुष्य के स्वभाव संबंधी सन्त पॉल के प्रारंभिक विचार यहूदी समाज के हैं। यहूतियों की भाँति सन्त पॉल का विचार था कि मनुष्य पापी है। संसार निस्सार है। मनुष्य का स्वभाव दुष्ट है और वह सदा पाप ही करने की इच्छा रखता है। शरीर और आत्मा सदैव संघर्षरत रहते हैं। शरीर सांसारिक सुखोपभोगों तथा पापों में डूबा रहना चाहता है और आत्मा मुक्ति चाहती है। यदि मनुष्य ईश्वर की शरण में चले जायँ तो उन्हें मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

३.३ **ईसाई धर्म का कार्य**––मानव-स्वभाव का उक्त प्रकार से विवेचन कर देने के पश्चात् सन्त पॉल ने बतलाया कि ईश्वर की शरण में हम किस प्रकार जा सकते हैं। शरण पाने के लिए पथ-प्रदर्शक या गुरू की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार का पथ-प्रदर्शन केवल ईसा ही कर सकते हैं। वे सशरीर उपस्थित नहीं हैं लेकिन उनके धर्म का अनुसरण करने से ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। मुक्ति-मार्ग बाधाओं और कठिनाइयों से जकड़ा पड़ा है। उन्हें पार करना कोई सरल कार्य नहीं, इसके लिए सभी प्रकार के कष्ट और अत्याचार सहन करने पड़ते हैं। जो पीड़ा सहेंगे, दमन बरदाश्त करेंगे और जिन्हें वेदना में भी दूसरों की भलाई का ही ध्यान रहेगा, वही ईश्वर के प्रेम के भागी और दया के पात्र बनेंगे। उनको ही मुक्ति मिलेगी। सन्त पॉल ने ईसाई धर्म की शिक्षाओं का सर्वग्राह्य भाष्य किया। सन्त पॉल ने कहा कि अकेले यहूदी ही नहीं––समस्त ईसाई ईश्वर की कृपा के पात्र हो सकते हैं और ईसाई कोई भी हो सकता है। सन्त पॉल ने परिव्रजन करके स्थान-स्थान पर असंख्य व्यक्तियों को ईसाई धर्म की दीक्षा दी, मठों तथा गिरजाघरों की स्थापना की और इस प्रकार एक ऐसे ईसाई समाज की नींव डाली जिसका सामना करने में यूरोप के बड़े से बड़े राजा-महाराजा काँपते थे। सन्त पॉल ने राजसत्ता को ईश्वरीय बतलाया और कहा कि सरकारी अधिकारियों को भगवान् का सेवक समझना चाहिए। जैसा पहिले बताया जा चुका है, ईसा ने कहा था "जो ईश्वर का है उसे ईश्वर को दो और जो सीजर का है उसे सीजर को दो"। इसी शिक्षा के आधार पर सन्त पॉल ने कहा कि ईसाइयों को राजसत्ता का आज्ञापालन करना चाहिए।

सन्त पॉल की शिक्षाओं का इसाई धर्म पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। सन्त पॉल ने ईसाई धर्म को कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रदान किए कि ईसाई धर्म आगे चलकर अपने पैरों पर आप खड़ा हो गया। सन्त पॉल की शिक्षाओं ने ईसाई समाज की आन्तरिक दुर्बलताओं को दूर किया और उसे अविछिन्न एकता के सूत्र में ऐसा बाँधा कि बाह्य शक्तियों के हजार अत्याचार करने पर भी ईसाई-धर्म की शक्ति क्रमशः बढ़ती ही चली गयी।

४. फिलो, जस्टिन और टर्टूलियन

ये तीनों ही यहूदी विचारक थे। **फिलो** (Philo) ईसा की पहली शताब्दी में उत्पन्न हुआ था; **जस्टिन** (Justin) तथा **टर्टूलियन** (Tertulian) दूसरी शताब्दी में हुए थे। इन तीनों ही विचारकों ने ईसाई धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए जितना इनसे संभव हुआ, कार्य किया। ईसाई धर्म में इन तीनों ही विचारकों ने यथाशक्ति समन्वय की भावना भरने का यत्न किया। फिलो तथा जस्टिन ने यहूदियों के धर्मग्रंथों का अध्ययन किया। **प्लेटो** के राजनीतिक एवं धार्मिक विचारों को पढ़ा तथा अन्य उपलब्ध सामग्री को संयोजित कर सबके सार को निकाला और बतलाया कि ईसाई धर्म इन सब का किस प्रकार प्रतिनिधित्व करता है। **फिलो** सिकन्दरिया का रहने वाला था। इसका सबसे बड़ा अनुदाय यह है कि उसने प्लेटो का भली भाँति अध्ययन कर ईसाई धर्म तथा प्लेटो के विचारों की समानता पर प्रकाश डाला। फिलो के प्रयत्नों के फलस्वरूप ईसाई धर्म पर लगभग १००० वर्षों तक प्लेटो के विचारों का प्रभाव बना रहा। **जस्टिन** दूसरी शताब्दी का यहूदी विचारक था। इसका नाम प्लेटो तथा इस्टोइक विचारधाराओं के अध्ययन के कारण बड़ा प्रसिद्ध है। उसने प्लेटो तथा स्टोइक विचारों का अध्ययन कर यह परिणाम निकाला कि ईसाई धर्म ही दोनों से उत्तम है। इस नतीजे पर पहुँचने के बाद जस्टिन ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। ईसाई धर्म के लिए लड़ते-लड़ते सन् १६८ में इसकी मृत्यु हो गई। इसीलिए जस्टिन को शहीद की उपाधि भी दी जाती है। वह मूर्त्ति-पूजकों का बड़ा विरोधी था। शहीद जस्टिन ने ईसाइयों का आचरण बड़े अच्छे ढंग से बतलाया। उसने लिखा है, "पहले हम लोगों को अशुद्ध एवं अपवित्र जीवन बिताने में ही सुख मिला करता था; लेकिन अब (अर्थात् ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात्) हमें शुद्ध जीवन ही सर्वोत्तम लगता है। हम लोग पहले मूर्तिपूजा, जंत्र, तंत्र एवं मंत्र में विश्वास करते थे लेकिन अब हम एक ईश्वर की शरण में जा चुके हैं। पहले हमें अपनी चीजों को अपने पास रखने में ही सुख मिलता था लेकिन अब हमें उन्हें दूसरों के बीच बाँटने में आनन्द आता है। अब हम घृणा नहीं करते—सब से प्रेम करते हैं शत्रुता नहीं करते शत्रुओं के लिए भी ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।"[1] इसमें संदेह नहीं कि ईसाइयों की इस शांतिभावना तथा प्रेम का कुछ मूर्त्तिपूजक रोमनसम्राटों ने घोर असम्मान किया और उनको हर तरह से तंग किया। उदाहरण के लिए नीरो का नाम लिया जा सकता है। यह रोमन सम्राट् बहुत से ईसाइयों को एक साथ पकड़ कर उन्हें सूली पर चढ़ा दिया करता था। उन पर बर्बर और खूँखार जानवर छोड़ देता था जो लाशों तथा अर्ध-मृतकों को चीर-फाड़कर खा जाते थे और कुछ पर तेल छिड़क कर आग लगवा देता था और स्वयं इन सब कार्य में बड़ा आनन्द लेता था।[2] दूसरी शताब्दी में ही शहीद जस्टिन के बाद **टर्टुलियन** नाम का एक दूसरा यहूदी विचारक आया। उसनें संसार को असार बतलाया। जीवन की निस्सारता बतलाते हुए उसने 'विरक्ति' पर विशेष बल दिया। उसने कहा, "सभी व्यक्तियों में एक समान आध्यात्मिक बल होता है और प्रयत्न करके कोई भी ईश्वर की शरण में पहुँच कर मुक्ति लाभ कर सकता है।" टर्टुलियन को मूर्त्तिपूजकों (Pagan) या अन्य गैर ईसाइयों से सहानुभूति न थी। उसने यहाँ तक कह दिया था कि जब गैर ईसाई खुश

1 Fisher, *History of Europe*, p. 57.
२ यह विवरण टेसीटस ने अपनी पुस्तक में लिखा है।

हों तो ईसाइयों को शोक मनाना चाहिए और जब गैरईसाई शोक बनावें तब ईसाइयों को खुशियाँ मनानी चाहिए। इस प्रकार यदि ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि टर्टुलियन ने तीन बातों का प्रचार किया। पहली यह कि संसार निस्सार है; उससे जितनी जल्दी कोई विरक्त हो उतना ही अच्छा। दूसरी, यह कि गैरईसाइयों से अलग रहा जाय और तीसरी, यह कि मनुष्यमात्र ईसाई धर्म की शरण में आने के बाद ही जीवन से उद्धार पा सकता है।

फिलो, शहीद जस्टिन तथा टर्टुलियन के विचारों की तुलना यदि सन्त पॉल के विचारों से की जाय अथवा उक्त तीनों विचारकों के विचारों की तुलना परस्पर की जाय तो सिद्धान्तों और विचारों की भिन्नता स्पष्ट होते देर न लगेगी। इसका मुख्य कारण यह था कि ईसाई धर्म के सन्तों तथा महात्माओं और प्रचारकों ने जिन परिस्थितियों में ईसाई धर्म का प्रचार किया वे बराबर बदलती रहीं। इन बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप ईसाइयत के समर्थकों ने अपनी शिक्षाओं और सिद्धान्तों में भी समुचित परिवर्तन करने में कोई आनाकानी नहीं की।

५. संत एम्ब्रोज और पोप गिलोसियस प्रथम

सन्त एम्ब्रोज का जन्म ३४० ई० में हुआ था। सन्त एम्ब्रोज को ईसाई धर्म की लोकशक्ति में उसकी लोकप्रियता के कारण बड़ा विश्वास था। यही कारण है कि सम्राट् की शक्ति के आगे झुकने से उसने इन्कार कर दिया। उसने ईसाई धर्म को परमुखापेक्षी भावना से बचाया और ईसाई धर्म की स्वतंत्रता का विशेष रूप से समर्थन किया। उसका मत था कि ईसाई धर्म-संघ को सम्राट् के अधीन नहीं अपितु सम्राट् को ईसाई धर्म-संघ के अधीन रहना चाहिए। उसका कहना था कि जिस प्रकार अन्य ईसाई धर्म-संघ के पुत्र हैं उसी प्रकार सम्राट् भी धर्म संघ का पुत्र है। वह धार्मिक मामलों में बिशपों को सम्राट् से भी ऊँचा समझता था और कहता था कि सम्राटों को धर्म के संबंध में बिशपों का मत ही मानना चाहिए। बिशपों पर अपना मत लादने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि सन्त एम्ब्रोज ने प्रजा को सम्राट् के विरुद्ध किसी प्रकार की क्रान्ति करने के लिए भड़काया। इसके विपरीत उसका कहना था कि प्रजा को सम्राट् की आज्ञाओं का अवश्य पालन करना चाहिए क्योंकि सम्राट् जो भी आज्ञाएं देता है—वह प्रजा के हित के लिए देता है। सन्त एम्ब्रोज का सम्राट् के प्रति विरोध ईसाई धर्म-संघ की स्वतंत्रता बनाए रखने तक ही सीमित था। वह यह नहीं चाहता था कि ईसाई धर्म-संघ के अधिकारों पर किसी प्रकार का आघात हो। एक बार सम्राट् वैलेनटीनियन ने एरियन सम्प्रदाय के उत्सव के लिए गिरजाघर माँगा। एरियन सम्प्रदाय को सिकन्दरिया के एरियस नाम के निवासी ने आरंभ किया था। इस सम्प्रदाय की शिक्षाओं की ३२५ ईसवी में नाइस की परिषद् के अधिवेशन में निन्दा की जा चुकी थी और उसका साहित्य रखना भी धर्मविरुद्ध घोषित किया जा चुका था। ऐसी दशा में सन्त एम्ब्रोज यदि गिरजाघर को ईसाई धर्मविरोधी सम्प्रदाय के किसी उत्सव के लिए दे देता तो लोक-मर्यादा की दृष्टि से ऐसा करना अत्यन्त अनुचित होता। अतएव उसने गिरजा देना अस्वीकार कर दिया। सम्राट् वैलेनटीनियम को सन्त एम्ब्रोज ने साफ-साफ लिख दिया कि "राजमहल सम्राट् के हैं और गिरजाघर बिशपों के। गिरजाघरों पर सम्राट् का कोई अधिकार नहीं है।" इस स्पष्टवादिता का यह परिणाम हुआ कि आगे चल कर ईसाई धर्म-संघ और सम्राट् के बीच संघर्ष अनिवार्य हो गया। ईसाई धर्म-संघ के समर्थकों ने अनेक बार सन्त एम्ब्रोज के मत को अपने दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए प्रयुक्त किया। सम्राट् की प्रशासन तथा शासन संबंधी प्रभुता को मानते हुए भी सन्त एम्ब्रोज ने बिशपों का यह अधिकार माना कि नैतिक, अध्यात्मिक और धार्मिक मामलों में बिशपों का मत अन्तिम रूप से माना जाय। सन्त एम्ब्रोज की सन् ३९७ ई० में मृत्यु हो गयी।

सन्त एम्ब्रोज ने राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच जो विभेद करना आरंभ कर दिया था, पोप गिलोसियस प्रथम ने उसी की पुष्टि की। पोप गिलोसियस ने दो तलवारों का सिद्धान्त स्थिर दिया। उसने कहा कि एक तलवार आध्यात्मिक शक्ति की है जो धर्मसत्ता अर्थात् ईसाई धर्म-संघ के हाथ में रहनी चाहिए, और दूसरी तरवार राजशक्ति की है जो राजसत्ता अर्थात् सम्राट् के हाथ में होनी चाहिए। दोनों ही शक्तियों के अधिकार-क्षेत्र अलग-अलग ह। एक का अधिकार-क्षेत्र आध्यात्मिक संसार है और दूसरे का अलौकिक संसार। दोनों तलवारों के अधिकारियों को एक दूसरे के अधिकार-क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यही कारण है कि पोप गिलोसियस ने यह भी सिद्धान्त स्थिर किया कि आध्यात्मिक और धार्मिक मामलों का फैसला चर्च द्वारा किया जाय तथा सांसारिक मामलों का फैसला सम्राट् की अदालत में हो। सन्त एम्ब्रोज की भाँति पोप गिलोसियस ने यह भी कहा कि सम्राट् को धार्मिक मामलों में ईसाई धर्म पुरोहितों की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए और उनको सम्मान का स्थान देना चाहिए। धर्म पुरोहितों का भी यह कर्तव्य है कि वे सम्रट् के साथ सहयोग कर। पोप गिलोसियस के मतानुसार पादरियों तथा विशपों का उत्तरदायित्व सम्राटों से अधिक था।

संत ऑगस्टाइन (St. Augustine)

६.१ **जीवनी**––ऑस्टाइन का जन्म सन् ३५४ ई० में उत्तरी अफ्रीका में हुआ था और मृत्यु सन् ४३० ई० म। ऑगस्टाइन का पिता मूर्तिपूजक था और उसे ईसाई धर्म की शिक्षाओं में कोई विश्वास नहीं था। इसके विपरीत ऑगस्टाइन की माता ईसाई थी। ऑगस्टाइन के पिता का नाम पेट्रीशियस था और माता का नाम मोनिका। ऑगस्टाइन का बाल्यकाल ऐसा बीता जिसमें उसने माता-पिता द्वारा परस्पर विरोधी मतों को माने जाने पर भी दोनों के दृष्किोणों का समन्वय देखा था। बारह वर्ष की आयु तक उसकी शिक्षा-दीक्षा घर में ही हुई लेकिन बाद में ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिए ऑगस्टाइन को मदौरा भेज दिया गया। यहाँ भाषाओं के एक स्कूल में उसने रोमन शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं का अध्ययन किया। मदौरा प्रारम्भिक विद्यालय में पाँच वर्ष शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह कारथेज विश्वविद्यालय चला गया जहाँ उसने उच्च साहित्य तथा अलंकारशास्त्र की शिक्षा पायी। कार्थेज में जीवन की विविधता के अनुभव भी सन्त ऑगस्टाइन ने प्राप्त किये। वह कुछ दिनों के लिए मैनीकियन सम्प्रदाय का भी सदस्य हो गया था लेकिन बाद में उसने वह सम्प्रदाय छोड़ दिया।[1] ऑगस्टाइन ने लिखा है कि उसने मैनीकियन सम्प्रदाय तो छोड़ दिया क्योंकि उसकी समझ में आ गया कि वह मत गलत है, किन्तु तब तक उसका विश्वास ईसाई धर्म में नहीं जम पाया था––इसलिए वह बड़ी उलझन में था। उसे आगे का रास्ता साफ दिखालायी नहीं पड़ता था। इसी उलझन की अवस्था में वह रोम पहुँचा। रोम में उसे आचार्य का पद मिल गया। लेकिन यह कार्य भी उसे पसन्द नहीं आया क्योंकि समय-समय पर उसे सम्राट् की प्रशंसा में भाषण लिखने पड़ते थे। ये भाषण लिखना उसे पसन्द नहीं था। इन भाषणों में उसे झूठी बातें लिखनी होती थीं जिनकी वजह से उसे बड़ा आत्मिक क्लेश पहुँचता था। तरुण अवस्था के कारण ऑगस्टाइन को सांसारिकता से भी अधिक मोह था। जागतिक वैभव और विलास के जीवन की ओर उसकी मनोवृत्तियाँ अधिक दौड़ती थीं। इसी

---

[1] **मैनीकिन (Manichean) सम्प्रदाय की स्थापना फास्टस (Faustus) नाम के एक व्यक्ति न की थी। उसका कहना था कि "भलाई बुराई दोनों बराबर हैं और दोनों में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। क्योंकि बुराई का पक्ष जीतता दिखाई पड़ता है––इसलिए उसे ही मानना चाहिए।"**

बीच ऑगस्टाइन को किसी काम से मिलन[2] जाना पड़ा। यहाँ उसकी भेंट सन्त एम्ब्रोज से हुई। सन्त एम्ब्रोज की सच्चाई से वह बड़ा प्रभावित हुआ और क्रमशः उसने ईसाई धर्म के ग्रंथों का अध्ययन आरंभ किया। इनमें सन्त पॉल के लेखादि प्रमुख थे। ऑगस्टाइन सन्त एम्ब्रोज की आध्यात्मिक सच्चाई और आत्मिक स्वच्छता से बहुत प्रभावित हुआ। सन्त एम्ब्रोज भी ऑगस्टइन की प्रतिभा-सम्पन्नता तथा सत्य की खोज से बहुत प्रभावित हुए। फलतः दोनों की घनिष्ठता बढ़ती गयी। जिस माया से ऑगस्टाइ बड़ा प्रभावित था, जिस मोह को वह सच्चा समझता था, सन्त एम्ब्रोज की शिक्षाओं के फलस्वरूप वह उन्हें काल्पनिक और भ्रामक मानने लगा। ऑगस्टाइन का यह आत्मनिर्माण काल था। इस बोच उसने यूनानी और ईसाई दर्शनशास्त्रों का अत्यन्त गंभीर अध्ययन कर डाला। क्रमशः ईसाई धर्म उसे आकृष्ट करता गया और सन् ३८७ में उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। ऑगस्टाइन के धर्म-परिवर्तन से सबसे अधिक खुशी उसकी माता को हुई। ऑगस्टाइन की माता की यह तीव्र लालसा थी कि उसका पुत्र ईसाई हो, किन्तु उस दिशा में ऑगस्टाइन की प्रगति अत्यन्त मन्द थी। इसी कारण वह बड़ी चिन्तित रहती थी। अन्त में जब एक दिन उसके पुत्र का वपतिस्मा हो गया तो उसे बड़ी ही प्रसन्नता हुई। ऑगस्टाइन की माता की यह प्रसन्नता ठीक उसी प्रकार की थी जब किसी का पुत्र दीर्घकाल तक रोगी रहने के पश्चात् स्वास्थ्य लाभ कर ले। ईसाई हो जाने के बाद ऑगस्टाइन ने अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें न केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचार ही प्रकट किये गये हैं अपितु राजनीतिक विचार भी हैं। वह बाद में उत्तरी अफ्रीका में हिप्पो का विशप बनाकर भेज दिया गया और अन्त तक वहीं रहा।

६.२ **ऑगस्टाइन के ग्रंथ**––ऑगस्टाइन का सबसे च्छा ग्रंथ 'ईश्वर का नगर' (The city of God) है। इसके अतिरिक्त उसने 'कनफेशन्स' (Confessions) नाम की एक पुस्तक भी लिखी जिसमें उसने अपने जीवन के सारे अनुभवों को सत्यशः लिपिबद्ध कर दिया है। यह पुस्तक उसके मर जाने के बाद प्रकाशित हुई थी। उसने छोटी-छोटी धर्मोपदेश सम्बन्धी अनेक पुस्तिकाएँ भी लिखी हैं।

६.३ **ऑगस्टाइन के काल की विशेषताएँ**––ऑगस्टाइन के संबंध में कहा जाता है कि उसी के समय से मध्ययुग आरंभ हुआ। उसे मूर्तिपूजकों के धर्म तथा ईसाई धर्म दोनों का भलीभाँति ज्ञान था, इसलिए उसने समन्वय की ओर ध्यान दिया। उन दिनों ईसाई धर्म क्रमशः फैल रहा था लेकिन इनके साथ मूर्पिूजकों का धर्म भी बिल्कुल समाप्त नहीं हो गया था। अतएव, ऑगस्टाइन का समय संधिकाल था। एक युग समाप्त हो रहा था और दूसरे युग के चरण शनैः-शनैः सामने आ रहे थे। ऐसे युग में समन्वयवादी दृष्टि की बड़ी अपेक्षा थी। युग को इस माँग की पूर्ति ऑगस्टाइन ने बड़ी सफलतापूर्वक की। उस आने वाले युग में ईसाई धर्म यूरोप को एक माला के दानों के समान एकता के सूत्र में बाँध रहा था। उसके पहले तक धर्म की दृष्टि से यूरोप में मूर्ति पूजकों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का प्रावल्य था। यह समय वह था जब यूरोप पर उत्तर तथा पश्चिम से बर्बर जातियों के आक्रमण बराबर हो रहे थे। संपूर्ण ईसाई धर्म का भाग्य अधर में लटका हुआ था। सन् ४१० में इलरिक और गोथ जातियों ने रोम को हरा दिया और उसे तहस-नहस कर डाला। रोम के इस नाश का कारण कुछ लोग ईसाई धर्म को बताने लगे। ईसाई धर्म के विरोधियों का यह भी कहना था कि जिस प्रकार रोम का नाश हुआ है उसी प्रकार ईसाई धर्मावलम्बी शेष यूरोप का भी नाश हो जायगा। इन निंदाओं से संत ऑगस्टाईन की आलोचना-प्रखर बुद्धि जाग उठी और उसने अनेक ग्रंथ लिखे।

---

२ उ० इटली का प्रसिद्ध नगर।

६.४ **दि सिटी ऑफ गॉड**—'ईश्वर का नगर' (The City of God) संत ऑगस्टाइन का सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता है। यह पुस्तक बाइस अध्यायों में विभक्त है। पुस्तक के प्रथम चार अध्यायों में यह बतलाया गया है कि ईश्वर के नगर तथा सांसारिक नगर में क्या अंतर है और दोनों की उत्पत्ति किस भाँति हुई। इसके बाद चार अध्यायों में ईसाई धर्म के इतिहास का विवरण दिया गया है और तत्पश्चात् चार अध्यायों में बतलाया गया है कि दोनों नगरों में किये गये कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है। वस्तुतः ये अध्याय मुख्य विचारों की भूमिका मात्र हैं। इसके बाद अंतिम अध्यायों में संत ऑगस्टाइन ने अपने सामाजिक और राजनीतिक विचारों को प्रकट किया है। राजनीति के विद्यार्थी के लिये पुस्तक का यही अंश सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। पुस्तक मुख्यतः लैटिन भाषा में लिखी गयी थी और लैटिन में इसका नाम 'डी सिविटेड डेई' (De Civitate Dei) है। 'दि सिटी ऑफ गॉड' अंग्रेजी में अनुदित पुस्तक का नाम है। पुस्तक का रचना काल सन् ४१३-४२६ माना जाता है।

६.५ **मनुष्य का स्वभाव**—संत ऑगस्टाइन ने ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुसार मनुष्य के स्वभाव का विवेचन किया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक बतलाया है कि मनुष्य दो प्रकार का जीवन व्यतीत करता है। पहला जीवन तो सांसारिक होता है जो शरीर से संबंध रखता है। दूसरा जीवन आध्यात्मिक होता है जिसका संबंध आत्मा से होता है। दोनों प्रकार के जीवन एक दूसरे से संबंधित हैं और दोनों का हित बिना एक दूसरे की सहायता के नहीं हो सकता। सांसारिक नगर तथा ईश्वरीय नगरों की सन्त ऑगस्टाइन की कल्पना प्रतीकात्मक है। ऑगस्टाइन का कहना है कि माया-मोह में फँसे लोग सांसारिक नगर के पाश में अधिकाधिक फँसते चले जाते हैं और ईश्वरीय नगर के व्यक्ति आध्यात्मिकता की ओर झुकते हैं। सच्ची शान्ति ईश्वरीय नगर में ही मिलती है। इसलिए सांसारिक आवश्यकताओं को न्यूनतम करके आत्मा की तुष्टि के लिए मनुष्य को आध्यात्मिकता की दिशा में अग्रसर होना चाहिए। ईश्वरीय नगर का शासन क्राइस्ट करते हैं और सांसारिक नगर का शैतान।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में हम कह आये हैं, उक्त पुस्तक लिखने का उद्देश्य यह था कि धर्म की मूर्तिपूजकों की निन्दा से रक्षा की जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि सन्त ऑगस्टाइन ने यह ग्रंथ लिखकर की। रोम ईसाई धर्म का केन्द्र स्थल था लेकिन अत्यन्तवैभव सम्पन्न हो जाने के कारण उसमें विलासिता इतनी बढ़ गई कि वह मायानगरी हो गया था। माया से मोह होता है। अतएव रोम को सांसारिक नगर बनने से बचाने के लिए बर्बर जातियों का उस पर आक्रमण हुआ और उसकी सारी सम्पत्ति लूट ली गयी तथा अन्य बहुत-सी सामग्री जला दी गयी। इससे रोम ईश्वरीय नगर बना रह गया क्योंकि जहाँ शैतान का राज्य हो वहाँ ईश्वर की कृपा नहीं हो सकती।

मनुष्य जाति के संबंध में सन्त ऑगस्टाइन का विश्वास था कि उसका उद्धार अवश्य होगा लेकिन इतने पर भी प्रत्येक मनुष्य कर्म के लिए स्वतंत्र है। यदि उसके सुकर्म होंगे तो वह ईश्वरीय नगर जायगा और यदि कुकर्म करेगा तो उसे शैतान के साथ नरक की ज्वाला में जलना पड़ेगा। बुराई के संबंध में सन्त ऑगस्टाइन का मत था कि वह एक निषिद्ध पक्ष है और भलाई से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

६.६ **ईश्वर के नगर की रचना**—ईश्वरीय नगर की रचना का वर्णन करने के पूर्व सन्त ऑगस्टाइन ने बतलाया है कि सांसारिक नगर एक न एक दिन अवश्य नष्ट होंगे और जब तक वे रहेंगे तब तक उनमें दुःख और दैत्य बराबर बना रहेगा। इसके विपरीत ईश्वरीय नगर शाश्वत है, वह कभी नष्ट नहीं होगा। ईश्वरीय नगर की रचना में सन्त ऑगस्टाइन ने केवल **सिसरो** से ही सहायता नहीं ली, अपितु **प्लेटो** के आदर्श राज्य की कल्पना से भी बहुत कुछ ग्रहण किया। सिसरो तथा प्लेटो की रचनाओं की कल्पना को ईसाई धर्म की कल्पना के

विचारों के उपयुक्त तथा अनुकूल बनाकर सन्त ऑगस्टाइन ने उनको ईश्वरीय नगर के रूप म उपस्थित किया। ऑगस्टाइन का ईश्वरीय नगर वस्तुतः ईसाई धर्म के गिरजा की विशद कल्पना है क्योंकि धर्म में गिरजा को ईश्वर का वासस्थल माना भी जाता है। राज्य को गिरजा गुणों तथा भलाई के प्रसार का साधन मानते हैं। सन्त ऑगस्टाइन ने ईश्वरीय नगर की रचना म एक ऐसे ईसाई राज्य की कल्पना को साकार बनाने का प्रयत्न किया है जिसमें सर्वोच्च सत्ता को धार्मिक नेताओं अर्थात् पादरियों के हाथ में सौंप दिया गया है। इस नगर में ईसाई धर्म न मानने वाले किसी भी व्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वरीय नगर की कल्पना का बहुत-सा भाग ईसाई गिर्जा तथा सिसरो के विश्वराज्य से लिया गया है ; किन्तु दोनों ही स्रोतों से ऑगस्टाइन की कल्पना कुछ भिन्न भी है। ईसाई संघ से ईश्वरीय नगर के सदस्यों की संख्या अधिक है। ईश्वरीय नगर के सदस्य ईश्वर के कृपापात्र ही नहीं, मृतात्माएँ तथा देवदूत भी हैं। सिसरो के विश्वव्यापी राज्य में मनुष्यमात्र को उसका सदस्य माना गया है। इसके विपरीत ईश्वरीय नगर में ईसाई धर्म की मान्यता अनिवार्य ठहराई गई है। ऑगस्टाइन ने ईसाई सिद्धान्तों के अनुसार यह कहा है कि मानव जाति का मूल पाप[1] के कारण पतन हो चुका है। अतएव पतितों को तभी ईश्वरीय नगर में स्थान मिल सकता है जब ईश्वर की कृपा प्राप्त हो। ईश्वर की कृपा केवल ईसा ही दिला सकते हैं। इसलिए ईसा का अनुयायी होना आवश्यक है। ईश्वरीय नगर के सभी निवासी ईश्वर के कृपापात्र होते हैं और उन सबको ईश्वर से एकाकार हो जाने का आनन्द मिलता है—इसलिए वे सब के सब एकता के बंधन से युक्त होते हैं। ऑगस्टाइन का कहना था कि ईश्वरीय नगर की दो सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं—धर्म (Justice) तथा शांति।

६.७ **धर्म क्या है ?**—ऑगस्टाइन ने धर्म (Justice) की भी परिभाषा की है। ऑगस्टाइन का कहना है कि धर्म वह सद्गुण है जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्त्तव्य पालन करने पर वह मिलता है जो उसे मिलना चाहिये। इस परिभाषा में ऑगस्टाइन ने प्लेटो से भी सहायता ली है। प्लेटो की भाँति ऑगस्टाइन ने प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने कर्त्तव्य पालन पर विशेष बल दिया। यदि कोई मनुष्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो उसे धर्मवान् (Just) माना जायगा।

ऑगस्टाइन ने समाज के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि प्रत्येक समाज किसी न किसी व्यवस्था पर आधारित होता है तथा उस समाज की विभिन्न ईकाइयाँ परस्पर श्रृंखलित होती हैं। बहुत से परिवारों की श्रृंखला से एक समाज का निर्माण होता है। यदि कोई व्यक्ति परिवार तथा समाज के प्रति अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो वह धर्मवान् कहा जायगा लेकिन परिवार राज्य का भी एक अंग होता है। अतः परिवार की व्यवस्था राज्य की ही व्यवस्था का एक अंग है। यदि दोनों अर्थात् राज्य और परिवार के हितों में संघर्ष है तो मनुष्य एक ही के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है। लेकिन ऑगस्टाइन ने यहाँ राज्य को भी मनुष्य की सामाजिक कल्पना की उच्चतम अभिव्यक्ति नहीं स्वीकार किया है। इसके विपरीत संत ऑगस्टाइन ने एक अखिल मानव-जाति के सार्वभौमिक समाज की कल्पना की है। इस कल्पना के सहारे ऑगस्टाइन ने बतलाया है कि राज्य में धर्म की पूर्ति अंशतः ही होती है। धर्म की सर्वांश में पूर्ति तो राज्य में नहीं अपित सार्वभौमिक

---

१. ईसाई धर्म के अनुसार आदि पुरुष आदम ने ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध स्त्री के मोह में आकर पाप किया था। इसी पाप के कारण मानव जाति उत्पन्न हुई। अतः मानव जति की उत्पत्ति ही पाप से हुई है और वह स्वभावतः पतनशील है। इससे मनुष्य का उद्धार तो होगा लेकिन तभी, जब वह ईश्वर की कृपा प्राप्त कर लेगा।

मानव-समाज की व्यवस्थान्तर्गत हो सकती है। ऑगस्टाइन की धर्म संबंधी कल्पना काल या स्थान की सीमाओं के पाश में आबद्ध नहीं है जब कि प्लेटो राज्य को मानव-समाज की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मानता है। प्लेटो अन्तर्राज्यीय संबंधों के विषय में भी चुप रहता है। प्लेटो के राज्य की जनसंख्या भी सीमित रहती है और राज्य का भूमि-विस्तार भी। फलतः प्लेटो के धर्म की कल्पना स्थान और समय द्वारा सीमित है।

७. ऑगस्टाइन के राज्य, सम्पत्ति और दासता सम्बन्धी विचार

राज्य के संबंध में ऑगस्टाइन के विचारों को यदि हम सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सन्त ऑगस्टाइन धर्म (Justice) को चर्च की विशेषता मानता था, राज्य की नहीं। उसका कहना था कि चर्च के हाथ में सर्वोच्च अधिकार होने चाहिए। राज्य के अधिकारियों को ईसाई पादरियों की श्रेष्ठता और अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए। यहाँ **सन्त ऑगस्टाइन** का यूनानी विचारकों तथा रोमन विचारक **सिसरो** से भी मतभेद था। यूनानी तथा रोमन विचारकों की भाँति सत ऑगस्टाइन यह नहीं मानता था कि प्रत्येक राज्य का आधार धर्म (Justice) होता है। इसका कारण यह था कि धर्म को केवल ईसाई चर्च की विशेषता बतला देने के बाद सन्त ऑगस्टाइन यह तो नहीं कह सकता था कि प्रत्येक राज्य ईसाई होता है। ऐसी अवस्था में सन्त ऑगस्टाइन को कहना पड़ा कि धर्म (Justice) केवल किसी ईसाई राज्य में ही हो सकता है।

७.१ राज्य की उत्पति और शांति संबंधी विचार—संत ऑगस्टाइन ने राज्य की उत्पत्ति पाप से मानी और कहा कि राज्य मनुष्य को पाप से मुक्त कराने का एक साधन है। राज्य की उत्पत्ति मनुष्य को पाप से मुक्ति दिलाने के लिए अवश्य हुई लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य पाप का प्रतिनिधि है। राज्य की उत्पत्ति सीधे ईश्वर से हुई है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के संबंध में सन्त ऑगस्टाइन ने कोई नयी बात नहीं कही। उस समय राज्य की उत्पत्ति के संबंध में जो दैवी सिद्धान्त प्रचलित था, एक प्रकार से उसी का सन्त ऑगस्टाइन ने समर्थन कर दिया। राज्य को ऑगस्टाइन ने आवश्यक माना है क्योंकि चर्च को भी तो अपने लक्ष्यों की सिद्धि के लिए भौतिक सम्पत्ति (भूमि, भवन आदि) की आवश्यकता पड़ती है और ये वस्तुएँ उसे केवल राज्य से ही मिल सकती हैं। राज्य के संबंध में अपने विचार व्यक्त करने के पश्चात् ऑगस्टाइन ने राज्य के मुख्य कर्त्तव्य, शांति-स्थापना, का विश्लेषण किया है। उसने अपने ग्रंथ में प्रश्न किया है कि शाँति क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वह लिखता है कि सामान्यतः शांति का अर्थ लोग यह समझते हैं कि यह वह व्यवस्था है जिसमें कोई युद्ध या संघर्ष न हो। परन्तु शाँति संबंधी यह कल्पना एक प्रकार से निषेधात्मक है। इसके विपरीत ऑगस्टाइन शांति के संबंध में अपने रचनात्मक विचार प्रकट करता है। ऑगस्टाइन लिखता है कि जब मानव समाज में सद्भावना औरसामाञ्जस्यक ावातावरणरहता है तब उस समय समाज के विभिन्न अंगों में जिस व्यवस्था द्वारा शान्ति रहती है, उसी का नामशशाँति है। ऑगस्टाइन कहना चाहता है कि बिना समाज के—बिना व्यक्तियों के—रचनात्मक शाँति कीकल्पना नहीं की जा सकती।

प्राणिमात्र में शान्ति की भावना स्वाभाविक होती है पशु-पक्षी सभी शान्ति के लिए उत्सुक रहते हैं। शान्ति की व्यवस्था में ही वे जीवन के सुख को अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह अनुभव करते हैं। शान्ति द्वारा सुख या आनन्द की प्राप्ति की भावना पशुओं की तुलना में मनुष्य में और भी अधिक प्रबल होती है। वह चाहता है कि जिस समाज में वह रहे वह समाज शान्त और व्यवस्थित हो क्योंकि ऐसे ही समाज में परिश्रम के फल को चखा जा सकता है। ऐसे ही समाज में जीवन सुरक्षित रह सकता है। कभी-कभी शांति की प्राप्ति के लिए ही

मनुष्य संघर्ष-रत हो जाता है और उन तत्वों को निकाल फेंकने की कोशिश करता है जो अशान्तकारी होते हैं।

लेकिन ऑगस्टाइन ने शान्ति को दो भागों में विभक्त कर दिया है। ऑगस्टाइन का मत है कि एक सांसारिक शान्ति होती है और दूसरी आध्यात्मिक शान्ति। सांसारिक शान्ति अधिकतर जागतिक व्यवहारों का नियमन कर उनके बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए सचेष्ट रहती है। इसके विपरीत आध्यात्मिक शान्ति का लक्ष्य अपेक्षाकृत उच्चतर होता है। आध्यात्मिक शान्ति का उद्देश्य ईश्वर तथा ईश्वर में समाये हुए व्यक्तियों में लवलीन हो जाना होता है। जो व्यक्ति वास्तविक आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर लेता है उसमें तथा ईश्वर में कोई अंतर ही शेष नहीं रहता। वह ईश्वर का ही एक अंग हो जाता है। साँसारिक नगरों के शान्तिसाधन और प्रसाधन उच्चतर आध्यात्मिक शान्ति-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। शरीर द्वारा ही मनुष्य धर्मवान् बनता है। धर्म और कर्म से शरीर की शुद्धि होती है। यही मानवमात्र का लक्ष्य है। संत ऑगस्टाइन ने आत्मा की शान्ति की जैसी व्यापक कल्पना की–वैसी कल्पना न तो किसी यूनानी विचारक ने की थी और न किसी रोमन विचारक ने। और तो और, ऑगस्टाइन के पूर्ववर्ती किसी संत ने भी ऐसे विचार प्रकट नहीं किये थे। प्लेटो तक ने शान्ति पर इतना बल नहीं दिया था। शान्ति और युद्ध दोनों की संभावनाओं को उसने अपने समक्ष रखा। धर्म (Justice) की भाँति प्लेटो की शान्ति की कल्पना भी काल और देश की सीमा में बँधी है। इसके विपरीत ऑगस्टाइन को शान्ति विश्वव्यापी है—वह अखिल मानवता को स्पर्श करती चलती है। यह कल्पना भी प्लेटो की मानव समाज संबंधी कल्पना की भाँति किसी राज्य से बँधी नहीं है।

७.२ **विद्रोह का अधिकार**––राज्य की उत्पत्ति और राजा के अधिकारों को दैवी सिद्धान्तों के अनुरूप बता देने के पश्चात् राजा या सम्राट् के अधिकारों के संबंध में भी सन्त ऑगस्टाइन ने उक्त ग्रंथ में अपने विचार प्रकट किये हैं। ऑगस्टाइन के अनुसार साधारण अवस्था में––अर्थात् जब तक सम्राट् या सर्वोच्च शासनाधिकारी का आचरण नैतिक और धर्मानुकूल रहता है तब तक उसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रजा का कर्तव्य और धर्म है। लेकिन जब सम्राट् नैतिकता के सिद्धान्तों का उल्लंघन करे और धर्म की श्रेष्ठता की अवहेलना करे–ऐसे संकट के समय प्रजा को उसकी आज्ञाओं को न मानने का अधिकार है। इस प्रकार ऑगस्टाइन ने प्रजा की क्रान्ति का अधिकार तो दिया लेकिन वह सीमित था और चर्च के हितों की रक्षा के लिए था।

७.३ **सम्पत्ति संबंधी विचार**––सम्पत्ति के अधिकार को भी ऑगस्टाइन ने आवश्यक बतलाया है। ऑगस्टाइन का कहना था कि बिना सम्पत्ति के कर्त्तव्यों का, चाहे वे सांसारिक हों या आध्यात्मिक, भली भाँति पालन नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत सम्पत्ति के अधिकार को अरस्तू की भाँति वह स्वाभाविक नहीं मानता था। सम्पत्ति का अधिकार सन्त ऑगस्टाइन की दृष्टि से परम्परागत था जो राज्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

७.४ **दासता संबंधी विचार**––दासता को ऑगस्टाइन ने दैवी प्रतिशोध का साधन माना है। यद्यपि वह अरस्तू की भाँति यह तो नहीं कहता कि दासता स्वाभाविक है लेकिन उसका कहना था कि पतनशील होने के कारण मनुष्य जो अपराध करता है उसके दण्ड का वह उत्तम साधन है। लेकिन ऑगस्टाइन के दासता संबंधी विचारों में कुछ विरोधाभास-सा है। एक ओर तो वह कहता है कि समूची मनुष्य-जाति आदम के पाप के कारण पापी है और दूसरी ओर वह दासता को पाप का दण्ड बतलाता है। पहली दृष्टि से समूची मानव-जाति को ही पापी होने के कारण दासता करनी चाहिए। लेकिन प्रत्यक्षतः ऐसा नहीं है। मनुष्य-जाति का

एक अंश ही दासता भोगता है। शेष भाग स्वामी के पद पर आसीन रहता है। इसका यह अर्थ है कि कुछ लोग कम पापी हैं और कुछ अधिक लेकिन ऑगस्टाइन ने ऐसी कोई बात नहीं कही है। सच तो यह है कि दासता को आर्थिक दृष्टिकोण से यूनानी और रोमन दोनों विचारकों ने उचित सिद्ध करने की चेष्टा की लेकिन वे असफल रहे। ऑगस्टाइन ने भी दासता को आर्थिक हितों की सिद्धि के लिए ही धार्मिक औचित्य का जामा पहनाया लेकिन तर्क की तराजू पर वह अधिक देर तक नहीं ठहर सकती। स्पष्ट है कि दासता संबंधी ऑगस्टाइन ने के विचार स्पष्ट और सीधे-सादे नहीं हैं। वे उलझे हुए हैं और तर्क-बल द्वारा उनके सहारे किसी निश्चित परिणाम पर हम नहीं पहुँच सकते।

८. ऑगस्टाइन का प्रभाव और स्थान

सन्त ऑगस्टाइन का प्रभाव केवल मध्ययुग तक हो सीमित नहीं रहा है। वह प्रभाव आज तक चला आ रहा है ईसाई धर्म के जो संस्थान आजकल हैं। वे भी सन्त ऑगस्टाइन द्वारा निर्धारित आदर्शों की ओर बढ़ने के लिए निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। मध्ययुग के जिस काल में चर्च के पादरी विचारकों के हाथ में राजनीति की बागडोर थी——वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने मत के समर्थन के लिए सन्त ऑगस्टाइन के लेखों को उद्धृत करते थे। पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) की तो नींव ही सन्त ऑगस्टाइन द्वारा निर्धारित आदर्शों के आधार पर पड़ी। बाइस का तो कहना है कि सन्त ऑगस्टाइन का प्रभाव इससे भी कहीं अधिक था। आधुनिक काल में भी सार्वभौमिक मानव-समाज की कल्पना के निर्माण में सन्त ऑगस्टाइन के विचारों को सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाता है। राजसत्ता को धर्मसत्ता से निम्नतर बतलाते हुए भी ऑगस्टाइन ने प्रजा को सामान्य अवस्था में क्रान्ति का अधिकार प्रदान न कर राज्य की स्थिरता का प्रबल समर्थन किया।

९. सारांश

ईसा की शिक्षाएँ तो नैतिक थीं एवं राजनीति और भौतिकवादी अस्थाओं के प्रति ईसा का दृष्टिकोण तटस्थ था, लेकिन ईसा के अनुयायी सन्तपॉल ने ईसा की शिक्षाओं की व्यापक व्याख्याएँ तथा परिभाषाएँ कीं। ईसा के समय तक ईसाइयत केवल यहूदियों तक ही सीमित थी लेकिन सन्त पॉल ने उसको और सार्वभौमिक बनाया तथा कहा कि कोई भी मनुष्य ईसाई धर्म का अनुयायी बन सकता है। सन्त एम्ब्रोज और **पोप गिलोसियस प्रथम** ने धर्म और राजसत्ता में अन्तर स्थापित किया तथा बतलाया कि धर्मसत्ता के अधिकार-क्षेत्र में राजसत्ता का हस्तक्षेप अवांछनीय है और राजसत्ता को यथासंभव धर्मसत्ता की श्रेष्ठता मानते हुए उसके नियंत्रण में रहना चाहिए। सन्त ऑगस्टाइन ने मनुष्य की आत्मिक शान्ति को उच्चतम लक्ष्य बतला कर धर्मसत्ता का हाथ और मजबूत किया है। इस प्रकार ईसा के जन्म से लेकर पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक वह ईसाई धर्म जो पहले एक छोटे से यहूदी सम्प्रदाय तक सीमित था, एक प्रबल शक्ति के रूप में यूरोप में फैल गया और जिसने पोपतंत्र की स्थापना कर दी——ऐसे पोपतंत्र की जिसके सामने बड़े-बड़े राजाओं को घुटने टेकने पड़े।

मध्ययुग का पूर्वावलोकन

१. प्रस्तावना——२. मध्ययुग की त्रुटियाँ एवं अनुदाय——३. मध्ययुगीन विचारकों के अध्ययन स्रोत एवं पद्धति——४. मध्ययुग की विशेषताएँ——५ क्या मध्ययुग अराजनीतिक था ?——६. प्राकृतिक-विधि की मध्ययुगीन कल्पना——७. मध्ययुग में राज्य की कल्पना।

१. प्रस्तावना

मध्ययुग या मध्यकाल पर एक सरसरी-सी दृष्टि डालने से ही उसके विस्तृत अंचल का ज्ञान हो जाता है। यह ईसा के जन्म से लेकर मैकियावली तक फैला हुआ है। यह समय लगभग १५०० वर्षों का है। डेढ़ हजार वर्षों के इस काल को राजदर्शन के विद्यार्थी दो भागों में बाँट कर पढ़ते हैं। इसका प्रथमार्ध तो पहली शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी क का है और द्वितीयार्ध आठवीं से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक का। यह विभाजन विचार करने की मौलिक दृष्टि में भेद आ जाने के आधार पर किया गया है। लेकिन कुल मिलाकर मध्ययुग को एक ही काल मान लेने पर दोनों भागों की कुछ समान विशेषताएँ भी प्रकट होती हैं। इन विशेषताओं का प्रारंभ में ही अध्ययन कर लेने से मध्ययुग के विचारकों और विचारों के स्वभाव को समझ लेने में बड़ी सहायता मिलेगी।

२. मध्ययुग की त्रुटियाँ एवं अनुदाय

मध्ययुग को राजनीतिक विचारों का इतिहास लिखने वाले कुछ विद्वानों ने अंधयुग (Dark Ages) भी बतलाया है। इसका कारण यह है कि मध्ययुग में व्यवस्थित राजनीतिक विचारों का अभाव तथा तत्कालीन विचारों की मौलिक असंबद्धता है। प्रायः सभी विचारकों की शैली त्रुटिपूर्ण, अपर्यवेक्षणशील तथा अशुद्ध है जिसकी वजह से राजनीतिक क्षेत्र में काल की दीर्घता को दृष्टि में रखते हुए कोई विशेष प्रगति नहीं दिखलायी पड़ती। जितनी प्रगति प्राचीनकाल में ७५० वर्षों में यूनानी राजनीतिक विचारों द्वारा हुई——उस प्रगति का अर्धांश भी मध्ययुग के लगभग १५०० वर्षों में नहीं दिखलायी पड़ता। यह गतिहीनता, अवरोध और शिथिलता राजनीतिक विचारों के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी। इसका प्रभाव कला और साहित्य पर भी पड़ा। कला और साहित्य के अपेक्षाकृत व्यापक संसार में व्याप्त गत्यावरोध की झलक हमें राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में भी दिखलायी पड़ती है।

यह सत्य है कि मध्ययुग में कला तथा साहित्य के साथ राजनीतिक विचारों के जगत में भी कोई प्रगति नहीं दिखलायी पड़ती किन्तु इस युग का सूक्ष्म अध्ययन करने से प्रकट होगा कि उस युग का इतिहास पूर्णतः अंधकारमय ही नहीं है। मध्ययुग में कुछ भी न हुआ हो——ऐसी बात नहीं है। मध्ययुग के भी कुछ अपने अनुदाय हैं। ध्यान से देखा जाय तो मध्ययुग में ही यूरोप में धर्म का शुद्धीकरण हुआ। मूर्त्तिपूजा तथा असंख्य देवोपासना के चंगुल से यूरोप मुक्त हुआ।[1] एक ही ईश्वर की कल्पना को मान्यता प्राप्त हुई। इस मान्यता का परिणाम यह हुआ कि समस्त मानव जाति को एक ही ईश्वर का पुत्र समझा जाने लगा और इसी मान्यता की स्वाभाविक उपसिद्धि के रूप में विश्वबंधुत्व का सिद्धांत सामने आया।

---

[1] रोमन मूर्तिपूजक थे और उनके देवताओं की संख्या भी बहुत अधिक थी।

यही नहीं, प्रतिनिधि संस्थाएँ भी इसी युग में पनपीं। ग्रामों में कारीगरों की संख्याओं के संघ बने। इन संघों की प्रशासनिक व्यवस्था मूलतः प्रतिनिधियों के निर्वाचन पर आधारित रहती थी। ईसाई मठों का प्रशासन भी इसी प्रकार होता था। पोप तक का निर्वाचन हुआ करता था। ईसाई मठों के प्रबन्ध के लिए विभिन्न समितियाँ हुआ करती थीं। इन समितियों के सदस्य भी निर्वाचित होते थे। इस प्रकार प्रजातंत्र की भूमिका, प्रतिनिधि निर्वाचन प्रणाली के विकास तथा उसके द्वारा प्रशासन एवं प्रबंध करने की प्रवृत्ति की सहायता से, तैयार की गयी।

सभी मनुष्य एक ही ईश्वर के पुत्र हैं––इस विश्वास ने इस सिद्धान्त को जन्म दिया कि सभी मनुष्य भाई-भाई हैं और इस भाईचारे के कारण वे समान हैं। अतएव, दासता की प्रथा को हेय समझा जाने लगा और इस मनोवृत्ति ने दासता के उन्मूलन में अनुकूल पृष्ठ-भूमि का कार्य करते हुए अन्त में दासता की प्रथा को––जो यूनानी काल से चली आ रही थी और जिसके विरुद्ध स्पष्ट रूप से प्लेटो तथा अंशतः अरस्तू ने भी नहीं कहा था––उखाड़ ही फेंका। यह एक बहुत बड़ी बात थी।

धर्म के शुद्धीकरण, विश्वबंधुत्व के सिद्धान्त, प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास तथा दासता की प्रथा के उन्मूलन आदि ने मध्ययुग की त्रस्त मानव आतमा को नया जन्म-सा दिया। पादरियों तथा गिरजों के पतन के चिह्न ज्यों-ज्यों स्पष्ट होने लगे त्यों-त्यों धर्म-सत्ता की पहले तो कठोर आलोचना हुई और फिर राजसत्ता से उसके अलग किये जाने की माँग की जाने लगी। इसके बाद धर्मसत्ता की राजनीतिक क्षेत्रों में अवहेलना होने लगी और उसके प्रति राजसत्तायुक्त व्यक्ति शनैः-शनैः उदासीन हो गये। **मैकियावली** के समय तक यह स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि धर्मसत्ता को राजसत्ता के अन्तर्गत ही मानना आवश्यक-सा हो गया था। मध्ययुग के द्वितीयार्ध के समाप्त होते-होते फ्लोरेंस तथा वेनिस आदि में विशुद्ध ज्ञान के अध्ययन के लिये अपेक्षाकृत उच्च स्तर की विद्यापीठों की स्थापना हो गयी थी। इन्हीं सब अनुदायों के कारण सुधारों का युग (Reformation) आया जिसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य (Iudividual liberty), सार्वभौमिकता (Universalism) मानव-अधिकार (Rights of Man) आदि के सिद्धान्त पनपे।

३. मध्ययुगीन विचारकों के अध्ययन-स्रोत और पद्धति

हम ऊपर कह आये हैं कि मध्ययुग के राजनीतिक विचार बड़े अस्त-व्यस्त हैं। उनमें अव्यवस्था है और क्रमबद्धता का अभाव है। ऐसा क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर हमें उस समय मिल जायगा जब हम मध्ययुग के विचारकों के स्रोतों का अध्ययन करेंगे और यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि अपने विचारों के निर्माण में तत्कालीन राजदर्शनशास्त्रियों ने कौन-कौन-सी सामग्री और किन-किन पद्धतियों का प्रयोग किया?

स्थूल रूप से मध्ययुग के विचारकों के स्रोतों (Sources) की गणना इस प्रकार की जा सकती है––(अ) बाइबिल, (आ) रोमन विधियाँ, (इ) यूनानी राजदर्शन तथा (ई) गिरजाघर के पादरियों के लेखादि। इन चारों स्रोतों के स्वभाव का अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि मध्ययुग के विचारों में क्रमबद्धता क्यों नहीं थी। पहले स्रोत को ही लीजिए। यह बाइबिल है। बाइबिल में पुराने यहूदी समाज का चित्रण है। उस समय की परिस्थितियाँ विश्वास तथा मान्यताओं का दर्शन बाइबिल में मिलता है। बाइबिलों में जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है उनमें से काफी सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं लेकिन कुछ ऐसी भी बातें हैं जो सभी कालों में उसी ढंग से लागू नहीं की जा सकतीं जिस प्रकार से वह यहूदी जगत् में लागू होती थीं। यह बात मध्ययुग के पूर्वार्ध के विचारक मानने को तैयार न थे। उनके लिये तो जो कुछ बाइबिल में लिखा था––वह अकाट्य था और जो कोई उसका खण्डन या विरोध करता था–वह चर्च के क्रूरतापूर्ण अत्याचारों का शिकार होता था। कोपरनिकस, गलिलिओ

और ब्रूनो आदि बहुत दिनों तक यह नहीं कह सके कि पृथ्वी गोल है और वह अपनी धुरी तथा निश्चित मार्ग पर घूमती है और सूर्य स्थिर है। बाद में जिन लोगों ने कहा उनको या तो चर्च के क्रूर अत्याचारों के सामने झुक जाना पड़ा या फिर उन्हें कालकोठरी में घुट-घुट कर दम तोड़ना पड़ा अथवा उन्हें जिन्दा जला दिया गया। एक ओर तो बाइबिल में इतना अधिक विश्वास था और दूसरी ओर रोमन विधियों से भी मध्ययुग के विचारक सहायता लेते थे जो बाइबिल की भाँति ग्राम-सभ्यता तथा सत्ता के विकेन्द्रीकरण की परिस्थितियों में नहीं उत्पन्न हुई थीं अपितु केन्द्रीय सत्ता और एक बड़े साम्राज्य के शासन के लिए जिनका निर्माण हुआ था। रोमन विधियों में प्रजा के अधिकारों के लिए स्वल्प स्थान था। शासनसत्ता सर्वोच्च मानी जाती थी। रोमन विधियों के ठीक विरुद्ध यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त थे। तत्कालीन विचारक, अरस्तू की रचनाओं से भी सहायता लेते थे। अरस्तू ने प्रजातंत्रवादी परिस्थितियों में अपने विचार लिखे थे—जब कि उस समय सामन्तवाद प्रबल था और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित प्रजातंत्रवाद कहीं भी नहीं था। मध्यकालीन विचारक अपने पूर्ववर्ती पादरियों की लेख-सामग्री का भी प्रयोग करते थे जिनका आधार बाइबिल थी। इन चारों स्रोतों के प्रयोग से मध्यकालीन विचारकों ने जो खिचड़ी पकायी उसमें और चाहे जो कुछ हो सकता हो—क्रमबद्धता और व्यवस्था तो असंभव थी। इन चारों स्रोतों की धाराओं-प्रधाराओं के घात-प्रतिघातों ने मध्ययुग के राजनीतिक विचारों की गति को अवरुद्ध कर दिया।

इनके अतिरिक्त मध्ययुग की विचार-पद्धति भी कम असंबद्ध न थी। वैज्ञानिकता और पर्यवेक्षणशीलता का तो बिल्कुल अभाव था। ऐतिहासिक प्रणाली का भी विचारों का निरूपण करने में प्रयोग नहीं किया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त विचार-पद्धति धार्मिक कूपमण्डूकता और अंधविश्वासों पर आधारित थी।

मध्ययुग की विचार-पद्धति तथा विचारों के स्रोतों को समझ लेने के बाद अब हम मध्ययुग की विशेषताओं पर विचार कर सकते हैं।

४. मध्ययुग की विशेषताएँ

मध्ययुग की सात विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार हैं—**पहली**, केन्द्रीय सत्ता का अभाव और ग्राम-व्यवस्था की प्रबलता; **दूसरी**, अशान्ति तथा अव्यवस्था के वातावरण का प्रभाव; **तीसरी**, धर्म की श्रेष्ठता; **चौथी**, क्रमबद्ध राजनीतिक विचारों का अभाव; **पाँचवीं**, विश्व-बंधुत्व की भावना; **छठीं**, धर्म और राज्य का संघर्ष, और **सातवीं**, संधियुग के रूप में महत्ता।

इन विशेषताओं पर अब हम एक-एक करके विचार कर सकते हैं।

४.१ रोमनों ने जो साम्राज्य स्थापित किया था, कालान्तर में उसमें सत्ता के केन्द्रित हो जाने से ऐसी निर्बलताएँ आ गयीं कि जब पूर्व से बर्बर जातियों ने यूरोप पर आक्रमण किया तो सारा का सारा रोमन साम्राज्य ताश के मकान की तरह ढह गया। बारम्बार होने वाले बर्बर जातियों के हमले के सामने बाहर से अत्यन्त सुदृढ़ दिखलायी पड़ने वाली रोमन साम्राज्य व्यवस्था के सहसा इस प्रकार के पतन से सम्पूर्ण यूरोप छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गया और उनका शासन स्थानीय सरदारों या सामन्तों के हाथ में चला गया। सामन्तवाद के प्रसार तथा प्रचार में स्थानीय देशभक्ति (Local patriotism) का भी काफी बड़ा हाथ था। सामन्तवादी व्यवस्था की स्थापना से एक तो कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं रही दूसरे, सारे यूरोप में ग्राम समाज तथा ग्राम-सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास होता गया। इस विकास में इसलिये और भी सहायता मिली कि गमनागमन के साधन अधिक न थे और जिन राजमार्गों और राजपंथों का निर्माण रोमनों ने कराया था उनकी देखभाल करने वाला कोई शेष न रह गया था। बड़े-बड़े मार्गों की मरम्मत न होने से वे नष्ट-भ्रष्ट हो गये तथा जंगल बन गये। ग्राम्यीकरण की

राह में गमनागमन के साधनों की दुर्गमता ने और भी अधिक सहायता दी। यूनानी तथा रोमन सभ्यता मध्ययुग में समाप्त-सी हो गयी थी। नागरिकों को शिक्षा देने की जो व्यवस्था यूनानी और रोमन युगों में थी, उसका अन्त हो गया। अधिकांश लोग निरक्षर रहने लगे। ईसाई धर्म भी प्रबल न हो सका और ईसा के अनुयायियों को बर्बर जातियों के शासकों (जिन्हें सरदार कहना अधिक उचित होगा) के संकेतों पर ही कार्य करना पड़ता था। ईसाई पादरियों ने साक्षरता प्रसार का यथाशक्ति प्रयास किया लेकिन वह अधिक सफल न हुआ। फिर भी ईसाई पादरियों द्वारा प्राचीन यूनानी संस्कृति और रोमन सभ्यता की प्राणज्योति किसी न किसी प्रकार जीवित रखी गयी। ईसाई पादरियों का उक्त कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

४.२ **अशान्ति और अव्यवस्था का जन-जीवन पर प्रभाव**—जहाँ केन्द्रीय सत्ता के अभाव में ग्राम-समाज और सभ्यता का विकास हो सका वहीं दूसरी ओर बर्बर जातियों के निरन्तर होने वाले आक्रमणों के कारण सारे महाद्वीप का जनजीवन अत्यन्त अशान्त और अव्यवस्थित रहने लगा। सदैव कहीं न कहीं मार-काट मची रहती लूट-पाट तो साधारण-सी बात हो गयी थी। जीवन और सम्पत्ति सदैव खतरे में रहती थी। न जाने कब और किधर से आक्रमण हो जाय—यह भय सदैव ग्रामवासियों को घेरे रहता था। मृत्यु के भय से आतंकित रहने के कारण तत्कालीन समाज में लोगों की मनोवृत्ति सांसारिकता के बजाय लोकोत्तर जीवन पर अधिक ध्यान देने की हो गयी थी। धार्मिक भावना की प्रधानता का एक यह उल्लेखनीय कारण था। लोगों की ईसाई मठों और गिरजों के प्रति बड़ी भक्ति थी। इसका एक व्यावहारिक कारण भी था। वह यह कि बर्बर आक्रमणकारी भी गिरजों या मठों पर आक्रमण नहीं करते थे और न उनमें रहने वालों की किसी प्रकार की क्षति ही पहुँचाते थे। ऐसी दशा में जब राजसत्ता लोगों की रक्षा करने में असफल रही तो मठों और गिरजों के प्रति ग्रामसमाज की श्रद्धा और भक्ति रहना स्वाभाविक था। इस प्रकार तत्कालीन अशान्ति और अव्यवस्था का जनजीवन पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ा : एक तो सांसारिक जीवन से उदासीनता तथा दूसरा धर्म तथा धर्म से संबंधित संस्थाओं के प्रति अंधविश्वास।

४.३ **धर्म की श्रेष्ठता**—ऊपर के अनुच्छेद में हम लिख आये हैं कि शनैः-शनैः यूरोप में धर्म ने किस प्रकार श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। धर्म में ही रोम और यूनान की सभ्यता एवं संस्कृति केन्द्रित हो गयी। इसका कारण क्या था? इसका कारण यह था कि जन-साधारण तो अशिक्षित थे। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं रह गया था कि यूनान और रोम क्या हैं? उनकी सभ्यता क्या थी? उनकी संस्कृति क्या थी और उसके अनुदाय क्या थे? लेकिन गिरजे के ईसाई पादरियों के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। उन दिनों के ईसाई पादरी केवल पढ़े-लिखे ही न होते थे, अपितु वे लगन के साथ सत्य की शोध में बराबर जुटे रहते थे। यह बात दूसरी है कि स्रोतों की मौलिक विरोधी बातों तथा पद्धति और शैली की न्यूनताओं वश वे अधिक कृतकार्य न हुए हों किन्तु जहाँ तक ज्ञानवर्धन के प्रयत्नों की सच्चाई का संबंध है—वे किसी से कम न थे। कुछ तो इस वजह से तथा कुछ जनसाधारण की अशिक्षाजनित विवेक-शून्यता के कारण यूरोप में कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि धर्म-संबंधी बातों को बिना किसी तर्क बुद्धि का प्रयोग किये स्वीकार कर लिया जाता था। इसपर भी तुर्रा यह था कि राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्धारण भी इन्हीं अंधविश्वासों के आधार पर निकाल लिया जाता था। इस प्रकार के निष्कर्षों में निगमन प्रणाली का उपयोग किया जाता था।

४.४ **क्रमबद्ध राजनीतिक विचारों का अभाव**—क्रमबद्ध राजनीतिक विचारों का अभाव तत्कालीन युग का एक और महत्वपूर्ण विशेषता थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय राजसत्ता ही निर्बल पड़ गयी थी; अतएव, यह स्वाभाविक था कि राजनीतिक विचार अत्यन्त आरंभिक अवस्था में हों। अंधयुग में अरस्तू की **'पॉलिटिक्स'** तो खो ही गयी थी। उसका

बहुत दिनों बाद आगे चलकर उद्धार हुआ। जो कुछ राजनीतिक ग्रंथ उन दिनों लिखे गये उनमें **कॅसियोडोरस** (Cassiodores) का **'इन्स्टीट्यूट्स'** (Institutes) और **इसीडोर** (Isidore) का **'एनसाइक्लोपीडिया'** (Encyclopaedia) उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रकट किये गये राजनीतिक विचार अत्यन्त सामान्य हैं। प्रतिभा का अभाव इनमें स्पष्टतः झलकता है। वह मानसिक-प्रौढ़ता भी नहीं दिखलायी पड़ती जो सामान्यतः राजनीतिक विचारकों के लिये अपेक्षित है। भाषा अलंकृत और जटिल है। मतों की स्थिरता और दृढ़ता अंधयुग के प्रथम भाग में नहीं दिखलायी पड़ती। यह इससे प्रकट होता है कि कभी तत्कालीन राजनीतिक विचारक राजसत्ता की प्रशंसा करते थे और कभी निंदा। इस स्थल पर यह स्मरण रखने योग्य बात है कि उन दिनों राजसत्ता बर्बर जातियों के सरदारों के हाथ में थी। जहाँ प्रारंभिक विचारकों ने इनकी प्रशंसा की है, वहीं अन्य परवर्ती विचारकों ने, विशेषकर **संत ऑगस्टाइन** ने उस राजसत्ता को जिसे धर्म का समर्थन उपलब्ध न था लुटेरों और बटमारों की सत्ता बतलाया है। ईसाई पादरियों ने राजसत्ता को कभी धर्म से ऊपर नहीं माना। वे सदैव या तो समानता का उपदेश देते थे, जैसा कि दो तलवारों के सिद्धान्त से प्रकट है, या धर्मसत्ता के सामने राजसत्ता को निम्नतर मानते थे। जब राजसत्ता को निम्नतर समझा जाय तब राजनीतिक विचारों में धर्म का प्राबल्य होना स्वाभाविक था। धार्मिक विचारों का कोई क्रम तो था नहीं—इसलिये उस युग के राजनीतिक विचारों में भी कोई क्रमबद्धता न आ पायी।

४.५ **विश्वबन्धुत्व या सार्वभौमिकता की भावना**—मध्ययुग के प्रथमार्ध में इस विश्वास की प्रबलता थी कि सारी मानव जाति एक ही ईश्वर की संतान है। सब मनुष्य एक ही पिता के पुत्र हैं। यह विश्वास ईसाई-धर्म के प्रचार के साथ निरन्तर बढ़ता ही गया। सारे संसार के ईसाई एक दूसरे के बंधु हैं—और उनका एक विश्वव्यापी समाज है—इस पर मध्ययुग के सभी विचारकों ने बड़ा जोर दिया। इसमें संदेह नहीं कि आगे चलकर इसी समाज में दो प्रतिद्वंद्वी शक्तियाँ—आध्यात्मिक और राजनीतिक—उत्पन्न हो गयीं। लेकिन प्रारंभ में तो विश्वव्यापी समाज की इस कल्पना का परिपोषण धार्मिक रोमन सम्राटों (Holy Roman Emperors) ने ईसाई मठों को अपने आधिपत्य में रखकर किया तथा कालान्तर में जब ईसाई मठों तथा गिरजों की शक्ति बढ़ गयी तो पोपतंत्र ने राजाओं को अपने अन्तर्गत रखकर इस लक्ष्य की पूर्ति की।

४.६ **धर्म और राजसत्ता के बीच संघर्ष**—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, आगे चलकर ईसाइयों के विश्व मानव-समाज की कल्पना में दो शक्तियाँ उत्पन्न हो गयीं। ये दोनों शक्तियाँ थीं—आध्यात्मिक और राजनीतिक। आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिनिधित्व ईसाइयों के मठों तथा संघों के सर्वोच्च पादरी अर्थात् पोप करते थे, तथा राजसत्ता का प्रतिनिधित्व रोमन सम्राट्। प्रारंभ में तो पोपतंत्र के उदय से लेकर दसवीं शताब्दी तक राज और धर्मसत्ता के बीच पारस्परिक सहयोग की भावना विद्यमान थी। किन्तु शक्ति के बढ़ने के साथ प्रभाव बढ़ा और शक्ति तथा प्रभाव की वृद्धि के साथ यह प्रश्न उठा कि किस सत्ता के अधिकार अधिक हैं और किसका स्थान अपेक्षाकृत उच्चतर है। प्रारंभ में—अर्थात् दसवीं शताब्दी के बाद जब राज्य और धर्म की शक्तियों के बीच संघर्ष आरंभ हुआ तब धार्मिक शक्तियों की सत्ता ने ही विजय प्राप्त की और यह स्थिति ग्यारहवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक बनी रही। तेरहवीं शताब्दी में कालचक्र पुनः घूमा और अबकी बार उसकी गति पोपतंत्र के प्रतिकूल हो गयी और पोप की शक्ति का चौदहवीं शताब्दी तक बिलकुल ह्रास हो गया। राजसत्ता की स्थिति दृढ़तर हो गयी और धर्म राज्य के अन्तर्गत आ गया। इस समस्या के हल की ओर मध्ययुग के प्रायः सभी विचारकों ने बहुत अधिक ध्यान दिया। प्रत्येक पक्ष का विचारक एक ही प्रकार के स्रोतों से तर्क लेकर अपने दृष्टिकोण का औचित्य सिद्ध करता था और प्रतिकूल पक्ष को

अनुचित बताता था; किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी तक स्थिति स्पष्ट हो गयी तथा **मैकियावली** ने स्पष्ट रूप से धर्म को राजसत्ता के अन्तर्गत मानकर धर्म-संबंधी आधुनिक युग की कल्पना को जन्म दे दिया।

४.७ **संधियुग के रूप में**––मध्ययुग को संधियुग भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इसयुग में ही प्राचीनताओं को छोड़कर यूरोप आधुनिक युग की दिशा में अग्रसर हुआ। आधुनिक युग का आरंभ निरंकुश राजतंत्रों से हुआ। लेकिन पोपतंत्र की निरंकुशता ने इस प्रकार के राजतंत्रों के स्वरूप को झलक पहले ही दिखा दी थी। सामन्तवाद का व्यापक प्रभाव था और बर्बर जातियों की स्वतंत्रता का समन्वय उसके साथ हुआ था। इस विचार ने विभिन्न राष्ट्रीयताओं के जन्म में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। कुछ राजनीतिक विचारक मध्ययुग को क्षेपक की संज्ञा भी देते हैं। वे कहते हैं कि मध्ययुग के आरंभ होने से पूर्व प्राचीन युग में जिन आदर्शों का प्राधान्य था वे आधुनिक युग में पुनः स्थान पाने में सफल हो गये। रोमन विधि संहिताओं को मान्यता, धर्म की गौणता, राजशक्ति की प्रमुखता आदि ऐसे आदर्श थे जिनका मध्ययुग में पतन हो गया था और उनको नहीं माना जाता था लेकिन वे आधुनिक युग के आरंभ में पुनः माने जाने लगे।

५. क्या मध्ययुग अराजनीतिक था

डनिंग[1] ने लिखा है कि मध्ययुग अराजनीतिक था। इसी कथन को **गेटिल**[2] ने और अधिक स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि मध्ययुग अनिवार्यतः इन अर्थों में अराजनीतिक था कि उसमें राजनीतिशास्त्र और राजदर्शन को शोध का अलग-अलग विषय नहीं माना जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि राजसत्ता मुख्यतः धर्मसत्ता के अधीन थी। जब राजसत्ता को धर्मसत्ता से मुक्ति प्राप्त होगयी तभी उक्त विषय शोध एवं अध्ययन के स्वतंत्र विषय बन सके।

राजनीतिशास्त्र और सिद्धान्तों के स्वतंत्र अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा इसलिये पड़ी कि कालान्तर में धर्मसत्ता की नीति बड़ी असहिष्णु हो गयी। स्थिति यह थी कि ईसाई धर्मग्रन्थों के अंधविश्वास के विरुद्ध कोई भी बात कही या लिखी नहीं जा सकती थी। इस संबंध में यह स्मरणीय है कि ज्योतिषविद् कोपरनिकस पचीसों वर्ष तक पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने का वैज्ञानिक मत प्रकट नहीं कर सका। इसका कारण यह था कि उक्त कथन या वैज्ञानिक सत्य ईसाई धर्म की मान्यताओं के विरुद्ध पड़ता था। ब्रूनो और गेलीलिओ ने ऐसा करने का दुस्साहस किया था; उनको उसका परिणाम भोगना पड़ा। उन्हें कारागार में डाल दिया गया और बाद में उनमें से एक को जीवित ही जला दिया गया–केवल इसी अपराध के लिये कि उसने पृथ्वी के घूमने की बात कह दी थी। ऐसी अवस्था में किसी प्रकार की वैज्ञानिक शोध संभव न थी। ईसाई धर्म की ऐसी कट्टरवादी नीति आरंभ से ही नहीं थी। जब ईसाई धर्म का जन्म हुआ था उस समय उसमें बड़ी क्रान्तिकारिणी शक्ति विद्यमान थी। राज्य का कोई आश्रय न मिलने पर भी इसका प्रचार हुआ। लेकिन जब ईसाई धर्म के कर्णधारों को राज्याश्रय प्राप्त हो गया तो उनकी नजरें बदल गयीं। जहाँ राज्याश्रय प्राप्ति के पूर्व धार्मिक विश्वासों को व्यक्तिगत माना जाता था और ईसाई पादरी सबके प्रति सहिष्णुता रखने का उपदेश अपने अनुयायियों को देते फिरते थे, वही शक्ति प्राप्त हो जाने पर ईसाई गिरजों तथा

1. "The Middle Age was unpolitical."—Dunning, *Political Theories*, p. 131.

2. "The Middle Age was essentially unpolitical in the sense that politics and political theory were not considered as separate subjects of investigation. *History of Political Thought*, p. 51.

मठों के अधिनायक पोप ने ऐसे सत्यों के अध्ययन तथा भाषणों पर भी प्रतिबंध लगा दिया जो ईसाई धर्म-ग्रंथों तथा बाइबिल के कथनों के विपरीत हों। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि सभी विषयों के वैज्ञानिक अध्ययन को बन्द कर दिया जाता और लोग मौन बैठे रहते। राजनीति शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन के संबंध में भी यही बात लागू होती है। धर्मसत्ता द्वारा उत्पन्न की गयी असंभव परिस्थितियों के कारण ही राजनीति के अध्ययन के क्षेत्र में मध्ययुग में कोई प्रगति नहीं हुई। राजनीति संबंधी जो अध्ययन हम मध्ययुग में देखते हैं––उन सब पर धर्म की मुद्रा अंकित रहती है और राजनीति का स्थान गौण दिखलायी पड़ता है। तत्कालीन युग में तथाकथित राजनीतिक विचारकों को संप्रभुता या विधि की श्रेष्ठता जैसी किसी कल्पना का कोई ज्ञान नहीं था। संप्रभुता का ज्ञान होने पर राजसत्ता का धर्मसत्ता के अधीन होना असंभव हो जाता और यदि विधि की श्रेष्ठता मान ली जाती तो फिर न्यायकार्य बाइबिल तथा उनके सहायक धर्मग्रन्थों से न हो पाता।

मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों की पद्धति पर्यवेक्षणात्मक(Observational)नहीं थी। इसका आशय यह है कि वे वास्तविक दशाओं का अध्ययन करके समस्याओं का हल निकालने का प्रयत्न नहीं करते थे। उनके हल धार्मिक आदर्शों के अनुकूल होते थे। वे इतिहास का भी अध्ययन नहीं करते थे। इतिहास का जो कुछ न्यूनाधिक प्रयोग किया जाता था वह भी इस रूप में कि किसी समस्या का पहले धार्मिक आदर्शों के अनुरूप हल निकाल लिया गया और फिर उसके समर्थन के लिए इतिहास के उदाहरण ढूँढ़ लिये गये। विचार पद्धति की यह त्रुटियाँ उनके राजनीतिशास्त्र एवं राजनीति के सिद्धान्तों के अध्ययन में बड़ी बाधक थीं।

जहाँ तक अध्ययन सामग्री और स्रोतों का संबंध है––यह भी एक दूसरे के विरुद्ध जाते थे। जैसा कि पिछले पृष्ठों में हम कह आये हैं, उन दिनों विचारक वर्ग के अध्ययन स्रोत तीन थे–(१)बाइबिल, (२) यूनानी और रोमन ग्रंथ तथा (३) ईसाई पादरियों के लेखादि। पहला स्रोत बाइबिल था। इसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि वह सर्वथा अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक(Unscientific and Unhistorical) है। इन स्रोतों के आधार पर तत्कालीन विचारकों ने एक ऐसे मानव-समाज की कल्पना की थी जिसके समस्त व्यक्ति ईसाई धर्म के अनुयायी होंगे। आलोचनात्मक वृत्ति न होने के कारण तथा पद्धति के अपर्यवेक्षणात्मक होने के परिणामस्वरूप तत्कालीन विचारक यह न देख पाये कि जिस यूरोप में वे विश्वबंधुत्व युक्त एक मानव-समाज की कल्पना को साक्षात् देखने का दावा कर रहे हैं––वह है कहाँ ? यूरोप उस समय छोटे-छोटे सामन्तों की असंख्य रियासतों में बँटा हुआ था। अतः सार्वभौमिक ईसाई राज्य की कल्पना ने मध्ययुग के विचारकों के लेखों तथा अन्य सामग्रियों को अयथार्थवादी बना दिया। दूसरा स्रोत था, यूनानी राजनीतिक विचारों का तथा रोमन विधियों का। ये दोनों ही चीजें मौलिक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न थीं। यूनानी राजनीतिक विचार मुख्यतः अरस्तू की **'पॉलिटिक्स'** से ग्रहण किये गये थे। यह ग्रन्थ अनिवार्यतः प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर आधारित है। इसमें किसी एक साम्राज्य की सत्ता के अस्तित्व की कल्पना नहीं की गयी है बल्कि उसमें एक ऐसे नगर-राज्य का चित्रण है जिसमें सत्ता विकेन्द्रित है; अर्थात् नगर-राज्य के शासन का भार और उत्तरदायित्व प्रत्येक नागरिक का माना जाता था। इसके विपरीत रोमन विधि-संहिताओं का लक्ष्य ही दूसरा था। उनका लक्ष्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण नहीं––केन्द्रीकरण था ; क्योंकि रोमन विधियों के रचयिताओं को एक संघटित साम्राज्य की शासनिक तथा प्रशासनिक समस्याओं का हल निकालना था। अतएव अरस्तू की **'पॉलिटिक्स'** और रोमन विधियों के लक्ष्यों में मौलिक अन्तर होने के कारण तथा विचारकों द्वारा दोनों के प्रयोग किये जाने के कारण उनके विचारों तथा निष्कर्ष में और भी अधिक अस्तव्यस्तता आ

गयी थी। परिणाम यह हुआ कि मध्ययुग के राजनीतिक विचार दबे-से, कुछ उलझे हुए और अत्यन्त जटिल-से लगते हैं और जब परिश्रम करके उनके अध्ययन का यत्न किया जाता है तो आधुनिक युग के राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी को उसके अध्ययन के परिश्रम की तुलना में अत्यल्प लाभ होता है।

परिणामतः हमारे सामने ऐसी तीन बातें आती हैं जिनसे मध्ययुग को अराजनीतिक घोषित करने का दावा किया जा सकता है——(१) मध्ययुग के विचारकों की विचार-पद्धति अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक, अनालोचनात्मक एवं अपर्यवेक्षणात्मक थी। विचार-पद्धति की इन त्रुटियों के कारण मध्ययुग में कोई भी लाभकारी राजनीतिक सिद्धान्त स्थिर न हो सका तथा इस पद्धति ने ईसाई गिरजों के पादरियों तथा राजनीतिज्ञों में ऐसा संघर्ष करा दिया कि अन्त में धर्म को राज्य की अधीनता में चला जाना पड़ा। (२) राजनीति के सिद्धान्त और व्यवहार में बड़ा अन्तर पड़ गया। तत्कालीन विचारक जब सार्वभौमिक ईसाई राज्य की कल्पना करते रहते थे और जब उनके दिमाग में रोमन साम्राज्य का भूत चक्कर काटा करता था तब यूरोप की दशा यह थी कि वह सामन्तवादी रियासतों में बँटकर छिन्न-विच्छिन्न हो चुका था। (३) समाज पर दोहरा शासन होता था। एक ओर राज्य का और दूसरी ओर चर्च। दोहरे शासन का अन्त में यह परिणाम हुआ कि "चर्च राज्य हो गया और राज्य चर्च हो गया।"

६. प्राकृतिक विधि (Natural law) की मध्ययुगीन कल्पना

इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग की मौलिक समस्या चर्च तथा राज्य के पारस्परिक संबंधों को स्थिर करने की थी लेकिन इसके अतिरिक्त कुछ और पूरक या सहायक समस्याएँ भी थीं। इनमें ही प्राकृतिक विधि की कल्पना भी सम्मिलित है।

मध्ययुग के सर्वसाधारण तथा विद्वान् विचारक दोनों ही प्राकृतिक विधि को यथार्थ समझते थे। उनका मत था कि यह प्राकृतिक विधि ऐसे नियमों का संकलन है जिनकी रचना मनुष्य द्वारा नहीं होती। जिस प्रकार हिन्दू धर्मावलम्बी वेदों को अपौरुषेय मानते हैं; ठीक उसी प्रकार मध्ययुग में लोग प्राकृतिक विधि को अपौरुषेय मानते थे। वे यह भी कहते थे कि प्राकृतिक विधि "ईश्वर की आवाज की कठोर पुत्री" (The stern daughter of voice of God) है। मध्ययुग के विचारकों के कथनानुसार प्राकृतिक विधियाँ मानवीय विवेक का परिणाम थीं और उन प्राकृतिक विधियों द्वारा मनुष्य ईश्वर की खोज में समर्थ हो सकता है। प्राकृतिक विधियों का कोई मानवीय संस्था विधेयन (Legislation) नहीं करती। वे मनुष्य के स्वभाव से ही उत्पन्न होती हैं; इसलिये दैवी हैं। प्राकृतिक विधियों के दैवी तथा स्वाभाविक होने के कारण उनको सार्वभौमिक (Universal) और शाश्वत (Eternal) माना जाने लगा। इन दो मान्यताओं की वजह से दो स्वाभाविक उपसिद्धियाँ प्रकट हो गयीं। वे उपसिद्धियाँ (Corollary) यह थीं कि प्राकृतिक विधियों का उल्लंघन कोई मानवीय संस्था नहीं कर सकती; इसका अर्थ यह हुआ कि संसार भर के नरेशों द्वारा उनका पालन अनिवार्य था। दूसरे शाश्वत होने के कारण उनमें स्थायित्व था। इसलिये यह संभव नहीं था कि वे केवल किसी एक समय ही सब राजाओं तथा नरेशों द्वारा मानी जातीं। इसका अर्थ यह था कि सब राजा तथा नरेश उन विधियों को समान रूप से सदैव मानते थे। ऐसी कोई मानवीय विधि नहीं थी जो प्राकृतिक विधियों के प्रतिकूल हो। प्राकृतिक विधि के विरुद्ध निर्मित किसी भी मानवीय विधि को मान्यता नहीं दी जाती थी। प्राकृतिक विधि का उल्लंघन भी नहीं किया जा सकता था क्योंकि यह माना जाता था कि प्राकृतिक विधिसम्मत बात ही उचित होती है

और ऐसी कोई मानवीय शक्ति नहीं होती जो उचित को अनुचित और अनुचित को उचित करने की क्षमता रखती हो।

प्राकृतिक विधियाँ शुद्ध विवेक हैं। ये विधियाँ मानवीय स्वभाव के अनुकल होती हैं इसलिये सभी मनुष्यों पर इनका स्वच्छन्दता से प्रयोग किया जा सकता है। इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता और न कभी ये समाप्त ही होती हैं। अतएव, प्राकृतिक विधियों की तीन विशेषताएँ हुईं जो यह हैं––(१) सार्वभौमिकता, (२) अपरिवर्तनीयता और (२) शाश्वतता। मध्ययुग के विचारकों के अनुसार मनुष्य अपने कर्तव्यों के पालनमें इन्हीं प्राकृतिक विधियों के आदेश से तत्पर होता है। प्राकृतिक विधियों की निषेधाज्ञाओं के पालन से मनुष्य गलतियाँ करने से बचता है। लेकिन यहाँ प्राकृतिक विधिवेत्ताओं का एक और भी मत था। उनका कहना था कि भले मनुष्य अर्थात् सामान्य मस्तिष्क के व्यक्ति (Normal mind) पर प्राकृतिक विधि की रचनात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) आज्ञाओं का अनुकूल प्रभाव पड़ता है तथा बुरे मनुष्यों या अपसामान्य मस्तिष्क (Abnormal mind) पर उनका प्रभाव या तो पड़ता हो नहीं या पड़ता भी है तो वह प्रतिकूल होता है। इन्हीं विधि-वेत्ताओं का यह भी कहना था कि प्राकृतिक विधियों को मानवीय विधेयन द्वारा अवैध या निषिद्ध घोषित करने का प्रयत्न नैतिक दृष्टि से कभी अच्छा नहीं होगा। इसलिये ऐसा करना सर्वथा अनुचित है। प्राकृतिक विधियों के प्रयोग-निषेध की अनुमति भी कभी नहीं दी जा सकती और प्राकृतिक विधियों को सर्वथा अनुपयोगी कर देना तो असंभव ही है। प्राकृतिक विधि का जो नियम दिल्ली में लागू होगा वही ठीक उसी रूप में रोम तथा एथेंस में भी लागू होगा। ऐसा भी नहीं हो सकता कि प्राकृतिक विधि का कोई रूप आज कुछ और हो और कल कुछ और। प्राकृतिक विधि का एक नियम होगा और वह सर्वकालव्यापी, अपरिवर्तनीय, सार्वभौमिक तथा शाश्वत होगा। प्राकृतिक विधियाँ ईश्वर के आदेशों की स्वाभाविक व्याख्याएँ हैं। जो लोग इन विधियों के आदेशों का पालन नहीं करेंगे––वह दुखी होंगे, जो इनका पालन करेंगे वे सुख से रहेंगे। प्राकृतिक विधियों के उल्लंघनकर्ताओं को दुख इसलिए भोगना पड़ेगा कि वह अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल कार्य नहीं कर रहे। जो भी व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुरूप कार्य नहीं करता––उसे दुख होगा ही। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मानवीय स्वभाव की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति को भोजन के लिए अपने हाथों का प्रयोग करना चाहिए। लेकिन यदि कोई भोजन में हाथों का प्रयोग न करके पैरों का प्रयोग करना चाहे तो उसे स्वभावतः कष्ट होगा।

चूँकि, प्राकृतिक विधियाँ ईश्वर के आदेशों के रूप में मानी जाती थीं और सभी मनुष्य ईश्वर के पुत्र माने जाते थे––इसलिए मध्ययुग में एक सार्वभौमिक समाज (Universal Society) की कल्पना की गयी। क्योंकि प्राकृतिक विधियाँ अपने आप में सम्पूर्ण और संप्रभु (Sovereign) होती थीं––इसलिए वे राज्य के अन्दर तो राजाओं तथा विधान सभाओं के अधिकारों को नियंत्रित करती थीं और बाह्य दृष्टि से अन्तर्राज्यीय संबंधों को। मध्ययुग के विचारक यह मानकर चलते थे कि प्रकृति ने मनुष्य की कुछ सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं और रचनात्मक विधियों को उन सीमाओं का बराबर ध्यान रखना चाहिए। किसी भी विधि में ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिए जो प्राकृतिक विधि के प्रतिकूल हो अर्थात् मानवीय स्वभाव के विरुद्ध हो। यह मान्यता न केवल पूरे मध्ययुग भर चली अपितु आधुनिक काल तक चली आयी। यह दूसरी बात है कि इसमें किसी प्रकार का रूप परिवर्तन हो गया हो। जैसा कि **सर फ़्रेडरिक पोलक** ने कहा है, "रोमन गणतंत्र से लेकर आधुनिक काल तक प्राकृतिक विधियों का मुख्य भाव यह रहा है कि वे मनुष्य के बौद्धिक और सामाजिक स्वरूप

के बीच सामंजस्य का वह अंतिम सिद्धान्त स्थिर करती हैं जो किसी भी रचनात्मक विधि (Positive Law) का औचित्य होता है या होना चाहिए।"[१]

क्रमशः मध्ययुग में प्राकृतिक विधि की कल्पना बहुत अधिक विशुद्ध होती गयी। प्राकृतिक विधि का अन्य विधियों से अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर निर्धारित किया जाने लगा। सन्त टॉमस एक्वीनाज ने इस दिशा में बड़ा महत्वपूर्ण काम किया। सन्त टॉमस एक्वीनाज ने सम्पूर्ण विधियों को चार भागों में विभक्त कर डाला और प्राकृतिक विधि को उन सबसे अलग बतलाया। यह विभाजन इस प्रकार था--(१) शाश्वत विधियाँ (Eternal laws), (२) प्राकृतिक विधियाँ (Natural laws), (३) दैवी विधियाँ (Divine laws) और (४) मानवीय विधियाँ (Human laws)। सन्त टॉमस का कहना है कि ये चारों प्रकार की विधियाँ विवेक या बुद्धि के ही चार स्वरूप हैं। ये जागतिक यथार्थता (Cosmic reality) के विभिन्न स्तरों को बतलाती हैं किन्तु इनमें विवेक का न्यूनाधिक अंश बराबर बना रहता है। जिन विधियों से ईश्वर ब्रह्माण्ड को चलाता है--वे तो शाश्वत विधियाँ (Eternal laws) हुईं। इन शाश्वत विधियों का अंग बन जाने के बाद मनुष्य जिन विधियों को अपने विवेक से आचारिक नियंत्रण के लिए बनाता है, वे प्राकृतिक विधियाँ (Natural laws) हुईं। जागतिक व्यवहार के लिए मानवीय बुद्धि के प्रयोग से जिन विधियों की रचना होती है, वे मानवीय विधियाँ (Human laws) हुईं। दैवी विधियाँ (Divine laws) वे विशिष्ट प्रकार की विधियाँ हैं जो उक्त तीनों प्रकार की विधियों के पूरक का कार्य करती हैं। प्राकृतिक विधि का व्यवस्थित विवरण देते हुए संत टॉमस ने एक स्थान पर लिखा है, "जागतिक वस्तुओं में दैवी विवेक की झलक ही प्राकृतिक विधियों को जन्म देती हैं। यह इसी बात से प्रकट है कि प्रत्येक प्राणी बुराई से बचना चाहता है और भलाई की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है। प्राणि-मात्र का ऐसा प्रयत्न क्यों होता है? इसका कारण यह है कि मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अनुकूल परिस्थितियों में रहना चाहता है और यथाशक्ति अधिक से अधिक समय तक अपने जीवन की रक्षा करना चाहता है।" मनुष्य के संबंध में यही बात अरस्तू के शब्दों में इस रूप में लागू होती है कि मनुष्य इच्छा करता है कि उसका अधिकतम बौद्धिक विकास हो। **संत टॉमस** ने इसी आधार पर यह बतलाने का प्रयत्न किया कि मनुष्य अपने बौद्धिक विकास के लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वभावतः समाज में रहना चाहता है, सन्तानोपत्ति करना चाहता है और चाहता है कि उसको अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त हो। वह सत्य जानने की उत्कट अभिलाषा रखता है और इसीलिए चाहता है कि वह अधिक से अधिक बुद्धिमान बने। प्राकृतिक विधि में से सब बातें आ जाती हैं जो इन मानवीय आकांक्षाओं एवं अभिलाषाओं को विकास का व्यापकतम क्षेत्र प्रदान करती हैं। प्राकृतिक विधि सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होती है। चाहे वह मनुष्य सभ्य हों या असभ्य--ईसाई हों या मूर्त्तिपूजक। इसलिए जहाँ तक नैतिक सिद्धान्तों और सरकारों का सवाल है, वे सामान्यतः केवल ईसाइयत पर ही अवलम्बित नहीं हैं। प्राकृतिक विधि को मान्यता देने से राज्य के प्रति नागरिक सहयोग और आज्ञा-पालन का भाव घटना नहीं चाहिए। इसके विपरीत उसे और अधिक बढ़ना चाहिए। ईसाई प्रजा का कर्तव्य है कि यदि नरेश गैरईसाई या मूर्त्तिपूजक भी हो तब भी उसकी आज्ञाओं का पालन करे। यदि ईसाई प्रजा राजा की आज्ञाओं का पालन नहीं करती तो यह अनुचित है और वह दण्ड की भागिनी अवश्य बनेगी। प्राकृतिक विधि संबंधी इस व्याख्या का यह परिणाम हुआ कि ईसाई प्रजा की सहिष्णुता में और अधिक वृद्धि हुई।

---

[१] "An ultimate principle of fitness with regard to the nature of man as a rational and social being, which is or ought to be the justification of every form of positive law." Saw Frederick Pollock, *The History of the Law of Nature*, p. 31.

संत टॉमस ने विस्तारपूर्वक यह भी बतलाने का प्रयत्न किया है कि मानवीय विधियों (Human laws) का स्रोत भी प्राकृतिक विधियाँ ही हैं। सन्त टॉमस यह मानता था कि मानवीय विधियों द्वारा मनुष्यों के नियंत्रण का जो प्रयत्न किया जाता है और उस प्रयत्न में जो बल प्रयोग किया जाता है वह सर्वथा उचित है और वास्तविकता यह है कि यह चीज मानवीय स्वभाव में ही होती है। वाह्य बल केवल उसी चीज को और अधिक शक्ति प्रदान कर देता है जो विवेक-सम्मत और ठीक होती है। इस प्रकार कुल मिलाकर मानवीय विधियाँ (Human laws) प्राकृतिक विधियों (Natural laws) की स्वाभाविक उपसिद्धियाँ (Natural corollary) ही हैं। उदाहरण के लिए हत्या करना सामान्यतः कोई भी विवेकशील मनुष्य पसन्द नहीं करता क्योंकि एक तो मनुष्य की आत्मा के लिए ऐसा कार्य देखना, सुनना, या करना स्वाभाविक नहीं है और दूसरे, ऐसा करने से वह स्वयं भी सुरक्षित नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में हत्या से शांति और व्यवस्था का वातावरण नहीं बना रह सकता—लेकिन प्राकृतिक विधि जहाँ हत्या को अनैतिक बतलाती है और कहती है कि ऐसे जघन्य कार्य को रोकना चाहिए वहाँ वह यह नहीं बतलाती कि हत्या रोकनेके लिए हत्यारों को क्या दण्ड दिया जाय या उसके लिए कौन-सी एक सर्वमान्य नीति निर्धारित की जाय। वह हत्या की कोई विशेष परिभाषा भी नहीं देती। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि हत्या करना गलत काम है क्योंकि इससे सामाजिक आचरण केएक निश्चित सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। ऐसे काम को रोकने को और हत्याकार्य हो जाने पर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्राकृतिक विधियों का कार्य केवल एक सामान्य एवं स्वाभाविक वृत्ति की ओर संकेत कर देना भर है। लेकिन हत्याओं को रोकने तथा हत्यारों को दण्डित करने की सर्वोत्तम विधि या नीति कौन-सी होगी—यह बात काल, स्थान, पात्र तथा परिस्थितियों पर निर्भर करती है। सिद्धान्त सर्वत्र सब समय एक ही रहेगा क्योंकि मनुष्य की भाँति आकांक्षाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता लेकिन प्रत्येक समुदाय और जाति के सोचने या विचार करने का ढंग भिन्न-भिन्न होता है—इसलिए नीतियाँ और दण्ड-विधियाँ देश-देश में समय-समय पर भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। इसीलिए सरकारें एक ऐसे प्रकाश का बाह्य आवरण हैं जिनमें प्रकाश-ज्योति तो एक ही होती है लेकिन आवरण के रंग विभिन्न होते हैं।

६. मध्ययुग में राज्य की कल्पना

बहुधा यह प्रश्न किया जाता है कि मध्ययुग में राज्य की कल्पना कहाँ तक सुस्थिर हो पायी थी? यहाँ राज्यकी कल्पना का आशय आधुनिक राज्य की परिभाषा की तुलना में है। ऐसी अवस्था में हमें प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर देना होगा कि मध्ययुग में राज्य के वह सारे तत्व नहीं पनप पाये थे जो आज राज्य के आवश्यक अंग समझे जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आजकल राज्य के कौन-कौन से अंग आवश्यक समझे जाते हैं? अतएव यह अच्छा होगा कि राज्य की आधुनिकतम परिभाषा क्या है—यह जान लिया जाय।

राज्य की परिभाषा **गारनर** ने इस प्रकार की है : "व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय जो किसी निश्चित भू-भाग का स्थायी निवासी हो और बाह्य नियंत्रण से पूर्णतः या लगभग स्वतंत्र हो और किसी एक ऐसी संघटित सरकार द्वारा शासित हो जिसकी आज्ञाओं को निवासियों का अधिकांश भाग स्वभावतः पालन करता हो।"[1] यदि इस परिभाषा का हम विश्लेषण करें तो राज्य के निम्नलिखित तत्व हमें स्पष्टतः दिखलायी पड़ेंगे—

[1] "A community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organised Gorverment, to which the great body of inhabitants render habitual obedience, ' Prof. Garner : *Political Science & Goverment*, p. 52.

(१) व्यक्तियों का समुदाय (अर्थात् जनसंख्या),
(२) निश्चित 'भू-भाग' में स्थायी निवास,
(३) बाह्य नियंत्रण से मुक्ति (अर्थात् संप्रभुता) और
(४) संघटित सरकार।

उक्त चार तत्व राज्य के आवश्यक अंग माने जाते हैं। इनमें से भू-भाग तथा संप्रभुता—ये दो सबसे अधिकआवश्यक तत्व हैं। व्यक्तियों के एक समुदाय की एकही प्रकार के आदर्शों के प्रति समान रूप से आस्था हो और परस्पर बंधुत्व की भावना हो—इसके लिये यह बड़ा ही आवश्यक है कि वे साथ-साथ रहें। साथ-साथ रहने के लिए निश्चितभू-भाग भीबड़ा आवश्यक है। कोई घूमनेवाली कबायली या जनजाति 'राज्य' की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकती। किसी भी राज्य का भू-भाग ऐसा होना चाहिए जो अन्य राज्यों के भू-भाग से बिलकुल अलग हो। जिससे एक ही भू-भाग के लिए दो या अधिक राज्यों में परस्पर संघर्ष न हो जाय। दूसरे, वह भू-भाग एक स्थान पर ही होना चाहिए। ऐसा न हो कि राज्य का एक भू-भाग पूर्व में हो तो दूसरा पश्चिम में[१] यदि ऐसा होगा तो संबंधित राज्य को बराबर यह खतरा बना रहेगा कि कहीं पड़ोसी राज्य उसके भू-भाग को हड़प न करलें। दूसरे, भू-भाग का एक ही स्थान पर होना इसलिए भी आवश्यक है कि बिना साथ-साथ रहे बंधुत्व की भावना जाग नहीं सकती है।[२] इसके अतिरिक्त राज्य का दूसरा आवश्यक गुण संप्रभुता है। संप्रभुता के कारण ही राज्य अन्य समस्त संस्थाओं से श्रेष्ठ समझा जाता है। विधि की दृष्टिसे राज्य के ऊपर, राज्य में या उसके बाहर कोई अधिकारी नहीं होता। राज्य के समस्त निवासियों को राज्य के संप्रभु के समक्ष स्वभावतः आज्ञापालकता प्रकट करनी अनिवार्य होती है। अतएव किसी भी राज्य में दो शक्तियों में जब परस्पर संघर्ष होता है तो उस अवस्था में संप्रभुतावान शक्ति की इच्छा का ही अनिवार्यतः पालन किया जाना चाहिए। संप्रभु शक्ति की इच्छा के समक्ष अन्य सभी शक्तियों को—यदि वे उसी राज्य की ही हैं—नतमस्तक होना ही चाहिए।

इस परिभाषा तथा उसके अनिवार्य अंगों की कसौटी पर जब हम मध्ययुग की राज्य संबंधी कल्पना को सकते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय राज्य की वह कल्पना नहीं थी जो आधुनिक काल में है। इसमें संदेह नहीं कि मध्ययुग में भी जनसंख्या तथा सरकार—ये दो तत्व थे लेकिन कठिनाई उस समय होती है जब हम यह प्रयत्न करते हैं कि निश्चित भू-भाग तथा संप्रभुता के तत्व भी खोज निकालें। राज्य की श्रेष्ठता का सिद्धान्त तो अरस्तू से चला आ रहा है किन्तु संप्रभुता का एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में अपेक्षाकृत अभी हाल ही में विकास हुआ है। मध्ययुग के अन्त में जब राष्ट्र-राज्यों (Nation States) का जन्म होने लगा उस समय राज्य के कर्णधार के अधिकारों को सर्वोपरि बतलाने तथा उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए संप्रभुता के सिद्धान्त को जन्म दिया गया। इसी संप्रभुता के बल पर राज्य की कर्णधार शक्ति या शक्तियों को नागरिक विधियों की अन्तरसामग्री (Contents) तथा स्वरूप निर्धारितकरने का अधिकार मिल सका। इसके विपरीत मध्ययुग में हम यह देखते हैं कि राजसत्ता तथा धर्मसत्ता दोनों ही अपनी-अपनी सत्ता को श्रेष्ठ बताने के लिए प्रयत्नशील थीं। इसी के लिए दोनों में संघर्ष भी चलता रहता है। इस प्रकार मध्ययुग के इस राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के संघर्ष के काल को—जो लगभग १००० वर्ष तक चला—हम द्वैध संप्रभुता का काल (Dual Sovereignty) कहते हैं। जबतक ईसाई धर्म निषिद्धऔर वर्जित समझा

---

[१] पाकिस्तान इसका अपवाद है। पाकिस्तान का एक भाग पूर्वी बंगाल है और दूसरा पश्चिमी पंजाब आदि।

[२] यह बात पाकिस्तान के मामले में अक्षरशः सत्य उतरती है।

जाता रहा——तब तक ईसाई धर्माधिकारी यह प्रचार करते थे कि धार्मिक मामले व्यक्तिगत और निजी होते हैं और इनमें सहिष्णुता से काम लिया जाना चाहिए। लेकिन कालान्तर में जब ईसाई धर्म को राज्य का संरक्षण प्राप्त हो गया तब सहिष्णुता के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया गया।[1] इस सिद्धान्त के परित्याग के कई कारण थे। एक कारण तो यही था कि धार्मिक विभेदों से लोगों को यह आशंका थी कि उससे राज्य की एकता खतरे में पड़ जायगी। यह कारण तो राजनीतिक हुआ। दूसरा धार्मिक कारण था। धार्मिक कारण यह था कि चर्च ने यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया था कि मुक्ति केवल उसके द्वारा ही हो सकती है——इसलिये एसी कोई बात कही या सुनी नहीं जा सकती जो चर्च के विरुद्ध हो। इसका परिणाम यह हुआ कि विचार-स्वातंत्र्य पर प्रतिबंध लग गया। चर्च के अनुयायी और अधिकारी असहिष्णु हो गये। असहिष्णुता के परिणामस्वरूप लोगों के विचार करने का ढंग पुराणपंथी हो गया। हर बात बाइबिल को आधार बनाकर ही कही जाने लगी। सोचने के वैज्ञानिक ढंग को बिल्कुल तिलांजलि-सी दे दी गयी। राज्य का स्वतंत्र व्यक्तित्व युद्ध तथा राजनीति के क्लान्तिकारी संघर्षों के बीच लुप्तप्राय हो गया। यद्यपि ईसाई गिरजा एकही विश्वसाम्राज्य तथा उस पर एक ही धर्मसत्ता के शासन के सपने बराबर देखा करता था लेकिन यथार्थताएँ इसके बिल्कुल विरुद्ध थीं। कहाँ विश्वसाम्राज्य तथा उस पर एक ही सत्ता के शासन की कल्पना तथा कहाँ मध्ययुग का सामन्तवादी विकेन्द्रित सत्ता के युग का यूरोप। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर था।

इसमें संदेह नहीं कि तत्कालीन चर्च तथा राज्य ने मिलकर एक समाज का निर्माण किया लेकिन साथ ही यह भी सच है कि समाज पर दो सरकारों का शासन चला। दो सत्ताओं का अस्तित्व बना रहना तथा ईसाई पादरियों द्वारा अपने लेखों में स्पष्टतया दो सत्ताओं का उल्लेख किया जाना-इस अवैज्ञानिक विश्वास के जन्म का कारण बन गया कि राज्य का शासन दो सत्ताओं द्वारा ही होता है। इस सिद्धान्त का विवेचन पोप ने सम्राट् को लिखे एक पत्र में इस प्रकार किया था——"इस संसार का शासन दो सत्ताओं द्वारा होता है। ये सत्ताएँ हैं—पादरियों की और राजा की। इन दोनों सत्ताओं में राजसत्ता से पादरियों की सत्ता श्रेष्ठतर है क्योंकि पादरियों को ही कयामत के बाद राजाओं के कर्मों का भी उत्तर देना पड़ेगा।"[2] प्रारंभ में यह समझा जाता था कि वह शासनसत्ता समाज के लिए सबसे अच्छी है जिसमें धर्म और राज्य दोनों सत्ताओं का सहयोग रहे। प्रत्येक सत्ता का अपना-अपना अलग-अलग क्षेत्र रहे और प्रत्येक सत्ता उसी प्रकार कार्य करती रहे। एक दूसरे के क्षेत्र में कोई सत्ता किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। इस प्रकार द्वैध-सत्ता के सिद्धान्त में दोनों के बीच संभावित संघर्ष को टालने की भावना ही अधिक दिखलायी पड़ती है। इसी इरादे से उक्त पत्र भी लिखा गया था किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में यह सिद्धान्त सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं हो सका। प्रत्येक सत्ता एक दूसरे पर यह आरोप लगाती थी कि प्रतिपक्षी सत्ता उसके क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप

"When Christianity was a forbidden sect, it claimed toleration on the ground that religious belief is voluntary and not a thing to be enforced. After it secured the power of the state behind it this view was abandoned." R. G. Gettell, *A History of Political Thought*, p. 82.

"There are two systems under which chiefly this world is governed, the sacred authority of priests and the royal power. Of these the greater weight is with the priests in so far as they will answer to the Lord even for the kings on the last day of Judgment." Quoted by W. A. Dunning in *Political Theories*, Vol. 1, p. 166.

कर रही है। प्रत्येक सत्ता ऐसे सिद्धान्तों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करती थी जिससे उसके अधिकार क्षेत्र में वृद्धि हो सके। दोनों सत्ताओं के पोषक तथा समर्थक इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि वे अपने-अपने पक्ष के समर्थन के लिए ऐतिहासिक तथ्य खोज लावें तथा अपने मत के समर्थन में बाइबिल में से अधिकाधिक उद्धरण दे सकें। वास्तविकता यह थी कि दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष अपने मत को स्पष्ट रूप से उपस्थित नहीं कर पाता था। न कोई पक्ष इसी बात के लिए तैयार होता था कि वह विपक्षी से अपना स्थान कुछ छोटा मान ले। पहले तो पोप ने यह किया कि जो भी धर्मसत्ता के विरुद्ध अपना मत प्रकट करते उनको वे धर्मबहिष्कृत कर देते। प्रारंभ में यह कार्य कुछ सफल भी हुआ लेकिन बाद में राजसत्ता ने पोप के धर्मबहिष्कृत करने की आज्ञाओं की अवहेलना करना आरंभ कर दिया। तब पोप ने प्रजा को यह आज्ञाएँ देनी आरंभ कर दीं कि वह धर्मबहिष्कृत राजाओं की आज्ञाओं का पालन न करे।

इस प्रकार मध्ययुग में हम एक प्रकार की द्वैध-संप्रभुता के सिद्धान्तों को कार्यान्वित होता हुआ देखते हैं। यहाँ हम संप्रभुता के सिद्धान्त का जब स्मरण करते हैं तो हमें यह भी ज्ञात होता है कि संप्रभुता का एक गुण उसकी अविभाज्यता भी है। अतएव इस दृष्टि मध्ययुग की राज्य की कल्पना में संप्रभुता के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

इसके अतिरिक्त सामन्तवादी व्यवस्था में राज्य के निश्चित भू-भाग की कल्पना भी अपूर्ण ही रह जाती है। पश्चिमी साम्राज्य के ढह जाने के बाद छोटी-सी भूमि का अधिकारी किसान एक ऐसी अरक्षित अवस्था में रह गया था जिस पर कोई भी बर्बर जाति आक्रमण कर उससे जो चाहती थी वह करा लेती थी। ऐसी अवस्था से बचने का एकमात्र साधन लोगों के पास यही रह गया था कि वे समीपवर्ती सामन्त के पास जाकर अपनी भूमि उसको अर्पित कर दें और फिर निरन्तर कुछ कर देते रहें तथा भूमि को जोतते रहें। इसका इतना परिणाम तो होता ही था कि जिस सामन्त को वह भूमि अर्पित कर दी जाती थी—उस भूमि की रक्षा का भार सामन्त की सेना पर चला जाता था। यह सहायता उन दिनों की अराजकतापूर्ण दशा में बहुत बड़ी सहायता थी। अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए बड़े-बड़े जमींदार भी अपनी भूमि को बड़े-बड़े सामन्तों की जागीरों में मिला देते थे। जिन लोगों के पास इस प्रकार सामन्त की भूमि रहती थी उनकी यह जिम्मेदारी होती थी कि वे किसी भी आक्रमण के समय सामन्त की सहायता करें और उसकी तरफ से लड़ें। सामन्त का यह कर्तव्य होता था कि वह अपनी प्रजा की आक्रमण तथा संकट के समय यथाशक्ति रक्षा करे। केन्द्रीय राजसत्ता के लुप्त हो जाने से तथा धर्म और राजसत्ता के अधिकारों के परस्पर उलझ जाने से स्थिति "चीनी पहेली" की भाँति हो गयी थी। उन दिनों कोई केन्द्रीय राजसत्ता थी ही नहीं—केवल चर्च ही एक ऐसी शक्ति थी जिसे सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त थी। अतएव मध्ययुग में आधुनिक युग की राज्य संबंधी कल्पना आंशिक रूप से ही सत्य हो पायी थी।

पोपशाही और पवित्र रोमन साम्राज्य का जन्म

पाँचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक

१. ईसाई धर्म को राज-संरक्षण--२. बर्बरों के राजनीतिक विचार--३. ईसाई गिरजा की उन्नति के कारण--४. ईसाई गिरजासंघ का उत्थान--५. रोम में पोपशाही की स्थापना--६. पोप ग्रेगरी--७. पवित्र रोमन साम्राज्य--८. विभिन्न सम्प्रदाय और उनके संत।

आठवें अध्याय के प्रारंभिक भाग में हम ईसाई धर्म के जन्म तथा विकास पर ईसा की जीवनी तथा उनकी शिक्षाओं पर विचार करते समय, प्रकाश डाल आये हैं। हम यह भी देख आये हैं कि ईसाई धर्म का जन्म यूरोप के सुदूर पूर्वी भाग में एक ऐसे सम्प्रदाय के बीच हुआ जो घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा जो बलवान यहूदियों तथा रोमनों की दमन की चक्की में पिसा करता था। प्रारंभ में तो ईसाई धर्म का प्रचार दुखी, चलित और पीड़ित यहूदियों के बीच हुआ किन्तु सन्त पॉल की शिक्षाओं के उपरान्त स्थिति बदल गयी। सन्त पॉल की विद्वत्ता तथा प्रगाढ़ सहानुभूति ने ईसाई धर्म को नवजीवन प्रदान किया। उसने इस धर्म को समाज के बहुत बड़े भाग का समर्थन प्रदान किया। सन्त पॉल ने जगह-जगह जाकर ईसाइयों के छोटे-छोटे समाज स्थापित किये। इन समाजों में पारस्परिक एकता तथा बांधविक भावना की तो कमी नहीं थी लेकिन मूर्त्तिपूजकों का समाज इनको तब भी घृणा की दृष्टि से ही देखा करता था। रोमन सम्राटों का भी इन्हें कोपभाजन बनना पड़ा था। परन्तु यह स्थिति होते हुए भी ईसाई धर्म की लोकप्रियता क्रमशः बढ़ती गयी और इसका प्रसार पूर्वी तथा पश्चिमी यूरोप के देशों में निरंतर फैलता गया। सन्त एम्ब्रोज, पोप गिलोसियस प्रथम तथा सन्त ऑगस्टाइन के काल तक पश्चिमी यूरोप के अनेक सभ्य घरानों एवं वर्गों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था और घृणा का भाव क्रमशः घटता जा रहा था।

१. ईसाई धर्म को राज-संरक्षण

इसी बीच एक और दैवी घटना हुई। रोमन सम्राट् कांस्टेनटीन को एक दिन दोपहर में रहस्यमय क्रॉस दिखलायी पड़ा। इसके पश्चात् रात को उन्हें एक स्वप्न दिखलायी पड़ा जिसमें भगवान् ईसा ने उन्हें दर्शन देकर आज्ञा दी कि वह क्रॉस को ही अपना धर्मध्वज बनावें। कांस्टेनटीन ने उस आज्ञा का पालन किया और उसके बाद उसे अनेक युद्धों में आशातीत सफलता मिली। युद्ध की इन सफलताओं का यह परिणाम हुआ कि ईसाई धर्म समस्त यूरोप में फैल गया। बहुत से व्यक्तियों ने सामूहिक रूप से ईसाई धर्म को स्वीकार कर उसका अंधानुकरण आरंभ कर दिया। सम्राट् कांस्टेनटीन को ईसाई गुरुओं ने नेता मान लिया और इसका प्रभाव यह हुआ कि सम्राट् को ईसाई धर्म की अनेक परिषदों के अधिवेशनों में भी भाग लेना पड़ा।

सम्राट् कांस्टेनटीन ने एक ओर तो ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया--दूसरी ओर अपनी राजधानी रोम से कुस्तुनतुनिया (Constantinople) स्थानान्तरित कर दी। राजधानी-स्थानान्तरण का कारण यह था कि रोम पर मध्ययूरोप की बर्बर जातियों के आक्रमण अधिक

हो गये थे। सम्राट् कांस्टेन्टीन के साम्राज्य के पश्चिमी भाग से चले जाने का परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी साम्राज्य की स्थिति और खराब हो गयी। बर्बरों के आक्रमण बढ़ गये और **थ्योसीडियस** के बाद तो रोमन साम्राज्य स्पष्टतः पूर्व और पश्चिम—इन दो भागों में बँट गया। बर्बर जातियों के लोग जर्मनी तथा जर्मनी से पश्चिम के भाग में बसने लगे। रोम में उनकी चलने लगी। रोमन सेना में वे भरती भी किये जाने लगे और उनमें से कुछ ने तो ईसाई धर्म भी ग्रहण कर लिया। पश्चिम में रोम सम्राट् की यह हालत थी कि सन् ४१० में एक बर्बर जाति के राजा[१] ने रोम को तीन बार लुटवाया। इस प्रकार की घटनाओं के ६६ वर्ष बाद सन् ४७६ में जब **रोमुलस आगस्टुलस** नामका एक कमजोर व्यक्ति रोम का सम्राट् बन बैठा तब एक बर्बर आक्रमणकारी **ओडोवकार** ने उसे गद्दी से उतार दिया। इस प्रकार ऐतिहासिक रोम साम्राज्य का अन्त हो गया और पवित्र रोमन साम्राज्य की नींव पड़ने के लिए स्थान रिक्त हो गया। सम्राट् कांस्टेनटीन के राजधानी हटा ले जाने तथा बाद में रोम साम्राज्य के विभक्त हो जाने से राज्य की शक्ति तो पहले ही क्षीण हो गयी थी, बाद में रोम के सिंहासनारोहण के प्रश्न को लेकर उत्तराधिकार के संबंध में जो पारस्परिक झगड़े हुए उनसे उसकी स्थिति और भी बिगड़ गयी। ऐसे समय में बर्बर जातियों के आक्रमणकारियों की बन आयी क्योंकि उन्हें रोमन साम्राज्य की कमजोरी से बारबर विजय मिल रही थी तथा इन विजयों से उनका उत्साह भी निरन्तर बढ़ता जा रहा था। रोमन साम्राज्य के शासकों ने जनता को बड़ा तंग किया था। न केवल प्रजा से अधिक से अधिक कर वसूल करने में ही रोम के शासक पटु थे अपितु वे प्रजा के कुछ वर्गों को निश्चित रूप से घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार के व्यवहार के कारण जब रोम के शासक बर्बर आक्रमणकारियों से पिटने लगे तो उनकी सहायता के लिए प्रजा भी सामने नहीं आई। रोमन शासकों की आर्थिक स्थिति के बिगड़ जाने से उनकी सेना भी निर्बल हो गयी।

रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् बर्बर जातियों का बोलबाला हो गया। लेकिन इन आक्रमणकारियों को बर्बर कहने वाले रोमन ही थे। इसमें संदेह नहीं कि यूनानियों और रोमनों की विकसित और समुन्नत बौद्धिकता के समक्ष बर्बर जातियों का मस्तिष्क बौना-सा लगता है लेकिन यह कहना सर्वथा गलत है कि बर्बर जातियाँ बिलकुल असभ्य थीं। इनके कोई सामाजिक या राजनीतिक आदर्श नहीं थे और इनका रोमनों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। बर्बर जातियों के लोगों के राजनीतिक विचारों तथा सामाजिक संघटन का रोमन साम्राज्य के बाद के यूरोप पर काफी प्रभाव पड़ा। यह अच्छा होगा यदि हम उनके राजनीतिक विचारों के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर लें।

बर्बरों के राजनीतिक विचारों का सिंहावलोकन करते ही हमारे सामने उनकी ४-५ चीजें स्पष्ट रूप से आ जाती हैं जो इस प्रकार हैं—(१) व्यक्ति स्वातंत्र्य, (२) प्रतिनिधि शासन (३) सांविधानिक शासन, (४) बर्बरों की विधि-व्यवस्था और (५) सामन्तवाद की स्थापना। इनके राजनीतिक विचारों की उक्त रूपरेखा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक राज्य की कल्पना के कई तत्व जो आज हमें अनिवार्य से प्रतीत होते हैं, बर्बरों के राजनीतिक विचारों से ही प्राप्त किये गये हैं।

२.१ **व्यक्ति स्वातंत्र्य**—आधुनिक प्रजातंत्रवादी एवं लोक-सत्तात्मक राज्यों में व्यक्ति

---

१ राजा का नाम एलेरिक था और यह विसिगोथ (Visigoths) जाति का था इसी के आक्रमण से क्षुब्ध होकर गैरईसाई ईसाइयत की निंदा करने लगे थे जिसका उत्तर संत आगस्टाइन ने 'ईश्वर का नगर' (The City of God) नाम की पुस्तक लिखकर दिया।

स्वातंत्र्य को कितना महत्व दिया जाता है--इस पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) का विधान होना इसी बात की ओर संकेत करता है। व्यक्ति स्वातंत्र्य की यह कल्पना मूलतः बर्बर जाति-समूहों की है। बर्बर जातियों के लोग अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अन्यत्त सचेष्ट और जागरूक रहते थे। यह बात उनकी दण्ड-व्यवस्था के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाती है। बर्बरों की दंड-व्यवस्था ऐसी थी कि उसमें जिस व्यक्ति पर अत्याचार या अन्याय होता था, वही व्यक्ति समूह के सामने आततायी को दण्ड देता था। इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था में व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना थी परन्तु इससे इस बात का पता चलता है कि बर्बर कहे जाने वाले लोग व्यक्ति के महत्व और उसकी मान-मर्यादा की कितनी रक्षा करते थे। ऐसी व्यवस्था में स्पष्ट है कि राज्य के अधिकार सीमित हो जाते हैं और व्यक्ति का महत्व बढ़ जाता है।

२.२ **प्रतिनिधि शासन**--बर्बरों की शासन व्यवस्था में स्थानीय और केन्द्रीय परिषदें एवं सभाएँ हुआ करती थीं जिनका बराबर चुनाव किया जाता था। स्थानीय परिषदों का काम स्थानीय विवादास्पद समस्याओं को सुलझाना होता था। वे न्याय-कार्य भी सम्पादित किया करती थीं। केन्द्रीय सभा का काम राष्ट्र के शासक को निर्वाचित करना तथा राष्ट्रीय समस्याओं का फैसला करना होता था। न्याय संबंधी अपीलों की सुनवायी भी केन्द्रीय सभा करती थी। बर्बरों ने स्थानीय शासन कार्य स्थानीय जनता को सौंप कर तथा राष्ट्रीय महत्व की चीजें केन्द्र के हाथ में रख कर उस शासन प्रणाली का बीज बोया कि जिसके आधार पर आजकल की शासन व्यवस्था चलती है।

२.३ **सांविधानिक शासक**--प्रारंभ में बर्बर जातियों में राजाओं का निर्वाचन किया जाता था। बाद में परम्परागत शासन करनेवाले राजवंश भी आये। यदि कभी ऐसा अनुभव हुआ कि कोई राजा अपने पद के उपयुक्त नहीं है तो उसे पदच्युत कर दिया गया। इस तथ्य के आधार पर कहा जा सकता है कि उनमें राजा का निर्वाचन भी होता था। कालान्तर में बर्बर जातियों का पतन हो गया लेकिन इसके पश्चात् भी उनका चुनाव सिद्धान्त बना रहा। इंगलैण्ड, जर्मनी आदि में उनकी परम्परा चलती रही, और वहीं से राष्ट्रीय शासक को चुनने की व्यवस्था अन्य प्रजातंत्रवादी राज्यों ने अपनायी। इंगलैण्ड में अनेक बार ऐसा हुआ कि लोकमत के विरुद्ध चलने वाले शासकों को पदच्युत किया गया। जर्मनी में पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् निर्वासित किया जाता था। अमेरिका, भारत आदि में राष्ट्रपति को चुनने की प्रथा इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

२.४ **सामन्तवाद का जन्म**--यूरोप में मध्यकाल में कई सौ वर्षों तक सामन्तवाद की तूती बोलती रही। बड़े-बड़े राजाओं के दारबार में बहुत से सामन्त हुआ करते थे जो राजाओं को आर्थिक भेंट और सैनिक सहायता देते थे और उनको राजा की ओर से बड़े-बड़े इलाके दे दिये जाते थे। इन इलाकों के शासन का भार इन्हीं सामन्तों पर रहता था। यह सामन्तवादी व्यवस्था बर्बर जातियों की ही देन है। बर्बरों में जो सरदार होते थे--उनकी वीरता पर मुग्ध होकर राजा, या शासक, उन्हें बड़ी-बड़ी जमीन दे डालते थे, और वहाँ की जनता भी उन सरदारों को इतना मानती थी कि उनके प्रति भक्ति की शपथ तक ग्रहण कर लेती थी।

२.५ **विधि व्यवस्था**--बर्बरों का राज्य की व्यवस्था में अधिक विश्वास न था। वे विधियों को सर्वोपरि मानते थे, राज्य को नहीं। उनमें यह प्रथा नहीं थी कि विधियों तथा कानूनों की रचना कोई सभा बैठ कर करे। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप कानून बनाता था। वह यह भी कहता था कि उसको न्याय भी अपनी विधि के अनुसार ही मिलना चाहिए। बर्बर जातियों की विधि-व्यवस्था प्रारंभिक और अविकसित थी। लेकिन इस व्यवस्था ने

सामान्य विधि (Common law) के विकास में काफी योग प्रदान किया। इंगलैण्ड की सामान्य विधि (Common law) की कल्पना का मूल स्रोत इसी जगह निहित है।

३. ईसाई चर्च की उन्नति के कारण

रोमन साम्राज्य के पतन तथा बर्बर जातियों के हाथ में शासनाधिकार चले जाने से ईसाई धर्म की शक्ति का ह्रास नहीं हुआ। वह क्रमशः बढ़ती ही गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि रोमन साम्राज्य के शासकों की दमन की चक्की में पिसी जनता को बर्बर शासकों से भी कोई राहत नहीं मिली। उसके लिए तो दोनों ही उत्पीड़क थे। अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता से सब लोग घबड़ाये थे। उनको दुख से छुटकारे का कोई मार्ग ही नहीं दिखलायी पड़ता था। ऐसी अवस्था में ईसाई धर्म दया और शांति का सदंश लेकर जनता के सामने पहुँचा। उसने सांसारिक दुखों और यातनाओं की काली घटाओं में मुक्तिरूपी आशा की विद्युत-रेखा दिखलायी। इससे जनता को धीरज बँधा और लोगों का साहस बढ़ा। दूसरे ईसाई धर्म के गिरजाघर तथा अन्य धार्मिक संस्थान बर्बर जातियों के कोप से भी बचे रहे। इसका कारण यह था कि आक्रमणकारी ईसाई धर्म के अनुयायियों के तत्कालीन अंधविश्वासों तथा जन-श्रुतियों को सुन-सुनकर ईसाई धर्म की शक्ति को ईसाई गिरजाघरों से भयभीत रहने की भावना ने ईसाई धर्म की शक्ति की अभिवृद्धि में और अधिक योग दिया। यही नहीं ईसाई धर्म के प्रचारकों ने कुछ बड़े रचनात्मक काम भी किये। पादरियों ने गाँवों में जा-जाकर शिक्षा प्रसार किया। अस्पताल और स्कूल स्थापित किये। औषधियों के मुफ्त वितरण की व्यवस्था तथा अन्य रचनात्मक कार्यों ने ईसाई धर्म की लोकप्रियता को और भी बढ़ा दिया। ईसाई पादरी स्वयं कष्ट सहकर दूसरों की भलाई में लगे रहते थे। अपनी सुविधाओं का कोई ध्यान न रख कर विरक्त जीवन बिता कर दूसरों की असुविधाओं को दूर करने के लिए सचेष्ट रहते थे। इसका प्रभाव साधारण जनता पर ही नहीं निरन्तर मारकाट करती रहने वाली बर्बर जातियों पर भी पड़ा।

फ्रक जाति के एक व्यक्ति **क्लोविस** ने इस बीच फ्रांस पर आक्रमण किया और वहाँ जनता राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। उसके वंश का नाम **मेरोविंगियन** था। **क्लोविस** ने सन् ४१६ में ईसाई धर्म ग्रहण किया और इस प्रकार फ्रांस में ईसाई धर्म फैल गया। स्पेन और पुर्तगाल में भी फ्रांस के जरिये ईसाई धर्म के प्रचारक गये और वहाँ भी अन्य धर्मों के सामने ईसाई धर्म की श्रेष्ठता मान ली गयी। इस प्रकार पश्चिम और पूर्व में पुर्तगाल से लेकर जर्मनी तक तथा उत्तर और दक्षिण में इंगलैण्ड से लेकर उत्तरी अफ्रीका तक ईसाई धर्म फैल गया। यह स्थिति नवीं शताब्दी के आरंभ होते तक की थी।

४. ईसाई चर्च का उत्थान

ईसाई धर्म के प्रचार और प्रसार के साथ ईसाई चर्च का भी उत्थान हुआ। जब ईसाई धर्म अपनी प्रारंभिक अवस्था में था तब सभी ईसाई परस्पर समान समझे जाते थे तथा वे अपनी अपनी श्रद्धा एवं भक्ति के अनुरूप प्रार्थना, दान आदि कर्म करते थे। **सन्त पाल** ने जिन ईसाई समुदायों की स्थापना की थी उनमें प्रार्थनादि कराने के लिए एक पुरोहित या पादरी भी नियुक्त करने की प्रथा डाल दी थी। इस पादरी को विशप कहा जाता था। विशप का कार्य प्रार्थनादि कराना होता था। वह यह भी देखता था कि धार्मिक अनुशासन का पालन किया जाता है या नहीं। विशप स्थानीय गिरजाघर का भी सर्वोच्च अधिकारी समझा जाता था और उस गिरजाघर की सफाई तथा अन्य प्रकार की देखभाल भी उसी के कर्तव्यों का अंग समझी जाती थी। विशप को स्थानीय ईसाइयों का समुदाय ईसा का प्रतिनिधि समझा करता था और उसे 'फ़दर' या 'पिता' कहकर संबोधित किया जाता था। बिशप की सहायता के लिए

वयोवृद्धों की एक परामर्शदात्री परिषद् होती थी जो गिरजाघर के शासन एवं अनुशासनात्मक कार्रवाइयों आदि के मामलों में बिशप को सलाह दिया करती थी। प्रारंभ में यह कार्य छोटे पैमाने पर होता था लेकिन राजकीय संरक्षण मिलने तथा ईसाई धर्म के बहुत फैल जाने के बाद स्थिति और बदल गयी तथा बिशपों के पद की मर्यादा तथा उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ गये। ईसाई गिरजों को धर्म लोकप्रियता बढ़ने के साथ ही अधिकाधिक चल और अचल सम्पत्ति भी मिलने लगी। कांस्टेनटीन ने स्वयं ईसाई धर्म ग्रहण कर उसके प्रचार में योग देना आरंभ कर दिया था। अतएव उसी समय से राजनीति पर धर्म का प्रभाव पड़ना भी आरंभ हो गया। इधर रोम का राजनीतिक महत्व घट गया क्योंकि रोमन सम्राट् ने राजधानी वहाँ से हटा ली थी। अतएव रोम में ईसाई धर्म के अधिकारियों का प्रभाव बढ़ने लगा। जब तक सम्राट् शांति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व सँभाले थे तब तक तो ईसाई धर्माधिकारी तटस्थ और विरक्त जीवन बिताते थे लेकिन जब रोम की शांति तथा व्यवस्था का दायित्व भी उनके कंधों पर आ गया तो उन्हें विवश होकर उसे भी सँभालना पड़ा।

इस प्रकार सत्तारूढ़ हो जाने पर ईसाई धर्माधिकारियों की भी यह आकांक्षा बलवती हो उठी कि वे जनता के आचरण को धर्मानुकूल बनाएँ। इस दिशा में आगे बढ़ते हुए उन्होंने एक ईसाई राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।

हम ऊपर कह आये हैं कि जहाँ-जहाँ ईसाई समुदाय रहता था वहाँ-वहाँ चर्च के अध्यक्ष के रूप में एक बिशप या पादरी रहा करता था जो अपने कर्तव्यों के पालन में स्थानीय परामर्शदात्री परिषद् का भी सहयोग प्राप्त कर लिया करता था। इन परिषदों के ऊपर प्रान्तीय स्तर पर भी एक सभा हुआ करती थी जिसे ईसाई धर्म के अनुयायी साइनोड्स (Synods) कहते थे। प्रान्तीय सभाएँ यथासंभव स्थानीय परिषदों के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थीं लेकिन आवश्यकता पड़ने पर धर्म के सामूहिक हितों की रक्षा के लिए वे उचित कार्रवाई करने का अधिकार रखती थीं। प्रान्तीय सभाओं के ऊपर एक सर्वोच्च सभा होती थी। सर्वोच्च सभा किसी भी प्रान्तीय सभा के निर्णय को रद्द कर सकती थी। इस सर्वोच्च सभा का अधिवेशन खास-खास अवसरों पर ही बुलाया जा सकता था। क्योंकि आर्थिक दृष्टि से यह कार्य बड़ा व्ययसाध्य था। अतएव यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि समस्त बिशपों का भी एक उच्चतम बिशप हो जो आवश्यकता पड़ने पर सभी का पथप्रदर्शन कर सके। उस समय यह तय करना बड़ा ही कठिन कार्य था कि किस स्थान के बिशप को सबसे बड़ा बिशप समझा जाय।

५. रोम में पोपशाही की स्थापना

यह तो ठीक था कि कोई एक सबसे बड़ा बिशप रहे लेकिन यह तय नहीं हो सका कि वह पद किस स्थान के बिशप को दिया जाय। कुस्तुन्तुनिया, जेरूसलम, सिकन्दरिया, एण्टीऑक आदि सभी स्थानों के बिशप अपने आपको सबसे बड़ा बिशप मान जाने की माँग करने लगे थे। कुस्तुन्तुनिया के बिशप का महत्व इसलिए अधिक था क्योंकि वहाँ से ही ईसाई धर्म फैला था और सम्राट् कांस्टेनटीन के उसे राजधानी बना लेने के बाद वह पूर्व में ईसाई धर्म के प्रचार का एक प्रधान गढ़-सा हो गया था। जेरूसलम के बिशप की महानता इसलिए मानी जानी चाहिए थी कि वहाँ स्वयं महाप्रभु ईसा ने जन्म लिया था और दीन-दुखियों के बीच ईसाई धर्म का प्रचार किया था और इसी प्रकार अन्य स्थानों के बिशपों की भी अलग-अलग दलीलें थीं। लेकिन ये सब नगर पीछे रह गये और रोम के बिशप को ही पोप मान लिया गया। रोम की इस प्रकार की प्रधानता स्थापित हो जाने के कई कारण थे। इनमें सबसे पहला कारण तो यह था कि रोम के बिशप अत्यन्त योग्य हुआ करते थे। यह सत्य है कि रोम के आरंभ-

कालीन बिशप अत्यन्त साधारण कोटि के थे लेकिन बाद में यह बात न रही। राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक सभी विषयों की समस्याओं पर इनका चिन्तन अत्यन्त गंभीर और गहन हुआ करता था। ऐसे बिशपों की नियुक्ति तीसरी शताब्दी से आरंभ हुई। **दूसरा** कारण यह था कि रोम में प्रान्तीय ईसाई चर्चों के संघों को स्थापित किया गया। इस संघ की देख-भाल का काम रोम के बिशप को सौंपा गया। अतएव रोम के बिशप इन संघों के काम-काज की देख-भाल तथा उनका निरीक्षण ठीक उसी प्रकार किया करते थे जिस प्रकार कोई केन्द्रीय अधिकारी प्रान्तीय शासन की कार्रवाइयों पर नजर रखा करता है। **तीसरा** कारण यह था कि चौथी शताब्दी के मध्यान्त में सारडिका में ईसाई संघो की सर्वोच्च सभा का जो अधिवेशन हुआ था उसने रोम के बिशप को यह अधिकार दे दिया कि वह अन्य स्थानों के बिशपो के आदेशों के विरुद्ध की गयी अपीलों को सुने। इसके बाद पाँचवीं शताब्दी में सम्राट् वेलेनटाइन तृतीय ने रोम के बिशप को श्रेष्ठतर घोषित करते हुए उनको सबसे बड़ा बिशप बतलाया। **चौथा** कारण यह हुआ कि सम्राट् कांस्टेनटीन के रोम छोड़ कर चले जाने से रोम के बिशप का उस समय तक जो केवल धार्मिक महत्व था वह और बढ़ कर राजनीतिक भी हो गया; क्योंकि रोम का शासन-भार भी बिशप तथा उसके सहयोगियों के कंधे पर आ गया। **पाँचवाँ** कारण यह था कि वहाँ पर ईसा के एक बहुत बड़े अनुयायी **सन्त पीटर** ने ईसाई धर्म की शिक्षाओं का प्रचार किया था और इस कार्य को करते हुए बड़े-बड़े दुख सहे थे। अन्त में वहीं उनकी मृत्यु भी हुई थी। सन्त पॉल ने भी अपना कार्यक्षेत्र रोम को चुना था। रोम की ऐतिहासिकता भी उसकी उत्कृष्टता का एक कारण थी। **छठाँ** कारण यह था कि रोमन सम्राटों के अत्याचार काल में जब अन्य स्थानों में कहीं कोई बिशप नहीं थे तब रोम के बिशप ने दीन, दुखी और दलित जनता को पीड़ा से मुक्ति दिलाने का आश्वासन दिया था। **सातवाँ** कारण यह था कि जब अनेक बर्बर जातियाँ इटली पर आक्रमण कर रही थीं उस समय रोमन सभ्यता से उनकी रक्षा रोम के बिशप ने ही की थी। सबसे अन्त में **पोप लियो** महान ने पोप की उपाधि केवल पाँचवी शताब्दी के मध्य में केवल रोम के बिशप के लिए ही सुरक्षित कर दी। उक्त घोषणा के अनुसार केवल रोम के बिशप को ही पोप कहा जा सकता था—अन्य किसी स्थान के बिशप को पोप कह कर सम्मानित नहीं किया जा सकता था। यह परम्परा आज तक चली आ रही है।

पोपतंत्र की स्थापना हो जाने के बाद ईसाई धर्म संघों का संगठन रोमन साम्राज्य के अनुरूप हो गया। इस राज्य में लगभग सभी ईसाई थे। शासन व्यवस्था प्लेटो की **'रिपब्लिक'** के आदेशों के अनुसार चलाने का प्रयत्न किया जाता था। पोप का स्थान इस सारी व्यवस्था के बीच लगभग एक दार्शनिक शासक का-सा हो गया। पोप अपनी सहायता के लिए बहुत से कार्डिनलों की नियुक्ति किया करता था। ये कार्डिनल प्रशासन तथा न्याय कार्य में पोप की सहायता किया करते थे। पोप के राज्य में नागरिकता संबंधी सारे अधिकार मात्र बपतिस्मा से मिल जाते थे। पोप का राज्य एक प्रकार का धर्मतंत्र राज्य (Theocratic state) था। यहाँ पोप द्वारा नियुक्त धार्मिक अधिकारी राज्य के अधिकारियों का काम करते थे। बाइबिल तथा अन्य सन्तों की वाणी में जिन नियमों की चर्चा थी वही नियम पोप राज्य की विधियाँ (Laws) थीं। जो लोग धार्मिक विधियों का पालन नहीं करते थे उनको ईसाई धर्म से निकाल दिया जाता था। यह निष्कासन एक प्रकार का सामाजिक बहिष्कार-सा हो जाता था और इससे बड़े-बड़े राजा तक भयभीत रहा करते थे।

५.१ पोप तंत्र में कर वसूली :—पोप के राज्य में अनेक कर भी वसूल किये जाते थे। इन्हीं करों द्वारा शासनादि का कार्य चलाया जाता था। एनेट्स, पोटर्सपेंस, टाइथ्स आदि नामों के कई कर लिये जाया करते थे। एनेट्स कर उपज पर ही ले लिया जाया करता था।

यह कर निश्चित नहीं था। जो पोप अपने समय के लिये जितनी मात्रा निर्धारित कर देता था उतना ही कर ले लिया जाता था। पीटर्सपेंस नाम का कर एक धार्मिक कर था। यह हर वर्ष प्रत्येक परिवार से एक चाँदी की मुद्रा के रूप में लिया जाता था और इसका उपयोग सन्त पीटर के गिरजाघर के निर्माण में किया जाता था। टाइथ्स नाम का कर फसल या उत्पादन पर लिया जाता था। यह आय का दशमांश होता था। करों की वसूली तथा राज्य की रक्षा आदि कार्यों के लिए जब युद्ध की आवश्यकता होती तो टेम्पलर्स संघ के आदमी जाते थे। इसके अतिरिक्त हॉस्पिटैलर्स का भी एक संघ था। इसका काम रेडक्रॉस जैसा था। युद्ध में आहत तथा बीमार सैनिकों की सेवा करना संघ के सेवकों का काम हुआ करता था।

अन्य देशों में भी पोप के प्रतिनिधि रहा करते थे। इन प्रतिनिधियों को लीगेट्स (Legates) कहा जाता था। शिक्षा के लिए बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों की स्थापना भी पोप द्वारा की गयी थी। यही कारण है कि आज भी विश्वविद्यालयों में धर्माधिकारियों की पदवियों से ही विश्वविद्यालय के अधिकारियों को संबोधित किया जाता है।

६. पोप ग्रेगरी

पोप ग्रेगरी महान (Pope Gregory the Great) का नाम उसकी योग्यताओं के कारण पोपतंत्र के इतिहास में अत्यन्त विख्यात हो गया है। उसका जन्म इटली के प्रसिद्ध नगर रोम में सन् ५४० में हुआ था और ग्रेगरी महान का धनी परिवार अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं उच्च-कुल का समझा जाता था। तैंतीस वर्ष की अवस्था में वह रोम का एक धर्माधिकारी (प्रीफेक्ट) नियुक्त कर दिया गया। वह प्रारंभ में ही बेनेडिक्टाइन सम्प्रदाय की शिक्षाओं से बड़ा प्रभावित हो गया था और उसने उन शिक्षाओं के अनुरूप ही अपने जीवन को वैभव और सम्पत्ति का परित्याग कर, बड़ा सरल बना लिया था। बेनेडिक्टाइन सम्प्रदाय की स्थापना सन्त बेनेडिक्ट ने की थी। इस सम्प्रदाय का मठ या आश्रय दक्षिणी इटली के एक नगर नेपुल्स के निकट माण्टे केसिनो में था। यह सम्प्रदाय इन्द्रिय-निग्रह और आत्म-संयम पर विशेष रूप से बल देता था। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने विज्ञान और कला के क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया, बड़े-बड़े हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं। ग्रेगरी ने भी ऐसे कई काम किये। ग्रेगरी ने **'पेस्टोरल रूल'** (Pastoral Rule) नाम का एक ग्रंथ भी लिखा। इस ग्रंथ के लिखने में उसने अपनी राजनीति-कुशल बुद्धि एवं दूरदर्शिता का अच्छा परिचय दिया है। लगभग नौ वर्षों तक (५७६-५८५ ई०) ग्रेगरी कुस्तुनतुनिया में रोम के प्रतिनिधि के रूप में रहा। इसके बाद लौटने पर सन् ५९० में वह पोप के पद के लिये निर्वाचित हुआ। चौदह वर्षों तक पोप के पद पर रहने के बाद सन् ६०४ में उसकी मृत्यु हुई। वह एक बार इंगलैण्ड जाते-जाते रुक गया। वह वहाँ एंग्लिकन जाति का धर्मपरिवर्तन कराने के लिए जा रहा था। मार्ग में बाइबिल पर एक टिड्डी बैठ गयी जिसका अर्थ उसने यह लगाया कि आगे न जाकर वह जहाँ है––वहीं रुक जाय। धर्म प्रचार के लिए अन्त में उसने अपने स्थान पर सन्त ऑगस्टाइन को भेजा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है––वह एक पटु प्रशासक तथा कुशल राजनीतिज्ञ भी था। इंगलैण्ड के संबंध में जब उससे कुछ प्रश्न पूछे गये तो उनका उसने अत्यन्त चतुराई से उत्तर दिया था। रोमन आधिपत्य काल में इंगलैण्ड में मूर्तिपूजन हुआ करता था और रोमनों ने वहाँ बड़े-बड़े मूर्ति मन्दिर स्थापित किये थे। ये मन्दिर बड़े सुन्दर थे। ईसाई धर्म का जब वहाँ प्रचार करने के लिए सन्त ऑगस्टाइन जाने लगे तो ऑगस्टाइन ने पूछा कि क्या इन सब मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाना चाहिए। इसका उत्तर ग्रेगरी ने निषेधात्मक दिया और कहा कि मन्दिरों को नहीं उनमें स्थापित मूर्तियों को नष्ट कर दिया जाना चाहिए और उन मन्दिरों को सच्चे ईश्वर के पूजन का स्थान बना देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन दिनों पोपशाही की आर्थिक अवस्था बड़ी खराब थी। उसने पोप के कोष की

समचित व्यवस्था कर उसकी स्थिति को सन्तुलित किया। बर्बर जातियों की एक जाति लम्बार्डो ने इटली में पोप के राज्य के बहुत से हिस्से पर कब्जा कर लिया था। ग्रेगरी ने अत्यन्त चतुराई से उनको इटली से निकाल बाहर किया और खोयी हुई भूमि को पोपशाही के सुपुर्द कर दिया। उसका विश्वास था कि ईसाई धर्म के अनुयायी ही ईश्वर की कृपा के पात्र हो सकते हैं। जो ईसाई नहीं होंगे वे कभी ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकेंगे।

६.१ **ग्रेगरी की शिक्षाएँ**—ग्रेगरी ने अपनी शिक्षाओं तथा प्रचारकार्य से भी पोपशाही की महिमा को बढ़ाया। उसका कहना था कि ईसाई पादरियों या बिशपों को सांसारिकता से विरक्त रहना चाहिए और तटस्थ बुद्धि से व्यावहारिक कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। ऐसा करने से हम किसी भी समय ईश्वर से मिलने के लिये तैयार रहेंगे। यदि हम सांसारिकता में लिप्त हो जाते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि जब उचित अवसर आयेगा तो हम ईश्वर से साक्षात्कार करने के लिए तैयार न होंगे और इस प्रकार अपने जीवन के लक्ष्य से विमुख हो जायँगे। संसार दुःख और कष्ट का सागर है। इसके दुःखों और कष्टों को महाप्रभु ईसा ने हमें इसीलिए दिखलाया कि उसके अवगुणों का हमें ज्ञान रहे और हमारी बुद्धि उसमें किसी प्रकार लिप्त न हो जाय। जब हमारी बुद्धि निर्लिप्त रहेगी तो हम सदैव सतर्क एवं तत्पर रहेंगे। संसार के संबंध में ग्रेगरी का दृष्टिकोण निराशावादी था। ग्रेगरी ने कहा है कि "संसार निरन्तर वृद्ध एवं जर्जर होता जा रहा है। संसार का कष्टसागर उसे मृत्यु की ओर लगातार घसीटे लिए जा रहा है।" ग्रेगरी पोपशाही का कट्टर समर्थक था और उसका कहना था कि अन्य स्थानों का प्रत्येक बिशप पोप के अधीन है।

६.२ **राज्य संबंधी विचार**—राज्य की उत्पत्ति के संबंध में पोप ग्रेगरी के विचार भी अन्य ईसाई सन्तों की ही भाँति थे। वह मानता था कि राज्य का मूल पाप है और शासन पापी मनुष्य जाति की नियामक शक्ति है। उसका राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के संबंधों के विषय में यह मत था कि राजसत्ता को धर्मसत्ता की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए लेकिन राजसत्ता यदि ऐसा नहीं करती तो धर्मसत्ता को उसके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। राजा यदि धर्मसत्ता के आदेशानुकूल आचरण करता है तो ठीक है। यदि उसका आचरण धर्मादेशों के विपरीत होता है तो उसे पारलौकिक जीवन में कष्ट भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए। प्रजा से वह यह कहता था कि अराजकता बुरे राजा की अधीनता से भी भयंकर और खतरनाक है। अतएव राजा यदि पापी भी हो तो भी उसे सहन करना चाहिए। प्रजा का पवित्र कर्तव्य है कि वह पापी राजा की आज्ञाओं का उस सीमा तक पालन करे जब तक उससे पाप करने के लिए न कहा जाय। पोप ग्रेगरी ने लिखा है कि "यदि राजा के कुछ कार्य सचमुच सदोष हों तब भी उनके विरुद्ध मुँह से कुछ नहीं कहना चाहिए। यदि राजा के कामों के विरुद्ध भूल कर भी कभी जबान खुल जाय तो क्षोभ और लज्जा से हृदय तत्काल भर जाना चाहिए। जिससे वह उस सत्ता से दब कर रहे जिसने राजसत्ता को उसके ऊपर बैठाया है।"[१] ग्रेगरी का कहना था 'राजसत्ता का विरोध करना प्रत्यक्षतः ईश्वर का ही विरोध करना है।'

---

[१] "For indeed the act of rulers are not to be smitten with the sword of the mouth even though they are rightly judged to be blameworthy, But, if ever, even in the least, the tongue slips into censure of them, the heart must needs be bowed down by the affliction of penitence, to the end that it may return to itself and when it has appended itself against the power set over it may dread the judgment of him by whom the power was set over it." G. H. Sabine, *A History of Political Theory*, pp. 172-73.

पोप ग्रेगरी का यह मत पूर्ववर्ती ईसाई सन्तों की तुलना में विशेषकर सन्त एम्ब्रोज की तुलना में कुछ निर्बल लगता है। जैसाकि सन्त एम्ब्रोज के विचार के संबंध में हम लिख आये हैं—वह धर्म सत्ता के मामले में राजसत्ता के हस्तक्षेप को तनिक भी बरदाश्त नहीं कर सकता था। ग्रेगरी के इस सहिष्णुतावादी मत का कारण यह था कि उस समय मध्य यूरोप तथा इटली में बड़ी अशान्ति थी। और ग्रेगरी यह समझता था कि यदि यह अशान्ति बढ़ने दी गयी तो पूरा सामाजिक ढाँचा ही खतरे में पड़ जायगा। इसीलिए यह अराजकता की अपेक्षा बुरे शासक को भी मानने के लिए तैयार था। वह यहाँ तक नीचे उतरने के लिए तैयार था कि ईसाई धर्म संघ भी शासक की अधीनता में रहे। ग्रेगरी का यह मत उस समय तो नहीं पनप सका लेकिव आधुनिक युग के आरम्भ में अवश्य चर्च पूरी तरह से शासकों की अधीनता में ही चला गया।

७. पवित्र रोमन साम्राज्य

पवित्र रोमन ईसाई चर्च के विकास को ऊपर के अनुच्छेदों में हम बता आये हैं। लेकिन पवित्र रोमन साम्राज्य का जन्म और विकास किस प्रकार हुआ यह जान लेना भी उपयोगी होगा। पवित्र रोमन ईसाई चर्च तथा पवित्र रोमन साम्राज्य एक प्रचलित रोमन कहावत के अनुसार एक ही प्रकृति के दो पक्ष हैं। ये दोनों एक दूसरे के सहयोगी हैं जो कालान्तर में आपस में सत्ताप्राप्ति के लिए लड़ पड़े थे।

सन् ९६२ ईसवी में **ओटो महान** ने इटली पर आक्रमण किया और इटली की रक्षक सेनाओं को परास्त करता हुआ रोम तक पहुँच गया। रोम पहुँचने पर उसको पोप ने राज-मुकुट पहना दिया। तब से ही पवित्र रोमन साम्राज्य का इतिहास आरंभ होता है। लेकिन पवित्र रोमन साम्राज्य को स्थापित करनेवाली यही एक घटना नहीं थी। इसकी एक ऐति-हासिक पृष्ठभूमि भी है जिसे समझ लेना आवश्यक है।

पश्चिमी रोमन साम्राज्य की इमारत सन् ४१० में विसिगोथ्स नाम की बर्बर जाति के आक्रमण के बाद ढह गयी। समस्त पश्चिमी यूरोप के बड़े-बड़े देशों में बर्बरों का आधिपत्य हो गया। लेकिन पश्चिमी रोमन साम्राज्य की समाप्ति का ईसाई-धर्म पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

७.१ ईसाई धर्म संघ की शक्ति वृद्धि—ईसाई धर्म संघ की शक्ति क्रमशः बढ़ती ही चली गयी। इसके कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि रोम से ईसाई पादरियों के ऐसे कई दल पश्चिमी यूरोप के विभिन्न देशों में गये जिन्होंने जाकर बर्बर राजाओं को ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया। रोमन साम्राज्य के विनष्ट होने से जो राजनीतिक एकता नष्ट होनी चाहिए थी वह ईसाई बांधविक भावना के कारण नष्ट नहीं हुई। यह अवश्य था कि कुछ समय तक पोपशाही कुस्तुनतुनिया के सम्राट् के आधिपत्य को मानती रही लेकिन बाद में कुस्तुनतुनिया के सम्राट् के आधिपत्य को पोप लियो तृतीय ने समाप्त कर दिया और सन् ८०० में बड़े दिन के अवसर पर चार्लमैन को पश्चिमी साम्राज्य का सम्राट् घोषित कर दिया। इसके अतिरिक्त रोमन ईसाई धर्म संघ की सम्पत्ति भी बढ़ने लगी। इसका कारण यह था कि ईसाइयों के गिरजाघरों की सम्पत्ति को सम्राट् द्वारा कानूनी संरक्षण प्रदान कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त चर्च की ओर से यह भी कहा जाने लगा था कि जो ईसाई अपनी सम्पत्ति और आय का एक अंश भी दान-पुण्य नहीं करता वह आत्महत्या का अपराधी होता है। सम्पत्ति और राजनीति अधिकार वृद्धि से ईसाई संघ की शक्ति बढ़ना अनिवार्य हो गया था।

७.२ पवित्र रोमन साम्राज्य की उत्पत्ति के कारण—पवित्र रोमन साम्राज्य की उत्पत्ति के मुख्य कारण यह थे कि रोमन साम्राज्य अपने उत्तराधिकारियों को विश्वसाम्राज्य तथा

विश्वधर्म की एक कल्पना सौंप गया था। पवित्र रोमन साम्राज्य की आवश्यकता इसलिए भी थी कि वह ईसाई धर्म को पवित्रता तथा मान-मर्यादा को यूरोप भर में राजनीतिक शक्ति से पुनः प्रतिष्ठित करे। रोम के पोप यह मानते थे कि संसार के कार्य को चलाने के लिए यह आवश्यक है कि धर्मसत्ता और राजसत्ता दोनों के बीच निकटतम एवं घनिष्ठतम सहयोग रहे।

७.३ **साम्राज्य स्थापना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि**—रोम के पोप यह अनुभव कर रहे थे कि लम्बार्डो जाति के राजा ईसाई संघ की भूमि को हड़प कर अपने साम्राज्य की अभिवृद्धि करना चाहते हैं। अतएव **पोप जकारी ने फ्रैंक वंश के छोटे पिपिन** को फ्रांस का राज्य हड़प कर लेने की सांकेतिक अनुमति प्रदान करके फ्रांस की राजशक्ति की सहायता प्राप्त कर ली। लम्बार्डो के नये **राजा एस्टफ** ने जब पोप के राज्य के कई नगरों को छीन लिया तब पोप ने छोटे पिपिन से आल्प्स पार जाकर एक समझौता किया। इस समझौते के अनुसार पोप ने छोटे पिपिन को **पेट्रीशियन** की उपाधि दी। पिपिन ने इसके बदले में एस्टफ पर आक्रमण कर दिया और इटली के जो नगर पोप के हाथ से चले गए थे उन्हें छीन कर पोप के हवाले कर दिया। पोप का यह राज्य इसके बाद लगभग १००० वर्षों तक चला। छोटे पिपिन के बाद **चार्लमैन** ने फ्रैंकवंश के उत्तराधिकारी के रूप में फ्रांस की गद्दी सँभाली। चार्लमैन के गद्दी पर बैठते ही फ्रांस को निर्बल समझ लम्बार्ड राजा ने पुनः पोप के राज्य पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के विरुद्ध पोप ने पुनः चार्लमैन से सहायता माँगी। चार्लमैन तुरन्त सेना लेकर लम्बार्ड राजा पर चढ़ दौड़ा और उसे परास्त कर दिया। रोम में विजयी चार्लमैन का बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ। रोम की सम्पन्नता और वैभव को देख कर चार्लमैन की आँखें खुल गयीं। वह गिरजाघरों की सुमधुर प्रार्थना-ध्वनियों से भी बड़ा प्रभावित हुआ और उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह अपने राज्य में भी इसी प्रकार धर्म प्रचार का कार्य करेगा। इसके बाद चार्लमैन पुनः रोम गया। दूसरी बार वह उन अभियोगों की जाँच करने गया था जो पोप लियो तृतीय के विरुद्ध लगाये गये थे। पोप लियो तृतीय पर व्यभिचार, रिश्वतखोरी आदि के अभियोग लगाये गये थे। चार्लमैन के रोम पहुँचने पर पोप लियो तृतीय ने सन्त पीटर के गिरजाघर में पवित्र रहने की शपथ ली। इस शपथ से पादरियों की सभा सन्तुष्ट हो गयी। एक दिन जब चार्लमैन प्रार्थना करने गिरजाघर गया तो वहीं पर बिना किसी सूचना के चार्लमैन को पोप लियो ने राजमुकुट पहना दिया। यद्यपि इस सम्मान से चार्लमैन का कोई साम्पत्तिक लाभ नहीं हुआ लेकिन पश्चिम में पवित्र रोमन साम्राज्य की दिशा में एक चरण उठा लिया गया। चार्लमैन के बाद सन् ९६२ में ओटो महान का तो विधिवत् राज्याभिषेक संस्कार भी कर दिया गया। यहाँ से पवित्र रोमन साम्राज्य का इतिहास आरंभ होता है। पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना का यूरोप के इतिहास पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा।

नवीं शताब्दी के आरंभ में यह स्थिति थी कि राजसत्ता और धर्मसत्ता को परस्पर एक दूसरे का घनिष्ठ सहयोगी समझा जाता था। ईसाई धर्माधिकारियों पर किसी राजकीय न्यायालय में मामला नहीं चल सकता था। यदि किसी बिशप को किसी अपराध विशेष के लिए दण्डित भी किया जाता था तो वह दण्ड बिना पोप या सम्राट् की अनुमति के क्रियान्वित नहीं किया जा सकता था। यह **सम्राट् जस्टीनियन** ने किया था। चार्लमैन ने राजकीय अधिकारियों से बिशपों के मामले पर विचार करने का अधिकार ही छीन लिया था। राजकाज में भी पादरियों को निमंत्रित किया जाता था। लेकिन उनको इस सम्बन्ध में कोई कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं थे। हालाँकि उनके मत को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। नवीं शताब्दी के आरंभ में यह स्थिति थी कि सम्राट् को धर्म और राजसत्ता दोनों का उच्चतम अधिकारी माना जाता था। ईसाई चर्च का स्थान गौण था। आगे चल कर दो सौ वर्षों के भीतर स्थिति

में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। सर्वाधिकार प्राप्त सम्राटों को ईसाई चर्च की शक्ति के समक्ष अपनी दुर्बलताओं, गृहयुद्धों आदि के कारण नतमस्तक हो जाना पड़ा।

८. विभिन्न सम्प्रदाय और उनके सन्त

ईसाई धर्म में भी हिन्दुओं की भाँति अनेक सम्प्रदाय तथा सन्त थे। जो बात हिन्दू तपस्वियों में पायी जाती है—वही बात उन दिनों ईसाइयों के सन्तों तथा उनके सम्प्रदायों में भी पायी जाती थी। ईसाई धर्म में विश्वास करनेवाले सन्त अपने त्याग और बलिदान के आधार पर इस बात के लिए उत्सुक रहते थे कि वे अधिकाधिक लोकहित कर सकें। ईसाई धर्म के ऐसे ही सन्तों ने कई सम्प्रदायों की स्थापना की। इन सम्प्रदायों के अपने आश्रम या मठ भी थे जिसमें संतों के अनुयायी रहते थे और निर्दिष्ट नियमों के अनुकूल आचरण करते हुए वे अपने आध्यात्मिक लक्ष्यों की सिद्धि का प्रयास करते थे। सन् ३०५ में बहुत से ईसाई साधुओं के सहयोग से **संत एन्थानी** ने एक सम्प्रदाय की स्थापना की। यह सम्प्रदाय तथा इसका मठ सबसे पहले मिस्र में ही स्थापित हुआ। मिस्र से यह प्रथा शेष यूरोप तथा उसके आसपास के भागों में फैली। मठ जीवन में इन्द्रियसंयम, आत्मनिग्रह, स्वावलम्बन, परिश्रम आदि पर बल दिया जाता था, जैनों की भाँति शरीर को कष्ट देने या भूखे रहने पर नहीं। इसके बाद सन् ३४० में यूनान में **संत एथानिसियस** ने भी एक सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। दूसरा मठ सन् ३६० में यूनान में **संत बेसिल** ने स्थापित किया। दोनों ही मठों में सामूहिक एवं स्वावलम्बी जीवन बिताने पर विशेष बल दिया जाता था। आश्रम के सामूहिक जीवन का इन व्यक्तियों पर भी प्रभाव पड़ा। सांसारिक दुखों से मुक्त होने के लिए अधिकाधिक लोग उस ओर आकृष्ट होने लगे। अभी तक आश्रमवासियों तथा ईसाई संघ का कोई संबंध नहीं था। एक बार उत्तरी अफ्रीका के एक पादरी उक्त आश्रमों को देखने गए। वे आश्रमवासियों के जीवन से बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने लौटकर सहयोगी पादरियों को निर्देश किया कि वे आश्रमवासियों की भाँति ही जीवन व्यतीत करें; लेकिन विभिन्न सम्प्रदायों के आश्रमों की यह शुद्ध और पवित्र अवस्था बहुत दिनों तक बनी नहीं रह सकी और बाह्य जीवन के भ्रष्ट तत्वों ने घुसकर वहाँ का जीवन भी अपवित्र कर दिया। ऐसी दशा में विभिन्न आश्रम उच्च ईसाई धर्माधिकारियों के हाथों में सौंप दिये गए। इस बीच आश्रमवासियों ने अपने अन्दर की बुराइयों को आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने सामने रखा और उन्हें दूर करने का अधिक से अधिक प्रयत्न किया। इस प्रकार का आत्म-परिष्कार करने वालों में **संत कोलम्बस** तथा **संत बेनेडिक्ट** का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। सन्त बेनेडिक्ट का जन्म सन् ४८० में हुआ था। बेनेडिक्ट का घराना बड़ा सम्पत्तिवान एवं धनी था। लेकिन बेनेडिक्ट को युवावस्था में ही संसार से विरक्ति हो गयी और उसने संसार छोड़ कर सन्यासियों के सम्प्रदाय की स्थापना के कार्य में ही जुट जाना उचित समझा। वह अपने कार्य में सफल भी हुआ। बेनेडिक्टाइन सम्प्रदाय ने कई बड़े अच्छे-अच्छे आश्रम स्थापित किये तथा साहित्य और विज्ञान की प्रगति में बड़ा गहरा योग प्रदान किया। बेनेडिक्टाइन सम्प्रदाय का ही **पोप ग्रेगरी** भी सदस्य था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी काले वस्त्र पहनते थे और अनुशासित जीवन पर विशेष बल देते थे। वे समाज और धर्म सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे।

११

मध्ययुग में सामन्तवाद

१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि--२. सामन्तवाद क्या है--३. सामन्तवाद के चार प्रमुख तत्व--४. सामन्तवादी समाज--५. सामन्तवाद में खेतिहरों की दशा--६. भूमिपति और आश्रित--७. आश्रित के कर्तव्य--८. सामन्तवाद के विभेद और व्यापकता--९. सामन्तवादी युग की कुछ विशेषताएँ--१०. विधि संहिताओं की रचना--११. सामन्तवादी-युग के न्यायालय--१२. न्याय व्यवस्था में विधि का स्थान--१३. सामन्तवादी युग के कुछ विचारक--१४. जॉन सैलिसबरी--१५. सामन्तवादी युग में राजा और राज्य की स्थिति--१६. सामन्तवादी युग का महत्व और अनुदाय।

सामन्तवाद मध्ययुग की अनिवार्य प्रवृत्ति थी। एक पाश्चात्य लेखक ने मध्ययुग में सामन्तवाद की प्रमुखता की चर्चा करते हुए लिखा है कि प्राचीनकाल में अर्थात् यूनान तथा रोमन सभ्यता एवं संस्कृति के काल में नगरों की जितनी प्रधानता थी उतनी ही प्रधानता मध्ययुग में सामन्तवाद की थी। यद्यपि यह सच है कि सामन्तवाद की वजह से मध्ययुग में राजनीतिक प्रगति अवरुद्ध रही तथापि कालान्तर में इससे बड़ी सहायता मिली और आधुनिक युग के अनेक संवास (associations) और संस्थान (institutions) भी सामन्तवाद के अनुदाय ही हैं। सामन्तवाद के उदय तथा उसकी उत्पत्ति के क्या आधार थे—उसका राजनीतिक महत्व और अनुदाय क्या है—सामन्तवाद का सही-सही चित्र क्या था—इन सब बातों को समझने और उनकी जानकारी प्राप्त करने के लिए यह उचित होगा कि हम सामन्तवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझ लें।

१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

रोमन सम्राट् कांस्टेनटीन ने जब अपनी राजधानी रोम से कुस्तुनतुनिया स्थानान्तरित कर दी तो रोम साम्राज्य स्पष्टतः दो भागों में विभक्त हो गया : (१) पौर्वात्य साम्राज्य और (२) पाश्चात्य साम्राज्य। एक साम्राज्य की केन्द्रीय सत्ता कुस्तुनतुनिया में रही और दूसरे की रोम में। सम्राट् कांस्टेनटीन के रोम से हट जाने के कारण रोम की केन्द्रीय सत्ता अपेक्षाकृत निर्बल हो गयी। इस निर्बलता का बर्बर जातियों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया और उनके आक्रमणों की संख्या निरन्तर बढ़ती चली गयी। बर्बर-जातियों के ये आक्रमण पश्चिमी रोमन साम्राज्य पर मध्य यूरोप के रास्ते से किये जाते थे। आक्रमणकारियों में फ्रेंक, लम्बार्ड, गोथ्स आदि जाति समुदायों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन जातियों के आक्रमणों की तुलना भारत पर हुए हमलों और हूणों के आक्रमण से की जा सकती है। पहले तो इन बर्बर जातियों के आक्रमण केवल लूटपाट के लिए हुआ करते थे किन्तु बाद में इन जाति समुदायों ने पश्चिमी यूरोप में बसना भी शुरू कर दिया। इसके साथ ही बड़े-बड़े साम्राज्यों की नींव भी पड़ी। फ्रेंक विजेताओं ने फ्रांस में साम्राज्य स्थापित किया। पिपिन तथा चार्लमैन—जिनकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं—इसी जाति के थे। लेकिन ये साम्राज्य सभी स्थानों में नहीं बने। कहीं-कहीं पर छोटे-छोटे राज्य भी बने। इन छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों की स्थापना चार्लमेन के पश्चात् पवित्र रोमन साम्राज्य के खण्डित हो जाने के बाद हुई।

१.१ बबर जातियों के आक्रमण का प्रभाव——यह कहना कठिन न होगा कि बर्बर जातियों के आक्रमणों के कारण ही रोमन साम्राज्य ढह गया। वास्तविकता यह है कि रोमन साम्राज्य स्वयं ही पतन के गर्त की ओर बढ़ रहा था। बर्बरों के आक्रमणों ने उसे एक ठोकर मार कर उसकी अन्त्येष्ठि कर दी। बर्बर जाति के आक्रमण गुरिल्ला आक्रमणों की भाँति कभी एक स्थान पर तो कभी दूसरे स्थान पर हुआ करते थे। किसी एक जगह जम कर युद्ध न होने से रोमन सेना उनका सामना करने में अपने आपको बिलकुल असमर्थ पाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता में अरक्षा की भावना आ गयी। चारों ओर अव्यवस्था और अराजकता फैल गयी। लोग अपनी सम्पत्ति तथा अपने प्राणों की रक्षा के लिए राज्य की सेना पर निर्भर न रहे कर अपने बाहुबल तथा बर्बर आक्रमणकारियों को सन्तुष्ट करने की अपनी क्षमता पर निर्भर रहने लगे। यात्राएँ करना निरापद नहीं रहा। रोमनों ने जो बड़ी-बड़ी सड़कें बनायीं थीं——वे नष्ट-भ्रष्ट हो गयीं। उन पर घास उग आयीं और उन सड़कों का स्थान पतली-पतली पगडण्डियों ने ग्रहण कर लिया। राजमुद्रा की एकरूपता नहीं रही। विभिन्न स्थानों के शक्तिशाली शासक अपनी-अपनी मुद्राएँ चलाने लगे। ऐसी अवस्था में व्यापार एवं वाणिज्य की गति भी अवरुद्ध हो गयी। केन्द्रीय सत्ता की शक्ति के ह्रास का परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े नगरों की रक्षा के लिए बड़ी-बड़ी चहारदीवारियाँ खड़ी की जाने लगीं। गाँवों की दशा यह हो गयी कि वहाँ रहनेवाले अपनी आवश्यकताओं के लिए बाहर के बड़े-बड़े नगरों में उत्पादित वस्तुओं पर निर्भर न रह कर अपनी आवश्यकता की सामग्री गाँवों में ही बनाने लगे। बर्बर जातियों के सैनिकों के आक्रमणों से बचने का यही मार्ग शेष था कि आसपास के गाँवों और नगरों के निवासी किसी निकटवर्ती शक्तिशाली व्यक्ति की अधीनता स्वीकार कर लें और वह उसके बदले उनकी रक्षा करे। बर्बर जातियों के हमलों से बचने का एक और मार्ग यह था कि जब आक्रमणकारी आवें तो लोग गिरजाघरों में जा छिपें क्योंकि हमलावर सैनिक गिरजाघरों पर न तो आक्रमण करते थे और न उनकी सम्पत्ति ही लूटते थे। वे गिरजा-घरों को पवित्र मानते थे और ईश्वरीय कोप से भयभीत रहते थे। वे मध्ययुग की इन जन-श्रुतियों तथा अंधविश्वासों को मानते थे कि गिरजाघरों पर आक्रमण करने से उसका परिणाम ईश्वरीय कोप के रूप में भोगना पड़ता है। उन दिनों ऐसे कोप की अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित थीं। इस प्रकार मध्ययुग में दो संस्थाओं को उद्दीयमान होने का अवसर मिला——(१) सरदारशाही और (२) ईसाई गिरजा। ईसाई गिरजा के अभ्युदय पर तो हम पिछले अध्याय में विचार कर ही चुके हैं। सरदारशाही या सामन्तवाद की उत्पत्ति और विकास तथा उसके महत्व एवं अनुदाय पर हम प्रस्तुत अध्याय में विचार करेंगे।

१.२ बर्बर जातियों का रचनात्मक कार्य——आक्रमण और लूटपाट करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाने के बाद जब आक्रमणकारियों ने पश्चिमी यूरोप में फैलना और बसना आरंभ किया तो उनके सामने समाज और राज्य के निर्माण तथा उनकी रचना की समस्याएँ आयीं। रोमन समाज और साम्राज्य का ढाँचा तो ढह ही चुका था। उसके रिक्त स्थान की पूर्ति बर्बर विजेताओं को करनी थी। उन्हें मिल कर समाज और राज्य की रूपरेखा निश्चित करनी थी। यह कार्य करने के लिए उन्हें शान्ति का वातावरण नहीं मिला। इसका कारण यह था कि इस काल में युद्ध बराबर होते रहते थे। इन युद्धों में विजय लाभ करने के लिये सैन्य-संचय भी बराबर करते रहना पड़ता था। यह तो थी बाह्यस्थिति; आन्तरिक दशा यह थी कि भूमि-वितरण एवं कृषि उत्पादन की समस्याओं को हल करना था। यही नहीं राज्य के अन्दर भी दो समाजों का संघर्ष चल रहा था। एक समाज था बर्बर जातियों का। यह समाज पितृ प्रधान (Patriarchal) था। इसमें घर के मुखिया की स्थिति सर्वोच्च समझी जाती थी; और दूसरा समाज था जिसकी रचना रोमन साम्राज्य के काल में हुई थी। बर्बर जातियों के समाज में जहाँ

एक ओर सामूहिकता थी, संश्लिष्टता और एरूपता थी ,वहीं पवित्र रोमन साम्राज्य जनित ईसाई समाज में वैयक्तिकता थी, शैथिल्यता थी और बहुरूपता का जोर था। एक राजा के अन्तर्गत बहुत से सामन्तों के होने के कारण राज्य की एकता नष्ट हो गयी थी। यही कारण है कि मध्ययुग में राजनीतिक एकता का अभाव खटकता रहता है। इसके अलावा इन सामन्तों का कोई निश्चित पद या स्तर भी स्थिर नहीं था। सब कुछ व्यक्तिगत शौर्य, बाहुबल और शक्ति पर निर्भर करता था। एक ही राज्य में बहुत सी छोटी-छोटी रियासतों के पनप जाने का परिणाम यह हुआ कि मध्ययुग मे उन राष्ट्रराज्यों की कल्पना नष्ट हो गयी जो आधुनिक युग में आकर फल-फूल सके हैं।

२. सामन्तवाद क्या है ?

उक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखते हुए हमारे लिये अब यह संभव हो सकेगा कि सामन्तवाद के विभिन्न तत्वों का विश्लेषण कर हम यह जान सकें कि सामन्तवाद क्या है ? वास्तव में सामन्तवाद की कोई एक परिभाषा करना बड़ा कठिन कार्य है। वैसे तो किसी भी वस्तु की कोई सर्वमान्य परिभाषा करना सरल कार्य नहीं किन्तु सामन्तवाद के मामले में यह कठिनाई इसलिए और भी बढ़ जाती है कि न तो उसकी कोई काल सीमा है और न निश्चित संवास। काल विस्तार की दृष्टि से सामन्तवाद के ऐसे अनेक तत्व हैं जो पाँचवीं शताब्दी में थे और कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो ११वीं और १२वीं शताब्दी में सामन्तवाद के अन्त तक विकसित होते रहे। इस प्रकार जहाँ तक सामन्तवाद के तत्वों का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि उनका जन्म और विकास ५वीं शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक हुआ है। सामन्तवाद के विभिन्न तत्व क्या थे—यह जानने के पूर्व अधिक अच्छा यह होगा कि हम यह जान लें कि उनके तत्वों की उत्पत्ति के साधन क्या थे। इन साधनों में प्रमुखतः रोमन और बर्बर जातियों के संस्कारों और प्रथाओं का नाम लिया जा सकता है। **विनोग्रेडोफ** (Vinogradoft) नाम के एक विचारक ने लिखा है कि मध्ययुग में सामन्तवादी संवासों का प्रभाव उतना ही प्रबल था जितना प्राचीन युग में नगर-राज्यों का। सच तो यह है कि सामन्तवादी तत्वों की उत्पत्ति शासक और शासित दोनों वर्गों की तरफ से हुई।

अच्छा होगा कि यदि सबसे पहले हम यह समझ लें कि सामन्तवाद के निर्माण में बर्बर जातियों का क्या अनुयोग था ? बर्बर जातियों से सदस्य प्रारंभ से लड़ाकू और मारकाट करते रहनेवाले व्यक्ति थे ऐसी जाति का सैनिक स्वभाव हो जाना असाधारण बात नहीं जिस प्रकार सेनाओं में टुकड़ियों के सरदार और सेनापति आदि होते हैं, उसी प्रकार इन जातियों में छोटे-छोटे सैनिक समूहों के सरदार बन गये थे। इन सब को एक व्यक्ति के नेतृत्व में रहना पड़ता था। इन जाति समूहों के पास्परिक संबंधों के दो आधार थे। पहला आधार रोटी बेटी का संबंध था और दूसरा, पास्परिक भाई-चारे या मैत्री के नाते का। इन दो प्रकार के संबंधों के कारण ये जाति समूह एक दूसरे की संकट या आपत्तिकाल में सहायता किया करते थे। उनके यहाँ संवासों के केन्द्रीकरण की कोई व्यवस्था न थी। प्रत्येक समूह के अपने-अपने पृथक पृथक् संवास होते थे और उनकी परम्पराएँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती थीं। यह भिन्नता स्थानीय स्वशासन का स्वायत्त शासन (local autonomy) पर विशेष बल देती थी। इंग्लैण्ड में इस प्रकार के स्वायत्तशासन का विकास बर्बर जातियों के प्रभाव के कारण ही हो सका और आज तो वह इंगलैण्ड के सम्पूर्ण वैधानिक और प्रशासनिक यंत्र का मूलाधार ही बन गया है। इंगलैण्ड से ही यह प्रभाव उसके साम्राज्यान्तर्गत देशों तक भी पहुँचा। बर्बर जातियों का रोमनों अथवा यूनानियों की भाँति बहुत अधिक आर्थिक विकास नहीं हो पाया था। इसीलिये यदि उनके आर्थिक इतिहास का अवलोकन किया जाय तो पता चलेगा, कि मध्ययुग

के आरंभिक दिनों में ये बर्बर जातियाँ व्यापार-वाणिज्य आदि की कोई चिन्ता नहीं करती थीं। वे आवास योग्य भूमि के अभाव में बनजारों का-सा घुमक्कड़ जीवन बिताया करती थीं और प्रारंभिक आक्रमणों की लूट-पाट के बाद उनका मुख्य लक्ष्य यह हो गया था कि उनको रहने-बसने के लिये अधिक-से-अधिक भूमि मिल जाय। पश्चिमी रोम साम्राज्य के विनाश काल में उनका यह लक्ष्य स्पष्ट हो गया था। बहुत से बर्बर सरदारों ने राज्य के बहुत से हिस्से को हड़प लिया था और वे उन पर शासन करने लगे थे। इस कार्य में 'फ्रेंकिश' नाम की जाति को बड़ी सफलता प्राप्त हुई थी। **चार्लमैन** की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। चार्लमैन इसी जाति का था। लेकिन बर्बर जातियों के साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न अधिक फसल न हो सके और चार्लमैन का साम्राज्य भी उसके पश्चात् छिन्न-विच्छिन्न हो गया। स्थानीय अधिकारी तथा बड़े-बड़े भूमिपतियों की उस अराजकता के युग में बन आयी। वे स्थानीय परम्पराओं की तो रक्षा करते थे लेकिन इसके बाद उन्हें जहाँ भी स्वच्छन्दता मिलती उसका वह स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग करते थे। यद्यपि ये अधिकारी और भूमिपति थे तो बर्बर जाति समूहों के, लेकिन इनके आगे-पीछे रोमन साम्राज्य का भूत नाचा करता था। इसका अर्थ यह है कि वे एकछत्र राज्य का स्वप्न देखा करते थे। यह कार्य उनके इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ; केवल रोमनों ने यह कर दिखाया। इसीलिये रोमनों की ओर इनका देखना स्वाभाविक था। इस कार्य में भूमिपतियों को प्रारंभ में चर्च का भी सहयोग मिला। रोमन मूर्तिपूजक थे और उनकी प्रजा ईसाई धर्म की अनुयायिनी थी——इसलिए रोमन शासकों के साथ प्रजा इतना सहयोग न कर पायी। लेकिन बर्बर जाति के भूमिपति ईसाई धर्म के परिपोषक निकले। ऐसी अवस्था में भूमिपतियों के साथ उस समय की प्रजा ने अधिक स्वेच्छा पूर्वक सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त रोम का प्रभाव विधि-संहिताओं द्वारा भी बढ़ा जिसकी चर्चा आगे के पृष्ठों में की गयी है। लेकिन यह सोचना बिलकुल गलत होगा कि भूमिपतियों और किसानों के पारस्परिक सहयोग का संबंध धार्मिक समानता के कारण ही स्थापित हो सका। इसके कुछ व्यावहारिक कारण भी थे। इनकी चर्चा सरसरी तौर पर ऊपर की जा चुकी है किन्तु स्मरण कराने के लिए यह दोहराया जा सकता है कि उन भूमिपतियों को अपनी भूमि जोतने-बोने के लिये आदमियों की जरूरत थी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिये तथा बाह्य आक्रमणों से बचाव करने के लिए सैनिकों की जरूरत थी। इसके साथ ही किसानों को जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्न-वस्त्र चाहिए था और यह कार्य बिना भूमि के नहीं हो सकता था। इसीलिए उन्हें भूमि की आवश्यकता पड़ी। इसके अतिरिक्त आये दिन के आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए उन्हें नेतृत्व की भी आवश्यकता थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसानों को भूमिपतियों से भूमि तथा नेतृत्व प्राप्त होता था और भूमिपतियों को ऐसे आदमी मिल जाते थे जो शांतिकाल में उनकी भूमि जोतते-बोते थे और युद्धकाल में सैनिक सहायता देते थे। अतएव भूमि को आधार मान कर सामन्तवाद ने पारस्परिक संबंधों का एक ऐसा जगत तैयार किया जिसका आधार व्यक्तिगत तथा स्थानीय सम्पर्क बना। यदि हम सामन्तवाद की परिभाषा करने का प्रयत्न करें तो कुछ-कुछ ऐसा कहेंगे कि सामन्तवादी व्यवस्था भूमि के स्वामित्व के आधार पर निर्मित वह सामाजिक रूपरेखा थी जिसमें सार्वजनिक नेतृत्व व्यक्ति के अपने संबंधों पर निर्भर होता था और राजनीतिक अधिकार इस बात पर कि किसके पास कितनी भूमि है। सामन्तवादी युग में यह कभी तय नहीं हो पाया कि कौन से अधिकार व्यक्तिगत हैं और कौन से अधिकार सार्वजनिक। यह उलझन मध्ययुग में ही नहीं बल्कि आधुनिक युग के आरंभ तक बनी रही।

३. सामन्तवादी युग के चार प्रमुख तत्व

इस स्थल पर यह जान लेना भी आवश्यक होगा कि सामन्तवादी युग के प्रमुख तत्व क्या

थे। इन तत्वों का प्रोफेसर सिजविक ने बड़ा अच्छा विश्लेषण किया है। सामन्तवादी युग का प्रथम तत्व यह था कि बड़े-बड़े भूमिपतियों (लार्डों) द्वारा अपने अधिकृत क्षेत्रों में राजनीतिक सत्ता स्थापित कर ली जाती थी। यह भूमिपति किसी एक राजा के प्रति वफादार रहते थे। दूसरा तत्व यह था कि प्रत्येक भूमिपति के पास अनेक ऐसे खेतिहर 'सर्फ' या दास काम करते थे जो शांति काल में उसकी जमीन जोते-बोते थे तथा युद्ध काल में हथियार लेकर अपने मालिक की रक्षा करते थे। मालिक इसके बदले में अपने सर्फों की रक्षा तथा भूमि के द्वारा भरण-पोषण करता था। तीसरा तत्व यह था कि सामन्तवादी प्रथा में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना नहीं हो सकती थी। राजा सामन्तों पर तथा सामन्त अपनी भूमि पर काम करने वाले खेतिहर सर्फों पर निर्भर रहता था। चौथा तत्व यह था कि समाज में व्यक्ति की हैसियत इस बात से तय होती थी कि उसके पास कितनी भूमि है।

३.१ **भूमिपतियों द्वारा सत्ता का प्रयोग**—सामन्तवादी काल के आरंभ में सारी भूमि पर राजा का अधिकार माना जाता था। राजा अपनी भूमि को राजवंश के सदस्यों अथवा अपने कृपापात्रों को वितरित कर देता था। इसके बदले में वे राजा को सैनिकों की सहायता का वचन देते थे। इस ठेके में यह तय हो जाता था कि सैनिकों की संख्या कितनी होगी। यह शर्त युद्ध काल में पूरी की जाती थी। शांति की अवस्था में ये भूमिपति, जो बाद में सामन्त या सरदार भी कहे जाने लगे—राजकोष में निश्चित रकम जमा करते थे। इसी धनराशि से राजा का खर्च चला करता था। आरंभ में ये सामन्त या सरदार राजा के सहायक मात्र समझे जाते थे और प्रजा पर शासन केवल राजा की सत्ता द्वारा ही होता था। सामन्तों या सरदारों के कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होते थे। कालान्तर में केन्द्रीय सत्ता निर्बल पड़ गयी—तब यह हुआ कि शासन-व्यवस्था का भार भी इन्हीं सामन्तों पर आ पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक भूमिपति (लॉर्ड) या सामन्त राजा की भाँति ही अपने अधिकारों का प्रयोग करने लगा। सरदारों की नियुक्ति की प्रथा सम्राट् क्लोविस ने आरंभ की थी। पूरे राज्य को बहुत सी काउण्टियों में विभक्त कर दिया जाता था। काउण्टियों (जिलों) के शासन, राजस्व वसूली, न्याय-व्यवस्था आदि के देखभाल के लिए बहुत से काउण्ट होते थे। कई काउण्टियों की देखभाल के लिये ड्यूक होते थे। काउण्ट पद पर सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित घरानों के व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे तथा ड्यूक के पद पर प्रायः राज घराने के व्यक्ति ही रखे जाते थे। जब यह प्रथा आरंभिक अवस्था में थी उस समय तो यह राजा की मरजी पर निर्भर करता था कि वह किसको किस पद पर कितने दिनों तक रहने देता है। लेकिन बाद में यह अवस्था हो गयी कि ये पद घरानों को दिये जाने लगे और निश्चित पदों पर एक ही घराने की पीढ़ियों के लोग नियुक्त होने लगे। पदों पर आनुवंशिक नियुक्तियों के कारण इनके हाथ में राजसत्ता का भी कुछ अंश आ गया। इस ओर सबसे पहले धर्माधिकारी ही आगे बढ़े। अन्य लोगों ने उनका अनुसरण किया। ये धर्माधिकारी अधिकांशतः ईसाई होते थे। धर्माधिकारी भूमिपतियों (Lords Spiritual) तथा लोकजीवी भूमिपतियों (Lords Temporal) में अन्तर केवल इतना था कि धर्माधिकारी भूमिपतियों को पहिले सत्ता मिली और फिर भूमि और लोकजीवी भूमिपतियों को पहले भूमि मिली और तब सत्ता। कालान्तर में दोनों बराबर हो गये।

३.२ **व्यक्तिगत संबंधों का महत्व**—सामन्तवादी युग में व्यक्तिगत संबंधों का भी महत्व बहुत अधिक माना जाता था। रोमन साम्राज्य के अन्त के बाद नागरिकता तथा नागरिकता के अधिकारों जैसी कोई वस्तु शेष न रह गयी थी। रोमन साम्राज्योत्तर अशांति तथा अव्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिवार तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिये अपने बाहुबल पर ही भरोसा करना पड़ता था। यह स्थिति बाहुबल की क्षमता से युक्त तथा धनी लोगों के लिये

तो अपेक्षाकृत अनुकूल थी क्योंकि वे शस्त्रबल से तस्करों और लुटेरे आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा आप करने में समर्थ थे लेकिन गरीबों और दुर्बलों के लिये अत्यन्त कष्ट-प्रद थी। कोई भी उनके गाँवों या मकानों पर आक्रमण कर देता और उनका गला दवा कर जो चाहे ले जाता था। अतएव, उन्होंने अपनी रक्षा के लिये आस-पास के धनी और सबल जनों का आँचल पकड़ा। इस प्रकार के आश्रय लेने-देने में दोनों पक्ष एक दूसरे की सेवा का वचन देते थे और वे संबंध एक दूसरे के सहयोग पर आधारित होते थे। जो आश्रितों को संरक्षण देता था उसका जनबल बढ़ता था और जो आश्रय लेता था वह बड़ी शक्ति का पल्ला पकड़ने के बाद सुरक्षा अनुभव करता था। संरक्षक और आश्रित के संबंधों का विवेचन हम इसी अध्याय के अगले अनुच्छेदों में करेंगे।

३.३ **सामाजिक स्थितियों के निर्धारण में भूमि का हाथ**—किसी व्यक्ति या उसके परिवार की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में मध्ययुग में भूमि तत्व बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता था। किसी परिवार के अधिकार में कितनी भूमि है—इसी बात पर उसे राजसम्मान मिलता था और इसी आधार पर समाज में भी उसका स्थान निश्चित किया जाता था। पश्चिमी साम्राज्य के विघटन के काल में जब बर्बरों ने आक्रमण करने आरंभ किये तो उन्होंने अधिकांश भूमि अपने कब्जे में कर लिया। थोड़ी सी भूमि उन लोगों के लिये छोड़ दी गयी थी जो वहाँ पहले रह रहे थे। कहाँ कितनी भूमि छोड़ी गयी और कहाँ कितनी भूमि पर कब्जा कर लिया गया इसका कोई प्रामाणिक लेखा-जोखा तो उपलब्ध नहीं है किन्तु कहा जाता है कि **बरगंडियन** जाति के आक्रमणकारियों ने विजितों के पास केवल एक-तिहाई भूमि छोड़ी थी। शेष को अपने अधिकार में ले लिया था। इसमें देश की सारी उपजाऊ भूमि सम्मिलित थी। ऐसा ही **विसि-गाथ** जाति ने भी किया था। **वेण्डाल** जाति ने भी अफ्रीका में यही किया। **फ्रैंक** जाति ने फ्रांस की समस्त भूमि इसी प्रकार हस्तगत कर ली। फ्रेंक जाति ने अपनी अधिकृत भूमि का जो भाग वितरित किया उसमें से कुछ भूमि ऐसे व्यक्तियों को भी दी गयी जिस पर उनका केवल जीवन पर्यन्त ही नहीं अपितु उसके बाद भी उत्तराधिकार था। यह क्रम पीढ़ियों तक चलता था। फ्रेंकिश साम्राज्य में फिर भी कुछ भूमि बची रह गयी थी। बची भूमि का अधिकारी राजा को माना जाता था। इसकी आय सीधी राजकोष में जमा हो जाती थी। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था रहती थी कि यदि कोई व्यक्ति राजभक्ति का प्रशंसनीय काम करे तो उसे भूमि दे दी जाय। राजा की भूमि को वित्तीय (Fiscal) भूमि कहा जाता था। राजा इस वित्तीय (Fiscal) भूमि में से अपने कृपापात्रों को कुछ भूमि देकर पुरस्कृत किया करता था और यह इनाम की भूमि या 'बेनीफिस' (Benifice) कहलाती थी। जिस व्यक्ति को यह भूमि मिलती थी वह एक समारोह में सम्राट् के प्रति भक्ति की शपथ ग्रहण करता था और राज्य की रक्षा में अपने सहयोग का वचन देता था। सबसे पहिले सम्राट् या राजा अपनी इच्छानुसार जब चाहे दी हुई भूमि को किसी से भी छीन सकता था और किसी को भी दे सकता था। लेकिन ऐसा बहुत कम हुआ करता था। इस अधिकार के काम में न लाये जाने से क्रमशः यह अधिकार लुप्त सा हो गया और एक बार दी गयी भूमि पिता के बाद पुत्र को और पुत्र के बाद उसके पुत्र को मिलने लगी। इस प्रकार भूमि की प्राप्ति आनुवंशिक समझी जाने लगी। फ्रांस के बड़े-बड़े भूमिपति सामन्त या सरदार कहलाते थे। उनका यह ओहदा तभी तक कायम रहता था जब तक उनके अधिकार में भूमि रहती थी। भूमि के निकल जाने से उनका पद भी समाप्त हो जाता था और उनके राजदरबार आदि में जाने के सारे अधिकार तथा विशेषाधिकार भी समाप्त हो जाते थे। किन्तु भूमि पर घराने का पैतृक अधिकार मिल जाने से अनिश्चय की अवस्था समाप्त हो गयी। अब समस्या यह उठी कि प्रत्येक सामन्त के पास जितनी भूमि होती थी, वह उसका समुचित प्रबंध, विस्ताराधिक्य के कारण नहीं कर

पाता था। अतएव ऐसे सामन्तों ने भूमि को वितरित करना आरंभ कर दिया। भूमि ऐसे ही व्यक्तियों को दी जाती थी जो सामन्त की उन शर्तों को पूरी कर सकें जिनके अनुसार राजा से उसे स्वयं भूमि मिली थी। इस प्रकार सामन्तों के नीचे उप सामन्त तथा उनके नीचे और छोटे-छोटे भूमिधर बन गये। इस प्रथा का प्रभाव यह पड़ा कि किसान की भक्ति सीधे राजा के प्रति न होकर उस सामन्त या उपसामन्त के प्रति हो गयी जिससे उसे भूमि प्राप्त हुई। यदि उस समय को सामाजिक स्थिति पर हम दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि इस समय समाज के कई वर्ग हो गये थे जिसमें सबसे नीचा स्थान तो उस किसान या मेहनतकश मजदूर का होता था जो 'सर्फ' (Serf) कहलाता था। इसे कुछ शर्तों पर भूमि दी जाती थी। इन शर्तों का पालन न करने पर उसे न्यायालय में उपस्थित किया जा सकता था। लेकिन ऐसा उत्तरदायित्व इकतरफा नहीं होता था। सामन्त के भी उस खेतिहर मजदूर या 'सर्फ' (Serf) के प्रति कुछ दायित्व रहते थे जिनको न निभा सकने की अवस्था में 'सर्फ' या तो सामन्त के ही दरबार में या राजदरबार में अपील कर सकता था और सामन्त या उपसामन्त को विवश कर सकता था कि वह पूर्व निर्दिष्ट शर्तों का पालन करे। इस प्रकार खेतिहर मजदूर, उपसमन्त, सामन्त और राजा—सभी अधिकारों और दायित्वों के बंधनों में बँधे रहते थे। प्रत्येक को अपने कर्तव्य की पूर्ति करनी पड़ती थी।

३.४ **सामाजिक वर्गीकरण**—यदि सामन्तवादी युग के सामाजिक संगठन पर दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि राजा, सामन्त और उपसामन्तों आदि धनिकों का एक अलग उच्च वर्ग होता था जिसकी सारी शान-शौकत, रंग, विलास तथा सत्ता और शक्ति भूमि पर आधारित थी। इनके अतिरिक्त एक और वर्ग था जो निम्नतर समझा जाता था। यह वर्ग बहुत अधिक गरीब तो नहीं था लेकिन इसे धनिक वर्ग में भी शामिल नहीं किया जाता था। इस वर्ग के लोग अच्छे खाते-पीते परिवारों के सदस्य होते थे। इस निम्न वर्ग के लोगों को दो प्रकारके उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो वह वर्गजिसका संबंध सैनिकों के रूप में सामन्तों से था और जो पूर्णतः सामन्ती दरबारों पर आश्रित था। दूसरा वह वर्ग जिसे हम किसान पेशा कह सकते हैं। इन्हें सामन्तों से जोतने बोने के लिए भूमि मिलती थी। इस भूमि के साथ इनके ऊपर कुछ दायित्व भी थे जिनको ये पूरा करते थे और इसके बदले में इन्हें सामन्त का सैनिक संरक्षण प्राप्त हो जाता था।

४. चारों तत्वों का सम्मिलित रूप—सामन्तवादी समाज

यही चार ऐसे तत्व हैं—जिन्होंने मिल कर संयुक्त रूप से सामन्तवादी समाज की रचना की। इनका सम्मिलित रूप कुछ-कुछ इस तरह का था। राज्य की समस्त भूमि का स्वामी राजा होता था। वह अपनी भूमि को बहुत से सामन्तों में बाँट दिया करता था। इन सामन्तों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि जब भी आवश्यकता पड़े उन्हें सैनिक सहायता देनी पड़ेगी। सैनिक-सहायता की मात्रा सैनिकोंकी संख्या निर्धारित करके निश्चित की जाती थी। इन सामन्तों को सामन्त-प्रमुख कहा जाता था। इन सामन्त-प्रमुखों का भी एक नेता होता था जिसे हम प्रधान सामन्त-प्रमुख कह सकते हैं। इस पद पर ईसाई पादरी या किसी लौकिक भूमिपति की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। यद्यपि सामन्तवादी समाज का यह ढाँचा ग्रामीण क्षेत्रों में अच्छी तरह फैल गया था और ग्राम सभ्यता मुख्यतः कृषि पर आधारित हो गयी थी किन्तु कुछ ऐसे स्वतंत्र नगरों का उन दिनों भी अस्तित्व था जो व्यापारादि करते थे और उनकी सभ्यता को ग्रामसभ्यता पर आधारित नहीं कहा जा सकता। लेकिन ऐसे नगर सामन्तवाद की प्रभुता के युग में अरक्षित- से हो गये। इस अरक्षा की भावना ने उनको किसी बड़े सामन्त का पल्ला पकड़ने के लिये विवश कर दिया। जब सामन्त प्रमुखों को राजा से बड़े-बड़े भूमिभाग मिल जाते थे तब वे उस भूमिके छोटे-छोटे टुकड़ों को अपने आश्रितों को दे देते

थे जिनका काम उन टुकड़ों को जोतना-बोना होता था। इसी से वे अपना तथा परिवार का भरण-पोषण करते थे और लगान आदि भी देते थे। इसके अतिरिक्त आपत काल में उनके परिवार का कोई भी व्यक्ति सेना में भरती हो सकता था। इस प्रकार जिन शर्तों पर सामन्त को राजा से भूमि मिलती थी उन शर्तों के पूरा करने में उसे अपने आश्रितों से बड़ी सहायता मिलती थी। सामन्त केवल राजस्व जमा करने तथा अपने व्यय के लिए ही किसानों से रुपया वसूल नहीं करते थे बल्कि अपने हिस्से के भूमि-भाग का प्रशासन (Administration) और न्याय भी करते थे। ब्रिटिश शासन काल में भारत में चलायी गयी जमींदारी प्रथा से सामन्तवाद इसी दृष्टि से भिन्न थी कि जमींदारों को प्रशासन और न्याय के अधिकार प्राप्त नहीं होते थे। सामन्तों को यह अधिकार अक्षुण्ण रूप से प्राप्त होते थे। स्वयं राजा भी इन मामलों में अधिक हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यह सच है कि पहले तो यह हस्तक्षेप इसलिए नहीं किया जाता था कि राजा सामन्तों का प्रशासन अधिकार मानता था। बाद में वह स्वयं इतना निर्बल हो गया कि उसमें हस्तक्षेप करने का साहस ही नहीं रहा। वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से सामन्तवादी अनुबंध में भी राजा अपनी प्रजा को सीधे आदेश दे सकता था परन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से यह सिद्धान्त कभी काम में नहीं लाया गया।

५. सामन्तवाद में खेतिहरों की दशा

क्या सामन्तवाद में खेतिहरों की दशा यूनान तथा रोम के दासों से भी खराब थी? क्या उनकी तुलना से आधुनिक युग का मजदूर अधिक अच्छी अवस्था में है? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें तत्कालीन समाज में खेतिहरों की स्थिति पर विचार करना पड़ेगा। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं इस काल में खेतिहरों को सर्फ (Serf) कहा जाता था। हमें देखना चाहिए कि समाज में इनका आविर्भाव किस प्रकार हुआ। इनके आविर्भाव का मुख्य कारण यह था कि कुछ लोगों को इतनी अधिक भूमि मिल गई कि वे अकेले उसका उपयोग करने में असमर्थ थे। इसके लिए उन्हें अन्य लोगों की सहायता की आवश्यकता पड़ी। अतएव भूमि को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर ऐसे आवश्यकता ग्रस्त व्यक्तियों को दे दिया गया जो भूमिहीन थे किन्तु परिश्रम कर सकते थे। ऐसे व्यक्तियों से सैनिकों के रूप में भी सामन्तों को सहायता मिल जाती थी। कभी-कभी सैनिक सेवा करने वालों को भी भूमि दे दी जाती थी। लेकिन अधिकतर सामन्त या भूमिपति जमीन के मालिक होते थे। यह भी स्पष्ट है कि भूमिपति किसी भी खेतिहर को जब इच्छा हो बेदखल कर सकता था। लेकिन मध्ययुग के इतिहास से पता चलता है कि उन दिनों बेदखलियाँ इतनी सामान्य न थीं जितनी वे बाद में हो गयीं। इसका कारण यह था कि ऐसा करने से भूमिपतियों को खेतिहर (Serf) जनता का सहयोग नहीं मिल पाता था। पहले तो खेतिहरों को भूमि केवल उनके जीवन भर के लिय ही मिलती थी लेकिन बाद में उसे पैतृक रूप दे दिया गया। जो भूमि आश्रित खेतिहर को केवल उसके जीवन भर के लिए ही दी जाती थी वह बेनीफिस (Benefice) कहलाती थी और जो आनुवंशिक रूप से या पीढ़ी दर पीढ़ी के लिए दी जाती थी वह 'फाइफ' (Fief) कहलाती थी। खेतिहरों पर भूमिपति का इतना अधिकार अवश्य रहता था कि वे भूमि छोड़ कर भाग नहीं सकते थे। यदि कोई भागता तो वे उसे पकड़वा सकते थे। किन्तु ऐसे भागने के भी मामले बहुत अधिक नहीं होते थे। खेतिहर का काम तो भूमि जोतने से ही चल सकता था इसलिए वह अपनी ही भूमि में रह कर जोतना बोना अधिक पसन्द करता था। दासों से उनकी स्थिति इस अर्थ में भिन्न थी कि खेतिहरों का अपना एक अलग स्वतंत्र व्यक्तित्व होता था वे थोड़ी-बहुत अलग सम्पत्ति रखते थे। सामन्त या भूमिपति की निश्चित शर्तों का पालन करना पड़ता था। यदि वह ऐसा नहीं करता था तो उसके विरुद्ध शिकायत कर

न्याय की माँग की जा सकती था। इसके विपरीत दासों को ऐसे कोई अधिकार प्राप्त न थे। औद्योगिक युग के मजदूरों से भी उनकी हालत अच्छी थी। वह आजकल के मजदूरों की भाँति वे-घरबार, सम्पत्तिहीन और गरीब नहीं होते थे। अतएव सामन्तवादी युग के खेतिहरों की दशा सुनने में चाहे भले ही दयनीय प्रतीत हो किन्तु वास्तव में उनकी स्थिति आज के मजदूरों और नगरों के दासों से कहीं अधिक अच्छी थी।

६. भूमिपति और आश्रित

हम यह तो बतला ही चुके हैं कि खेतिहरों या सर्फों का भूमिपति से क्या सम्बन्ध था लेकिन खेतिहर के अतिरिक्त समाज में एक और भी वर्ग था जिसका कार्य था कि वह केवल सैनिक के रूप में भूमिपति के साथ काम करता था। ऐसे व्यक्ति जब किसी भूमिपति की सेवा करने जाते थे तो एक समारोह होता था। भूमिपति एक ऊँचे आसन पर बैठता था तथा आश्रय ग्रहण करने के लिये जानेवाले व्यक्ति शस्त्र त्याग कर नंगे पैर और सिर पर बिना कोई टोपी आदि पहने भूमिपति के सम्मुख जाते थे। वह वहाँ उसकी अधीनता स्वीकार करते थ और स्वामी के प्रति भक्ति की शपथ लेते थे। इसके बाद भूमिपति उनकी शपथ पर विश्वास प्रकट करके उन्हें भूमि देता था जिस पर उन व्यक्तियों का पतृक अधिकार समझा जाने लगता था। वह भूमि उनके परिवार की हो जाती थी। यह भूमि 'फाइफ' (Fief) कहलाती थी। भूमि हस्तान्तरण दो प्रकार से होता था। एक तो इस तरह कि भूमिपति स्वयं आश्रित को उस जगह ले जाता जहाँ उसकी भूमि होती थी और स्वयं अपने सैनिक को भूमि का कब्जा दिला देता था। दूसरा ढंग यह कि समारोह स्थल पर ही आश्रित को पेड़ की डाली आदि देकर सांकेतिक रूप में भूमि का कब्जा दे दिया जाता था। आश्रित व्यक्ति को स्वामी के प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने के लिए स्वयं जाना पड़ता था। ऐसे मौकों पर आश्रित का यह प्रयत्न रहता था कि वह भक्ति-भाव प्रकट करते समय अधिक से अधिक दीनता प्रकट करे। भूमिपति भी इसका उत्तर अपनी सहृदयता दिखला कर देता था और उसकी रक्षा का आश्वासन देते हुए उसके भरण-पोषण के लिए जमीन देता था। अभिवादन और सम्मान प्रकट करने के लिए जहाँ व्यक्ति का स्वयं उपस्थित होना आवश्यक समझा जाता था वहाँ स्वामिभक्ति की शपथ किसी ऐसे अधिकारी के सम्मुख भी ली जा सकती थी जिसका नियुक्ति भूमिपति द्वारा कर दी जाती थी। स्वामिभक्ति की शपथ ग्रहण करने के बाद आश्रयदाता के प्रति आश्रित व्यक्ति के कर्तव्य आरंभ हो जाते थ।

७. आश्रयदाता के प्रति कर्त्तव्य

आश्रित के आश्रयदाता भूमिपति के प्रति जितने कर्तव्य होते थे उनको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(अ) वैयक्तिक कर्तव्य और (आ) वित्तीय कर्तव्य।

७.१ **वैयक्तिक कर्तव्य**—आश्रित का प्रथम कर्तव्य यह होता था कि वह भूमिपति के दरबार में यथा समय उपस्थित हुआ करे। इस उपस्थिति में आश्रित को कभी तो न्यायकर्त्ता की हैसियत से जाना पड़ता था और कभी दर्शक की हैसियत से। आश्रित का सामन्त या भूमिपति के दरबार में उपस्थित न होना स्वामी की अवज्ञा समझी जाती थी और यह एक ऐसा अपराध था जिसके लिये भूमिपति यदि रुष्ट हो जाय तो कठोर से कठोर दण्ड दे सकता था। इसके बाद आश्रित का कर्तव्य सैनिक सेवा करना होता था। भिन्न-भिन्न यूरोपियन देशों में सेवा की भिन्न-भिन्न अवधियाँ निश्चित थीं। इन अवधियों के लिये आश्रित व्यक्ति को निःशुल्क सेवा करनी पड़ती थी। उदाहरण के लिए इंगलैण्ड में इस प्रकार की अनिवार्य सेवा का समय चालीस दिन था। विशेष अवस्थाओं में सैनिक सेवा से कुछ व्यक्तियों को मुक्त भी कर दिया जाता था लेकिन उसकी भी कुछ शर्तें थीं। उन शर्तों में से पहली शर्त यह थी

कि जिस व्यक्ति को सैनिक सेवा करनी हो वह कोई ऐसा व्यक्ति अपने स्थान पर दे जो उसी की भाँति भूमिपति की सेवा में सैनिक का कार्य कर सके। यदि आश्रित अपने स्थान पर कोई व्यक्ति नहीं ढूँढ़ पाता था तो कभी-कभी ऐसा भी हो जाता था कि यदि वह इतना धन भूमिपति को दे देता उसके स्थान पर दूसरे व्यक्ति से वही काम कराया जा सकता है। यह सैनिक सेवा 'नाइट्स फो' या सामन्त का शुल्क कहलाती थी। इंगलैण्ड में २० पौण्ड वार्षिक आय की भूमि को सामन्त शुल्क की भूमि माना जाता था। इसका अर्थ यह है कि ऐसी भूमि पर खेती करने-वाला व्यक्ति—जिसको आय २० पौण्ड वार्षिक हो सामन्त की ४० दिन निःशुल्क सैनिक सेवा करने के लिए बाध्य होता था। यदि उसकी भूमि की आय २० पौंड वार्षिक से कम होती थी तो उसी के अनुसार सैनिक सेवा का काल भी घटा दिया जाता था। ६० वर्ष से अधिक आयुवाले वृद्धों, स्त्रियों तथा बच्चों को सैनिक सेवा नहीं करनी पड़ती थी। सरकारी अधिकारी भी इस सेवा से मुक्त रहा करते थे। वैयक्तिक दायित्वों में आश्रित के कुछ अन्य दायित्व भी थे। उदाहरणार्थ भूमिपति की ऐसी कोई गुप्त बात प्रकट न की जाय जिससे स्वामी को हानि पहुँचने की संभावना हो। घराने के नाम और उसकी इज्जत को भी बड़ा महत्व दिया जाता था। अतएव, आश्रित, स्वामी की न तो कोई बुराई सुनता था और न मुँह से कहता ही था। उसे स्वामी के विरुद्ध यदि कोई ऐसी बात ज्ञात हो जाती जिससे भूमिपति का अहित होने की संभावना हो तो सैनिक या सर्फ का यह कर्त्तव्य होता था कि वह उसकी सूचना तत्काल स्वामी को जाकर दे। यही नहीं, युद्ध तक में उसे स्वामी की रक्षा को हर दशा में प्राथमिकता देनी पड़ती थी। युद्ध के मैदान में यदि उसके स्वामी का घोड़ा मारा जाता तो सैनिक तत्काल अपना घोड़ा उसे देने के लिये बाध्य होता था। युद्ध क्षेत्र में स्वामी पकड़ न जाय इसका भी ध्यान सैनिकों को रखना पड़ता था। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि गिरफ्तार भूमिपति को मुक्ति दिलाने के लिये सैनिक स्वयं अपने आपको पकड़वा देता था।

७.२ **वित्तीय कर्त्तव्य**—इसके अतिरिक्त आश्रित के कुछ वित्तीय कर्त्तव्य भी होते थे। इनकी संख्या पाँच या छः होती थी। ये कर्त्तव्य इस प्रकार हैं—सम्पदा शुल्क या मृत्युकर देना, समारोह या आपत्-कर देना, संरक्षण-कर देना, विवाह असहमति की क्षतिपूर्ति का कर देना, सामान्य वित्तीय या अर्थदण्ड देना और उत्तराधिकार-कर देना।

७.३ **सम्पदा शुल्क या मृत्युकर**—यह कर उस समय लिया जाता था जब कोई व्यक्ति मर जाता था और उसका कोई वारिस नहीं होता था। ऐसी अवस्था में मृतक की भूमि पर भूमिपति कब्जा कर लेता था। इस प्रकार की भूमि पर कब्जा करते समय ऐसी भूमि छोड़ दी जाती थी जो मृतक किसी गिरजा या संस्था को दान में दे देता था।

७.४ **समारोह या आपत्-कर**—इस कर की पृष्ठभूमि यह थी कि जब भूमिपति के महल में उसकी कन्या या पुत्र का विवाह होता था अथवा पुत्र को राजा से वीरता की पदवी या 'नाइटहुड' मिला करती थी तो बड़ी खुशियाँ मनायी जाती थीं। धन पानी की भाँति बहाया जाता था। अतः यह स्वाभाविक था कि भूमिपति के स्वामिभक्त आश्रित स्वयमेव ऐसे अवसरों पर नजराना दें। प्रारंभ में यह धन कर के रूप में नहीं दिया जाता था अपितु जिसकी जितनी इच्छा होती थी उतना वह स्वयं भेंट कर देता था। बाद में यह रिवाज एक प्रथा बन गयी और इस प्रकार की भेंट देना अनिवार्य हो गया। इसीलिए इस भेंट को कर भी कहा जा सकता है। आश्रित अपने स्वामी को उस समय भी धन दिया करते थे जब कोई संकट आ पड़ता था। उन दिनों बहुधा भूमिपतियों के बीच पैतृक द्वेष-भाव चला करता था और लड़ाइयाँ भी रहती थीं। कभी-कभी शत्रु सामन्त के पुत्र या वारिस भतीजे आदि का अपहरण भी कर लिया जाता था। ऐसे अवसरों पर शत्रु सामन्त के पुत्र को अपने पास रख लेते थे और विपल धन

राशि के बदले ही उसे छोड़ने को तैयार होते थे। ऐसी आपत्ति आ जाने पर आश्रित व्यक्ति द्रव्य देकर स्वामी की सहायता करते थे।

७.५ **संरक्षण कर**––किसी आश्रित की यदि अकाल मृत्यु हो जाती थी और उसका वारिस नाबालिग होता था तो आश्रित की समस्त सम्पत्ति पर भूमिपति अधिकार कर लेता था और जब तक उसका वारिस वयस्क नहीं हो जाता था तब तक वारिस की सम्पत्ति की देख-भाल तथा उसका प्रबन्ध करना भूमिपति का ही दायित्व हुआ करता था। यही नहीं संरक्षित वारिस की शिक्षादि की व्यवस्था करना भी भूमिपति का ही कर्त्तव्य होता था। इसके बदले सम्पत्ति से होने वाली आय का जो भाग व्यय होने से बच जाता था, वह सामन्त के कोष में जमा हो जाता था।

७.६ **विवाह असहमति कर**––संभवत: यह सब से विचित्र कर था जो मध्ययुग में लिया जाता था। बहुधा ऐसा होता था कि भूमिपति के किसी आश्रित की आकस्मिक मृत्यु हो गयी और उसका वारिस अवयस्क हुआ और उसकी कोई अवयस्क बहन भी हुई तो भूमिपति को यह अधिकार हुआ करता था कि वह उस अवयस्क कन्या का उचित वर खोज कर विवाह कर दे। पहले यह विवाह कन्या के वयस्क हो जाने पर हुआ करता था लेकिन बाद में परिस्थितियों-वश या उत्तरदायित्यों को टालने के लिए बालिका की शादी अवयस्कावस्था में ही की जाने लगी, किन्तु कभी-कभी कन्या ऐसा करने को राजी नहीं होती थी। उस अवस्था में अवयस्क कन्या के मृत पिता की सम्पत्ति या उस सम्पत्ति से होने वाली आय से क्षतिपूर्ति के रूप में कुछ रकम वसूल की जाने लगी। बाद में कुछ सामन्तों ने आय का यह अच्छा साधन पाकर लड़कों पर भी यही नियम लागू कर दिया और यदि वह स्थिर किये गये विवाह को करने से इन्कार करता था तो उससे भी रकम ली जाती थी।

७.७ **उत्तराधिकार कर**––जब किसी व्यक्ति को अपने पिता या किसी वृद्ध संबंधी की मृत्यु के बाद जमीन-जायदाद का उत्तराधिकार प्राप्त होता था तो उत्तराधिकारी का यह कर्त्तव्य होता था कि वह भूमिपति को एक निश्चित रकम दे। ऐसा न कर सकने की दशा में भूमि छिन जाने का अन्देशा रहता था। भूमिपति को यदि एक वर्ष के भीतर उत्तराधिकार कर नहीं मिलता था तो वह उत्तराधिकारी की सारी जमीन-जायदाद पर कब्जा कर सकता था।

७.८ **सामान्य अर्थ दण्ड**––यह दण्ड उस समय लिया जाता था जब भूमिपति द्वारा प्रदत्त जमीन को कोई आश्रित किसी अन्य व्यक्ति को देना चाहता था और भूमिपति उस हस्तान्तरण से सहमत न होता था। कभी ऐसा भी होता था कि भूमिपति यदि हठ करता तो वह सारी भूमि ही मूल्य चुका कर वापस ले लेता था और भूमि पर रहने वाले आश्रित को वह भूमि अन्य किसी को नहीं देने देता था।

८. सामन्तवाद के विभेद और उनकी व्यापकता

यदि हम सामन्तवाद की व्यापकता पर दृष्टि डालने का यत्न करें तो पायेंगे कि मध्य यूरोप में सर्वप्रथम इसका जन्म हुआ और वहाँ से पूर्व और पश्चिम दोनों ओर बढ़ा। पूर्व में इसका प्रसार जर्मनी के बाद पोलैण्ड तथा डैन्यूब की घाटी में हुआ तथा पश्चिम में यह सबसे पहले डेनमार्क, हालैण्ड और फ्रांस में पहुँचा। फ्रांस से इसका प्रसार स्पेन तथा पुर्तगाल में हुआ। जब नार्मनों ने इंगलैण्ड तथा दक्षिणी इटली पर आक्रमण किया तो वे सामन्तवाद के तत्व अपने साथ ही उक्त देशों में भी ले गये। यद्यपि सामन्तवादी युग की तरंगें पूर्व में बालकन राष्ट्रों तथा पश्चिम में पुर्तगाल तथा उत्तर में इंगलैण्ड और दक्षिण में इटली तक पहुँची किन्तु यह सोचना सर्वथा अशुद्ध होगा कि सामन्तवाद का रूप सभी स्थानों में एक समान ही था। यूरोप के विभिन्न देशों में ही सामन्तवाद के सभी सिद्धान्त एक समान भाव से नहीं माने जाते थे। यही कारण है कि उसका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता था।

इंगलैण्ड में सामन्तवाद का जो स्वरूप था वह यूरोप से बिल्कुल भिन्न था। यह भिन्नता निम्नलिखित बातों से बिलकुल स्पष्ट हो जायगी। यूरोप में जहाँ एक ओर व्यक्ति की सामाजिक स्थिति इस बातपर निर्भर करती थी कि वह कितनी भूमिका स्वामी है—वहाँ इंगलैण्ड में यह बात कभी नहीं मानी गयी। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति तथा उसका राजनीतिक प्रभाव इंगलैण्ड में सदैव से उनके व्यक्तिगत प्रभाव पर निर्भर रहता आया है। इंगलैण्ड के सामन्तवादी जगत् में भूमिपति को ही सर्वेसर्वा कभी नहीं माना गया। यही कारण है कि कोई भी भूमिपति वहाँ अपने आश्रित को उसके पक्ष के समर्थन के लिये युद्ध में भाग लेने के लिए विवश न कर सका। इंगलैण्ड में इसका सर्वोपरि प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। वहाँ की जनता राजा की पुकार पर युद्ध करने के लिए सदैव तत्पर रहती थी। यह इंगलैण्डवासियों की राष्ट्रमूलक एकता का ज्वलंत प्रमाण है। यद्यपि भूमिपति किसी आश्रित को अपने पक्ष में लड़ने के लिए बाध्य नहीं कर सकता था, किन्तु राजा के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी। वह किसी से भी अनिवार्यतःसैनिक सेवाले सकता था। इंगलैण्ड के राजाओंने न्यायकार्य सदैव अपने हाथ में रक्खा। इंगलैण्ड में सामन्तों को इस बात की कभी अनुमति नहीं दी गयी कि वे न्याय भी करें। करों को लगाने का अधिकार भी राजा ने नहीं छोड़ा। इंगलैण्ड में दैव यही समझा गया कि प्रजा पर यदि कोई कर लगा सकता है तो केवल राजा ही। र जा को किसानों तथा सामन्तों पर कर लगाने का समान अधिकार था।

सामन्तवाद की इन्हीं सब विभिन्नताओं के कारण इंगलैण्ड में एकतामूलक राष्ट्रवाद का विकास अत्यन्त व्यवस्थित रूप से हुआ। इसके विपरीत यूरोप में सामन्तवाद के ही कारण विघटनकारी तत्व पनप गये और कोई व्यवस्थित स्वरूप न बन पाने के कारण सामन्तवादी युग में किसी प्रकार की राजनीतिक प्रगति न हो सकी।

९. सामन्तवादी युग की कुछ विशेषताएँ

सामन्तवाद की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें राजा और प्रजा के संबंध आधुनिक युग के शासक और शासितों से भिन्न थे। आज के राज्य में शासन करने वाले वर्ग को प्रजा का सेवक समझा जाता है। किन्तु मध्ययुगीन सामन्तवाद की एक विशेषता यह भी थी कि उसमें प्रजा में शासक और भूमिपति के प्रति श्रद्धा और भक्ति तथा सेवा की अत्यधिक भावना रहा करती थी। यह भावना आज शासकों और शासितों के बीच में नहीं है। सामन्तवाद की अन्य विशेषताएँ यह थीं कि वह व्यक्तिगत, निजी और अराजनीतिक था। इन विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए **गोटिल** ने लिखा है कि वह वीरता का युग था। कोई भी व्यक्ति जो युद्ध क्षेत्र में शौर्य-प्रदर्शन कर पाता था और अपने पराक्रम का सिक्का जमा देता था—वही अच्छा शासक समझा जाता था। जैसे ही उसकी शूरता मान ली जाती थी—वैसे ही वह सिक्के ढालने और न्यायालय खोलने आरम्भ कर देता था। उन दिनों लोग कर नहीं देते थे। वे सामन्तों को नजराना देते थे। इसके अतिरिक्त सामग्री से तथा सना म भरती होकर भी किसान योग्य सामन्तों तथा सरदारों की सहायता करते थे। जो किसान सामन्तों की प्रभुता स्वीकार कर लेते थे वे नागरिक (Citizens) नहीं अपितु प्रजा (Vassals) कहलाते थे। उन दिनों संसदों का प्रचार नहीं हो पाया था। बड़े-बड़े सामन्तों के दरबार लगा करते थे। उन दरबारों में प्रजा के कुछ प्रतिनिधि भी जाते थे। ये दरबार न्याय करते थे। न्याय का आधार प्रचलित रीति-रिवाज हुआ करते थे और जहाँ रीति-रिवाज न्यायकार्य में सहायता न कर पाते थे—वहाँ यह कार्य विवेक की सहायता से होता था। इस रूप में इन दरबारों द्वारा विधि का निर्माण भी होता था।

१०. सामन्तवादी युग में विधि-संहिताओं की रचना

सामन्तवादी युग में विधि संहिताओं का निर्माण मुख्यत: बर्बर जातियों द्वारा हुआ। बर्बर जातियों को विधि के क्षेत्र में रोमनों से बड़ी सहायता मिली। रोमन साम्राज्य तो नष्ट हो गया था, लेकिन वह अपने पीछे इतनी बड़ी विधि संहितायें छोड़ गया था जो किसी भी बड़े से बड़े साम्राज्य के प्रशासन के लिए पर्याप्त थीं। रोमन विधि संहिता की कल्पना में मानव-मात्र की समानता और एकता के सिद्धान्त में विश्वास प्रकट किया गया था। ईसाई धर्म भी इस सिद्धान्त के आदर्शों से कुछ कम प्रभावित नहीं हुआ। बर्बरों ने अपने आक्रमणों से रोमन साम्राज्य को तो तहस-नहस कर डाला लेकिन यह सर्वविदित है कि उन्होंने ईसाई धर्म के प्रति श्रद्धा भाव ही नहीं, बड़ी आस्था भी प्रकट की। इसी आस्था के कारण रोमन विधि संहिताओं के आदर्शों तथा सिद्धान्तों का प्रभाव ईसाई धर्म द्वारा बर्बर जातियों की विधि संहिताओं पर भी पड़ा। यही कारण है कि बर्बर जातियों की जो विधियाँ आरंभिक काल में व्यक्तिगत समझी जाती थीं वही रोमन विधियों के प्रभाव की वजह से सार्वजनिक विधियाँ बन गयीं। इसका अर्थ है कि विधियाँ राजाज्ञा समझी जाने लगीं। विधि संबंधी इस कल्पना परिवर्तन के कारण दण्ड विधान में भी अन्तर आया। जहाँ पहले विधियों को व्यक्तिगत समझे जाने के कारण हत्यारों को सजा देने का अधिकार हत्या किये हुए व्यक्ति के निकट संबंधियों को था और वे उसे मार डालते थे और इस कार्य को सामाजिक सहमति प्राप्त थी, वहाँ आगे चल कर यह होने लगा कि हत्या की शिकायत राजा से की जाने लगी और राजा हत्यारे की हत्या करने के बजाय पीड़ित पक्ष को आततायी पक्ष से क्षतिपूर्ति स्वरूप उचित धनराशि दिलाने लगा। इसका असर यह हुआ कि पहले जो अपराध व्यक्तियों के विरुद्ध समझे जाते थे उनमें से कुछ को अब व्यक्ति के विरुद्ध ही नहीं, राजा के विरुद्ध भी समझा जाने लगा। प्रारंभ में यह विधियाँ जाति समूहों तक ही सीमित थीं और लिपिबद्ध नहीं की गयी थीं। बाद में इनको लिपिबद्ध कर लिया गया। एंग्लो-सेक्शनों की **एथलबर्ट** नाम्नी संहिता (सन् ६१०) से विधियों के इस प्रकार लिपिबद्ध किये जाने की पुष्टि होती है। **एथलबर्ट** संहिता में द्वैध (Dual) भक्ति दिखलायी गयी है। यह भक्ति प्रथमत: ईसाई धर्म के प्रति है और इसके बाद राजा के प्रति। इस संहिता में राजा और व्यक्ति के विरुद्ध किये जाने वाले अपराधों का दण्ड दिया हुआ है। इस संहिता में हत्या के लिये हत्या का विधान नहीं है, अपितु हत्या के लिये आर्थिक या वित्तीय दण्ड की व्यवस्था है। राजा के सम्मुख यदि कोई अपराध किया जाता है तो उसके लिये भी अतिरिक्त जुर्माने की रकम दी हुई है। **'इन'** नाम के व्यक्ति ने भी एक संहिता तैयार की थी। इसमें धार्मिक विधियाँ भी दी गयी हैं। इसमें यह व्यवस्था दी हुई है कि जन्म के तत्काल बाद ही शिशु का बपतिस्मा होना आवश्यक है। यदि किसी प्रकार बिना बपतिस्मे के बच्चे की मौत हो जाती है तो अभिभावकों की जमीन-जायदाद कुर्क कर लिये लिये जाने का विधान है। इसी संहिता से कृषक समाज की रूपरेखा की झाँकी भी मिलती है। विधि संहिताओं का यह संकलन और संपादन कार्य एंग्लो सेक्सनों तक ही सीमित नहीं रहा। ऑस्टद्रोगॉथ, लम्बार्ड, बरगंडियन, विसिगॉथ आदि बर्बर जातियों ने भी, अपनी-अपनी संहिताएँ लिपिबद्ध करायीं। ये जातियाँ उन दिनों यूरोप के विभिन्न भागों में बस गयी थीं। इन संहिताओं का रचना काल छठी शताब्दी से आठवी शताब्दी तक माना जाता है। इन सभी संहिताओं की एक सामान्य विशेषता यह थी कि इनमें कहीं भी ऐसी किसी विधि का समावेश नहीं किया गया जो ईसाई धर्म के प्रतिकूल हों। कुछ संहिताओं में रोमन विधियाँ संकलित कर दी गईं।

आरंभ में विधियाँ लिपिबद्ध नहीं थीं, यह पहिले ही कहा जा चुका है। इसलिये जब उनको लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया गया तो यह प्रश्न उठा कि उनकी कौन-सी व्याख्या सही है। इस व्यवस्था को जब तक राजा और सामन्तों की सहमति प्राप्त न हो जाती थी तब

तक उसका संहिता में समावेश कर लिया जाना विवाद का विषय बन जाता था। अतएव, इस संबंध में बहुधा राजा की ओर से प्रजा और सामन्तों की सहमति द्वारा विधि संबंधी घोषणाएँ की जाती थीं। इन घोषणाओं का स्वरूप कैसा होता था इसकी कल्पना निम्नलिखित उद्धरण से की जा सकती है–"सम्राट् चार्लमैन,[1] विशपों, एबटों, काउण्टों, ड्यूकों और ईसाई संघ के प्रति श्रद्धा रखने वाले अन्य प्रजाजनों के सहित तथा उनकी अनुमति और परामर्श से निम्नलिखित विधि घोषित करता है. . . जिससे प्रत्येक राजभक्त प्रजाजन जिसने अपने ही हाथों से उसकी संपुष्टि की है, न्याय एवं विधि की रक्षा कर सके[2]।"

घोषणा करने के इस प्रारूप से एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि विधि संबंधी किसी भी व्याख्या के संबंध में अंतिम निर्णय देने या करने का अधिकार राजा को प्राप्त होता था, परन्तु राजा यह अनुभव करता था कि विधियाँ जनता के हित के लिये होती हैं, अतएव किसी विधि की उपयोगिता उस समय जनता के लिए अधिक होगी जब उसके निर्माण म सामन्तों और जनता के प्रतिनिधियों से सलाह ले ली जाय। यद्यपि राजा सब भूमि का स्वामी समझा जाता था लेकिन उसके लिये यह आवश्यक था कि वह राज्य का शासन कार्य विधि-विहित रीति से करे। सिंहासनारोहण समारोह के समय राजा को प्रजारंजन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। इसका प्रमाण उन शपथों की प्रतिलिपियाँ देख कर प्राप्त किया जा सकता है जो आज भी इगलैण्ड के राजा या रानी को राज्याभिषेक के समय ग्रहण करनी पड़ती हैं। इस प्रकार यह बात स्वतः सिद्ध है कि राजा को भी कानूनों या विधियों की श्रेष्ठता मान कर उन्हीं के अनुसार राज-काज करना पड़ता था। विधि संबंधी इन बातों को देखते हुए दो मूलभूत सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते हैं––पहला तो यह कि उन दिनों विधियाँ सर्व-साधारण के लाभ को दृष्टि में रख कर बनायी या निर्धारित की जाती थीं और दूसरा यह कि वे परिवर्तनशील नहीं थीं।

१०.१ **राजा और विधि**—हम ऊपर यह कह आये हैं कि राजा विधि से श्रेष्ठ नहीं माना जाता था। राजा के लिये भी यह आवश्यक होता था कि वह विधि के अनुकूल ही कार्य करे; कन्तु इतना होते हुए भी राजा को ही सब प्रकार की विधियों का स्रोत ('Source) माना जाता था। विधि संबंधी सिद्धान्त यही था कि "विधि सर्वसाधारण की अनुमति से राजा द्वारा घोषित की जाय। अतः, राजा की मर्यादा तो विधि निर्धारित कर देती थी लेकिन विधि का प्रयोग राजा के विरुद्ध नहीं किया जा सकता था ('King can do no wrong')। इसका अभिप्राय यह है कि राजा को किसी भी न्यायालय में उपस्थित नहीं किया जा सकता था। यही परम्परा आज भी चली आ रही है। राज्य के अध्यक्ष (Head of the State) के संबंध में––चाहे वह इंगलैण्ड का राजा (रानी) हो या भारत अथवा अमेरिका का राष्ट्र-पति--संविधानों में यह स्पष्ट निर्देश रहता है कि उनके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में मामला नहीं चलाया जा सकता। इसलिये आपत्काल में या आवश्यकता पड़ने पर राजा प्रचलित विधियों से प्रतिकूल कार्य भी कर सकता था। लेकिन इन कार्यों का आधार भी प्रजाहित और कल्याण साधन होना आवश्यक होता था, अन्यथा राजा के विरुद्ध क्रान्ति हो जाने की संभावना रहती थी। रोमन तथा मध्ययुगीन विधिवेत्ताओं की राजसत्ता संबंधी कल्पना भी इस स्थल पर समझ लेनी चाहिए। रोमन विधिवेत्ता और मध्यकाल के विधिवेत्ता दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि सत्ता का स्रोत जनता ही है और वह राजा को जनता द्वारा उस सत्ता के समर्पण कर देने से ही प्राप्त होती है। लेकिन जहाँ रोमन विधिवेत्ता यह कहते हैं कि सत्ता एक बार हस्तान्तरित हो जाने के उपरान्त सदैव के लिए राजा की हो जाती है, वहाँ उसके वितरीत

[1] **फ्रैंक जाति का सुप्रसिद्ध राजा।**

[2] Sabine, *A History of Political Theory*. p. 204.

मध्यकालीन विचारकों का मत था कि सत्ता राजा और प्रजा दोनों के सामंजस्य और सहयोग-पूर्ण व्यवहार द्वारा ही राजा के हाथ में टिकी रह सकती है। यदि राजा का अपनी प्रजा से मधुर संबंध नहीं बना रहता तो वह एक न एक दिन अवश्य ही प्रजा के हाथ में वापस चली जायगी। इसी कल्पना के आधार पर राजा की श्रेष्ठता को मानते हुए मध्यकालीन विचार जहाँ राजा को विधि का स्रोत स्वीकार करते हैं, वहाँ वे राजा और प्रजा दोनों को विधि के अन्तर्गत मानते हैं। उनकी दृष्टि से दोनों की मर्यादा विधि-सम्मत होनी चाहिए। यह सच है कि चूँकि विधि का प्रत्यक्ष संबंध राजा से होता था, इसलिये यह माना जाता था कि विधि व्याख्याओं तथा टीकाओं के संबंध में उसे अपने विवेक के उपयोग करने का अन्य किसी भी व्यक्ति से अधिक अधिकार है।

११. सामन्तवादी युग के न्यायालय

सामन्तवादी युग के न्यायालयों का संघटन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन न्यायालयों में आश्रितों तथा भूमिपतियों दोनों के प्रतिनिधि उपस्थित रहा करते थे। यह तो अब तक स्पष्ट हो ही चुका होगा कि सामन्तवाद के युग में सारा कार्य अनुबंधों पर ही निर्भर था। यदि अनुबंध की शर्तों का उल्लंघन होता था तो अपराधी पक्ष चाहे जो हो—रक्षा पक्ष सदैव इसी न्यायालय में आकर न्याय की याचना किया करता था। यदि मामला आश्रयदाता भूमि-पति के विरुद्ध होता था तब भी आश्रित अपने प्रतिनिधियों के समक्ष न्यायालय म जाता था, जहाँ भूमिपति के भी प्रतिनिधि रहते थे और यदि भूमिपति को कोई शिकायत होती थी तो वह भी आश्रित के विरुद्ध इसी न्यायालय में अपना मामला उपस्थित किया करता था। उन दिनों ऐसा नहीं होता था कि राजा या सामन्त अथवा भूमिपति किसी भी मामले का अपनी इच्छा-नुसार फैसला कर दें। सैद्धान्तिक रूप से मध्य युग के न्यायालयों म इस बात की व्यवस्था थी कि भूमिपति और उसके आश्रितों को आवश्यकता पड़ने पर उचित न्याय मिल सके। न्याय की व्यवस्था देनवाले निर्णयों के करन म देश और जाति की विधियों का प्रयोग किया जाता था। यदि कोई पक्ष न्यायालय के निर्णयों का शक्ति-प्रयोग द्वारा उल्लंघन करने की चेष्टा करता, तो न्यायालय में उपस्थित भूमिपतियों तथा आश्रितों के प्रतिनिधि अपनी शक्ति से उस निर्णय को कार्यान्वित कराते थे। कभी-कभी तो यह निर्णय यदि राजा के विरुद्ध भी जाता था, तब भी उसे क्रियान्वित कराया जाता था। इंगलैण्ड के मेग्नाकार्टा की ६१वीं धारा में ऐसी व्यवस्था की गयी थी जिससे राजा के अधिकार सीमित हो जाते थे। इस धारा में यह व्यवस्था थी कि राजा को आज्ञापत्र को क्रियान्वित कराने के लिये २५ सरदारों की एक समिति नियुक्त करनी पड़ेगी। सामन्तवादी युग में राजा तथा उसके दरबार में ही कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधानमण्डलों की शक्ति अभिविहित रहती थी। सामन्त और आश्रित तथा राजा और सामन्त सभी ऐसे अनुबंधों (समझौतों) द्वारा ग्रंथित थे, जो दोनों के हितों पर आधारित रहा करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि कोई भी पक्ष अपनी अधिकार-सीमा या कार्यक्षेत्र से बाहर जाकर दूसरे पक्ष को अनुबंध की शर्तें तोड़ने का अवसर नहीं देता था। इसका नतीजा यह हुआ कि सामन्तवादी युग में शक्ति का केन्द्रीकरण किसी भी स्थान पर नहीं हो पाया।

१२. सामन्तवादी न्याय-व्यवस्था में विधि का स्थान

सामन्तवादी न्यायालयों के संबंध में उक्त जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद यह भी जान लेना उपयोगी होगा कि उन दिनों की व्यवस्था म विधि का क्या स्थान था। यह तो हम कह ही आये हैं कि सामन्तवादी युग में सबके संबंध पारस्परिक सहयोग एवं समझौता पर आधा-रित थे। अतएव, जब समझौता किया जाता था तो उसका आधार प्रचलित प्रथाओं और

विधियों को मान लिया जाता था। आश्रित व्यक्ति यह कहता था कि वह भूमिपति की सेवा अन्य आश्रितों की भाँति प्रचलित प्रथाओं के अनुसार करेगा और सामन्त या भूमिपति विधि-सम्मत उत्तरदायित्वों एवं आवश्यकता के अनुसार आश्रित को सहायता का वचन दिया करता था। अनुबंध की शर्तों का यदि कोई पक्ष पालन नहीं करता था तो उसका पालन कराने के न्यायालय या दरबार द्वारा चेष्टा की जाती थी। न्यायालय में वे विधि-वेत्ता बैठते थे जो आश्रित तथा भूमिपति दोनों के प्रतिनिधि होते थे। राजा यदि विधि के विरुद्ध कार्य करता था तो वह ईश्वर का नहीं शैतान का प्रतिनिधि समझा जाता था। तत्कालीन विचारक **हेनरी ब्रैकटन** (१२१४-१२६८ ई०) ने लिखा है[1] कि राजा ही सब कुछ नहीं है। उसके भी ऊपर ईश्वर की सत्ता है। ब्रैकटन विधियों को आपौरुषेय मानता है जिसका अर्थ हम यह भी लगा सकते हैं कि वह विधियों को ईश्वर की वाणी या ईश्वर द्वारा निर्मित समझता है। चूँकि राजा को तत्कालीन समाज में ईश्वरीय सत्ता का प्रतीक माना जाता था——इसलिये यह कहा जाता था कि राजा विधियों का उल्लंघन नहीं कर सकता। राजा सामन्तों का स्वामी ही नहीं है, वह उनका सहयोगी भी है। सहयोगी मित्रों का ब्रैकटन ने यह भी कर्तव्य बतलाया है कि उन्हें देखना चाहिए कि शासक निरंकुश तो नहीं हो जाता, क्योंकि ऐसा होना किसी के भी हित में नहीं है। राजा का तो इससे नाश होना अवश्यम्भावी है ही——साथ ही राज्य के नष्ट हो जाने की संभावना में सामन्तों का भी अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। अतएव, सामन्तों का कर्तव्य है कि वह राजा को निरंकुश न होने दें और राजा का कर्तव्य है कि वह सामन्तों को मनमानी न करने दे। संक्षेप में राजा की स्थिति यह थी कि सैद्धान्तिक रूप से तो वह विधि की पकड़ से दूर था लेकिन नैतिक और व्यावहारिक दृष्टि से वह सार्वजनिक हित में न्यायालय के निर्णयों को अंगीकार करके उनका पालन करना अपना कर्तव्य समझता था। लेकिन यह स्थिति निरन्तर बनी रहनेवाली नहीं थी। उस समय भी राजा के हाथ में काफी शक्ति थी। धीरे-धीरे बुद्धिमान राजाओं ने अपनी शक्ति का संचय किया और पूर्णतः निरंकुश राजतंत्रों की स्थापना की। ये राजतंत्र आगे चलकर प्रजातंत्रवादी युग के आरंभ में होनेवाली क्रान्तियों में या तो समाप्त कर दिये गये या फिर उनकी शक्ति अत्यन्त सीमित कर दी गयी।

१३. सामवन्तवादी-युग के कुछ विचारक

मध्ययुग के प्रमुख विचारकों में जॉन सैलिसबरी का नाम सबसे पहले लिया जाता था। लेकिन जॉन सैलिसबरी के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विचारक हुए जिनका स्थान ऐतिहासिक कालचक्र की दृष्टि से पहले लिया जाता है। ऐसे विचारकों में हिल्डे ब्राण्ड, सन्त बर्नार्ड और मेनगोल्ड का नाम उल्लेखनीय है। जॉनसैलिसबरी के जीवन, उसके विचारों तथा ग्रंथों आदि पर विचार करने के पूर्व हम उक्त विचारकों पर भी संक्षेप में दृष्टि डालेंगे। ये विचारक ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के हैं।

१३.१ हिल्डे ब्राण्ड या पोप ग्रेगरी सप्तम्——हिल्डे ब्राण्ड (Hilde Brand) का दूसरा लोक परिचित नाम ग्रेगरी सप्तम भी है। इसका जन्म सन् १०७३ में हुआ था। वह राजसत्ता के विरुद्ध धर्मसत्ता की श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रतिपोषक था। उसने इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये न केवल राजसत्ता के नियंत्रण की आवश्यकता को ही समझा अपितु ईसाई चर्च में उन दिनों जो त्रुटियाँ और दोष आ गये थे उनका भी निवारण किया। ऐसा करने का उसका

[1] हेनरी ब्रैकटन ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है *Treatise on the Laws & Customs of England*। पहले इस पुस्तक के लेखक का नाम विवादास्पद माना जाता था लेकिन अब सभी विद्वान इसे ब्रैकटन की कृति ही मानते हैं।

एकमात्र उद्देश्य यह था कि वह जिस स्थान पर ईसाई चर्च एवं उसके पादरियों को प्रतिष्ठित करना चाहता था—वे उसकी मर्यादा और गरिमा के अनुरूप सिद्ध हों। उसने मठों की स्थापना के आन्दोलन को भी पुनः चलाया। हम पिछले अध्यायों में ईसाई मठों के जीवन पर प्रकाश डाल चुके हैं। परन्तु यहाँ यह स्मरण कराना संभवतः पुनरुक्ति न होगी कि आश्रमों का जीवन जैसा पवित्र और सदाचारी होता था, उसका जनता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता था। वह चाहता था कि पोप का पद इतना पवित्र, श्रेष्ठ और उत्तम माना जाय कि उसमें जनता को शक्ति और मर्यादा दोनों का मधुर समन्वय दिखलाई पड़े। हिल्डे ब्राण्ड या ग्रेगरी सप्तम के इस स्वप्न के संबंध में प्रोफेसर सिजविक ने लिखा है[1] कि ग्रेगरी सप्तम की कल्पना थी राज्य संबंधी समस्त विवादास्पद विषयों का एक मात्र न्यायकर्ता पोप को माना जाय। पोप का यह अधिकार समस्त ईसाई संसार पर निर्विवाद रूप से मान लिया जाय। युद्ध और शान्ति के मामले भी उसके हाथों में ही रहें। जो राजा अपने पद और मर्यादा की समुचित रूप से रक्षा न कर सके, विधियों के विरुद्ध आचरण करता हुआ निरंकुश बनने का प्रयास करे, उसे वह अपदस्थ कर दे। इस प्रकार हिल्डे ब्राण्ड ने एक ऐसे पोप की कल्पना की थी जो समग्र ईसाई संसार का कर्ता-धर्ता मान लिया जाता, जो राजाओं का भी राजा होता। इस कल्पना में हिल्डे ब्राण्ड ने प्लेटो की **'रिपब्लिक'** के दार्शनिक राजा से बड़ी प्रेरणा ली थी।

ग्रेगरी सप्तम या हिल्डे ब्राण्ड सांसारिक वस्तुओं को अत्यन्त तुच्छ दृष्टि से देखता था। आध्यात्मिकता को वह बड़ा महत्व देता था। उसका कहना था—एक छोटे से छोटा पादरी एक बड़े से बड़े राजा की तुलना में अधिक सम्मान पाने योग्य है। राजा तो अधिक से अधिक इस लौकिक संसार में दण्ड या क्षमा द्वारा अपराधी व्यक्तियों को सुधारने का प्रयत्न कर सकता है किन्तु ऐसा पादरी के संबंध में नहीं कहा जा सकता। पादरी नैतिक और आचारिक शिक्षाओं द्वारा इस लौकिक संसार में तो व्यक्ति को सुधारने का प्रयत्न करता ही है—वह आध्यात्मिक शक्ति द्वारा दुखी और पीड़ित जनों का पारलौकिक जीवन सुधारने की भी कोशिश करता है। यह बात अपने आप में बहुत बड़ी है। हिल्डे ब्राण्ड का कहना था इसीलिए पादरी की जिम्मेदारी किसी भी राजा की तुलना में कहीं अधिक है।

राज्य संबंध में उसके विचार थे कि वह एक आवश्यक बुराई (necessary evil) है। राज्य की उत्पत्ति इसलिए हुई कि मनुष्य ने पाप किया। इस पाप का प्रायश्चित आवश्यक था, इसीलिए राज्य का आविर्भाव हुआ। राज्य की उत्पत्ति का स्रोत मनुष्य का पापपूर्ण आचरण है किन्तु इसका उद्देश्य अच्छा है। अतएव, इसे मनुष्य जाति को आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए और अपने आचरण को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। वह राजा की आज्ञाओं का पालन करने की आज्ञा देता था और उसका कहना था कि जब तक राजा की आज्ञाएँ धर्म-विरुद्ध न हों तब तक प्रत्येक प्रजाजन का कर्तव्य है कि वह उनका पालन करे। यदि कोई शासक या राजा अत्याचारी है तो इसका यह अर्थ है कि उस राज्य के लोग अधिक पापी हैं और उनकी नीचता के दण्ड के लिए ही ईश्वर ने अत्याचारी शासक के रूप में अपना प्रतिनिधि भेजा है। हिल्डे ब्राण्ड ने क्रान्ति का अधिकार नहीं दिया। उसका कहना है कि यदि राजा क्रूर है तो उसके हित की कामना करते हुए अपने उद्धार के लिए प्रजाजनों को गिरजाघर में प्रार्थनाएँ करनी चाहिए।

हिल्डे ब्राण्ड द्वैधसत्ता के सिद्धान्त में भी विश्वास करता था। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार का काम चलाने के लिए ईश्वर ने दो सत्ताओं को भेजा है। एक राजसत्ता है और दूसरी धर्मसत्ता। दोनों सत्ताओं में धर्मसत्ता का स्थान श्रेष्ठतर है लेकिन धर्म सत्ता को राजसत्ता के छोटे-मोटे मामलों तथा सामान्य विषयों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। महत्वपूर्ण

[1] Prof. H. Sidgewick—*The Development of European Policy*, p. 2. 26:

एवं असाधारण तथा धार्मिक विषयों में राजसत्ता को धर्मसत्ता का पथ-प्रदर्शन स्वीकार कर लेना चाहिए।

हिल्डे ब्राण्ड ईसाई साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा करता था। वह चाहता था कि राजसत्ता द्वारा इस साम्राज्य की स्थापना हो। हम यह तो बतला ही चुके हैं कि वह चर्च की स्वतंत्रता का हिमायती था और चाहता था कि उसकी नियुक्तियों में राजसत्ता का कोई हाथ न रहे,लेकिन इस प्रश्न को लेकर राजसत्ता और धर्मसत्ता में बड़ा संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप हिल्डे ने एक नया मत स्थिर किया, जिसका आशय था कि राजसत्ता के जो प्रतिनिधि ईसाई गिरजा के विरुद्ध आचरण करते हैं या उसकी नीति का परिपालन नहीं करते उनको निष्क्रिय कर दिया जाय। पोप-विरोधी राजाओं को निष्क्रिय बना देने का उपाय यह निकाला गया कि प्रजा को अपराधी राजा की आज्ञा पालन करने की बाध्यता से मुक्त कर दिया जाय। जब प्रजा राजा को आज्ञाओं का पालन ही न करेगी तब राजा की कैसी विचित्र स्थिति हो जायगी--इसकी कल्पना से ही सामन्तवादी युग के शासक घबड़ाते थे। इस सिद्धान्त का सबसे प्रथम प्रयोग हेनरी चतुर्थ पर किया गया। अन्त में हेनरी चतुर्थ को पराजय माननी पड़ी और ग्रेगरी सप्तम की शरण में आना पड़ा। किन्तु इसके एक साथ दो परिणाम हुए। पहला तो यह कि सभी यूरोपियन शासक घबड़ा गये और पोप से डरने लगे। इसके अलावा दूसरा परिणाम यह हुआ कि सभी शासकों के कान खड़े हो गये। वे सब मिल कर यह सोचने लगे कि पोप के ऐसे आदेशों का प्रतिकार कैसे किया जाय। ग्रेगरी सप्तम के शासक बहिष्कार सिद्धान्त के फलस्वरूप धर्मसत्ता और राजसत्ता में ऐसा संघर्ष छिड गया जो लगातार दो शताब्दियों तक चलता रहा। ग्रेगरी सप्तम का यह घोषित मत था कि ईसाई चर्च को अपने आन्तरिक प्रबंध स्वयमेव करने चाहिए और इसमें राजसत्ता का कोई हाथ नहीं होना चाहिए। धर्मसत्ता को राजसत्ता की समस्त गतिविधियों की जाँच कर उनके बारे में फैसला करने का अधिकार है। यदि धर्मसत्ता के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि के रूप में पोप राजा को अपराधी मानता है तो उसे इस बात का पूरा-पूरा हक है कि वह उस अपराधी या दोषी शासक को धर्म-बहिष्कृत कर दे। हिल्डे ब्रान्ड या ग्रेगरी सप्तम की यह इच्छा थी कि वह ईसाई चर्च को शुद्ध करके संसार भर में न्याय और समता के प्रचार एवं प्रसार का अप्रतिभ साधन बना दे। उसके विचारों के स्रोत **सन्त ऑगस्टाइन** के ग्रंथ थे। उसने सन्त ऑगस्टाइन के अतिरिक्त **प्लेटो** के साहित्य का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। इसीलिए उसकी विचार-धारा उतनी यथार्थवादी नहीं थी जितनी आदर्शवादी थी।

१३.२ **संत बर्नार्ड** (St. Bernard)--सन्त बर्नार्ड का जन्म सन् १०९१ में हआ था और मृत्यु सन् ११५३ में। सन्त बर्नार्ड सन्त स्वभाव के ज्ञानी धार्मिक और परोपकारी विचारों के थे। मध्ययुग के जिन विचारकों ने धर्मसत्ता की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया उनमें इनका नाम मुख्य रूप से लिया जाता था। महत्वकांक्षा तो उनमें लेशमात्र भी नहीं थी। कहा जाता है, उन्हें कई बार पोप का पद देने का प्रस्ताव किया गया किन्तु हर बार उन्होंने उसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उनका मत था कि पादरियों को केवल आध्यात्मिक ज्ञान की ओर ध्यान देना चाहिए और सांसारिकता से विरत रहना चाहिए। इतना होते हुए भी उनका मत था कि धर्मसत्ता की श्रेष्ठता अविवादास्पद है।

१३.३ **मेनगोल्ड** (Manegold)--मेनगोल्ड एलसेशिया (Alsatia) के **लटरबेक** (Lutterback) नगर का निवासी था। वह ग्रेगरी सप्तम का समकालीन था। धर्म-सत्ता के पक्ष में इसने भी प्रचार किया था। राज्य की उत्पत्ति के दैवीसिद्धान्त को वह मानता था। राजा की आज्ञा का पालन किये जाने पर वह विशेष बल देता था। उसका कहना था कि राजगद्दी का सम्मान अवश्य होना चाहिए। उस सम्मान को प्रकट करने का एक साधन

राजा की आज्ञा-पालन करना है। अतएव राजा की आज्ञा का पालन इसलिए नहीं होना चाहिए कि वह अन्य मनुष्यों के समान नहीं है या अलौकिक है; अपितु इसलिए कि वह एक ऐसी गद्दी पर बैठा है जिसका सम्मान करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। राजा की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि वह उन कर्तव्यों का पालन करता है या नहीं जो उसे सौंपे गये हैं। यदि राजा न्यायशील और धार्मिक है तो प्रजा उससे प्रेम करेगी। यदि वह ऐसा नहीं है और अपने उत्तरदायित्वों का पालन न करके क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है तो प्रजा को अधिकार है कि वह उसे पदच्युत कर दे। मेनगोल्ड का महत्व इसी बात में निहित है कि उसने राजा और प्रजा के संबंधों की अनुबंध (समझौते) के सिद्धान्त पर आधारित कर नये मत का प्रवर्तन किया। इस दृष्टि से **मेनगोल्ड** को **हॉब्स**, **लॉक** और **रूसो** का पूर्वज मानना होगा। अनुबंध के सिद्धान्त के आधार पर ही मेनगोल्ड ने पोप ग्रेगरी सप्तम द्वारा हेनरी चतुर्थ के बहिष्कार का समर्थन किया था। उसका कहना था कि यदि राजा प्रजा के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में असफल होता है तो प्रजा भी उसकी आज्ञाओं को मानने के लिए बाध्य नहीं की जा सकती।

१४. जॉन सैलिसबरी (John Salisbury)

१४.१ **जीवन परिचय**—मध्ययुग के विचारकों में सैलिसबरी निवासी जॉन को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। यद्यपि राजशास्त्र के क्षेत्र में उसका कोई मौलिक अनुदाय नहीं है लेकिन उसने सबसे बड़ा काम यह किया कि प्रचलित राजदर्शन के समस्त विचारों का संग्रह करके उनको क्रमबद्ध रूप प्रदान किया। मध्ययुग की अव्यवस्था को देखते हुए यह कोई साधारण काम न था। उसका जन्म सन् १११५ में हुआ था। उसे उच्च शिक्षा प्राप्त हुई थी। प्रतिभा-सम्पन्न तो वह था ही। उसकी शिक्षा और बुद्धि-कुशलता से प्रभावित होकर उसे अल्पायु में ही कई उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंप दिए गये थे। उसने तीन बड़े पादरियों के निजी सचिवों के पदों पर काम किया। इन बड़े पादरियों में **टॉमस बेकट**[1] (Thomas Becket) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जॉन को बाद में चार्ट्रेस का बिशप नियुक्त किया गया। इस पद पर उसने चार वर्ष तक काम किया और इसके बाद सन् ११८० में उसकी मृत्यु हो गयी।

१४.२ **विचारधारा और कृतित्व**—जॉन सैलिसबरी पोप ग्रेगरी सप्तम की ही भाँति धर्मसत्ता की श्रेष्ठता का अत्यन्त सबल पोषक था। वह सामाजिक भ्रष्टाचार का बड़ा जबर्दस्त विरोधी था। उसने पादरियों के लोभ, मोह और आचरण की अशुद्धताओं की भी बड़ी तीव्र निंदा की थी। उसने ग्रंथ लेखन कार्य पाँच वर्ष (११५५-५९) तक किया और समकालीन राजनीतिक विचारों को क्रमबद्ध रूप से संकलित कर शास्त्रीय रीति से उनकी व्याख्या की। उसने दो अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की। पहिली तो **पॉलीक्रेटिकस** (Policraticus) है और दूसरी **मेटलॉजिकस** (Metalogicus) है। इन दोनों पुस्तकों में पॉलीक्रेटिकस को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। यह पुस्तक आठ भागों में विभक्त है। पहले भाग में १३ अध्याय हैं, दूसरे में २९, तीसरे में १५, चौथे में १२, पाँचवें में १७, छठे में २९, सातवें में

---

[1] **कैण्टरबरी के आर्कबिशप तामस बेकेट की सन् ११७० में इंगलैण्ड के राजा हेनरी द्वितीय ने हत्या करा डाली थी। इसका कारण यह था कि बेकेट ने क्लेरेण्ड संहिता के उस अंश का विरोध किया था जिसके अनुसार गिरजा के न्याय संबंधी कुछ अधिकार सामान्य न्यायालयों को दे दिये गये थे। बाद में हेनरी द्वितीय ने जब बेकेट की महानता अनुभव की तो क्रोधावेश में किये अपने कृत्य पर उसे घोर पश्चात्ताप हुआ और उसने कई बरसों तक कैण्टरबरी के गिरजाघर में जाकर शोक मनाया था।**

१४ और आठवें में २९ अध्याय हैं। पुस्तक का उद्देश्य जनसत्ता के बीच शासक की स्थिति की विवेचना करना है। पुस्तक के पहले भाग में यह बतलाया गया है कि सत्ता का मद शासकों को किस प्रकार अंधा बना देता है और इस मद से बचने के क्या उपाय हैं ? 'जॉन' सलाह देता है कि द्यूत-क्रीड़ा और आखेट से राजाओं को बचना चाहिए। अपने मत की पुष्टि में उसने अनेक दृष्टान्त भी दिये हैं। आखेट की बुराइयाँ बतलाते हुए उसने एक्टेअन (Actaeon) नाम के एक शिकारी की चर्चा की है जिसे उन खूँखार कुत्तों ने मार डाला था जिनको उसने शिकार करना सिखाया था। पुस्तक के दूसरे भाग में ज्योतिष विद्या संबंधी बातें हैं। जॉन ने बतलाया है कि स्वप्नों, शकुनों आदि की सहायता से शासक किस प्रकार भविष्य में होनेवाली घटनाओं का अनुमान कर सकता है। तीसरे भाग में धनिक वर्ग के स्वार्थी और खुशामदी स्वभाव का विवरण है। इसी में बतलाया गया है कि अपने तथा राज्य के हित में शासक को धनिकों की चाटुकारिता से क्यों दूर रहना चाहिए। चौथे और पाँचवें अध्यायों में राजा, राज्य और विधि-संबंधी समकालीन विचारों का क्रमबद्ध संकलन है। राजा को विद्यार्जन करना चाहिए। उसे प्रियभाषी होना चाहिए। राजा का विधिवेत्ता होना भी लाभदायी होता है। राज्य संबंधी सावयविक कल्पना भी इसी भाग में दी गई है। छठे भाग में सेना और दण्ड व्यवस्था संबंधी विचार हैं। सातवें और आठवें भाग में विदेशियों के षड्यंत्रों और ठगों से सावधान किया गया है और अत्याचारी शासक के वध की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। उसने अपनी पुस्तकों के लिखने में बाइबिल और यूनानी राजदर्शन से पर्याप्त सहायता ली थी। उसकी पुस्तक मेटलॉजिकस पर अरस्तू के सावयवी राज्य की कल्पना का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ता है।

१४.३ धर्मसत्ता और राजसत्ता—जॉन सैलिसबरी के विचारों में धर्मसत्ता और राजसत्ता सम्बन्धी विचारों का प्राथमिक महत्व है। यह तो हम बतला ही चुके हैं कि वह धर्मसत्ता का अत्यन्त प्रबल समर्थक था; किन्तु इसके साथ ही वह राजसत्ता को अत्यन्त हेय दृष्टि से भी देखता था। उसका कहना था कि राजा ईश्वरीय सत्ता का प्रतिनिधि अवश्य है; लेकिन उसे यह प्रतिनिधित्व चर्च द्वारा ही मिला है। वस्तुतः राजसत्ता भी चर्च की है; किन्तु, वह इतनी तुच्छ है कि उसका प्रयोग करना उसकी मर्यादानुकूल नहीं है—इसीलिये राजसत्ता राजा को उपयोग करने के लिये दे दी गई है। यदि राजा उस सत्ता का दुरुपयोग करता है तो चर्च के अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे उसे ऐसा करने से रोकें। सामान्य अवस्था में धर्मसत्ता को अपने आपको आध्यात्मिक क्षेत्र में ही सीमित रखना चाहिए। सांसारिकता की छोटी-मोटी बातों में धर्माधिकारियों द्वारा हस्तक्षेप किया जाना मर्यादानुकूल नहीं है। राज्य तथा राजा को समझना चाहिए कि वे चर्च के सेवक हैं। राज्य का लक्ष्य है ऐसे अविनाशी चिरन्तन सत्य की खोज करने की सुविधाएँ उपलब्ध करना जिनमें मानवीय जीवन का कल्याण निहित है। ऐसा तभी हो सकता है जब मानवमात्र का जीवन सुरक्षित हो। अतएव राज्य का प्राथमिक कर्तव्य जीवन-रक्षा की समुचित व्यवस्था करना है। इसके बाद सत्य की शोध की दिशा में तभी बढ़ा जा सकता है जब धर्मसत्ता और राजसत्ता में पूर्णतः सामंजस्य हो।

१४.४ राज्य की सावयविक कल्पना—राज्य की सावयविक कल्पना सबसे पहले अरस्तू ने की थी। अरस्तू के किसी ग्रंथ का साक्षात् प्रभाव जॉन सैलिसबरी पर पड़ा है या नहीं—यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु मध्ययुग में इस प्रकार की कल्पना को किसी ग्रंथ में लिपिबद्ध

करने का श्रेय जॉन को ही है। उसने अपनी पुस्तक "**पॉलिक्रेटक्स**"[१] के चौथे और पाँचवें भाग के कुल २९ अध्यायों में इस कल्पना की विशद रूप से विवेचना की है। उसने राज्य और शरीर—इन दोनों के बीच गहरी सादृश्यता स्थापित की है। जॉन का कहना था कि राज्य में धर्मसत्ता का स्थान वही है जो शरीर में आत्मा का। जिस प्रकार शरीर में रहने वाली आत्मा प्रत्यक्षतः सांसारिक कार्यों से विरत रहती है और समय-समय पर कुमार्ग पर जाने से सावधान करती रहती है, उसी प्रकार धर्मसत्ता भी राजसत्ता को अन्याय और विनाश के मार्ग पर जाने से रोकता है। राजसत्ता की तुलना सिर से की गयी है। नेत्र, नासिका, कान आदि राज्य के विभिन्न प्रान्तों के राज्य पाल (गवर्नर) बतलाये गये हैं। मुँह की तुलना राजा से की गयी है। प्रशासनाधिकारियों (Civil administration) तथा सेना को राज्य के दो हाथ बतलाया गया है। किसानों तथा कारीगरों को राज्य में वहीं स्थिति है जो शरीर में पैरों की। जिस प्रकार शरीर बिना पैरों के खड़ा नहीं रह सकता—इसी प्रकार राज्य भी बिना किसान और कारीगरों के खड़ा नहीं रह सकता। राज्य परिषदों की तुलना हृदय से की गयी है। जॉन ने बतलाया है कि चिकित्सक शरीर को देखभाल करता है। ठीक यही कार्य राजनीतिज्ञ और दार्शनिक का भी है। राजदार्शनिक राज्य की देखभाल करता है और देखता है कि राज्य को किस प्रकार स्वस्थ और सबल बनाये रखा जा सकता है। राजा का भी वह यही काम मानता था। उसने रोम के इतिहास का गहरा अध्ययन किया था। रोमन राजाओं में **ट्राजन और आगस्टस** का वह भक्त था। समकालीन राजाओं में **हेनरी द्वितीय** की वह बड़ी सराहना करता था। राज्य के सावयविक स्वरूप को समुचित विवेचना करने के उपरान्त जॉन ने यह भी बतलाया है कि राज्य को कौन-कौन सी बुराइयाँ खोखला बना देती हैं।

१४.५ **राजा और विधि**—जॉन सैलिसबरी ने राजा के कर्तव्यों की विवेचना करते हुए बतलाया है कि लोकप्रिय गुणवान राजा क्या-क्या करता है। प्रजावत्सल राजा का सबसे बड़ा लक्षण तो यह होता है कि वह राज्य का शासन कार्य विधिसम्मत रीति से चलाता है। अपने आपको विधियों से ऊपर नहीं मानता और विधियों को देववाणी की भाँति सम्मानपूर्वक देखता है। वह उदार होता है। मृदुभाषी होता है। चर्च और पादरियों का सम्मान करता है। ऐसा कोई विधि नहीं बनाता जो धार्मिक विधियों (Canon Law) के प्रतिकूल हो। प्रत्येक लौकिक और सांसारिक कार्य धर्म और चर्च की विधियों के अनुकूल होना चाहिए और क्योंकि राज्य का अध्यक्ष राजा होता है और धार्मिक विधियों का सबसे बड़ा व्याख्याता पोप होता है, अतएव पोप का सम्मान करते हुए उसकी आज्ञाओं को मानना राजा का पुनीत कर्तव्य है। जॉन ने अत्याचारी और निरंकुश राजा तथा दयालु और प्रजावत्सल राजा का अन्तर बतलाया है। मध्ययुग के किसी लेखक के विचार इस संबंध में इतने स्पष्ट नहीं हैं। जॉन का कहना है कि जो राजा विधियों के अनुकूल शासन करता है, वह यदि कठोर हो तब भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं किया जा सकता। अत्याचारी और निरंकुश शासक वही समझा जायगा जो विधि के प्रतिकूल आचरण करे। ऐसी अवस्था में राजा को पदच्युत कर देना चाहिए। यही नहीं, राजगद्दी से उतार कर उसको प्राणदण्ड भी दे दिया जाना चाहिए क्योंकि वह सारे राज्य

---

१ 'पॉलिक्रेटिकस' शब्द का वस्तुतः क्या अर्थ है यह नहीं कहा जा सकता। इस संबंध में श्री पूल द्वारा लिखित 'इलस्ट्रेशन ऑफ मेडिवल थॉट (लन्दन १८८४) नाम की पुस्तक के पृष्ठ २१६ पर कुछ प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक के कुछ भागों का अनुवाद जॉन डिकिन्सन ने किया है जिसका नाम "दि स्टेटमैन्स बुक ऑफ जॉन ऑफ सैलिसबरी" है। श्री कन्हैयालाल वर्मा के अनुसार इस तरह का नाम रखने का अभिप्राय संभवतः नाम बढ़ने की प्रवृत्ति ही मालूम देती है।

की शांति और व्यवस्था को खतरे में डाल सकता है। ऐसा व्यक्ति समस्त मानवता के साथ शत्रुता का व्यवहार करता है। अतएव ऐसे व्यक्ति को जीवित नहीं रहने देना चाहिए। उसने इस शंका का समाधान किया कि आरंभ में अत्याचारी राजा का उत्थान क्यों होता है। जॉन का कहना है कि पापी शासकों का उत्थान उनके दुखद अन्त की ही ओर इंगित करता है। उसने लिखा है कि राजा को मारने में धर्मसम्मत उपायों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। राजा को विष देकर उसकी हत्या करना उसे ग्राह्य न था, क्योंकि बाइबिल में इस प्रकार किसी को मारना धर्मसम्मत नहीं कहा गया है।[1]

१४.६ **आलोचना**—पॉलीक्रेटिकस तथा मेटलॉजिकस में जो विचार जॉन सैलिसबरी ने प्रकट किये हैं यदि हम उन पर आलोचनात्मक दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि उसके विचारों में नैतिकता का अधिक पुट है। सांविधानिकता तथा विधिसम्मत बातों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है। इसमें संदेह नहीं है कि उसने मध्ययुग के राजनीतिक विचारों का बड़ा अच्छा संकलन किया है तथा उसके संकलन में अन्य मध्ययुग के विचारकों की अपेक्षा अधिक क्रमबद्धता भी है—तब भी विचारों को उपस्थित करने में उतनी व्यवस्था नहीं दिखलायी गयी है जितनी अपेक्षित है।

१५. राजा और राज्य की स्थिति

सामन्तवादी युग में राज्य की कल्पना को अत्यन्त पवित्र दृष्टि से देखा जाता था। इसी कारण राजा भी सबकी श्रद्धा का केन्द्र होता था, क्योंकि वही राज्य का अध्यक्ष हुआ करता था। उसे सांसारिक व्यक्ति नहीं समझा जाता था अपितु वह दैवी प्रतीक माना जाता था। साधारण अवस्था में राजा का विरोध उतना ही गर्हित समझा जाता था जितना नास्तिक होना। मध्ययुग के सामन्तवादी विचारकों ने राजा का विरोध करने का अधिकार प्रजा को दिया था किन्तु असाधारण अवस्थाओं में अत्यन्त सावधानी के साथ उक्त अधिकार के प्रयोग का परामर्श दिया था। राजा के विरुद्ध कार्रवाई करने में इतनी अधिक सतर्कता इसलिये आवश्यक थी क्योंकि वह राज्य की एकता का प्रतीक माना जाता था। अंधयुग की अराजकता और अव्यवस्था तथा अशान्ति से समकालीन जनता ने यह शिक्षा ली थी कि यदि राजा थोड़ा बहुत निरंकुश और अत्याचारी भी हो तो भी वह त्याज्य नहीं, कारण उसकी वजह से कम से कम शान्ति और व्यवस्था तो कायम रहती है। अशान्ति तथा अव्यवस्था की दशा में तो सत्ता इस प्रकार विकेन्द्रित हो जाती है कि किसी भी व्यक्ति का प्राण या उसका धन सुरक्षित नहीं रहता। राजा में ही राज्य की सम्पूर्ण सत्ता परिवेष्ठित मानी जाती थी। यह कल्पना मूलतः **सिसरो** तथा अन्य रोमन विधिवेत्ताओं द्वारा प्रकट किये गये विधि संबंधी विचारों पर आधारित थी। राजा को विधि द्वारा सर्जित माना जाता था। चर्च के पादरियों ने भी आगे चल कर अपने लिखित निबंधों, प्रवचनों तथा उपदेशों में इसी रोमन विचार की परिपुष्टि की। **जान सलिसबरी** ने भी कठोर शासक के उन अत्याचारों को भी बरदाश्त करने की सलाह दी जो विधि के प्रतिकूल न हों। राजा को ही समस्त विधियों का जनक माना जाता था। उसे किसी न्यायालय में किसी अपराध के लिए उत्तरदायी बना कर उपस्थित नहीं किया जा सकता था। किन्तु मध्ययुग में अनुबंधों का कुछ ऐसा ताना-बाना बना कि एक दूसरे के सहयोग बिना किसी का भी काम नहीं चला। इसीलिए राजा अपने आपको विधि से ऊपर समझते हुए भी अपने परामर्शदाता सामन्तों की सलाह के अनुसार कार्य करता रहा। यद्यपि ब्रेक्टन ने अपनी पुस्तक में राजा की स्थिति के संबंध में स्पष्टतः यह लिख दिया है, "अपने राज्य में राजा की बराबरी करने वाला कोई भी नहीं होना चाहिए क्योंकि राजा के समान ही यदि कोई दूसरा

[1] Bowle, *Western Political Thought*, pp. 188-194.

दावेदार पैदा हो जाता है तो 'समान व्यक्ति एक दूसरे पर शासन नहीं कर सकते' इस सिद्धांत के अनुसार राजा की सत्ता निष्क्रिय हो जायगी। राजा के ऊपर भी कोई उससे अधिक शक्तिशाली सत्ता नहीं होनी चाहिए--क्योंकि यदि ऐसा होता है तो राजा का दर्जा अपनी प्रजा से नीचा हो जायगा और यह असंभव है कि जो निम्नतर हों वे उनके समान हो सकें जिन्हें अधिक शक्ति प्राप्त है। लेकिन जहाँ के राजा के ऊपर किसी व्यक्ति विशेष की सत्ता नहीं होनी चाहिए वहीं राजा को भी ईश्वर तथा विधि की सत्ता के सम्मुख नतमस्तक रहना चाहिए।"[1]

ब्रैकटन ने ही राजा की अन्य दो स्थितियों का भी निरूपण किया है। उसने बतलाया है कि एक तो राजा को राज्य की समस्त भूमि का स्वामी समझा जाता था और दूसरी स्थिति में वह सत्ता का प्रतीक माना जाता था। पहली स्थिति के कारण अनुबंधजनित (समझौतों के कारण) जो उत्तरदायित्व उसके कंधों पर आ पड़े थे--उनको निपटाने के लिये उसने दरबारों का संघटन किया था जो न्यायालय का कार्य करते थे। यही दरबार आगे चलकर संसद् (Parliament) के रूप में विकसित होगये। इंगलैण्ड की संसद तक को कुछ काल पूर्व तक विधायिनी संस्था के बजाय उच्चतम न्यायालय के रूप में ही अधिक समझा जाता था।

१६. सामन्तवादी युग का महत्व और अनुदाय

इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व संक्षेप में यह बता देना अनुचित न होगा कि राजनीतिक विचारों के इतिहास में सामन्तवादी युग का क्या महत्व है और उसके क्या राजनीतिक अनुदाय हैं। आधुनिक युग के ऐसे अनेक संवास हैं जिनकी उत्पत्ति सामन्तवादी युग में ही हुई थी, उदाहरणार्थ राज दरबार का अन्ततः संसद (Parliament) के रूप में विकसित हो जाना। राष्ट्रमूलक राज्यों की कल्पना का अध्याय भी सामन्तवादी संवासों तथा विभिन्न अंगों के संयुक्तीकरण द्वारा ही आरंभ होता है। राज्य की उत्पत्ति के संबंध में अनुबंध के सिद्धान्त का भी इसी युग में बीज-वपन हुआ। सामन्तवाद में प्रत्येक राजनीतिक और सामाजिक महत्व का कार्य अनुबंध तथा व्यक्तिगत श्रद्धा पर आधारित रहता था। इसीलिए तत्कालीन प्रतिभा-सम्पन्न विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में भी उक्त सिद्धान्त खोज निकाला। इस सिद्धान्त की ऐतिहासिकता चाहे जितनी संदिग्ध हो किन्तु इतना सत्य है कि राजा की उत्पत्ति के दैवी-सिद्धान्त के उन्मूलन में अनुबंध के सिद्धान्त ने बड़ी सहायता प्रदान की। विधि के शासन (Rule of Law) का सिद्धान्त भी सामन्तवादी युग की ही देन है। उन दिनों ही सबसे पहले यह आवाज उठायी गयी थी कि राजा को भी प्रजा की ही भाँति विधि के प्रति आज्ञापालन का भाव रखना चाहिए। राज्य के अध्यक्ष को न्यायालय की पकड़ से दूर रखने की परम्परा भी सामन्तवादी युग में ही आरंभ हुई जो आज भी किसी न किसी रूप में प्रत्येक राष्ट्र-राज्य में विद्यमान है। इंगलैण्ड के राजा को, अमेरिका या भारत के राष्ट्रपति को, सोवियत रूस के संघ के अध्यक्ष (राष्ट्रपति) को कभी भी राज्य के किसी भी सामान्य न्यायालय के सम्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकता। यदि उनकी गतिविधियाँ राज्यद्रोही हों तो ऐसी दशा में इन पर महाभियोग (Inpeachment) लगा कर अधिक से अधिक इन्हें संसद, राज्य-परिषद् अथवा लोकसभाओं के सम्मुख उपस्थित किया जा सकता है। राज्य के अध्यक्ष को राजद्रोही अपराध करने की दशा में विधान-मण्डल के समक्ष उपस्थित करने का विधान, सामन्तवादी युग की उस प्रथा की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार राजा को दरबार के सम्मुख अपने कार्यों का जवाब देना पड़ता था।

---

[1] A passage from Brackton's De Legibus et Consultudinibus Angliae quoted by G. H. Sabine in *A History of Political Theory*, p. 195.

१२

धर्मसत्ता और राजसत्ता का द्वन्द्व (१)

१. धर्मसत्ता और राजसत्ता के सम्बन्धों की समस्या––२. उभयसत्ताओं में विभेद––३. लोथेयर हेनरी चतुर्थ के पोप से संघर्ष––४. धर्मसत्ता की सुदृढ़तम स्थिति का युग––५. पोप-तंत्र द्वारा शक्ति संचय––६. धर्मसत्ता की श्रेष्ठता की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि––७. धर्मसत्ता के दावों की समालोचना––८. राजसत्ता को दण्डित करने के साधन––९. द्वन्द्वकालीन विचारक––१०. सन्त टामस एक्वीनाज––११. धर्मसत्ता और राजसत्ता सम्बन्धी टामस का मत––१२. राजदर्शन के इतिहास में टामस का स्थान––१३. एजीडियस रोमुनस।

१. धर्मसत्ता और राजसत्ता के सम्बन्धों की समस्या

धर्मसत्ता और राजसत्ता के द्वन्द्व के कारणों की व्याख्या तथा तत्सम्बन्धी विवाद में धर्मसत्ता के समर्थक विचारकों के मतों की चर्चा करना प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य है। किन्तु ऐसा करने के पूर्व यह जान लेना उचित ही होगा कि जिन दिनों मध्ययुग में धर्म-सत्ता अदमनीय शक्ति के रूप में उभर रही थी और अपने शक्तिकाल के स्वर्णयुग में प्रवेश कर रही थी उस समय धर्मसत्ता और राजसत्ता के परस्पर क्या सम्बन्ध थे। दोनों सत्ताओं के सम्बन्धों की जानकारी मध्य युग के ज्ञान-कोष की कुंजी है।

मध्य युग वैसे तो अराजनीतिक और अव्यवस्थित था किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि उन दिनों कोई राजनीतिक समस्या थी तो यही कि धर्मसत्ता और राजसत्ता के सम्बन्धों का आदर्श रूप क्या हो और यदि वह आदर्श स्थिर हो जाता है तो उसकी प्राप्ति के क्या साधन हो सकते हैं ? धर्मसत्ता और राजसत्ता दोनों ही उन दिनों अपनी महत्ता के प्रति अतिरिक्त रूप से जागरूक थीं और अपनी-अपनी प्रधानता स्वयंसिद्धि सत्य के रूप में उप-स्थित करना चाहती थी। लेकिन यदि हम नवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक की सत्ता की महत्ता को ही अधिक बड़ा सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। वे चाहते थे कि विश्व के राजनीतिक जगत् के ताने-वाने और धार्मिक जगत् में पोपतंत्र उच्चतम शक्ति के आसन पर रहे। धर्मसत्ता की महत्ता के प्रतिपादक विचारकों की तर्कमाला का स्रोत बाइबिल और धार्मिक अधिकारियों द्वारा, विशेषरूप से **सन्त ऑगस्टाइन** और **ग्रेगरी महान्** की, लिखित सामग्री हुआ करती थी। उन्हीं दिनों स्कॉलैस्टिक दर्शन के प्रचार का आन्दोलन भी चला था। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यही था कि विवेकयुक्त रीति दार्शनिक ज्ञान का धर्मादेशों से इस प्रकार सम्बन्ध जोड़ दिया जाय कि जहाँ दोनों के क्षेत्र एक समान हों वहाँ धर्मपुस्तकों तथा धर्म सम्बन्धी आज्ञाएँ सत्य मान ली जायँ। नवीं शताब्दी से लेकर लगभग ३०० वर्षों तक अनेक विद्वानों ने दर्शन की इस शाखा का प्रचार और प्रसार किया। लेकिन इस दर्शन के लिए जितनी तर्क-सामग्री की आवश्यकता थी वह उन दिनों उपलब्ध न थी। तेरहवीं शताब्दी में अरस्तू के सभी ग्रंथ प्राप्त हो गये। इनमें उसके तर्क-शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ भी थे। अरस्तू के पूर्व स्कॉलस्टिक विद्वान् प्लेटो तथा स्टोइक विचारकों द्वारा रचित दर्शन ग्रंथों पर ही निर्भर रहा करते थे। अरस्तू के ग्रंथों की खोज के बाद सर्वाधिक गहन अध्ययन सन्त टॉमस एक्वीनाज ने किया। टॉमस ने राजशास्त्र का उद्धार किया। उस समय तक राजशास्त्र को धर्मशास्त्रों ने जकड़ रक्खा था। स्कॉलस्टिक विद्वान् के रूप

में टॉमस का यह बड़ा जबर्दस्त अनुदाय था। लेकिन यह बहुत बाद की बात थी। टॉमस के पूर्व जब राजनीति पर या यों कहना चाहिए कि राजसत्ता पर धर्मसत्ता हावी थी, उस समय यूनान और रोम के दार्शनिकों और राजनीतिशास्त्रियों की लिखित सामग्री बहिष्कृत सी होकर एक ओर पड़ी रहती थी। बीच-बीच में इतिहास का प्रयोग कर लिया जाता था। यह प्रयोग भी ऐसा होता था कि लोग अपने सिद्धान्त या तर्क के पक्ष में जो भी ऐतिहासिक घटना पा जाते थे उसका उपयोग अपने मत की पुष्टि के लिए कर लेते थे। ऐसा नहीं होता था कि सम्पूर्ण इतिहास का भलीभाँति अध्ययन कर लिया जाय और तब उस अध्ययन के आधार पर कुछ सिद्धान्तों का निरूपण किया जाय तथा उन सिद्धान्तों के अनुसार समकालीन घटनाचक्र का विश्लेषण कर कोई राजनीतिक कल्पना या अनुमान प्रकट किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्मसत्ता और राजसत्ता का संघर्ष ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों धर्मसत्ता के समर्थकों ने बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट तथा धर्माधिकारियों के लेखों और प्रवचन सामग्री का प्रयोग और अधिक बढ़ा दिया। न्यू टेस्टामेण्ट का प्रयोग न्यूनतम स्थानों पर किया जाता था। ओल्ड टेस्टामेण्ट का दृष्टिकोण राजसत्ता के विरुद्ध था। वह उसकी कटु आलोचना करता था। उसका दृष्टिकोण अधिक धार्मिक था। इसीलिए वह चर्च के लिए अधिक उपयोगी था इसके विपरीत न्यू टेस्टामेण्ट राजसत्ता के प्रति अधिक विनम्रता प्रकट करता था और उसमें राजनीति के प्रति अधिक उदासीनता भी दिखलायी गयी है। इसके अलावा चूँकि ओल्ड टेस्टामेण्ट में धर्मभीरु राजाओं की सफलताओं को विशेष रूप से चर्चा की गयी है इसलिये धर्माधिकारियों को यह कहने का मौका मिल गया कि राजसत्ता को धर्मसत्ता के अधीन रहना चाहिए—यही दैवी इच्छा है।

यहाँ एक बात स्मरण करा देना अनावश्यक न होगा। वह यह कि मध्ययुग के आरंभिक काल में सार्वभौमिकता की कल्पना अत्यन्त लोकप्रिय हो गयी थी। तत्कालीन समाज के कर्णधार-वर्ग में सार्वभौमिकता की कल्पना घर कर गयी थी। कहा जाता था कि यूरोप का एक राजा होना चाहिए और एक ही धर्म। सार्वभौमिक राज्य और सार्वभौमिक धर्म की कल्पना में रोमन साम्राज्य के स्वप्न तथा ईसाई धर्म के माननेवाले विश्व-व्यापी समाज की कल्पना का बेजोड़ मिश्रण हो गया था। यह कहा गया है कि धर्मसत्ता और राजसत्ता के अलग-अलग अध्यक्ष हों और दोनों सत्ताओं का एक ऐसा समन्वय स्थापित हो जाय कि वे दोनों एक-दूसरे के हित में कार्य करें। यह भी मान लिया जाय कि समस्त सत्ता दैवी स्रोतों से प्राप्त होती है। दैवी स्रोतों का साधन क्या है? ईसाई चर्च। अतएव ईसाई चर्च को उच्चतर सत्ता मान लिया जाय।

अतएव सार्वभौमिकता के सिद्धान्त में जिस समाज की कल्पना की गयी वह तो एक था किन्तु उस समाज के शासन के लिए दो सत्ताओं की कल्पना की गयी। एक धर्मसत्ता अर्थात् ईसाई चर्च की सरकार और दूसरी राजसत्ता। दो सत्ताओं के अस्तित्व की जो विवेचना ईसाई लेखकों ने की और भौतिकतामय संसार तथा आध्यात्मिक जगत के बीच जो सीमारेखा खींची उससे दो सत्ताओं का सिद्धान्त रूढ़िवादी रूप में परिवर्तित हो गया।

जब तक धर्मसत्ता प्रबल रही वह राजसत्ता को बराबर अपने अधीन समझती रही। पोप सम्राट् को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने कहा था, "इस संसार का शासन करनेवाली दो सत्ताएँ हैं—धर्माधिकारियों की पुनीत सत्ता और राजकीय सत्ता। इन दोनों सत्ताओं में धर्मसत्ता गुरुतर है क्योंकि फैसले के दिन (अर्थात् प्रलयकाल में) ईश्वर के सम्मुख राजा के कृत्यों का भी उत्तर धर्म-पुरोहितों को ही देना होगा।"[१] इस उद्धरण से यह कल्पना

---

[१] There are two systems under which this wolrd is governed, the sacred authority of the priests and the royal power. Of these the

की जा सकती है कि धर्मसत्ता को कितना अधिक महत्व दिया जाता था और ईसाई चर्च के उच्चतम अधिकारी पोप किस प्रकार तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक जीवन का नियंत्रण किया करते थे। राजसत्ता की तुलना में धर्मसत्ता को उच्चतर स्थान दिलाने के लिए भाँति-भाँति की उपमाएँ दी जाती थीं। कभी धर्मसत्ता को सूर्य तथा राजसत्ता को चन्द्रमा बतलाया जाता था, तो कभी राजसत्ता को शरीर और धर्मसत्ता को आत्मा सिद्ध करने की चेष्टा की जाती थी। धर्मसत्ता को आध्यात्मिक और लोकोत्तर जीवन की शक्ति मानते हुए राजसत्ता को सांसारिक एवं लौकिक शक्ति सिद्ध किया जाता था। आध्यात्मिक शक्ति को श्रेष्ठतर घोषित करने के लिए जो तर्क दिए जाते थे वे मुख्यतः दो प्रकार के होते थे। पहले प्रकार के तर्कों का आशय यह कहा जा सकता है कि धर्मसत्ता को उसके समर्थक दैवी मानते थे और इस नाते कहते थे कि वह स्वभावतः लौकिक सत्ता से श्रेष्ठ है। पोप सिलवेस्टर ने एक बार लिखा था कि राजाओं के मुकुट, धर्म-पुरोहितों की टोपियों की तुलना में ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार सोने की तुलना में सीसा। इसका अर्थ यह था कि धर्म-पुरोहितों की टोपियाँ स्वर्ण-तुल्य हैं और राजमुकुट सीसे के समान। पीटर डेमियन ने भी इसी प्रकार कहा था कि पोप बादशाहों के भी बादशाह हैं—वे महाराजाओं में महाराजाधिराज हैं। इनका सभी गरिमापूर्ण और मर्यादावान समाजों में सम्मान किया जाता है। दूसरे प्रकार के तर्कों की रेखा पोप के उस अधिकार की ओर इंगित करती थी जिसके अनुसार उन्हें राजसत्तावान् व्यक्तियों के उन मामलों में भी हस्तक्षेप का अधिकार दिया गया जिन्हें नैतिक कहा जा सकता था। **लोथेयर** और **हेनरी चतुर्थ** के मामले इसी अधिकार के ज्वलन्त प्रमाण हैं। नैतिकता के सिद्धान्तों के विरुद्ध आक्रमण करनेवाले राजाओं को पहले तो धर्म-वहिष्कृत कर दिया जाता था। इसके बाद भी यदि राजा न मानते तो पोप उनको राजसिंहासनच्युत कर सकते थे। इसके साथ ही प्रजा को भी पोप यह आदेश दे सकते थे कि वह ईसाई होने के नाते धर्म-विरोधी कृत्यों के अपराधी राजा के आदेशों को न माने। मध्ययुग की विवेक-सुषुप्तावस्था में इस प्रकार के अधिकार भी प्रयोगमें सफल हो जाते थे। चार्लमैन को राजमुकुट पहनाकर पोप ने जो परम्परा स्थापित कर दी थी उसके सम्बन्ध में आगे चलकर पोप तथा उनके समर्थकों ने यह कहना आरम्भ कर दिया कि राजसत्ता का स्रोत धर्मसत्ता ही है। लेकिन राजसत्ता भी बिना विरोध के धर्मसत्ता के आधिपत्य को केवल कुछ ही समय तक बर्दाश्त कर सकी। कुछ ही समय बाद धर्मसत्ता-विरोधी प्रतिक्रिया आरंभ हो गयी। राजसत्ता ने यह कहना आरंभ किया कि राजा की उत्पत्ति दैवी स्रोतों से हुई है, अतएव राजा केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है। अपने पक्ष के समर्थन में धर्मसत्ता विरोधियों ने **न्यू टेस्टामेन्ट** के तर्कों का आश्रय लिया जो ओल्ड टेस्टामेण्ट की तुलना में राजसत्ता के पक्ष का अधिक समर्थन करता था। न्यू टेस्टामेण्ट में **सन्त पॉल** की एक वाणी भी मिल गयी जिसमें उन्होंने कहा था कि "राजसत्ता" ईश्वर प्रदत्त शक्ति है। जो भी उसका विरोध करता है वह ईश्वर की आज्ञा का विरोध करता है।"[१] राजसत्ता के समर्थन

---

greater weight is with the priests in so far as they will answer to the Lord even for the kings on the last day of judgment." A letter from Pope Gelasius to the Emperor Anastasius as quoted by Prof. W. A. Dunning in his *Pol. Theories*, Vol. I, p. 166

[१] "The powers that be are ordained of God Whosover therefore risteth the power resisteth the ordinance of God,, *New Testament*, *Ibid.*, p, 178

में स्वर उठानेवाले धर्माधिकारियों में जर्मन पादरियों का नाम सबसे पहले लिया जाता है। इसका कारण यह है कि जर्मन पादरी जर्मन सम्राटों के प्रभाव में रहा करते थे और वे पोप से स्वतंत्र रहने के भी इच्छुक थे। किन्तु बाद में राजसत्ता को सर्वोत्तम समर्थन रोमन विधि संहिताओं से प्राप्त हुआ। **बारटोलस** (Bartolus) ने कहा कि सम्राट् को श्रेष्ठता अविवादास्पद है और इस सम्बन्ध में कोई भी शंका करना पाप है। **मार्सीलियो पेदुआ** ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किए। राजसत्ता के समर्थन में जो विचार प्रकट किए गए हैं उनके सम्बन्ध में हम विस्तारपूर्वक अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे। सम्प्रति राजसत्ता और धर्मसत्ता के सम्बन्धों के विषय में उनके पारस्परिक द्वन्द्व को दृष्टि में रखते हुए इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि "राजसत्ता के पोषकों ने ईसाई चर्च को लौकिक सत्ता के अधीन सिद्ध करके राज्य को चर्च बना दिया और पोपतंत्र के समर्थकों ने राजसत्ता को चर्च के अधीन बतलाकर चर्च को राज्य बना दिया।"

राजसत्ता और धर्म सत्ता की सापेक्षिक स्थितियों पर गत कुछ पृष्ठों में विचार कर लेने के उपरान्त अब हम उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर विचार कर सकते हैं जो राजसत्ता और धर्मसत्ता के द्वन्द्व के आरंभ होने के पूर्व तथा उसके दौरान में विद्यमान थीं।

३. उभय सत्ताओं में विभेद

जहाँ तक राजसत्ता और धर्मसत्ता के विभेद का प्रश्न है, वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो द्वन्द्वकाल में पनपी हो। राजसत्ता और धर्मसत्ता का विभेद तो स्वयं ईसा के समय में ही विद्यमान था। उन्होंने राजसत्ता के प्रति बिल्कुल उदासीनता दिखलायी थी और कहा था कि उनकी दुनिया इस सांसारिक जगत् से भिन्न है। ईसा का तात्पर्य उस समय आध्यात्मिक जगत् से था। जब उनके सामने लौकिक सत्ता और आध्यात्मिक सत्ता के संघर्ष का प्रश्न रखा गया तो उन्होंने यह कह दिया कि "जो सीजर का है वह सीजर को दो और जो ईश्वर का है वह ईश्वर को दो।" यही कारण है कि ओल्ड टेस्टामेण्ट में राजसत्ता का उल्लेख किसी महत्वपूर्ण स्थल पर असामान्य रूप से नहीं मिलता। इसी आधार पर धर्मसत्ता ने राजसत्ता से अपने आपको श्रेष्ठतर सिद्ध करने का प्रयास भी किया। दूसरे, ओल्ड टेस्टामेण्ट में जहाँ कहीं भी राजाओं का उल्लेख मिलता है—वहाँ-वहाँ राजाओं की अत्यन्त प्रतिकूल आलोचना की गयी है। इसी आलोचना के आधार पर पोप जब भी आवश्यकता पड़ती थी तभी राजसत्ता की बाइबिल की प्रसिद्ध मुहाविरेदार भाषा में आलोचना कर दिया करते थे। यह बात नहीं है कि राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच केवल ईसा ने ही विभेद किया हो—उनके बाद सन्त पॉल, सन्त एम्ब्रोज, सन्त ऑगस्टाइन और पोप गिलेसियस ने भी दोनों सत्ताओं का अस्तित्व सर्वथा अलग बतलाया। इन्हीं लोगों ने उभय सत्ताओं की सापेक्ष स्थितियों का विवरण देते हुए धर्मसत्ता को दोनों में श्रेष्ठतर बतलाया। इन सन्तों के विचारों का समर्थन हमें ल्योंस के पादरी (बिशप) **एगोबार्ड**, ह्रीम्स के बड़े पादरी **हिष्कमार** पोप **निकोलस प्रथम**, पोप **ग्रेगरी सप्तम** या **हिल्डेब्रांड, मेन गोल्ड, सन्त बर्नार्ड, जॉन सेलिसबरी सन्त टॉमस एक्वीनाज** और **पोप इन्नोसेन्ट तृतीय** द्वारा लिखित सामग्री में मिलता है। सम्राट् के राज्याभिषेक का कार्य सबसे पहले **चार्लमैन** के समय में आरंभ हुआ था। चार्लमैन ने जब लम्बार्ड जाति के आक्रमणकारियों को अपनी सेना से परास्त कर पोप की भूमि को उनसे मुक्त करा पोप के हाथों में सौंप दिया था, उस समय सन्त पीटर के गिरजाघर में

1 "The imperialists by subordinating the church made the state a church, the papalist subordinatiug the state made church a state" C. D. Burns, *Political, Ideas*, p. 103

सम्राट् चार्लमैन ईश्वर का स्मरण कर रहा था। पोप ने उस समय वहाँ आकर उसे राजमुकुट पहना दिया। उस समय इस घटना का भले ही कोई महत्व न प्रतीत हुआ हो किन्तु बाद में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पोप ने तथा उनके समर्थकों ने इसका पूरा-पूरा फायदा उठाया। इन्होंने कहा कि राजसत्ता की उत्पत्ति दैवी सिद्धान्त के अनुसार अवश्य हुई है किन्तु सत्ता को देने का निमित्त चर्च है और चर्च के अध्यक्ष पोप हैं--अतएव पोप द्वारा ही राजसत्ता राजा को मिलती है। इस रूप में पोप की स्थिति राजा या सम्राट् से श्रेष्ठतर है। जब राजसत्ताधारियों ने अपनी स्थिति को निर्बल पाया तो उन्होंने असन्तोष प्रकट किया। इस असन्तोष के परिणामस्वरूप संघर्ष अनिवार्य हो गया। जहाँ तक चार्लमैन का सम्बन्ध था, उसने अपने आपको किसी भी धर्मसत्ता के अधीन नहीं होने दिया। लेकिन उसके बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और वह बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों में बदल गया। ये रियासतें बहुत-से सामन्तों के अधीन थीं जिनमें से प्रत्येक शासक यह चाहता था कि वही साम्राज्य स्वीकार कर लिया जाय। अपनी स्थिति की पुष्टि के लिए ये प्रतिद्वंद्वी शासक पोप के समर्थन के इच्छुक थे। इन प्रतिद्वन्द्वियों में ओटो महान् ने अन्ततोगत्वा पोप का समर्थन प्राप्त ही कर लिया। धर्मसत्ता के श्रेष्ठतर हो जाने का प्राथमिक कारण राजसत्ता का निर्बल हो जाना था। यदि राजसत्ता गिरने के भय से आतुर होकर पोप का पल्ला पकड़ने की उत्कण्ठा प्रकट न करती तो ऐसी दशा न आती। कहा जाता है कि पवित्र रोमन साम्राज्य की नींव चार्लमैन के बाद पड़ी किन्तु तथ्यात्मक दृष्टि से पवित्र रोमन साम्राज्य का इतिहास ओटो महान् के शासनारूढ़ होने से ही आरंभ होता है।

पवित्र रोमन सम्राट् तथा रोमन पोप के सम्बन्धों की श्रृंखला से एक नया संघर्ष आरंभ हो गया। ओटो महान् चार्लमैन का वंशज था। चार्लमैन का साम्राज्य तो उसकी मृत्यु के पश्चात् नष्ट-भ्रष्ट ही हो गया था। इसलिए ओटो चार्लमैन के छिन्न-भिन्न साम्राज्य के एक अंश का ही स्वामी था। यह भाग भी जर्मनी में था। जर्मनी के एक सामंत या नरेश को पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् की पदवी का दे दिया जाना इटली के रहने वालों को बिल्कुल पसन्द न आया। इस असन्तोष में एक और संघर्ष की जड़ छिपी थी। इटली के निवासियों और रोमन सम्राटों की लड़ाई का एक कारण और भी था। ओटो महान् तथा उसके अन्य उत्तराधिकारी फ्रैंक जाति के थे। इटली के निवासी लम्बार्ड थे। लम्बार्डों को ही फ्रैंक जाति के सम्राट् चार्लमैन ने पराजित किया था। इसलिए दोनों में विजित और विजेताओं की भावना भी थी। फलस्वरूप पवित्र रोमन सम्राटों के विरुद्ध इटली में लगातार विद्रोह होते रहे। लगभग ११० वर्ष तक तो यह विद्रोह सफल न हो सके किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पोप तथा पवित्र रोमन सम्राटों की निर्बलताओं के कारण इटली में जर्मनों का आधिपत्य समाप्त कर दिया गया।

२. लोथेयर और हेनरी चतुर्थ के पोप से संघर्ष

गत् अध्याय में हम सन्त एम्ब्रोज तथा सम्राट् वैलनटीयन के संघर्ष की चर्चा कर चुके हैं किन्तु यह संघर्ष उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना लोरेन के राजा **लोथेयर** तथा **हेनरी चतुर्थ** से होनेवाला पोपों का संघर्ष। इन संघर्षों के परिणामस्वरूप एक अत्यन्त महत्वपूर्ण यह सिद्धान्त स्थिर हो गया कि पोप को नैतिकता सम्बन्धी मामलों में बोलने का अधिकार है। लोरेन के नरेश लोथेयर का मामला इस प्रकार बतलाया जाता है कि लोथेयर ने अपनी परिणीता रानी का परित्याग कर दिया था और एक रखैल स्त्री से विवाह कर लिया था। रानी ने राजा के इस कृत्य के विरुद्ध पोप से अपील की। पोप ने सारे मामले पर भली-भाँति विचार कर लेने के पश्चात् रानी का पक्ष लेने का निश्चय किया। राजा लोथेयर ने प्रारंभ में तो इस मामले को व्यक्तिगत मानकर किसी की सलाह लेना ही उचित न

समझा परन्तु बाद में उसने अपना प्रभाव डालकर अपने राज्य के धर्माधिकारियों की स्वीकृति प्राप्त कर लो। राजा **लोथेयर** का समर्थन उसका शक्तिशाली भाई **लुई भी** कर रहा था। किन्तु पोप ने लोथेयर को आदेश दिया कि वह इस प्रकार के अनैतिक आचरण से तुरन्त विमुख हो जाय; परित्यक्ता रानी को पुनः महल में वापस बुला ले। यह आदेश **पोप निकोलस प्रथम** ने भेजा था। पोप ने यह भी कहलवा दिया था कि यदि राजा लोथेयर उसकी आज्ञा स्वीकार नहीं करेगा तो वह उसे धर्म बहिष्कृत कर देगा। इस आदेश को पाकर लोथेयर और लुई दोनों ही बहुत ज्यादा बिगड़े। लुई तो सेना लेकर रोम पर चढ़ दौड़ा। पोप की ओर से शस्त्रबल का कोई सामना नहीं किया गया। लुई की सेनाएँ जब रोम में पोप के प्रासाद तक पहुँच गयीं तब लुई ने अपनी गलती महसूस की और शस्त्रबल का प्रयोग करने के बजाय यही अधिक उचित समझा कि शांतिपूर्वक मामले का निपटारा कर लिया जाय। इस वार्ता का परिणाम पोप की शक्ति को बढ़ानेवाला ही हुआ। पोप ने लुई के सामने लोथेयर के पाप की ऐसी व्याख्या की कि दोनों ने भयभीत होकर पोप के आदेश को मान लेने में ही अपनी भलाई समझी। लोथेयर ने निष्कासित रानी को ससम्मान वापस बुला लिया।

इसके बाद दूसरा संघर्ष ग्रेगरी सप्तम या **हिल्डेब्रान्ड** तथा **हेनरी चतुर्थ** के बीच हुआ। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप भी पोप के अधिकारों की ही पुष्टि हुई। हेनरी चतुर्थ जर्मनी का सम्राट् था। यह अपने जिद्दी स्वभाव तथा अल्हड़पन के लिए विख्यात था। बुद्धि की अपरिपक्वता के कारण वह बहुधा अपने हितचिन्तकों से भी लड़ बैठता था और उनका अपमान कर देता था। इन्ही सब आचरणों का परिणाम यह हुआ कि उसके विरुद्ध ऐसे बहुत से व्यक्तियों का गुट हो गया जो यह चाहने लगा कि हेनरी चतुर्थ को अपदस्थ कर दिया जाय। फलस्वरूप कई षड्यंत्र रचे गये और कई बार उसके विरुद्ध विद्रोहाग्नि प्रज्ज्वलित हुई, किन्तु हर बार उसने अपने पाशविक बल के सहारे उस सब का दमन कर डाला। इसी सिलसिले में हेनरी चतुर्थ ने कई ऐसे कार्य कर डाले जिनकी वजह से उसका दुराचारी होना सिद्ध हो गया। जब पोप ग्रेगरी सप्तम के यहाँ हेनरी चतुर्थ की शिकायत की गयी तो पोप ने प्रचलित परम्परा के अनुसार हेनरी को आदेश दिया कि वह रोम आकर उसके न्यायालय में उपस्थित हो। हेनरी को यह अत्यन्त अपमानास्पद प्रतीत हुआ। इसी कारण उसने रोम आना अस्वीकार कर दिया। वैसे ग्रेगरी अपने आपको अत्यन्त तुच्छ व्यक्ति समझता था और अपनी गणना रजकण और कीड़ों से करता था किन्तु वह पोप के पद पर आसीन होने के बाद धर्मसत्ता का अपमान सहन नहीं कर सका। उसने पुनः हेनरी को एक पत्र लिखा। इस पत्र के उत्तर में हेनरी ने जर्मनी के धर्माधिकारियों की सभा कर डाली और उस सभा में यह प्रस्ताव पारित करा दिया कि पोप को उक्त सभा पदच्युत करती है। इसके बाद उसने एक पत्र भी लिखा। पोप को हेनरी द्वारा लिखा गया पत्र इस प्रकार है:—"ईश्वर ने मुझे राजकाज का भार सौंपा है—तुम्हें पोप का पद नहीं सौंपा है। क्या तुम मुझे सिंहासन-च्युत करोगे—एक ऐसे निर्दोष राजा को जिसके आचरण की परीक्षा केवल ईश्वर ही कर सकता है?....क्या सन्त पीटर ने यह नहीं कहा है कि, 'ईश्वर से भय खाओ, राजा का सम्मान करो!' तुम ईश्वर से नहीं डरते, इसलिए तुम मेरा भी सम्मान नहीं करते—ऐसे व्यक्ति का सम्मान नहीं करते जिसकी नियुक्ति सीधे ईश्वर ने की है।. सन्त पॉल का शाप तुम्हें लग चुका है। हमारे यहाँ के सभी पादरी और धर्माधिकारी तुम्हारी निन्दा करते हैं और कहते हैं, 'सन्तों के उस सिंहासन से उतरो जिसे तुमने हथिया लिया है, जिससे कोई दूसरा उस स्थान पर आ सके।' मैं, ईश्वर की कृपा से नियुक्त हुआ राजा हेनरी अपने समस्त पादरियों सहित तुमसे माँग करता हूँ कि

[1] उस पत्र का जो हेनरी चतुर्थ ने पोप ग्रेगरी सप्तम को लिखा था अंग्रेजी में रूपान्तर है।

इस ऊँचे आसन पर से उतरो! उतरो!!" इसके उत्तर में पोप ने जो जवाब दिया वह बड़ा सख्त था। पोप ने आदेश दिया कि कोई भी ईसाई हेनरी को राजा न माने और न उसकी आज्ञाओं का ही पालन करे। पोप ने लिखा कि,... "ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों तथा अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए मैं सम्राट् हेनरी के पुत्र हेनरी के राज्य को (जिसने ईश्वर के चर्च के विरुद्ध विद्रोह करने की अश्रुतपूर्व धृष्टता की है) जर्मनी और इटली में समाप्त करता हूँ तथा समस्त ईसाइयों को उन शपथों से मुक्त करता हूँ जो हेनरी के प्रति भक्ति प्रकट करते हुए उन्होंने ली हैं। मैं प्रत्येक व्यक्ति (ईसाई) को आदेश देकर यह कहता हूँ कि कोई भी हेनरी को राजा मानकर उसकी सेवा न करे।" पोप के इस पत्र की बड़ी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। उसकी प्रतिक्रिया के दृश्यों को देखकर हेनरी चतुर्थ भी घबड़ा गया। पोप ने उसे बाद में एक और अवसर दिया। पोप ने लिखा कि अभी तक हेनरी को धर्म-बहिष्कृत नहीं किया गया है। यदि वह पोप के समीप स्वयं आयेगा और अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप प्रकट करेगा तो उसे क्षमा कर दिया जायगा। हेनरी ने पोप के पहले आदेश की तीव्र प्रतिक्रिया देख ली थी। इसलिए उसने दैवयोग से प्राप्त अवसर को छोड़ा नहीं और पोप के पास स्वयं जाकर क्षमा-याचना कर ली। इस प्रकार लोथेयर और हेनरी--इन दोनों के पोप से होनेवाले संघर्ष-काण्डों में धर्मसत्ता की श्रेष्ठता स्थापित हो गयी और यह मान लिया गया कि यदि पोप राजाओं के व्यक्तिगत मामलों में भी हस्तक्षेप करते हैं तो वह उनका उचित अधिकार है।

४. धर्मसत्ता की सुदृढ़तम स्थिति का युग

चर्च के शुद्धीकरण तथा सुधारों एवं पोपों के शुद्ध आचरणयुक्त दृढ़ व्यवहार का यह परिणाम हुआ कि तेरहवीं शताब्दी तक पोप की स्थिति पूर्ण दृढ़ हो गयी। उस समय तक पोप का दबदबा समग्र यूरोप में माना जाने लगा था। पोप की अकृपा की कल्पना मात्र से यूरोपियन देशों के बड़े-बड़े राजाओं के सिंहासन डोल जाते थे। पोप की आमदनी भी बहुत बढ़ गयी थी। ईसाई चर्च के पास अपार धनराशि कोष में जमा हो गयी थी। आरंभ में अर्थात् नवीं शताब्दी में सार्वभौमिक धर्म की जो कल्पना तत्कालीन धर्माधिकारी किया

"Christ has called me to the Empire—not you to the Papacy will you depose me a blameless king who am judged by God alone? Does not Peter··'say. 'Fear God; honour the king, Because you fear not God, you honour not me whom God hath appointed··the curse of St. Paul touches you; the judgment of all our bishops condemns you and says, Descend from the apostolic throne that you have usurped, that another may take it'. I Henry, by God's grace king with all our bishops call upon you, Descend! Descend !!" Bowle. *Western Political Thought*, p. 108,

इसका उत्तर जो पोप ने दिया था वह अँग्रेजी में इस प्रकार है, Granted by heavenly grace, the God given power to bind loose in heaven and earth is mine; that power and authority I abolish the dominion of Henry, the king, son of Henry, the Emperor who with unheard audacity has rebelled against thy church over all the realms of German and over Italy. And I absolve all Christian men from their oaths to him...and I forbid any man to serve him as king." *Ibid.*

करते थे, अन्त में वह पोप **इन्नोसेण्ट तृतीय** के काल में साक्षात् हो गयी। पोपों ने अपनी इस स्थिति का ज्ञान और कला के प्रचार में प्रयोग किया। इस अध्याय के आरंभ में हमने जिस स्कॉलस्टिक आन्दोलन की चर्च की है वह पोपों का आरंभ किया हुआ ही था। ईसाई चर्च ने इन्हीं पोपों के निर्देशन में बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों को खोला। इंगलैण्ड में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय खुला। इसी प्रकार का एक विश्वविद्यालय फ्रांस की राजधानी पेरिस में भी खुला। इनका नियंत्रण धर्माधिकारियों के हाथ में रहता था। यह सच है कि इन विश्वविद्यालयों में ऐसी कोई बात नहीं पढ़ाई जा सकती थी जो धर्मविरोधी हो या धार्मिक विश्वास पर आघात करती हो किन्तु कुल मिलाकर ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति का अभाव नहीं था। ईसाई चर्च के अतिरिक्त ऐसे अनेक ईसाई सम्प्रदाय भी थे जिन्होंने ज्ञान के प्रचार म सक्रिय भाग लिया। ऐसे सम्प्रदायों में **फ्रांसिस्कन** और **डोमनीकन** सम्प्रदायों का नाम उल्लेखनीय है। फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय में **मार्सीलियो पेदुआ** और **डोमनीकन** सम्प्रदाय में **सन्त टॉमस एक्वोनाज** जैसी विभूतियाँ उत्पन्न हुईं। ज्ञान-प्रचार के इन आन्दोलनों के कारण ही अरस्तू के लुप्त ग्रंथों का पता लगा।

५. पोपतंत्र-द्वारा शक्तिसंचय

हम ऊपर के अनुच्छेद में पोप तथा ईसाई चर्च की सुदृढ़तम स्थिति की झाँकी दिखला आये हैं। आगामी कुछ पृष्ठों में अब हम यह विचार करेंगे कि पोपतंत्र अपनी उक्त शक्ति किस प्रकार प्राप्त कर सका। यदि हम विभिन्न पोपों की नीतियों का विश्लेषण करें तो यह देखेंगे कि **सन्त एम्ब्रोज** के समय से राजसत्ता को हेय समझने की जो प्रवृत्ति धर्मसत्ता के अधिकारियों म उत्पन्न हुई थी वह **पोप ग्रेगरी** के समय में जाकर प्रौढ़ता प्राप्त कर सकी। पोप ग्रेगरी की नीति थी कि वे न्याययुक्त विवेक की नीति बरतेंगे। इस नीति को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। चर्च के मामले में सम्पूर्ण सत्ता पोप के अधीन रहे। इसी नीति के अनुसार पादरियों को भी राजसत्ता के नियंत्रण से मुक्त कराया गया। इसी नीति की पुष्टि पोप ग्रेगरी सप्तम के निम्न आदेश से हो जाती है—"किसी पादरी की नियुक्ति किसी नरेश द्वारा नहीं की जायगी। यदि कोई इस आदेश के विरुद्ध कार्य करेगा तो उसे धर्म-बहिष्कृत कर दिया जायगा।" यह भी कहा गया कि यदि राजा गलती करते हैं तो उन्हें सही मार्ग पर लाने का अधिकार पोप को ही है। यह नीति 'जस्टीशिया' (Justitia) की नीति कही जाती थी। प्रारंभ में साम्राज्य तथा रोम पर अपना अधिकार बताने के लिए सम्राट् कांस्टेनटीन के दान पत्र की चर्चा की जाती थी। किन्तु बाद में ज्यों-ज्यों धर्मसत्ता और राजसत्ता का द्वन्द्व उग्र से उग्रतर होता गया त्यों-त्यों यह दानपत्र पृष्ठभूमि में पड़ता चला गया। इसका कारण यह था कि यदि इस दानपत्र की चर्चा की जाती तो इसका आशय यह लिया जाता कि धर्मसत्ता को शक्ति देनेवाला स्रोत तो राजसत्ता ही है। मध्य युग के अन्तिम दशकों में जब इस दानपत्र का विश्लेषण किया गया तो ज्ञात हुआ कि वह जाली है। यदि हम धर्मसत्ता के समर्थकों के विचारों का ध्यान से अध्ययन करें तो अन्त म हम उन्हें दो वर्गों में विभक्त करेंगे। एक वर्ग में तो वे समर्थक आते हैं जो चर्च पर पोप का एकछत्र नियंत्रण चाहते थे और कहते थे कि मठों तथा ईसाई संघ और चर्च के मामलों में राजसत्ता द्वारा न तो कोई हस्तक्षेप किया जाय और न धर्माधिकारियों की नियुक्ति ही में राजसत्ताधारियों का कोई हाथ रहे। दूसरे वर्ग में धर्मसत्ता के वे समर्थक आते हैं जो न केवल राजसत्ता के हस्तक्षप से ही बचना चाहते हैं अपितु यह भी कहते कि राजसत्ता को धर्मसत्ता के अधीन रहना चाहिए। मोटे-तौर पर दोनों के बीच विभक्ति की कोई स्पष्ट रेखा नहीं अंकित की जा सकती, लेकिन सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। पोप को सन्त पीटर का उत्तराधिकारी माना जाता है। अतएव सभी धर्माधिकारी राजसत्ता के बजाय धर्मसत्ता के अध्यक्ष पोप के नियंत्रण

में रहना अधिक पसन्द करते थे। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए नवीं शताब्दी के मध्य भाग में कुछ फर्जी कागज-पत्र भी तैयार किये गये और इनकी मान्यता की वजह से पोपों की केन्द्रीय शक्ति की स्थापना हो सकी। विद्या का प्रचार न होने के कारण अज्ञान और विवेक-शून्यता के युग में इस प्रकार की धोखेधड़ी कई सौ वर्षों तक चलती रही।

६. धर्मसता की श्रेष्ठता की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

धर्मसत्ता के समर्थकों ने ऐसे अनेक तर्क किये जिनकी सहायता से यह सिद्ध कर सकें कि धर्मसत्ता राजसत्ता की तुलना में श्रेष्ठतर क्यों है। इन सभी तर्कों को क्रमबद्ध रीति से इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

६.१ समग्र मानव जाति एक है। सभी मनुष्य परस्पर बंधु हैं और वे एक ही पिता अर्थात् ईश्वर की सन्तान हैं। ईसाई संघ या चर्च की स्थापना भी स्वयं ईश्वर ने की है। अतएव चर्च ही सच्चा राज्य है।[1] उसी के हाथ में वास्तविक लौकिक और आध्यात्मिक सत्ता है। राज्य की सर्वोच्च शक्ति के स्वामी ईसा हैं किन्तु आध्यात्मिक और लौकिक जगत् के व्यापारों के नियंत्रण के लिए उन्होंने अलग-अलग दो सत्ताधीशों की नियुक्ति की है। ये दोनों सत्ताधीश उन्हीं के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों में पोप की स्थिति को श्रेष्ठतर बतलाया गया है और कहा गया है कि समस्त ईसाइयों के "धर्म पुरोहित और राजा हैं। पोप ही ईसाई मात्र के आध्यात्मिक और लौकिक गुरु हैं। वही न्यायाधीश हैं और वही विधिवेत्ता। हर दशा में उनका निर्णय ही अन्तिम माना जायगा।"[2]

६.२ इसके बाद दो तलवारों का सिद्धान्त प्रकाश में आया। इस सिद्धान्त के अनुसार धर्मसत्ता और राजसत्ता दोनों को दो तलवारें बतलाया गया है और कहा गया कि ये तलवारें ईश्वर से सन्त पीटर को प्राप्त हुई थीं और पीटर ने इनको पोप को दिया। पोप को इसलिये दिया क्योंकि मृत्युलोक में ईश्वर के प्रतिनिधि पोप ही माने जाते हैं। पोप ने धर्म-सत्ता अथवा आध्यात्मिक शक्ति की तलवार को तो अपने पास रखा और राजसत्ता अथवा लौकिक शक्ति की तलवार को नरेशों को हस्तान्तरित कर दिया। सामान्यतः पोप का दोनों तलवारों पर अधिकार है किन्तु धर्मसत्ता की तलवार का ही वे सक्रिय रूप से प्रयोग करते हैं। सम्राट् तथा उनके अधीन रहनेवाले नरेशों को राजसत्ता ईश्वर से पोप द्वारा प्राप्त होती है। इसलिये वे पोप द्वारा ही ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं। राजसत्ता का प्रयोग उसी विधि से होना चाहिए जिसे पोप की सहमति प्राप्त हो। पोप को पूरा अधिकार है कि वह राजसत्ता पर अपना नियंत्रण रखे। यदि कोई सम्राट् या नरेश ईश्वरविरोधी कार्य करता है और अनैतिक आचरण का अपराधी है तो पोप को इस बात का पूरा अधिकार है कि वह उसे पदच्युत कर दे और राजसत्ता को किसी अन्य व्यक्ति को सौंप दे। यदि किसी स्थान का नरेश नहीं रहता और मृत्यु तथा अन्य किसी कारणवश उसका स्थान रिक्त हो जाता है तो सत्ता तत्काल ही पोप को पुनः मिल जायगी। लौकिक नरेशों के विरुद्ध यदि कोई शिकायत होती है तो पोप को उसे अपने न्यायालय में सुनने का पूरा-पूरा अधिकार है। यदि वे शिकायतें सच हों तो उन

---

1 The church has received by a mandate from God the plenitude of all spiritual and temporal powers they being integral parts of one might". Gierke, *Politcal Theories of the Middle Ages*, p. 11

2 The Pope, "is their priest and their king, their spiritual and temporal monarch, their law-giver and judge in all causes supreme. Gierke, *Political Theories of the Middle Ages*, edited br Maitlan, p. 12

शिकायतों को दूर करने के लिए पोप समुचित कार्रवाई कर सकते हैं। पोप को यह भी अधिकार है कि वे नरेश को सिंहासन-च्युत कर दें अथवा उस राजा की प्रजा को आज्ञा दे दें कि वह अपने ऐसे राजा के आदेशों का पालन न करे जो उसके प्रति निर्धारित कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहा है।

६.३ **राज्य विधि आदि के संबंध में मत**—ईसाई धर्म मनुष्य को मूलतः पापी मानता है। उसका कहना है कि ईडन के उद्यान में आदम और ईव ने ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर के जो पाप किया था उसी के दण्डस्वरूप राज्य का उदय हुआ। राज्य का जन्म यद्यपि पोप के मध्य हुआ किन्तु उसका उद्देश्य मनुष्य को पापमुक्त कराना है। अतएव राज्य की उत्पत्ति को ईश्वर की स्वीकृति तो प्राप्त है किन्तु स्वयं ईश्वर ने राज्य की उत्पत्ति की यह सिद्धान्त ईसाई धर्म नहीं स्वीकार करता। वह ईसाई संघ या चर्च को राज्य का लौकिक स्रोत मानता है। क्योंकि राज्य का उद्देश्य मनुष्य को पापों का दण्ड देकर उसे शुद्ध करना और चर्च का कार्य ही शुद्ध पवित्र आत्माओं का ईश्वर से साक्षात्कार करना है—इसलिए राज्य को प्रत्येक कार्य में चर्च की सहमति अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। यह भी स्वीकार किया गया है कि समस्त मानवीय विधियों (Human Laws) का स्रोत राजसत्ता है। किन्तु राजसत्ता भी दैवी विधियों के अधीन है। दैवी विधियाँ अपौरुषेय अथवा ईशनिर्मित हैं। अतः उनका स्रोत लौकिक दृष्टि से चर्च को ही माना जायगा। इस दृष्टि से मानवीय विधियाँ भी दैवी विधियों के अधीन हैं अर्थात् मानवीय विधियों को अनिवार्यतः धर्मसत्ता की सहमति प्राप्त होनी चाहिए। राज्य को भौतिक बुराइयों से दूर रखने का उत्तरदायित्व भी धर्माधिकारियों का ही है और इस दायित्व की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि राजसत्ता के क्षेत्र में धर्मसत्ता हस्तक्षेप कर सके—इसलिए यह दायित्व स्वयमेव चर्च को राजाओं के मामलों में दखल देने का हक दे देता है।

६.४ **चर्च की एकताकारी राजनीतिक शक्ति**—यह तो ऊपर के अनुच्छेद में कहा ही जा चुका है कि यदि राजसत्ता का किसी भी प्रकार ह्रास हो जाता है तो वह सत्ता भी धर्मसत्ता में ही आकर समाविष्ट हो जाती है। इस तर्क के स्वीकार हो जाने के बाद इसकी सर्वमान्यता का पोपवादियों ने और भी लाभ उठाया। जब पश्चिमी रोमनसाम्राज्य का विघटन हो गया तो सारा यूरोप छोटी-छोटी सामन्तवादी रियासतों में विघटित हो गया। ये सभी रियासतें ईसाई धर्मावलम्बी थीं और पोप के प्रति श्रद्धा रखती थीं और सक्रिय आस्था प्रकट करती थीं। यही कारण है कि चर्च उन सब रियासतों को एकता के सूत्र में बाँधे रहा। यदि चर्च एक केन्द्रीय सत्ता के रूप में नहीं रहा होता तो ये रियासतें आपस में ही लड़-झगड़कर एक दूसरे का गला काट डालतीं और इस प्रकार सभी के अस्तित्व का उन्मूलन हो जाता। मध्य युग की अस्तव्यस्त और अव्यवस्थित सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्था में ईसाई संघ या चर्च ही एक मात्र ऐसी शक्ति थी जो हलचल को शान्त करती हुई एकता और समन्वय के सूत्र में सबको वलयित करने के लिये प्रयत्नशील रहती थी।

६.५ **शरीर और आत्मा का सिद्धान्त**—मध्य युग में धर्मसत्ता के समर्थकों ने अपने पक्ष को अधिक सबल बनाने के लिये जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनमें से एक सिद्धान्त यह भी था कि राज्य शरीर है और चर्च आत्मा। हम गत अध्याय में इस संबंध में विस्तारपूर्वक जॉन सैलिसबरी के राज्य के सावयविक सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए लिख आये हैं। यहाँ इस सिद्धान्त में निहित दार्शनिक पृष्ठभूमि से अवगत करा देना ही हमें अभीष्ट है। यह तो सर्वमान्य बात है कि भौतिक पदार्थों से आध्यात्मिक जगत् की वस्तुओं को अधिक मूल्यवान समझा जाता है। भौतिक सुखों को छोड़ने की सलाह दी जाती है। आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के

विकास को अच्छा समझा जाता है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि भौतिक जगत् मिथ्या है और आध्यात्मिक जगत् सत्य। जो सत्य है वह मिथ्या से श्रेष्ठ है। और क्योंकि राजसत्ता भौतिकता का प्रतिनिधित्व करती है——इसलिए वह मिथ्या है और धर्मसत्ता आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है——इसलिए वह सत्य है। अतः उसका पल्ला पकड़ना और उसका पथ-प्रदर्शन मानना ही अधिक उचित होगा। इसी प्रकार धर्मसत्ता की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए राजसत्ता की उपमा चन्द्रमा से दी गयी और धर्मसत्ता का सादृश्य सूर्य से स्थापित किया गया। जिस प्रकार चन्द्रमा बिना सूर्य के प्रकाशित नहीं हो सकता उसी प्रकार राजसत्ता भी धर्मसत्ता के सहारे के बिना बेकार होगी।

६.६ **राज्य की नैकिता का उत्तरदायी चर्च**——राजसत्ता की उत्पत्ति मनुष्यकृत कर्मों से मानी गयी है और धर्मसत्ता की उत्पत्ति ईशकृत कही गयी है——इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्यकृत वस्तु को ईशकृत वस्तु से हीन समझा जाय। अतएव धर्मसत्ता स्वभावतः राजसत्ता से उच्चतर है। मनुष्य के कर्मों का दायित्व चर्च पर रहता है——इसलिए मानव-जनित राज्य के कर्मों का दायित्व भी चर्च का ही है। यदि राज्य या राजसत्ताधारी द्वारा कोई अनैतिक आचरण होता है तो उसे रोकना चर्च का कर्तव्य है।

७. धर्मसत्ता के दावों की समालोचना

यहाँ तक हम धर्मसत्ता के उन विभिन्न दावों तथा सिद्धान्तों की चर्चा कर आये हैं जिनके द्वारा उसने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। अब जरा हमें उन दावों तथा सिद्धान्तों को विवेकबुद्धि की कसौटी पर भी कसकर देख लेना चाहिए। सर्व प्रथम धर्मसत्ता के अधिकारियों ने जिस सार्वभौमिक साम्राज्य तथा धर्म की कल्पना की थी——वह मौलिक रूप से व्यावहारिक क्षेत्र में अशुद्ध थी। जिस समय धर्मसत्ताधारी विश्व साम्राज्य का स्वप्न देख रहे थे——उस समय समूचा यूरोप छोटी-छोटी सामन्तवादी रियासतों में विभक्त था। इसके उपरान्त धर्मसत्ता को श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिए दो तलवारों, शरीर और आत्मा, सूर्य तथा चन्द्र आदि के जो सिद्धान्त प्रचारित किये गये वह कल्पना की दृष्टि से उक्त सिद्धान्तों के प्रणेताओं की चाहे जितनी सूझबूझ प्रकट करते हों किन्तु इतना सच है कि ये सिद्धान्त न तो इतिहास-सम्मत थे और न वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही इनकी कोई पुष्टि की जा सकती थी। राज्य की उत्पत्ति के संबंध में भी धर्मसत्ता के समर्थकों ने जो कुछ भी किया वह भी केवल धर्मग्रंथों द्वारा ही पुष्ट होता था। ऐतिहासिक दृष्टि से वह बिलकुल असंगत था। हाँ, इतना सच है कि सामन्तवादी युग में जब विघटनकारी शक्तियाँ अधिक प्रबल थीं उस समय राजनीतिक और धार्मिक एकता को बनाए रखने का धर्मसत्ता ने अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। सार्वभौमिक ईसाई साम्राज्य स्थापित करने का धर्मसत्ता का आदर्श चाहे जितना ऊँचा हो किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उस आदर्श की पूर्ति के लिए जितनी क्षमता की अपेक्षा थी वह न तो पोप में ही थी और न पोप के अनुयायियों में ही। यह सच है कि पोप **ग्रेगरी महान,** पोप **ग्रेगरी सप्तम** आदि जैसे कुछ बड़े उच्च कोटि के पोप हो गये थे किन्तु कुछ पोपों के अत्यन्त उच्च कोटि के हो जाने से ही यह आशा किस प्रकार की जा सकती है कि सभी पोप उन जैसे ही या उनसे भी बढ़चढ़कर ही होंगे——कम नहीं। धर्मसत्ता की श्रेष्ठता स्थापित हो जाने का अर्थ यह भी होता था कि राजसत्ता की शक्ति स्वयमेव घट जाती और सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाता। ऐसी अवस्था में शक्ति के केन्द्रीकरण से जो हानियाँ होती हैं वे सब होने लगी थीं।

जहाँ तक नैतिक श्रेष्ठता का संबंध है, इसका भी उत्तर है। प्रारंभ में जब ईसाई धर्माधिकारियों के पास सम्पत्ति नहीं थी और वे वैभवसम्पन्न नहीं थे तब तक उनका

नैतिक आचरण सचमुच बड़ा पवित्र और शुद्ध हुआ करता था लेकिन वैभवसम्पन्नता के साथ ही धर्मसत्ताधारियों में भी वे दोष प्रवेश पा गए जो धन और सम्पत्ति के बढ़ जाने पर स्वयमेव उत्पन्न हो जाते हैं। धर्माधिकारियों का आचरण नैतिक दृष्टि से भी उतना शुद्ध नहीं रहा जितना ऊँचे आदर्शों के अनुकूल होना चाहिए था। यह बात दूसरी है कि धर्माधिकारी राजाओं की तुलना में अधिक सदाचारी प्रतीत होते थे। किन्तु जो व्यक्ति स्वयं अनैतिक आचरण करता हो उसे दूसरे को अनैतिक कार्यों के लिए दण्ड देने का क्या अधिकार है? यही आपत्ति धर्मसत्ताधीशों के विरुद्ध की गयी जिसका कोई सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त 'जस्टीशिया' नीति के अनुसार धर्मसत्ता के क्षेत्र में राजसत्ता को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं मिलना चाहिए था। इसी नीति के अनुसार धर्माधिकारियों के अपराधों का फैसला भी केवल पोप के न्यायालय में ही हो सकता था। राज न्यायालय में अपराधी धर्माधिकारियों को उपस्थित ही नहीं किया जा सकता था। पोप तक शिकायत पहुँचाने का कोई समुचित यंत्र नहीं था। इसलिए अधिकांशतः यही संभावना रहती थी कि अपराधी धर्माधिकारी अदण्डित ही रह जायँगे। यह दशा प्रशासन की दृष्टि से बड़ी भयावह थी। **मार्सीलियो पेडुआ** ने तो इस प्रकार की व्यवस्था के परिणामस्वरूप हुई क्षति के उदाहरण भी दिये थे। पोप की सत्ता को विश्व की श्रेष्ठतम शक्ति मान लेने पर कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें भी पैदा हो सकती थीं। एक बार ऐसी ही कठिन स्थिति उत्पन्न हो जाने का उदाहरण भी मिलता है। इंगलैण्ड के राजा **जॉन** ने पोपकी आज्ञाओं की अवहेलना की। इस अवहेलना को पोप ने अपना अपमान समझकर फ्रांस के राजा फिलिप से इंगलैण्ड पर चढ़ाई कर देने के लिए कहा। इतिहास के इस उदाहरण से यह प्रश्न उठता है कि कभी कोई राष्ट्र युद्ध के लिए तत्पर हो सकता है और बहुत संभव है कि पोप का या धर्मसत्ता का संकेत पाते ही रणक्षेत्र में कूद पड़े किन्तु कभी राजनीतिक स्थिति ऐसी भी हो सकती है जब ऐसा कार्य खतरे से खाली न हो। उस अवस्था में क्या होगा? क्या आक्रमण करने पर पराजय की अवस्था में पोप की अध्यात्मिक शक्ति आकर उस देश की फौजों की सहायता करेगी जो विरोधी शक्ति से पिट रही होगी या फिर पोप की आज्ञा न मानने वाले देश को ही धर्म बहिष्कृत कर दिया जायगा?

८. राससत्ता के दंडित करने के साधन।

धर्मसत्ता ने प्रारंभ में जब अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर ली और जब तक उसकी शक्ति के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया आरंभ नहीं हुई तब तक बड़े-बड़े राजसत्ताधारी पोप के क्रोध से थरथर काँपा करते थे। उनको यह भय इसलिये नहीं रहता था कि यदि वे पोप की आज्ञा न मानेंगे तो उनके विरुद्ध पोपको सेनाएँ चढ़ दौड़ेंगी; अपितु भय यह रहता था कि कहीं पोप उन्हें शाप न दे दें। पोप का शाप ही उन दिनों के राजाओं के लिए सबसे बड़ा दण्ड था। पोप का सबसे बड़ा दण्ड जो किसी राजा के लिए या किसी भी अवज्ञाकारी ईसाई के लिए होता था वह यह कि वे उसे धर्मबहिष्कृत कर देते थे। इस दण्ड को अँग्रेजी में एक्सकम्यूनिकेशन (Ex-communication) कहा जाता था। इस दण्ड के भागी व्यक्ति को ईसाई समाज में कोई स्थान नहीं मिलता था। धर्मबहिष्कृत और अभिशापित करने का परिणाम कभी-कभी तो यहाँ तक होता था कि उस व्यक्ति को मर जाने के उपरान्त दफनाया भी नहीं जाता था। यह दण्ड कठोरतम था और तभी दिया जाता था जब किसी का आचरण अनैतिक सिद्ध हो जाता था अथवा जब कोई धर्म-विरुद्ध कार्य कर देता था। सदैव एक-सा ही कठोर दण्ड नहीं मिलता था। अपराधों की भयंकरता के अनुपात से दण्ड की मात्रा भी घटायी-बढ़ायी जा सकती थी। कठोरतम दण्ड देने की नौबत तो तभी आती थी जब कोई पोप की सत्ता को सीधे-सीधे चनौती देने लगता था। दण्ड देने की य विधियाँ भी तभी तक चलीं जब तक

सामन्तवादी युग रहा और राजसत्ता छिन्न-भिन्न रही किन्तु इसके बाद जैसे ही राजसत्ता का बल बढ़ गया--दण्ड देने के पोप के ये साधन भी विफल हो गये। इस प्रकार के दण्डों के बेकार होजाने के कारण यूरोप के देशों में राष्ट्रीयता का उदय हो जाना भी था। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि एक समय ऐसा था जब धर्मबहिष्कृत राजा का राजपाट सभी कुछ प्रजा विद्रोह करके छीन लेती थी।

९. द्वन्द्वकालीन विचारक

द्वन्द्वकालीन विचारकों में सबसे प्रमुख नाम सन्त टॉमस एक्वीनाज का है। लेकिन इनके पूर्व और बाद में भी ऐसे कई विचारक हुए जिनका उल्लेख संक्षेप में यहाँ कर देना आवश्यक है। ऐसे विचारकों में पोप इन्नोसेण्ट तृतीय, सन्त फ्रांसिस, संत डोमनीकन एजिडियस रोमुनस हैं।

९.१ पोह इन्नोसेण्ट तृतीय (Pope Innocent III)--पोप इन्नोसेण्ट तृतीय का कार्यकाल १८ वर्षों का था। यह सन् ११९८ से आरंभ होता है और सन् १२१६ में समाप्त होता है। पोप इन्नोसेण्ट तृतीय का जन्म एरागन में हुआ था। प्रभाव और शक्ति की दृष्टि से पोप इन्नोसेण्ट तृतीय का नाम ग्रेगरी सप्तम के बाद लिया जाता है। वह धर्मसत्ता का कट्टर पक्षपाती था और अपनी शक्तिस्थापना में किसी भी प्रकार की हिचक नहीं दिखलाता था। धर्मसत्ता की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए कभी-कभी वह क्रूरतापूर्ण दण्ड भी दिया करता था किन्तु सामान्यतः उसका व्यक्तिगत जीवन साधारण था। वह यह जानता था कि चर्च के जीवन में भी कुछ अशुद्ध एवं अनैतिक तत्व घुस आये हैं। इन तत्वों को निकालकर चर्च के जीवन को शुद्ध करना वह अपना कर्तव्य समझता था। लेकिन इसके साथ ही वह धर्मसत्ता की शक्ति बढ़ाने के लिये भी अत्यन्त उत्सुक रहता था। पोप के पद पर आसीन होते न होते पोप इन्नोसेण्ट तृतीय को पवित्र रोमन साम्राज्य के उत्तराधिकार संबंधी एक जटिल मामले का फैसला करना पड़ा। स्थिति बड़ी नाजुक थी किन्तु ऐसे मौके पर पोप ने अपनी बुद्धि संपन्नता का पूरा-पूरा परिचय दिया। साम्राज्य के उत्तराधिकार के दो दावेदार थे। पहला दावेदार राजा ओटो चतुर्थ था तथा दूसरा दावेदार था **स्वाबिया का ड्यूक फिलिप**। इन दोनों के पूर्व साम्राज्य की गद्दी पर हेनरी षष्ठ का अधिकार था। हेनरी षष्ठ ने इटली के निवासियों को बहुत अधिक तंग किया था। अतएव वहाँ के लोग यह बिल्कुल नहीं चाहते थे कि हेनरी षष्ठ के किसी संबंधी को गद्दी सौंपी जाय। ऐसी अवस्था में पोप ने लोक भावनाओं का आदर किया और स्वाबिया के ड्यूक फिलिप को सम्राट् की गद्दी सौंप दी। यह व्यवस्था चल पड़ती किन्तु थोड़े ही दिनों बाद फिलिप की किसी ने हत्या कर डाली। परिणाम-स्वरूप उत्तराधिकार का मामला फिर उठ खड़ा हुआ। **ओटो चतुर्थ** ने पोप से अपने दावे पर पुनः विचार करने की प्रार्थना की। पोप ने ओटो चतुर्थ को लिखा कि वह उसके दावे को मानने के लिये तो तैयार है किन्तु कुछ शर्तें हैं जिन्हें गद्दी प्राप्त करने के पूर्व और अपने राज्यकाल में ओटो चतुर्थ को मानना पड़ेगा। ये शर्तें थीं कि (अ) धर्माधिकारियों की नियुक्ति में सम्राट् कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह कार्य सर्वथा पोप के ही एकाधिकार क्षेत्र का समझा जायगा, (आ) यदि किसी धर्माधिकारी का कोई स्थान किसी भी कारण से खाली हो जायगा तो उस पर तत्काल पोप का अपने आप अधिकार हो जायगा। वह स्थान राजा के क्षेत्र का नहीं समझा जायगा और (इ) ओटो चतुर्थ के साम्राज्य में पोप द्वारा स्थापित जितने भी धार्मिक न्यायालय होंगे उन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील करने के लिए यह आवश्यक नहीं होगा कि उसकी स्वीकृति राजदरबार में जाकर ली जाय अपितु अपीलें पोप के उच्चतम न्यायालय में बिना किसी बाधा के की जा सकेंगी। प्रारंभ में ये शर्तें ओटो चतुर्थ ने स्वीकार कर लीं किन्तु कुछ ही दिन बाद शस्त्रबल द्वारा एक नया समझौता करने के इरादे से उसने

रोम पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण, कहा जाता है, सन् १२०९ में हुआ। ओटो चतुर्थ की इस उद्दण्डता के फलस्वरूप पोप ने उसे धर्मबहिष्कृत कर दिया और उसके राज्यवासियों को क्रान्ति करने के लिये उत्तेजित किया। जर्मन सामन्तों को ओटो चतुर्थ के विरुद्ध शस्त्र धारण करने के लिये कहा गया। इसी बीच फ्रेडरिक को सम्राट् घोषित करके पोप ने इटली को जर्मनी की दासता के पाश से मुक्त कर दिया।

पोप इन्नोसेण्ट तृतीय का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उसने ऐसे सम्प्रदायों को नहीं पनपने दिया जिनसे चर्च को हानि होने की संभावना थी। इसके विपरीत ऐसे अनेक सम्प्रदायों को प्रोत्साहित किया गया जो ईसाई धर्म के अनुकूल पड़ते थे। जिन सम्प्रदायों का दमन किया गया उनमें **वालडेन्सीनियल** सम्प्रदाय का नाम उल्लेखनीय है। इसकी स्थापना पीटर वाल्ड्स नाम के एक सन्त ने की थी। इस सम्प्रदाय का लक्ष्य अपने अनुयायियों को शान-शौकत और वैभवयुक्त जीवन से अलग रखना था। यह सम्प्रदाय चर्च के विलासी जीवन का भी विरोधी था। परिणाम यह हुआ कि पोप ने इसके सदस्यों को धर्मबहिष्कृत घोषित करना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार ल्योंस की एक दरिद्रों की संस्था का भी दमन किया गया। इसी भाँति कैथाराइन सम्प्रदाय का भी उन्मूलन किया गया। यह सम्प्रदाय निकवर्ग का था। इसके अनुयायी पोप की शक्ति और पद-लिप्सा के विरोधी थे और सांसारिक जीवन को असार समझ भौतिक भोग-विलासों से दूर रहने में ही अपना कल्याण समझते थ।

९.२ **संत फ्रांसिस**--जिन सम्प्रदायों को प्रोत्साहन दिया गया उनमें फ्रांसिस्कन और डोमनीकन सम्प्रदायों का नाम उल्लेखनीय है। फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय की स्थापना सन्त फ्रांसिस ने की थी। इनका जन्म अम्बिया के असीसी नगर में हुआ था। इसके पिता एक व्यापारी थे। आरंभ में फ्रांसिस ने सेना म रहकर मारकाट और लूटपाट का जीवन बिताया। एक बार घायल हो जाने पर जब महीनों फ्रांसिस को खाट पर पड़े-पड़े समय बिताना पड़ा तब सहसा धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से इसकी रुचि आध्यात्मिकता की ओर हो गयी। इसी रुचि की वजह से इसे अपने जीवन से कुछ घृणा हो गयी और उसने सेना को छोड़ दिया। उसने निश्चय किया कि वह सर्वस्व त्याग देगा और धनहीन जीवन अपना कर निर्धनों की सेवा में शेष दिन बितायेगा। हृदय की शुद्धता पर फ्रांसिस ने विशेष रूप से बल दिया। इसी निश्छलता और निष्कपटता के कारण फांसिस की विचारधारा का अनुमोदन करनेवाले बहुत से व्यक्ति हो गये जो उसके शिष्य बन गये और कालान्तर में फ्रांसिसकन सम्प्रदाय चल पड़ा। प्रारंभ में इस सम्प्रदाय को पोप से प्रोत्साहन मिला किन्तु कुछ समय बाद इसी सम्प्रदाय के लोगों ने पोप की शक्ति-लोलुपता का तीव्र विरोध किया।

९.३ **संत डोमनीक**--संत डोमनीक ने डोमनीकन सम्प्रदाय की स्थापना की। डोमनीक का जन्म सन्, ११७० में केस्टाइल नाम के एक नगर में हुआ था। डोमनीक की आरंभ से ही ईसाई धर्म में गहरी आस्था थी और वह समझता था कि ईसाई धर्म से ही विश्व की दुखी और त्रस्त मानवता का उद्धार होगा। जब तक सारी दुनिया ईसाई न हो जायगी तब तक कष्ट और दुःखों का समुद्र नहीं घटेगा। अतएव इसने अपने हाथ में गैरईसाइयों को ईसाई बनाने का कार्य लिया। मिशनरियों का जीवन इसी सम्प्रदाय की स्थापना से आरंभ होता है। आजकल भी अधिकांश मिशनरी संत डोमनीक के ही अनुयायी हैं। संत डोमनीक का कहना था कि जो ईसाई न हों उनको ईसाई बनने के लिये पहले तो समझाया-बुझाया जाय और यदि वे न मानें तो फिर उन पर अत्याचार करने में भी कोई बुराई नहीं है। इस सम्प्रदाय के लोग अपनी रूक्षता तथा गैरईसाइयों के प्रति कठोर व्यवहार करने के कारण अत्यन्त अप्रिय थे। ये सदैव काले कपड़े ही पहना करते थ। सन्त टॉमस एक्वीनाज इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था। इस सम्प्रदाय ने ईसाई धर्म के प्रचार में बड़ा सक्रिय भाग लिया।

१० सन्त टॉमस एक्वीनाज

१०.१ जीवन परिचय––टॉमस का जन्म सन् १२२५ में हुआ था। इनके जन्म के वर्ष के संबंध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। कुछ का कहना है कि उनका जन्म सन् १२२५ में हुआ था और कुछ कहते हैं कि उनका जन्म सन् १२२६ में हुआ था। अधिक विद्वान् जन्म सन् १२२५ में ही मानते हैं। उन दिनों में नेपल्स नाम की एक रियासत थी जिसमें एक्वीनो नाम का एक नगर था। यही नगर टॉमस का जन्मस्थल बतलाया जाता है। इनके पिता उक्त नगर के काउण्ट थे। टॉमस के सात भाई-बहन थे। इनमें टॉमस आयु में सबसे छोटा था। अतः यह स्वाभाविक था कि आरंभ से ही उनका लालन-पालन बड़े स्नेह के वातावरण में होता। एक्वीनो के काउण्ट फ्रेडरिक के भतीजे थे। इसकी माता का नाम थ्योडोरा था। यह भी नार्मन जाति के राजवंश की कन्या थी। बाल्यकाल से ही टॉमस ने अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्नता का परिचय दिया। कहा जाता है कि बालक टॉमस की स्मृतिशक्ति इतनी अच्छी थी कि जो चीज उसको एक बार पढ़ा दी जाती थी वह उसे कभी भूलता नहीं था। टॉमस के माता-पिता आभिजात्य (Aristocrat) वर्ग के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे चाहते थे कि उनका होनहार पुत्र कोई उच्चतम राज्याधिकारी बने किन्तु इसके विपरीत पुत्र ने डोमनीकन सम्प्रदाय का सदस्य बन जाने का संकल्प किया। डोमनीकन सम्प्रदाय की आचरण संबंधी शुद्धता और आदर्श नैतिकता ने टॉमस को बड़ा प्रभावित किया और १२४४ में वह डोमनीकन सम्प्रदाय का सदस्य बन गया।

जब टॉमस के माता-पिता को अपने पुत्र के इस कृत्य की सूचना मिली तो वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने प्रयत्न किया कि वे अपने पुत्र से मिलकर उसे समझाएँ किन्तु सम्प्रदाय के अधिकारियों ने उन्हें मिलने ही नहीं दिया। इससे टॉमस के पिता अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और उन्होंने सेना में अधिकारी पदों पर काम करने वाले अपने बड़े पुत्रों को आज्ञा दी कि वे बल प्रयोग द्वारा टॉमस को पकड़कर घर पर ले आवें। टॉमस के दो भाइयों ने यही किया। पहले तो माता-पिता तथा घर के अन्य संबंधियों ने टॉमस को समझाने का बड़ा प्रयत्न किया लेकिन जब वह नहीं माना तो उन्होंने एक कमरे में ताला लगाकर बंद कर दिया। माता ने यह भी सोचा कि पुत्र बड़ा हो गया है। संभवतः विवाह कर दिया जाय तो उसका इरादा बदल जाय। इसी दृष्टि से एक अत्यन्त सुन्दरी स्त्री को उसके पास भजा भी गया लेकिन विवाह प्रस्ताव को सुनते ही टॉमस ने ऐसा रौद्र रूप धारण किया कि उस लड़की को वहाँ से जान छुड़ाकर भागते बन पड़ा। वह लगभग एक बरस तक इसी प्रकार बंद रहा। इस बीच उसने ईसाई ग्रंथों का व्यापक और गहन अध्ययन किया। एक दिन मौका पाकर उसने अपनी माता से बातचीत की और उसे यह समझा दिया कि उसने सांसारिक जीवन के परित्याग का दृढ़ संकल्प कर लिया है। वह इसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इसलिये अच्छा है कि उसे चला जाने दिया जाय। माता ने तो सहमति प्रकट कर दी किन्तु पिता ने आशा नहीं छोड़ी। फिर भी एक दिन मौका पाकर खिड़की के रास्ते टॉमस निकल भागा और सीधे अपने सम्प्रदाय मठ में जाकर छिप गया। इसके बाद उसके भाइयों ने भी उसे पकड़ने की कोई चेष्टा नहीं की।

एक्वीनो से भागकर टॉमस सीधा मठ गया। वहाँ रहना सुरक्षित न था, इसलिए वह मठ से पेरिस चला गया। पेरिस में पहुँचकर उसने वहाँ के विश्वविद्यालय में अपना नाम लिखाया। विश्वविद्यालय में उसकी प्रतिभा की ख्याति शीघ्र ही चारों ओर फैल गयी। पेरिस से वह जर्मनी गया। जर्मनी में कोलनटाउ के अल्बर्ट की शिष्यता स्वीकार कर उसने अरस्तू के तर्कशास्त्र और राजनीति संबंधी ग्रंथों का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया। जर्मनी से टॉमस अपने गुरु सहित एक बार फिर पेरिस गया। अपनी मौलिकता, आध्यात्मिक श्रेष्ठता और सत्यनिष्ठा के कारण [illegible] बहुत प्र[illegible] हो गया।

टॉमस की योग्यता की धाक मान लिये जाने पर भी तब तक पेरिस विश्वविद्यालय ने टॉमस को भिक्षु सम्प्रदाय का सदस्य होने के कारण कोई उपाधि नहीं दी थी। अतः इसकी अपील पोप के यहाँ की गयी। पोपके सामने टॉमस ने अपने मामले की पैरवी स्वयं की। पोप पर टॉमस की योग्यता का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसने टॉमस के अनुकूल ही फैसला करने का निश्चय किया। पोप से उपाधि प्राप्त करने की आज्ञा प्राप्त कर टॉमस सन् १२५६ में रोम से पेरिस पहुँचा। पेरिस में उसे विश्वविद्यालय ने सम्मानपूर्वक धर्म के आचार्य (Master of Theology) की उपाधि दी। उपाधि प्राप्त करने के बाद १२ वर्षों तक ईसाई धर्म के प्रचार का ही कार्य टॉमस ने जी-जान से किया। इसी कार्य के सिलसिले में उसने अनेक स्थानों का दौरा किया, भाषण दिये और बहुत से ग्रंथों की रचना की। यह सारा कार्य बड़ा परिश्रमसाध्य था। किन्तु टॉमस का शरीर इतना हृष्ट-पुष्ट था कि वह इतने परिश्रम को लगातार १२ वर्षों तक सह गया।

टॉमस राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और तर्कशास्त्र का अपने युग का सबसे बड़ा अधिकारी विद्वान् समझा जाता था। उसकी राजनीतिक बुद्धि तथा योग्यता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है कि बड़े-बड़े नरेश उससे शासकों के कर्तव्यों को बतलाने की प्रार्थना करते थे। **साइप्रस के राजा ह्यू ग द्वितीय** ने इसी प्रकार का अनुरोध किया था। उन दिनों यहूदियों को बड़ा पापी समझा जाता था। यहूदियों को उस पाप से किस प्रकार मुक्ति दिलायी जाय—इस संबंध में **ब्राबैण्ट की डचेस** ने कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न किये थे। इन सभी प्रश्नों के उत्तर ईसाई धर्म के इतिहास की बहुमूल्य सामग्री के रूप में अब भी सुरक्षित हैं। पोप ने अनेक बार धर्मविधि संबंधी कठिनाइयाँ उत्पन्न होने पर टॉमस की सलाह ली थी। ये सलाहें शत प्रतिशत उपयोगी होती थीं। यही कारण है कि समकालीन विद्वानों के सभाओं में टॉमस के शब्दों को देववाणी के समान आदरास्पद समझा जाता था। सन्त टॉमस के जीवन में अनेक बार ऐसे अवसर आये जब उसके समक्ष बड़ेबड़े धार्मिक पदों पर नियुक्ति का प्रस्ताव रखा गया लेकिन टॉमस ने इन सब प्रस्तावों को ठुकरा दिया और साफ-साफ यह कह दिया कि उसने विद्यार्जन इसलिए नहीं किया कि वह कोई बड़ा पद प्राप्त करे। ज्ञानार्जन का उसका एक मात्र उद्देश्य यही था कि वह ईश्वर से साक्षात्कार कर सके। पोप अर्बन ने उसे धर्मसंघ के उच्च पद पर नियुक्त करना चाहा। लेकिन उसने यह कह दिया कि वह किसी भी मनुष्य पर अपना शासन लादने का इच्छुक नहीं है। यदि उसके पास अन्य कोई कार्य शेष न रहेगा तो वह अपना शेष जीवन सत्य की शोध में ही व्यतीत करेगा। उसकी मृत्यु सन् १२७४ में ४८ या ४९ वर्ष की अल्पायु में ही हो गयी। मृत्यु के पूर्व कुछ समय तक उसका यह हाल हो गया था कि वह ईश-चिन्तन में अपने होश-हवास सब कुछ गँवा देता था। उसे ऐसी अचेतनावस्था के दौरे-से आने लगे थे। भोजनादि के व्यतिक्रम से तथा अस्वस्थावस्था में भी औषधि आदि न ग्रहण करने से टॉमस की आयु क्षीण हो गयी और ७ मार्च सन् १२७४ को उसे डोमनीकन सम्प्रदाय के भवन में ले जाया गया जहाँ उसने प्राण त्याग दिये। उसके शव के लिए बड़ा झगड़ा हुआ लेकिन अन्त में पोप ने उसे डोमनीकन सम्प्रदाय को दे दिया।

१०.२ टॉमस के प्रकृति संबंधी विचार—टॉमस एक्वीनाज प्रकृति के सोद्देश्य अस्तित्व में विश्वास करता था। उसका कहना था कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का अपना महत्व है और वह अपने ढंग से संसार के पूर्णत्व प्राप्त करने में योग प्रदान करती है—चाहे वह कितनी ही तुच्छ क्यों न हो। प्रकृति संबंधी उसके विचारों का निष्कर्ष यह था कि प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ लक्ष्य अवश्य होता है। इस योजना में मानव प्रकृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मानव प्रकृति के भी दो स्वरूपों की रूपरेखा एक्वीनाज ने दी। उसने बतलाया कि मनुष्य की एक तो जागतिक प्रकृति होती है और दूसरी आध्यात्मिक। जागतिक प्रकृति तो सांसारिक कार्य में रत रहती है और वह छल-कपट आदि दोषयुक्त भी हो सकती है, किन्तु मनुष्य की

आध्यात्मिक प्रकृति ऐसी त्रुटियोंसे युक्तनहीं रहती क्योंकि वह अपनी निश्छलता के ही कारण मानव-स्वभाव में ईश्वरीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। आध्यात्मिक प्रकृति का स्वभाव विवेकयुक्त होता है। मानवीय प्रकृति की इसी कल्पना के आधार पर टॉमस ने समाज संबंधी अपनी रूपरेखा तैयार की। जिस प्रकार प्रकृति का प्रत्येक अंग अपने स्थान पर महत्व-पूर्ण और उपयोगी है; ठीक उसी प्रकार समाज का छोटे से छोटा सदस्य भी उपयोगी है। वह महत्तर सदस्य की सेवा करता है और समाज का महत्तर सदस्य महत्तम की सेवा करता है और जो व्यक्ति समाज के उच्चतम आसन पर होता है, वह लघुतर व्यक्तियों के पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है। समाज संबंधी टॉमस के विचारों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर अरस्तू के सामाजिक दर्शन का कितना प्रभाव पड़ा था। अरस्तू की भाँति टॉमस भी यह मानता है कि समाज की रचना सबके लाभ के लिये हुई है। समाज का जन्म ही सबके लिये समान रूप से उपयोगी होने के कारण हुआ।

१०.३ **राज्य-संबंधी विचार**——राज्य के संबंध में टॉमस एक्वीनाज के विचार बहुत कुछ अरस्तू से मिलते थे। टॉमस का कहना था कि राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक रूप से हुई है। प्राकृतिक रूप से इसलिये कि उसके बिना मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं था। क्योंकि मानव-स्वभाव पूर्णता प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है, और राज्य उसमें सहायता कर सकता है——इसलिये उसका जन्म होना स्वाभाविक था। अरस्तू के इस विचार से सहमत होते हुए भी एक्वीनाज के सामने यह प्रश्न था कि वह मध्ययुग में राज्य की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित सिद्धान्तों से उनका मेल किस प्रकार बैठाये। उन दिनों ईसाई मत के समर्थकों का कहना था कि मनुष्य के पापी हो जाने से ही राज्य का जन्म हुआ। टॉमस ने इन दोनों सिद्धान्तों के बीच समन्वय करने का प्रयास किया। राज्य को समाजोपयोगी संस्था मानते हुए टॉमस एक्वीनाज ने लिखा है कि उसके बिना मनुष्य की समुचित उन्नति संभव नहीं है। टॉमस ने राज्य के संबंध में कुछ रचनात्मक विचार भी प्रकट किये हैं जिनमें आधु-निकता का स्पर्श स्पष्टतः दिखलायी पड़ता है। वह लोककल्याणकारी राज्य (Welfare State) में विश्वास करता है। उसका कहना है कि राज्य को प्रजाजनों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय खोलने चाहिए। ज्ञान की शाखाओं-प्रशाखाओं के अध्ययन की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। निर्धनों की सहायता करनी चाहिए और जो काम कर सकें उनको काम दिलाने की व्यवस्था करनी चाहिए। उसने भिक्षुगृह (Poor houses) खोलने की भी सलाह दी थी।

टॉमस का कहना है कि सत्ताओं का आदि स्रोत ईश्वर है। अतएव राजसत्ता का भी स्रोत ईश्वर ही है। यह सत्ता ईश्वर से समाज को मिलती है। समाज इस सत्ता को शासन करने की क्षमता रखनेवाली शक्तियों को दे देता है। इसलिए, प्रकारान्तर से सरकार की सत्ता का स्रोत तो ईश्वर ही हुआ। समाज की शक्ति को मान करके अरस्तू की भाँति एक ओर तो टॉमस ने राजसत्ता का मूल स्रोत सामाजिक व्यवस्था में बतलाया है——वहीं दूसरी ओर राज्य की उत्पत्ति के धर्मसम्मत दैवी सिद्धान्त के भी औचित्य को सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार के समन्वयात्मक कार्य में स्कॉलस्टिक दर्शन की छाप स्पष्टतः दिखलायी पड़ती है और इसी से यह भी समझा जा सकता है कि उन दिनों की प्रवृत्ति क्या थी।

१०.४ **राज्यों का वर्गीकरण**——राज्यों का वर्गीकरण करते हुए टॉमस ने अरस्तू की राज्य-वर्गीकरण व्यवस्था का ही अनुसरण किया है। टॉमस ने भी पाँच छः प्रकार के राज्य बतलाये हैं। वह निरंकुश शासनतंत्र (Tyranny) को सबसे खराब बतलाया है। यह उसकी दृष्टि में राजतंत्र (Monarchy) का भ्रष्ट स्वरूप है। राजतंत्र को टॉमस ने सर्वोत्तम बतलाया है। उसका कहना है कि जिस राज्य में एक ही राजा होता है जो

विवेक तथा न्याय से शासन करता है—वही सर्वोत्तम राज्य है। राज्य का सबसे बड़ा विशेष गुण उसकी एकता है। यह एकता राजतंत्र में ही प्राप्त हो सकती है। इसके उपरान्त आभिजात्यतंत्र (Aristocracy), मध्यवर्गीय जनतंत्र (Polity), सामन्ततंत्र और लोकतंत्र (Democracy) का नम्बर आता है। लोकतंत्र आदि में राज्य की एकता संबंधी वे गुण नहीं पाये जाते जो शक्तिशाली राज्य का निर्माण कर सकें। उसका कहना है कि राजतंत्र तभी तक चल सकता है जब तक उसमें शासक विधि-विहित रीति से शासन करता है। जहाँ वह विधि-विहित मार्ग से भ्रष्ट हुआ कि उसमें निरंकुशता आयी। निरंकुश शासक में सबसे बड़ा दुर्गुण यह उत्पन्न हो जाता है कि वह अत्याचार करने लगता है। लेकिन अत्याचारी शासक के विरुद्ध जॉन सैलिसवरी की भाँति टॉमस प्रजा को क्रान्ति का अधिकार नहीं देता है। उसका कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि राजा की हत्या से प्रजा को अत्याचारों से मुक्ति ही मिल जाय।[1] टॉमस ने राजतंत्र को वंशानुगत रखने के बजाय निर्वाचित कर देने की परिपाटी का अनुमोदन किया है। टॉमस का यह भी कहना है कि निर्वाचन के पश्चात् राजा से यह शपथ करानी चाहिए कि वह विधि-विहित रीति से ही प्रजा का शासन करेगा।

१०.५ राज्य का लक्ष्य—टॉमस ने लिखा है कि राज्य का लक्ष्य वही है जो मनुष्य का है। मनुष्य मोक्ष या निर्वाण चाहता है। वह चाहता है कि उसे संसार-चक्र से मुक्ति मिल जाय। यह मुक्तिलाभ कैसे हो ? इस संबंध में टॉमस का कहना है कि ऐसा तभी संभव है जब मनुष्य सारा मोह-माया और ममता को तिलांजलि देकर अपने को निर्दोष बना ले ; दूसरे शब्दों में जब वह सद्गुणी बन जाय। मनुष्य इसी दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न भी करता है। लेकिन उसके मार्ग में बाधाएँ आती हैं। ये बाधाएँ उस समय और भी अधिक बड़ी प्रतीत होती हैं जब मनुष्य एकाकी रूप से प्रयत्न करता है। अतएव, राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करे और ऐसे वातावरण की रचना करे जिससे मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायता प्राप्त हो। यही राज्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।

राज्य के अन्य कर्त्तव्यों की विवेचना करते हुए टॉमस ने लिखा है कि राज्य का प्राथमिक कर्त्तव्य शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना है। वह कहता है कि राज्य की एकता ही उसकी शान्ति और व्यवस्था में निहित है और वस्तुतः 'राज्य की एकता' और 'राज्य की शान्ति' इन दोनों अभिव्यक्तियों में कोई अन्तर नहीं है। वे एक समान हैं। आन्तरिक शांति और व्यवस्था की स्थापना के बाद राज्य का इसी के समान दूसरा महत्वपूर्ण कार्य बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा करना है। शासकों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने नागरिकों को सदाचारी बनावें। अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था हो। आबागमन के मार्गों को सर्वसुलभ बनाया जाय। टॉमस ने इन विचारों को यूनानी, रोमन तथा ईसाई धर्म के साहित्य का भली भाँति अध्ययन करने के बाद प्रकट किया था।

१०.६ टॉमस की पद्धति और कृतित्व—टॉमस एक्वीनाज की पद्धति समन्वयात्मक और कौशलपूर्ण रचनात्मक कार्य करने की थी। वह चाहता था कि स्कॉलस्टिक दर्शन की सहायता से यूनानी साहित्य की उन सर्वोत्तम बातों को धर्मशास्त्रों के विश्वासों से संबंधित कर दिया जाय जो मध्ययुग में प्रचलित थे। टॉमस के समय में ही अरस्तू के प्रमुख ग्रंथ अरबी भाषा म अनुवादित होकर लैटिन में आये जिनका उसने अपने गुरु अलबर्ट महान् के साथ

---

[1] उदाहरण के लिए फ्रांस की राज्यक्रान्ति का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। चौदहवें लुई तथा उसकी रानी को गिलोटिन द्वारा मौत के घाट उतार देने पर भी फ्रांस की जनता को अत्याचारों से मुक्ति नहीं मिल गयी। इसके विपरीत क्रान्ति के बाद अत्याचार और अधिक बढ़ गये थे।

मिलकर अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया। कुल मिलाकर अरस्तू ने ३० ग्रंथों की रचना की जिनमें से **सम्मा थियोलॉजिया** (Summa Theologia) अरस्तू की **'पॉलिटिक्स' की टीका** (Commentaries on the Politics of Aristotle), **दि रूल ऑफ प्रिंसेज** (The Rule of Princes) और **सम्मा कण्ट्रा जेण्टाइल्स** (Summa Contra Gentiles) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। टॉमस के राजनीतिक विचार हमें 'दि रूल ऑफ प्रिंसेज' नाम की पुस्तक से प्राप्त होते हैं। यह पुस्तक टॉमस पूरी तरह नहीं लिख पाया था। इस पुस्तक के प्रथम भाग के ६ अध्याय ही टॉमस के लिखे हैं। शेष रचना **टोलेमी ल्युका** ने लिखी है। जो टॉमस का एक शिष्य था। **'सम्मा थियोलॉजिया'** में विधि की विवेचना की गयी है।

१०.७ **विधि की विवेचना**—टॉमस एक्वीनास के सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचार विधि की मीमांसा संबंधी हैं। विधि की परिभाषा करते हुए टॉमस ने लिखा है, "विधि विवेक सम्मत वह आदेश है जिसका लक्ष्य लोक-कल्याण होता है और यह आदेश उस व्यक्ति द्वारा दिया जाता है जिसके ऊपर किसी समुदाय की व्यवस्था का भार होता है।"[१] विधि के गुणों की व्याख्या करते हुए टॉमस ने विस्तारपूर्वक यह बतलाया है कि वह सार्वभौमिक, अपरिवर्तनशील और स्वभाविक होता है। मनुष्य द्वारा निर्मित विधि को रचनात्मक विधि बतलाते हुए टॉमस ने कहा है कि यदि उस विधि द्वारा न्याय या धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लंघन होता है तो वह यथार्थ रचनात्मक विधि नहीं है अपितु उसका भ्रष्ट स्वरूप है। विधि का आदिस्रोत प्रकृति है। प्रकृति की विधि का उल्लंघन करने की शक्ति किसी भी मानव में नहीं है—चाहे वह पोप ही क्यों न हो। विधि के प्रति पोप और सामान्य व्यक्ति—दोनों को समान रूप से श्रद्धा रखना चाहिए। विधि के प्रति आस्था और श्रद्धा का यह भाव बड़ा महत्वपूर्ण था। सन्त टॉमस ने विधि के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये उन्हीं विचारों के आधार पर **प्लेटो,** और **लॉक** ने भी अपने विचारों को विकसित किया था।

विधि संबंधी उक्त विचारों को प्रकट करने के पूर्व टॉमस ने **हॉब्स, अरस्तू, सिसरो** और **जॉन शॅलिसबरी** की विधि संबंधी मीमांसाओं और विवेचनाओं का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया। **प्लेटो** ने विधि संबंधी विचारों को दो पुस्तकों में दो ढंगों से प्रकट किया है। **'रिपब्लिक'** में तो जहाँ प्लेटो ने एक ओर दार्शनिक शासन की इच्छा ही विधि बतलायी है वहीं अपनी पुस्तक 'दि लॉज' में विधि की परिभाषा देते हुए लिखा है कि वह संबंधित राज्य की सामाजिक परम्पराओं एवं विधिवत्ताओं के दार्शनिक ज्ञान द्वारा निर्मित होती है। अरस्तू ने विधि और विवेक को समान बतलाया है। **सिसरो** ने प्राकृतिक विधि की विवेचना की और कहा है कि प्राकृतिक विधियाँ मनुष्य के स्वभाव में होती हैं। वे सदैव एक सी रहती हैं। इन्हीं प्राकृतिक विधियों को समझकर समाजोपयोगी दृष्टि से प्राकृतिक विधियों का जो विकास किया जाता है वही विधियाँ मानवीय होती हैं। इनको राज्य की सहमति प्राप्त होना आवश्यक होता है। राज्य-सम्मत सभी विधियाँ प्राकृतिक विधि के अनुकूल होती हैं। मानवीय विधियाँ इस प्रकार मानवीय सूझ-बूझ का प्रकट स्वरूप हैं।

१०.८ **विधियों का वर्गीकरण**—टॉमस ने विधियों का वर्गीकरण करते हुए बतलाया है कि वे चार प्रकार की होती हैं : (क) शाश्वत विधियाँ (Eternal Laws), (ख) प्राकृतिक विधियाँ (Natural Laws), (ग) मानवीय विधियाँ (Human Laws) और (घ) दैवी विधियाँ (Divine Laws)।

---

१ Law is an ordinance of reason for the common good, promulgated by him who has the care of a community." Thomas Aquinas in *Summa Theologia*, Bk. II, Ch, I, p. 90.

(क) शाश्वत विधियाँ (Eternal Laws)—वे विधियाँ हैं जो केवल ईश्वर के ही मस्तिष्क में रहती हैं। ईश्वरीय विधियों की योजना या विधान से अन्य कोई परिचित नहीं है। इन विधियों में संसार ही नहीं अपितु समस्त ब्रह्माण्ड का विधान छिपा है। ये विधियाँ सर्वोच्च विवेक को प्रतीक हैं। इनका ज्ञान पूर्णरूप से प्राप्त कर लेना मानव शक्ति की बात नहीं है। लेकिन मानवीय प्रकृति में कुछ दैवी अथवा आध्यात्मिक अंश भी होता है। मानवीय प्रकृति के इसी अंश पर शाश्वत विधियों की एक हल्की, झीनी-सी क्षीण छाया निरन्तर विद्यमान रहती है। यह अस्पष्ट होती है। मनुष्य अपने चेतन मस्तिष्क द्वारा इसका पूर्णतया विश्लेषण नहीं कर पाता है। फिर भी वह शाश्वत विधियों को अन्तरंग रूप से अनुभव करता हुआ अपने आचरण को तदनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। यही प्रयत्न उसे ईश्वर की प्राप्ति के लिये भी उकसाता है। मनुष्य अपने लघु प्रयत्नों द्वारा शाश्वत विधियों का पूर्ण ज्ञान तो प्राप्त कर नहीं पाता, अतएव, जो कार्य ईश्वर की आज्ञानुसार या शाश्वत विधियों के अनुरूप होते हैं और जो उसकी समझ में नहीं आते उनको कभी भाग्य का विधान या कभी प्रारब्ध का तमाशा समझ लेता है। परन्तु उसकी यह समझ ईश्वरीय स्वरूप का केवल विकृत रूप ही प्रकट करती है।

(ख) प्राकृतिक विधियाँ (Natural Laws)—वे विधियाँ हैं जो शाश्वत विधियों की भाँति पूर्णतया अस्पष्ट नहीं होतीं। यद्यपि उनकी उत्पत्ति का आधार शाश्वत विधियाँ ही होती हैं। प्राकृतिक विधियाँ एक प्रकार से मानव मस्तिष्क में शाश्वत विधियों का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप ही हैं। प्राकृतिक विधियाँ एक प्रकार से मनुष्य की बुद्धि की ग्राह्यशक्ति का ही परिचय देती हैं। मनुष्य किसी कार्य को बिना किसी निर्देश के अच्छा समझता है और किसी कार्य को सर्वथा बुरा और उसे नहीं करता जब कि जिस कार्य को अच्छा समझता है उसे तुरन्त कर डालता है। जीवन की रक्षा करने की प्रवृत्ति भी प्राकृतिक विधि की ओर ही इंगित करती है। मनुष्य की सामाजिकता, परोपकार की वृत्ति, दीन-दुखियों की सहायता की इच्छा, सत्य के शोध की उत्कण्ठा और विकास मार्ग की ओर निरन्तर बढ़ते रहने की अभिलाषा इसी ओर संकेत करती हैं।

(ग) मानवीय विधियाँ (Human Laws)—प्राकृतिक विधियों का वह स्वरूप है जो विशेष व्यावहारिक परिस्थितियों में बुद्धि की सहायता से बनायी जाती है। जब प्राकृतिक विधियाँ परम्परा का रूप धारण कर लेती हैं तो राज्य उनकी पुष्टि कर देता है। यह पुष्टि जहाँ एक ओर उक्त परम्पराओं के प्रति राज्य की सहमति प्रकट करता है—वहीं यह धमकी भी देता है कि यदि उन परम्पराओं का जो प्राकृतिक विधि द्वारा अनुमोदित हैं और जिन्हें राज्य की सहमति प्राप्त हो चुकी है कोई उल्लंघन करेगा तो वह राज्य के कोप का भागी होगा।

(घ) दैवी विधियाँ (Divine Laws)—दैवी विधियाँ उनको बतलाया गया है जो धर्मग्रंथों में लिखी हुई हैं। जहाँ मनुष्य की बुद्धि और उसका विवेक काम नहीं करता वहाँ उसकी त्रुटियों को ये दैवी विधियाँ दूर करती हैं। दैवी विधियों का पालन करना भी टॉमस ने अत्यन्त आवश्यक बतलाया है और कहा है कि बिना इन विधियों का पालन किये मनुष्य को संसार से छुटकारा नहीं मिल सकता।

इन विधियों के संबंध में सन्त टॉमस ने जो विचार प्रकट किये हैं, यदि उनको ध्यान से देखा जाय तो विदित होगा कि विधियों को इस मीमांसा की पृष्ठभूमि में संत टॉमस की मौलिक विचार धारा छिपी है। संत टॉमस ने शाश्वत विधियों और प्राकृतिक विधियों के संबंध में जो कुछ कहा है उसमें से बहुत कुछ भाग अस्पष्ट हैं। इस संबंध में टॉमस का स्पष्टीकरण यह है कि मनुष्य सारा ज्ञान वैज्ञानिकता और विवेक तथा बुद्धि की सहायता से ही नहीं प्राप्त कर सकता है। कभी-कभी उसे ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रद्धा और विश्वास पर भी निर्भर करना पड़ता है। इसके विपरीत मानवीय विधियों का आधार ही विवेक होता है।

११. धर्मसत्ता और राजसत्ता संबंधी टॉमस का मत

सन्त टॉमस के राज्य, समाज, प्रकृति तथा विधि संबंधी मतों का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम मध्य युग की समस्या धर्मसत्ता और राजसत्ता के पारस्परिक संबंधों के विषय में टॉमस के विचारों पर थोड़ा सा प्रकाश डालेंगे। राज्य के लक्ष्य पर जिस अनुच्छेद में हमने प्रकाश डाला है उसमें हम यह तो कहही आये हैं कि उसका कर्त्तव्य ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करना है जिसमें मनुष्य सद्गुणी बन सके और ईश्वर से साक्षात्कार कर मुक्ति प्राप्त कर सके। मनुष्य के जीवन का इससे अधिक ऊँचा अन्य कोई लक्ष्य नहीं हो सकता। मुक्ति प्राप्त करना मानव जीवन का लक्ष्य है और यद्यपि तत्संबंधी कार्य में सहायता करना राज्य का कर्तव्य है तथापि राज्य केवल वाह्य वातावरण ही प्रस्तुत कर सकता है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य की आत्मा को शुद्ध करने का काम धर्म का होता है। जो शक्ति मनुष्य की आत्मा का नियमन करती है और उसे संयम की शिक्षा देती है वह निश्चय ही उस शक्ति से श्रेष्ठतर है जो केवल लक्ष्यपूर्ति के बाह्य साधनों को जुटाती है। इतने पर भी दोनों सत्ताओं का अपने-अपने स्थान पर महत्व है। उन्हें प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों के रूप में नहीं अपितु सहयोगी के रूप में ग्रहण करना चाहिए। बाह्य शक्तियों क अर्थात् राजसत्ताके अधिकारियों को चाहिए कि वे पथ-प्रदर्शन आन्तरिक शक्ति अथवा धर्मसत्ता के अधिकारियों से ग्रहणकरें। ऐसा करने से राज-सत्ता का ही नहीं सारे संसार का लाभ होगा। इसी तर्क के सहारे टॉमस ने यह प्रमाणित किया था कि पोप को ही संसार की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होना चाहिए। टॉमस दीन-दुखियों के कष्टों को देखकर बड़ा क्षुब्ध होता था और कहता था कि इन संसारव्यापी दुखों का अन्त हो सकता है बशर्ते संसार भर के निवासी ईसाई धर्म स्वीकार कर पोप की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लें क्योंकि ऐसी दशा में सभी व्यक्ति ईश्वर के प्रतिनिधि की शरण में पहुँच जावगे जो उनकी सभी कष्टों से रक्षा कर सकता है। यही कारण है कि राजसत्ता से धर्मसत्ता कहीं अधिक श्रेष्ठ है। टॉमस का कहना था कि यदि पोप की आज्ञा का पालन किया जाता है तो वह राजसत्ता और संसार के हित में ही होगा। टॉमस ने पोप के धर्म-बहिष्कृत करदेने के अधिकार का भी समर्थन किया था। उसका कहना था कि राजा या कोई भी शासक भले ही ईश्वर का अंश क्यों न हो यदि वह ईश्वर की शक्ति का ही विरोध करता है तो पोप को उसको धर्म बहिष्कृत कर देने का पूरा-पूरा अधिकार है। पोप के इस अधिकार का औचित्य सिद्ध करने की भी एक पृष्ठभूमि थी। सन्त टॉमस मध्य युग की अव्यवस्था से परिचित था। वह जानता था कि यदि पोप की एकताकारी शक्ति भी लुप्त हो जाती है तो सामन्तवादी यूरोप आपस में ही लड़-भिड़कर नष्ट हो जायगा। यहाँ टॉमस ने भूल की थी। वह भावी राजनीतिक विकास की प्रवृत्तियों का अपनी अति धार्मिकता के कारण भली भाँति अनुमान नहीं लगा पाया। उसने राष्ट्रीयता के बीजों को नहीं पहचाना। इसी प्रकार धर्मसत्ता और राजसत्ता को एक दूसरे की पूरक शक्तियाँ बतलाकर टॉमस ने एक बार पुनः अपनी उग्र मूल वृत्ति का ही परिचय दिया था जिसके अनुसार वह संसार की प्रत्येक वस्तु को समन्वित करने का प्रयास किया करता था। समन्वयवाद की यह प्रवृत्ति उसकी प्रकृति, समाज और राज्य की कल्पना से बिलकुल मेल खाती थी। इतने पर भी उसने कई ऐसी बातें भी कीं जिनसे लगता है कि वह केवल प्रचलित परम्परा को ही उचित सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है। इनमें से एक बात थी पोप के अधिकार में सम्पत्ति रहने की। हम इसी अध्याय के पिछले अनुच्छेदों में केथारायन, वेल्स-डेनियम आदि सम्प्रदायों की चर्चा कर चुके हैं। इनका **पोप इन्नोसेन्द,** तृतीय ने बड़ी निर्ममता से दमन किया था। इस दमन का कारण यह था कि ये दोनों ही सम्प्रदाय निर्धनतापूर्ण जीवन बिताने के समर्थक थे और यह पसन्द नहीं करते थे कि पोप या ईसाई संघ के अधिकारी विपुल धन के स्वामी बनकर बैठें और उसके सहारे धर्म के नाम पर मजे उड़ावें। उक्त सम्प्रदायों का

जब दमन हुआ तो टॉमस ने पोप के दमन-कार्य का भी समर्थन किया। यह बात टॉमस के आदर्श चरित्र को देखते हुए कुछ बड़ी ओछी सी लगती है। फिर भी प्रचलित परम्पराओं को उचित सिद्ध करने की यह परम्परा सन्त टॉमस की चलायी हुई नहीं थी। प्लेटो तो यूनान में प्रचलित दासता की प्रथा के बारे में मौन रह गया था और यदि संस्कृत की एक कहावत के अनुसार मौन को सम्मति का एक लक्षण मान लिया जाय तो प्लेटो ने भी दासता के विरुद्ध कुछ न कहकर एक प्रकार से अपनी सहमति ही दी थी। अरस्तू ने तो इस दिशा में मार्ग बिलकुल स्वच्छ कर दिया था। अरस्तू ने दासता को खराब बतलाया फिर भी उसका समर्थन किया। प्रतीत होता है कि अरस्तू द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर टॉमस ने भी पोप के सम्पत्ति रखने के अधिकार का समर्थन किया था। टॉमस यह मानता था कि सम्पत्ति की अधिकता पापमूलक है किन्तु उसका कहना था कि सम्पत्ति का पोप के अधिकार में रहने से वह स्वरूप नहीं रहता जो किसी सामन्त या धनिक के अधिकार में रहने से होता है। पोपके पास रहने वाली सम्पत्ति धार्मिक विधियों के अनुसार गरीबों या निर्धनों की सहायता के लिए प्रयुक्त होती है। जिस सम्पत्ति पर धर्म की मुद्रा अंकित हो जाती है––उसके दोष स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। लेकिन यह प्रकट है कि टॉमस अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को प्रयुक्त करने के बाद भी व्यावहारिक जगत् में पोपों तथा धर्माधिकारियों को सम्पत्ति का दुरुपयोग करने से नहीं रोक सका। यह बात इतिहास-सिद्ध है।

१२. राजदर्शन के इतिहास में टॉमस का स्थान

राजदर्शन के इतिहास में सन्त टॉमस एक्वीनाज की मध्य युग के प्रमुख विचारकों में गणना की जाती है। टॉमस ने दैवी तथा मानवीय ज्ञान के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करके यह चेष्टा की कि सम्पूर्ण मानव समाज की अवस्था सुधर सके। उसकी कृतियों में यूनानी, रोमन तथा मध्य युग के पादरी लेखकों के विचारों का अद्भुत सम्मिश्रण पाया जाता है। कुछ लोग टॉमस को व्यक्तिवादी भी बतलाते हैं। संभवतः ऐसा कहने वालों का आशय यह रहता होगा कि जहाँ तक मुक्ति का संबंध है वह व्यक्ति को ही मिल सकती है और इस दृष्टि से व्यक्ति को ही सबसे अधिक महत्व प्राप्त है। उसे इन अर्थों में भी व्यक्तिवादी माना जा सकता है कि वह राज्य, समाज तथा सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को व्यक्ति का हित करने का साधन ही मानता था। उसने धर्मसत्ता को जो प्रधानता दी उसका कारण यह था कि उसका युग ही राज्य की आधुनिक कल्पना से वंचित था। इतना होते हुए भी अरस्तू के विचारों के प्रभाव के कारण सन्त टॉमस की रचनाएँ अधिक व्यवस्थित, अधिक विवेकपूर्ण तथा अधिक तर्कसंगत हैं। अत्यधिक धार्मिकता के कारण ही उसकी रचनाओं में मध्यकालीनता का प्रभाव अधिक दिखलाई पड़ता है।

१३. एजीडियस रोमुनस

यह सन्त टॉमस एक्वीनाज का शिष्य था। इसने दो प्रमुख ग्रंथ लिखे। एक का नाम **डी रेजीमाइन प्रिंसिपम** (De Regimine Principum) है और दूसरे का नाम **एक्लेजियास्टका पोटेस्टेट** (De Ecclsiastica Potestate) है। डी रेजीमाइन प्रिंसिपम नाम का एक ग्रंथ सन्त टॉमस ने भी लिखना शुरू किया था जिसे बाद में सन्त टॉमस के एक दूसरे शिष्य टोलेमी ल्यूका ने पूरा किया था। कहा जाता है कि वह फिलिप तृतीय के राजकुमार का अध्यापक था।

सन्त टॉमस ने राज्य के संबंध में जो विचार प्रकट किये हैं उनसे एजीडियस ने कहीं भी मतभेद प्रकट नहीं किया है; किन्तु उन्हीं विचारों को इस व्यवस्था के साथ अवश्य लिख दिया है कि वे आसानी से समझ में आ सकें। वह सन्त टॉमस की भाँति निर्वाचित राजतंत्र (Elective Royalty) को अच्छा नहीं समझता था। उसका कहना था कि राजवंशानुगत

रीतिसे सत्ताधारी होनेवाले शासक ही राजकार्यके लिए अच्छे प्रमाणित होते हैं। **सन्त टॉमस** ने राज्य में न्यायपालिका संबंधी विषय को लगभग अछूता ही छोड़ दिया है किन्तु **एजीडियस** ने उसकी विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए विधि संबंधी विचारों को प्रकट किया है। उसकी विधि संबंधी विवेचना में यद्यपि सन्त टॉमस के विचारों से कोई मौलिक अन्तर नहीं है, तथापि उनमें सुस्पष्टता और क्रमबद्धता अधिक है--यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। विधि की मीमांसा करते हुए एजीडियस ने विधि तथा अधिकार इन दोनों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है और दोनों के बीच एक सीमारेखा भी खींचने का प्रयास किया है। धर्मसत्ता और राजसत्ता म वह धर्मसत्ता को श्रष्ठ मानता था। एजीडियस का कहना था कि पोप भौतिक और आध्यात्मिक--दोनों जगतों में ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते सर्वोच्च अधिकारी है। यही कारण है कि अन्य सब वस्तुओं के समान राजसत्ता भी उसी के अधीन है।

एजीडियस की महत्ता इसमें नहीं है कि उसने कोई मौलिक विचार राजदर्शन को दिये, अपितु इसमें है कि उसने सन्त टॉमस के अपेक्षाकृत बिखरे हुए विचारों का सुसम्पादन कर उन्हें व्यवस्थित और क्रमबद्ध रीति से हमारे सम्मख प्रस्तुत किया।

१३

धर्मसत्ता और राजसत्ता का द्वन्द (२)

१. पोपतंत्र का ह्रास--२. धर्म और राजसत्ता के दो ऐतिहासिक संघर्ष--३ राजसत्ता के समर्थकों के तर्क--४. राजसत्ता के समर्थकों की माँगें--५. मार्सीलिओ पेडुआ का जीवन--६. मार्सीलिओ के विचार--७. विलियम ओकाम--८. पेरिस-वासी जान, दाँते और पियरे ड्यूबॉय--९. पोप समर्थक विचारक।

१. पोपतन्त्र का ह्रास

तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक ईसाइयों के धर्मतंत्र या धर्मसापेक्ष राज्य (Theocracy) की कल्पनास्वप्न-जगत्‌की वस्तु न रहकर भौतिक जगत्‌की जीती-जागती वस्तु बनचुकी थी। इन्हीं दिनोंमें पोप की सत्ता भी अपने चरम बिन्दुतक पहुँच गई थी। पोप ग्रेगरी सप्तम (हिल्डे ब्राण्ड), संत बर्नार्ड, मेनगोल्ड, जॉन सैलिसबरी तथा सन्त टॉमस एक्वीनाज आदि जैसे धर्मसत्ता-समर्थकों का युग व्यतीत हो चुका था और कालचक्र धर्मसत्ता को एक बार प्रभुत्व की शीर्षतम स्थिति में पहुँचा देनेके बाद नीचे की ओर चलने के लिए झुक पड़ा था। मध्यकालीन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था भी शनैः-शनैः बदल रही थी। उसका स्थान देशराज्य या राष्ट्र राज्यों द्वारा लिया जाने वाला था। राजसत्ताधीशों ने पोप के दण्डविधानों का सामना करना भी सीख लिया था और वे क्रमशः यह समझने लगे थे कि पोप का दण्डविधान उनकी अपनी निर्बलता की वजह से ही सफल हो पाता है। यदि वे पोप से अधिक शक्ति संचित कर लें अथवा अपने राज्य में ही अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लें तो पोप के शाप भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकेंगे। पोप की शक्ति का दूसरा कारण यह भी था कि समकालीन राजाओं में विवेकपूर्ण दूरदर्शिता का अभाव था। वे मध्यकालीन अंधविश्वासों के पाश में बँधे थे। इतने पर भी वे यह बराबर अनुभव करते थे कि उनकी स्थिति धर्मसत्ता की तुलना में दृढ़तर होनी चाहिए। फिर भी उनमें इतनी आत्मशक्ति न होती थी कि वे पोप के विरुद्ध विद्रोह कर पाते। इसका सबसे बड़ा उदाहरण लोरेन के राजा लोथेयर के भाई लुई की कहानी में मिलता है। लुई सेना लेकर रोमतक चढ़ गया था किन्तु वहाँ जाकर उसने पोप की शक्ति के सामने झुक जाने में अपना भला समझा और बल प्रयोग द्वारा अपनी शर्तों को मनवाने की जरा सी भी चेष्टा नहीं की। सच बात तो यह थी कि पोप ने मध्यकाल में हर बार आत्म-शक्ति द्वारा ही विजय पायी। पोप ने राजाओं को परास्त करने के लिए सेनाएँ कभी नहीं रखीं। किन्तु पोपों की यह आध्यात्मिक शक्ति भी शनैः शनैः जवाब देने लगी। सम्पत्ति और धन के मद में आकर वे अपने कर्तव्यों को भूल बैठे तथा अपने अधिकारों का आवश्यकता से अधिक प्रयोग करने लगे। जिस समय ईसाई संघ या गिरजाधीशों को सम्पत्ति रखने का अधि-कार दिया गया था उस समय उनसे यह आशा की गयी थी कि उस सम्पत्ति का अपने निजी कामों के लिए नहीं अपितु दीन-दुखियों की सहायता के लिए प्रयोग करेंगे और आरंभ में ऐसा हुआ भी। ऐसे कई पोपों के नाम गिनाये जा सकते हैं जो राजाओं से भी अधिक सम्पत्ति के स्वामी होते हुए अत्यन्त साधारण व्यक्तियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन उत्तरा-धिकारी पोपों ने न तो उस कोटि की आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जो उनके पूर्वाधिकारियों को प्राप्त थीं और न उन्होंने नैतिक आचरण के उन ऊँचे आदर्शों

का ही पालन किया जिसकी उनसे आशा की जाती थी। वे अपने निजी भोग-विलास के कार्यों में चर्च के कोष को पानी की तरह बहाने लगे जिसका परिणाम यह हुआ कि पोप का कुबेर जितना धन भी खाली होने लगा। इस कोष की पूर्ति के लिए तथा अपने खर्चों को चलाने के लिए चर्च द्वारा वसूल किए जाने वाले करों की उगाही सख्ती से की जाने लगी। धार्मिक करों की वसूली के भी ठेके दिये जाने लगे। जो धार्मिक कर स्वेच्छा से ईसाई धर्म के अनुयायी पोप के चरणों में आकर भेंट चढ़ाया करते थे उन्हीं करों की वसूली के लिए जब जनता पर सख्ती होने लगी तो स्थिति बड़ी विचित्र-सी हो गयी। पोपों की हीन मनोवृत्ति, रुपया कमाने की दुष्टतापूर्ण चालों तथा उनके अनैतिक जीवन से न केवल राजसत्ताधीश और उनके समर्थक हो ऊब उठे, अपितु सामान्य ईसाई नागरिकों पर भी उनकी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। राजनीति-विशारदों ने अरस्तू जैसे विवेकी दार्शनिकों के ग्रंथों का अध्ययन आरंभ कर दिया और उनके विचारों की शिक्षा विश्वविद्यालयों में दी जाने लगी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि लोग पाप की पोल को समझ गये और उन्होंने धर्मसत्ता के अन्यायों का विरोध करने के लिए कमर कस ली। चौदहवीं शताब्दी में यह स्थिति उत्पन्न हो गयी कि जनता ने पोप के धर्म-बहिष्कृत करने के अधिकार की भी अवज्ञा आरंभ कर दी और यह कहना शुरू कर दिया कि जो व्यक्ति स्वयं धर्म की शिक्षाओं का अवलम्बन न कर, अनैतिक जीवन बिताता है, उसे कम अनैतिक जीवन बितानेवाले, कम कदाचरण करनेवाले तथा धार्मिक शिक्षाओं का उससे अधिक पालन करनेवाले व्यक्तियों को दण्डित करने का कोई अधिकार नहीं है। जनता भी समझ गयी कि पोप के भड़काने में आकर राजा के विरुद्ध विद्रोह करने से उसके संकटों में और अधिक वृद्धि हो जायगी। इधर धर्माधिकारियों ने भी यह अनुभव किया कि उनका कल्याण इसी में है कि वे राजसत्ता के अधीन रहकर धार्मिक प्रचार का कार्य करें और पोप के साथ मिलकर राजसत्ता-विरोधी षड़यंत्र न करें। इस प्रकार की समझ उत्पन्न हो जाने के कारण राजसत्ताधारियों को इस बात का खतरा नहीं रहा कि यदि वे पोप का विरोध करेंगे तो प्रजा उनके विरुद्ध हो जायगी। यहीं नहीं स्वयं ईसाई संघ के धर्माधिकारियों में ही ऐसे कई व्यक्ति निकल आये जिन्होंने पोप की सत्ता का अत्यन्त कठोर एवं उग्र विरोध करना आरंभ कर दिया।

२. राजसत्ता और धर्मसत्ता के दो ऐतिहासिक संघर्ष

धर्मसत्ता और पोप के विरुद्ध जो काले बादल घिर रहे थे, अन्त में वह बरस ही पड़े। चौदहवीं शताब्दी में ऐसे दो संघर्ष हुए जिन्होंने धर्मसत्ता की मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा तथा शक्तिक्षमता को बड़ी गहरी ठेस पहुँचायी; पहला संघर्ष तो फ्रांस के राजा **फिलिप चतुर्थ** और **पोप बोनीफेस** के बीच हुआ। इस संघर्ष में फिलिप चतुर्थ विजयी हुआ। दूसरा संघर्ष बोनीफेस की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी **पोप जॉन** २२वें तथा बवेरिया के राजा लुई में हुआ। लुई तथा जॉन के संघर्ष में राजसत्ता की चिरस्थायी विजय तो नहीं हुई जिसके कुछ कूटनीतिक कारण थे, किन्तु लुई ने रोम पर आक्रमण करके तथा पोप को गद्दी से उतारकर यह सिद्ध कर दिया कि यदि पोप पर शस्त्रबल का भी प्रयोग किया जाय तो कोई कहर न ढह पड़ेगा। इस प्रकार के मार्ग का फिलिप चतुर्थ ने पहले ही दरवाजा खोल दिया था।

२.१ **फिलिप बोनीफेस संघर्ष काण्ड**—सबसे पहले हम फ्रांस के राजा फिलिप चतुर्थ और पोप बोनीफेस के संघर्ष पर विचार करेंगे। फिलिप चतुर्थ फ्रांस के भूतपूर्व राजा फिलिप तृतीय का पुत्र था और इसने संत टॉमस के प्रसिद्ध शिष्य एजीडियस रोमुनस से शिक्षा पायी थी। यह आश्चर्य की बात है कि संत टॉमस का शिष्य और फिलिप चतुर्थ का गुरु एजीडियस रोमुनस यद्यपि धर्मसत्ता का जबर्दस्त हिमायती था फिर भी उसका शिष्य फिलिप चतुर्थ उसकी शिक्षाओं के बावजूद, आगे चलकर धर्मसत्ता का इतना शक्तिशाली विरोधी सिद्ध हुआ।

फिलिप चतुर्थ और बोनीफेस अष्टम की लड़ाई इस प्रश्न को लेकर आरंभ हुई कि उसे ईसाई धर्माधिकारियों पर कर लगाने का अधिकार है या नहीं। जहाँ तक परम्पराओं का प्रश्न था उस समय तक ईसाई धर्माधिकारियों से या चर्च की सम्पत्ति पर राजाओं द्वारा कोई कर नहीं लिया जाता था किन्तु फिलिप चतुर्थ के समय तक ईसाई संघ तथा उसके अधिकारियों के पास इतनी अधिक भूमि चली गयी थी कि बिना उसपर कर लगाये राजकाल का व्यय ही नहीं सँभाला जा सकता था। ऐसी स्थिति में फिलिप चतुर्थ ने ईसाई संघ की फ्रांस स्थित सम्पत्ति पर कर लगा दिया। पोप बोनीफेस ने जो आरंभ से ही उग्र और क्रोधी स्वभाव का था—उक्त करों को गैरकाननी घोषित कर दिया और फ्रांस में रहने वाले ईसाई धर्माधिकारियों को यह आदेश दिया कि वे उस समय तक फिलिप चतुर्थ को कोई कर न दें जब तक ऐसा करने के लिए उन्हें पोप की आज्ञा न मिल जाय। पोप ने एक पत्र भी फिलिप को भेजा जिसका आशय यह था कि राजसत्ता का स्रोत धर्मसत्ता है और पोप की अधीनता स्वीकार करना राजा का कर्त्तव्य है। पोप ने इस पत्र में जो शब्द प्रयुक्त किये थे वे इस प्रकार थे—"हम यह बात साफ-साफ आपको बता देना चाहते हैं कि लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में आप की सत्ता हमारी सत्ता के अन्तर्गत है।" पोप का यह पत्र जिस पर साँड़ की मोहर लगी थी (इसी कारण पोप के आदेशातमक पत्रों को अँग्रेजी में 'बुल' भी कहा जाता है) फिलिप चतुर्थ ने सरे-बाजार जलवा दिया और पोप को पकड़वाकर बंदीगृह में भेज दिया। पोप बोनीफेस की फिलिप के बन्दीगृह में ही मृत्यु हो गयी। पोप बोनीफेस के बाद फिलिप ने क्लीमेण्ट पंचम को पोप के पद पर अभिषिक्त कराया। पोप की राजधानी भी रोम से हटा दी गयी। पोप को एविगनान में रहने के लिए बाध्य किया गया। इसके बाद लगभग ४२ वर्षों तक पोप को फ्रांस के राजा की आज्ञाओं के अनुसार ही कार्य करना पड़ा। इस बीच फिलिप ने धर्मसत्ता के उन समस्त सम्प्रदायों का कठोरता से दमन किया जो राजसत्ता की शक्ति के विरुद्ध थे। ऐसे ही सम्प्रदायों में **टेम्पलर्स** (Templars) भी था। इसने राजा फिलिप के धर्मसत्ता-विरोधी कार्यों के विरुद्ध आवाज उठायी थी। इसका कारण यह था कि यह सम्प्रदाय विपुल सम्पत्ति का स्वामी था। इस सम्प्रदाय के कुछ योद्धाओं ने आक्रमण की भी तैयारी की थी। फिलिप ने इनमें से ५४ जवानों को पकड़कर पेरिस के एक चौराहे पर जीवित जलवा दिया। इस कार्य के लिए फिलिप ने न केवल पोप क्लीमेण्ट की लिखित अनुमति प्राप्त कर ली थी अपितु सेंस में हुई धर्मपरिषद् से अपने मनोनुकूल निर्णय भी करा लिया था। फ्रांस के राजाओं का पोप पर ऐसा प्रभाव सन् १३७७ तक चलता रहा। इसके पश्चात् फ्रांस की राजशक्ति निर्बल पड़ गयी, कारण फ्रांस के राजा इंगलैण्ड के साथ शतवर्षीय युद्ध में फँस गये और उन्हें इतना अवकाश नहीं रहा कि वे पोप के उठते हुए सिर को दबा सकें। पोपतंत्र के बंदी जीवन की मुक्ति ग्रेगरी ११वें के रोम वापस आ जाने से हुई। पोप बोनीफेस तथा फ्रांस के राजा फिलिप के इस संघर्ष में अनेक समकालीन विद्वानों ने भाग लिया था। कुछ ने पोप का समर्थन किया परन्तु अधिकांश ने फ्रांस के राजा का। राजसत्ता का समर्थन करनेवालों में जिनका नाम लिया जाता है उनमें पेरिस के जॉन (John of Paris), पियरे ड्यूबॉय (Piere Dubois), दाँते, (Dante) आदि का

---

1 "We wish you to understand that you are subject to us in spirituals and in temporals". Pope's bull to Philip, as quoted by Dunning in *Political Theories, Ancient and Medieval*, p. 216. **इसके उत्तर में फिलिप ने पोप को लिख भेजा था कि** "Let your most distinguished Fatuousness be assured that in temporals we are subject to no one" *Ibid.*

नाम उल्लेखनीय है। इनकी शिक्षाओं के विषय में हम इसी अध्याय में आगे चलकर विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ संक्षेप में इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि धर्मसत्ता के समर्थक जिस सामग्री से अपनी श्रेष्ठता का समर्थन प्राप्त किया करते थे उसी सामग्री से राजसत्ता के समर्थकों ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले जो पोप तथा धर्मसत्ता की श्रेष्ठता के सर्वथा प्रतिकूल थे।

२.२ **लुई जॉन संघर्ष काण्ड**—दूसरा संघर्ष बवेरिया के लुई तथा तत्कालीन पोप जॉन बाइसवें के बीच हुआ। फ्रांस के राजा फिलिप चतुर्थ से मुँहकी खाने के बाद भी पोप सत्ता इस बात के लिए प्रयत्नशील रही कि वह अपने जितने अधिकारों की भी रक्षा कर सके अच्छा है। इसी बीच जर्मनी की राजगद्दी रिक्त हुई। उसके उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर जर्मनी में गृहयुद्ध हो गया। इस गृहयुद्ध में बवेरिया के राजा लुई को विजय प्राप्त हुई, विजय के बाद लुई ने अपने आपको राजगद्दी का स्वामी घोषित कर दिया। किन्तु, एक नयी समस्या उठ खड़ी हुई। धर्मसत्ता के शक्तिकाल में जर्मनी की राजगद्दी केवल जर्मन नरेश की ही नहीं समझी जाती थी। **चार्लमैन** तथा **ओटो महान्** के काल से वह पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् की भी गद्दी समझी जाती थी। इतिहास में ऐसे उदाहरण थे कि जर्मनी की राजगद्दी के उत्तराधिकार के संबंध में जब-जब कोई झगड़ा उठ खड़ा हुआ तब-तब पोप ने उसके उतराधिकार का फैसला किया था। अतएव, पोप जॉन ने भी उत्तराधिकार के मामले का फैसला करने का प्रयत्न किया। पोप ने अपने निर्वासनकाल की राजधानी **एविगनान** में लुई तथा उसके विरोधी पक्ष के प्रतिनिधि को न्यायालय में उपस्थित होने की आज्ञा दी। लुई ने पोप के इस आदेश को अपना अपमान समझा और साफ-साफ कह दिया कि वह पोप के न्यायालय में उपस्थित होने के लिए किसी भी प्रकार बाध्य नहीं किया जा सकता। इसका उत्तर पोप जॉन ने लुई की राजसत्ता को धर्मविरोधी घोषित करके दिया। लुई तथा उसके अधीन देश धर्म बहिष्कृत कर दिये गये। प्रत्युत्तर स्वरूप लुई ने पोप जॉन पर चढ़ाई कर दी और उसे पोप के पद से हटाकर अपने मनोनुकूल पोप की नियुक्ति कर दी। स्वयं भी वह इटली में रहा। किन्तु इटली के राष्ट्रीयतावादी तत्वों ने जो उस समय प्रारंभिक विकास की अवस्था में ही थे लुई के इस आधिपत्य को पसन्द न किया। लुई के जर्मनी से हट आने के कारण जर्मनी की आन्तरिक स्थिति पुनः अशान्त हो गयी। परिणाम यह हुआ कि लुई को जर्मनी में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए इटली से वापस जाना पड़ा और इटली पुनः जर्मनी की अल्पकालीन दासता से मुक्त हो गया। अपनी स्थिति को निर्बल पाकर लुई ने पोप जॉन से संधि करने की चेष्टा की। पोप जॉन का तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का ज्ञान अच्छा था, अतः उसने लुई से बदला लेने का प्रयत्न किया तथा धर्मसत्ता के वे बहुत से अधिकार वापस प्राप्त करने की कोशिश की जो पिछले दशकों में राजसत्ता ने पोप से छीन लिये थे। पोप की अधिकार वृद्धि की माँगों को लुई ने मानने से इन्कार कर दिया। इस बीच पोप ने लक्जेमबर्ग के राजा चार्ल्स को पवित्र रोमन साम्राज्य का स्वामी घोषित कर दिया। लुई तथा पोप का संघर्ष कुछ और समय तक चलता, किन्तु इसी बीच लुई की अकाल मृत्यु से यह पूरा विवाद अनायास ही समाप्त हो गया। वास्तविकता यह है कि फिलिप तथा बोनीफेस के संघर्ष की भाँति लुई और जॉन का संघर्ष राजसत्ता और धर्मसत्ता का संघर्ष न था। यदि इस संघर्ष का सूक्ष्म अध्ययन द्वारा राजनीतिक विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि यह फ्रांस तथा जर्मनी की राजसत्ताओं का पारस्परिक संघर्ष था। फ्रांस की स्थिति उस समय निर्बल थी। वह जर्मनी से प्रत्यक्षतः कोई युद्ध मोल लेना नहीं चाहता था। इसलिए उसने पोप पर अपने प्रभाव का उपयोग कर पोप जॉन को लुई के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए भड़काया। पोप जॉन भी फ्रांस की बातों में आ गया। उसने लुई के विरुद्ध कार्रवाई कर डाली। लेकिन जब लुई पर पोप ने चढ़ाई कर दी तो फ्रांस की राजसत्ता ने

उसकी कोई सक्रिय सहायता नहीं की। इससे पोप की स्थिति बहुत निर्बल हो गई। लुई फ्रांस की कूटनीति को समझ गया था और उसने उसे विफल करने का भी यथाशक्ति प्रयास किया लेकिन वह अपनी आन्तरिक निर्बलताओं के कारण बहुत अधिक सफल नहीं हो सका।

इसी संघर्ष के दौरान में लुई ने ईसाई धर्म के एक सम्प्रदाय के विरुद्ध भी कार्रवाई कर दी। पोप ने एक निबंध लिखा जिसमें फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय की बड़ी तीखी निंदा की गयी थी और इस सम्प्रदाय को मक्कारों का सम्प्रदाय बतलाया था। अपनी बात सिद्ध करने के लिए पोप ने कहा था कि यद्यपि इस सम्प्रदाय के लोग कहते तो यह हैं कि वे सम्पत्ति के विरोधी हैं लेकिन वे लोग वस्तुतः अपार सम्पत्ति के स्वामी हैं। इन लोगों का सम्पत्ति रखना धर्म-सम्मत नहीं है। पोप के इस आक्रमण से फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय के लोग भी नाराज हो गये। इस नाराजी को उन्होंने पोप की सत्ता के विरुद्ध आवाज उठाकर प्रकट किया। ऐसे पोप-विरोधियों में **मार्सीलिओ पेदुआ** और **विलियम ओकाम** का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसी काल में जिन विद्वानों ने पोप का समर्थन किया उनमें **ऑगस्टसट्रायमफस** (Augustus Triumphus) और **एलवरस पेलेगियस** (Alvorus Pelagius) का नाम लिया जाता है।

३· राजसत्ता समर्थकों के तर्क

यह तो हम ऊपर बता ही चुके हैं कि पेरिस के जॉन पियरे डूबॉय, दाँते, मार्सीलिओ पेदुआ तथा विलियम ओकाम ने मुख्य रूप से फिलिप-बोनीफेस तथा लुई-जॉन संघर्ष काण्डों में राजसत्ता का पक्ष लिया। इसी अध्याय के अगले पृष्ठों में इन विचारकों पर अलग-अलग विचार करने के पूर्व यह जान लेना उपयुक्त होगा कि कुल मिलाकर इनके तर्कों का क्या सारांश था और वे तर्क वस्तुतः क्या थे।

३.१ **राज्य की उत्पति का सिद्धान्त**—मध्य युग में राज्य की उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त का प्रचार था उसे दैवी सिद्धान्त कहा जाता है। पोपों ने कहा था कि राजसत्ता का जन्म तो ईश्वर से ही हुआ है किन्तु चूँकि धर्मसत्ता लौकिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् दोनों के लिए है इसलिए वह राजसत्ता से उच्चतर है और राजसत्ता को उसके अधीन होना चाहिए। राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का राजसत्ता-समर्थक विचारों ने खण्डन नहीं किया। उन्होंने यह तो माना कि राजसत्ता की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है और यह भी माना कि धर्मसत्ता का क्षेत्र आध्यात्मिक जगत् है किन्तु उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि केवल इसी वजह से धर्मसत्ता को राजसत्ता पर अधिकार करने का हक मिल जाता है। उन्होंने यह भी कहा कि यदि राजसत्ता की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है और राजा ईश्वर का ही अंश है तो राजा सीधे ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है पोप के प्रति नहीं। वह जो कुछ भी करेगा उसे अपने कार्यों के लिए ईश्वर के सामने स्वयं उत्तर देना होगा। वह उत्तर पोप या अन्य किसी के द्वारा नहीं माँगा जायगा। दूसरी बात यह थी कि मध्य युग के विचारक यह भी मानते थे कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के आचरण को नियंत्रित करना है। मनुष्य के स्वभाव को ईसाई धर्मग्रंथों में पापमूलक माना गया है। इसीलिए कहा गया है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह मनुष्य के आचरणों पर इस प्रकार नियंत्रण रखे कि वे पापी न होने पावें। सन्त ऑगस्टाइन का मत इससे कुछ भिन्न था। वह यह नहीं मानता था कि राज्य का ल य मनुष्य के आचरण का नियंत्रण करना है। उसका कहना था कि राज्य का लक्ष्य मनुष्य के आचरण का नियंत्रण करना नहीं अपितु अंशतः दण्डात्मक और अंशतः पापों से मुक्ति दिलाने का है।[१] यद्यपि

[१] "Augustine considered the state partly as a punitive and partly as a remedia institution" *The History of Pol. Thought*, p. 90

उसके मत से न तो राजसत्ता का समर्थन करनेवाले विचारक सहमत हुए और न धर्मसत्ता के समर्थक विचारकों ने ही यह माना कि राज्य का उद्देश्य मनुष्यों के आचरण को नियंत्रित करना है। फलस्वरूप, शुरू से ही राज्य को आचरिक नियंत्रण का साधन माना जाता रहा। ऐसी अवस्था में राजसत्ता के समर्थकों ने कहा कि वे स्वयं ही अपने इस कार्य के लिए ईश्वर के सामने उत्तरदायी हैं और पोप या किसी भी अन्य धर्माधिकारी को उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। पोपों में भी ऐसे कई व्यक्ति थे '(यथा, ग्रेगरी महान्) जो यह कहते थे कि राजसत्ता में हस्तक्षेप न किया जाय। राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। यदि वह अत्याार भी करे तो उसकी सद्बुद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना ही करनी चाहिए।

३.२ **धर्म ग्रंथों का प्रयोग**—कालान्तर में राजसत्ता के समर्थक अपने मत की पुष्टि के लिए धर्मग्रंथों का प्रयोग भी करने लगे। इस संबंध में रजसत्ता-समर्थकों ने जिस धर्मग्रंथ का सबसे अधिक प्रयोग किया वह था न्यू टेस्टामेण्ट। न्यू टेस्टामेण्ट में राजसत्ता के प्रति ओल्ड टेस्टामेण्ट की तुलना में अधिक संयत और सहिष्णुतापूर्ण विचार प्रकट किये गये हैं। न्यू टेस्टामेण्ट में राजसत्ता के समर्थकों को सन्त पाल की एक उपयोगी घोषणा मिल गयी। इसमें सन्त पाल ने कहा था, कि राजसत्ता दैवी है और जो उसका विरोध करता है वह ईसा का विरोध करता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुल मिलाकर धर्मग्रंथ तथा अन्य तत्संबंधी सामग्री राजसत्ता के विरुद्ध जाती थी क्योंकि उसको प्रायः पादरियों ने ही लिखा था लेकिन अन्ततः उसमें से भी अपने मतलब के अंश निकालकर राजसत्ता-समर्थकों ने विपुल प्रतिभा का परिचय दिया।

३.३ **रोमन विधि-संहिताओं के पुनः अध्ययन का युग**—अन्य विद्याओं की भाँति मध्य युग के अज्ञानान्धकार में रोमन विधि-संहिताओं का व्यापक अध्ययन भी बंद सा हो गया था। यह अध्ययन राजसत्ता के समर्थकों ने पुनः आरंभ किया और उसमें से अपने पक्ष की पुष्टि के लिए पर्याप्त सामग्री खोज निकाली। इंगलैण्ड तथा स्पेन के विश्वविद्यालयों में रोमन विधियों के व्यवस्थित अध्ययन का प्रबंध किया गया। उन दिनों रोमन विधियों के विद्वानों में **अर्नेरियस एकर्सियस, बाल्डस** और **बारटोलस** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन रोमन विधिवेत्ताओं ने बतलाया कि विधि की दृष्टि से धर्मसत्ता को राजसत्ता के अधीन होना चाहिए और धर्मसत्ता चाहे राजसत्ता के अधीन रहे या न रहे—कम से कम धर्मसत्ता को राजसत्ता पर नियंत्रण रखने का कोई अधिकार नहीं है। बारटोलस के विचारों तथा उसकी लिखित सामग्री के आधार पर संप्रभुता आदि जैसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त का आगे चलकर विकास हुआ। विधियों के अध्ययन से ही कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति भी जागरूकता उत्पन्न हुई। इस जागरूकता में 'अनुबंध (समझौते) के सिद्धान्त के विकास से बड़ी सहायता मिली। रोमन विधि के छात्रों ने कहा कि सम्राटों और नरेशों को राजसत्ता के असीम अधिकार प्राप्त हैं और धर्मसत्ता को उनमें हस्तक्षेप करने का कोई हक नहीं है। रोमन विधि के इन आचार्यों का तथा उनके मतों का इंगलैण्ड, फ्रांस और स्पेन के उदयशील राजतंत्रों ने बड़ा स्वागत किया। उन्होंने देखा कि वे अपनी श्रेष्ठता को तर्कसहित संसार के सामने रख सकते हैं। इसलिए उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही था। कालान्तर में पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभाव भी घट गया और उसी के साथ जर्मन सम्राटों के प्रभाव की भी इतिश्री हो गयी।

३.४ **राष्ट्रीयता का जन्म**—इंगलैण्ड, फ्रांस तथा स्पेन में एक नये तत्व का जन्म हो रहा था जो बड़े वेग से विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा था। यह तत्व था—राष्ट्रीयता का। राष्ट्रीयता की भावना नये राज्यों को जन्म दे रही थी। यह राज्य आगे चल कर देश राज्य (Country States) या राष्ट्र-राज्य (**N**ation States) कहलाए। इन-

राज्यों के जन्म की वजह से प्रत्येक देश के स्वार्थ अलग-अलग हो गये। वे अपने-अपने उद्योगों तथा व्यापार-वाणिज्य के विकास में लगने लगे। राष्ट्र-राज्यों के स्वार्थों की विभिन्नता के कारण प्रत्येक देश अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। धर्मसत्ता की एकताकारी शक्ति नष्ट हो गयी। विभिन्न देशों के धर्माधिकारियों ने भी पोप के आदेशों की अवज्ञा करनी आरंभ कर दी और अपने-अपने देश की राजसत्ताओं का समर्थन करना ही उचित समझा। फिलिप और बेनीफेस के मतभेद के मामले में फ्रांस के धर्माधिकारियों ने राजा फिलिप चतुर्थ का ही पक्ष लिया था। धर्माधिकारियों का यह कार्य राष्ट्रीयता के इस नये तत्व की शक्ति का द्योतक था।

३.५ **धर्म और राजनीति का नया समन्वय**—राजसत्ता के समर्थकों ने धर्म और राजनीति का भी ढंग से समन्वय किया। उन्होंने बतलाया कि धर्म और राज्य ये दोनों एक ही मुद्रा के दो पहलू हैं। इन दोनों के बीच सहयोग की भावना होनी चाहिए। यह सहयोग तभी स्थापित हो सकता है जब आध्यात्मिक क्षेत्र में राजसत्ता धर्मसत्ता की श्रेष्ठता माने और लौकिक क्षेत्र में धर्मसत्ता राजसत्ता का आधिपत्य स्वीकार कर ले। यह समन्वय का बिलकुल नया ढंग था। दोनों सत्ताओं के मध्य समन्वय करने का प्रयास सन्त टॉमस ने भी किया था, किन्तु टॉमस का समन्वय भी धर्मसत्ता को श्रेष्ठता प्रदान करने वाला था। इसके विपरीत राजसत्ता के समर्थकों ने एक प्रकार से दोनों पक्षों को समान स्तर पर रखकर समझौता किया था।

३.६ **राज्य मुख्यतः नैतिक है**—राजसत्ता के समर्थक मध्ययुगीन विचारकों का यह भी कहना था कि राज्य अनिवार्यतः नैतिक संस्था है। इसका कार्य न्याय और अधिकारों की रक्षा करना तथा उनका प्रसार और प्रचार करना है। धर्मसत्ता के समर्थक राज्य का यह कर्तव्य नहीं मानते थे और उक्त क्षेत्र में राजसत्ता को अपने अधीन समझते थे। जहाँ तक प्राचीन काल के विचारकों का संबंध है वहाँ यह कहा जा सकता है कि यूनानी विचारकों में प्लेटो तथा अरस्तू ने राज्य को नैतिक संस्था ही माना था। राज्य के नैतिक आधार का प्रतिपादन विशेष रूप से अरस्तू ने किया था। आरंभ में अरस्तू के इन्हीं विचारों के कारण पेरिस विश्वविद्यालय में अरस्तू के साहित्य के पठन-पाठन पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। किंतु, बाद में यह अनुभव किया गया कि अरस्तू जैसे उपयोगी विचारक के ग्रंथों का पठन-पाठन पोप के प्रतिबंध के कारण बंद हो जाय यह ठीक नहीं। अतएव, अरस्तू का साहित्य पुनः पढ़ाया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में राजनीति के छात्रों का एक ऐसा वर्ग निकला जिसने ईसाई चर्च के इस दावे का खण्डन किया कि समस्त नैतिक विषयों पर उसी का एकाधिकार है। यह कहा जाने लगा कि जहाँ तक लौकिक नैतिकता का संबंध है वह एकान्ततः राजसत्ता का क्षेत्र है और उसमें हस्तक्षेप करने का हक धर्मसत्ता को नहीं है। आध्यात्मिक नैतिकता धर्मसत्ता का विषय है। उसमें निस्संदेह राजसत्ता कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा।

४. राजसत्ता-समर्थकों की माँगें

राजसत्ता-समर्थकों के प्रमुख तर्कों पर विचार कर लेने के बाद अब हम बड़ी आसानी से उन तर्कों के आधार पर राजसत्ता-समर्थकों की माँगों का क्षेत्र निर्धारित कर सकते हैं। धर्मसत्ता के पतनकाल में उदयशील राजसत्ता के तत्वों की माँग का क्षेत्र अधिक व्यापक न था। वे केवल यह चाहते थे कि जहाँ तक राजकार्य का संबंध है उसमें धर्मसत्ता या धर्मसत्ता के हिमायती कोई हस्तक्षेप न करें। राजसत्ता की प्रमुखता के अधिकांश पक्षपाती यह नहीं चाहते थे कि धर्मसत्ता अनिवार्यतः राजसत्ता को श्रेष्ठता ही स्वीकार करे या राजसत्ता को धर्मसत्ता के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप का अधिकार मिल जाय। इस संबंध में उनका

कहना था कि राजसत्ता के पास अपनी ही इतनी अधिक चिन्ताएँ हैं कि उन्हें दूर करने में उनका सारा समय निकल जाता है। धर्मसत्ता के क्षेत्र में हस्तक्षेप करके वे राजसत्ता का सिर दर्द और अधिक नहीं बढ़ाना चाहते थे। लेकिन इस माँग के आगे मध्ययुग के केवल दो ही व्यक्ति बढ़े। इनका नाम है **फ्रेडरिक** द्वितीय और **मार्सीलिओ पेदुवा**। इन दोनों ने ही अन्य राजसत्ता समर्थकों की भाँति वे सब अधिकार तो माँगे जिनका औचित्य राजसत्ता-समर्थक सिद्ध कर रहे थे, किन्तु साथ ही यह भी कहा कि धर्मसत्ता को अनिवार्यतः राजसत्ता के अधीन हो रहना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने से दोनों सत्ताओं में परस्पर संघर्ष की संभावना बनी रहेगी। इस प्रकार मार्सीलिओ और फ्रेडरिक के अतिरिक्त अन्य सभी राजसत्ता-समर्थक केवल आत्मरक्षा के लिए प्रयत्नशील थे। उनकी नीति यह नहीं थी कि वे धर्मसत्ता के मामलों को भी अपने विचार और हस्तक्षेप का विषय बना लें। इसके विपरीत धर्मसत्ता ने न केवल अपने विषयों में ही स्वाधीनता प्राप्त कर ली अपितु कुछ काल तक राजसत्ता को भी अपने अधीन रक्खा। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि राजसत्ता की माँगों का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित था।

५. मार्सीलिओ पेदुआ (Marsiglio of Padua)

५.१ **जीवन परिचय**—मार्सीलिओ का जन्म इटली के एक नगर पेदुआ में सन् १२७० में हुआ था। उसकी मृत्यु सत्तर वर्ष की अवस्था में सन् १३४० में बवेरिया में हुई। उसका पिता पेदुआ के विश्वविद्यालय में एक अधिकारी के पद पर कार्य करता था। पेदुवा के राजनीतिक विचार मध्य युग की धार्मिक और सामन्तवादी परम्पराओं की पृष्ठभूमि में रखकर देखे जाने पर अत्यन्त मौलिक और आधुनिक राजनीतिक विश्वासों एवं मान्यताओं को प्रेरणा देनेवाले प्रतीत होते हैं। मौलिकता की दृष्टि से ही कुछ विद्वानों का कहना है कि मार्सीलिओ का स्थान यूरोपियन राजनीतिक विचारों के इतिहास में अरस्तू के बाद लिया जा सकता है। प्रारंभिक शिक्षा के बाद ही उसका झुकाव फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय की तरफ हो गया था और उसने किशोरावस्था में ही इस सम्प्रदाय की दीक्षा ले ली थी। बाद में उसे पोप ने अपनी सेवा में ले लिया था। धर्मग्रंथों के अध्ययन के अतिरिक्त उसने डाक्टरी की शिक्षा भी प्राप्त की थी। धर्माधिकारी के रूप में सबसे पहले उसकी नियुक्ति एक अत्यन्त साधारण पद पर हुई लेकिन धीरे-धीरे उसने अपनी प्रतिभा से इतनी अधिक उन्नति की कि उसे उत्तरी इटली के एक बड़े नगर मिलान का बड़ा पादरी (Archbishop of Milan) नियुक्त कर दिया गया। कुछ समय तक उसने पेरिस विश्वविद्यालय में भी रेक्टर के पद पर काम किया था। अपने पेरिस-प्रवास में उसका संबंध अँग्रेज फ्रांसिस्कन विचारक विलियम ओकाम से रहा था। जहाँ तक विचार विनिमय का संबंध है—ये दोनों विद्वान् परस्पर एक दूसरे से बहुत अधिक प्रभावित हुए। दोनों ने धर्मसत्ता की अनैतिकता तथा निर्बलताओं का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन किया और दोनों ही इस परिणाम पर पहुँचे कि राजसत्ता को किसी भी दशा में धर्मसत्ता से निर्बल नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत धर्मसत्ता यदि राजसत्ता के अधीन हो जायगी तो वह और भी अधिक कल्याणकारी होगी। मार्सीलिओ के ये विचार अत्यन्त क्रान्तिकारी थे। इनकी भनक जब पोप के कानों तक पहुँची तो पोप ने मार्सीलिओ को बहिष्कृत कर दिया। लेकिन मार्सीलिओ इसके लिए तैयार था क्योंकि वह एविगनान जाकर पोप के भ्रष्टाचारों को स्वयं देख आया था और उन भ्रष्टाचारों के कारण वह पोप की सारी व्यवस्था से बहुत अधिक घृणा करने लगा था। पोप द्वारा पदच्युत किये जाने के बाद वह जर्मनी के सम्राट् लुई चतुर्थ के राजदरबार में चला गया और उसने वहाँ से धर्मसत्ता की ऐसी कटु आलोचना की कि उसने पोप तथा उनके समर्थकों के भी दाँत खट्टे कर दिये।

५.२ **मार्सीलिओ की रचनाएँ**—मार्सीलिओ की दो रचनाएँ मुख्यतः उल्लेखनीय हैं

एक है **डिफेंसर पेसीस** और दूसरी **डिफेंसर माइनर** है। डिफेंसर पेसीस का अँग्रेजी में अनुवाद होता है 'इन डिफेंस आफ पीस' अर्थात् 'शांति के पक्ष में'। यह पुस्तक सन् १३२४ में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का नाम विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उन दिनों धर्म-सत्ता और राजसत्ता के पारस्परिक संघर्ष के कारण यूरोप के राज्यों में जो हलचल तथा अशांति मची हुई थी, वह प्रगति और विकास के मार्ग को अवरुद्ध करती थी। मार्सीलिओ चाहता था कि राज्यों में ऐसी शान्ति स्थापित हो जिससे समाज और राज्य विकास के पथ पर आगे बढ़ सकें। कहा जाता है कि उक्त पुस्तक के लेखक का नाम विवादास्पद है। एक पक्ष कहता है कि उक्त पुस्तक मार्सीलिओ की ही लिखी हुई है जब कि प्रतिपक्षी का कहना है कि पुस्तक जॉन जाड्रन की लिखी है। किन्तु अब इस प्रकार के विवादों का अन्त हो गया है और यह माना जाने लगा है कि वह पुस्तक मार्सीलिओ की ही रचना है। उक्त पुस्तक तीन भागों म विभक्त है। पहले भाग में १९ अध्याय हैं जिनमें राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त दिये गये हैं तथा राज्यों का वर्गीकरण कियागया है। यह भाग राजनीति के छात्रों के लिए बड़ा महत्त्व-पूर्ण है। दूसरे भाग के ३३ अध्यायों में बतलाया गया है कि धर्मसत्ता का जन्म, विकास तथा उन्नति किस प्रकार हुई और उसकी प्रबलता किस प्रकार यूरोप की शान्ति को नष्ट किये दे रही है। इसी भाग में यह भी बतलाया गया है कि पोप के अधिकारों को घटा देने की क्यों आव-श्यकता है। तीसरे भाग में ३ अध्याय हैं और उनमें पहले के दो भागों में जो विचार प्रकट किये गये हैं उन्हीं का संश्लिष्ट रूप उपस्थित किया गया है। इसके अलावा एक और पुस्तक भी मार्सीलिओ ने लिखी है। इसका नाम है 'डिफेंसर माइनर' (Defensor Minor)। यह एक प्रकार से प्रथम पुस्तक का स्पष्टीकरण है। इस पुस्तक में उन विचारों का समावेश कर लिया गया है जो किसी कारणवश पहली पुस्तक में छूट गये थे। इसके अतिरिक्त अपने मत की पुष्टि के लिए तथा सम्राट् लुई चतुर्थ के समर्थन में मार्सीलिओ ने बहुत सी छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ भी लिखी हैं। मार्सीलिओ की रचनाओं पर अरस्तू के विचारों की छाप बड़ी स्पष्ट है और उनमें आधुनिकता की झलक भी मिलती है।

६· मार्सीलिओ के विचार

मार्सीलिओ के विचारों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य तथा प्रकृति संबंधी विचार, विधि की मीमांसा, ईसाई अधिकारियों तथा पोप की सत्ता की आलोचना, प्रतिनिधि शासनतंत्र संबंधी विचार।

६.१ **राज्य की उत्पत्ति, उद्देश्य और प्रकृति संबंधी विचार**—मार्सीलिओ की राज्य संबंधी कल्पना सावयविक (Organic) थी। वह मानता था कि राज्य की उत्पत्ति परिवारों के समूह से होती है केवल व्यक्ति से नहीं। व्यक्ति जब तक अपना विकास परिवार की स्थापना करके नहीं कर लेता तब तक राज्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार का विचार अरस्तू का भी था। इसके अलावा मार्सीलिओ ने राज्य के आर्थिक पहलू पर भी प्रकाश डाला। उसका कहना था कि राज्य की सदस्यता स्वीकार किये जाने का मुख्य कारण उसके द्वारा मनुष्यों की आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति है। राज्य के विभिन्न अंग आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसी प्रकार सहयोग करते हैं जिस प्रकार शरीर का एक अंग दूसरे अंग के पोषण के लिए मिलकर कार्य करता है। किसान, कारीगर, योद्धा और धर्मपुरोहित के वर्ग सब का अस्तित्व एक दूसरे के सहयोग पर ही आधारित है। इनमें से कोई भी वर्ग ऐसा नहीं है जो अलग रहकर अपना अस्तित्व कायम रख सके। इन सभी वर्गों में पारस्परिक सहकारिता की भावना सब के सामान्य कल्याण और मंगल के भाव पर आधारित रहती है। इस कल्याण-भावना का अर्थ सांसारिक बंधनों से मुक्ति है। इस लक्ष्य-सिद्धि की दिशा में तभी बढ़ा जा सकता है जब मनुष्य को सांसारिक कर्तव्यों की पूर्ति करने

के लिए सुविधाएँ प्राप्त हों और वह शान्तिपूर्वक जीवनयापन कर सके। राज्य में यह शान्ति उस समय तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक दो प्रतिद्वंद्वी सत्ताएँ परस्पर शक्ति प्राप्त करने के लिए झगड़ रही हों। अतएव एक न एक सत्ता को लघु बनकर अवश्य ही रहना होगा। धर्मसत्ता का क्षेत्र आध्यात्मिक शांति-लाभ का मार्ग प्रशस्त करना है और सांसारिकता से विराग का उपदेश देना है। इसलिए अच्छा यही होगा कि वही लौकिक सत्ता या राजशक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार कर उसका अनुगमन करे और राजसत्ता के लौकिक कार्यों में कोई हस्तक्षेप न करे। मार्सीलिओ ने कहा है कि राज्य परिवार से बने समाज का संघटन है। यह संघटन मनुष्य को सुखी बनाने के लिए होता है। मनुष्य का जीवन दो प्रकार से सुखी होता है—(अ) जब उसे सांसारिक कर्मों से निवृत्त होने की सारी सुविधाएँ उपलब्ध हों और (ब) जब वह अपनी आत्मा के आध्यात्मिक कल्याण के लिए प्रयत्नरत हो सके। अतएव राज्य में शासक और पुरोहित दोनों का महत्व है। किन्तु किसको किसके अधीन रहना चाहिए ? मार्सीलिओ द्वारा दिया गया इस प्रश्न का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। राज्य की सावयवी प्रकृति बता देने के उपरान्त मार्सीलिओ ने यह बतलाया कि जो स्थान शरीर में स्वास्थ्य का है वही स्थान राज्य में शान्ति का है। राज्य का स्वस्थ होना इस बात का प्रतीक है कि उसमें शान्ति है। सारांश यह है कि राज्य स्वयं एक आत्मनिर्भर और स्वाभाविक संस्था है। इसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य कल्याणकारी जीवन बिता सकें और अपनी आत्मा के मंगल के लिए प्रयत्न करें। इसके लिए उसे शान्ति स्थापना के लिए विशेष रूप से सचेष्ट रहना चाहिए। राज्य में ही राज्य की प्रतिद्वंद्विता करनेवाली कोई अन्य संस्था नहीं होनी चाहिए, अन्यथा राज्य स्वस्थ नहीं रह सकता; अथवा यह कहना चाहिए कि राज्य में शान्ति नहीं रह सकती। राजसत्ता की संप्रभुता (Sovereignty) पर उसने विशेष बल दिया है। यह सत्य है कि उसने अपने ग्रंथ में संप्रभुता जैसे शब्द का प्रयोग नहीं किया और इसका कारण यह था कि उस समय तक संप्रभुता की कल्पना प्रौढ़ नहीं हो पायी थी, किन्तु उसने राज्य की जिस प्रभुत्वशक्ति की ओर संकेत किया है उस शक्ति से उसका आशय संप्रभुता से ही था।

६.२ **राज्य और शासन में अन्तर**—मार्सीलिओ ने राज्य की कल्पना के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए राज्य और शासन (सरकार) का अन्तर अत्यन्त स्पष्ट रूप से बतलाया है। शासन की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए मार्सीलिओ ने लिखा है कि उसके बिना समाज के कार्य-व्यवहार चल ही नहीं सकते। शासनतंत्र बदल सकते हैं किन्तु राज्य अपरिवर्तनशील होता है। शासन का काम विधियों की सहायता से चलता है। विधियों की रचना किसी एक शासनतंत्र की कृति नहीं होती। मनुष्य के लौकिक आचरणों के नियंत्रण का अधिकार शासन को होता है और वह यह कार्य विधियों की सहायता से करता है। अतः मनुष्य के लौकिक आचरणों के नियंत्रण के लिए राज्य में निवास करनेवाले जनसमूह की स्वीकृति से विधियों की रचना करने का अधिकार शासन को है। यदि शासन द्वारा रचित विधियों का उल्लंघन किया जाता है तो राज्य की ओर से शासन को यह अधिकार होता है कि वह उल्लंघनकर्ताओं को दण्डित करे। विधियों की उपयोगिता के बारे में मार्सीलिओ का कहना है कि उनके बिना समाज में रहनेवाले मनुष्य की अभिलाषाओं की सिद्धि नहीं हो सकती। उसने शासन के तीन अंगों का भी बड़ी स्पष्टता से वर्णन किया है। शासन के सम्बन्ध में आधुनिक विचारकों की जो त्रिअंगीय कल्पना है, वह भी हमें मार्सीलिओ में मिल जाती है।

६.३ **विधि की मीमांसा**—प्रसंगवश इसी स्थान पर अच्छा होगा यदि हम विधियों की मार्सीलिओ द्वारा की गयी मीमांसा भी उपस्थित कर दें। सामान्यतः मार्सीलिओ ने विधियों को चार भागों में विभक्त किया है किन्तु इन चार प्रकार की विधियों में से दो प्रकार की

विधियों को सबसे अधिक महत्वपूर्ण बतलाया है। ये विधियाँ हैं—(१) ईश्वरीय और (२) मानवीय। **ईश्वरीय विधियों** की परिभाषा करते हुए उसने लिखा है कि वे ईश्वरीय आदेश होती हैं। इनकी रचना या निर्माण कार्य में कोई भी मानवीय शक्ति भाग नहीं ले सकती। इन विधियों का प्रयोग मनुष्य आत्मविवेक द्वारा करता है। ईश्वरीय विधियों का प्रयोग करते हुए उसका लक्ष्य यह रहता है कि उनकी सहायता से वह ऐसे कार्य कर सके जिससे उसकी आत्मा कर्मबंधनों से मुक्ति प्राप्त कर ले। वह ऐसे काम नहीं करना चाहता जिनसे उसके अंतिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष-लाभ के उद्देश्य की सिद्धि में किसी प्रकार की बाधा पड़े। ये विधियाँ मानवमस्तिष्क की अचेतनावस्था में भी कभी-कभी निर्देश देती रहती हैं। इन विधियों के पालन करने का अच्छा फल, या न पालन करने के दण्डस्वरूप बुरा फल इस संसार में कभी नहीं मिलता। इनका निर्णय ईश्वर के दरबार में इस मृत्युलोक से बिदा हो जाने के बाद होता है। ईश्वरीय विधियों की इतनी मीमांसा करने के बाद उसने मानवीय विधियों की व्याख्या की है। मानवीय विधियों (Human Laws) को उसने राज्य के विधयन (Legislative Organ) के आदेश बतलाया है। विधायिका शक्ति का निर्माण भी राज्य के नागरिक ही करते हैं। इस दृष्टि से विधि का अंतिम और निर्णयात्मक स्रोत **मार्सीलिओ** ने प्रजा को बतलाया था। उसने यह भी कहा था कि विधि द्वारा शासन की नियुक्ति होनी चाहिये तथा मुख्य शासक का निर्वाचन होना चाहिए।

मार्सीलिओ विधि-व्यवस्था का इतना भक्त था कि वह विधि का उल्लंघन करनेवाले नरेश को भी सहन करने की सलाह नहीं देता। उसका कहना था कि यदि कोई राजा राज्य की विधियों के अनुसार कार्य नहीं करता तो उसे पदच्युत कर देना चाहिये। विधि के पालन के लिए राज्य की दण्डव्यवस्था अत्यन्त सबल होनी चाहिए। प्रत्येक नागरिक को मानवीय विधियों का पालन करने के लिये बाध्य किया जाना चाहिए और यदि वे उनसे विमुख होते हैं तो उनको दण्डित किया जाना चाहिए। यही कारण है कि उसने राज्य की न्यायपालिका और कार्यपालिका इन दोनों अंगों को अत्यन्त सूक्ष्म बनाये रखने का परामर्श दिया है। **मानवीय विधि** की परिभाषा करते हुए उसने लिखा है कि विधियाँ वे आदेश हैं जिनका पालन अनिवार्य होता है और यदि उनका पालन नहीं किया जाता तो उल्लंघनकर्ता दण्ड पाता है। इन विधियों की रचना उन व्यक्तियों की इच्छा का प्रकट रूप है जिनको विधेयन का अधिकार होता है। अन्त में कहा गया है कि विधियों के पालन से मनुष्य को अपने अंतिम लक्ष्य—आत्मिक कल्याण—की ओर अग्रसर होने में सहायता मिलती है।

मार्सीलिओ ने राज्य की संप्रभुता को विधेयन करनेवाली शक्ति में केन्द्रित माना है। शासन के जिस अंग को विधि-रचना का अधिकार प्राप्त होता है उसी अंग से कार्यपालिका और न्यायपालिका को शक्ति मिलती है। अतएव दोनों के मुकाबिले में विधेयन करनेवाली सत्ता ही सर्वोच्च है। मार्सीलिओ का कहना है कि विधेयनकारी शक्ति में जनता का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकारियों तथा उनके सहायकों को कर्तव्यों के पालन की तो सुविधा दी जा सकती है लेकिन उनको भी इस बात का अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वे विधियों द्वारा स्थापित आचरण और नैतिकता की मर्यादा का उल्लंघन करें। विधि को वह राज्य में निवास करनेवाले सभी व्यक्तियों की इच्छा का आदेश मानता था।

६.४ **धर्मसत्ता सम्बन्धी विचार**—मार्सीलिओ के राज्य तथा विधि सम्बन्धी विचारों के बाद अब हम इस मत के सर्वाधिक विवादास्पद एवं महत्वपूर्ण विचारों के क्षेत्र में प्रवेश करेंगे। अपनी मुख्य पुस्तक **डिफेंसर पेसीस** (Defensor Pacis) के दूसरे भाग में मार्सीलिओ ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक पोपतंत्र के जन्म और विकास की कथा कही है। उसने बतलाया है कि पोप को इतनी अधिक सत्ता किस प्रकार मिली; धर्मसत्ता को जो श्रेष्ठ पद दिया गया है, क्या वह राज्यसत्ता को दुर्बल बना देने के मूल्य पर उचित है? इसका उत्तर मार्सीलिओ ने

'नहीं' में दिया है। उसने कहा है कि राजसत्ता को धर्मसत्ता के अधीन नहीं होना चाहिए। राजसत्ता का सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व अपेक्षित है। यदि कोई सत्ता अधीन रह सकती है तो वह धर्मसत्ता है। लेकिन इससे उसका यह आशय नहीं था कि प्रत्येक राज्य में ईसाइयों का अलग संघटन हो और वह राज्यकी शासन सत्ता के अधीन हो। वह केवल इतना चाहता था कि प्रत्येक राज्य के उच्चतम अधिकारी राजनीतिक मामलों में धर्मसत्ता के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहें और उनके राजनीतिक निर्णयों में धर्मसत्ता का हस्तक्षेप न हो

पोप या धर्मसत्ता के ईसाई संघ द्वारा अधिकृत भूमि और सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसका मत था कि धर्माधिकारियों के पास धार्मिक विधियों के अनुसार कोई सम्पत्ति नहीं रहनी चाहिए। **मार्सीलिओ** के इस कथन का आशय था कि ईसाई धर्माधिकारियों को सम्पत्ति रखने का कोई मौलिक अधिकार नहीं है। फिर भी यदि उनके पास परोपकार अथवा सार्वजनिक सेवा के कार्यों के लिए कोई सम्पत्ति आ जाय तो उसका प्रयोग आध्यात्मिक कार्यों के लिए ही होना चाहिए। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि उस सम्पत्ति पर राज्य कोई कर नहीं ले सकेगा। राज्य को ऐसी सम्पत्ति पर भी कर लेने का अधिकार है ही। राज्य के करों के सम्बन्ध में मार्सीलिओ का मत था कि जो कर राज्य लेता है वह लोकोपकार या लोक-सेवा के उद्देश्य से लिया जाता है। अतएव, आचारिक या नैतिक किसी भी दृष्टि से, राज्य का ईसाई गिरजाघरों की सम्पत्ति पर कर लगाना अनुचित नहीं बतलाया जा सकता। ऐसी अवस्था में किसी भी नागरिक या चर्च की सम्पत्ति को कर मुक्त करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

मार्सीलिओ ने चर्च द्वारा वसूल किये जानेवाले करों का भी विरोध किया था। इस सम्बन्ध में उसका कहना था कि धर्म के लिए दान आदि देना निजी इच्छा पर निर्भर करता है। धर्म व्यक्ति के अपने विश्वास की वस्तु है। जितना उसका धर्म में विश्वास होगा वह उतना ही दान देगा। राजस्व (राजकीय करों) की भाँति व्यक्तियों से अनिवार्यतः धर्मस्व (या धार्मिक कर) वसूल करने का कोई अधिकार धर्माधिकारियों को नहीं है।

मार्सीलिओ ने चर्च के सम्पत्ति के अधिकार, धर्मस्व आदि के संबंध में जो विचार प्रकट किये उनका प्रहार इतना कठोर था कि उसकी चोटों से पोपशाही बुरी तरह तिलमिला उठी। यही कारण है कि तत्कालीन **पोप जॉन बाइसव** ने मार्सीलिओ के **फ्रांसिस्कन** सम्प्रदाय की एक निबंध में बड़ी तीव्र भर्त्सना की और उसे जी भर कर कोसा।

मार्सीलिओ ईसाई धर्माधिकारियों को कोई भी विशेष अधिकार देने का अनुमोदन नहीं करता था। उसका कहना था कि जिस प्रकार राज्य के अन्य नागरिकों के साथ व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार राज्य में रहनेवाले धर्माधिकारियों के साथ भी होना चाहिए। उसका यह भी कहना था कि यदि नागरिकों को राज्य की विधियाँ उल्लंघन करने पर दण्ड दिया जाता है तो कोई कारण नहीं कि ईसाई धर्माधिकारियों को राजकीय विधियाँ न मानने पर दण्ड न दिया जाय। उन दिनों कुछ ऐसी प्रथा हो गयी थी कि यदि कोई धर्माधिकारी अवैधानिक या राज्यविरोधी कार्य करता था, तो उसपर पोप की अनुमति से किसी धर्म-न्यायालय में ही विचार किया जा सकता था——राज दरबार या किसी राजकीय न्यायालय में नहीं। राज्याधिकारियों को धर्माधिकारियों को गिरफ्तार करने का भी अधिकार नहीं था। वे अधिक से अधिक यही कर सकते थे कि यदि कोई धर्माधिकारी आपत्तिजनक व्यवहार करता है तो उसकी शिकायत पोप के पास लिखकर भेज दें। मार्सीलिओ राज्य में इस प्रकार की परम्पराओं को चलाने के अत्यन्त विरुद्ध था। उसने यह मत प्रतिपादित किया कि यदि कोई धर्माधिकारी अपराध करता है तो राजा को न केवल उसे अपदस्थ कर देने का अधिकार है अपितु यह भी अधिकार है कि वह उसे दण्ड देकर कारागार में डाल दे। मार्सीलिओ के इन विचारों से ववेरिया के **राजा लुई** को बड़ा बल मिला। कहा जाता है कि मार्सीलिओ

के इस समर्थन की वजह से ही उसने पोप पर आक्रमण कर उसे अपदस्थ करने का साहस किया था। किन्तु यहाँ यह सोचना बहुत बड़ी भूल होगी कि मार्सीलिओ ने धर्मसत्ता विरोधी उक्त विचार अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए ही लिखे। वास्तविकता यह है कि उसने अपने राजनीतिक विचारों का स्रोत जिस साहित्य को बनाया वह यूनानी था और यूनानी साहित्य में धर्म को राज्य के अन्तर्गत माना गया है। अरस्तू ने तो राज्य को ही सबसे बड़ा धर्म कहा है। ऐसी अवस्था में मार्सीलिओ द्वारा उक्त प्रकार के विचार प्रकट करना कोई असाधारण बात न थी।

मार्सीलिओ ने धर्मसत्ता तथा ईसाई चर्च के अधिकारों पर जैसा कुठाराघात किया वैसा उसके पूर्व अन्य किसी विचारक ने नहीं किया था। सत्ता के जिस शिखर पर पहुँचने में पोपतंत्र को ६०० वर्षों से भी अधिक का समय लगा--वहाँ से उसे नीचे ढकेल देने में मार्सीलिओ को केवल पचीस वर्ष ही लगे। उस समय से पोप के विरुद्ध कालचक्र ऐसी गति से चला कि उसका अस्तित्व नाम मात्र के लिए ही रह गया और शक्ति के क्षेत्र में पोप की स्थिति सर्वथा शून्य रह गई। मार्सीलिओ ने पोप के इस दावे का खण्डन नहीं किया कि उसके पास स्वर्ग की कुँजियाँ हैं किन्तु यह अवश्य कह दिया कि मनुष्य की आत्मा को स्वर्ग या नरक में भेजने का अधिकार केवल ईश्वर को है पोप को नहीं। इस सम्बन्ध में पोप की कोई सिफारिश नहीं चल सकती।

६.५ **ईसाई चर्च का प्रबंध**—ईसाई चर्च के आन्तरिक प्रबन्ध के संबंध में भी मार्सीलिओ ने निश्चित और दृढ़ मत प्रकट किया था। उसका कहना था कि पोप सत्ता का आधार सारे संसार में फैले हुए ईसाई धर्म के अनुयायी और पादरी हैं। पोप केवल उनका एक प्रवक्ता है। यह प्रवक्ता सर्वोच्च शक्ति नहीं हो सकता। पोप की सत्ता का स्रोत असंख्य ईसाइयों और धर्माधिकारियों का समुदाय है। अतः, वही उसकी सत्ता का भी स्रोत है। पोप का निर्वाचन होना चाहिए तथा उसे ईसाइयों की महापरिषद् (General Council) के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। यदि वह अपने कदाचरण से लोगों को असंतुष्ट करदेता है तो पोप को अपदस्थ कर देने का अधिकार उक्त महापरिषद् को होना चाहिए। वह पोप के अधिकारों तथा उसकी सत्ता को भी मानवीय साधनों की देन समझता था। वह उसे दैवी नहीं मानता था। उसने अपने इन्हीं सब विचारों की वजह से चर्च को भी राज्य का एक विभाग बना दिया था। वह धर्माधिकारियों को ऐसा कोई अधिकार देने का पक्षपाती नहीं था जिससे वे अपने आपको राज्याधिकारियों से श्रेष्ठ बतला सकें। उसने यह भी कहा कि पादरियों को शारीरिक दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार की माँग सर्वथा उचित भी थी क्योंकि उन दिनों धर्माधिकारी ईसाई धर्म की कल्पित मान्यताओं और अंध-विश्वासों की मान्यताओं की रक्षा के लिए वैज्ञानिक सत्य-शोधकों का दमन करने लगे थे। मार्सीलिओ का कहना था कि, धर्माधिकारियों का आचरण सार्वजनिक स्थानों में किस प्रकार का रहेगा—इस सम्बन्ध में राज्य को नियम बना देने का अधिकार है। राजसत्ता अपने क्षेत्र में धर्माधिकारियों की संख्या भी निश्चित कर सकती है। मार्सीलिओ धर्माधिकारियों या नागरिकों को धर्म बहिष्कृत कर देने का अधिकार भी पोप को देने के पक्ष में नहीं था। वह सब धर्माधिकारियों को, जिनमें रोम के बड़े पादरी (विशप) या पोप को भी वह सम्मिलित करता था, समान अधिकार दिये जाने के पक्ष में था।

६.६ **शासनतंत्र का स्वरूप**—शासनतंत्र के स्वरूप के सम्बन्ध में वह निर्वाचित राजतंत्र का समर्थक था। वह नरेश को अपने समस्त कार्यों के लिए विधानमण्डल (legislature) के समक्ष उत्तरदायी ठहराता था। वह जनता को सबसे बड़ा विधानमण्डल तथा नरेश को सबसे बड़ा प्रशासक (Administrator) मानता था। वह यह भी कहता था कि यदि

नरेश का आचरण जनता के मनोनुकूल नहीं है तो वह उसे अपदस्थ कर सकती है। उसने शिक्षा पर भी बड़ा बल दिया। उसका कहना था कि शासनतंत्र तभी सुव्यवस्थित रूप में चल सकता है जब उसे सुयोग्य कर्मचारी मिलें। सुयोग्य कर्मचारियों को शिक्षा द्वारा ही तैयार किया जा सकता है। इसी वजह से राज्य की शिक्षा की उत्तम से उत्तम व्यवस्था करनी चाहिए। वह विवेकयुक्त वैज्ञानिक शिक्षाका पक्षपातीथा। अंधविश्वासपूर्ण धार्मिक शिक्षा-व्यवस्था के वह सर्वथा प्रतिकूल था। वह राज्य में असमानता का विरोधी था और उसकी यह इच्छा थी कि राज्य के शासनतंत्र में राज्य में निवास करने वाले सभी वर्गों का समुचित प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

६.७ **मार्सीलिओ का स्थान**—प्रारंभ में मार्सीलिओ को हम मौलिक विचारों का प्रतिपादक बतला चुके हैं। इन्हीं विचारों के कारण उसे बहुत से विद्वान् **अरस्तू** के बाद पाश्चात्य राजदर्शन (Political Philosophy) का सबसे बड़ा विद्वान् मानते हैं। उसको यह स्थान उसके विचारों की दूरदर्शिता और सूझबूझ के कारण दिया गया है। चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में जब लोग सामन्तवादी राजनैतिक शृंखलाओं के पास में बँधे हुए कराह रहे थे—तब उसने जनप्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने इस सिद्धान्त की पुष्टि करके प्रजातंत्रवाद की रूपरेखा तैयार की। शासनतंत्र का जो स्वरूप उसने बतलाया—वह अपने अनिवार्य तत्वों सहित आज भी मान्यता पाता है। राज्य के अध्यक्ष को विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए—इस सिद्धान्त का आज संसार भर में शायद ही कहीं विरोध किया जाता हो। ऐसे दर्जनों देशों के नाम गिनाये जा सकते हैं जिनमें राज्य के अध्यक्ष को विधानमण्डल के प्रति जिम्मेदार माना गया है और कहा गया है कि यदि राज्य के शासनतंत्र का कर्णधार (अर्थात् वास्तविक कार्यवाहक अध्यक्ष) विधानमण्डल का विश्वास खो दे तो उसे तत्काल पद से हटाया जा सकता है।

धर्मसत्ता, पोपतंत्र तथा प्रजातंत्र के सम्बन्ध में मार्सीलिओ के विचार आने वाले युग के विचारों की पूर्व सूचना देते हैं। मध्य युग के बड़े से बड़े विचारकों ने पोप को राजसत्ता के अधीन कर देने की बात सोची भी नहीं थी। **सन्त टॉमस एक्वीनाज, एजीडियस रोमुनस** आदि सामन्तवादी प्रतिभासम्पन्न विचारकों ने केवल धर्मसत्ता के अधिकार विस्तार का ही पक्ष लिया। यह नहीं बतलाया कि किस सीमा के उपरान्त धर्मसत्ता को अपने अधिकारों को सीमित रखना चाहिए। राजसत्ता को उन्होंने निम्नकोटि की सत्ता बतलाया। उगते हुए राष्ट्रीयता के तत्वों को समकालीन परिस्थितियों में न देख सके, किन्तु य सब बातें मार्सीलिओ की दृष्टि से न बच सकीं और उसने उन सबका महत्व अंकित करके तत्सम्बन्धी विचार प्रकट किए।

मार्सीलिओ के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे हम किसी आधुनिक शिक्षाशास्त्री के विचारों को पढ़ रहे हों। शिक्षा के महत्व को आज सार्वभौमिक माना जाता है। इस दिशा में मार्सीलिओ ने अपने किसी भी समकालीन या पूर्ववर्ती विचारक के मतप्रकाशन से पहिले ही कदम उठा लिया था। राज्य को अपने नागरिक समुदाय के आर्थिक जीवन पर नियंत्रण रखना चाहिए—आज यह बात सभी राजनीतिज्ञ मानते हैं, परन्तु इस बात को भी सबसे पहिले मार्सीलिओ ने व्यक्त किया था। इसी प्रकार शान्ति जो आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है उसके सम्बन्ध में भी सबसे पहले विचारकों का ध्यान मार्सीलिओ ने ही आकृष्ट किया था। मार्सीलिओ के विचारों में कुछ त्रुटियाँ भी दिखलायी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ उसके धर्मसत्ता तथा पोपसत्ता सम्बन्धी विचार अत्यन्त उग्र हैं। उसमें वह सन्तुलन नहीं है जो उसके अन्य विचारों में है। उसने अपने आदर्श राज्य में राजतंत्र को स्थान दिया है जब कि आज के युग में राजतंत्रों का उन्मूलन किया जा रहा है। संभवतः यह

समकालीन प्रभाव है जिससे मार्सीलिओ अपने आपको मुक्त नहीं कर सका। इतने पर भी मार्सीलिओ के विचार मौलिक हैं और अपने समय के पूर्व थे।

७. विलियम ओकाम (William of Ockham)

७.१ **जोवन-परिचय**—विलियम इंगलैण्ड के ओकाम नगर का वासी था। उसका जन्म सन् १२८० में ऑक्सफोर्ड में हुआ था और मृत्यु सन् १३४७ में। इसके गुरु का नाम डंस स्कोटस (Duns Scotus) था। कालान्तर में मार्सीलिओ की भाँति विलियम भी फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय का सदस्य होगया। उसने पेरिस विश्वविद्यालय में जाकर स्कॉलस्टिक दर्शन का अध्ययन किया। यहाँ पर उसका परिचय मार्सीलिओ से भी हुआ। वह धर्मसत्ता के तत्कालीन अध्यक्ष **पोप जॉन बाइसवें** को अधर्मयुक्त बातोंका तीव्र विरोधी था। उसने पहिले अध्यापन का कार्य किया और बाद में सक्रिय राजनीति के क्षेत्र में उतर आया। उसे इंगलैण्ड में "नॉमि-नल" [1] आन्दोलन का नेता माना जाता था।

७.२ **कृतियाँ, रचना शैली और अध्ययन पद्धति**—छोटे-मोटे बहुत से निबन्धों के अतिरिक्त विलियम ने दो अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। इनके नाम हैं डॉयलॉग (Dialogue) और ऑक्टो क्वेशचन्स (Octo Quactiones)। इसकी रचनाशैली की विशेषता यह है कि उसमें विवादास्पद विषय के दोनों पक्षों के मतों को उपस्थित कर दिया जाता है और अन्त में विलियम उस विषय के सम्बन्ध में अपने सुझाव भी दे देता है। लेखन शैली में उसने प्लेटो की प्रश्नोत्तरी प्रणाली का ही अनुसरण किया है। उसकी पुस्तकों में विचारों की व्यवस्था और क्रमबद्धता है।

७.३ **विलियम के विचारों की विशेषता**—विलियम के विचारों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। पहली यह कि उनमें धार्मिकता का प्रभाव बहुत साफ-साफ झलकता है। उसने निरंकुशता का घोर विरोध किया है—चाहे वह निरंकुशता पोप की हो या नरेश की ; यहाँ तक कि जनता की सत्ता की निरंकुशता का भी वह परम विरोधी है। उसके विचार मार्सीलिओ की अपेक्षा ईसाई चर्च की अन्तरंग (Internal management) के सम्बन्ध में अधिक व्यवस्थित है। उसने संप्रभुता या सर्वोच्च राजसत्ता की जो व्याख्या की है—उसमें स्पष्ट कर दिया है कि वह नागरिक समुदाय और प्राकृतिक विधि से अवश्य सीमित रहेगी। उसने जहाँ तक हो सका है अपनी रचनाओं में अपने निजी मत को पृष्ठभूमि में ही रखा है। इससे पूरी कृति पढ़ जाने के बाद विलियम की विचारधारा का संकेत ही मिल पाता है, किन्तु यह संकेत एकदम स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में उसका कहना था कि किसी व्यक्ति के प्रचलित विवादों में अत्यन्त दृढ़ और कट्टरतावादी मत प्रकट करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। युगप्रवाह ही दोनों पक्षों की श्रेष्ठता का फैसला कालान्तर में कर देता है।

७.४ **पोप के अधिकारों के सम्बन्ध में**—पोप की सत्ता और अधिकारों के बारे में विलियम का मत था कि वे अधिकार ईश्वरीय विधियों की भाँति निरंकुश नहीं हो सकते। उसने बतलाया था कि पोप द्वारा अपने अधिकारों का अनियंत्रित प्रयोग उनकी धर्म-विमुखता का ही परिचायक है। इस प्रकार अपने हाथों में बहुत से अधिकारों को रखकर पोपने राजकीय शक्ति के अधिकारों का अनुचित और अवांछित अपहरण कर लिया था। वह चाहता था कि ईसाई समाज स्वतंत्र और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करे। यदि वह राजनीति के जाल में फँसा

---

[1] **'नॉमिनलिज्म' (Nominalism) तथा रियलिज्म (Realism) ये दोनों प्रतिद्वंद्वी दार्शनिक आन्दोलन थे जो उन दिनों चल रहे थे। इनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिये एफ० लिए द्वारा लिखित पुस्तक हिस्ट्री ऑफ फिलोसफी को पढ़ा जा सकता है। इन आन्दोलनों के सम्बन्ध में उक्त पुस्तक के १५८-२१७ पृष्ठों पर प्रकाश डाला गया है।**

रहता है तो ऐसा होना संभव नहीं है। यही कारण है कि राजसत्ता को उसके अधिकार दिला देना चाहता था जिससे धर्मसत्ता को अनावश्यक चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाय। यह तो हम बतला ही चुके हैं कि विलियम स्कॉलस्टिक दर्शन का विद्वान् था। इस नाते वह सत्य की शोध का जिज्ञासु था। उसका कहना था कि एक व्यक्ति के बजाय यदि बहुत से व्यक्ति सत्य की शोध का कार्य करें तो उसमें त्रुटि की स्वल्प संभावनाएँ रहती हैं। इसके प्रतिकूल यदि वह कार्य केवल एक ही व्यक्ति करता है तो उसमें गलतियाँ रह सकती हैं। अपनी इस बातको सिद्ध करने के लिए उसने उदाहरण के लिए पोपकी निर्णय संबंधी कई भूलोंको बतलाया था। उसने कहा था कि यदि आदेश देनेके पूर्व पोपने ईसाइयोंके समाजकी महापरिषद् से उनकी स्वीकृति प्राप्त कर ली होती तो शायद उतनी भूलें न हो पातीं। उसने पोपके अनियंत्रित अधिकारोंका, निर्वाचित ईसाई महापरिषद् के अधिकारों में वृद्धि करके, सीमित करने का प्रयत्न किया।

७.५ **राजसत्ता की स्थिति**––कुल मिलाकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि विलियम ने राजसत्ता की स्वतंत्रता का परिपोषण किया। लेकिन उसके धार्मिक और प्राचीनतावादी दृष्टिकोण को देखते हुए यह कहना उचित न होगा कि उसने राजसत्ता की स्वतंत्र स्थिति के लिए ही धर्मसत्ता की प्रखर आलोचना की। विलियम द्वारा पोप की आलोचना का कारण तो फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय के विरुद्ध पोपद्वारा की गयी कार्रवाई थी। उस कार्रवाई की आलोचना में धर्मसत्ता के अधिकारों तथा उसके प्रवन्ध के सम्बन्ध में जो दोष दिखलायी पड़े उनको भी उसने आड़े हाथों लिया। अपने सम्प्रदाय की, पोपके निरंकुश दण्ड अधिकारों से रक्षा करने के लिये विलियमने राजसत्ता के पक्ष में भी पोपके विरुद्ध कुछ बातें कहीं। उसका कहना था कि यदि चार्लमैन को एक पोपने राजमुकुट पहना दिया तो इसका यह आशय नहीं है कि राजसत्ता के ऊपर शासन करने का अधिकार पोपको मिल गया। इस प्रकार का कार्य करने से केवल यही प्रकट होता है कि उक्त राजा को धर्म की भी पुष्टि और समर्थन प्राप्त है। इसी प्रकार जहाँ तक राज्यों के उत्तराधिकार का प्रश्न है वहाँ भी पोप को बीच में पड़ने का न तो कोई अधिकार है और न उसकी कोई आवश्यकता ही। उसका यह भी कहना था कि आवश्यकता पड़ने पर धर्मसत्ता को राजसत्ता में तथा राजसत्ता को धर्मसत्ता के क्षेत्र में हस्त-क्षेप करना चाहिए। उसने राज्यों का भी वर्गीकरण किया। यह वर्गीकरण कुछ अंशों में मार्सीलिओ से भिन्न हैं। उसने राज्यों को तीन वर्गों में विभक्त किया, जो इस प्रकार थे :–– (अ) नियंत्रणहीन राजतंत्र (आ) विधिहीन राजतंत्र और (इ) विशुद्ध राजतंत्र। उसकी दृष्टि में नियंत्रणहीन और विधिहीन राज्य अच्छे नहीं। उसने विशुद्ध राजतंत्र को आदर्श बतलाया है। विशुद्ध राजतंत्र के गुणों पर प्रकाश डालते हुए उसने कहा है कि ऐसे राज्य में राजा की स्थिति विधियों (मानवीय) से ऊपर होती हैं। राजा ही समस्त मानवीय विधियों का स्रोत (Fountain of Law) माना जाता है। लेकिन वह प्राकृतिक विधियों के निर्देशानुसार कार्य करता है। उसने तीन प्रकार की विधियाँ मानीं––शाश्वत, प्राकृतिक और मानवीय। इनकी परिभाषा उसने संत टॉमस के ग्रंथों से ली। अतएव इन विधियों की परिभाषा यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। इसकी चर्चा हम टॉमस के विधि सम्बन्धी विचारों की व्याख्या के समय पीछे दे चुके हैं। विलियम का कहना था कि यद्यपि राजा मनुष्यकृत विधियों से ऊपर होता है, परन्तु इसका यह आशय नहीं कि वह स्वयं उनका उल्लंघन कर सकता है, कारण जो शासन विधि सम्मत नहीं होता अथवा जिसमें विधियों का उल्लंघन किया जाता है वह निरंकुश एवं नियंत्रणहीन राज्य हो जाता है।

७.६ **मार्सीलिओ और विलियम**––मार्सीलिओ और विलियम एक दूसरे के मित्र और सहयोगी थे, फिर भी दोनों के अपने प्रभावकाल और क्षेत्र में बड़ा अन्तर है। विलियम के अपने मतों का भी उसके समकालीन विद्वानों म बड़ा प्रभाव था और वे बड़े आदर तथा सम्मान

को दृष्टि से देखे जाते थे—इसके विपरीत मार्सीलिओ के विचारों का अपने युग पर प्रभाव लगभग शून्य जैसा है—यद्यपि बाद में विशेषकर आधुनिक रूप के विचारकों पर उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। मार्सीलिओ और विलियम दोनों ही फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय के थ और दोनों ही पोप से उक्त सम्प्रदाय पर किये गये आक्रमणों के कारण रुष्ट थे; किन्तु जितनी उग्रता मार्सीलिओ के पोप विरोधी विचारों में है—विलियम के विचारों में उतना ही संयम है। मार्सीलिओ जहाँ इस बात का पक्षपाती है कि धर्मसत्ता सर्वथा राजसत्ता के अधीन रहे और अपनी श्रेष्ठता का तनिक भी दावा न करे वहाँ विलियम ने धर्म को राज्य से थोड़ी सी उच्चतर स्थिति तो प्रदान की लेकिन धर्मसत्ता की उच्चता के दावे का पूर्णत: खण्डन किया। मार्सीलिओ यह तो चाहता था कि अनाचारी और अधर्मी पोप को राजा अपदस्थ कर दे लेकिन वह यह बरदाश्त नहीं कर सकता था कि अपराधी राजा को अपदस्थ कर देने का भी अधिकार पोप को है। इसके विपरीत विलियम का कहना था कि अनाचारी और अधर्मी पोप को राजा और अनाचारी और अधर्मी राजा को पोप अपदस्थ कर सकता है। विलियम को मार्सीलिओ की भाँति लोकसत्ता के विवेक में अधिक विश्वास नहीं था। विलियम का कहना था कि ईश्वर ही एकमात्र पूर्ण शक्ति है। शेष समस्त संस्थाएँ और मनुष्य अपूर्ण हैं। पोप भी अपूर्ण है और धर्मसत्ता भी, क्योंकि इनकी शक्ति का स्रोत ईसाई समुदाय ही है। मार्सीलिओ के समान वह यह मानता था कि सम्राटों, नरेशों और नागरिकों की स्वतंत्रता या अधिकारों का अपहरण करना पोप के लिए किसी भी प्रकार उचित नहीं है। वह स्त्रियों की समानता और स्वतंत्रता का भी समर्थक था। मार्सीलिओ पोप तथा उसके अधिकारों का बड़ा विरोधी था लेकिन फिर भी वह एक सार्वभौमिक समाज में विश्वास करता था और यह नहीं चाहता था कि बहुत से स्वायत्तशक्ति प्राप्त ईसाई संघ हो जायँ। मार्सीलिओ के इन विचारों के विपरीत विलियम का कहना था कि कई स्वतंत्र ईसाई संघ हों तो अच्छा रहगा। ईसाइयों के सार्वभौमिक समाज में उसका अधिक विश्वास नहीं था।

८. पेरिसवासी जॉन, पियर ड्यूबॉय और दाँते

ऐतिहासिक काल की दृष्टि से इन तीनों विचारकों का नाम मार्सीलिओ और विलियम ओकाम के पहले आता है लेकिन महत्व की दृष्टि से य तीनों विचारक पीछे हैं। इन तीनों विचारकों का नाम फिलिप चतुर्थ के समर्थकों म लिया जाता है।

८.१ पेरिसवासी जॉन (John of Paris)—पेरिसवासी जॉन का राजदर्शन के इतिहास में सबसे बड़ा अनुदाय यह है कि उसने अपने तर्कों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि पोप को फ्रांस पर हक जमाने का कोई अधिकार नहीं है। एवं फ्रांस सर्वसत्तासम्पन्न संप्रभु राज्य है। उसने धर्मसत्ता और राजसत्ता के क्षेत्रों की सीमारेखाएँ भी अंकित कर दीं और बतला दिया कि जहाँ तक व्यक्ति की आचारिक नैतिकता का संबंध है—धर्मसत्ता धार्मिक परामर्श दे सकती है। व्यक्ति को उन्हें मानने न मानने का पूरा-पूरा अधिकार है। इस बात के लिए किसी भी व्यक्ति को विवश नहीं किया जा सकता कि वह पोप की धार्मिक व्याख्याओं के अनुकूल आचरण करे। शारीरिक दण्ड देना पोप के अधिकार से सर्वथा दूर है। ईसाई चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाने के सम्बन्ध में उसने स्पष्टत: फिलिप का समर्थन किया और कहा कि कोई कारण नहीं कि राज्य ईसाई चर्च की सम्पत्ति पर नियंत्रण न रखे या उसपर कोई कर न लगाये राजा की सत्ता के सम्बन्ध में भी उसका कहना था कि वह लोकमत द्वारा नियंत्रित होनी चाहिए। जॉन के ये सब विचार हमें उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि पोस्टेस्टेट रेजिया एट पेपली' में मिलते हैं। इस पुस्तक में प्रकट किये गये विचारों के अनुसार उसने मध्यकालीन सार्वभौमिकता (Universalism) के तत्व के संबंध में बतलाया है कि राजनीतिक सार्वभौमिकता शासनतंत्र के रूप में कदापि संभव नहीं है। हाँ, धर्मभीरु ईसाइयों का पोप के नेतृत्व में ऐसा सार्वभौमिक संघटन बनाया जा सकता है। यहाँ पर यह संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा कि

इसी प्रकार के विचार अँग्रेज फ्रांसिस्कन विचारक विलियम ओकाम ने भी प्रकट किये थे।

जॉन पर भी अरस्तू का प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक उसके राज्य विषयक विचारों का सम्बन्ध है—वे अरस्तू से स्पष्टतः प्रभावित हैं। जॉन ने राज्य की उत्पत्ति उसकी सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक उपयोगिता मानी है। मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानते हुए उसने बतलाया है कि मनुष्य का अधिकतम विकास केवल परिवार या समाज में नहीं हो सकता बल्कि राज्य में हो सकता है। फलतः उसने राज्य का लक्ष्य सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के साधन जुटाना बतलाया है। जॉन का कहना है कि इस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति म धर्म भी महत्वपूर्ण साधन है लेकिन धर्म केवल व्यक्तिगत रूप से ही सहायक हो सकता है—अतएव उसे इतनो व्यापक शक्तियोंका अधिकार नहीं है जितना राज्य को है। इससे स्पष्ट है कि धर्म की शक्ति की अवज्ञा नहीं की गयी है लेकिन साथ ही यह भी बतला दिया गया है कि राज्य का आधार मनुष्य के स्वभाव में है। अतःराज्य को धर्म से किसी आधार की अपक्षा नहीं है। वह अपने पैरों पर आप खड़ा हो सकता है।

जॉन ने ईसाई चर्च को सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया है। लेकिन वह यह कहता है कि इस सम्पत्ति पर राजकीय नियंत्रण होना आवश्यक है अन्यथा उस सम्पत्ति के दुरुपयोग की आशंका रहती है। जॉन का यह भय उस समय के इतिहास को देखते हुए निर्मूल नहीं था। वह मार्सीलिओ आदि जसे कुछ फ्रांसिस्कनों के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं था कि ईसाई चर्च को किसी भी प्रकार को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है। गिरजा के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार कर लेने के उपरान्त जॉन ने ईसाई चर्च की सम्पत्ति के मूल की खोज की। उसने बतलाया कि यह सम्पत्ति धर्मसम्बन्धी कार्यो के लिए पोपों को जनता द्वारा मिली थी। वह पोप का अर्जित धन नहीं था। इसलिए जहाँ तक नैतिकता का सम्बन्ध है प्राकृतिक विधियों की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि उस पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार है। यदि सामाजिक कल्याण के लिए राजा को कभी उस सम्पत्ति के कुछ भाग की आवश्यकता पड़े तो चर्च का कर्तव्य है कि वह सहर्ष सम्पत्ति के उस अंश को राजस्व के रूप में राजा को अर्पित कर दे। वास्तव में इस प्रकार के कार्य से सार्वजनिक हित का ही सम्पादन होता है। जॉन ने कांस्टेनटीन के दानपत्र की आधिकारिकता के विषय में भी संदेह प्रकट किया है। परन्तु इस सम्बन्ध में उसका मत यह है कि यदि यह सच भी हो कि कांस्टेनटीन ने पश्चिमी साम्राज्य का कुछ भाग दान किया था तो वह रोम तथा उसके आसपास का ही कुछ भूमि क्षेत्र हो सकता है समग्र यूरप का नहीं। ऐसी अवस्था में पोप द्वारा फ्रांस की राजशक्ति को अपने अधीन समझने का दंभ पाखण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जॉन ने बृहत्तर ईसाई समाज तथा धर्माधिकारियों के समुदाय के इस अधिकार का समर्थन किया है कि वे यदि असंतुष्ट हों तो पोप को अपदस्थ कर सकते हैं।

८.२ **पियरेड्यूबॉय** (Pierre Dubois)—यह फ्रांस की राजसत्ता के कट्टर समर्थकों में से था। इसके तर्क अन्य पूर्ववर्ती विचारकों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि वह स्वयं एक अत्यन्त सफल वकील था। वह फ्रांस की राजसत्ता के वह स्वप्न देखा करता था जब वह संसार की उच्चतम शक्ति होगा। राजसत्ता का समर्थक होने के कारण वह यह भी कहा करता था कि चर्च की विधियों को राजकीय विधियों का नियंत्रण मानना चाहिए। पियरे ने चर्च के इस अधिकार का बड़ा जबर्दस्त विरोध किया कि वह किसी प्रकार का धर्मस्व वसूल करे अथवा राज्य की न्यायपालिका का कुछ भार अपने सिर पर ले। वह विश्वशान्ति का पोषक था। युद्ध को वह मानवता का संहार कर देने वाला भयानक अस्त्र बतलाता था। उसका फ्रेंच जाति की मानसिक, नैतिक और शारीरिक

शक्तियों तथा फ्रांस के भौतिक साधनों में अपरिमित विश्वास था और इसी विश्वास के बल पर वह यह भी कहा करता था कि फ्रांस को सारे संसार पर शासन करना चाहिए।

विधियों का ज्ञाता होने के कारण उसने कांस्टेनटीन के दानपत्र को मान लिया था और यह मानते हुए उसका कहना था कि इस दानपत्र से पोप के केवल सैद्धान्तिक अधिकार की ही पुष्टि होती है। किन्तु सार्वभौमिक समाज की स्थापना के लिए तो शक्ति का होना भी आवश्यक है। इस शक्ति का पोप में सर्वथा अभाव है। पोप न तो सैनिक होता है और न उसे सैनिक होना ही चाहिए। वे वृद्ध होते हैं। सांसारिकता से उनका विशेष लगाव नहीं होता। परिवार, समाज आदि के बंधनों को भी वे समझने योग्य नहीं होते। ऐसे व्यक्ति राजसत्ता में हस्तक्षेप करने के सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं। इसलिए उन्हें चुपचाप बैठकर आध्यात्मिक हित-साधन में अपना जोवन बिताना चाहिए और राजकीय मामलों में अपना सिर खपा कर व्यर्थ ही समय नष्ट नहीं करना चाहिए। धर्मसत्ता के धर्म बहिष्कृत कर देने के अधिकार का विरोध करते हुए पियरे ने लिखा है कि धर्मसत्ता का मुख्य कार्य आत्मा को मुक्ति दिलाना है। उसे नरक में भेजने का उसे कोई अधिकार नहीं है और न वह ऐसा कर ही सकता है। पियरे का कहना था कि ईसाई चर्च के अधिकारियों के पास कोई सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि सम्पत्ति के मिल जाने से वे अपने आध्यात्मिक कर्तव्यों का भली भाँति पालन नहीं करते। जो सम्पत्ति चर्च के पास उस समय थी—उसके सम्बन्ध में पियरे का मत था कि वह पूरी की पूरी सम्पत्ति राजसत्ता द्वारा जब्त कर ली जानी चाहिये। विश्व साम्राज्य की कल्पना को साकार रूप देने के लिए वह धर्म-युद्ध का समर्थक था। वह अत्यन्त व्यापक शिक्षा का भी हिमायती था। स्त्रियों के लिए शिक्षा-व्यवस्था पर भी उसने बहुत अधिक जोर दिया। पियरे के निबंधों तथा उसकी रचनाओं में राष्ट्रीयता और संस्कृति के उगते हुए तत्व भी दिखलाई पड़ते हैं। इन सब में पियरे देशभक्त प्रतीत होता है।

पियरे के विचार मुख्य रूप से हमें दो पुस्तकों में मिलते हैं—जिनके नाम हैं '**डि एब्रीवियेशन**' और '**डि रिक्युपरे ान टेटसेंक्ट**'। उसने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने के लिए भी अपनी पुस्तकों में व्यवस्था दी। उसका कहना है कि राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को निपटाने के लिए ३ राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन होना चाहिए और इन्हीं तीन प्रतिनिधियों की एक पंचायत होनी चाहिए जो सब झगड़ों का निपटारा करे।

८.३ **दांते**—दांते का पूरा नाम दांते एलगीयरी (Dante Alighiere) था। उसका जन्म इटली के फ्लोरेंस नगर में सन् १२६५ में हुआ था और मृत्यु ५६ वर्ष की अवस्था में हुई। फ्लोरेंस में दांते के कुल को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वह बाल्यावस्था से ही बड़ा मेधावी था तथा उसकी बौद्धिक शक्तियाँ अत्यन्त उच्चकोटि की थीं। पढ़ने-लिखने में उसका बड़ा मन लगता था। सूक्ष्म अध्ययन की प्रवृत्ति होने के कारण उसने विश्वविद्यालय में प्रतिभासम्पन्न छात्र के रूप में बड़ी ख्याति अर्जित की। उसे सैनिक शिक्षा भी मिली थी। सैनिक शिक्षा के बाद उसने युद्धों में लड़ने का अनुभव प्राप्त किया। वह अपने जन्मस्थान फ्लोरेंस में दण्डनायक के पद पर भी नियुक्त किया गया। वह केवल शुष्क राजनीतिज्ञ ही नहीं था। उसकी साहित्यिक प्रतिभा भी अत्यन्त श्रेष्ठ थी। उसके दो विवाह हुए; किन्तु प्रथम पत्नी से उसे अधिक स्नेह था जिसकी असामयिक मृत्यु से उसे बड़ा धक्का लगा। इसके बाद दूसरा विवाह भी हुआ लेकिन इस विवाह से उसे वह दाम्पत्य सुख न मिल सका जो पहिले में मिला था। इसी बीच वह कुछ झगड़ों में पड़ गया और फ्लोरेंस से सदा के लिए निकाल दिया गया। उसने क्षमा प्राप्त करने के भी प्रयत्न किये। जब वे भी निष्फल रहे तो वह सब कुछ छोड़ कर फ्रांस चला गया। उसने अपने प्रवास काल में 'डिवाइन कॉमेडी' नाम की एक पुस्तक लिखी जो पाश्चात्य साहित्य में अत्यन्त उत्कृष्ट कृति मानी जाती है। उसके राजनीतिक ग्रंथों में '**डी मोनार्किया**' का नाम उल्लेखनीय है। यह ग्रंथ

सन् १३११ में उसकी मृत्यु से १० वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। दांते के इस ग्रंथ में सम्राट् की सत्ता का मार्सीलिओ की अपेक्षा अधिक उत्तम ढंग से प्रतिपादन किया गया है। उसने समकालीन इटली की अशान्ति और अव्यवस्था की समस्या पर भी विचार किया है। जिस प्रकार पियरे फ्रांस को सर्वगुण-सम्पन्न राष्ट्र मानता था उसी प्रकार वह यह भी समझता था कि इटालियन राष्ट्र विशेषरूप से गुणसम्पन्न है। संसार में इटालियन जाति को ईश्वर ने इसीलिए उत्पन्न किया है कि वह समग्र विश्व पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके। अपने इस मत की पुष्टि के लिए उसने रोमन इतिहास का विशेष रूप से अध्ययन किया। उसका कहना था कि रोमनों के सद्गुणों का समकालीन इटालियनों को यथाशक्ति और समयानुकूल अनुसरण करना चाहिये। इटली में स्थायी रूप से शान्ति और व्यवस्था की स्थापना का क्या मार्ग हो सकता है—यह खोज भी दांते ने की। इसी उद्देश्य से अन्य विचारकों की भाँति अपनी पुस्तक डी मोनार्किया में उसने बतलाया है कि आदर्श शासनतंत्र (सरकार) किस प्रकार का होना चाहिए। लेकिन अपने इस प्रयत्न में वह पुराने विचारकों से आगे बढ़कर कोई मौलिक सुझाव नहीं रख सका। उसने विधिविहित राजतंत्र का समर्थन किया है और कहा है कि यह राजतंत्र प्रजा समुदाय के प्रति उत्तरदायी नहीं होना चाहिए। वह चाहता था कि इस राजतंत्र का शासन केवल इटली तक ही सीमित न रहे अपितु उसका विस्तार समस्त संसार में हो जाय। लेकिन आदर्श राजतंत्र में जिस प्रकार के शासक की कल्पना की गयी है—वह किसी प्रकार प्लेटो के आदर्श शासक की कल्पना से भिन्न नहीं है। जहाँ तक राज्य की उत्पत्ति का सम्बन्ध है—वह उसकी उत्पत्ति का स्रोत दैवी मानता था। लेकिन वह इस सम्बन्ध में चर्च द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को नहीं मानता था। उसका कहना था कि लौकिक सत्ता को आध्यात्मिक सत्ता के अन्तर्गत रहने की न तो कोई आवश्यकता ही है और न ऐसा करना उपयुक्त ही होगा। लौकिक सत्ता राजतंत्र के रूप में ऐसी होनी चाहिए कि वह अपना सर्वव्यापक अधिकार स्थापित कर ले। इस सत्ता का लक्ष्य समाज के उस उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग प्रदान करना हो जिसके लिए ईश्वर ने उसकी रचना की है। ईश्वर ने समाज की रचना इसलिए की है कि उसमें व्यक्ति की बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों का अधिकतम विकास हो सके। इस कार्य में सहायता देना राज्य के शासन का परम उद्देश्य है। यह कार्य तभी पूर्ण हो सकता है कि जब पूर्ण शान्ति हो और ऐसी शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब सब व्यक्ति राजसत्ता का शासन अबाध रूप से स्वीकार करें।

आदर्श शासक का कार्य केवल यही नहीं है कि वह विश्व में अपने राज्य का विस्तार कर ले अपितु उसका वास्तविक कार्य तो उस साम्राज्य में निवास करनेवाले नागरिक समुदाय की सेवा करना है। यह सेवा भी इस प्रकार होनी चाहिए कि उससे व्यक्ति को श्रेष्ठतम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता मिल सके। इस प्रकार की सहायता देने का पहला साधन शान्ति और व्यवस्था का वातावरण उत्पन्न कर देना तथा उसे बनाये रखना है और दूसरा साधन है शिक्षा आदि की व्यवस्था करना।

इसी पुस्तक में दांते ने विश्वसाम्राज्य की अपनी कल्पना का जो विवेचन किया है उससे प्रकट होता है कि वह चाहता था कि संसार में एक सर्वोच्च शासक हो। ऐसे शासक के अन्तर्गत ही विश्वशान्ति की रक्षा अपेक्षाकृत अच्छे ढंग से हो सकती है और विभिन्न स्वार्थों के द्वन्द्वों में जो समय नष्ट होता है उसका प्रयोग अच्छे कार्यों में किया जा सकता है। दांते के ही शब्दों में साम्राज्य "विधि का व्यक्ति-रूप" होगा। विधि को ही उसमें सिंहासनासीन और राज्याभिषिक्त किया जायगा और उसमें गरिमा तथा सम्मान परिवेष्ठित किया जायगा।"[१] इसी

[१] Dante's empire was, "Law personified, Law throned and crowned and invested with majesty and honour". F.J.C. Hearnshaw, *Social & Pol. Ideas of Mid Ages*, p. 119.

प्रकार शासक की कल्पना को व्याख्या करते हुए कहा गया है कि "वह सार्वभौमिक राज्य का निरंकुश शासन नहीं होगा अपितु वह उच्च श्रेणी का राज्यपाल रहेगा। वह विभिन्न राज्यों के नरेशों तथा शासकों की देखभाल करेगा तथा उनके बीच शान्ति बनाय रखन का प्रयत्न करेगा। उसका कार्य आधुनिक अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (International Tribunal) का होगा।"[१] लेकिन दांते की यह कल्पना अधूरी सी है। अधूरी इस अर्थ में कि उसने इस बात पर प्रकाश डालने की कोशिश नहीं कि उक्त शासक अपने अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार करे ? राजसत्ता की शक्ति के स्रोत के सम्बन्ध में दांते का मत था कि वह ईश्वरीय है। इस सम्बन्ध में पोप तथा धर्मसत्ता के दावों की उसने बहुत खिल्ली उड़ायी। मनुष्य के स्वभाव के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए दांते ने लिखा कि मनुष्य की प्रकृति के गुणों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। मनुष्य की प्रकृति का एक तो वह भाग है जिसके अनुसार वह लौकिक संसार के व्यापारों की ओर आकृष्ट होता है तथा दूसरा वह जो उसे आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करता है। इन दोनों जगतों का अस्तित्व सर्वथा भिन्न है और इनका कार्यक्षेत्र भी अलग-अलग है। आध्यात्मिक जगत् का स्वामित्व पोप के हाथ में है और भौतिक जगत् की सत्ता राजा के। दोनों को अपना-अपना स्थान ईश्वर से प्राप्त हुआ है। इसलिए राजसत्ता के क्षत्र म हस्तक्षेप करने का अधिकार पोप को प्राप्त नहीं है।

९. पोप-समर्थक विचारक

यह सच है कि चौदहवीं शताब्दी के आरंभ से ही पोप विरोधी-विचार प्रबल रूप धारण कर रहे थे और चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि धर्मसत्ता के समर्थकों की संख्या बहुत कम हो गयी थी और उनके विचारों को सार्वजनिक मान्यता भी प्राप्त नहीं थी। फिर भी पुरानी परम्परा चली आ रही थी और उस परम्परा म पोप के भी कुछ-न-कुछ समर्थक विचारक रहा ही करते थे। १४वीं शती के ऐसे विचारकों में आगस्टस ट्रायमफस तथा एलवेरस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। समकालीन पोपों के विचार भी उन दिनों विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में निकला करते थ। इनम बोनीफस अष्टम तथा जॉन बाइसव के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी चर्चा हम ऊपर के अनुच्छेदों में कर आये हैं। यहाँ संक्षेप में पोप-समर्थक विचारकों के मतों का उल्लेख किया जा रहा है।

९.१ आगस्टस ट्रायमफस (Augustus Triumphus)—ट्रायमफस के विचार हमें उसकी पुस्तक 'सम्मा डी पोटेस्टेट एक्लेजिएस्टिका' (Summa De Potesitate Ecclesiastica) में मिलते हैं। यह विचार उस समय प्रकट किय गये जब पोप जॉन २२वाँ रोम से फ्रांस के राजा फिलिप चतुर्थ द्वारा दण्डित किये जाने के बाद निष्कासित जीवन व्यतीत कर रहा था। यह समय पोप के प्रतिकूल था। फिर भी धर्मसत्ता के समर्थकों में कितना उत्साह था यह ट्रायमफस के उक्त ग्रंथ के विचारों से प्रकट हो जाता है। यह पुस्तक सन् १३३० के आसपास लिखी गयी थी। इस पुस्तक म लेखक ने माँग की है कि धर्मसत्ता को अपरिमित अधिकार प्रदान किये जाने चाहिए। धर्मसत्ता का उच्चतम अधिकारी पोप इस मृत्युलोक में ईश्वर का ही साक्षात् प्रतिनिधि है। उसका पद और उसकी प्रतिष्ठा स्वयं ईश्वर द्वारा

---

[१] The Monarch "is not a universal despot, but a governor of higher order set over the princes and rulers of particular states and keeping the peace between them. He is to have jurisdiction in the modern sense of an international Tribunal". Sir F. Pollock, *History of the Science of Politics*, p. 40.

ही की जाती है। आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्रों में तो उसकी सत्ता श्रेष्ठतम है ही इसके अतिरिक्त राजसत्ता भी उसके अन्तर्गत है। राजाओं को और विशेषकर पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् को बिना पोपकी अनुमति के कोई कार्यनहीं करना चाहिए। वह पोपकी सत्ता न केवल ईसाई के ही समाज पर मानता था अपितु वह कहता था कि अखिल मानव-समाज की प्रभुता पोप को प्राप्त है। ट्रायमफस ने विस्तारपूर्वक यह बतलाया है कि किस प्रकार संसार के सभी राजा-महाराजा पोप के सेवक मात्र हैं और यदि कोई भी राजा अनुचितया अधार्मिक आचरण का अपराधी सिद्ध हो जाता है तो उसे हटाने का अधिकार पोप को प्राप्त है। इसके विपरीत ईसाई चर्च के प्रबंध के अन्तरंग मामलों में, धार्मिक नियुक्तियों के सम्बन्ध में तथा धर्मस्व (धार्मिक करों) की वसूली के मामलों में राजसत्ता के अधिकारियों को कुछ भी नहीं बोलना चाहिए। पोप को शाश्वत तथा प्राकृतिक विधियों की व्याख्या करने का पूर्ण अधिकार है और उनके सम्बन्ध में जो भी भाष्य वे दें वह अंतिम समझा जाय। धर्माधिकारियों की नियुक्ति करने का हक तो पोप को है ही—साथ ही उनको हटाने का अधिकार भी पोप को प्राप्त है। यदि वे कोई भी अपराध करते हैं तो उनके अपराधों पर सामान्य राजकीय न्यायालयों में विचार कियाजा सकता है। यदिवे कोई अपराध करते हुए देखे जाते हैं तो उनको गिरफ्तार करने का अधिकार भी राज्य के अधिकारियों को नहीं है। वे अधिक से अधिक राजदरबार में शिकायत कर सकते हैं और राजदरवार उनकी शिकायत को पोप के पास भेज देगा। पोप अपराधी धर्माधिकारी के मामले पर धर्मन्यायालय में विचार करेंगे और वही दण्ड देंगे। अन्य कोई भी व्यक्ति दण्ड नहीं दे सकता। पोप जो कुछ निर्णय एक बार सुना देंगे—वह अंतिम होगा और उसकी अपील कहीं नहीं की जा सकेगी। पोप के विरुद्ध ईसाइयों की महापरिषद् को तभी कोई कारवाई करने का अधिकार होगा जब उसके विरुद्ध धर्मभ्रष्टता (Heresy) का कोई अपराध करने का आरोप लगाया गया हो।

९.२ **एलवेरस पेलेगियस** (Alvarus Pelagius)—यह पुर्तगाली फ्रांसिस्कन था। इसने भी पोप को अपरिमित सत्ता का समर्थन किया है। उसका कहना था कि पोप का सार्वभौमिक राज्य पृथ्वी पर ईसा के राज्य के तुल्य हो है। उसने अपने तर्क के लिए इस सम्बन्ध में सन्त ऑगस्टाइन के ग्रन्थ 'दि सिटी ऑफ गॉड' (The City of God) से पर्याप्त सहायता ली है। एलवेरस ने ईसा के यश और प्रताप का लम्बा-चौड़ा बखान किया है और इसके बाद बतलाया है कि अपने प्रतिनिधि के रूप में ईसा ने किस प्रकार सन्त पीटर को संसार के उद्धार का भार सौंपा। सन्त पीटर ने संसार भर के मानव-समूह को किस प्रकार ईसाई चर्च के अधिकारियों के सुपुर्द किया। संत पीटर नें अखिल मानवजाति को तथा संसार को ईसा की थाती के रूप में सौंपते हुए ईसाई चर्च के अधिकारियों से कहा था कि वे 'इस भेड़ों के झुण्ड' (The herd of sheep) का पोषण करें। इसी अधिकार के नाते पोप तथा उनके सहायकों को सारे संसार का एक संरक्षक को भाँति परिपोषण करना है तथा उनका कल्याण एवं हितचिन्तन करना है। एलवेरस का राज्य के सम्बन्ध में मत था कि उसकी उत्पत्ति तो ईश्वर से ही हुई है लेकिन राज्य तब तक पूर्ण नहीं समझा जा सकता जब तक उसको ईसाई धर्म के सर्वोच्च अधिकारी पोप को पुष्टि नहीं प्राप्त हो जाती। उसका कहना था कि ऐसी भी किसी सत्ता का कोई मूल्य नहीं है जिसे कि धर्मसत्ता का समर्थन प्राप्त न हो। उसने ईसाइयों के एक ही शासक की कल्पना की है और यह शासक उसकी दृष्टि में पोप है। सब विधियों का मूलस्रोत बताते हुए एलवेरस ने लिखा है कि पोप किसी भी विधि के अधीन नहीं है क्योंकि सारी विधियाँ उन्हीं के अस्तित्व से उत्पन्न होती हैं। यदि पोप किसी विधि का उल्लंघन करता है तो उस पर कहीं कोई मामला नहीं चलाया जा सकता। पोप की इच्छा ही विधि है; अतएव, पोप द्वारा किसी विधि का उल्लंघन असंभव है। जब तक पोप पाप और धर्म-भ्रष्टता का कोई कार्य करने का अपराधी सिद्ध न हो जाय तब तक किसी भी ईसाई को

उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। एलवेरस ने इन सब विचारों को 'डि प्लेण्क्टू इक्लेसी' नाम की पुस्तक में प्रकट किया है। यह पुस्तक भी ट्रायमफस की पुस्तक के साथ ही या उसके कुछ बाद तेरहवीं शताब्दी के तीसरे या चौथे दशक में प्रकाशित हुई थी।

१०. सारांश

इस अध्याय का सारांश यह है कि सामान्यतः चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी थीं जो उग्र रूप से धर्मसत्ता का विरोध करने लगी थीं। लेकिन विरोध के इस युग में भी पोप की अखण्ड धर्मसत्ता के कुछ उपासक निकल आये थे। संभवतः इसका कारण पोपसत्ता के अतीत का गौरवमय इतिहास था। इसके बाद पोपसत्ता म बड़ी जबर्दस्त फूट पड़ गयी। इसका कारण यह था कि पोप-सत्ता की आड़ में यूरोप की कुछ राज-नीतिक शक्तियों ने अपने-अपने स्वार्थों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इन शक्तियों में एक ओर फ्रांस और स्पेन का गुट था और दूसरी ओर जर्मनी और इंगलैण्ड का। फ्रांस के शतवर्षीय युद्ध में व्यस्त होने के कारण जर्मनी ने पोप को भड़काया कि वह फ्रांस के प्रभाव से अपने आपको मुक्त कर ले। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि फ्रांस के फिलिप चतुर्थ ने पोप जॉन को अपने प्रभाव द्वारा रोम छोड़ कर एविगनॉन म रहने के लिए बाध्य किया। इसके चालीस वर्ष बाद जर्मनी के सम्राट् ने एविगनॉन के पोप से पुनः रोम चले जाने के लिए कहा। जर्मनी के प्रभाव में पोप ग्रेगरी एकादश रोम चला गया। इस बात पर फ्रांस न आपत्ति की और पोप ग्रेगरी के स्थान पर एक दूसरे पोप क्लीमेण्ट सप्तम को चुनवा कर उसे एविगनॉन में रखा। इस प्रकार पोपसत्ता की फूट का युग (The Great Schism) आरंभ हुआ। इस युग की व्याख्या हम अगले अध्याय में करेंगे।

------

[1] चालीस बरसों का यह समय जिसमें पोप को फ्रांस के प्रभावान्तर्गत एविगनॉन में लगभग बंदियों-सा जीवन बिताना पड़ा था अँग्रेजी में बबीलोनिस केप्टीविटी" (Babylonish Captivity) कहा जाता है।

मध्य युग की समाप्ति

(सन् १३५० से १४५० तक)

१. इतिहास की गति--२. राष्ट्रीयता का जन्म और विकास--३. मध्यवर्ग का जन्म--४. सामन्त शक्ति और धर्मसत्ता का क्रमिक पतन--५. जॉन वाइक्लिफ--६. जॉन हस--७. वाइक्लिफ और हस का स्थान--८. धर्माधिकारी सम्मेलनों (कौंसिलों) का आयोजन--९. सम्मेलन (कौंसिल) आन्दोलन की असफलता--१०. सम्मेलन (कौंसिल) आन्दोलन का महत्व--११. जॉन गर्सन और निकोलस क्यूसा--१२. मध्य युग में राजदर्शन की प्रगति की समीक्षा।

१. इतिहास सी गति

मध्य युग की समाप्ति की शताब्दी इतिहास के नवल चरणों के कारण विशेषरूप से महत्वपूर्ण है। इस शताब्दी में इतिहास ने जो गतिधारण की–वह कमसे कम मध्य युग केविचारकों के लिए तोकल्पनातीत थो। यहयुग अपनी परिवर्तनशीलता और अभिनवीकरण के कारण ऐसी विशेषता प्राप्त कर गया है जो मध्य युग की अन्य किसी शताब्दी को प्राप्त नहीं है। यह परिवर्तनशीलता और अभिनवता राजनीति के विचारकों के कार्यकलापों का परिणाम नहीं थी। अपितु राजनीतिक संस्थाओं और संवासों के स्वरूपों में ही कुछ ऐसा परिवर्तन हो गया था कि उसकी वजह से तत्कालीन विचारकों और दार्शनिकों को अपनी समस्त विचारपद्धति में ही आमूल परिवर्तन कर डालना पड़ा। धर्मसत्ता और राजसत्ता में अधिकार प्राप्ति के लिए जो संघर्ष एक हजार वर्षों से चल रहा था—उसका राजसत्ता के पक्ष में अन्त हो गया। सात-आठ सौ वर्षों से चलनेवाले सामन्तवादी युग की भी समाप्ति हो गयी। धर्माधिकारियों, सरदारों और सामन्तों के अधिकार कम हो गये—उनकी शक्ति घट गयी और बिखरी हुई सत्ता का केन्द्रीकरण होने लगा। राजसत्ता के जो अधिकार सामन्तों और धर्माधिकारियों के पास चले गये थे—वे पुनः राजतंत्रों को वापस मिलने लगे तथा प्रजादमन का जो कार्य धर्मसत्ता, राजसत्ता और सामन्तसत्ता तीन तरफ से हो रहा था, उसका भी अन्त हो गया। जैसे-जैसे पोपों तथा उनके सहायकों का प्रभाव घटा—वैसे ही वैसे प्रजा और राजा के महत्व में वृद्धि होती चली गयी। राष्ट्रमूलक राज्यों का अभ्युदय हुआ। इसके अलावा एक और बात हुई। वह थी उपेक्षित और अवहेलित नगरों का एक बार पुनः उत्थान। प्राचीन काल में यूनान तथा रोम के नगर-राज्यों के पतन के पश्चात् साम्राज्यों और जागीरों की जो व्यवस्था चली थी उनमें ग्राम्य-संस्कृति का विकास हुआ था। नगरों का महत्व काफी घट गया था। नगरों के पुनरोदय का श्रेय इस बार एक नये वर्ग को मिला। यह वर्ग व्यापारियों का था। व्यापारियों के इस नये वर्ग ने न केवल नगरों का वैभव बढ़ाया —उनकी श्री-वृद्धि की—जल-यातायात के साधनों और मार्गों की पुनर्रचना की, अपितु राजसत्ता और धर्मसत्ता के संघर्ष में भाग लेकर युग को मध्ययुगीन धार्मिक अंधविश्वासों तथा मूढ़ताओं से छुटकारा दिलाया तथा राष्ट्र-राज्यों की कल्पना को मूर्त रूप दिया। व्यापारी वर्ग ने सामन्त वर्ग और पोप तथा उसके सहायक धर्माधिकारियों के विरुद्ध राजसत्ता के पक्ष का समर्थन किया और इस प्रकार उगती हुई राष्ट्रीयता को बल और प्रेरणा प्रदान

की। प्रजातंत्रवादी पद्धतियों को जन्म देने का श्रेय भी व्यापारियों के इसी मध्यवग का है अतएव इतिहास की इस समूची गति का यदि विहंगावलोकन करना हो तो हमें इन तीन तत्वों को साफ-साफ समझ लेना होगा—राष्ट्रीयता का जन्म और विकास, मध्यवर्ग का जन्म और धर्मसत्ता और सामन्त शक्ति का क्रमिक ह्रास।

२· राष्ट्रीयता का जन्म और विकास

राष्ट्रीयता का जन्म और विकास मुख्यत: इंगलैण्ड, फ्रांस और स्पेन में और सामान्यत: समस्त यरोप में हुआ। राष्ट्रीयता के बीज में अंकुर उगने तो उसी समय आरंभ हो गये थे जब **फिलिप चतुर्थ** ने पोप का विरोध किया था और उसके आदेशों के विरुद्ध धार्मिक अधिकारियों तथा चर्च की सम्पत्ति से कर वसूल करना आरंभ कर दिया था। फिलिप की इस नीति का विरोध फ्रांस के चर्च अधिकारियों ने नहीं किया अपितु उसका गौण या सक्रिय रूप से समर्थन किया। किन्तु, **शतवर्षीय युद्ध** के अंतिम भाग में **हेनरी सप्तम** ने इंगलैण्ड में तथा **लुई एकादश** ने फ्रांस में संसद (Parliament) और स्टेट्स जनरल (Estates General) की शक्ति अत्यन्त सीमित कर दी और सत्ता पर स्वयं अधिकार जमा लिया। उन दिनों संसद और स्टेट्स जनरल दोनों ही सामन्तों की शक्ति के गढ़ थे और उन्हीं की शक्ति पर सामन्तवादी शासक राजा की नाक में नकेल डाल उसे जिधर चाहते मोड़ देते थे। इंगलैण्ड में राजा की शक्ति बढ़ाने में गुलाबों के युद्ध' (War of Roses) के फल का बहुत बड़ा हाथ था। इसके विपरीत फ्रांस में लुई एकादश ने शतवर्षीय युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों का पूरा-पूरा फायदा उठाया और उससे जहाँ तक बन सका उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ की। स्पेन में उन दिनों छोटी-छोटी बहुत-सी रियासतें और जागीरें थीं। इनमें **केस्टाइल** और **एरागार** के वंश बड़े प्रसिद्ध थे। उनकी इस प्रसिद्धि का कारण उनकी शक्ति तथा वैभव दोनों ही थे। इन दोनों घरानों के संयोग से स्पेन में भी मजबूत राजतंत्र की नींव पड़ गयी। इस राजतंत्र ने स्पेन की बिखरी हुई सभी रियासतों को एक छत्र के नीचे लाने का अत्यन्त सराहनीय प्रयत्न किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की। इधर पवित्र रोमन साम्राज्य में पूर्णत: फूट पड़ गयी। इटली और जर्मनी का दास और स्वामी का सम्बन्ध सदैव के लिए टूट गयाऔर दोनों देशों में अन्दर ही अन्दर ऐसी शक्तियाँ कार्य करने लगीं जिनका उद्देश्य राष्ट्रमूलक राज्य की स्थापना करना था। यह वही समय था जिन दिनों **मैकियावली** का जन्म हुआ। फिर भी जर्मन और इटली दोनों में ही उन दिनों ऐसे सामन्तवादी तत्वों का अभाव नहीं था जो पुरानी ही लकीरों से चिपके रहना चाहते थे। कुल मिलाकर यूरोप में ऐतिहासिक परिस्थितियाँ राष्ट्रीयता के अनुकूल थीं। उन्होंने यूरोप के तीन सुदृढ़ राज्यों में अपना अड्डा जमा कर राष्ट्रीयता की प्रबल भावनाओं को जन्म दे दिया था और विकास के लिए भी एक अनुकूल और अपेक्षाकृत बाध्यहीन मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

३· मध्य वर्ग का जन्म

हम यह तो बतला ही चुके हैं कि यह मध्यवर्ग व्यापारियों की श्रेणी है। इस वर्ग में आरंभ में द्रव्य की दृष्टि से बहुत अधिक धनी व्यक्ति न थे किन्तु उनमें साहस और सूझ-बूझ के धनी लोगों का अभाव नहीं था। इसी वर्ग के लोगों ने पूर्व का मार्ग खोजा। इसी वर्ग ने जल-यातायात द्वारा व्यापार का विकास किया। भारत के लिये समुद्र मार्ग की खोज करना इसी वर्ग ने आरंभ किया था। इसी वर्ग के एक नाविक ने जाकर अमरीका को खोज निकाला था। यह वही वर्ग था जो पूर्व से मसाले, कपड़े, जवाहरात आदि ले जाकर जिनोआ तथा वेनिस आदि नगरों की अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों में बेचा करता था; उत्तरी अफ्रीका से अन्न तथा औद्योगिक कच्चे माल को यूरोप लाने का श्रेय भी व्यापारियों को ही था। यह व्यापारिक

परम्परा प्राचीन काल में थी और रोमन साम्राज्य के युग में भी बनी रही किन्तु बर्बरों के आक्रमणों के बाद जो सामन्तवादी युग आया उसमें वह बिलकुल नष्ट हो गयी। उसे मध्य-वर्ग के व्यापारिक श्रेणी के लोगों ने पुनः जीवदान दिया; बाल्टिक सागर के तटवर्तीय राज्यों से भी व्यापारिक सम्बन्धों की नींव पड़ी। इस प्रकार इस युग में एक नयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिसका उद्देश्य क्षेत्रीय साम्राज्यों की स्थापना न करके व्यापारिक साम्राज्यों की स्थापना करना था। उपनिवेशवाद आदि का जन्म इसी कालमें हुआ। सम्पत्ति और वैभव-वृद्धि का यह कार्य पुराने नगरों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि उसने नये-नये नगरों और बन्दरगाहों को भी जन्म दिया। व्यापारिक कार्यों में अधिकाधिक धन का प्रयोग किया जाने लगा। पूँजीवाद के प्रसार और व्यापार-वाणिज्य के विस्ताराधिक्य के साथ ही शान्ति और व्यवस्था को रक्षा की आवश्यकता भी महसूस हुई। यह कार्य सभी स्थानों में समान रूप से होना चाहिए था। स्पष्ट था कि छोटी-छोटी रियासतों और इलाकों के स्वामियों के लिए यह संभव नहीं था कि वे इस प्रकार को कोई व्यापक व्यवस्था कर सकें। इसी कारण व्यापारी वर्ग ने सुदृढ़ राजतंत्रों की केन्द्रित सत्तावाली सरकारों का समर्थन किया। इस समर्थन ने व्यापारीवर्ग को राजनीति में भी उलझा लिया। उच्च शिक्षा प्राप्त व्यापारियों ने आस-पास के सामन्तों और पादरियों को अपनी शासन-सत्ता का कुछ अंश देने के लिए विवश कर दिया। व्यवसायियों के स्वतंत्र हो जाने की प्रतिक्रिया अन्य स्थानों में भी हुई। वह आस-पास के गाँवों में भी फैली। ग्रामवासियों ने भी अपनी दासता के विरुद्ध स्वर उठाया और इसी शताब्दी में कई किसान क्रान्तियाँ भी हुईं। इन क्रान्तियों में फ्रांस, इंगलैण्ड आदि की क्रान्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार व्यापारियों तथा महत्वाकांक्षी ग्रामीण वर्ग ने जो गाँवों की सामन्तवादी व्यवस्था के अन्यायों और अत्याचारों से ऊब गया था शहरों में आकर मध्यवर्ग की सृष्टि की। अतः यह कहा जा सकता है कि **व्यवसाय युग ने ही मध्यवर्ग को जन्म दिया।**

४. सामन्तशक्ति और धर्मसत्ता का क्रमिक पतन

आलोच्य शताब्दी के आरंभ में एक और तत्व भी प्रकाश में आया यद्यपि उसकी पृष्ठ-भूमि मध्य युग में ही तैयार हो चुकी थी। यह तत्व था सामन्त और धर्मसत्ता की शक्ति का क्रमिक ह्रास। यह तो हम जान ही चुके हैं कि मध्य युग में कई शताब्दियों तक धर्म और राजसत्ता के बीच शक्ति-लाभ के लिए संघर्ष होता रहा और दोनों पक्षों के विचारकों ने ही अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए भाँति-भाँति के तर्क उपस्थित किये। इस शताब्दी में धर्मसत्ता विरोधी विचारक प्रबल हो गये और उन्होंने अपने अनुकूल सशक्त जनमत तैयार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्मसत्ता जो मध्य युग में विश्व भर में अपने धर्म सापेक्षिक राज्य की कल्पना किया करती थी उसने अपना एकताकारी रूप खो दिया। संभवतः यह कहना भी कोई अतिशयोक्ति न होगा कि सन् १४५० तक धर्मसत्ता में यूरोप को एकता के सूत्र में ग्रंथित करने की कोई क्षमता शेष न रह गयी थी। परोक्षतः इस तत्व ने राष्ट्रीयता का क्षेत्र और भी स्वच्छतर और व्यापक बना दिया।

गत चौदहवें अध्याय के अन्त में यह तो बताया ही जा चुका है कि फ्रांस और जर्मनी के राजनीतिक प्रभाव के कारण **एविगनॉन** तथा **रोम** में दो पोप अलग-अलग रहने लगे थे। इनमें से एविगनॉन में रहनेवाले पोप को फ्रांस, स्पेन, स्काटलैण्ड, फ्लैण्डर्स आदि राज्यों का समर्थन प्राप्त था और दूसरे को जर्मनी, इंगलैण्ड, पोलैण्ड, हंगरी, नार्वे और स्वीडेन का। दोनों ही पोपों को ओर से यह प्रयत्न किया जाता था कि वे अधिक से अधिक शान-शौकत दिखला कर अपना प्रभाव बढ़ा लें। इस कार्य में दोनों ही पोपों के दरबारों में धन पानी की तरह बहाया जाता था। इसके अलावा एक और तमाशा भी होने लगा था। वह यह था कि

अपने समर्थकों को दोनों पोप भाँति-भाँति की सुविधाएँ देते थे तथा विरोधियों को तरह-तरह के धार्मिक दण्ड। इसका फल यह हुआ कि लोग धार्मिक दण्डों को भी महत्वहीन समझने लगे। पोप के धर्मबहिष्कार के जिस दण्ड से यूरोप के बड़े-बड़े नरेशों के पाँव डगमगा जाया करते थे वहीं यह दशा हो गयी कि लोग पोप के इस कठोरतम दण्ड को हँसकर टालने लगे। इस प्रकार की स्थिति से एक बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई जो मुख्यत: ईमानदार और सच्चे धर्माधिकारियों का सरदर्द थी। उनके सामने प्रश्न यह था कि वह धार्मिक अनुशासन किस प्रकार कायम करें। वे दोनों पोपों के उन कार्यों से भो असन्तुष्ट थे जो राजनीतिक कर्णधारों के संकेतानुसार किये जाते थे। फलस्वरूप इस असन्तुष्ट धर्माधिकारियों ने पीसा म एक धर्म सम्मेलन करने का निश्चय किया। इस प्रकार के सम्मेलनों को बुलाने की परम्परा मध्य युग से ही थी। यह धर्मसम्मेलन उस समय बुलाये जाते थ जब कोई संकट आ जाता था। इनमें उस संकट से निवारण के उपायों को खोजा जाता था। **पीसा का धर्मसम्मेलन** अन्य सम्मेलनों से इसलिये भिन्न था कि उसे न तो पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् ने ही बुलाया था और न पोपों न ही। इसका आयोजन छोटे-छोटे धर्माधिकारियों ने किया था। योजनानुसार सन् १४०९ में पीसा धर्मसम्मेलन हुआ। इसमें दोनों पोपों की भर्त्सना की गयी और राजनीतिक शक्तियों के हाथ में उनके कठपुतलियों की भाँति नाचने पर आपत्ति की गयी। धर्माधिकारियों ने सम्मेलन में दोनों पोपों के विरुद्ध प्रस्ताव पारित करके एक तीसरे पोप की नियुक्ति की। इसका फल यह हुआ कि धर्मसत्ता की विच्छिन्नता और अनैक्यता की खाई पटने के बजाय और चौड़ी हो गयी। इन घटनाओं से धर्मसत्ता की प्रतिष्ठा और गरिमा नहीं बढ़ी। उल्टे तीन-तीन पोपों के खर्च के लिए विपुल धनराशि जुटाते-जुटाते ईसाई समाज विक्षुब्ध हो गया। नित्य नये-नये करों को वसूली उन्हें और भी तंग करने-वाली सिद्ध हुई। जनता को इस समस्या पर कुछ विचारकों का ध्यान पुन: गया और उन्होंने इस धार्मिक विच्छिन्नता और अपव्यय को रोकने का प्रयत्न किया। इन विचारकों के सम्बन्ध में हम नीचे चर्चा करने जा रहे हैं।

५. जान वाइक्लिफ (John Wycliffe)

वाइक्लिफ (१३२०-१३८४) एक अँग्रेज विचारक था और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य करता था। इसका जन्म भी यार्कशायर जिले के हिप्सवेल नाम के स्थान में हुआ था और उसन शिक्षा आक्सफोर्ड म प्राप्त की। विश्वविद्यालय के अधिकारी इसके धर्मपुस्तकों-सम्बन्धी ज्ञान से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उसे अध्यापक के पद पर नियुक्त कर दिया। वह बाद में लटरवर्थ का रेक्टर भी बना दिया गया। बाद म वाइक्लिफ के विचार धर्मसत्ता-विरोधी हो गये। यह खबर जब पोप के कानों तक पहुँची तो विश्वविद्यालय के अधिकारियों से परामर्श करने के बाद वाइक्लिफ को धर्म-बहिष्कृत घोषित कर दिया गया। उसकी समस्त रचनाएँ नष्ट कर दी गयीं। उनमें उसकी एक उल्लेखनीय कृति बाइबिल का अनुवाद भी था। जान वाइक्लिफ की राजनीतिक रचनाओं की विशेषता यह है कि वे पोप-विरोधी हैं। दूसरे वे राष्ट्रीयता का समर्थन करती हैं और तीसरे उनमें प्रजातंत्रात्मक भावना की भी प्रधानता है। कहा जाता है कि वाइक्लिफ की यही प्रवृत्तियाँ आगे चलकर उक्त रेखाओं पर हुए आन्दोलन के लिए उत्तरदायी थीं। वाइक्लिफ ने जनसत्ता

---

[1] इस संबंध में वाइक्लिफ सोसाइटी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ पठनीय है। इनमें आर० एल० पूल द्वारा सम्पादित वाइक्लिफ के डी डोमीनिओ (De Dominio Divinio) डी सिविली डोमिनिओ (De Civili Dominio) और डी ऑफिशियो रेजीस (De Officio Degis) उल्लेखनीय हैं।

पर विशेष ध्यान दिया। उसके धर्म सुधार, राज और धर्म सत्ता के सम्बन्ध, सम्पत्ति, सरकार आदि विषयक विचार बहुत महत्वपूर्ण हैं। उसने अपने विचारों में मुख्यतः धार्मिक दृष्टि-कोण का प्रतिपादन किया है। समस्त रचनाओं में वाइक्लिफ के सबसे मत्वपूर्ण विचार प्रभुत्वक्षेत्र (Dominion) सम्बन्धी हैं। इनमें स्वामी और सेवक के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में एक सामान्य सिद्धान्त का निरूपण किया गया है।

५.१ **प्रभुत्वक्षेत्र संबंधी मत**—जैसा कि कहा जा चुका है कि इसमें स्वामी और सेवक के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में एक सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है। वाइ-क्लिफ ने आरंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इस सम्बन्ध का रूप सर्वथा भावजगत् की वस्तु है। इसका कोई भौतिक रूप नहीं है। यह बतलाने के बाद वाइक्लिफ ने बतलाया कि प्रभुत्व का क्षेत्र कितना व्यापक है। व्यापकता की दृष्टि से उसे तीन भागों में विभक्त किया गया है। प्रभुता के निम्न तीन क्षेत्र इस प्रकार हैं—(१) राजसत्ता की प्रभुता, (२) प्राकृतिक सत्ता की प्रभुता और (३) ईश्वरीय सत्ता की प्रभुता। ईश्वरीय सत्ता की प्रभुता के सम्बन्ध में वाइक्लिफ का कहना है कि वह शाश्वत, सर्वशक्तिसम्पन्न और सर्वोच्च होती है। वह न केवल इस संसार पर शासन करती है अपितु समग्र ब्रह्माण्ड ही इस ईश्वरीय प्रभुता का क्षेत्र है। ब्रह्माण्ड के अणु-अणु पर ईश्वरीय प्रभुता की मुद्रा अंकित है। समस्त ब्रह्माण्ड और सारे संसार की गतिविधि ईश्वरीय प्रभुता के इंगित मात्र से चलती है। जब अणु-अणु का सम्बन्ध इस प्रभुत्व शक्ति द्वारा साक्षात् ईश्वर से है तो वाइक्लिफ कहता है कि मनुष्य की आत्मा और ईश्वर का संबंध भी प्रत्यक्ष है। उसमें किसी मध्यस्थ की कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसी अवस्था में पोप, धर्म या गिरजा सर्वथा महत्वहीन हैं और वे साधना के भौतिक उपादानों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। आत्मा और ईश्वर का संबंध जब उच्चतर अवस्था में पहुँच जाता है तो ये उपादान सर्वथा निरर्थक हो जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो वह इन उपादानों के बिना भी केवल अपनी आत्मिक साधना के बल से ईश्वर को प्राप्त कर सकता है अर्थात् मुक्तिलाभ कर सकता है। मानवीय आत्मा और ईश्वर के बीच धर्माधिकारियों के स्थान की चर्चा करते हुए वाइक्लिफ ने बतलाया है कि धर्माधिकारी साधना के क्षेत्र में व्यक्ति का पथप्रदर्शन करने की क्षमता अवश्य रखते हैं, किन्तु यह सोचना कि वे आत्मा को बिना व्यक्ति के अपने प्रयत्न के उच्चतर अवस्था में पहुँचा सकते हैं—सर्वथा भ्रमात्मक है। धर्माधि-कारियों में यह शक्ति नहीं है कि वे पतित आत्मा की सिफारिश करके ईश्वर से उसे क्षमा दिलवा देंगे और फिर उसे मुक्ति मिल जायगी। जहाँ तक आध्यात्मिक साधना का संबंध है ईश्वरीय शक्ति के सम्मुख धर्माधिकारी और एक सामान्य व्यक्ति—दोनों ही समान ह। उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। प्राकृतिक सत्ता की प्रभुता का क्षेत्र बतलाते हुए वाइक्लिफ ने बतलाया है कि जब मनुष्य प्रकृति की गोद में रहता था उस समय वह सर्वथा निर्दोष था और सब को अपने समान समझता था। वह मानता था कि संसार के जितने भौतिक पदार्थ हैं उन पर उसका तथा उसके साथ दूसरे मनुष्यों का समान अधिकार है। लेकिन बाद में मनुष्य के इस स्वभाव में दोष आ गये और उसका पतन हो गया। वह सांसारिक वस्तुओं पर एकाधिपत्य चाहने लगा। वाइक्लिफ ने बतलाया है कि मनुष्य पुनः अपनी इन सब दुर्बलताओं को परास्त कर सकता है—बशर्ते कि वह अपने आचरण को लोभ, मोह आदि की अशुद्धताओं से दूर रखे। अन्त में राजसत्ता की प्रभुता के विषय में वाइक्लिफ ने लिखा है कि ईश्वर और प्रकृति की सत्ता की भाँति राजसत्ता भी पवित्र है। जिस प्रकार प्राकृतिक सत्ता की प्रभुता में तभी रहा जा सकता है जब मनुष्य का आचरण शुद्ध हो, उसी प्रकार राजसत्ता भी उन्हीं लोगों को मिलती है जिनके विचार धर्मानुकूल हों और वे धर्म प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार ही उनका प्रयोग करें। यदि किसी व्यक्ति का आचरण

अशुद्ध है तो उसके प्रति न तो ईश्वरीय सत्ता का शुभ भाव रहेगा और न प्राकृतिक सत्ता का। इसी के साथ वह राजसत्ता का अधिकारी भी नहीं रहेगा। जहाँ तक राजसत्ताधिकारियों के अधिकार-स्रोत का संबंध है––कहा जा सकता है कि प्रत्येक सत्ताधारी में ईश्वर का अंश स्वयं विद्यमान है। इसकी व्याख्या यों भी की जा सकती है कि प्रत्येक अधिकारी को सत्ता देनेवाला ईश्वर है। जब तक अधिकारी उसकी आज्ञाओं के अनुकूल सत्ता का प्रयोग करते हैं तब तक उनको आसनारूढ़ रहने का हक है। यदि वे ईश्वर के निर्देशों के विरुद्ध आचरण करते हैं तो उनकी सत्ता उससे संबंधित अधिकार छीन लिये जाते हैं। ईश्वर के समक्ष उसके सब अधिकारियों का दर्जा बराबर है। पोप या राजा––दोनों में कोई नीचा या ऊँचा नहीं है। पोप का क्षेत्र आध्यात्मिक है––इसलिए जहाँ तक राजकीय और सांसारिक मामले हैं––राजा बिलकुल स्वतंत्र है। उसकी स्वतंत्रता को सीमित करनेवाली यदि कोई चीज है तो वह ईश्वर के आदेश या नैतिकता के आदर्श हैं।

वाइक्लिफ के उपरोक्त सिद्धान्तों को ध्यान से देखने पर मालूम पड़ेगा कि उसने धर्मसत्ता पर दुतरफा प्रहार किये। पहले प्रहार में उसने ईश्वर तथा मनुष्य के बीच पोप और चर्च की मध्यस्थता को––जिसका धर्मसत्ता की ओर से सैकड़ों वर्षों से दावा किया जाता था––चुटकियों में समाप्त कर दिया। उसने यह स्पष्ट किया कि ईश्वर के सामने पोप या किसी धर्माधिकारी की सिफारिश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ईश्वर की समीपता आध्यात्मिक साधना और तपस्या द्वारा प्राप्त की जा सकती है, पोप की मध्यस्थता से नहीं; दूसरे, उसने पोप और राजा के स्थानों को समान बतलाकर पोप की गतिविधि के क्षेत्र को सीमित कर दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि मनुष्य का जिस प्रकार ईश्वर से सीधा संबंध है उसी प्रकार सब अधिकारियों से भी सीधा संबंध है। किसी अधिकारी को कोई सत्ता किसी दूसरे अधिकारी द्वारा नहीं मिली है। इस सिद्धान्त से न केवल धर्मसत्ता की श्रेष्ठता का दावा ही समाप्त हुआ, वरन् राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के प्रसार को भी व्यापक क्षेत्र मिला। राजतंत्रों की अध्यक्षता में यह सिद्धान्त भली भाँति पनप सका।

५.२ सम्पत्ति संबंधी विचार––वाइक्लिफ ने सम्पत्ति के संबंध में जो विचार प्रकट किये हैं उनकी कुंजी यह है कि वह सम्पत्ति पर राजसत्ता के अधिकार को सर्वोच्च मानता है। वह यह नहीं कहता कि ईसाई चर्च के अधिकार में जो सम्पत्ति हो वह इतनी पवित्र है कि उसे राजा को छूने का ही अधिकार नहीं है। धार्मिक सम्पत्ति की पवित्रता के दावे को स्वीकार करने के बाद भी वह कहता है कि राजा भी उतना ही पवित्र है जितना धर्माधिकारी। इसलिये धार्मिक सम्पत्ति पवित्र होने की वजह से उसे राजा स्पर्श न करे–यह बात नहीं मानी जा सकती। यदि सार्वजनिक कल्याण के लिये राजा को सम्पत्ति की आवश्यकता है तो राजा को जिस प्रकार किसी व्यक्ति की सम्पत्ति ले लेने का अधिकार है उसी प्रकार ईसाई चर्च अथवा ईसाई धर्माधिकारियों की सम्पत्ति पर भी कब्जा कर लेने का हक है। उसका यह भी कहना था कि सम्पत्ति की रक्षा या उसकी प्राप्ति के लिये चर्च को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह लोगों को धर्म बहिष्कृत कर दे या इसी प्रकार के अन्य धार्मिक दण्डों का प्रयोग करे। वाइक्लिफ के विचारों को जो पृष्ठभूमि हमें मिल चुकी है उसको दृष्टि में रखते हुए उसका यह कहना हमें तनिक भी असंगत नहीं लगता। धार्मिक सम्पत्ति में राजकीय हस्तक्षेप को उचित ठहराने के बाद वाइक्लिफ ने यह भी कहा था कि सम्पत्ति के बढ़ जाने से विलासिता आ जाती है और आध्यात्मिक साधनाएँ विलासिता के वातावरण में संभव नहीं। विलासितापूर्ण सामग्रियों के उपभोग से केवल बुराइयाँ ही पैदा हो सकती हैं। जहाँ तक धर्माधिकारियों का संबंध है उनको तो इस संबंध में ईसा के आदर्श का ही अनुगमन करना चाहिए। ईसा ने सांसारिक भोग-विलास के उपादानों का परित्याग कर दिया था। पोप तथा उनके सहायक अधिकारियों को भी यही करना चाहिए। सम्पत्ति के स्वामियों का यह

अधिकार है कि वे उससे लाभ उठावें किन्तु उनका यह भी कर्तव्य है कि लोक-कल्याण के लिये जब भी आवश्यकता हो उसका परित्याग कर दें।

५.३ **आदर्श शासनतंत्र**—वाइक्लिफ ने विस्तारपूर्वक यह बतलाने का यत्न किया है कि आदर्श शासनतंत्र कैसा होना चाहिए। इस संबंध में उसका मत कुछ-कुछ प्लेटो से मिलता है। वह आभिजात्यतंत्र का पक्षपाती है। आभिजात्यवर्ग से उसका अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों से नहीं है जो सम्पत्ति और धन की दृष्टि से ऊँचे हों अपितु जो बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठ हों। उसका मत था कि यदि पवित्र जीवन और शुद्ध आचरण व्यतीत करनेवाले सभी व्यक्ति हों तो बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्तियों का शासनतंत्र ही इच्छित है। लेकिन संसार में सबसे दुःखद बात यह है कि इसमें अधिकांश व्यक्ति पापी हैं। अतएव, किसी ऐसे व्यक्ति के शासन की आवश्यकता बनी रहती है जो मनुष्य को पापों के सागर से उबारे। राज्य का और विशेष रूप से शासक का कर्तव्य दण्डात्मक ही नहीं सहायता देनेवाला भी है। राजा चूँकि ईश्वर का प्रतिनिधि होता है—अतः उसे सत्ता वंशपरम्परा या निर्वाचन से नहीं मिलती अपितु ईश्वरीय कृपा से मिलती है। इस संबंध में वाइक्लिफ के विचार मार्सीलियो से नहीं मिलते जो निर्वाचित राजतंत्रों का पक्षपाती था। धार्मिक लेखकों में वाइक्लिफ के विचार **संत ऑगस्टाइन** के अधिक समीप हैं। **संत ऑगस्टाइन** की ही भाँति वाइक्लिफ **दास प्रथा** को भी मनुष्य के अधःपतन का दण्ड मानता है और इसी आधार पर उसका औचित्य सिद्ध करके दासता को स्वाभाविक बतलाता है। उसने राजतंत्र के शासन को व्यावहारिक बतलाकर राजा को यह सलाह दी है कि वह विधियों के अनुसार शासन करे। यदि वह विधियों के अनुसार शासन नहीं करता तो वह न्यायाधारित शासन नहीं है और जो शासक न्याय के अनुकूल शासन नहीं करता वह पदच्युत कर दिये जाने के योग्य है। शासकों को पदच्युत किये जाने के सुझाव में यह स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र के बीज छिपे हैं। वह धर्मतंत्र को बिलकुल पसन्द न करता था

६. जॉन हस (John Huss)

६.१ **जीवन-परिचय**—जॉन हस बोहेमियावासी था। उसका जन्म सन् १३७३ में हुआ था और मृत्यु सन् १४१५ में। उसके विचार इतने क्रान्तिकारी समझे गये कि कांस्टेंस के धर्मसम्मेलन में, धर्माधिकारियों के आदेशानुसार, उसे जीवित जला दिया गया। जहाँ तक विचारधारा का संबंध है, हस के विचार वाइक्लिफ जैसे थे। वह वाइक्लिफ का शिष्य भी था। वाइक्लिफ की तुलना में समकालीन राजनीति पर उसका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक था। उसके शिक्षा प्राप्त करने के बाद उसे पादरी बना दिया गया और अपनी योग्यता के बल पर बढ़ते-बढ़ते वह प्राग (ऑस्ट्रिया) विश्वविद्यालय के रेक्टर के पद तक पहुँच गया। वह धर्मसत्ता का वाइक्लिफ की भाँति ही विरोधी था। उसे सन् १४११ में धर्म-बहिष्कृत कर दिया गया। वह सम्राट् का कृपाभाजन था—इसलिये उसे कांस्टेन्स धर्म सम्मेलन के सम्मुख अपनी सफाई देने के लिये भेजा गया, किन्तु सम्मेलन के धर्माधिकारियों ने हस के विरुद्ध फैसला दिया और उसे मरवा डाला। जहाँ तक विचारों की मौलिकता का संबंध है हस के विचार महत्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु उसने चर्च तथा उसकी बुराइयों के विरुद्ध जो आन्दोलन किया उसका परिणाम यह हुआ कि सबने उसे नास्तिक समझ लिया। इसी भ्रम का संभवतः यह परिणाम था कि उसका ऐसा दुःखद अन्त हुआ।

६.२ **धर्मसत्ता का विरोध**—वाइक्लिफ की ही भाँति जॉन हस भी धर्मसत्ता और विशेष कर पोपतंत्र का जबर्दस्त विरोधी था। वह चाहता था कि पोपों की शक्ति को घटाकर धार्मिक क्षेत्रों में किसी भी मामले के अंतिम निर्णय का अधिकार धर्माधिकारी सम्मेलनों (कौंसिलों) को दे दिया जाय। वह चाहता था कि धर्मसत्ताधीशों के पास किसी प्रकार

की सम्पत्ति भी न रहे। वे निर्धनता का जीवन व्यतीत करें और अपना सारा समय आध्यात्मिक कार्यों में लगायें। वह पोप की भौतिक उपादानों के प्रति आसक्ति का कट्टर विरोधी था। उसका कहना था कि धर्मसत्ता का ह्रास उसके मानसिक अध:पतन और विलासिता के प्रति आसक्ति के कारण ही हो रहा है। ऐसी अवस्था में राजकीय शक्ति का यह कर्तव्य है कि वह पोप तथा चर्च की समस्त सम्पत्ति का अपहरण कर ले और उन्हें निर्धनता का जीवन बिताने के लिये विवश करे। यही नहीं वह राजसत्ता की इस शक्ति का भी हिमायती था कि यदि धर्माधिकारी पुरोहित किसी प्रकार की गड़बड़ी करते हैं और विधि का उल्लंघन करने के अपराधी हैं तो उनको राज-न्यायालय में दण्ड दिया जा सकता है। वह सामान्य नागरिक और धर्माधिकारी में—जहाँ तक विधि के उल्लंघन का संबंध है—कोई भी अन्तर मानने के लिये तैयार नहीं था। जहाँ तक पोप की सत्ता का संबंध है—उसका कहना था कि पोप उच्चतम अधिकारी नहीं है। उसकी सत्ता का स्रोत ईसाइयों का विस्तृत समाज है। पोपों को यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि वे दैवी सत्ता द्वारा नियुक्त किये गये हैं—विशेषकर उस समय जब कि उनकी नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है। धर्मसत्ता को सांसारिक व्यवस्था के मामलों में राजसत्ता की व्यवस्था का नेतृत्व ही मानना चाहिए।

७. वाइक्लिफ और हस का स्थान

वाइक्लिफ और हस का स्थान विचारों की नवीनता के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वाइक्लिफ ने अपने विचारों की सहायता से और हस ने उन विचारों के आधार पर यूरोप में आन्दोलन चलाकर कुछ बातों को सर्वमान्य करा दिया; संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—राजसत्ता और धर्मसत्ता सर्वथा स्वतंत्र हैं। दोनों की उत्पत्ति का स्रोत ईश्वर है। चर्च के अधिकारियों को सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं है। अपने सांसारिक सुखोपभोग के लिये उनके द्वारा की जानेवाली करों की वसूली भी सर्वथा अनुचित है। इसके अलावा जब तक कोई आध्यात्मिक अपराध करने का दोषी न हो उसके विरुद्ध धर्मविधि का प्रयोग कर दण्ड दिया जाना और भी अग्राह्य है। आभिजात्य वर्ग का शासनतंत्र आदर्श है किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में मनुष्य के पापी होने केकारण राजतंत्रात्मक शासन होना स्वाभाविक है। धर्माधिकारियों के सम्मेलन को ही दोनों विचारक उच्चतम सत्ता मानते थे। हस एक कदम और आगे बढ़कर इस बात के भी पक्ष में था कि पोप के पद का ही अन्त कर दिया जाय। धर्मलेखों में उसका विश्वास केवल बाइबिल पर था। पादरियों तथा पोपों द्वारा लिखित किसी सामग्री को वह विश्वसनीय नहीं समझता था। ईश्वर, प्रकृति और राजसत्ता की प्रभुता के क्षेत्रों का सिद्धान्त स्थिर करके उसने राजसत्ता की स्वतंत्र स्थिति की विवेचना की। प्रत्येक मनुष्य की समान स्थिति पर उसने विशेष बल दिया। इस प्रकार उसने धर्माधिकारियों की तथाकथित मध्यस्थता के दावे का पूर्णत: उन्मूलन कर दिया।

ये सब विचार के आगे जाकर प्रजातंत्रवादी आन्दोलन की आधारभूमि बन गये। मध्य युग में पोप के धार्मिक प्रभाव के कारण राजसत्ता पर जो अंकुश था—वह हट गया और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का समुचित विकास हुआ। समानता के सिद्धान्त ने प्रजातंत्रवाद के प्रसार में बड़ा योग दिया। वाइक्लिफ और हस दोनों के धार्मिक सुधार संबंधी विचारों के परिणामस्वरूप यूरोप और इंगलैण्ड दोनों स्थानों में धर्मसत्ता-विरोधी आन्दोलन छिड़े। इंगलैण्ड में वाइक्लिफ के बाद **लालार्ड्स** (Lollards) ने उसके विचारों तथा सिद्धान्तों का पोषण किया था। सन् १३८१ में इंगलण्ड में जो विद्रोह हुआ, उसके नेता जॉन बॉल तथा उसके अन्य सहयोगी वाइक्लिफ से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने वाइक्लिफ के सम्पत्ति संबंधी विचारों को सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल पाया। इसमें सन्देह नहीं कि अपने समय में लालॉर्ड्स असफल रहे किन्तु इंगलैण्ड में वाइक्लिफ और

हस के क्रान्तिकारी विचारों का प्रतिपादन करने का मुख्य श्रेय उनको प्राप्त है। कांस्टेन्स के धर्माधिकारी सम्मेलन ने हस को जिन्दा जलवा दिया किन्तु केन्द्रीय यूरोप में उसकी मृत्यु के बाद जो आन्दोलन छिड़ा, उससे धर्मसत्ता को विवश होकर अनेक अधिकारों का परित्याग करना पड़ा। वाइक्लिफ ने बाइबिल का अँग्रेजी में अनुवाद कर यह संभव कर दिया कि उसे कोई भी व्यक्ति समझ सके और बाइबिल के उद्धरण देकर पादरी मनमानी न कर सकें। रजसत्ता और राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा बढ़ाने में भी उसने भारी मदद की क्योंकि उसने साफ कहा कि राजकीय मामलों में धर्मसत्ता को बोलने का कोई अधिकार नहीं है और यदि पोप या उसके सहायक राजसत्ता का उल्लंघन करते हैं तो उनकी सम्पत्ति अपहृत कर लेने का राजा को पूरा-पूरा अधिकार है।

८. धर्माधिकारी सम्मेलनों का आयोजन

हम ऊपर के कुछ अनुच्छेदों में प्रसंगवश धर्माधिकारी सम्मेलनों की चर्चा करते आये हैं। सन् १४०९ में पीसा में जो धर्माधिकारी सम्मेलन हुआ उसके बारे में भी हम बतला चुके हैं कि इसमें किस प्रकार तृतीय पोप का निर्वाचन हुआ तथा कुल मिलाकर यूरोप के राजनीतिक जगत् में धर्मसत्ता की स्थिति निर्बल हो गयी। पन्द्रहवीं शताब्दी में अनेक बार धर्माधिकारी सम्मेलन बुलाये गये। इसका कारण यह था कि लोग निरन्तर पोपों की स्थिति और उनके अधिकारों को चुनौती देते जा रहे थे और यह कह रहे थे कि वास्तविक और अंतिम निर्णय करने का अधिकार सम्पूर्ण ईसाई समाज को है--पोप को नहीं। इसका अभिप्राय यह था कि पोप जो कुछ भी करे उसे ईसाई समाज का समर्थन प्राप्त हो। पोप के निश्चय ईसाई समाज पर लादे नहीं जाने चाहिए। धर्माधिकारी-सम्मेलन ईसाई समाज के जनमत के प्रतिनिधि समझे जाते थे। वे पहले भी बुलाये जाते थे किन्तु सामान्यतः उनका आयोजन विशेष अवसरों पर ही होता था। पोप का निर्वाचन भी इन्हीं सम्मेलनों में होता था। लेकिन बाद में वाइक्लिफ तथा उसके इंगलैण्ड और यूरोप के अनुयायियों ने पोप की असीम शक्ति के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि महत्वपूर्ण निर्णय धर्माधिकारी सम्मेलनों द्वारा ही होने चाहिए। फलस्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में अनेक बार ऐसे सम्मेलनों का आयोजन किया गया। इनमें **कॉस्टेन्स और** बेजिल के धर्माधिकारी सम्मेलन विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

८.१ **कांस्टेन्स का धर्माधिकारी सम्मेलन**--यह सम्मेलन सन् १४१४ के नवम्बर मास में आरंभ हुआ। इसकी बैठकें लगभग चार वर्ष तक चलती रहीं। यूरोप के सभी देशों के प्रमुख धर्माधिकारियों और राजसत्ता के प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया। सम्मेलन के आयोजन का मुख्य उद्देश्य यह था कि धर्मसत्ता के मध्य जो फूट पड़ गयी है उसे किस प्रकार खत्म किया जाय और गिरजाघरों में जो भ्रष्टाचार है उसे दूर करने के लिए क्या उपाय किये जायँ। पोप उस समय प्रचलित धर्म विरोधी आन्दोलनों से भी बड़े भयभीत थे। अतएव यह भी सोचा गया कि उनको किस प्रकार रोका जाय। सम्मेलन ने प्रायः सभी उद्देश्यों की सिद्धि में सफलता प्राप्त की। उस समय रोम और एविगनॉन के पोपों के अतिरिक्त पीसा धर्माधिकारी सम्मेलन के निर्णयानुसार एक तीसरे पोप का भी उद्‌भव हो गया था। कांस्टेन्स सम्मेलन में तीनों पोपों को अपदस्थ कर दिया गया। इन तीनों पोपों के स्थान पर एक पोप निर्वाचित किया गया जिसको सब ने मान्यता प्रदान कर दी। इसका कारण यह था कि इसमें सभी देशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे और उनकी सहमति से ही यह निर्णय किया गया था। इस सम्मेलन ने यह भी घोषित किया कि सम्मेलनों का निर्णय अंतिम और पोपों के मत से भी श्रेष्ठ होगा। हर दस वर्ष पश्चात् इस प्रकार के सम्मेलन हुआ करेंगे। धर्मविरोधी आन्दोलन को समाप्त करने के प्रयत्न में इसी सम्मेलन में हस को जिन्दा जलवा दिया गया था।

६.२ **बेजिल सम्मेलन—कॉस्टन्स सम्मेलन** में यह तय किया गया था कि प्रत्येक दशक के बाद धर्माधिकारी सम्मेलन बुलाया जाय। इसी निश्चय के अनुसार पोप मार्टिन (पंचम) ने पेविया में इस सम्मेलन का आयोजन किया; किन्तु यह कई कारणों से न हो सका। सन् १४३१ में सम्मेलन पुनः बेजिल में आरंभ हुआ। इस समय तक पोप मार्टिन पंचम का कार्यकाल समाप्त हो चुका था और उन दिनों पोप यूजीन चतुर्थ पदारूढ़ था। पोप यूजीन सम्मेलन की श्रेष्ठता को नहीं मानता था। फिर भी बेजिल सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में धर्माधिकारियों की उपस्थिति इतनी कम[१] थी कि सभापति सिसेरानी ने, जिसे पोप मार्टिन ने पेविया म सम्मेलन के समय नियुक्त किया था, अधिवेशन स्थगित करना चाहा किन्तु उपस्थित अधिकारियों और प्रतिनिधियों ने सभापति को ऐसा नहीं करने दिया। साथ ही सम्मेलन ने यह भी आज्ञा दी कि पोप उसके समक्ष उपस्थित हो। यदि वह सम्मेलन का आदेश नहीं मानेगा तो उसे हटा दिया जायगा। इस धमकी के कारण पोप को विवश होकर आना पड़ा। सम्मेलन में पोप-विरोधी तत्वों की प्रधानता थी। कहा तो यह गया था कि पूर्वी तथा पश्चिमी चर्चों को मिलाने के प्रश्न पर सम्मेलन में विचार किया जायगा किन्तु उसने विचार आरंभ किया पोप के अधिकारों को सीमित कर देने के प्रश्न पर। इस पर सम्मेलन के सभापति सिसेरानी ने अपने एक सहयोगी निकोलस क्यूज सहित सभास्थल छोड़ दिया। इसका कारण यह था कि वैसे तो सिसेरानी पोप की सीमित सत्ता का ही पोषक था किन्तु वह जितनी सत्ता सीमित हो चुकी थी उससे अधिक बढ़ने के पक्ष में नहीं था। अभी यह विवाद चल ही रहा था कि पूर्वी चर्च के अधिकारियों ने एक प्रार्थनापत्र पोप के पास भेज दिया। इस प्रार्थनापत्र में अनुरोध किया गया कि सम्मेलनों का अधिवेशन किसी ऐसे सुविधाजनक स्थान पर बुलाया जाय जहाँ पर पूर्वी चर्च के प्रतिनिधि भी भाग ले सकें। फलस्वरूप सम्मेलन का स्थान बदल दिया गया और अगला अधिवेशन सन् १४३६ में फेरारा (Ferrara) में हुआ। इस सम्मेलन में बहुमत से निर्णय करने की महत्वपूर्ण परम्परा स्थापित हुई। पूरे सम्मेलन को तीन वर्गों म विभक्त कर दिया गया। पहले में राजसत्ता और विद्वानों के प्रतिनिधि रक्खे गए, दूसरे में कार्डिनल, आर्कबिशप और बिशप, तथा तीसरे में एबट और प्रोलेट्स रक्खे गये। सम्मेलन के निश्चयों को अलग-अलग तीन बार तीनों वर्गों के सामने रखा जाता था और यदि कोई भी प्रस्ताव तीन में से दो वर्ग पारित कर देते थे तो वह पारित समझा जाता था। इसी सम्मेलन में वस्तुतः पूर्वी और पश्चिमी चर्चों का संयुक्तीकरण हो गया। लेकिन सन् १४५३ म कुस्तुनतुनिया में कुछ ऐसे राजनीतिक परिवर्तन हुए कि उनकी वजह से यह गठबंधन टूट गया। **पोप यूजीन** इस बीच अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने में लगे रहे और वे सम्मेलन के निर्णयों को अपने निश्चय के सामने हेय समझते थे। फलस्वरूप यह तय किया गया कि सम्मेलन द्वारा पोप को पदच्युत कर दिया जाय। हुआ भी ऐसा ही, किन्तु यूरोप के कई राजाओं ने पोप की पदच्युति का विरोध किया। शनैः-शनैः बेजिल के धर्मसम्मेलन का विघटन होता गया और उसके बाद फिर कोई अधिवेशन नहीं हुआ। पोप की स्थिति जहाँ तक सम्मेलन का संबंध था पूर्ववत् हो गयी, किन्तु मध्य युग जैसी अपनी खोई हुई सत्ता पोपतंत्र प्राप्त न कर सका। इस प्रकार सन् १४५० के अन्त तक यह स्थिति उत्पन्न हो गयी कि सम्मेलनों के आयोजनों का आन्दोलन जो बड़े जोर-शोर से आरंभ किया गया था, शान्त हो गया।

९. (कौंसिल) आन्दोलन की असफलता

धर्माधिकारियों के सम्मेलनों का आयोजन अन्ततः सफलता प्राप्त न कर सका। **पोप यूजीन चतुर्थ** के कार्यकाल में ही इसका अन्त हो गया। इस आन्दोलन की असफलता इन

[१] **सम्मेलन में केवल १४ 'प्रोलेट्स' (Prelates) पहुँच पाये थे।**

अर्थों में मानी जाती है कि उनकी वजह से पोप की सत्ता पर जो प्रशासनिक नियंत्रण लगाये जाने की आशा थी—–वह सिद्ध न हो सकी। यदि आन्दोलन की विफलताओं के कारणों का विश्लेषण किया जाय तो हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचेंगे : राजसत्ताधीशों की उदासीनता आन्दोलन का अतिबौद्धिकता-प्रधान हो जाना; प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ; उपयुक्त नेताओ का अभाव और पोप सत्ता तथा सम्मेलनाधिकारियों की उद्देश्यभिन्नता। इन परिणामों पर हम एक-एक करके विचार कर सकते हैं :—

९.१ यह आन्दोलन आरंभ होने के पूर्व ही नरेशवर्ग अपने-अपन क्षेत्रों म अपनी स्थिति सुदृढ़ बना चुका था। यूरोप के विभिन्न नरेश यह चाहते थे कि उनके देशों म उनकी स्थिति सुदृढ़ रहे। सम्मेलनों के प्रारंभिक अधिवेशनों में जब यह तय हो गया कि पोप को राजकीय मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना है तो राजाओं की स्थिति अपने-अपन स्थानों मे सुदृढ़ हो गयी। स्थिति को अपने मनोनुकूल बनाने के बाद यूरोप के राजाओं न सम्मेलनों में रुचि लेना छोड़ दिया। उनकी इस उदासीनता का आन्दोलन पर अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

९.२ आन्दोलन का श्रीगणेश वाइक्लिफ ने किया था। वाइक्लिफ के उपरान्त लालॉर्ड्स ने उसे इंगलैण्ड में और हस ने यूरोप में चलाया। ये सभी विश्वविद्यालयों से संवद्ध थे। जनजीवन तथा लोकव्यवहार का इनको कोई भी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था। परिणामतः, इन आन्दोलनों में ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों की तो बहुत अधिक कल्पना की गयी किन्तु यह ध्यान नहीं रक्खा गया कि लौकिक जगत् में बहुत अधिक लोग बौद्धिक नहीं होते। इस वजह से कुछ प्रभावशाली सार्वजनिक बुद्धिजीवियों के अतिरिक्त आन्दोलन उतना लोकप्रिय नहीं हो सका—जिनती आवश्यकता थी।

९.३ राष्ट्रीयता के उदयीभूत हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ आन्दोलन के अत्यन्त प्रतिकूल हो गयीं। प्रत्येक देश का शासकवर्ग अपने देश की आन्तरिक राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में लग गया; राष्ट्रीय समस्याओं ने उसे अन्तर्मुखी बना दिया। इसके विपरीत सम्मेलन आन्दोलन को सफल बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य, समन्वय और मैत्री की भावना इच्छित थी। इन सम्मेलनों में थोड़े दिन बाद इस भावना के वजाय राष्ट्रीयता अधिक दिखलायी पड़ने लगी। यह भावना आन्दोलन के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए बड़ी विकट बाधा सिद्ध हुई। दूसरे, यूरोप के शासक चर्च और पोप की सापेक्षिक स्थिति निर्धारित करना चाहते थे। जैसे ही यह स्थिति निर्धारित हो गयी, उन्होंने सम्मेलन में भाग लेना छोड़ दिया।

९.४ आन्दोलन में बुद्धिजीवियों का तो अभाव नहीं था किन्तु यह स्थिति अवश्य थी कि उसमें एकभी ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसमें किसी लोकप्रिय आन्दोलन के नेता होने की योग्यता हो। यह सच है कि नेता भी किसी न किसी ऊँचे आदर्श और सिद्धान्त को लेकर ही आन्दोलन चलाते हैं किन्तु इसके साथ ही वे जनता को अपने साथ रखने के लिए कुछ नारे लगा देते हैं जो फड़का देनेवाले हों। सम्मेलन (कौंसिल) का आन्दोलन चलानेवाले मस्तिष्कों में ऐसा कोई न था जो उक्त अभाव की पूर्ति कर सकता। सम्मेलन के किसी प्रणेता ने कोई मौलिक विचार भी नहीं रक्खा; वे मार्सीलिओ या विलियम के विचारस्रोतों पर ही निर्भर रहे आए। परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक कसौटी पर उनके अनेक सिद्धान्त पूर्णता और क्षमता प्रकट नहीं कर सके।

९.५ सम्मेलन के प्रतिनिधि चाहते थे कि हम चर्च की नियंत्रणकारी सत्ता को किसी एक व्यक्ति के हाथ में न रखकर उसका इस प्रकार विकेन्द्रीकरण करें कि सत्ता के केन्द्रित हो

जाने से जो क्षतियाँ होती हैं—वे न होने पावें। पोप ही ऐसा अधिकारी था जिसके हाथ में पहिले पूरी शक्ति रहती थी। पोप मार्टिन पंचम ने चर्च की नियंत्रण सत्ता के विकेन्द्रित होने में थोड़ी सी मदद भी दी थी, लेकिन उसके उत्तराधिकारियों ने ऐसा करन से साफ-साफ इन्कार कर दिया। इस असहयोगपूर्ण भावना के कारण पोप और सम्मेलन के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हो गये और इसका लाभ पोप ने उठाया। पोपों ने सम्मेलन के प्रतिनिधियों को अपनी तरफ मिला लिया और मनोनुकूल निर्णय करा लिये। ऐसी अवस्था में आन्दोलन का असफल होना अनिवार्य था।

१०. आन्दोलन का महत्व

किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि आन्दोलन पूर्णतः असफल ही रहा। इस आन्दोलन से कुछ तो लाभ हुए ही। ये लाभ इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं :—

१०.१ सैद्धान्तिक रूप वे यह मान लिया गया कि धर्माधिकारियों के सम्मेलन की स्थिति और उसके निर्णय पोप से उच्चतर हैं और पोप को उनका हर दशा में पालन करना चाहिए। इसका प्रभाव केवल ईसाई धर्म तक ही सीमित न रहा—वह धार्मिक क्षेत्रों से राजनीतिक क्षेत्रों में भी आया। राजनीतिक क्षेत्रों में भी शासकों को शासन के संबंध में प्रतिनिधि सरकार का सिद्धान्त मानना पड़ा। इसकी मान्यता प्रजातंत्रवाद की दिशा में रखा गया एक अत्यन्त सुदृढ़ चरण थी।

१०.२ यह सच है कि सम्मेलन की यह इच्छा कि वह पोप को अपने अधीन रखे सफलीभूत न हो सकी किन्तु इतना तो हुआ ही कि सम्मेलन के आन्दोलन को असफल बना देने के बाद पोप अपने अधिकारों का प्रयोग अधिक सतर्कता से करने लगे। वे इस बात का ध्यान रखने लगे कि उनका आचरण लोकमर्यादाओं की सीमा का उल्लंघन न करे। अपने आप में आन्दोलन की यह सफलता कुछ कम महत्वपूर्ण न थी। पोपों ने इसके बाद से वह उच्छृंखलता त्याग दी जो वे पहले दिखलाया करते थे। वे अपने कार्यों में भी अधिक दक्षता दिखलाने लगे। गिरजाघरों का प्रबन्ध पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित हो गया।

१०.३ धर्म का भी राष्ट्रीयकरण हो गया। प्रत्येक देश में ऐसे चर्च बनने लगे जिनके धर्माधिकारी देश के हितों को धर्म का हित और धर्म के हितों का देश का हित समझने लगे। इस संबंध में इंगलैण्ड ने सबसे पहले कदम उठाया। स्विट्जरलैण्ड और जर्मनी ने भी उन हितों का अनुसरण किया।

१०.४ सम्मेलन की असफलता की प्रतिक्रिया यह हुई कि यूरोप में सुधारवादी आन्दोलन छिड़ गया। इस आन्दोलन ने यूरोप को कई प्रतिभासम्पन्न और अत्यन्त मौलिक विचारक प्रदान किये। ये विचारक मार्टिन लूथर, कालविन, रूसो, हॉब्स, लॉक आदि की कोटि के थे।

१०.५ धर्माधिकारी सम्मेलन की असफलता के बाद समस्त धर्म और राजनीति के कर्णधारों के कान खड़े हो गये। उनमें यह भावना घर कर गई कि वे अपने ऊँचे पदों पर तभी तक बने रह सकते हैं जब तक वे अपने अधिकारों का भली भाँति, विवेक-निर्दिष्ट प्रयोग करते रहें। यदि वे अधिकारों का मनमाना प्रयोग करेंगे तो अवश्य अपने स्थानों से हटा दिये जायेंगे क्योंकि अन्त में समाज ही ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप है। उन्हें सत्ता इसलिए मिलती है कि वे समाज का हित साधन करें न कि स्वयं अपना स्वार्थ-साधन।

११. जॉन गर्सन निकोलस क्यूजा (John Gerson & Nicholas Cusa)

धर्माधिकारी सम्मेलन आन्दोलन के संबंध में जिन विद्वानों ने सक्रिय रूप से सिद्धान्त प्रणयन के अतिरिक्त और भी कुछ काम किया उनमें जॉन गर्सन और निकोलस क्यूसा के नाम विशषरूप से उल्लेखनीय हैं। अतः, अच्छा होगा यदि हम इनके विचारों को भी जान लें।

प्रारंभ में ही यह बतला देना उपयुक्त होगा कि ये दोनों विचारक धर्मसत्ता की ओर अधिक झुके हुए थे। इनके अतिरिक्त एनियस सिलवियस (बाद में जिन्हें पोप निर्वाचित किया गया) का भी नाम उल्लेखनीय है।

११.१ **जॉन गर्सन** (John Gerson)—जॉन गर्सन ने ईसाई चर्च की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कभी पसन्द नहीं किये। वह विप्लव नहीं गिरजों की व्यवस्था में सुधार चाहता था, जिससे वह त्रुटिमुक्त हो सुचारु रूप से कार्य कर सकें। अध्ययनशील एवं सैद्धान्तिक गर्सन के लिए यह उचित ही था कि वह अरस्तू की भाँति मध्यम मार्ग के स्वर्णपथ का अवलम्बन करता। जॉन गर्सन का जन्म १३६३ में हुआ था। वह पेरिस विश्वविद्यालय का कुलपति था। उसने पीटर एली से शिक्षा प्राप्त की थी। समकालीन विचारकों में गर्सन पर विलियम ओकाम के विचारों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। वह विकास करता था कि समाजही सारी सत्ता का स्रोत है--वह सत्ता चाहे धार्मिक हो या राजनीकि--राजनीतिक क्षेत्र में उसने शासन (सरकार) के मिश्रित स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसे उत्तम बतलाया। शासन के इस मिश्रित स्वरूप में गर्सन ने प्रजातंत्रात्मक, आभिजात्यात्मक और राजतंत्रात्मक--इन सभी तत्वों का समावेश किया। राजसत्ता औरधर्मसत्ता संबंधी गर्सन के विचार मध्यमार्गीय थे। वह मार्सीलिओ का सिद्धान्त नहीं मानता था। मार्सीलिओ ने कहा था कि सर्वोच्च सत्ता ईसाई समाज में निहित है। पोप केवल उसका प्रतिनिधि है और पोप को ईसाई समाज के बहुसंख्यकों के मन के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। गर्सन ने मार्सीलिओ की यह बात नहीं मानी। उसने यह भी स्वीकार नहीं किया कि पोप को उच्चतम अधिकार प्राप्त हैं और वह जो चाहे करें। इस संबंध में उसका कहना था कि सर्वोच्चसत्ता ईसाई समाज के चर्च के अधिकारियों के प्रतिनिधियों की सभा को मिलनी चाहिए। पोप को प्रशासकीय मामलों में उसी का नेतृत्व मानना चाहिए। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि गर्सन पोपों की निरंकुश सत्ता तथा अतिलोकतांत्रिकता दोनों में से किसी का भी समर्थक नहीं था। पोप की स्थिति के संबंध में उसका मत था कि पोप चर्च की प्रशासकीय (administrative) व्यवस्था का अध्यक्ष मात्र है। गर्सन का कहना था कि पथभ्रष्ट या कर्तव्यविमुख पोप को हटाने का अधिकार न केवल धर्मसत्ताको है अपितु राजसत्ता को भी है। वह चाहता था कि धर्मसत्ता और राजसत्ता के अधिकारों का एक निर्दिष्ट सीमा तक कोई उल्लंघन न करे। साथ ही वह यह भी चाहता था कि जनता भी अपने अधिकार प्राप्त कर सके। उसके यह विचार इसलिए थे कि वह धर्मसत्ता में फैली फूट को खत्म करना चाहता था। कांस्टेन्स के धर्माधिकारी सम्मेलन में मुख्यतः उसी के विचारों को प्रकट किया गया था। यह कहना भी संभवतः कोई अतिशयोक्ति न होगी कि धर्माधिकारी सम्मेलन आन्दोलन के पीछे गर्सन एक बहुत बड़ी शक्ति था।

११ २ **निकोलस क्यूजा** (Nicholas of Cusa)—निकोलस[२] एक जर्मन विद्वान् था और वह जर्मनी के एक नगर क्यूसानस का निवासी था। उसने बेजिल धर्माधिकारी

---

१. "To the men who laboured so strenuously to heal the schism that was destroying the Church, it was not through innovation that was to a restoration of peace and order appeared feasible". Dunning, *Political Theories*, Vol. I. p. 265,

२ निकोलस का जन्म सन् १४०० में हुआ था और मृत्यु १४६३ में हुई। उसने होडनबर्ग और पेडुआ विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १४३१ में उसने निवेदनों के साथ सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में पदार्पण किया था। उसे पोप ने कार्डिनल नियुक्त किया था।

सम्मेलन का कार्य मुख्यतः संचालित किया था। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'डी कानकॉर्डेन्टा केथोलिका' है जिसका मूल तत्व यही है कि धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त अशान्त व्यवस्था को किस प्रकार दूर किया जाय। पोपसत्ता का नियंत्रण धर्माधिकारी सम्मेलन द्वारा क्यों हो—इस संबंध में निकोलस ने अपने विचार अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्रकट किये हैं। निकोलस समन्वय और सामंजस्यवाद का संभवतः सबसे बड़ा परिपोषक था। उसका कहना था कि ब्रह्माण्ड भर में जितनी वस्तुएँ हैं उन सबकी रचना का कोई न कोई उद्देश्य है। इसी उद्देश्य के अनुरूप सर्जित वस्तु का कर्त्तव्य भी निर्धारित है। यदि सभी वस्तुएँ और व्यक्ति अपने अपने निर्धारित कर्त्तव्य का पालन करते हैं तो वे ईश्वरीय उद्देश्य की पूर्ति करते हुए अंतिम लक्ष्य की ओर पूर्ण समन्वय के साथ आगे बढ़ते चले जायँगे। निकोलस ने अपने इसी सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण ईसाई समाज का परस्पर संबद्ध एक सावयविक पूर्णता माना है। उसने यह स्वीकार किया है कि पोप को जो सत्ता प्राप्त होती है स्वभावतः वह ईश्वरीय होते हुए भी मानवीय है ; मानवीय इन अर्थों में कि पोप को सत्ता प्रदान करने स्वयं ईश्वर नहीं आता। उसे वह सत्ता ईश्वर के निमित्त समाज से मिलती है। अतएव पोप की सत्ता ईश्वरीय होते हुए भी उसका निमित्त समाज है। समाज मानव समूह है। अतः प्रत्यक्षतः पोप की सत्ता का स्रोत मानवीय है, और पोप को चाहिए कि वह समाज को अपना अंतिम अधिकारी समझे। पोप को सत्ता समाज की सहमति से ही मिलती है। अतः वह समाज द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है। निकोलस तो यहाँ तक कहता था कि सम्पूर्ण ईसाई समाज की इच्छा न केवल पोप से ऊँची है, अपितु वह किसी भी ऐसे अंग की इच्छा से महत्तर है जो समाज से ही संबद्ध हो। निकोलस ने पोप सत्ता को विकेन्द्रित करने के पक्ष में भी बहुत कुछ लिखा है। कहा जाता है उसने इस संबंध में एक योजना भी तैयार की थी जो ज्यों की त्यों कार्यान्वित नहीं हो सकी। वह धर्मसत्ता को कुछ ऐसे समूहों में विभक्त कर देना चाहता था जो राष्ट्रीय आधार पर ग्रंथित हों।

शासन के सम्बन्ध में उसने समझौते के सिद्धान्त का इस प्रकार प्रतिपादन किया कि प्राकृतिक अवस्था में लगभग सभी मनुष्यों की अवस्था समान थी। सबको प्रकृति की आज्ञाओं का समान रूप से पालन करना पड़ता था। इसी प्रकृति के नियमानुसार आज भी सब मनुष्य समान हैं। कोई व्यक्ति किसी दूसरे पर बिना उसकी अनुमति या सहमति के शासन नहीं कर सकता। अतएव शासकों को शासितों का मत जानने के लिए उनकी प्रतिनिधि सभाएँ और संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिए और अपने कार्यों के लिए उनसे अनुमति प्राप्त करनी चाहिए। किन्तु, प्रतिनिधित्व सम्बन्धी निकोलस का सिद्धान्त अत्यन्त सीमित है। वह कहता है कि यदि आभिजात्यवर्ग के लोगों को शासक अपने साथ ले लेता है तो इतना पर्याप्त है। वह यह नहीं चाहता था कि सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व शासकों को परामर्श देने वाली सभा में हो।

वह पोप की सत्ता को नियंत्रण में रखना चाहता था। उसका उद्देश्य पोप के पद को समाप्त कर देना नहीं था। अतएव उसके विचारों को अधिक से अधिक सुधारवादी कहा जा सकता है। किन्तु समकालीन सुधारकों में ही इतना अधिक अनैक्य था कि निकोलस जिन बातों को लेकर आन्दोलन में शामिल हुआ था, उनको तो वह करा नहीं सका, उल्टा पोप के पक्ष में जा मिला। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि निकोलस ने सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य की रूपरेखा दी तथा प्रतिनिधि शासन के मानचित्र को अंकित करने का प्रयत्न किया।

११·३ एनियस सिलवियस (Aeneas Sylvius) या पोप पायस द्वितीय—एनियस सिलवियस ने भी मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करने के बाद बतलाया है कि उसने शनैः शनैः सामाजिक और राजनीतिक विकास किस प्रकार प्राप्त किया। सिलवियस का मत है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में अलग-अलग रहते थे। फिर उन्होंने देखा कि एक

दूसरे के साथ सहयोग करने से लाभ होता है। इस लाभ की मात्रा उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है जितनी मनुष्यों की संख्या। अतएव उन्होंने सामुदायिक (community) जीवन का विकास किया। इसके बाद राज्य की स्थापना हुई। सिलवियस का मत था कि राजा और उसकी सत्ता का स्रोत समाज है। यदि कोई भी अधिकारी अन्यायी हो जाता है और सामाजिक परम्पराओं के अनुकूल शासन नहीं करता तो उसे अपदस्थ कर देने का अधिकार समाज को है। सिलवियस ने सीमित और नियंत्रित राजतंत्र का लॉक की भाँति समर्थन किया, यद्यपि उसके सम्पत्ति और अन्य अधिकारों सम्बन्धी विचार लॉक की भाँति परिपक्व नहीं हैं।

१२· मध्य युग में राजदर्शन की प्रगति की समीक्षा

मध्य युग के संबंध में लिखे गये इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व यह अच्छा होगा कि हम एक बार मध्य युग की उन राजनीतिक प्रवृत्तियों का संक्षेप में विहंगावलोकन कर लें जो मध्ययुगीन राजदर्शन (Political Philosophy) की प्रगति की ओर संकेत करती हैं। ईसा के जन्म से लेकर लगभग आधी पन्द्रहवीं शताब्दी तक मध्य युग का काल-विस्तार माना जाता है। इन डेढ़ हजार वर्षों में माना जाता है कि प्राचीन और आधुनिक युगों की तुलना में कोई प्रगति नहीं हुई। लेकिन इस कथन के आधार पर यह कह देना बड़ा ही अवाप्ययुक्त और असंगत होगा कि मध्य युग सर्वथा प्रगतिहीन है और उसने आधुनिकता के आवागमन की दुन्दुभी बजाने में भी योग नहीं दिया। सम्पूर्ण मध्य युग के राजदर्शन का सिंहावलोकन करने पर हम निम्नलिखित सिद्धान्तों की चर्चा कर सकते हैं जो अपने स्थान पर ही नहीं अपितु आधुनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं :—

१२ १ **सामूहिक जीवन**—मध्य युग में सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति का बड़ा विकास हुआ। संभवतः इसका कारण तत्कालीन राजनीतिक स्थिति थी। नगरों का उतना विकास न हो पाया था जितना आधुनिक युग में हुआ है। कल-कारखाने और उद्योग-धंधों के आधुनिक रूप की तो कल्पना भी उस समय नहीं की गयी थी। लोग अधिकांशतः गाँवों में खेती बारी करते थे और अपने आसपास ऐसे कारीगरों जैसे, राज, बढ़ई, जुलाहा, चमार इत्यादि परिवारों को बसा लेते थे जिनसे ग्रामीण जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ। इसके अतिरिक्त मठों और आश्रमों में भी सामूहिक जीवन बिताने की आदत थी। उन दिनों ईसाइयों के ऐसे बहुत से सम्प्रदाय विकसित हो गये थे जो आश्रमों और मठों में ही सामूहिक जीवन बिताते थे। साधु-सन्तों के अलावा कारीगरों तथा उत्पादकों के भी संघ हुआ करते थे जिन्हें 'गिल्ड' कहा जाता था। ये गिल्ड कारीगरों को रुपया और कच्चा माल देते थे और कारीगर जो कुछ पैदा करते थे उसको बिकवाने की व्यवस्था करते थे। इस प्रकार के संघों का समाजवाद की एक शाखा के विचारकों ने बीसवीं शताब्दी में भी बड़ा प्रचार किया है।

१२·२ **निगम सिद्धान्त** (Theory of Corporations)—यह सिद्धान्त मध्य युग के न्यायाचार्यों ने कुछ संस्थाओं के महत्व को स्थिर करने के लिए प्रतिपादित किया था। उनका लक्ष्य था कि जिन संस्थाओं का महत्व लौकिक और आध्यात्मिक जीवन की उन्नति करना है—उन्हें ऐसा स्वायत शासन प्राप्त हो जाय कि वे राजनीति के अनावश्यक विवादों से दूर रहते हुए भली भाँति कार्य कर सकें। जिन न्यायाचार्यों ने इस सिद्धान्त का विकास किया—वे रोमन विधियों के ज्ञान में पारंगत थे। वे निगम सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए बतलाते थे कि विश्वविद्यालय, नगर चर्च तथा उनकी प्रबंध परिषदें यद्यपि एक प्रकार से सम्पूर्ण समाज की ही अंग हैं तथापि इनका अपना महत्व भी है। वे अपने आप में ही एक प्रकार से पूर्ण हैं। इन संस्थाओं का अपना अलग व्यक्तित्व है और अलग इच्छाएँ हैं। वे अपने व्यक्तित्व का प्रयोग निश्चित लक्ष्य प्राप्ति के लिए करती हैं। अतएव उनको स्वायत्त शासन

प्राप्त होना चाहिए। उनका यह भी कहना था कि इस प्रकार के शासनाधिकार के प्रदान कर देने से राज्य की सत्ता को सहायता ही मिलती है—उसमें बाधा नहीं पड़ती। इस प्रकार के सिद्धान्त का सम्मेलन-आन्दोलन के काल में खूब प्रचार हुआ। सम्मेलन आन्दोलन तो कालांतर में समाप्त हो गया किन्तु इस निगम सिद्धान्त के आधार पर इंगलैण्ड में विशेषरूप से और सामान्यतः सम्पूर्ण यूरोप के देशों में स्वायत्त शासन प्राप्त संस्थाएँ शनैः-शनैः विकसित होती गयीं। विश्वविद्यालयों को स्वायत्त शासन का अधिकार, नगरवासियों को नगर का प्रबन्ध करने के लिए नगरपालिकाएँ और नगर निगम (कारपोरेशन) आदि बनाने का अधिकार, इसी सिद्धांत के विकसिततरु हैं। आधुनिक युग के आरंभिक दर्शकों में बहुलवाद (Pluralism) का सिद्धान्त या सत्ता का विकन्द्रीकरण का सिद्धान्त भी इसी आधार पर विकसित हुआ है।

१२.३ लोकसत्ता की कल्पना—यूनान में तो लोकसत्ता की कल्पना की ही गयी थी और प्रजातंत्रवाद का व्यावहारिक प्रयोग भी किया गया था, लेकिन रोमन विचारकों ने भी यह माना कि राजसिंहासन का पद भले ही दैवी हो किन्तु जहाँ तक राजा का संबंध है उसे सत्ता समाज से ही प्राप्त होती है, और सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा करना राजा का प्राथमिक कर्त्तव्य है। बाद में जब ईसाई धर्म का प्रचार हुआ तो राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का अभिनवीकरण किया गया। ईसाइयों ने धर्मग्रंथों के आधार पर यह कहा कि शासन सत्ता को ईश्वर ने मनुष्य के पतन के कारण जन्म दिया लेकिन इससे राजसत्ता के दैवी और मानवीय होने में कोई विरोध उत्पन्न नहीं हुआ। एक प्रकार से ईसाई धर्म ने भी यह स्वीकार कर लिया कि राजसत्ता और राज्याधिकारी दैवी और मानवीय दोनों ही हैं। समाज को ईश्वर का ऐसा निमित्त माना जाने लगा था जिससे राजसत्ता और राजा की उत्पत्ति होती है। लोकसत्ता की स्वाधीनता की कल्पना कई मध्यकालीन विचारकों ने की थी। कुछ तो यह भी मानते थे कि यदि राजा अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता या उसका स्थान रिक्त हो जाता है तो सत्ता अपने आप समाज को वापस मिल जाती है।¹ मार्सीलिओ जैसे कुछ विचारकों ने यह भी कहा कि समाज अपनी सम्पूर्ण सत्ता कभी हस्तान्तरित नहीं करता। नरेश को समाज का पथप्रदर्शन सदैव प्राप्त करते रहना चाहिए। इस पथप्रदर्शन को प्राप्त करने के लिए उसने प्रतिनिधि सभा की कल्पना भी की थी। मार्सीलिओ ने यह भी बतलाया था कि नरेश को प्रतिनिधि सभा का निर्णय अंतिम मानकर उसका विधि (Law) की भाँति आदर करना चाहिए। निकोलस क्यूजा ने भी एक हद तक इस बात का समर्थन किया। कालान्तर में संप्रभुता का जनवादी सिद्धान्त इसी आधार पर बढ़ा। लोकतंत्रवाद में तो यह साफ-साफ माना जाने लगा कि समाज समस्त सत्ता का केन्द्रस्थल है और प्रत्यक अधिकारी को उसी से शक्ति प्राप्त होती है। यह सिद्धान्त आज भी दिन प्रतिदिन दृढ़ होता जा रहा है।

१२.४ चर्च का धर्मतंत्रात्मक राज्य—मध्य युग में चर्च ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर एक प्रकार से धर्मतंत्रात्मक राज्य कायम कर लिया था। धर्माधिकारियों तथा उनके पक्ष के समर्थकों का यह कहना था कि धर्मसत्ता श्रेष्ठतर है। पोपों तथा पादरियों ने अपना यह दावा दो बातों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है। इस दावे का पहला तर्क तो उनका दो तलवारों के सिद्धान्त पर आधारित था और दूसरा सम्राट् कांस्टेनटीन के दानपत्र पर। पहले तर्क के अनुसार उनका कहना था कि ईसाई के प्रथम शांति संदेशवाहक सन्त पीटर ने पोप को दो तलवारें दी थीं। एक तलवार राजसत्ता की थी और दूसरी आध्यात्मिक शक्ति की। पोप ने राजाओं को पहली तलवार दे दी और दूसरी को अपने पास ही रखा। इस सिद्धान्त के प्रति-

1. If then the Imperium proceeded from the people the inference might be drawn that it would escheat or revert to the people whenever no rightful Emperor existed—Gierke in *Political Theories*, edited by Maitland, p. 40

पादन का आधार धार्मिक ग्रंथों द्वारा किया गया जिसके परिणामस्वरूप बौद्धिक युग के आरंभ में यह सिद्धान्त तो स्वयं परास्त हो गया क्योंकि उसकी पुष्टि के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं था। लेकिन जब तक ऐसा नहीं हुआ तब तक पोपों ने बराबर यही कहा कि चूँकि राजसत्ता की तलवार उन्हीं को मिली है और उन्होंने उसे राजाओं को लौकिक व्यवस्था के हेतु दिया है, अतः यह मानना चाहिए कि वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जो अधिकार प्रदान करता है। सम्राट् कांस्टेनटीन के दानपत्र के विषय में कहा जाता है कि जिस समय वह दानपत्र अपने साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनियाँ ले जा रहा था उस समय उसने रोम तथा उसके आसपास का क्षेत्र पोप सिलवेस्टर को दान में दे दिया था। यह भी कहा जाता है कि दानपत्र में यह भी लिख दिया गया था कि जिस क्षेत्र को दान कर दिया गया है उसको कांस्टेनटीन के उत्तराधिकारी कभी नहीं माँगेंगे। कई सौ वर्षों तक यह दानपत्र अत्यन्त पवित्र वस्तु के रूप में देखा जाता रहा किन्तु बाद में १५वीं शताब्दी क प्रथमार्ध म जब इसकी ऐतिहासिक दृष्टि से जाँच की गयी तो वह मिथ्या प्रमाणित हुआ।[१] इसी दानपत्र के आधार पर पोप न केवल रोम तथा उसक आसपास के क्षेत्र को अपनी सम्पत्ति मानते थे अपितु उनका कहना था कि जर्मनी, फ्रांस तथा स्पेन आदि के भाग भी उनके राज्य में सम्मिलित हैं। इस दावे का आगे चलकर राजसत्ता समर्थक विद्वानों ने कितना कठोर विरोध किया यह चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। धर्म सत्ता के इन विभिन्न दावों को मान लेने से राजसत्ता की स्थिति अत्यन्त निर्बल हो जाती थी। यही कारण है कि अन्त में राजसत्ता ने पोप के दावों का क्रमशः खण्डन करना आरंभ किया। प्रारंभ में राजसत्ता-समर्थक विद्वान् अधिक सफल न हो सके लेकिन बाद में क्रमशः उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि राजसत्ता का स्थान श्रेष्ठतर है। धर्म व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु है। जहाँ तक लौकिक प्रबन्ध का संबंध है उससे धर्म का कोई विशेष संबंध नहीं होना चाहिए। **मार्सीलिओ** और **विलियम ओकाम** तक राजसत्ता कुछ निर्बल रही लेकिन **मैकियावली** ने आकर यह साफ कर दिया कि राजसत्ता की स्थिति श्रेष्ठतर है और धर्मसत्ता को उसकी अनुगामिनी बनकर ही चलना होगा। राजसत्ता के शासनतंत्र के संबंध में मध्ययुग के विद्वानों ने बतलाया कि राजतंत्र ही सर्वश्रेष्ठ है। गियर्के के शब्दों में उनका कहना था कि "सामाजिक सावयविकता का निष्कर्ष एकता है और इस एकता का प्रतिनिधित्व शासन करने वाले अंग में होना चाहिए। इस उद्देश्य की सिद्धि उस समय बड़ी आसानी से हो जायगी जब शासन करने वाला स्वयं एक एकाई (अर्थात् व्यक्ति) हो।" लेकिन यह कहना गलत होगा कि पूरे मध्ययुग में विद्वानों ने निरंकुश राजतंत्र का ही समर्थन किया। ये विद्वान् राजतंत्र तो चाहते थे लेकिन राजतंत्र की निरंकुशता नहीं। आरंभ म उन्होंने राजतंत्र की सत्ता को धर्मसत्ता के नियंत्रण म रखना उचित ठहराया लेकिन बाद में उन्होंने इस मत में संशोधन कर यह कहना आरंभ किया कि वास्तविक सत्ता का स्रोत समाज है और समाज को ही राजसत्ता पर नियंत्रण रखना चाहिए। यह कार्य राज्य के उस अंग द्वारा किया जाना चाहिए जो समाज द्वारा उसके प्रतिनिधियों के रूप में चुना गया हो। इस मत के पूर्व भी स्थिति यह थी कि राजा मनमानी नहीं कर सकता था। राजा को अपने सामन्तों पर राजकाज के महत्व की बातों के लिए निर्भर रहना पड़ता था। और ये सामन्त राजा के अंतिम निर्णय पर काफी प्रभाव डालते थे। राज्य का अध्यक्ष निर्वाचित हो यह कल्पना भी इसी युग की देन है।

१२.५ **प्रतिनिधि शासन**--ऊपर के अनुच्छेद में हमने थोड़ा सा संकेत प्रतिनिधि शासन की ओर भी किया है। इस सम्बन्ध में यहाँ यह बतला देना अनुपयुक्त न होगा कि प्रतिनिधि शासन की कल्पना मूलरूप से चर्च के प्रबन्ध में ही मूर्तरूप धारण कर सकी

---

१ दानपत्र को मिथ्या प्रमाणित करने वाले का नाम लारञ्जो वाल्ला है। उसने दानपत्र का अध्ययन करके उक्त दानपत्र को जाली बतलाया था।

थी। यह सत्य है कि चर्चों के प्रबंध में पोप की सत्ता सर्वोच्च मानी जाती थी लेकिन पोप का निर्वाचन गिरजाघरों के पादरी करते थे। दूसरे, गिरजाघरों के पादरी धर्महीनता का आरोप लगाकर किसी भी पोप को अपदस्थ कर सकते थे। यही नहीं धर्मसंबंधी बातों में पोप का मत ही अंतिम नहीं होता था। उसके संबंध में अंतिम फैसला पादरी संयुक्तरूप से करते थे। पोप का अपने पद पर निर्वाचन जिस पद्धति से होता था——वह इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि पोप पादरियों का प्रवक्ता और प्रतिनिधि था जिसे प्रशासकीय अधिकार भी प्राप्त थे। इसी कल्पना को धर्मसत्ता से लेकर विद्वानों ने राजसत्ता पर भी लागू किया और यह निष्कर्ष निकाला कि राजसत्ता पर भी समाज के प्रतिनिधियों का नियंत्रण होना आवश्यक है।

१२·६ **सर्वभौमिक समाज**——आज भी एक विश्व की कल्पना अनेक विद्वान् करते हैं। यह आधुनिक कल्पना एक सार्वभौमिक नियंत्रित सत्ता के विचार पर आधारित है। मध्य युग में भी सार्वभौमिक समाज की कल्पना की गयी थी। लेकिन मध्य युग और आज की कल्पना में मौलिक भेद यह है कि मध्ययुग में धर्म के आधार पर सार्वभौमिक समाज की कल्पना की जाती थी। जब कि आज धर्म को एकता का सूत्र न मानकर, अखिल मानवता की शान्ति की कामना को एकता का मंगलध्वज माना जाता है। मध्य युग में समस्त ईसाइयों के सार्वभौमिक समाज का शासन दो सत्ताओं द्वारा किये जाने की कल्पना की गयी थी। ये सत्ताएँ थीं धर्म और राज्य की। इनमें धर्मसत्ता का स्थान श्रेष्ठतर बतलाया गया था। इस सार्वभौमिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति को राजनीतिक, सामाजिक और वैधानिक अधिकार उसके ईसाई होने के कारण ही उसे प्राप्त होते थे। यदि कोई व्यक्ति धर्महीन सिद्ध होकर पादरी द्वारा धर्मबहिष्कृत कर दिया जाता था तो फिर उसके लिए समाज में कोई स्थान नहीं रह जाता था। वास्तविकता यह है कि मध्य युग में एक प्रकार का ऐसा धर्मतंत्र स्थापित हो गया था जिसमें सम्पूर्ण राजसत्ता चर्च के हाथ में चली गयी थी और राजसत्ता का काम यह समझ लिया गया था कि धर्मसत्ता के आदेशों के अनुकूल उसी तरह कार्य करेगी जिस तरह विधि की आज्ञाओं का पालन आज का पुलिस विभाग करता है। संभवतः इसी कारण **फिगिस** ने यह लिखा भी है कि मध्य युग में राजसत्ता केवल चर्च के पुलिस विभाग के रूप में ही शेष रह गयी थी। यह कथन ठीक है——क्योंकि व्यक्ति के राजनीतिक अधिकार भी धर्म पर आधारित थे सभवतः यह कहना भी गलत न होगा कि ईसाई और ईसाइयों के धर्माधिकारी गैरईसाइयों को मनुष्य भी मानने के लिए तैयार न थे।

मध्य युग में राजनीति, अर्थशास्त्र और आचारशास्त्र इन तीनों के स्वतंत्र अस्तित्व को धर्म ने समाप्त कर दिया था और यह माना जाता था कि उक्त तीनों विषय भी धर्म के ही अंग हैं। इस मान्यता से मध्य युग में राजनीति की अत्यन्त मन्द प्रगति हुई। कई सौ वर्ष राजनीति को धर्म की दासता के पाश से मुक्त होने में ही लग गये। यही कारण है कि राजनीतिक विचारों का मध्ययुगीन इतिहास बहुत अधिक उज्ज्वल नहीं है।

१२·७ **वैयक्तिक अधिकार**——राजसत्ता की उचित रूपरेखा निर्धारित न होने के कारण आधुनिक युग की भाँति व्यक्ति के अधिकारों का भी विकास नहीं हो सका। राजसत्ता के स्वतंत्र अस्तित्व के अभाव के अतिरिक्त उन दिनों सामाजिक वर्गीकरण तथा स्थानीय देशभक्ति इतनी प्रबल थी कि व्यक्ति के पारस्परिक संबंध प्रायः भूमि के स्वामित्व या कारीगरसंघों (गिल्डों) की सदस्यता पर निर्भर थे। इसके अतिरिक्त एक कारण और भी था। वह यह कि पोप अपनी सत्ता का ऐसा निरंकुश प्रयोग करते थे कि उसमें यह सभव ही नहीं था कि व्यक्ति के अधिकारों के संबंध में कोई आवाज उठायी जा सकती।

मैकियावली

(MACHIAVELLI)

१. युग प्रवाह की गति--२. इटली की अवस्था--३. जीवन-परिचय--४. युग का शिशु मैकियावली--५. मैकियावली की अध्ययन-पद्धति--६. मैकियावली पर प्रभाव डालनवाले ग्रंथ और विद्वान्--७. मैकियावली की समस्याएँ--८. मानव-स्वभाव का विवेचन--९. नैतिकता संबंधी सिद्धान्त--१०. धर्म, आचारशास्त्र और राजनीति--११. मैकियावली की दृष्टि में राजनीति--१२. इतिहास संबंधी मत--१३. राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति की कल्पना--१४. राज्य की श्रेष्ठता--१५. राज्यों का वर्गीकरण और उनके विस्तार की आवश्यकता--१६. राज्य की सुरक्षा--१७. शासक के कर्तव्य--१८. संप्रभुता--१९. विधि (Law) की कल्पना--२०. सेना का राष्ट्रीयकरण--२१. राष्ट्रीयता संबंधी विचार--२२. मैकियावली के विचारों की त्रुटियाँ--२३. आधुनिक राजनीति का जनक--२४. मैकियावली के अनुदाय।

१. युग प्रवाह की गति

मैकियावली के जीवन और उसके राजनीति सबधी विचारों की चर्चा करते ही हमारी दृष्टि सहसा यूरोप के उस मानचित्र पर जाकर गड़ जाती है जो पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में था। युगगति का प्रथम विवेचन ही यूरोप के तत्कालीन पुनर्निर्माण की ओर इंगित करता है। उन दिनों यूरोप में तीन शक्तियों की प्रमुखता थी। वे शक्तियाँ थीं फ्रांस, स्पेन और इंगलैण्ड। इन तीनों ही देशों में राष्ट्रवाद की भावना बड़ी द्रुत गति से पनप रही थी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि उक्त तीनों राज्यों ने धर्मसत्ता के प्रभाव से मुक्ति प्राप्त कर ली थी और वहाँ के राजतंत्र पोपों के आदेशानुसार चलना अपना कर्तव्य नहीं मानते थे। वे अपने देश तथा वहाँ के निवासियों के हितों की चिन्ता करना अधिक उपयुक्त समझते थे। इंगलैण्ड, फ्रांस और स्पेन के राष्ट्रराज्य क्रमशः **हेनरी सप्तम, लुई एकादश** और **फर्डीनण्ड** के राजछत्रों के नीचे सबलसे सबलतर होते जारहे थे। सामन्तों का दमन होरहा था। दूसरे शब्दों में उक्त राज्यों में ऐसी शक्तियों का पराभव हो रहा था जो राज्य की अनैक्यता को प्रोत्साहित करती थीं। सत्ताका केन्द्रीकरण इन राज्यों का मूलमंत्र हो गया था। जर्मनी में गति मन्दथी किन्तु वहाँ भी ऐसी प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः प्रकट हो रही थीं जो विकेन्द्रित, विशृंखलित और विभक्त जर्मनी के बजाय एक ऐसे राजतंत्र का निर्माण करना चाहती थीं जो सत्ता का केन्द्रीकरण करके सुसंगठित और संयुक्त जर्मनी की रक्षा कर सके। इस संबंध में **मेक्समिलन** के प्रयास विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही विवेकयुक्त ज्ञान प्राप्त करने की भावना भी जी से फैल रही थी। **प्लेटो** और **अरस्तू** के बौद्धिकतावाद के अस्त हो जाने के बाद अब ज्ञान का पुनरोदय हो रहा था। समस्त यूरोप बौद्धिक पुनर्जागरण के युग से गुजर रहा था। यह समय वही था जिसे **'रेनेसाँ'** (Renaissance) का युग कहा जाता है। धार्मिक अंध और मूढ़ विश्वासों के स्थान पर जनता में बुद्धि-विवेक द्वारा चीजों को समझने और परखने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। युग वैज्ञानिकता के संसार में प्रवेश कर रहा था।

२. इटली की अवस्था

जिस समय समकालीन संसार तेजी से राष्ट्र राज्यों के निर्माण की ओर अग्रसर हो रहा था और राजसत्ता समर्थक तत्व प्रबल होकर उसकी स्वतंत्र स्थिति को सत्य बना रहे थे उस समय इटली अनैक्यता, गृहयुद्ध और विदेशी शक्तियों के स्वार्थसाधनों का अड्डा बना हुआ था। इंगलैण्ड, फ्रांस और स्पेन में तो पोप या पोप के अधिकारियों की ऐसी स्थिति नहीं रह गयी कि वे वहाँ राजसत्ता के केन्द्रीकरण को रोक सकते या सामन्तों को प्रभावित कर उन्हें राजाओं के विरुद्ध भड़का सकते, लेकिन इटली की राजनीतिक अवस्था अवश्य ही इसके अनुकूल थी। समस्त इटली छोटी-छोटी रियासतों और नगर राज्यों में बँटा हुआ था। ये राज्य भी परस्पर एक दूसरे से संबद्ध नहीं थे। इस कथन का आशय यह है कि इन राज्यों को परस्पर शृंखलित करने वाली कोई एक ऐसी सत्ता नहीं थी जो समूचे इटली को एक सबल राज्य का रूप दे सकती। अलग-अलग छोटी-छोटी रियासतों में तो इटली विभक्त था ही—— इस पर भी ये रियासतें आपस में बराबर लड़ा करती थीं। गृहयुद्धों के कारण सामाजिक व्यवस्था बिलकुल अस्तव्यस्त हो गयी थी। अशान्ति ने इटली के प्रसिद्ध नगरों का व्यापार और वाणिज्य बिलकुल चौपट कर रखा था। कृषि और अन्य उत्पादन कार्य इसलिए बन्द हो गए थे कि पता नहीं किस स्थान पर किस पड़ोसी रियासत की सेनाएँ अकस्मात् चढ़ दौड़ें। इस प्रकार सम्पूर्ण देश दरिद्रता, क्षुधा और निर्धनता के संकटों में पड़ा तड़प रहा था। एक ओर तो वाणिज्य और व्यवसाय में लगे फ्रांस, इंगलैण्ड और स्पेन के राष्ट्र-राज्य अपनी समृद्धि बढ़ाने में लगे थे और दूसरी ओर इटली एक भीषण रोगी की भाँति इस प्रकार कराह रहा था जैसे उसकी देख-भाल करने वाला कोई न हो। गृहयुद्धों और सामन्तवादी राज्यों के अतिरिक्त धर्मसत्ता के अध्यक्ष पोप भी स्थिति को बिगाड़ने में कुछ कम सहायक नहीं हो रहे थे। वे इटली में उन शक्तियों का दमन करने में व्यस्त थे जो उसका एकीकरण चाहती थीं। इस कार्य के लिए पोप अन्य देशों से धन प्राप्त कर किराये के सैनिकों से युद्ध लड़ा करते थे। विदेशी शक्तियों का हित इसी में था कि इटली अपनी आन्तरिक समस्याओं के सुलझाने में ही व्यस्त रहे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में उनके प्रतिद्वंद्वी के रूप में न आ सके। इसलिए वे पोप को मदद करती थीं। परन्तु इस अंधकारमय वातावरण में एक आशा की किरण थी——ज्ञान का पुनरोदय। इस ज्ञान के प्रभाव से इटली के नगर भी मुक्त न थे। फ्लोरेंस, वेनिस, नेपिल्स आदि में ऐसी विद्यापीठें खुल गयी थीं जो तत्कालीन आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करती थीं।

३. जीवन परिचय

युग की उक्त पृष्ठभूमि में **निकोलो मैकियावली** (Niccolo Machiavelli) का जन्म सन् १४६९ में हुआ। उसका जन्म-स्थान फ्लोरेंस नाम का इटली का एक नगर था जो समकालीन ज्ञान के **पुनरोदय** (Renaissance) का प्रमुख अड्डा बना। मैकियावली के माता-पिता साधारण स्थिति के मध्यम वर्ग के लोगों में से थे। फ्लोरेंस की एक ऐसी विद्यापीठ में मैकियावली को शिक्षा प्राप्त हुई जिसमें विवेकाधारित ज्ञान के अनुसार पाठ्यक्रम रखा गया था। इस प्रारंभिक शिक्षा का मैकियावली पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसके समस्त जीवन पर छा गया। अपनी शिक्षा के बाद, जो अधूरी ही छूट गयी थी, वह किसी प्रकार सरकारी नौकरी प्राप्त करने में सफल हो गया। फ्लोरेंस में उन दिनों गणतंत्रवादी (Republican) सरकार थी। फ्लोरेंस स्वत: एक स्वतंत्र नगर-राज्य था। सरकारी क्षेत्रों में उसके परिवार के व्यक्तियों का कोई प्रभाव नहीं था लेकिन परिवार के कुछ मित्रों के प्रयत्न से वह सरकारी नौकरी पाने में सफल हो सका। सरकारी नौकरी में मैकियावली को

अति संचेत्य स्वभाव और गजब की पर्यवेक्षण शक्ति के कारण बड़ी सफलता प्राप्त हुई। उसकी मानसिक और बौद्धिक प्रतिभाओं से सरकारी अधिकारी बहुत अधिक प्रभावित हुए और उन्होंने मैकियावली की पदोन्नति में यथाशक्ति सहायता पहुँचायी। उसकी पेरिस, रोम तथा दूसरे राज्यों में राजदूत के पद पर २३ बार नियुक्ति की गई। अंत में वह फ्लोरेंस की दस सदस्यों वाली शासन परिषद् (Council of Ten) का सचिव (Secretary) बन गया। इस बहुमुखी अनुभव से मैकियावली को व्यावहारिक राजनीति का बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त हो गया। इसी बीच अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक हलचलों ने मैकियावली को अपने स्थान से उठा फेंका। सन् १५०९ में रेवना की लड़ाई में फ्रांस की हार हो गयी और स्पेन की जीत। फ्लोरेंस ने इस युद्ध में कोई भाग नहीं लिया फिर भी युद्ध के परिणामों की प्रतिक्रिया वहाँ भी हुई। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उस शासतंत्र को बदल दिया गया जिसके अन्तर्गत मैकियावली कार्य कर रहा था। यही नहीं स्पेन के समर्थकों ने, जो फ्लोरेंस में सत्तारूढ़ हो गये थे, अन्य व्यक्तियों के साथ मैकियावली को भी निष्काषित कर दिया। अपने निष्कासित जीवन का मैकियावली ने राजनीतिक ग्रंथों के पठन और अध्ययन में उपयोग किया। इसके अलावा वह कुछ न कुछ राजनीतिक कार्य भी करता रहता था। इटली की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का अध्ययन कर उसने उन समस्याओं को भी खोज निकाला जिनका हल किया जाना इटली की एकता के लिए आवश्यक था। यह समय मैकियावली ने इस प्रकार बिताया जिस प्रकार एक डाक्टर या चिकित्सक अपने रोगी की चिकित्सा आरंभ करने के पूर्व उसके रोग के निदान में बिताता है। लेकिन उसकी राजनीतिक गतिविधियों पर मैकियावली के विरोधियों की दृष्टि थी। उन्होंने मैकियावली की कारवाइयों को अपने विरुद्ध समझा और उसे पकड़कर राजद्रोहात्मक षड्यंत्र के अपराध में बंदीगृह भेज दिया। बंदी जीवन बिताने के पश्चात् वह जब मुक्त हुआ तो एक गाँव में जाकर समाज सेवा और लेखनकार्य में अपना जीवन बिताने लगा। उसकी समस्त रचनाएँ इसी काल में लिखी गयीं। उसने अपने ग्रंथों को लिखते समय यह कल्पना की थी कि उसे कोई ऊँचा ओहदा पुनः प्राप्त हो सकेगा लेकिन उसकी यह आशा सफलीभूत न हुई। सन् १५२७ में अट्ठावन वर्ष की अपेक्षाकृत स्वल्पायु में मैकियावली की अत्यन्त साधारण व्यक्ति की भाँति मृत्यु हो गयी। इटली का राष्ट्र राज्य के रूप में स्वप्न देखने वाले इस पहले इटालियन की अत्यन्त निर्धन अवस्था में मृत्यु विधि की विडम्बना ही प्रतीत होती है। यह प्रारब्ध का ही खेल है कि रोम, बोर्जिया, पेरिस आदि में २३ बार राजदूतों के पद पर काम कर चुकने वाला व्यक्ति इतनी स्वल्पायु में बिना कोई महत्व प्राप्त किये काल के गर्भ में समा गया।

४. युग का शिशु-मैकियावली

डनिंग[१] ने मैकियावली के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में लिखा है "यह प्रतिभासम्पन्न फ्लोरेंसवासी वास्तविक अर्थों में अपने युग का शिशु था।" सच तो यह है मैकियावली ही क्या प्रत्येक प्रतिभाशाली अध्ययनशील विचारक अपने युग का शिशु होता है। युग का शिशु इन अर्थों में कि समकालीन परिस्थितियाँ उस पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डालती हैं और और वह भी युग की समस्याओं की ओर किसी न किसी अंश में आकृष्ट होता है और उन समस्याओं का हल निकालने की चेष्टा करता है। इस कसौटी पर प्लेटो और अरस्तू भी अपने युग के शिशु थे और मैकियावली भी। लेकिन अन्य विचारकों की अपेक्षा समकालीन समस्याओं पर मैकियावली ने अधिक ध्यान दिया। यही कारण है कि अन्य विचारकों की तुलना में उसे उक्त विशेषण से संबोधित करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उसके

---

१. "The brilliant Florentine was in the fullest sense the child of his times"—Dunning, *Political Theories*, p. 285

मतों तथा विचारधारा पर समकालीन वातावरण की मुद्रा इतनी सुस्पष्ट अंकित है कि उसे युग के शिशु के अलावा और कुछ कहा भी नहीं जा सकता। उसके ग्रंथों और लिखित सामग्री में ज्ञान और विद्या के पुनरोदय की आत्मा अत्यन्त सुस्पष्ट रीति से प्रतिबिम्बित होती है। मैकियावली ने इटालियन समाज का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया था। इस इटालियन समाज की विशेषताएँ उसकी कलात्मक प्रवृत्तियों और सर्जनात्मक कार्यों में निहित थीं। बौद्धिक और मानसिक दृष्टि से तो यह समाज अत्यन्त सम्पन्न था ही। इसमें संदेह नहीं कि मैकियावली के समकालीन इटालियन समाज ने ही यूरोप में ज्ञान के पुनरोदय के आन्दोलन का प्रसार किया था एवं विद्वानों का ध्यान संयततार्किकता और अनुभूतिशीलता की ओर आकृष्ट किया था—लेकिन इतने पर भी इटली की राजनीति जितनी भ्रष्ट थी उतनी शायद अन्य किसी स्थान की नहीं थी। नैतिक दृष्टि से इटली के समाज के अधः पतन की यह दशा थी कि वहाँ लोग किराये के सैनिक के रूप में लड़ने जाया करते थे और यदि युद्ध क्षेत्र में विरोधी पक्ष ने उन्हें अधिक धन देने का लालच दिया तो वह सेना के सेनापति सहित विरोधी पक्ष से मिल जाया करते थे। इटालियन समाज में नागरिक शासन की स्थानीय संस्थाएँ विनष्ट हो चुकी थीं। गिरजा और साम्राज्य दोनों का प्रभाव समाप्त हो चुका था। शासक का कार्य केवल हत्याएँ और निर्दयतापूर्वक क्रूर कार्य करना ही समझा जाता था। सचाई और विश्वसनीयता तो लेशमात्र भी नहीं रह गई थी। स्थिति यह थी कि उनकी चर्चा करना भी लोग निरर्थक समझते थे। पोप का आसन ऐसी विदेशी शक्तियों का अड्डा हो गया था जो इटली की अशान्त और अस्तव्यस्त स्थिति का लाभ उठाकर अपने स्वार्थों की पूर्ति करने में व्यस्त थीं। वे अपने हितों के लिए इटालियन राज्यों को परस्पर लड़ाया करती थीं। अरस्तू ने लिखा है कि जब मनुष्य धर्महीन हो जाता है तो उसकी दशा जानवरों से भी बदतर हो जाती है। यह कथन इटली की तत्कालीन परिस्थिति पर पूर्णतः लागू होता है। मैकियावली को सक्रिय राजनीति का पूरा पूरा अनुभव था। रोम, पेरिस, बोर्जिया आदि में २३ बार राजदूतों के पदों पर काम करने के बाद वह पोप और अन्य विदेशी शक्तियों के कर्णधारों की मनोकामनाओं को भली भाँति समझता था। अतएव, हम मैकियावली को एक ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तशास्त्री के रूप में पाते हैं जो किसी ऐसे समाज में खड़ा है जिसका कोई स्वामी नहीं है और इसमें व्यक्ति बिलकुल एकाकी रह गया है।

मैकियावली की अध्ययन पद्धति पर भी उसकी काल-सीमाओं का प्रभाव पड़ा है। दूर से देखने पर मालूम पड़ता है कि मैकियावली की अध्ययन पद्धति ऐतिहासिक थी, लेकिन यथार्थतः ऐसा नहीं था। वह धर्मसत्ता का कट्टर विरोधी था। उसे धार्मिक मूढ़ताओं और अंधविश्वासों में कोई आस्था नहीं थी। उसने इतिहास का प्रयोग केवल अपनी सहायता-सामग्री के रूप में किया—इतिहास द्वारा सिद्धान्त निरूपण करने में नहीं। उसने अपनी कृतियों में साफ-साफ कह दिया कि वह धर्म के साम्राज्य में कोई विश्वास नहीं करता और इटली का कल्याण इसी में है कि वह अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करे। इस प्रकार ज्ञान के **पुनरोदय** की आत्मा अर्थात् राष्ट्रीयता उसके उक्त कथन में पूरी तरह झलकती है। उस समय तक मध्य युग का **पवित्र रोमन साम्राज्य** (Holy Roman Empire) मृत हो चुका था। अन्य राज्य युग के प्रवाह में तेजी से आगे बढ़ रहे थे और उन्होंने न केवल स्वतंत्र राष्ट्र राज्यों की स्थापना करके शान्ति और एकता प्राप्त कर ली थी वरन् अन्तर्राष्ट्रीय जल-यातायात के विकास द्वारा वाणिज्य और व्यवसाय की सहायता से विपुल धनराशि एकत्रित कर ली, समृद्धि और वैभव भी प्राप्त कर लिया था। मैकियावली पहला इटालियन था जिसने स्वतंत्र इटालियन राष्ट्र की स्थापना का स्वप्न देखा था। लेकिन इधर स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न चल रहा था और उधर फ्रांस तथा स्पेन में यह होड़ लगी थी कि कौन पहले इटली को अपनी दासता के पाश में

बाँध लेता है। मैकियावली की सूक्ष्मदृष्टि से यूरोप की उक्त शक्तियों की महत्वाकांक्षा छिपी नहीं थी—इसीलिए वह पहला व्यक्ति था जो सम्पूर्ण इटली को राष्ट्रीयता के सूत्र म विलयित देखना चाहता था। व्यावहारिक अनुभव के कारण मैकियावली यह जानता था कि उसके लक्ष्य की पूर्ति नैतिक साधनों द्वारा ही नहीं हो सकती और उसने अत्यन्त निर्भयतापूर्वक अपने विश्वासों का प्रचार किया। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उसने अपनी पुस्तक 'प्रिंस' म जो कुछ लिखा उसका उसमें पूरा विश्वास था। इस विश्वास का कारण यह नहीं था कि वह कोई लक्ष्यभ्रष्ट दुष्ट राजनीतिज्ञ था जिसका ध्येय येनकेन प्रकारेण किसी नरेश का कृपापात्र बनकर अपनी स्वार्थसिद्धि करना था अपितु वास्तविकता यह थी कि वह तथ्यों को मान्यता देने में विश्वास करता था चाहे वे कितने ही हेय क्यों न हों और यह समझता था कि बल और बुद्धि के उचित समन्वय द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् इटली की एकता स्थापित हो सकती है। तत्कालीन राजनीतिज्ञों ने आवेश में आकर मैकियावली के विरुद्ध बड़ा जहर उगला; लेकिन मैकियावली की मृत्यु के साढ़े तीन सौ वर्ष बाद जब **केवूर** (Cavour), **गैरीबाल्डी** (Garibaldi) और **विक्टर इमैनुअल** के प्रयत्नों से इटली संयुक्त हो सका, उस समय इटली के इन राष्ट्रभक्तों ने वे सब साधन प्रयुक्त किये जो मैकियावली द्वारा उचित ठहराये गय थे।

मैकियावली के समय में राष्ट्रीयता सबल राजतंत्र से ग्रंथित मानी जाती थी। यही चीज हमें मैकियावली में भी मिलती है। उसने इटली के लिए एक ऐसे नरेश की कल्पना की जो बलवान राजतंत्र को स्थापना कर सके। वह स्वयं अपने नगर फ्लोरेंस के ईर्ष्यालु तत्वों से परिचित था और वह यह भी जानता था कि उन तत्वों का दमन कोई शक्तिशाली राजा ही कर सकता है।

मैकियावली अपने समकालीनों की भाँति व्यक्तिवाद में विश्वास करता है। उसका मत यह है कि मनुष्य अपने प्रारब्ध की रचना स्वयं करता है। वह धन और वैभवसम्पन्न हो सकता है। उसे सम्पत्ति रखने का पूरा अधिकार है और उस सम्पत्ति का राज्य द्वारा संरक्षण प्राप्त करने का भी पूरा अधिकार है। वह यह भी मानता है कि राजनीतिक क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति प्रवेश कर सकता है। वह राजनीति को केवल कुछ दैवी अधिकारप्राप्त मनुष्यों का संकीर्ण क्षेत्र नहीं मानता।

इसके अतिरिक्त मैकियावली, जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध है, नैतिकता, आचार-शास्त्र और धर्मशास्त्र आदि के बंधनों से उसे ग्रंथित नहीं करता। वह चाहता था कि यदि नैतिक उपायों से राज्य की रक्षा हो सके तो अच्छा है, लेकिन यदि राज्य के अस्तित्व को बचाने के लिए अनैतिकता का भी सहारा लेना पड़े तो भी कोई हर्ज नहीं है। वह चाहता था कि नरेश को ऐसा होना चाहिए जो प्रत्येक स्थिति का सामना कर सके। वह यह अनुभव करता था कि सार्वजनिक कार्यों का प्रबंध नैतिकता और आचारिकता के विशुद्ध सिद्धान्तों के आधार पर नहीं हो सकता; अतएव वह लोक-कल्याण के लिए उनका हनन करने के लिए प्रस्तुत रहता था। उसका इस संबंध में सीधासादा तर्क था। वह कहता था ईश्वर और नरेश दोनों की सेवा करना एक साथ संभव नहीं है। तब एक असंभव बात को संभव बनाने का बहाना करने से क्या लाभ। मैकियावली का मत था कि आचारिकता और नैतिकता द्वारा अनुमोदित स्पष्टीकरणों के लिए किसी राजनीतिज्ञ को चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यह तर्क विधि समकालीन ज्ञान के पुनरोदय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी।

मैकियावली में एक और विशेषता थी जो उसके 'युग का शिशु' होने की पुष्टि करती है। उसका युग ज्ञान के पुनरोदय का युग था—इस युग की विशेषता थी कि व्यावहारिकता पर बहुत बल दिया जाय। मैकियावली ने भी व्यावहारिक राजनीति पर बहुत बल दिया और उसने साफ-साफ कह दिया कि राजा की नैतिकता व्यक्ति की नैतिकता से सर्वथा भिन्न

है। राजा की नैतिकता वही है जो व्यावहारिक हो और राज्य के हितों तथा उसके अस्तित्व की रक्षा में सहायक सिद्ध हो।

मानव-स्वभाव का निरूपण करते हुए मैकियावली ने उसे स्वार्थी बतलाया है और कहा है कि व्यक्ति अच्छाइयों की बहुत अधिक परवाह नहीं करता। उसका मानव-स्वभाव संबंधी यह मत भी अपने ही युग का प्रतिनिधित्व करता है।

अन्त में यह बतला देना अनुपयुक्त न होगा कि उन दिनों जो दो आन्दोलन चल रहे थे उनमें से केवल एक का (ज्ञान के पुनरोदय के आन्दोलन का) मैकियावली प्रतिनिधित्व करता है। वह सुधारवादी (Reformative) आन्दोलन का प्रतिनिधि नहीं था।

५. मैकियावली की अध्ययन पद्धति

मैकियावली को अपने 'युग का शिशु' सिद्ध करने के उपरान्त अब हम उसकी अध्ययन-पद्धति पर विचार करेंगे। मैकियावली की अध्ययन पद्धति का यदि विश्लेषण किया जाय तो उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ेंगी—(अ) ऐतिहासिक, (आ) पर्यवेक्षणात्मक, (इ) यथार्थवादी दृष्टिकोणयुक्त और (ई) वैज्ञानिक। उसकी अध्ययन प्रणाली व्याप्तिमूलक (Inductive) है।

मैकियावली के पूर्व मध्ययुग के विचारक धार्मिकतायुक्त अध्ययन प्रणाली के अनुसार अध्ययन करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि मूढ़ताओं और अंधविश्वासों से मुक्त ही नहीं हो पाते थे। मैकियावली ने इस प्रणाली का पूर्ण रूप से बहिष्कार कर दिया और परिणाम यह हुआ कि उसमें वे जटिल ग्रंथियाँ नहीं आ सकीं जो मध्य युग के मैकियावली से पूर्ववर्ती विचारकों में मिलती हैं। उसने पूर्णतः वैज्ञानिक तटस्थता की प्रवृत्ति को अपनाया। वैज्ञानिकों के स्वभाव की विशेषता यह होती है कि वे विशुद्ध भौतिक तथ्यों तक ही अपने को सीमित रखते हैं। वे जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं या अनुभव करते हैं उसी के आधार पर परिणाम निकालते हैं। यह चीज मैकियावली की अध्ययन पद्धति में भी पायी जाती है। मैकियावली व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। वह राजनीतिज्ञ कल्पना करनेवाले विचारकों की श्रेणी का नहीं था। इसीलिए यह स्वाभाविक था कि वह ऐतिहासिक पद्धति अपनाता। वह शासनतंत्र का कलाकार था, सिद्धान्त निरूपक नहीं।

आलोचना—किन्तु मैकियावली की पद्धति क्या सचमुच ऐतिहासिक थी? इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर देना बड़ा कठिन है। आज कल ऐतिहासिक पद्धति का आशय यह होता है कि सम्पूर्ण इतिहास का अध्ययन करके कुछ सिद्धान्त स्थिर किये जायँ जिनके प्रयोग द्वारा समकालीन समस्याओं का हल निकालने का प्रयत्न किया जाय। मैकियावली के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती कि उसने इस पद्धति का अनुसरण किया। उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कुछ धारणाएँ बना ली थीं और उन धारणाओं की पुष्टि के लिए वह इतिहास से अपने मतानुकूल उदाहरण खोजा करता था। उसने सम्पूर्ण इतिहास का अध्ययन करके उसकी सहायता से कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किया।

इसी कारण मैकियावली की अध्ययन-पद्धति को पर्यवेक्षणात्मक (Observational) बताया जाता है। यह पद्धति इन अर्थों में पर्यवेक्षणात्मक थी कि मैकियावली ने तत्कालीन अव्यवस्था और अशान्ति के कारणों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि मानव-स्भाव स्वार्थी होता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि समूची मानवजाति का स्वभाव दोषयुक्त होता है। मालूम पड़ता है कि मैकियावली की अध्ययन-सामग्री बड़ी सीमित एवं उसका पर्यवेक्षण अधूरा था। यदि वह इटली को छोड़ कर दूसरे देश के लोगों के स्वभाव का भी पर्य-पर्यवेक्षण करता तो मानव-स्वभाव के संबंध में ऐसी धारणा कभी न बना पाता। उसमें वैज्ञानिकों-सी तटस्थता भी नजर नहीं आती, कारण उसकी रचनाओं में पोप के प्रति पूर्वनिश्चित

घृणा का भाव स्पष्टतः नजर आता है। दूसरे वह राजा के प्रति भी पक्षपात करता है। वह हर हालत में राजसत्ता का ही औचित्य सिद्ध करता है।

६. मैकियावली पर प्रभाव डालने वाले विद्वान और उनके ग्रंथ

मैकियावली पर प्राचीन युग के जिन विद्वानों ने सबसे अधिक प्रभाव डाला उनमें अरस्तू का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उसे यूनान के अन्य प्राचीन ग्रंथों का पठन-पाठन भी प्रिय था। उसने रोमन इतिहास का भी अध्ययन किया था। विशेषकर रोम की विधि संहिताओं का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। लेकिन रोम के बाद उसने आगे के इतिहास तथा पूर्ववर्ती लेखकों पर कोई ध्यान नहीं दिया। ईसाई धर्म के जन्म,अभ्युदय तथा स्कालस्टिक आन्दोलन के विकास आदि की उसने पूर्णतः अवहेलना की। धर्म ग्रंथों और पादरी लेखकों की रचनाओं को वह राजनीति के उपयुक्त नहीं समझता था। यही नहीं, राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच कई सौ वर्षों तक जो विवाद चला—वह भी उसकी दृष्टि में बिलकुल बेकार था। राजसत्ता की श्रेष्ठता को उसने स्वतः सिद्ध मान लिया था और वह धर्मसत्ता को निश्चित रूप से निम्न स्थान देता था।

उसके ग्रंथों में 'दि प्रिंस' (The Prince) नाम की पुस्तक सबसे अधिक महत्व रखती है। उसके सभी राजनीतिक विचार इसी पुस्तक में संकलित हैं। इसके अतिरिक्त डिस्कोर्सेज ऑफ लिवी (Discourses of Livy) का भी नाम उल्लेखनीय है।[1] "प्रिंस" नाम की पुस्तक सन् १५१३ म लिखी गयी थी। यह कुल २६ अध्यायों में विभक्त है। इन २६ अध्यायों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। इनमें अंतिम और तीसरा भाग सर्वाधिक महत्व का है। इसी भाग में मैकियावली ने अपने राजदर्शन की विशद व्याख्या की है। प्रथम भाग में अधिकतर राजतंत्रों की शासन-व्यवस्थाओं का वर्गीकरण किया गया है और दूसरे में किराये पर लड़ने वाली सेनाओं की प्रचलित परम्पराओं की व्याख्या की गयी है। मैकियावली ने इस अध्याय में सेनाओं की उक्त पद्धति की कठोर आलोचना करते हुए यह माँग की है कि राष्ट्रीय सेना स्थापित होनी चाहिए। अन्तिम भाग में उसने राजा को नीति सम्बन्धी शिक्षाएँ भी दी हैं। पुस्तक का मुख्य उद्देश्य सफल शासक बनाना है। मैकियावली की कूटनीति संबंधी शिक्षाओं को दृष्टि में रखते हुए उसकी तुलना आसानी से चाणक्य के साथ की जा सकती है।

मैकियावली के ग्रंथों का यदि पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाओं को सामने रख कर तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो दोनों का अन्तर अत्यन्त स्पष्ट हो जायगा। यह अन्तर है नैतिकताऔरधर्म की कल्पनाकेसंबंध में।मैकियावली ने नैतिकता केदो मानदण्ड निर्धारित किये हैं। एक शासक के लिए और दूसरा व्यक्ति के लिए। उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि व्यक्ति की नैतिकता की दृष्टि से जो चीज वर्जित है वही एक मौके पर शासक के लिए सर्वाधिक वांछनीय हो सकती है। ईसाई पादरियों का मत इसके विपरीत था। मैकियावली ने धर्म को सर्वथा व्यक्तिगत सीमाओं में खदेड़ दिया और राजनीति में उसका प्रवेश निषेध ठहराया। मैकियावली के पूर्ववर्ती लेखकों का विश्वास इसके बिलकुल विरुद्ध था।

७. मैकियावली की समस्याएँ

मैकियावली ने अपने सामने बिलकुल व्यावहारिक लक्ष्य रखे। लिखते समय उसका उद्देश्य प्लेटो की भाँति कल्पना के संसार में मनोहर महल का निर्माण करना नहीं था। उसकी

---

[1] मैकियावली की मूल पुस्तकें लैटिन भाषा में लिखी गयी हैं। इनका अंग्रजी में सी० ई० डेटमोल्ड ने अनुवाद किया है। यह अनुवाद 'हिस्टोरिकल पोलिटिकल एण्ड डिप्लोमेटिक राइटिंग्स ऑफ मैकियावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

मुख्य समस्या थी (१) इटालियन राष्ट्र का निर्माण, (२) इटली के नगरों की समृद्धि और वैभव को बढ़ाना (३) बौद्धिकतावादी ज्ञान के पुनरोदय के आन्दोलन को बढ़ाना और (४) प्रचलित अंध और मूढ़विश्वासों का खण्डन कर धार्मिकता के प्रपंच से तत्कालीन समाज को मुक्ति दिलाना। वह चाहता था कि अन्य राजाओं की भाँति इटली भी एक सुदृढ़ राष्ट्र बने। इस कार्य के लिए यह आवश्यक था कि वहाँ कोई ऐसा सुदृढ़ राजतंत्र स्थापित होता जो वहाँ को कलहरत पाँचों रियासतों[1] को एकता के सूत्र में बाँध सकता और ऐसी शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित कर सकता जिसमें जनता सुख से रहती हुई अन्य राष्ट्रों की भाँति वाणिज्य व्यवसाय करती तथा अपना एवं देश का वैभव बढ़ाने में योगदान देती। उन दिनों की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि व्यापार करने वाला मध्यवर्ग इटली में उत्पन्न तो हो गया था परन्तु वह आन्तरिक अशान्ति के कारण अपना कोई भी कार्य नहीं कर पाता था। इसके विपरीत सामन्तवादी तत्व पुराने ढंग से जीवन व्यतीत कर रहे थे। यह तत्व मैकियावली के समय में भी उसी प्रकार आनन्द से अपना जीवन व्यतीत करते रहते किन्तु विश्व का घटना-चक्र उसके विपरीत था और इटली के मध्यवर्ग के लिए यही सबसे अधिक आशा की बात थी। इसके अतिरिक्त उन दिनों इटली ज्ञान के पुनरोदय के आन्दोलन का केन्द्रस्थल हो गया था। उक्त आन्दोलन से, जिसका लक्ष्य मनुष्य के स्वतंत्र बौद्धिक विकास को प्रोत्साहन देना था, अन्य राष्ट्रों ने काफी लाभ उठाया किन्तु इटली जहाँ का तहाँ रहा। मैकियावली ने इसका कारण ढूँढ़ना चाहा और उसे मालूम पड़ा कि धार्मिक अंधविश्वास और मूढ़ताएँ ही इटली की दुर्दशा का मुख्य कारण थीं। अतः, वह पोप का बड़ा जबर्दस्त विरोधी हो गया। यह एक विचित्र विरोधाभास सा ही प्रतीत होता है कि इटली के हित की आकांक्षा करने वाले मैकिया-वली के सिद्धान्तों को कालान्तर में धर्महीनतापूर्ण और मानवता विरोधी कहा जाने लगा। और यह भी विचित्र विरोधाभास ही है कि कुछ लोगों ने मैकियावली की कटु निन्दा करते हुए भी व्यवहार में उसके सिद्धान्तों का ही अनुकरण किया। अस्तु, मैकियावली की उक्त समस्याओं को जब हम देखते हैं तो आसानी से दो परिणाम निकाल सकते हैं—पहला तो यह कि ये समस्याएँ एक दूसरे से संबंधित थीं और दूसरा यह कि वे सब की सब राष्ट्रीय थीं। मैकियावली ने जब दि प्रिंस लिखना शुरू किया उस समय उसने यह नहीं सोचा कि वह संसार भर के राष्ट्रों के लिए कोई आचार संहिता लिखने जा रहा है। उसका उद्देश्य केवल इतना था कि वह उस शासक का थोड़ा बहुत पथप्रदर्शन कर सके जो इटली को एक राष्ट्र का रूप दे। उसके विचारों ने सार्वभौमिक महत्व शनैः-शनैः ही प्राप्त किया। मैकियावली की समस्याओं की उक्त झलक के बाद हम अब उसके विचारों का संक्षिप्त अध्ययन करते हैं।

८. मानवस्वभाव का विवेचन

मैकियावली ने मानव स्वभाव का जो विवेचन अपनी पुस्तक 'प्रिंस' में किया है—वह अनिवार्यतः तत्कालीन इटली निवासियों के आचरण पर आधारित है। उसने अपने सम-कालीन देशवासियों के स्वभाव का अध्ययन कर यह परिणाम निकाला कि व्यक्ति स्वभाव से दुष्ट और स्वार्थी होता है। वह अनिवार्यतः सद्गुणी नहीं होता। मनुष्य का चरित्र विभिन्न प्रकार की दुर्बलताओं, मूढ़ताओं और मूर्खताओं का केन्द्र है। अतएव यह आवश्यक है कि उसे बराबर दबाया जाय और मनुष्य के स्वभाव को सुधारने का प्रयत्न किया जाय जिससे समाज को अच्छा बनाया जा सके। उसका यह दृष्टिकोण कालविन तथा हॉब्स आदि विचारकों से काफी मिलता-जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाइयों के मनुष्य के पापी होने के

---

[1] उन दिनों इटली निम्नलिखित पाँच राज्यों में विभक्त था-—वेनिस और फ्लोरेंस के गणतंत्र, नेपिल्स का राज्य, डची मिलान और रोमन चर्च का राज्य।

समकालीन सिद्धान्त का भी मैकियावली पर परोक्षतः प्रभाव पड़ा है। मैकियावली यह मान कर चलता है कि मनुष्य का अहम् तथा उसकी स्वार्थ प्रवृत्तियाँ ऐसी प्रेरणादायी शक्तियाँ हैं जो उसे आगे बढ़ने के लिए विवश करती हैं। मनुष्य कृतघ्न, विश्वासघाती, कायर और लालची होता है। वह अच्छा बनने की तभी कोई कोशिश करता है जब ऐसा करने में उसे कोई लाभ प्रतीत हो। इसके अलावा मानवीय स्वभाव का एक और तत्व भी महत्वपूर्ण है और वह है—भय। मैकियावली का कहना था कि भय मानवजीवन को प्रेम से भी अधिक प्रभावित करता है। इसलिए राजा को प्रजावत्सल नहीं, वरन् ऐसा बनना चाहिए कि लोग उससे बराबर डरते रहें। जब तक वे डरेंगे तभी तक राजा से प्रेम करेंगे और उसके आदेशों को मानेंगे। वह 'बिनु भय प्रीत न होय' सिद्धान्त में विश्वास करता था लेकिन उसने भय, घृणा और अपमान के बीच अत्यन्त सुस्पष्ट रेखा खींची थी। उसका कहना था कि शासक को चाहिए कि वह अपने कार्यों से प्रजा को भयभीत तो रखे लेकिन ऐसा न कर बैठे कि राज्य का कोई वर्ग उससे घृणा करने लगे या उसकी मानहानि का प्रयत्न करे। वह यह भी कहता था कि मनुष्य आनन्द चाहता है और कष्ट तथा दुख से बचने की बराबर कोशिश करता रहता है।

आलोचना—मैकियावली का मानवस्वभाव का उक्त विवेचन ऐसा लगता है जैसे किसी निराशावादी सनकी ने अपने विचार संकलित करके रख दिये हों। किन्तु मैकियावली के विचार इटली की तत्कालीन स्थिति से प्रभावित हुए थे और उस स्थिति को देखते हुए उसके ऐसे विचारों में कोई आश्चर्य की बात प्रतीत नहीं होती। परन्तु मैकियावली के विचारों में अब तक विरोधात्मक प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ जब वह कहता है कि मनुष्य अनिवार्यतः स्वार्थी और दुष्ट है तो उस समाज का सुधार किस प्रकार किया जा सकता है जिसकी वह रचना करता है। उसके विचार अवैज्ञानिक भी हैं। अवैज्ञानिक इन अर्थों में कि वह कभी-कभी कोई बात कह देता है और फिर उसको जहाँ का तहाँ छोड़ कर आगे बढ़ जाता है। उचित तर्कों द्वारा अपने सूत्र कथन की पुष्टि नहीं करता। उदाहरण के लिए यही कथन ले लीजिए कि 'समाज का सुधार संभव है।' मैकियावली ने अपने इस कथन की तर्कों द्वारा कहीं पुष्टि नहीं की। सच तो यह है कि मैकियावली के विचारों को इटलीवासी और वह समकालीन इटलीवासी के अतिरिक्त और कोई भली भाँति समझ ही नहीं सकता।

९. नैतिकता संबंधी सिद्धान्त

मैकियावली का नैतिकता का सिद्धान्त द्वैध (dual) है। उसका कहना है कि न कोई कार्य या बात बिलकुल अच्छी होती है और न बिलकुल बुरी ही। वह वस्तु की अच्छाई इस आधार पर निश्चित करता है कि उससे राज्य को कोई सहायता मिलती है या नहीं। यदि कोई वस्तु या कार्य राज्य की उपयोगिता की दृष्टि से लाभदायी है, तो वह नैतिक है अन्यथा अनैतिक। इसके बाद वह नैतिकता के दो मानदण्डों की चर्चा करता है और विस्तार पूर्वक बतलाता है कि प्रत्येक कार्य के संबंध में दो दृष्टिकोणों से फैसला किया जा सकता है—पहला दृष्टिकोण तो नरेश के मानदण्ड का है और दूसरा प्रजा के। उसका कहना है कि राजा को इस बात का अधिकार है कि वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो भी साधन उचित समझे उनका उपयोग करे। नरेश के लिए प्रत्येक साधन का औचित्य सिद्ध करनेवाली केवल एक ही कसौटी है और वह है उसकी सफलता। यदि वह अपनी सफलता के लिए ऐसे साधनों का प्रयोग करता है जो व्यक्ति या प्रजा की नैतिकता की दृष्टि से वर्जित हैं तो भी कोई हर्ज नहीं है। उसे ऐसा करने का पूरा अधिकार है। इसके विपरीत प्रजा को सद्गुणसम्पन्न होना चाहिए। प्रजा का एकमात्र यही कर्तव्य है कि राजा चाहे जैसा हो वह उसकी सेवा बराबर करती जाय। राजा की आज्ञा का पालन करना उसका कर्तव्य है। इसके विपरीत

राजा के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह किसी की आज्ञा का पालन करे। प्रजा के लिए तो यह जरूरी है कि उसमें सार्वजनिक सेवा का भाव हो; वह समाज के हित के लिए अपने निजी स्वार्थों का बलिदान कर दे, परन्तु राजा के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह प्रजा की सेवा करे। यह थी मैकियावली की नैतिक सिद्धान्तावलि। संभवतः इसे अधिक से अधिक किसी अर्धविक्षिप्त व्यक्ति का प्रलाप ही कहा जा सकता है। लेकिन वास्तविकता यह थी कि मैकियावली समकालीन इटली की राजनीतिक और सामाजिक दशा के विषय में अपना मत प्रकट कर रहा था। यही कारण है कि उसके नैतिक सिद्धान्त द्वैध, परस्पर विरोधी तथा त्रुटियुक्त विचारों से युक्त प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि अपनी दृष्टि से मैकियावली ने उसी राजा को सर्वोत्तम बतलाया है जिसमें शेर और लोमड़ी के स्वभावों का सुन्दर समन्वय हो। आवश्यकता पड़ने पर वह शेर की तरह बहादुर और खूँखार हो और जरूरत पड़ने पर लोमड़ी की तरह चालाक। राजा को आवश्यकतानुसार विधि (Law) और बल (Force) का प्रयोग करना चाहिए। उसे अपना वचन तभी पूरा करना चाहिए जब तक ऐसा करना उसके हित में हो। यदि कालान्तर में हित की दृष्टि से वचनभंग करने की आवश्यकता पड़ जाय तो उसे इसमें संकोच नहीं करना चाहिए। मैकियावली जहाँ एक ओर नागरिकों को सब से मैत्रीभाव बनाये रखने का उपदेश देता है और कहता है कि उन्हें पड़ोसियों से झगड़ा नहीं करना चाहिए वहाँ दूसरी ओर वह राजा को पड़ोसी से सदैव सतर्क रहने का उपदेश देते हुए सलाह देता है कि मौका मिलते ही उसके राज्य को झपट कर अपने राज्य में मिला लेना चाहिए। स्वयं राजा को भावनाहीन होना चाहिए, किन्तु दूसरों की भावनाओं को भड़का कर उनसे खूब लाभ उठाना चाहिए। राजा को विवेकयुक्त तथा अवसरवादी होना चाहिए। राज्य के हित में उसे तथाकथित पापों से नहीं डरना चाहिए। उसे अपनी आत्मा का सौदा करके भी राज्य की रक्षा करनी चाहिए। उसका प्रेम केवल राज्य तक ही सीमित रहना चाहिए। अच्छाई, बुराई आदि के फेर में उसे बिलकुल नहीं पड़ना चाहिए। राजा के आचरण और उसकी नैतिकता की परीक्षा केवल परिणामों से होती है। यदि राजा सफल होता है तो फिर साधनों की उसे कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

१०. धर्म (Religion), आचारशास्त्र (Ethics) और राजनीति

मैकियावली ने आचारशास्त्र और राजनीति को बिलकुल अलग-अलग कर दिया है। उसका कहना है कि राजनीति में हत्या करना बुरी बात नहीं है जब कि व्यक्ति के आचार-शास्त्र की दृष्टि से ऐसा करना जघन्य अपराध है। मैकियावली के आचारशास्त्र और राज-नीति संबंधी विचार सोलहवीं शताब्दी की क्रान्तिवादी मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वह राजनीति में धर्म या आचारसंबंधी विचारों को कोई स्थान नहीं देता। मैकिया-वली स्वयं अनाचारी या अनैतिक नहीं था, उसकी राजनीति नैतिकताहीन एवं आचार हीन थी। उसने राजनीति में आचारिकता के सिद्धान्त उपयोगिता की दृष्टि से निश्चित किये। यदि किन्हीं कार्यों से राज्य को लाभ होता है तो राजनीति में उनका अनुसरण किया जाना चाहिए। यदि धर्म और आचार किसी बात का सिद्धान्ततः विरोध करते हैं और राजसत्ता यह अनुभव करती है कि उस बात के करने से राज्य का लाभ होगा तो राजा को वह कृत्य कर डालना चाहिए। ऐसा करना राजनीति की दृष्टि से कोई अनुचित बात नहीं। सच्चा राजनीतिज्ञ वही है जो वास्तविक परिस्थितियों को समझ कर राज्य के हित में तदनुकल कार्य करे। उक्त बातों से स्पष्ट है कि मैकियावली राजनीति को धार्मिकता और आचा-रिकता के बंधनों से मुक्त रखना चाहता था। यह बात मध्य युग के किसी अन्य लेखक ने नहीं कही। वे सब के सब व्यक्ति और राजा दोनों के आचरणों को एक ही काँटे पर तौलते थे। मैकियावली ने मध्य युग के लेखकों के मत से इस मामले में विदा ले ली है। अरस्तू ने भी

बतलाया था कि राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र ये दोनों अलग-अलग विषय हैं। किन्तु अरस्तू की विभाजन-रेखा उतनी स्पष्ट नहीं थी जितनी मैकियावली की।। मैकियावली के मतानुसार राजा के आचरण का व्यक्तिगत आचरण से कोई संबंध नहीं है। व्यक्ति को हत्या का अधिकार नहीं है। वह ऐसा करके अन्याय करता है। व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति हड़पने का अधिकारी भी नहीं है। लेकिन राजा अपराधी को मृत्यु दण्ड तथा मौका आ पड़ने पर पड़ोसी राजा के राजपाट पर कब्जा कर सकता है। अतः व्यक्ति और राजा के आचरण के मानदण्डों को सर्वथा भिन्न करने का क्षेत्र मैकियावली को ही प्राप्त है।

११. मैकियावली की दृष्ट में राजनीति

मैकियावली का राजनीति संबंधी दृष्टिकोण कलात्मक था। उसने राजनीति की जो कल्पना की उसमें राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति या विकास संबंधी कोई व्यापक बातें नहीं हैं। उसने अपने विचारों को अपेक्षाकृत सफल शासनतंत्र (सरकार) के दायरे तक ही सीमित रखा। यही कारण है कि प्लेटो, अरस्तू या मध्ययुग के कुछ विचारकों की भाँति उसने राजदर्शन के संबंध में कोई पोथा नहीं लिखा वरन् उसने यह बतलाया कि सफल शासक कैसे बनाया जा सकता है तथा सफल शासन की कसौटी क्या है। 'प्रिंस' को इसी सीमितता के कारण कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं अपितु राजनीति का एक अध्याय माना जाता है। इसी प्रकार अपने दूसरे ग्रंथ 'डिस्कोर्सेज' में भी मैकियावली ने विस्तारपूर्वक बतलाया है कि सफल गणतंत्र राज्य की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है।

१२. इतिहास संबंधी मत

इतिहास के संबंध में मत प्रकट करते हुए मैकियावली ने विस्तारपूर्वक परिवर्तन के सिद्धान्त (The Theory of Change) का निरूपण किया है। उसका कहना है कि इतिहास में कोई वस्तु स्थिर नहीं है। इसका मुख्य कारण मनुष्य के स्वभाव का दोष है। वह इतना लोभी और वासनामय है कि उसकी इच्छाएँ लगातार बढ़ती ही जाती हैं। इनका बढ़ना ही परिवर्तनों का कारण है। इस प्रकार के परिवर्तनों की क्रमबद्ध कथा ही इतिहास है। चूँकि परिवर्तनों का मूल कारण वासनाएँ हैं और इतिहास इन्हीं परिवर्तनों का विवरण है; अतः मानवजाति के कृत्यों का इतिहास गौरवमय या उज्ज्वल नहीं है। अपनी बुराइयों के कारण ही मानवजाति दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक अधःपतन के गर्त में गिरती जा रही है। अतः इतिहास की गति भी मानवजाति के उस अंतिम विनाश और प्रलय की ओर ही इंगित करती है जिसकी ओर वह बढ़ी जा रही है। अतः, मैकियावली की इतिहास की कल्पना के संबंध में यह पूरी तरह समझ लेना चाहिए कि वह उसे मानवजाति के छल, कपट और स्वार्थों का लेखा-जोखा मानता है। इतिहास के संबंध में यह मत प्रकट करने के बाद मैकियावली अपने दृष्टिकोण को सहसा बदल लेता है। वह अगली ही पंक्ति में कहता है कि इतिहास चक्रवत् घूमता है। एक अच्छी चीज आती है—कालान्तर में वह भ्रष्ट, हो जाती है तो उसका स्थान दूसरी वस्तु ले लेती है और इसी प्रकार इतिहास का चक्र घूमता रहता है। हमें इस अवसर पर इतिहास संबंधी अरस्तू का मत भी स्मरण हो आता है। अरस्तू ने भी लगभग ऐसी ही बात कही थी। उसने राज्यों का जो वर्गीकरण किया था उसमें बतलाया था कि राजतंत्र के बाद आभिजात्यतंत्र और आभिजात्यतंत्र के भ्रष्ट होने के बाद प्रजातंत्र और फिर राजतंत्र आता है। इतिहास के संबंध में **मैकियावली** का दूसरा मत यद्यपि अरस्तू पर आधारित है फिर भी **मैकियावली** ने अरस्तू का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार एक आलोचक के शब्दों में उसने "बिना कृतज्ञता प्रकट किये चोरी" की है।

१३. राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति की कल्पना

यद्यपि ऊपर के अनुच्छेदों में से एक में हम यह बतला आये हैं कि राज्य की उत्पत्ति

और प्रकृति के संबंध में अरस्तू की भाँति मैकियावली ने विचार प्रकट नहीं किये हैं लेकिन यदि प्रसंगवश उसके उन सब कथनों को एक जगह एकत्र कर लिया जाय जो इस विषय से संबंधित हैं तो हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचेंगे।

मैकियावली ने राज्य की उत्पत्ति के पूर्व मनुष्य की दशा का विवरण दिया है। उसने लिखा है कि एक समय ऐसा था जब न कोई समाज था और न कोई राज्य। परिणामतः सदैव कलह और संघर्ष हुआ करता था। किसी का जीवन या सम्पत्ति सुरक्षित नहीं थे। ऐसी अवस्था में जब सब ऊब गये तो यही ठीक समझा गया कि समुचित व्यवस्था कर सकनेवाले किसी अधिकारी को नियुक्ति कर दी जाय। मैकियावली के प्राकृतिक अवस्था संबंधी यह विचार हॉब्स के विचारों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं; किन्तु, उनमें यह व्यवस्था और तार्किकता नहीं है जो हॉब्स के विचारों में पायी जाती है। मैकियावली के विचारों का सार यह है कि राज्य की उत्पत्ति का कारण मानव समुदाय का कोई सामान्य हित (Common interest) था। इस सामान्य हित से जब व्यक्ति के हित संयुक्त हो गये तभी राज्य की उत्पत्ति हुई। सभी व्यक्तियों के सामान्य हितों के प्रभाव और दबाव के कारण कुछ व्यक्तियों को अपने निजी स्वार्थों का बलिदान करना पड़ा और तब राज्य की स्थापना हो गयी। राज्य की उत्पत्ति के संबंध में उक्त विचार प्रकट करने के बाद मैकियावली ने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्तिगत स्वार्थों के समक्ष राज्य के स्वार्थों की प्राथमिकता स्वतः सिद्ध है। दूसरा निष्कर्ष उसने यह निकाला कि राज्य की उत्पत्ति का कारण कोई दैवी या ईश्वरीय कृत्य नहीं है। मनुष्य स्वभाव से दुष्ट है और उसकी दुष्टता को संयमित और सीमित करने के लिए किसी सबल बाह्य शक्ति की अपेक्षा है और वह आवश्यकता राज्य पूरी करता है। मैकियावली ने तीसरा निष्कर्ष यह निकाला कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर की इच्छा से नहीं हुई वरन् वह समाज के बल का परिणाम है। मध्य युग के लेखकों की परम्परा के समक्ष राज्य की उत्पत्ति के संबंध में प्रकट किए गए उक्त विचार न केवल मौलिक थे अपितु अपने आप में बड़े क्रान्तिकारी थे और आने वाले सुधारयुग की ओर संकेत करते थे। समालोचना की दृष्टि से देखा जाय तो मैकियावली की राज्य संबंधी कल्पना केवल विचार जगत की वस्तु नहीं है। वह इस भौतिक और प्रत्यक्ष संसार का अंग है। वह इतिहास का छात्र था और हम यह बता चुके हैं कि इतिहास को वह मानवजाति के छल, कपट और स्वार्थ की लम्बी कहानी का प्रमाण मानता था। और चूँकि राज्य की उत्पत्ति को उसने इतिहास से खोजा था इसलिए मैकियावली का राज्य भी स्वार्थी है। प्लेटो, अरस्तू तथा टामस की राज्य की कल्पना से यह भिन्न है।

१४. राज्य की श्रेष्ठता

मैकियावली ने राज्य को समस्त मानव संवासों में सबसे अधिक श्रेष्ठ बतलाया है। अपने इस मत को प्रकट करते हुए उसने अरस्तू के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। अरस्तू की भाँति ही मैकियावली ने कहा है कि मानवकल्याण का राज्य से बढ़ कर कोई दूसरा साधन नहीं हो सकता। मनुष्य जब अपने व्यक्तित्व को राज्य में सर्वथा विलयित कर देता है तभी वह राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने में सफल होता है। ऐसा करने से व्यक्ति को ही अधिक लाभ होता है। उसका चतुर्दिक बौद्धिक विकास होता है; उसके व्यक्तित्व की प्रतिभा बढ़ती है और उसके गुण पूर्ण रूप से मुखरित हो उठते हैं। यही कारण है कि व्यक्तिगत हितों की चिन्ता राज्य के हितों के समक्ष बिलकुल ही नहीं उठनी चाहिए। मैकियावली की दृष्टि से राज्य का सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व है। वह अन्य संवासों से राज्य को बिलकुल अलग और श्रेष्ठ मानता है। उसका कहना है कि राज्य के प्रति अन्य समस्त संवास उत्तरदायी हैं; लेकिन, राज्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। अन्य मनुष्यों की भाँति राज्य की कोई नैतिक अथवा आचारिक संहिता नहीं है।

१५. राज्यों का वर्गीकरण और उसके विस्तार की आवश्यकता

मैकियावली ने वस्तुत: राज्यों का नहीं अपितु शासनतंत्रों (सरकारों) का वर्गीकरण किया है। कारण, वह आदर्श शासनतंत्र की स्थापना करना चाहता था। उसके शासनतंत्र का आदर्श किसी कल्पना पर नहीं वरन् सफलता पर आधारित था। शासनतंत्रों के वर्गीकरण में उसने अरस्तू के पथ का अवलम्बन किया है। अरस्तू की भाँति उसने समस्त शासनतंत्रों तथा उनके भ्रष्ट स्वरूपों को ६ वर्गों में विभक्त किया है। यथा——(१) राजतंत्र तथा निरंकुशतंत्र, (२) आभिजात्यतंत्र और अयोग्य उच्चजनतंत्र एवं (३) लोकतंत्र तथा समूहतंत्र। उसने रोमन विचारकों की भाँति उसी शासनतंत्र को सफल और आदर्श माना है जो मिश्रित हो। मिश्रित शासनतंत्र से मैकियावली का अभिप्राय एक ऐसे शासनतंत्र से था जिसमें राज्य के तीनों वर्गों के तत्वों का सम्मिश्रण हो। उसका कहना था कि तीनों वर्गों के शासनतंत्रों के गुणोंका समावेश हो जाने से मिश्रित शासनतंत्र पर भली भाँति नियंत्रण भी बना रहता है और किसी तत्व के हाथ में आवश्यकता से अधिक शक्ति भी नहीं पहुँच पाती; अर्थात् शक्ति संतुलन रहता है। **मकियावली** ने यह भी माना कि सम्पत्ति और राज सत्ता का घनिष्ठ संबंध है। धन, राजसत्ता के शक्ति संकलन में योग देता है। इसके अलावा भी उसका महत्व है। यदि राज्य का कोई बहुसंख्यक वर्ग ऐसा है जिसके आर्थिक हितों की उपेक्षा की जाती है तो उस राज्य में असन्तोष होना सर्वथा स्वाभाविक है। यह भी स्वाभाविक है कि जो वर्ग राज्य की समस्त सम्पत्ति पर अधिकार किये बैठा हो, वह असंतोषी वर्ग को दबाने की चेष्टा करेगा और अपनी सत्ता से चिपका रहेगा। मैकियावली ने 'प्रिंस' में एक ऐसे राजा की कल्पना की है जो सर्वशक्तिमान हो और सारे देश के निवासियों को एकता के सूत्र में बाँध सके; किन्तु इसके साथ ही उसने यह भी माना है कि एक व्यक्ति से कुछ व्यक्तियों का समूह अधिक बुद्धिमान होता है। अत:, ऐसे राज्य में जहाँ आर्थिक और वित्तीय वितरण की समानता हो, वहाँ गणतंत्रात्मक शासन सर्वोत्तम होता है। वह यह भी मानता है कि राजतंत्र की अपेक्षा गणतंत्रात्मक शासन आसानी से बदला जा सकता है, अथवा उसमें अपेक्षित सुधार भी किये जा सकते हैं। उसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता भी अधिक सुरक्षित रहती है। वह यह भी मानता था कि निर्वाचित राजतंत्र ही समकालीन इटली की आवश्यकता है। इसीलिए वह उन दिनों उसी का समर्थन करता था, लेकिन उसका यह भी कहना था कि शासनतंत्रों का स्वरूप समयानुकूल बदलते रहना चाहिये।

वह यह मानता था कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और वह लगातार बदलती रहती है। इसलिए राज्य भी परिवर्तनशील है और वह भी बदलता रहता है। ज्यों-ज्यों राज्य जीर्ण होता जाता है त्यों-त्यों उसकी बुराइयाँ बढ़ती जाती हैं और सुधार की आवश्यकता बढ़ती जाती है। उसका कहना था कि जब राज्य जीर्ण हो जाता है तो उसे सुधार के लिए शक्तिशाली राजा की आवश्यकता पड़ती है और जब राज्य सुधर जाता है तो राज्य को गणतंत्र अर्थात् ऐसे शासनतंत्र की आवश्यकता पड़ती है जिसमें जनमत का प्रतिनिधित्व हो। इस प्रकार मैकियावली निम्नलिखित दो परस्पर विरोधी तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करता है:——

(अ) शक्तिशाली नरेश या राजा, और

(आ) स्वशासन योग्य जनता

मैकियावली यह मानता है कि गणतंत्र या राजतंत्र (Republic or Monarchy) कोई भी शाश्वत नहीं है। वह आदर्श शासनतंत्र गणतंत्र को मानता है किन्तु चूंकि मानव स्वभाव के कारण ऐसा राज्य संभव नहीं है इसलिए वह राजतंत्र की ओर झुक जाता है। अत: वह राज्यों का वर्गीकरण इस प्रकार करता है——(अ) गणतंत्र (Monarchy) और (आ) राजतंत्र (Monarchy)। राजतंत्र (Monarchy) दो प्रकार का होता है——

(१) आनुवंशिक राजतंत्र (Hereditary Monarchy) और (२) कृत्रिम राजतंत्र (Artificial Monarchy)। आनुवंशिक राजतंत्र किसी देश में अपने राजा का राज होता है और कृत्रिम राजतंत्र वह होता है जो शत्रु को परास्त करने के बाद कोई दूसरा राज्य पराजित राज्य पर लादता है। मैकियावली का कहना था कि अपने देश का राजतंत्र तो बड़ी जल्दी अपने क्षेत्र में सुस्थिर हो जाता है लेकिन कृत्रिम राजतंत्र की समस्याएँ अधिक कठिन होती हैं।

प्रश्न उठता है कि मैकियावली गणतंत्रों को क्यों अधिक पसंद करता था। मैकियावली ने यह स्वीकार किया है कि मानव स्वभाव से ही दोषी होता है। अतः राजा को यदि दीर्घ-काल तक बहुत अधिक अधिकार दे दिये जायँ तो संभव है कि वह दोषी हो जाय। वह अपने कुछ स्वार्थों के पीछे जनता के हितों का परित्याग कर सकता है। इसके विपरीत जनता अपने हिताहित को समझती है। वह राजा से अधिक बुद्धिमान होती है। उसका मत समय की गति और सब के हितों के अनुकूल बदलता है। ह्यूम ने लिखा है कि मैकियावली के इन विचारों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि गणतंत्र अन्य प्रकार के शासनतंत्रों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। स्वयं मैकियावली ने भी लिखा है कि रोमन गणतंत्र रोमन साम्राज्यों की अपेक्षा अधिक दिनों तक जीवित रहे थे।

मैकियावली अभिजात्यतंत्र (Aristocracy) की कठोर आलोचना करता है। इसी प्रकार वह सामंततंत्र का भी विरोधी है। उसका कहना है कि उक्त वर्ग निठल्ले और आलसी होते हैं। वह हमेशा दूसरों के श्रम की चोरी पर जिन्दा रहते हैं, स्वयं कुछ भी नहीं करना चाहते। सामंतों और धनिकवर्गों के विरुद्ध वह मध्यवर्ग का समर्थन करता था। मैकियावली का कहना था कि मध्यवर्ग उत्तरदायी होता है। वह अपना हित-अहित समझता है; परिश्रम करता है और दूसरों के परिश्रम पर जिन्दा नहीं रहता। इसी सिलसिले में मैकियावली ने पोप की भी बड़ी कठोर आलोचना की है और राजनीतिक दृष्टि से पोपतंत्र को सर्वथा अनावश्यक बतलाया है।

राज्य के विस्तार की आवश्यकता—राज्य के निरन्तर विस्तृत होते रहने की आवश्यकता बतलाते हुए मैकियावली ने मानवस्वभाव की एक बार पुनः चर्चा की। उसने बतलाया कि मनुष्य का स्वभाव पारे (Mercury) की भाँति होता है। वह बराबर बढ़ते रहना चाहता है। यदि वैभव और व्यवस्था है तो राज्य को भी बढ़ना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव चंचल होता है—वह स्थिर नहीं रह सकता; अतएव ऐसी कोई वस्तु शाश्वत या दीर्घजीवी नहीं हो सकती, जो स्थिर रहे। इस सम्बन्ध में उसने रोमन साम्राज्य के पतन का भी उदाहरण दिया और बतलाया कि उस साम्राज्य के नष्ट होने का मुख्य कारण उसका सदैव एक समान बने रहना था। रोमन साम्राज्य के शासकों ने उसके विस्तार की चेष्टा नहीं की। अतः 'प्रिंस' तथा अपने दूसरे ग्रंथ 'डिसकोर्सेज' में उसने यह समझाने की चेष्टा की कि राज्य में अधिकृत प्रदेश को निरन्तर बढ़ाते रहने की आवश्यकता है। उसका कहना था कि एक ही राजा के छत्र के नीचे शासितों की संख्या निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिए। ऐसा उस समय तो बराबर ही होना चाहिए जब केन्द्रीय राजसत्ता को अपने ही देश के किसी भूमि भाग को अपने अन्तर्गत लाना हो। उपरोक्त बात मैकियावली ने इटली की दशा को देखते हुए कही थी। उसने कहा कि राजा को साम, दाम, दण्ड और भेद की चारों नीतियों को काम में लाना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़े तो सेना का प्रयोग करने से भी नहीं चूकना चाहिए। अपनी शैली में उसने वह बात यथाशक्ति समझाने का प्रयत्न किया है कि शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के भूमि भाग को बढ़ाते रहना क्यों आवश्यक है।

१६. राज्य की सुरक्षा

राज्य को सुरक्षित रखना शासक का पहला कर्त्तव्य है। मैकियावली ने विस्तारपूर्वक

बतलाया है कि शासक को यह कार्य किस प्रकार करना चाहिए। राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से मैकियावली ने राजा को सबसे पहली राय यह दी है कि उसे अपनी प्रजा की सम्पत्ति का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए। मनुष्य को सम्पत्ति सबसे प्यारी होती है। मैकियावली ने लिखा है 'मनुष्य अपने पिता की हत्या भूल सकता है लेकिन सम्पत्ति के अपहरण के कृत्य को नहीं भूलता।' इसलिए यदि राजा को विवश होकर किसी को कठोर से कठोर दण्ड भी देना पड़े तो उसे चाहिए कि वह मृत्युदण्ड भले ही दे दे लेकिन सम्पत्ति न छीने। दूसरे, राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा को उचित भाषण, गमनागमन आदि की स्वतंत्रताएँ भी प्रदान करे। तीसरे, राजा को प्रचलित परम्पराओं, प्रथाओं और लोकमर्यादाओं का भी सम्मान करना चाहिए। ऐसा करना राजा के हक में बड़ा जरूरी है। प्रजा अपनी स्वतंत्रताओं और संभवतः अपने जीवन की भी इतनी परवाह नहीं करती जितना प्रचलित रीति-रिवाजों की। चौथे, राजा को जहाँ तक बन पड़े, कम से कम राजस्व वसूल करना चाहिए। शान-शौकत तथा तड़क-भड़क के ऊपरी खर्चों के लिए राजकोष से धन नहीं लिया जाना चाहिए बल्कि उसके लिए बाहरी राज्यों पर किये गये आक्रमणों की लूटमार से प्राप्त धन पर निर्भर रहना चाहिए। पाँचवें, राजा को भाँति-भाँति की लुभावनी योजनाओं द्वारा प्रजा के मस्तिष्क को सदैव अपने काबू में रखना चाहिए। छठें, उसे कला और संस्कृति तथा साहित्य के विकास पर भी समुचित ध्यान देना चाहिए। सातवें, राजा को अत्यन्त बलवान् सेना रखनी चाहिए। इसके अलावा मैकियावली ने राजा को यह भी हिदायतें दी हैं कि वह धर्मनिरपेक्ष रहे। धार्मिक अधिकारियों को अधिक सुविधाएँ न दे और न उसको ऐसा मौका दे जिससे वे राजा या राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र रच सकें। स्पष्ट है कि यह परामर्श देते समय मैकियावली ने समकालीन इटली की अवस्था का अध्ययन कर जो निष्कर्ष निकाले थे उनसे वह पथप्रदर्शन ग्रहण कर रहा था। मैकियावली का दृढ़ मत था कि इटली तथा उसके निवासियों के अधःपतन का मुख्य कारण ईसाई धर्म तथा उसके अधिकारी थे। धर्मसत्ता का इतना कठोर विरोध मैकियावली ने इसी कारण से किया था। फिर भी मैकियावली नास्तिक नहीं था। वह धर्म का व्यक्ति के लिए महत्व समझता था। उसका कहना था कि धर्म मनुष्य को शुद्ध कर सकता है; बुराइयों से बचा सकता है; किन्तु राज्य ऐसा लौकिक संवास है जिसमें धर्म को स्थान दिये जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार मैकियावली के इन विचारों में भी परस्पर विरोधी बातें देखने को मिलती हैं।

१७. शासक के कर्त्तव्य

मैकियावली ने 'प्रिंस' के तीसरे भाग के एक अध्याय में शासक के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला है। शासक की सफलता की पहली कसौटी उसकी लोकप्रियता है। इसलिए शासक को लोकप्रिय बनने का यत्न करना चाहिए। उसे प्रजा को हर तरह से संतुष्ट रखना चाहिए। ऐसा करने के लिये तीन प्रकार की सुरक्षा आवश्यक है—जीवन की रक्षा, धन और सम्पत्ति की सुरक्षा और स्त्री का आदर।

१७·१ मैकियावली ने विस्तारपूर्वक बतलाया है कि जिस राजा के राज्य में जीवन सुरक्षित नहीं वहाँ की प्रजा कदापि संतुष्ट नहीं रह सकती और परिणामतः राज्य में सुख-शान्ति की स्थापना भी नहीं हो सकती। अतः जीवन की सुरक्षा प्रदान करना राज्य का प्राथमिक कर्त्तव्य है। यह शासक का प्रत्यक्ष और प्रथम उत्तरदायित्व है। सच तो यह है कि राजा या शासक की नियुक्ति ही इसीलिए होती है कि वह जीवन की सुरक्षा प्रदान करे।

१७·२ इसके बाद मनुष्य को अपने धन और सम्पत्ति के सुरक्षित होने का विश्वास होना चाहिए। अरस्तू की भाँति मैकियावली भी धन और सम्पत्ति को व्यक्तित्व के विकास का साधन मानता है। यदि मनुष्य को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं मिलता तो वह कदापि

उन्नति नहीं कर सकता। अतः राज्य की उन्नति की दृष्टि से प्रजा को यह अधिकार मिलना आवश्यक है। दूसरे सम्पत्ति से व्यक्ति को बड़ा मोह होता है। जैसा पहिले कहा गया है व्यक्ति अपने पिता की हत्या को भी भूल सकता है, लेकिन सम्पत्ति की हानि को नहीं। अतः राज्य को व्यक्ति की सम्पत्ति को अपहृत करने का अधिकार बहुत कम काम में लाना चाहिए।

(इ) राज्य में स्त्रियों का समादर होना चाहिए। शासक को अपना चरित्र इतना स्वच्छ और उज्ज्वल रखना चाहिए कि उसकी ओर कोई उँगली न उठा सके। शासक को कामवासना का शिकार कभी नहीं होना चाहिए। मैकियावली ने इतिहास से कई उदाहरण दिये हैं और बतलाया है कि शासक की कामुकता के कारण किस प्रकार बड़े-बड़े राज्यों का पतन हो जाता है।

१८. संप्रभुता (Sovereignty)

मैकियावली के समय तक संप्रभुता (Sovereignty) की कल्पना उतनी विकसित नहीं हो पायी थी जितनी बोदाँ तथा बाद के विचारकों के युग में। मैकियावली की प्रसंभुता-सम्बन्धी कल्पना कुछ अव्यवस्थित और अस्पष्ट सी है। उसमें जटिलता की भी कई ग्रंथियाँ हैं। वह राष्ट्र राज्य की आंशिक कल्पना सी प्रतीत होती है। वह कहता है कि शासक की शक्ति अविभाज्य (Indivisible) है; जो शक्ति अविभाज्य है उसे संप्रभुता कहा जा सकता है; शासक किसी अन्य बाह्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता; अपने राज्य के बाहर उसका किसी के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं होता; उसे किसी बाहरी शक्ति द्वारा आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

राज्य की शक्ति की उक्त व्याख्या से हमें संप्रभुता की आधुनिक कल्पना का आभास मिल जाता है। मैकियावली ने राज्य की शक्ति की इस व्याख्या द्वारा आधुनिक राष्ट्र-राज्य (Nation State) के आगमन की पूर्व सूचना दे दी थी। मैकियावली की उसके समय में तथा उसके बाद तक काफी आलोचना हुई है। लेकिन लार्ड एगडन (Lord Egdon) के शब्दों में मैकियावली के बाद जो कुछ भी हुआ—वह सब कुछ मैकियावली के लिए प्रमाणपत्र के सदृश है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि मैकियावली की मृत्यु के उपरान्त विश्व का घटनाचक्र ठीक उसी तरह से घूमा जैसी कि मैकियावली ने भविष्यवाणी की थी। लार्ड एगडन ने भी यह स्वीकार किया है कि राज्य की आज्ञा का पालन भय के कारण ही होता है। इसलिए राज्यसत्ता के आज्ञापालन का मूलभाव भी वही है। इसके सम्बन्ध में सबसे पहले मैकियावली ने ही लिखा था। बोदाँ तथा हॉब्स ने मैकियावली की संप्रभुता की जटिल और अस्पष्ट कल्पना कर सरल, सुबोध और स्पष्ट बनाया था। समाज या संप्रभुता दोनों में से किसी के बारे में भी मैकियावली व्यवस्थित विचार नहीं दे पाया है। उसकी पुस्तकें ज्ञान का वन हैं। जिस प्रकार वनों से लोग भाँति-भाँति की उपयोगी जड़ी-बूटियाँ खोज लाते हैं उसी प्रकार उसकी पुस्तकों में से भी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। संप्रभुताप्राप्त मैकियावली का शासक भी समाज और राज्य को संतुलित रखनेवाला व्यक्ति ही था।

१९. विधि (Law) की कल्पना

मैकियावली विधान मण्डल को सर्वशक्तिमान मानता है। उसकी इस कल्पना में विधि की कल्पना भी सन्निहित है। विधि के पालन के संबंध में मैकियावली ने बतलाया है कि लोग विधि के आदेशों को भय के कारण मानते हैं लेकिन मैकियावली की विधि की परिभाषा बहुत सीमित थी। वह केवल नागरिक विधि (Civil Law) के अस्तित्व को ही स्वीकार करता था। उसका कहना था कि विधियाँ शासक द्वारा बनायी जाती हैं अतएव उनका

स्रोत शासक है। शासक या राज्य की उत्पत्ति के पहले विधियाँ नहीं थीं। अराजकता (Anarchy) और विधि-व्यवस्था का अभाव (Lawlessness) पर्यायवाची शब्द हैं। अराजकता की अवस्था में समाज और राज्य के सारे अंग विश्रृंखलित हो जाते हैं। विधि का कार्य इन्हीं विश्रृंखलित अंगों के बीच सामंजस्य और समन्वय की स्थाना करना है। मैकियावली ने मध्ययुग के विभिन्न लेखकों की भाँति विधि को प्राकृतिक, ईश्वरीय, परम्परागत आदि वर्गों में विभक्त नहीं किया। नागरिक विधि की कल्पना को बतलाने के बाद उसने आगे और कुछ नहीं लिखा। इस प्रकार उसका विधि और विधानमण्डल संबंधी दर्शन भी अत्यन्त सीमित है। वह शासक को ही विधानमण्डल मानता है।

सेना का राष्ट्रीयकरण

सेनाओं के संबंध में भी मैकियावली के विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मैकियावली के समय में तीन प्रकार की सेनाएँ हुआ करती थीं :—

(अ) राष्ट्रीय सेनाएँ (National Militia),
(आ) राज्यिक सेनाएँ (State Militia) और
(इ) किराये पर लड़नेवाली सेनाएँ (Mercenary armies)।

समकालीन इटली में जितनी विदेशी फौजें लड़ने आती थीं वे सब राष्ट्रीय सेनाएँ होती थीं। ये सेनाएँ बहुधा स्पेन, फ्रांस और जर्मनी की होती थीं। इनका मुकाबिला इटली की छोटी-छोटी रियासतों की सेनाओं को करना पड़ता था। इन सेनाओं में फूट भी रहती थी। इनके अलावा कुछ सेनाएँ किराये पर भी लड़ा करती थीं। इटली की सामरिक पराजयों के कारणों का निदान करते हुए मैकियावली ने रियासती सेनाओं और किराये पर लड़नेवाली सेनाओं के बहुत-से दोष गिनाये हैं। मैकियावली का कहना था कि ऐसी सेनाएँ दब्बू, कायर, लालची और महत्वाकांक्षिणी होती हैं। इनको प्रेरणा देनेवाला लक्ष्य धन होता है——कोई राष्ट्र की सेवा का भाव नहीं। अतएव, इस प्रकार की सेनाओं पर भरोसा करके इटली राष्ट्र-राज्यों का सामना नहीं कर सकता। यदि इटली को स्वतंत्रता प्राप्त करनी है तो उसे भी फ्रांस आदि की भाँति राष्ट्रीय सेनाओं का संघटन करना चाहिए और किराये तथा अन्य प्रकार की सेनाओं पर निर्भर नहीं रहना चाहिए।

२१· राष्टीयता सम्बन्धी विचार

कहा जाता है कि आधुनिक युग में मैकियावली ही ऐसा पहला विचारक था जिसने राष्ट्रीयता के संबंध में अपने विचार प्रकट किये। किन्तु, यह कथन बड़ा विवादास्पद है। आलोचकों ने इस संबंध में बड़े परस्पर-विरोधी विचार प्रकट किये हैं। एलन का कहना है कि मैकियावली ने यह साफ-साफ नहीं बतलाया कि राष्ट्र-राज्य में कौन-कौन से अंग होते हैं। इसमें संदेह नहीं कि विचारों की अस्पष्टता मैकियावली की एक बहुत बड़ी त्रुटि है। एलन के मत के विपरीत हैरनशॉ का कहना है कि वस्तुतः राष्ट्र-राज्य का जनक मैकियावली ही था। यह बात इन अर्थों में स्वीकार की जा सकती है कि मैकियावली ने सबसे पहले राष्ट्र-राज्य की रूपरेखा दी——चाहे वह रूप-रेखा अस्पष्ट ही क्यों न थी।

२२. मैकियावली के विचारों की त्रुटियाँ

मैकियावली के विचारों में अव्यवस्था, अस्पष्टता और जटिलता के दोष तो हैं ही साथ ही विचार भी त्रुटिपूर्ण हैं। इन त्रुटियों की ओर हम स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार संकेत करते आये हैं। प्रस्तुत अनुच्छेद में विचारों के दोष और त्रुटियों को क्रमिक रूप से

संकलित किया जा रहा है। मैकियावली की असंगतियाँ भी इनसे स्पष्ट हो जायँगी। आरंभिक त्रुटियाँ इस प्रकार हैं।

२२·१ अध्ययन-पद्धति की त्रुटियाँ—मैकियावली की अध्ययन-पद्धति त्रुटिपूर्ण है। वह सम्पूर्ण इतिहास का अध्ययन कर उनसे निष्कर्ष निकालने अथवा सिद्धान्तों को मुखरित करने का कार्य नहीं करता। वह अपने पर्यवेक्षण के आधार पर सिद्धान्तों को निश्चित करता है, तथा उनकी पुष्टि के लिए इतिहास के उदाहरण देता है। यह अध्ययन-पद्धति गलत है। मैकियावली का इतिहास का अध्ययन भी सीमित था, वह केवल इटली की ही दशा का पर्यवेक्षण कर अपनी धारणाएँ बनाता था।

२२·२ मानव-स्वभाव संबंधी दोष—मानव-स्वभाव के संबंध में मैकियावली ने बतलाया है कि वह दुष्ट और स्वार्थी होता है। उसकी प्रवृत्ति सदैव बुराई की ओर रहती है। इसके बाद वह कहता है कि समाज को सुधारने को कोशिश करनी चाहिए। यहाँ वह यह भूल जाता है कि समाज व्यक्तियों के समूह से ही बनता है और जब मनुष्य स्वभाव से ही दुष्ट और स्वार्थी होता है तो फिर उसमें सुधार कैसे किया जा सकता है। य दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं जो असंगति को ओर इंगित करती हैं।

२२·३ **नैतिकता संबंधी सिद्धान्त**—नैतिकता संबंधी सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए मैकियावली एक ओर तो यह कहता है कि मनुष्य को धार्मिक, सदाचारी और सद्गुण सम्पन्न बनना चाहिए और दूसरी ओर वह शासक को ठीक इसके प्रतिकूल उपदेश देता है। नैतिकता का आधार इस प्रकार का नहीं होता। उसके सिद्धान्त सब के लिए समान होते हैं।

२२·४ **राज्य संबंधी विचारों में दोष**—मैकियावली का आदर्श राज्य गणतंत्र है। किन्तु इस गणतंत्र की आर्थिक समानता एक जरूरी शर्त है। अतः वह उसे असंभव मानकर राजतंत्र का समर्थन करता है। इस प्रकार वह निम्नलिखित दो विरोधी तत्वों में समन्वय करने का प्रयत्न करता है: (१) अत्यन्त बलवान् शासक और (२) स्वशासन योग्य जनता। जिस राज्य में अपना शासन करने योग्य जनता होगी—वहाँ बलवान शासक कैसे रह सकता है। यह परस्पर विरोधी बातें हैं, किन्तु मैकियावली इस असंगत मत को ही ठीक मानता है।

२२·५ **राष्ट्रीयता, संप्रभुता और विधि**—इसी प्रकार उसके राष्ट्रीयता, संप्रभुता और विधि संबंधी विचारों में अस्पष्टता और अव्यवस्था है। वह राष्ट्रीयता या राष्ट्र-राज्य की कोई परिभाषा नहीं देता। वह संप्रभुता की भी कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं करता। उसका विधियों का विवेचन भी सीमित है। वह केवल नागरिक विधि को ही महत्व देता है। ईश्वरीय या प्राकृतिक विधियों का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है।

२३. आधुनिक राजनीति का जनक

मैकियावली को आधुनिक राजनीति का जनक (पिता) कहा जाता है। इस रूपक-युक्त कथन का आशय यह है कि उसके विचारों ने आधुनिक राजनीतिक विचारों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इसी प्रभाव के कारण कुछ समालोचक मैकियावली को आधुनिक युग का विचारक भी बतला देते हैं और कुछ उसे मध्य युग का अंतिम विचारक मानना ठीक समझते हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि मैकियावली की अपनी स्वतंत्र स्थिति है। वह न तो केवल मध्य युग की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है और न पूर्णतः आधुनिक युग का। उसकी स्थिति ऐसे विचारक की-सी है जो दो युगों की सीमाओं पर पैदा होता है। उसमें दोनों युगों की छाया प्रतिबिम्बित होती है। जो भी हो, मैकियावली को आधुनिक राजनीति का जनक निम्नलिखित कारणों से कहा जाता है:—

२३·१ **अध्ययन-पद्धति**—मध्य युग की अध्ययन-पद्धति अतिधार्मिकता के दोषों से

परिपूर्ण थी और उसमें मूढ़ताओं और अंध-विश्वासोंका इतना अधिक बोलबाला था कि वह प्रगति या वास्तविक स्थितिकी ओर कोई ध्यानही नहीं देती थी। आधुनिकयुग के विचारकों की अध्ययन-पद्धति इस दोष से तो मुक्त है ही और उसमें निम्नलिखित गुण भी पाये जाते हैं—(१) पार्यवेक्षणात्मक (Observational), (२) यथार्थवादी दृष्टिकोण युक्त (Realistic approach), (३) वैज्ञानिकों-सी तटस्थता (Scientific detachment), (४) विश्लेषणात्मक (Analyical) और (५) ऐतिहासिक (Historical)। निषेधात्मक दृष्टि से मैकियावली ने अपनी अध्ययन पद्धति में अतिधार्मिकतावादी दृष्टिकोण का बहिष्कार किया था और थोड़ी बहुत त्रुटियों सहित अध्ययन-पद्धति के उक्त सभी गुण अपना लिये थे। मैकियावली ने समस्त मानवता की मुक्ति या विश्व-साम्राज्य की कल्पना नहीं की। उसने केवल स्वतंत्र इटालियन राष्ट्र की कल्पना की। इटली की तत्कालीन कठिनाइयों का अध्ययन कर उसने देश को आगे बढ़ाने की कोशिश की। यह बात दूसरी है कि मैकियावली के विचारों में "दूरदर्शिता" (Far-sightedness) का अभाव हो लेकिन उसकी दृष्टि सूक्ष्म और "स्पष्ट" अवश्य थी। मैकियावली के बाद के विचारकों ने लगभग उसी को अध्ययन पद्धति को अपनाया।

२३·२ **राज्य पर बल**—मैकियावली ने राज्य के महत्व पर बहुत अधिक बल दिया। उसने राज्य का जो स्वरूप निर्धारित किया वह आधुनिक राज्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। आधुनिक राज्य आजकल किसी भी बाह्य शक्ति का प्रभुत्व स्वीकार नहीं करता, वह संप्रभुता-सम्पन्न (Sovereign) होता है। राज्य की एकता पर भी विशेष बल दिया जाता है। वह स्वतंत्र इकाई (Unitary) के रूप में रहे—यह भी ध्यान रखा जाता है। धर्म को व्यक्तिगत माना जाता है। राज्य नागरिक, भौतिक और साम्पत्तिक विकास की ओर आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा अधिक ध्यान देता है। आधुनिक राज्य का अस्तित्व बिलकुल स्वतंत्र होता है। संक्षेप में आधुनिक राज्य संप्रभु (Sovereign), ऐकिक (Unitary), लौकिक, धर्म-निरपेक्ष (Secular), राष्ट्रीय (National), और स्वतंत्र अस्तित्ववान् (isolated) होता है। मैकियावली ने इटली के संबंध में जो कल्पना की थी वह बिलकुल इसी से मिलती-जुलती थी। उसके विचार थोड़े अस्पष्ट अवश्य थे किन्तु उसकी अध्ययन-पद्धति तथा विचारों से उक्त रूप-रेखा की झलक अवश्य मिल जाती है। उसने आचारशास्त्र (Ethics) और धर्म (Religion) को राजनीति से अलग कर राज्य को राष्ट्रीयता, संप्रभुता और ऐकिकता की ओर बढ़ाने में बड़ी मदद दी।

२३·३ **धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र का प्रयोग**—मैकियावली धर्महीन या दुराचारी नहीं था। अपने व्यक्तिगत जीवन में और सार्वजनिक कार्यों में उसका चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल था। वह यह नहीं चाहता था कि लोग नास्तिक हो जायँ और चारित्रिक गुणों को तिलांजलि दे दें। वह केवल राज्य को धार्मिक और आचारिकता के बंधनों से छुड़ाना चाहता था। वह धर्महीन नहीं अपितु धर्मनिरपेक्ष, आचारहीन नहीं अपितु आचारिक बंधनों से मुक्त राज्य चाहता था। उसने धर्मशास्त्र और आचार-शास्त्र को विशुद्ध व्यक्तिगत उपयोग तक सीमित रखकर व्यावहारिक राजनीति को उनके बंधनों से मुक्त कर दिया था। ऐसा करना तत्कालीन समाज के हित की दृष्टि से आवश्यक था। वह धर्म तथा आचार को राज्य से निम्न स्थान देता था और कहता था कि इनका उपयोग राज्य के हित में होना चाहिये। मैकियावली के बाद का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि कालान्तर में जो कुछ हुआ वह सब उसके मत की ही पुष्टि करता है। आज भी प्रत्येक राज्य धर्म और आचार के बंधनों से अपने आप को मुक्त मानते हुए उनका उपयोग अपने हितों के लिए करता है।

२३·४ **सीमित संप्रभुता**––वह शासक की शक्ति को आन्तरिक व्यवस्था में सर्वोच्च मानता था लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उसने शासक की स्थिति का भली भाँति अध्ययन करके कार्य करने की सलाह दी थी और इस प्रकार उसने सीमित संप्रभुता का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया था। उसने जर्मन दार्शनिक हीगल की भाँति राज्य को ही साधन और साध्य माना था। यही नहीं, उसने यह कहकर कि मनुष्य दुख से बचना चाहता है तथा सुख की कामना करता है––उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारधारा की नींव भी डाली थी।

इन्हीं सब कारणों से मैकियावली को आधुनिक राजनीति का जनक कहा जाता है।

२४. मैकियावली का अनुदाय

व्यावहारिक राजनीति और सिद्धान्त के क्षेत्र में मैकियावली के अनुदाय अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मैकियावली ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनका समकालीन राजनीतिज्ञों ने बड़ा विरोध किया। जर्मनी के तत्कालीन सम्राट् फ्रेडरिक महान् ने तो मैकियावली द्वारा अनुमोदित नीतियों का न केवल मौखिक विरोध किया अपितु एक पुस्तक भी लिख डाली। किन्तु, इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि मैकियावली की जिन नीतियों का उसने विरोध किया उन्हीं का व्यावहारिक राजनीति में अनुसरण कर सफलता प्राप्त की। समकालीन इटली ने भले ही मैकियावली की बात न मानी हो, किन्तु, ३५० वर्षों के बाद जब इटली का राष्ट्रीयकरण हो गया तो इटालियन काउण्ट केवूर ने लक्ष्यसिद्धि के साधनों की चर्चा करते हुए एक बार कहा, "हमने इटली के लिए जो कुछ किया, यदि वह हम अपने लिये करते तो हम बहुत बड़े दुष्ट होते।" इससे मैकियावली के राजनीतिक अनुदायों का और राजनीतिक क्षेत्र में नैतिकता संबंधी मैकियावली के दृष्टिकोण का औचित्य स्वतः सिद्ध हो जाता है।

२४·१ **मानव-स्वभाव संबंधी सिद्धान्त**––मैकियावली का मानव-स्वभाव संबंधी सिद्धान्त अंशतः ठीक है और जो कुछ ठीक है वह अपने स्थान पर अत्यन्त आधुनिक-सा प्रतीत होता है। मैकियावली ने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए कहा कि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था दुःख और कष्टपूर्ण थी। यह विवेचन हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था के चित्रण तथा बेंथम के उस सिद्धान्त से मिलता-जुलता है जिसमें मनुष्य को दुःख और सुख, इन दो स्वामियों के अधीन माना है।

२४·२ **प्रयोगात्मक पद्धति** (Empiric Method)––व्यावहारिक राजनीति (Comparative Polities) में जहाँ पहले सैद्धान्तिकता पर अधिक बल दिया जाता था वहाँ मैकियावली ने सबसे पहले प्रयोगात्मक पद्धति का उपयोग किया। यह प्रयोग आज भी समाजशास्त्रों के अध्ययन के लिए अनिवार्य ठहराए जाते हैं।

२४·३ **व्यक्तिवाद**––मैकियावली के पूर्व के विचारकों के सोचने पर आधार समाज था। ईसाई लेखकों ने भी यही किया। किन्तु मैकियावली ने जहाँ एक ओर राज्य को सर्वोच्च बतलाया वहाँ उसने मनुष्य को जीवन की सुरक्षा, सम्पत्ति रखने की सुविधा आदि के अधिकार भी प्रदान किये जिनसे आगे चलकर व्यक्तिवादियों ने एक स्वतंत्र सिद्धान्त का

---

१ फ्रेडरिक महान् की इस पुस्तक का नाम है *Refutation of the 'Prince' of Machiavelli*। यह पुस्तक जर्मन भाषा में है।

२ केवूर ने जो कुछ इटालियन में कहा था उसका अँग्रेजी अनुवाद है––"If we have done for ourselves what we have done for Italy, we should have been great rascals."

निरूपण ही कर डाला। लॉक ने भी मैकियावली से जीवन और सम्पत्ति की रक्षा आदि का अपने तर्कों की पुष्टि के लिए सहारा लिया।

२४·४ **नैतिकता का सिद्धान्त** (Theory of Morals)—मैकियावली ने राजनीतिक नैतिकता को व्यक्ति, समाज तथा धर्म की नैतिकता और उसके आदर्शों से सर्वथा मुक्ति दिला दी और इस प्रकार एक लौकिक राजनीति (Secular Politics) की सृष्टि की। मैकियावली द्वारा प्रतिपादित लौकिक राजनीति का सिद्धान्त आज दुनिया के प्रायः सभी राष्ट्र मानते हैं। धर्मतंत्र में विश्वास करने वाले राज्यों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक है। मैकियावली ने इस प्रकार उपयोगितावादी नैतिकता (Utilitarian Morals) की सृष्टि की।

२४·५ **राज्य की उत्पत्ति**—राज्य की उत्पत्ति को पहले दैवी माना जाता था। लेकिन मैकियावली ने बतलाया कि राज्य विशुद्ध मानवीय कृत्य (Human Act) का परिणाम है। बाद में हॉब्स, लॉक, रूसो आदि ने भी इसी सिद्धान्त का परोक्ष में समर्थन किया। आधुनिक विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि राज्य की रक्षा के लिए मनुष्य को सब कुछ करना चाहिए। उसने राज्य को लौकिक, संप्रभु, राष्ट्रीय, स्वतंत्र अस्तित्वयुक्त और ऐकिक बतलाया। राज्य की इस कल्पना को आधुनिक युग ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

२४·६ **विधि की कल्पना** (Conception of Law)—विधि की कल्पना करते हुए मैकियावली ने बतलाया कि नागरिक विधियाँ (Civil Laws) ही सर्वोच्च होती हैं। हॉब्स ने भी अपने 'लेवॉयथन' (Leviathan) में नागरिक विधियों को ही श्रेष्ठतम स्थान दिया। व्यावहारिक राजनीति के कूटनीतिक सिद्धान्त का हीगल और बोसाँके ने भी समर्थन किया है।

कूटनीतिक आचरण संबंधी नरेशों के लिए मैकियावली के सूत्रों का उसके बाद अनेक सम्राटों द्वारा पालन किया गया। **हेनरी सप्तम, विक्टर इमैनुअल फ्रेडरिक महान्** आदि के नाम इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इटली में तो राष्ट्रीयता की भावना मैकियावली के विचारों द्वारा ही जागृत हुई। इसीलिए मैकियावली को पहला इटालियन राष्ट्रभक्त, पहला देशभक्त, आदि विशेषणों से संबोधित किया जाता है। वह पहला आधुनिक राष्ट्रीयतावादी था। गणतंत्रवाद को जन्म देने का श्रेय भी मैकियावली को ही है। उसी ने सबसे पहले यह कहा कि जनमत शासक के निर्णय से कहीं अधिक उचित होता है। जनता राजा से अधिक बुद्धिमान् होती है।

उक्त सभी अनुदायों के कारण राजदर्शन के इतिहास में मैकियावली का स्थान अग्रणीय है।

[1] **इस संबंध में निम्नलिखित अवतरण उपयोगी है**— He did not demoralise politics—that had been done centuries before but he did debunk the sanctimonious cant of holy frauds in high places with a pitiless candour that is not undeserving of admiration. He must also be given credit for being a sincere and ardent patriot and one of the forbears of modern nationalism. His passion for the practical as against the theoretical undoubtedly did much to rescue political thought from the scholastic obscurantism of the Middle Ages and entitles him to recognition of the first, if not the noblest of the great pragmatists C. C. Maxey, *Political Philosophies*, p. 139

१६

सुधारवादी आन्दोलन का युग

(THE AGE OF REFORMATION MOVEMENT)

१. सुधारवादी आन्दोलन का मूल स्वरूप—२. निरंकुश राजतंत्रों की स्थापना का प्रयत्न—३. सुधारवादियों की शिक्षाएँ—४. समानता का सिद्धान्त—५. सुधारवादियों के अनुदाय—६. सुधारवादी आन्दोलन का जन्मदाता लूथर—७, मेलंथॉन और ज्विगली—८. जॉन कालविन और जॉन नॉक्स०—९. सुधारवादी आन्दोलन का असर—१०. मध्य युग में समाजवाद के तत्व।

सुधारवादी आन्दोलन का स्वरूप

सुधारवादी आन्दोलन का समय सन् १५१७ से लेकर सन् १६१८ तक माना जाता है। इटली में ज्ञान के पुनरोदय के आन्दोलन के बाद–जिसकी मूल प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व मैकियावली ने किया था—राजनीतिक विचारों के इतिहास को मोड़ने का श्रेय सुधारवादी आन्दोलन को ही है। जहाँ तक इस आन्दोलन के मूल स्वरूप का संबंध है, यह आन्दोलन धार्मिक ही था। लेकिन **मैकियावली** के बाद भी धर्म का ऐसा प्रभाव था कि उसने लोक आचरण और राजनीति को नहीं छोड़ा। सुधारवादी आन्दोलन (Reformation Movement) में आधुनिकता और मध्यकालीनता का विचित्र मिश्रण था। यदि मैकियावली के विचारों से इस आन्दोलन के प्रवक्ताओं तथा विचारकों के मतों की तुलना की जाय तो हम पाते हैं कि यह आन्दोलन मैकियावली से दो कदम पीछे ही था क्योंकि मैकियावली ने राजनीति से धर्म को बहिष्कृत करने की जो चेष्टा की थी—उसके प्रतिकूल, **मार्टिन लूथर, ज्विगली, कालविन** आदि ने एक बार पुनः धर्म और राजनीति को घनिष्ठ संबंधों में जोड़ कर मध्ययुगीन विचार को पुनर्जीवन प्रदान करने का यत्न किया। इसी आन्दोलन के जन्मदाताओं और समर्थकों ने धार्मिक आदर्शों और धर्मप्रधान राजनीति का भी प्रचार करने की चेष्टा की। उनकी आदर्श शासन (Government) की कल्पना भी मूलरूप से धर्मपुस्तकों पर ही आधारित है।[१] लेकिन सुधारवादी आन्दोलन इन अर्थों में आधुनिक भी था कि उसने लोकतंत्रवाद तथा व्यक्तिवाद को पुष्ट किया। ये दोनों ही चीजें मध्यकालीन सामूहिक जीवन (Corporate life) की कल्पनाओं के विरुद्ध थीं। इस आन्दोलन की मूल-विचार-भूमि व्यक्तिवादी भावनाओं में निहित है। ज्ञान के **पुनरोदय** (Renaissance) का आन्दोलन जहाँ इटली में आरंभ हुआ—वहाँ सुधारवादी आन्दोलन जर्मनी में आरंभ

---

१ "Sofar it (Reformation) tended to revive theoratic ideals, theological politics and appeal to scriptures in regard to the form of Government, it was a reversion to the ideals of earlier Middle Ages which were largely disappearing under the combined influence of Aristotle and renaissance. J. N. Figgs in *From Gerson to Grotius*, First Ed., p. 24

हुआ था। जर्मनी में उन दिनों बर्बर जातियों का प्राधान्य था। मध्य यूरोप के अधिकांश क्षेत्रों में वे ही बस गयी थीं। धर्म पर अधिकांशतः रोमनों का अधिकार था। रोमनों और बर्बरों के स्वभाव में कुछ ऐसा अन्तर था जो दोनों में समान आदर्शों की स्थापना नहीं होने देता था। रोमन जातियाँ जहाँ सामूहिक जीवन बिताने की अभ्यस्त थीं––वहाँ बर्बर जातियाँ एकांकी और रहस्यवादी जीवन व्यतीत करने में विश्वास रखती थीं। जब तक धर्मतंत्र प्रखर रहा, तब तक बर्बर जातियों के लोग कुछ भी न बोले, किन्तु इसके बाद जब पोपसत्ता फूट और चरित्रहीनता के कारण शक्तिहीन हो गई तो धर्मसत्ता के अधिकारियों के विरुद्ध असन्तोष की ज्वाला भड़क उठी। सुधारवादी आन्दोलन को राष्ट्र-राज्यों के उदय से भी सहारा मिला। सुधारवादियों ने मुख्यतः इस बात पर बल दिया कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिये किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति-लाभ का सबसे अच्छा तरीका आत्म-साधना है। इस प्रकार धर्म को व्यक्ति-प्रधान बना कर सुधारवादियों ने पोप और धर्मसत्ता के महल को खण्ड-खण्ड कर डाला। यह आन्दोलन शीघ्र ही जनता में इसलिए जड़ पकड़ गया कि पोपों ने उन दिनों इतने अधिक कर वसूल करने आरंभ कर दिये थे कि उससे जनता मुक्ति चाहती थी। यूरोप के नरेश भी इस बात के लिये बहुत अधिक इच्छुक थे कि किसी प्रकार मूल्यवान तथा उपजाऊ भूमि चर्च के पादरियों के चंगुल से निकल आये और उसका राज्य के हितों के लिए प्रयोग किया जा सके।

निरंकुश राजतंत्रों की स्थापना का प्रयत्न

यह तो हम बतला ही चुके हैं कि सुधारवादी युग में राष्ट्र-राज्यों का उदय होना आरंभ हो गया था। सुधारवादियों ने धर्म के व्यक्ति-प्रधान पक्ष पर बल देकर राष्ट्र-राज्यों के पनपने में सहायता दी। धर्म को व्यक्ति-प्रधान बना देने से पोप का महत्व स्वयमेव कम हो गया। इसलिए सुधारवादियों और धर्मसत्ता का संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में धर्मसत्ता ने सुधारवादियों के दमन के लिये कठोर से कठोर उपायों का अवलम्बन किया। अतः सुधारवादियों के लिए स्वाभाविक था कि वे राजसत्ता के पास अपनी रक्षा के लिये जाते। राजसत्ता ने देखा कि सुधारवादी आन्दोलन उनके हितों का पोषण करता है, इसलिए उसने उनको धर्मसत्ता के विरुद्ध समर्थन देना आरंभ कर दिया। धर्म और राजसत्ता के बीच द्वन्द्व के अंतिम कालमें जब राजसत्ता का समर्थन किया जा रहा था––उस समय लोगों ने पोप के इस अधिकार का विरोध किया कि वह प्रजा को राजभक्ति से मुक्त कर सकता है। यह कहा जाने लगा कि पोप की भाँति ही राजा को भी सत्ता सीधे ईश्वर से प्राप्त हुई है। इसलिए राजा न तो प्रजा के अधीन है और न पोप के वह केवल ईश्वर के प्रति ही अपने कृत्यों के लिए उत्तरदायी है। सुधारवादियों ने राजा की इस स्वतंत्र स्थिति का एक प्रकार से समर्थन किया। उन्होंने कहा कि प्रजा का कर्तव्य है कि वह राजा की सभी आज्ञाओं का बिना किसी विरोध के पालन करे। सुधारवादियों ने राजक्रान्ति करने के अधिकार को भी छीन लिया और विद्रोह को धार्मिक दृष्टि से पाप बतलाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुधारवादी विचारकों ने राजाओं को दोतरफा रक्षा की। एक ओर तो उन्होंने राजसत्ता को धर्मसत्ता की दासता के पास से मुक्त किया और दूसरी ओर राजसत्ता को क्रान्तियों की ज्वाला से बचाया। उन दिनों राजसत्ता विरोधी कई सशस्त्र और हिंसात्मक आन्दोलन छिड़े हुए थे। एनाबेपटिस्टों तथा कृषक युद्ध का नाम इस सिलसिले में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सुधारवादियों ने अपने मत से राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त की ऐसी व्याख्या की कि उससे निरंकुश राजतंत्रों की स्थापना को बड़ा बल मिला।

३. सुधारवादियों की शिक्षाएँ

सुधारवादियों की शिक्षाओं का स्वरूप धार्मिक था। उनकी शिक्षाओं का मूल इस प्रकार था:--(अ) साधारण जीवन बिताया जाय। धर्म के मामले में आत्म-साधना ही सर्वोत्तम है। आत्म-साधना ही आध्यात्मिक मार्गों से ईश्वर की प्राप्ति की जा सकती है। (आ) धर्मसम्मत जीवन बिताने के लिए धर्मसत्ता या पोपतंत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। पोप या कोई अन्य भौतिक शक्ति मनुष्य को पाप से मुक्त नहीं करा सकती। यह कार्य केवल ईश्वर की सहायता से ही सम्पन्न हो सकता है। (इ) धर्मग्रंथों की व्याख्या के संबंध में सुधारवादियों ने कहा कि पोप या अन्य किसी धर्माधिकारी को ही उनकी व्याख्या करने का अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह उनको पढ़े और अपनी बुद्धि के अनुसार उनकी व्याख्या करे। उन्हीं दिनों बाइबिल का हिब्रूभाषा से यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद किया गया। उस समय तक बाइबिल तथा अन्य धार्मिक ग्रंथ प्राचीन तथा शास्त्रीय ग्रीक और लैटिन भाषाओं में ही उपलब्ध हुआ करते थे। सुधारवादियों के सिद्धान्त मूलतः मध्यकालीन प्रभावयुक्त और स्कालस्टिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित थे। उनकी अध्ययन-पद्धति और शैली भी धार्मिक ग्रंथों पर आधारित थी। इस संबंध में वे टॉमस एक्वीनॉज की पद्धति का ही अनुकरण किया करते थे। पहले तो राजसत्ताधीश इन शिक्षाओं का राजनीतिक महत्व समझ न पाये लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनकी शिक्षाओं के राजनीतिक परिणामों की कल्पना ने राजसत्ता के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। सुधारवादी सबसे पहला उपदेश यह देते थे कि सादा जीवन बिताया जाय। उनका यह उपदेश बाइबिल में चित्रित ईसा के जीवन पर आधारित था। इसी के आधार पर वे पोपों की शान-शौकत और उनके सम्पत्ति आदि रखने का विरोध करते थे। इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि जनता में पोपों के विरुद्ध भावना फैली और वह यह अनुभव करने लगी कि ईसा की शिक्षाओं के अनुसार धर्माधिकारियों को सचमुच अपने पास धन और सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए। धन-दौलत से मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है। वह धर्माचरण नहीं कर पाता। प्राटेस्टेंण्टों को यह बतलाने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि पोपों का आचरण उन दिनों कितना भ्रष्ट हो गया था। राजसत्ता को सुधारवादियों की यह शिक्षा अपने अनुकूल लगी क्योंकि यदि धर्मसत्ता के हाथ से धन और सम्पत्ति निकल जाती है तो उसकी शक्ति स्वयमेव कम हो जाती है। राजसत्ता की निर्बल स्थिति को इससे बड़ी सहायता मिलती। जनता पर जो भारी-भारी धर्मस्व या धार्मिक कर लगाये जा रहे थे--वह भी बन्द हो जाते और इस प्रकार जनता का भार हलका होता। दूसरे, पोपों की शक्ति घट जाने से अपने-अपने प्रदेशों में राजाओं की स्थिति सुदृढ़ हो जाती और विश्व-साम्राज्य की धार्मिक कल्पना स्वयमेव समाप्त हो जाती। तीसरे, राजसत्ता की स्थिति अपने स्थान पर सुदृढ़ हो जाती। अतः कुल मिलाकर सुधारवादी शिक्षाओं का यह फल हुआ कि राजसत्ता के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रोत्साहन मिला, राष्ट्र-राज्य के निर्माण में सहायता मिली और धर्मसत्ता जल्दी समाप्त हो गई। इससे युग को आधुनिकता की ओर बढ़ने में बड़ी सुविधा हुई। इसके अतिरिक्त एक बात और हुई और वह यह कि व्यक्तिगत विवेक पर निर्भर रहने की भावना के प्रचार से लोकतंत्र और व्यक्तिवाद के सिद्धान्तों को आगे बढ़ने के लिये मार्ग मिला। लेकिन सुधारवादियों के व्यक्तिवाद सिद्धान्तों के प्रचार के कारण कहीं-कहीं बड़े उपद्रव फैल गये। ईसाई धर्म मानने वालों के ऐसे बहुत से सम्प्रदाय बन गये जिनमें परस्पर बड़ा सैद्धान्तिक मतभेद था। इन मतभेदों ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न कर दी। इनमें से कुछ सम्प्रदाय बड़े क्रान्तिकारी निकले। इन क्रान्तिकारी सम्प्रदायों को सुधारवादियों की शिक्षाओं से बड़ा सहारा मिला। यह

अराजकता कालान्तर में सुधारवादी आन्दोलन के मूल तत्वों के विरुद्ध जा पड़ी। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वयं सुधारवादियों की ओर से यह आवाज उठायी जाने लगी कि धर्महीनों को राजा द्वारा दण्डित किया जाय। यही नहीं, यह भी कहा जाने लगा कि धार्मिक आचरण की परिभाषा भी राजाओं द्वारा ही की जाय। राजाओं ने ऐसा किया भी। धर्म के मामले में राजसत्ता का स्वर अंतिम हो जाने का परिणाम यह हुआ कि राजा का धर्म ही प्रजा का भी धर्म हो गया।

४. समानता का सिद्धान्त

समानता (Equality) का सिद्धान्त भी आरंभ में सुधारवादी आन्दोलन द्वारा ही प्रतिपादित किया गया। सुधारवादियों के तीनों उपदेश जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है, मानव समानता की ओर ही इंगित करते थे। पहले तो यह कहा गया कि सभी मनुष्यों को धर्म के संबंध में धर्म ग्रंथ पढ़ कर अपना मत स्थिर करने का समान अधिकार है, किन्तु बाद में यह बात केवल धर्म के क्षेत्र तक ही सीमित न रही, वह राजनीति के क्षेत्र में भी घर कर गयी। फल यह हुआ कि राजनीतिक समस्याओं के संबंध में भी मतसंग्रह की पद्धति चल पड़ी और बहुमत के अनुसार कार्य किया जाने लगा।

इस प्रकार यदि हम सुधारवादी आन्दोलन के समूचे युग पर दृष्टि डालें तो हमें तीन भाग स्पष्ट दिखलाई पड़ेंगे। **पहला** लूथर का काल है; **दूसरा** कालविन का तथा **तीसरा** मानवाधिकार का। लूथर के काल में सुधारवादी अपनी प्रारंभिक अवस्था में थे। इस काल के विचार अत्यन्त अव्यवस्थित हैं। जो कुछ भी विचार प्रकट किये गये वे किसी राजनीतिक कार्य-सिद्धि को दृष्टि में रखकर नहीं। उनका उद्देश्य धार्मिक व्यवस्था में सुधार करना था, जिससे जनसाधारण को पोपतंत्र के अत्याचारों से मुक्ति मिल सके। लेकिन उन अस्त-व्यस्त विचारों का भी यह परिणाम हुआ कि राष्ट्रीयतायुक्त स्वतंत्र राजतंत्रों का जन्म और विकास होने लगा जो सब प्रकार से शक्तिशाली सिद्ध हुए। कालविन-काल की विशेषता यह थी कि उसमें राजतंत्र विरोधी तत्व भी प्रकट हो चुके थे। उसके विचारों में व्यवस्था अधिक थी। उसने इस बात पर बल दिया कि निरंकुशता किसी भी क्षेत्र में अच्छी नहीं होती—चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक। नियंत्रण और संयम के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है। कालविन ने मानव-स्वभाव की भ्रष्टता की ओर भी ध्यान आकर्षित किया और कहा—यदि पतन से बचना है तो सदैव अंकुश की आवश्यकता है। मानवाधिकार काल में—जो सुधारवादी आन्दोलन का तीसरा काल है—मानव मात्र के कुछ अधिकारों का प्रचार किया गया और बतलाया गया कि वे अधिकार ईश्वर-प्रदत्त हैं और उनको पोपसत्ता अथवा राजसत्ता किसी को भी छीनने का अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त इसी काल में एक और भी बात हुई। सुधारवादी आन्दोलन की प्रारंभिक और बाद की अवस्थाओं में शासनतंत्रों के जिन आदर्शवादी स्वरूपों की चर्चा की गयी उन सब का व्यावहारिक प्रयोग किया गया। लूथर-काल ५० वर्षों का था। कालविन-काल ६४ वर्षों का था और मानवाधिकार काल ५६ वर्षों (१५६५-१६१९) का।

५. सुधारवादी आन्दोलन का अनुदाय

सुधारवादी आन्दोलन के अनुदायों के दो स्वरूप हैं। पहला निषेधात्मक और दूसरा रचनात्मक। जहाँ तक निषेधात्मक अनुदायों का संबंध है, इस आन्दोलन ने पवित्र रोमन

साम्राज्य को समाप्त कर दिया। धर्मसत्ता और चर्च द्वारा जिस सार्वभौमिक एकता का प्रचार किया जाता था--वह भावना भी नष्ट कर दी गयी। धर्माधिकारियों के विशेषाधिकारों की समाप्ति में भी इस युग का अनुदाय उल्लेखनीय है। रचनात्मक पक्ष पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि सुधारवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीयता के बिखरे हुए तत्वों को एकता के सूत्र में ग्रंथित कर यूरोप को प्रादेशिक इकाइयों में विभक्त कर दिया। व्यक्ति तथा उसके महत्व को इसी काल में बढ़ाया गया।

सुधारवादी आन्दोलन यद्यपि जर्मनी में आरम्भ हुआ था लेकिन शीघ्र ही स्विट्जरलैण्ड, नार्वे, स्वीडेन, फिनलैण्ड, इंगलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड में फैल गया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप रोमन कैथोलिक चर्च के हाथ से उक्त सभी क्षेत्र निकल गये और इन राज्यों में प्रोटेस्टेण्ट चर्चों का निर्माण हो गया। ये चर्च पोप के अधीन नहीं थे बल्कि अपने राजाओं के अधीन थे। स्पेन तथा फ्रांस आदि देशों में फिर भी रोमन कैथोलिकों का जोर बना रहा।

६. सुधारवादी आन्दोलन का जन्मदाता –लूथर

६.१ **जीवन परिचय**--सुधारवादी आन्दोलन के प्रवर्तक मार्टिन लूथर का जन्म सन् १४८३ में हुआ था और मृत्यु सन् १५४६ में। वह जर्मन था। उसकी मूल जाति टयूटन थी। लूथर में अपनी जाति के सभी गुण थे। वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सबसे बड़ा हिमायती था और शुरू से ही बड़ा विचारशील था। उसे ऑगस्टीनियन मठ में शिक्षा मिली थी। धीरे-धीरे अपनी प्रतिभा के बल पर बढ़ते-बढ़ते वह धर्मशास्त्र का प्राध्यापक हो गया। उसने रोम की यात्रा की। वहाँ उसने पोप के दुराचारों तथा धर्माधिकारियों को धनलोलुपता के जो दृश्य देखे उससे उसे बड़ी गहरी ठेस लगी और वह पोप तथा उसके सहायकों से घृणा करने लगा। रोम से लौट कर उसने पोप के पापों का खूब भण्डाफोड़ किया और धर्म व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन के प्रताव रखे। इस व्यवस्था में पोप या धर्माधिकारियों को कोई स्थान नहीं दिया गया। इस बात से धर्मसत्ता का रुष्ट हो जाना स्वाभाविक था। लूथर को जर्मनी के सम्राट् एवं सामन्तों का समर्थन प्राप्त हो गया।

६.२ **लूथर की रचनाएँ**--लूथर ने धार्मिक प्रवचनात्मक साहित्य विपुल मात्रा में लिखा है। इन्हीं रचनाओं में उसके राजनीतिक विचार भी प्राप्त हो जाते हैं। राजनीतिक विचारों के ज्ञान की दृष्टि से उसके निम्नलिखित ग्रंथ उल्लेखनीय हैं:--

(१) 'ऑफ सेकुलर अथारिटी' (Of Secular Authority)।
(२) 'टेबिल टॉक' (Table Talk)।
(३) 'लिबर्टी ऑफ ए क्रिश्चियन मैन' (Liberty of A Christian Man) और
(४) 'लैटर टु दि जर्मन नोबिलिटी' (Letter to the German Nobility)।

६.३ **लूथर का प्रभाव**--लूथर पर जिन विचारकों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा उनमें **दाँते, वाइक्लिफ** और हस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लूथर ज्ञान के पुनरोदय के इटालियन आन्दोलन के मानवतावादियों की विचारधारा से भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। कुछ मामलों में उस पर **मार्सीलिओ** के विचारों का भी प्रभाव पड़ा था।

६.४ **लूथर द्वारा राजसत्ता का समर्थन**--लूथर ने राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच स्पष्ट अन्तर स्थापित करते हुए उसमें राजसत्ता के स्थान को श्रेष्ठतर बतलाया है। लूथर का मत था कि समस्त भौतिक पदार्थों और जागतिक क्षेत्रों में राजसत्ता का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सब उसके अधीन है। वह मार्सीलिओ की भाँति यह मानता था कि धर्माधि-

कारियों और पोप को राजसत्ता के सम्मुख कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है।[१] राजा को सामान्य नागरिक और पादरी के बीच कोई भेदभाव नहीं करना चाहिए और जहाँ आवश्य-कता पड़े वहाँ अपराधी पादरियों के विरुद्ध भी कारवाई करनी चाहिए। लूथर का यह कहना था कि धर्मसत्ता ने राजसत्ता के अधिकारों को अनुचित ढंग से दबा लिया है और जर्मनी के सामन्तों और राजसत्ताधीशों का यह कर्तव्य है कि वे उस सत्ता को पोप और उसके सहायक अधिकारियों के हाथ से छीन लें। लूथर का यह भी कहना था कि पोप को जनता से किसी भी प्रकार का कर वसूल नहीं करने देना चाहिए। उसका कहना था कि धन-सम्पत्ति, जायदाद, भूमि और सभी प्रकार के भौतिक मूल्यवान पदार्थों पर राजसत्ता का एकाधिकारिक नियंत्रण होना चाहिए। पादरी तथा अन्य धर्माधिकारी पोप के अधीन कर्मचारी हैं। उनका क्षेत्र आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में पादरियों तथा नागरिकों में चाहे जो अन्तर हो (लूथर यह अन्तर भी नहीं मानता था कि आध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वर के सामने पादरी या नागरिक का कोई अन्तर हो सकता है।) लेकिन राजसत्ता के समक्ष कोई अन्तर नहीं हो सकता। अतएव धर्माधिकारियों को कोई विशेष अधिकार नहीं मिलने चाहिए। धर्मसत्ता की स्थिति को इस प्रकार अत्यन्त निर्बल बतलाकर लूथर ने अप्रत्यक्ष रूप से राजतंत्र को सबल बनाने में बड़ी सहायता दी। लूथर की उक्त शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि राजतंत्र बाहर की किसी भी सत्ता का अधिकार नहीं मानने लगे। लूथर ने राजसत्ता की उत्पत्ति के जिस दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह यह था कि राजा धर्मसत्ता की कृपा पर आश्रित नहीं है। उनको स्वयं ईश्वर ने जन्म दिया है और उन्हें अपने स्वतंत्र अस्तित्व का अधिकार है। धर्मसत्ता और राजसत्ता में यदि किसी एक को दूसरे के अधीन रहना भी है तो धर्मसत्ता को राजसत्ता के अधीन रहना है—राजसत्ता को धर्म-सत्ता के अधीन नहीं। राजसत्ता को वह अनिवार्यतः अत्यन्त पवित्र और पूज्य मानता था। उसका कहना था कि प्रत्येक ईसाई को उस समय तक राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए जब तक राजा का पक्ष पूर्णतः गलत न हो। वह मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का समर्थक न था। लूथर का यह भी कहना था कि धर्म तथा तत्सम्बन्धी विश्वासों के मामलों में राजसत्ता को सहिष्णुता का परिचय देना चाहिए। वह यह नहीं मानता था कि धार्मिकता का प्रचार अथवा धर्महीनता का विरोध राजदण्ड द्वारा संभव है। इस संबंध में उसका कहना था कि व्यक्ति की आत्मा का स्वर ही महत्व रखता है। लूथर का कहना था कि धर्महीनता को रोकने का उपाय तलवार नहीं। वह भौतिक दण्डों का भी विरोधी था।

६.५ **अपनी परिस्थितियों का जीव लूथर**—लूथर को बहुधा अपनी परिस्थितियों का जीव बतलाया जाता है। इस कथन का आशय यह है कि मार्टिन लूथर ने आरंभ से अपने सामने कोई लक्ष्य नहीं रखा था और वह अपने विचारों को भी ज्यों-ज्यों परि-

---

१. "It is indeed past bearing that the spiritual law should esteem so highly the liberty, life and property of clergy as if aymen were not as good as spiritual Christians or not equally members of the Church." M. Luther in *Letter to the German Nobility* (Trans. by Wace and Bucheim) Werke Vol. VI., p. 410

२ "Heresy can never be kept off by force. For that another tool is needed and it is another quarrel and conflict than that of the sword. God's word must be contained here. If that avail nothing, temperal power will never settle the matter though it fill the world with blood". Martin Luther *On Secular Authority : How Far is Obedience due To it ?* (Werke, Weimar ed.) Vol. XI, p. 268.

स्थितियाँ बदलती चली गयीं त्यों-त्यों बदलता गया। वैसे तो सभी विचारक अपने मतों को परिस्थितियों के अनुकूल बदला करते हैं लेकिन लूथर ने अपने मत इतनी तेजी से बदले कि उनमें असंगति का दोष उत्पन्न हो गया। पहले-पहल जब लूथर ने धर्मसत्ता की व्यवस्था का अध्ययन किया तो उसमें उसे कुछ दोष दिखलायी पड़े। आरंभ में वह केवल इन दोषों को दूर करना चाहता था। वह धर्मसत्ता की स्थिति में किसी विशेष उलट-फेर का समर्थक न था, किन्तु बाद में सुधारवादी आन्दोलन ने कुछ ऐसी गति पकड़ी कि उसे अपने विचारों में आमूल परिवर्तन करना पड़ा। उसने धर्मसत्ता का पूर्ण विरोध करना आरंभ कर दिया और कहा कि धर्माधिकारी पूर्णत: राजा के ही अधीन हैं। इसी प्रकार राजसत्ता के संबंध में भी उसके विचारों में परिवर्तन हुआ। पहले वह निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करता था लेकिन जब जर्मन सम्राट् चार्ल्स पंचम और सुधारवादी आन्दोलन के समर्थक सामन्तों में मतभेद हो गया और दोनों पक्षों में संघर्ष की नौबत आ गयी, तो उसने अपने पक्ष के समर्थन के लिये यह कहना आरंभ कर दिया कि यदि राजा आतंक फैलाना शुरू कर दे और सरासर गलत रास्ते पर जाने का प्रयत्न करे तो उसका विरोध करना अधीनों का कर्तव्य है। लेकिन इसके बाद जब लूथर की शिक्षाओं का असर यूरोप के अन्य भागों पर फैलने लगा तथा राजाओं और पोपों के विरुद्ध विद्रोह होने लगे, सामन्तों की स्थिति भी संकटमय हो गई तथा किसानों की क्रान्तियों से अराजकता फैल गयी, तो एक बार फिर लूथर के विचारों ने पलटा खाया और उसने कहना शुरू किया कि शासनतंत्र के विरुद्ध शस्त्र उठाना पाप है। उसने प्रजा को यह सिखाया कि शासन (सरकार) चाहे न्यायी हो या अन्यायी उसके विरुद्ध हिंसात्मक कार्य करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।[1] बड़ों के प्रति सदैव आज्ञाकारिता ही दिखलायी जानी चाहिए। शासनतंत्र के प्रति अश्रद्धा या अवज्ञा का भाव सबसे बड़ा अपराध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लूथर अपने पक्ष के समर्थन में कितनी तेजी से असंगति का खतरा उठाकर भी निरंतर अपने विचार बदलता गया था।

६.६ **लूथर के विचारों की त्रुटियाँ**—लूथर के विचारों की सबसे बड़ी त्रुटि उसकी असंगति थी। एक ओर तो वह धर्म को व्यक्तिगत चीज बतलाता था और कहता था कि इस संबंध में व्यक्ति को आत्मा का ही पथ-प्रदर्शन मानना चाहिए और राजसत्ता को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मतानुकूल धर्म स्वीकार कर उसका पालन कर सके, वहाँ दूसरी ओर वह राजसत्ताधीशों को यह भी परामर्श देता था कि वे धार्मिक सहिष्णुता की एक सीमा भी निर्धारित कर दें। इस प्रकार वह राजसत्ता को नागरिकों के धार्मिक अधिकारों को भी नियंत्रित करने का अधिकार देता था। ऐसी दशा में यह किस प्रकार आशा की जा सकती थी कि मनुष्य धार्मिक मामलों में अपनी आत्मा द्वारा निर्देशित पथ का अवलम्बन करने के लिये स्वतंत्र रह सकता। दूसरे, एक ओर वह प्रजा से कहता है कि प्रत्येक दशा में उसे राजसत्ता के आदेशों का पालन करना चाहिए और दूसरी ओर कहता है कि यदि राजसत्ता सर्वथा अनुचित आज्ञा दे तो उसका विरोध किया जाय।

---

[1] "It is no wise proper for anyone who would be a Christian to set himself up against the govenment whether it act justly or unjustly. There are no better works than obey aud serve all those who are set over us as superiors. For this reason also disobedience is a geater sin than murder, theft and dihonesty and all that these may include." M. Luther in *Good Works* (Trans. by W. A. Lambert) Vol. VI, p. 250.

ये दोनों बातें एक दूसरे का खण्डन करती हैं। लूथर का कहना था कि उसकी शिक्षाओं का आधार धर्मग्रंथ हैं। लेकिन उसके राजनीतिक सिद्धान्तों से यह बात सिद्ध नहीं होती। उदाहरण के लिये लूथर ने कहा कि धर्मग्रंथों के अनुसार सब को अपनी आत्मा द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने का अधिकार है। उस समय किसानों ने जब इस सिद्धान्त पर चलकर यह अनुभव किया कि उनकी अवस्था खराब है और अपनी दशा में सुधार करने के लिए उन्हें राज्य के विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए तो लूथर ने कृषकों के इस विद्रोह का समर्थन न कर राजाओं और सामन्तों का समर्थन किया। उसने यह तो माना कि किसानों का पक्ष ठीक है लेकिन वह इसके लिए राजी न हुआ कि उन्हें विद्रोह का अधिकार दिया जाय। अतएव, स्पष्ट है कि लूथर के विचारों में मौलिक त्रुटियाँ थीं। उसकी दृष्टि निष्पक्ष नहीं थी। वह एक वर्ग के स्वार्थों की ओर अधिक झुक गया था। दूसरे, लूथर ने धर्मसत्ता और पवित्र रोमन साम्राज्य का तो अन्त कर दिया और इस प्रकार नागरिकों को द्वैध सत्ताओं से मुक्ति दिला दी लेकिन वह यह विश्वास नहीं करता था कि लौकिक जगत में सभी व्यक्ति समान हैं। उसका कहना था कि कुछ लोगों को अनिवार्यतः दूसरों की आज्ञा का पालन करने के लिए ही पैदा किया जाता है क्योंकि सभी आज्ञा देने योग्य नहीं होते। अतः शासकों का दर्जा ऊँचा है और शासितों की नीचा। लूथर का यह मत अपने युग की व्यवस्थाओं के अनुरूप ही था। उन दिनों की सामाजिक व्यवस्था में दासता को बुरा नहीं समझा जाता था। यही कारण है कि लूथर ने समानता का समर्थन नहीं किया।

६.७ **लूथर के विचारों का उत्तराधिकारियों पर प्रभाव और उसके अनुदाय**––लूथर ने अपने राज्य संबंधी सिद्धान्त में यह स्पष्ट किया कि राज्य दैवी है। उसकी सत्ता सर्वथा मान्य और पवित्र है। उसे पूज्य समझना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। लूथर के राज्य संबंधी इस मत का प्रभाव उसके उत्तराधिकारियों पर बहुत अधिक पड़ा। लूथर के बाद ही गलत था आधुनिक काल के अनेक विचारकों ने राज्य के संबंध में उसके मत का प्रतिपादन किया। हीगल ने तो राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का साक्षात् अवतार बतला दिया। इसी कारण अनेक लेखकों ने लूथर को हीगल आदि का आध्यात्मिक गुरू भी बतलाया है।[1] लूथर ने राजनीति को तीन अत्यन्त प्रमुख अनुदाय दिये वे हैं––(क) लूथर ने समाज और राज्य के प्रति ईसाई मात्र में विनयपूर्ण आज्ञाकारिता का भाव उत्पन्न किया, (ख) उसने राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच अत्यन्त स्पष्ट अन्तर स्थापित किया और (ग) उसने कहा, राजसत्ता रोमन साम्राज्याधीश या पोप किसी के भी अन्तर्गत नहीं है। उसके यह तीनों अनुदाय समय की आवश्यकता को देखते हुए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए इसमें संदेह नहीं कि उनसे तत्कालीन समाज को पोप के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त हुई और वह धर्मसत्ता के आर्थिक शोषणों से मुक्त हो सका। वह राज्य को एकता का गुण दे सका तथा उसका सभी प्रकार के बाह्य बंधनों से मुक्त कर सका।[2] आधुनिक राज्यों की प्रगति के लिये यह एक बड़ी भारी आवश्यकता थी।

[1] "Luther is as much the spiritual ancestor of the high theory of the state as of the Jesuits and their allies are of narrower utilitarian theory". J. N. Figgis in *From Gerson to Grotius.* p. 77

[2] "The unity and universality and essential rightness of the sovereign territorial state and the denial of every extra territorial or independent communal form of life are Luther's lasting contribution to politics." J. N Figgis in "*From Gerson to Grotius,* p. 91.

७. मेलंकथाँ और ज्विगली (Melanchthon and Zwingli)

७·१ **मेलंकथाँ**—का जन्म सन् १४९७ में हुआ था और मृत्यु ६३ वर्ष की आयु में सन् १५६० में। मेलंकथाँ भी जर्मन था। उसने मार्टिन लूथर से शिक्षा प्राप्त की थी। लूथर की अपेक्षा उसके विचारों में अधिक गंभीरता, संगति और व्यवस्था है। राजनीति तथा धर्मशास्त्र के विषयों का तो उसे अच्छा ज्ञान था ही—साथ ही उसने रोमन विधि संहिताओं का भी गहरा अध्ययन किया था।

मेलंकथाँ की विचारधारा उदारतावादी है। उस पर अरस्तू के राजनीतिक दर्शन का तो प्रभाव पड़ा ही है साथ ही ज्ञान के पुनरोदय (Renaissance) के आन्दोलन का भी बड़ा प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि लूथर की अपेक्षा मेलंकथां में मानवतावादी दृष्टिकोण अधिक मिलता है।

मेलंकथाँ का कोई उल्लेखनीय ग्रंथ नहीं है किन्तु उसके विचारों का संग्रह 'ओपेरा' (खण्ड १६) में मिलता है।

जिन विचारों का प्रतिपादन मेलकथां ने किया उनमें उसके प्राकृतिक विधि (Natural Law) संबंधी विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस संबंध में मेलंकथां का कहना था कि प्राकृतिक विधियों का मूल स्रोत मानवीय प्रकृति ही है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के मस्तिष्क में कभी-कभी कुछ ऐसी कल्पनाएँ भी आ जाती हैं जो साक्षात् दैवी कृपा का ही परिणाम होती हैं। उसने मानवीय-प्रकृति को 'डीकेलॉग' (Decalogue) की संज्ञा दी है। इस संबंध में उस का कहना है कि मनुष्य के जो भी संवास या नियम उक्त मानवीय-प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट प्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं वे मानवीय विधियों के अनुकूल होते हैं। इनसे सब का हित होता है, अहित हो ही नहीं सकता।

प्राकृतिक विधियों के आधार पर ही मेलंकथाँ ने निजी सम्पत्ति और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के सिद्धान्तों का समर्थन किया। उसका कहना था कि व्यक्ति को अपने श्रम से अर्जित धनराशि को सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित कर लेने का अधिकार है। इसीलिए उसने, धर्म-ग्रंथों के उद्धरण देकर, यह भी सिद्ध किया कि उनम चोरी करना अर्थात् दूसरे के श्रम से लाभ उठाना वर्जित है।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में उस का मत था कि वह प्राकृतिक विधियों का परिणाम है, इसलिये वह ईश्वरीय है। ऐसा संवास जो कुछ भी करेगा—वह सबके हित में होगा। राज्य के कर्तव्यों के संबंध में मेलंकथाँ ने बतलाया कि उसका प्राथमिक कार्य शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर उसकी रक्षा करना है।

राजसत्ता और धर्मसत्ता के संबंध में मेलंकथाँ ने धर्मसत्ता को राजसत्ता के अधीन बतलाते हुए कहा कि राज्य का कर्तव्य सच्चे धर्म का प्रचार करना भी है। नागरिक का आचरण नैतिक हो—इसको देखभाल राज्य को ही करनी चाहिए। यदि सम्पत्ति का दुरुपयोग किया जा रहा हो तो उसे अपने अधिकार में ले लेना राज्य का कर्तव्य है। उसने दासता का भी समर्थन किया। धर्म के संबंध में उसका कहना था कि धर्माधिकारियों या पादरियों को दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं मिलना चाहिए। वह राज्य के राष्ट्रीय स्वरूप का समर्थक था।

वह शासन के स्वरूपों में अपने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के कारण राजतंत्र को अच्छा

समझता था लेकिन बाद में उसने अपने विचार बदल दिये और वह आभिजात्यतंत्र का पोषक हो गया।

मेलंकथां की विचारधारा में भी लूथर की भाँति कुछ असंगतियाँ थीं। एक ओर तो वह राज्य को ईश्वरीय कृपा का फल समझते हुए यह कहा करता था कि उसकी आज्ञा का पालन सबको करना चाहिए; किन्तु दूसरी ओर वह यह भी कहता था कि यदि प्रजा प्रोटेस्टेण्ट हो और राजा कैथोलिक तो प्रजा को राजा का विरोध करने का अधिकार है। अतः स्पष्ट है कि वह इस संबंध में साफ-साफ कोई मार्ग प्रदर्शित नहीं कर सका।

अलरिच ज्विंगली (Ulrich Zwingli)

अलरिच ज्विगली स्विस विचारक था। उसका जन्म सन् १४८४ में ज्यूरिच में हुआ था। वह लूथर का समकालीन था और स्विट्जरलैण्ड में सुधारवादी आन्दोलन का प्रवर्तक था। अन्य सुधारवादी विचारकों की अपेक्षा ज्विगली के विचारों में राजनीति का स्पर्श अधिक मिलता है और धार्मिकता कम। ज्विगली ने इटली की यात्रा की थी। यह किराये पर लड़ने वाली सेनाओं में भी काम कर चुका था और रोम में यह देख आया था कि पोप सत्ता कितने भोग-विलास में पल रही है। इसका उस पर बड़ा असर पड़ा। वह यह नहीं चाहता था कि धर्मसत्ता के अधिकार में दण्ड के अधिकार रहें। अपने इसी सिद्धान्त की रक्षा के लिये उसने युद्ध किया। इस प्रकार का युद्ध स्विट्जरलैण्ड के रोमन कैथोलिक कैण्टनों तथा ज्यूरिच के बीच सन् १५३१ में हुआ। इसी युद्ध में वह मारा भी गया।

ज्विगली ने मेलंकथाँ की भाँति अलग से कोई ग्रन्थ नहीं लिखा किन्तु उसकी स्फुट रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है। इसी संग्रह से हमें उसके राजनीतिक विचार उपलब्ध होते हैं।

ज्विगली की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ लूथर से कहीं अधिक क्रान्तिकारी थीं। लूथर और मेलंकथाँ की भाँति उस पर भी इटालियन मानवतावादी आन्दोलन का प्रभाव पड़ा था। शास्त्रीय साहित्य—विशेषकर अरस्तू आदि के राजदर्शन से वह बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। रोमन विधियों का भी उसने अध्ययन किया था।

ज्विगली अपने देश की इटालियन नैतिक अधःपतन से रक्षा करना चाहता था। वह लोकसत्ता का समर्थक था और इन अर्थों में हम उसे लोकतंत्रवादी भी कह सकते हैं। वह यह नहीं चाहता था कि इटली की भाँति स्विट्जरलैण्ड भी नैतिक भ्रष्टाचारों का केन्द्रस्थल बन जाय। वह राष्ट्रीयता का पोषक था और इसी आधार पर राज्य के शासनतंत्र का सुधार भी करना चाहता था। लेकिन उसका प्रभाव अपने प्रदेश तक ही रहा।

धर्मसत्ता और राजसत्ता के संबंध में उसका मत लूथर से भिन्न नहीं था। वह यह मानता था कि धर्मसत्ता को राजसत्ता के अधीन रहना चाहिए और धर्म के मामले में राज्य को सहिष्णुता प्रकट करनी चाहिए किन्तु वह राज्य की धर्म संबंधी सहिष्णुता का एक सीमा तक ही समर्थक था। उसका कहना था कि जब सहिष्णुता की वजह से धर्मग्रंथों

---

१ "His theory as to the distinction in kind between spiritual and secular institutions and authority was not essentially different from that of Luther —W.A. Dunning in *Political Theories*, Vol. II ,p24.

की शिक्षाओं का उल्लंघन होने का खतरा हो उस समय राज्य की सहिष्णुता की नीति का परित्याग कर देना चाहिए। उसने अपने मतानुसार सुधार विधिविहित साधनों द्वारा करवाये थे। यद्यपि वह स्वयं ज्यूरिख की विधानसभा का सदस्य नहीं था किन्तु उसके विचारों से विधानसभा के सदस्य इतने अधिक प्रभावित थे कि अनेक विधियाँ (Laws) और अधिनियम ज्विगली के विचारों के अनुसार ही बने। वह यह मानता था कि राज्य को समाज के राजनीतिक और धार्मिक जीवन को नियंत्रित करने का अधिकार है। राज्य को नागरिक के आध्यात्मिक जीवन पर भी बाह्य नियंत्रण रखना चाहिए। वह ईसाई चर्च को सन्तों का समाज मानता था और कहता था कि आध्यात्मिक दृष्टि से यह समाज चाहे जितना श्रेष्ठ हो लेकिन लौकिक जीवन में उसे राज्य की सत्ता का नियंत्रण स्वीकार करना ही होगा। इस प्रकार उसने चर्च और राज्य को एक साथ विलयित कर दिया था। राज्य के जिन कर्तव्यों की चर्चा ज्विगली ने की है, उनमें से एक यह भी है कि राज्य धर्महीनता न बढ़ने दे। वह इस बात का भी समर्थक था कि प्रजा को राज्य की आज्ञाओं को दैवी समझ कर उनका बिना किसी आपत्ति के पालन करना चाहिए। उसने एक ऐसे राज्य की कल्पना की जिसका शासन एक राजतंत्र के हाथ में हो। इस राजतंत्र की आज्ञाओं का सर्वत्र पालन किया जाय। ज्विगली का आदर्श राज्य एक ऐसा "ईसाई राष्ट्रमंडल" था जिसमें सभी धर्मनिष्ठों से राजकार्य में सहयोग की आशा की जाती थी। नागरिक शासन के लिए उत्तरदायी अधिकारी भी नागरिकों के सहयोग पर ही प्रशासन के लिए निर्भर करें। ज्विगली की इस भावना में उसकी प्रजातंत्रवादियों जैसी मनोवृत्ति की मुद्रा स्पष्ट रूप से अंकित प्रतीत होती है। वह चाहता था कि एक बार पुनः एक ऐसा समाज स्थापित हो सके जिसमें प्राचीन ईसाई समाज का प्रतिविम्ब स्पष्टतः झलकता रहे।

स्विट्जरलैण्ड को प्रजातंत्रवादी मार्ग पर अग्रसर कराने में ज्विगली का बड़ा हाथ था। उसने सुधार कराने के लिए जो कार्य किये उनके पीछे चाहे उसके कोई मौलिक विचार रहे हों या नहीं, किन्तु इतना सत्य है कि विचारों से अधिक उसकी कार्य पद्धतियों का प्रभाव पड़ा। उसने यह सिद्ध कर दिया कि सुधार कार्य बिधानसभाओं और राजनीतिक साधनों द्वारा अधिक अच्छी तरह किये जा सकते हैं। लूथर या मेलंकथाँ के पास न तो वे साधन ही थे और न ज्विगली की भाँति उन साधनों को जुटाने की कल्पना ही थी।

८. जॉन काल्विन (John Calvin) और जॉन नॉक्स (John Knox)

८ १ **जीवन परिचय**—जॉन कालविन का जन्म फ्रांस के पिकार्डी (Picardy) नाम के नगर में सन् १५०९ में हुआ था। उसने अपनी आरंभिक शिक्षा के बाद कानून का अध्ययन कर तत्संबंधी उपाधि ग्रहण की। उसने धर्मशास्त्र और राजनीति का भी गहरा अध्ययन किया। उसने समकालीन व्यवस्थाओं का अध्ययन कर यह परिणाम निकाला कि धर्म और राजसत्ता में व्यवस्थित सुधार की आवश्यकता है। इस आवश्यकता के अनुरूप ही उसने अपने विचार प्रकट किये। उसके यह विचार कालान्तर में इतने अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए कि सुधारवादियों में उसे सबसे बड़ा विचारक माना जाने लगा।

---

1 He conceived "of a divine right monarchy receiving passive obedience from its subjects (And in which the faithful should co operate in establishing and administering the civil authority W. A. Dunning, *Political Theories*, Vol. II, p. 26

वह अपने कुछ विचारों के कारण फ्रांस से निकाल दिया गया। फलस्वरूप, वह स्विट्जरलैण्ड के एक नगर जेनेवा में जाकर रहा। वहाँ के लोगों ने उसका बड़ा स्वागत किया और शासनतंत्र की बागडोर पूर्णतः उसके हाथ में सौंप दी। सन् १५६४ में उसकी मृत्यु हो गई।

कालविन के राजनीति संबंधी मूल विचार उसकी फ्रेंच भाषा में लिखित पुस्तक "इस्टीटयूट्स ऑफ दि क्रिश्चियन रिलिजन" में मिलते हैं। यह पुस्तक सन् १५३५ में प्रकाशित हुई। इसमें समकालीन विधियों का कालविन पर पड़ा प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। कालविन पर लूथर, मेलंकथाँ तथा ज़्विंगली के विचारों का भी काफी प्रभाव पड़ा था और उसने इस संबंध में लिखा भी है।

८·२ **प्राकृतिक-विधि संबंधी मत**—अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्राकृतिक विधियों के संबंध में प्रकट किये गये मतों पर कालविन का बहुत अधिक विश्वास था। वह यह मानता था कि मानव-समाज की जितनी नैतिक विधियाँ हैं—वे सब प्राकृतिक विधियों का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। इसका अभिप्राय यह था कि नागरिक विधियों को मूलतः नैतिक विधियों (Moral Laws) द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अवलम्बन करना चाहिए। जो नागरिक विधि (Civil Law) इन प्राकृतिक विधियों द्वारा अनुमोदित नैतिक विधियों के अनुकूल नहीं हैं—कालविन ने उनको मानने की सलाह नहीं दी। कालविन यह भी मानता था कि प्राकृतिक विधियाँ मनुष्य मात्र को कुछ ऐसे प्राकृतिक अधिकार भी देती हैं जिनका उल्लंघन राज्य या चर्च किसी को भी नहीं करना चाहिए। इन प्राकृतिक अधिकारों में वह एक अधिकार यह भी मानता था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने मतानुसार पूजा-पाठ का अधिकार है।

८·३ **राज्य की उत्पत्ति**—कालविन ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में जिस सिद्धान्त का निरूपण किया है उसमें दो मूल तत्वों की प्रमुखता है। वह यह मान कर चलता है कि ईश्वर की सत्ता सर्वथा संप्रभु है, वह सर्वोच्च है और उसमें किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप किसी भी मानवीय संस्था द्वारा नहीं किया जा सकता। दूसरे, कालविन यह मानता है कि मानव स्वभावतः दोषी है। उसकी प्रवृत्ति सदैव पतन की ओर रहती है और इस प्रवृत्ति का कारण उसका स्वार्थी स्वभाव है। मानव-समाज के अधिकांश व्यक्ति विभिन्न प्रकार की बुराइयों से ग्रस्त हैं। यदि मानव-समाज को नियंत्रणहीन छोड़ दिया जाय तो मनुष्य ऐसी अवस्था में पहुँच जायगा जहाँ उसकी कोई भी चीज सुरक्षित नहीं रह सकती। इस अव्यवस्था को दूर कर सुरक्षा की मानवीय भावना में राज्य की उत्पत्ति का रहस्य निहित है। कालविन का कहना है कि "जहाँ तक इस नश्वर (लौकिक) जीवन का संबंध है राज्यसत्ता का अधिकार अत्यन्त पवित्र तथा मान्य है।"

८·४ **राज्य के कर्तव्य**—इसके बाद कालविन राजसत्ता के कर्तव्यों की चर्चा करता है। वह कहता है कि धर्म ही राज्य की आत्मा है। जिस प्रकार शरीर आत्मा के बिना बेकार रहता है ठीक उसी प्रकार धर्म के बिना राज्य का कोई महत्व नहीं। इसलिए धर्म की रक्षा करना राज्य का पहला कर्तव्य है। यदि राज्य के हित में चर्च द्वारा किसी ऐसे कार्य की आवश्यकता प्रकट की जाती है जो मूलतः धार्मिक है तो शासक का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वह उस कार्य को पूरा करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो राज्य का

लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता।[1] राजा द्वारा इस कर्तव्य की पूर्ति किये जाने के पश्चात् उसका दूसरा कार्य शांति और व्यवस्था की रक्षा करना है। **कालविन** का कहना था कि इस कार्य में राजा की सहायता करना ईसाई मात्र का कर्तव्य है। यहाँ पर शासक के कर्तव्यों के प्रसंग में ही कालविन ने शासक और जनता के संबंध पर भी प्रकाश डाला। कालविन ने कहा कि राज्य के प्रति सविनय आज्ञापालन (Passive Obedience) का भाव रखना प्रत्येक शासित का कर्तव्य है। कभी-कभी शासक अत्याचारी भी होता है। वह बुरे कार्य भी करता है तब भी प्रजा का यह कर्तव्य है कि वह उन सब को सहन करती हुई शासक को सम्मान प्रदान करे; लेकिन यदि राजा विधियों का भो उल्लंघन करे तो प्रजा को विद्रोह का अधिकार है। जहाँ तक कालविन के सविनय आज्ञापालन के सिद्धान्त का संबंध है उसने लूथर का अनुसरण किया है, किन्तु लूथर के प्रतिकूल उसने प्रजा को विद्रोह का अधिकार दे दिया है। परन्तु विद्रोह का यह अधिकार सीमित है। जब तक राजा किसी प्राकृतिक विधि का उल्लंघन न करे तब तक उसके खिलाफ विद्रोह नहीं किया जा सकता।

८·५ **धर्म और राज्य**——धर्म और राज्य के संबंध में भी **कालविन** के विचार अत्यन्त सुलझे हुए और स्पष्ट थे। वह धर्म और राज्य का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार करता था और कहता था कि दोनों का कार्यक्षेत्र सर्वथा अलग-अलग हैं। दोनों को विधियों द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र में रहते हुए अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। धर्म और राज्य दोनों को कार्यक्षेत्रों के विधि के अनुसर विभक्त करके कालविन ने सचमुच एक बड़े सुधारवादी विधि-निर्माता का कार्य किया है। वह धर्म का बड़ा भक्त था और उसकी प्रमुख पुस्तक 'इन्स्टीट्यूट्स' का सार भी यही है कि एक सच्चे ईसाई को किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिए। चरित्र और जीवन निर्माण के संबंध में अपनी पुस्तक में कालविन ने बाइबिल के बड़े-बड़े और लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये हैं। कालविन के मस्त जीवन-दर्शन (Philosophy of Life) का आधार यही था कि उसमें सत्ता के प्रति——चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक——आज्ञाकारिता का भाव रहना चाहिए। अधिकारियों के प्रति विनम्रता और आज्ञाकारिता का भाव, कालविन ने ईसाइयों की सबसे बड़ी पहिचान बतलाई है। वह धर्म और राज्य के संबंध में कहता था कि इन दोनों को मिलाकर कोई संयुक्त रूप नहीं दिया जा सकता। उसने धर्मसत्ता के कार्यों की व्याख्या करते हुए उसके क्षेत्र का भी स्पष्ट निर्देश किया। उसका कहना था कि (क) धर्मसत्ता के ज्येष्ठ और वृद्ध पादरियों की एक सभा होनी चाहिए जो धर्मसत्ता से संबंधित लोगों के आचरण का मान-दण्ड निर्धारित करें; (ख) धर्मसत्ता को किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड देने का अधिकार नहीं होना चाहिए। यह अधिकार केवल राजसत्ता को है; (ग) धर्मसत्ता यदि यह समझती है कि कोई व्यक्ति सर्वथा धर्महीन हो गया है तो वह उसे धर्महीन घोषित कर अधिक से अधिक धर्मबहिष्कृत कर देने का अधिकार रखती है और (घ) सभी राज्यों में अलग-अलग उच्चतम अधिकारी होने चाहिए।

---

[1] "It is the purpose of the temporal rule, so long as we live among men to foster and support the external worship of God to defend pure doctrine and the standing of the church to conform our lives to human society, to mould our conduct to civil justice, to harmonise us with each other, and to preserve the commonplace tranquillity," John Calvin in *The Justitutes of the Christian Religion*, IVXX, 2.

राजसत्ता के क्षेत्र को भी **कालविन** ने इसी प्रकार निर्धारित किया। उसने कहा कि (क) धर्माधिकारियों की भौतिक आवश्यकताओं की देख-रेख करना राजसत्ता के अधिकारियों का पहला कर्तव्य है, (ख) शांति और व्यवस्था की रक्षा करना राज्य का दूसरा प्रधान कर्तव्य है, (ग) लोगों की सम्पत्ति की रक्षा भी राज्य द्वारा ही की जानी चाहिए (घ) इसके अलावा मूर्तिपूजा तथा धर्म-विरोधी कार्यों को रोकना भी राज्य का कार्य है।

८·६ **'जेनेवा' प्रयोग**—फ्रांस से निष्कासित किये जाने के बाद **कालविन** ने जेनेवा में जाकर अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने का यत्न किया। जेनेवा निवासियों द्वारा उसे वहाँ शासन को लगभग सभी शक्तियाँ दे दी गई। लेकिन धर्मसत्ता और राजसत्ता को पृथक्-पृथक् रखने का उसका सिद्धान्त प्रादेशिक संकीर्णता के कारण सफलता प्राप्त न कर सका। उसने शासन का आधार नैतिक विधियों को माना। वह किसी भी प्रकार की धर्महीनता के कार्य या प्रदर्शन को अत्यन्त दण्डनीय मानता था। उसने राजसत्ता को धर्मसत्ता की इच्छा की पूर्ति का साधन बना दिया। वह लोगों को अनैतिक आचरण या धर्म विरोधी आचरण के अपराध में मृत्यु-दण्ड तक दे दिया करता था। इस प्रकार कालविन के सिद्धान्तों ने एक प्रकार से जेनेवा में आतंक-सा फैला रखा था।

८·७ **कालविन के विचारों का प्रभाव**—कालविन को सुधारवादियों का सबसे बड़ा नेता माना जाता है, यद्यपि वह प्रजातंत्रवाद को पसन्द नहीं करता था। उसका झुकाव आभिजात्यतंत्र की ओर अधिक था। वह जनता की व्यक्ति-स्वातंत्र्य की माँगों से सहमत नहीं था। वह शासन-कार्य में किसी भी प्रकार की बाधा को बरदाश्त नहीं करता था। इतने पर भी एक विचित्र बात यह है कि व्यावहारिक क्षेत्र में कालविन के विचारों का असर बिलकुल उल्टा हुआ। उसके विचारों को सबसे पहले फ्रांस तथा स्कॉटलैण्ड में ग्रहण किया गया। इसके बाद वह हालैण्ड तथा इंगलैण्ड आदि में भी फैले। लेकिन वे जहाँ-जहाँ भी पहुँचे वहाँ-वहाँ व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना को सबल बनाने में उन्होंने मदद पहुँचायी। यह कितने आश्चर्य की बात है कि लूथर जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य का समर्थक था उसके सिद्धान्तों से उक्त भावना का दमन हुआ और कालविन जिसके विचार भिन्न थे—उनसे व्यक्ति-स्वातंत्र्य को सहारा मिला। इसी प्रकार कालविन के विचारों से प्रजातंत्रवाद की भावना भी पुष्ट हुई।[१] कालविन के विचारों से विधि का शासन (Rule of Law) स्थापित करने में बड़ी मदद मिली। यह कालविन का बड़ा जबर्दस्त अनुदाय था। कालविन के प्रभाव से जनता को अधिकारों और विशेषाधिकारों की प्राप्ति हुई; राजतंत्र पर अंकुश लगा और यह मान लिया गया कि शासक और शासित दोनों ही एक उच्चतर विधि के अधीन हैं।[२] कालविन के विचारों के परिणामस्वरूप ही कालान्तर में धर्म और राज्य की बिलकुल स्वतंत्र स्थिति हो गयी और अपने आन्तरिक मामलों में दोनों ही स्वतंत्र हो

I " While Luther was the theologian, Melanchthon the philosopher and Zwingli the politician, Calvin was distinctly the law-giver of the Reformation" W. A. Dunning in *Political Theories*. Vol. II, p. 26.

2 "In France, the Netherlands, Scotland and England they (Calvinists) worked out theories by which God's elect should be secure in their rights and privileges, definite limits should be placed upon royal authority and buth ruler andsubject should be controlled by a higherlaw". R. G. Gettell in *History of Political Thought*, p. 156.

गये। धर्मसत्ता को राज्य के आन्तरिक मामलों में और राज्य को धर्मसत्ता के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न रहा।

८·८ **जॉन नॉक्स** (John Knox)—जॉन नॉक्स स्काटिश विचारक था। वह कालविन का समकालीन था और उसने स्काटलैण्ड के सुधारवादी आन्दोलन का नेतृत्व किया। अपने विचारों के लिये वह दण्डित भी किया गया और उसे देश निष्कासन का दण्ड मिला। उसके लिखे हुए दो ग्रंथ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) एपोलेशन्स (Appellations) और (२) सेकेण्ड ब्लास्ट ऑफ दि ट्रम्पेट (The Second Blast of the Trumpet)।

जहाँ तक विचारों का संबंध है जॉन नॉक्स के विचार बहुत कुछ कालविन से मिलते-जुलते हैं। वह कालविन के इस मत को मानता था कि गिरजा तथा पादरियों का प्रमुख कार्य ईसाइयों के धार्मिक जीवन को नैतिक अनुशासन के बंधन में ग्रथित करना है। इस संबंध में कालविन की ही भाँति नॉक्स के विचार भी कठोर थे। उसका भी कहना था कि जो धर्म का अनुशासन न माने उसे कानून न ऐसा करने के लिये विवश किया जाय। उसने शासक और शासितों के संबंधों को कालविनवाद की रेखाओं पर चलते हुए एक नया रूप दिया। उसने बतलाया कि शासक यदि दैवी वचनों के विरुद्ध आचरण करता है तो प्रजा का कर्तव्य है कि वह उसके विचारों तथा उसकी सत्ता का विरोध करे। वह यह नहीं मानता कि यदि राजा धर्महीन हो और धर्मग्रंथों के आदेशों के विरुद्ध आचरण करे तब भी उसकी आज्ञाओं का पालन अनिवार्य रूप से किया जाय। उसका यह भी मत था कि धर्मादेश राजा और रंक दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। उसने एकाध स्थान पर यह भी मत प्रकट किया है कि राजा को सत्ता शासितों के समाज से प्राप्त होती है। इसलिये राजा को शासितों के विश्वास के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो शासितों को भी उसे अपदस्थ कर देने का अधिकार है। किन्तु नॉक्स की यह कल्पना अधिक विकसित नहीं हुई। इसका विकास हमें लॉक के सिद्धान्तों में आगे चलकर मिलेगा। लॉक में और नॉक्स में यही अन्तर है कि नॉक्स ने जहाँ एक ओर विद्रोह के अधिकार को धार्मिक रूप दिया वहाँ लॉक ने उसे राजनीतिक बाना पहना दिया।

९· सुधारवादी आन्दोलन का प्रभाव

सुधारवादी आन्दोलन से यूरोप का कोई भी देश अछूता नहीं रहा। मूलतः सुधारवादी आन्दोलन का स्वरूप धार्मिक था फिर भी उसका राजनीति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सुधार-

1 "For now the common song of all men is, we must obey our kings be they good or bad, for God hath so commanded. But horrible shall the vengeance be, that shall be poured forth upon such blasphemies of God his holy name and ordinance. For it is no less blasphemy to say that God hates commanded kings to be obeyed when they command impiety, than to say that God by his precept is author and maintainer of all inequity. The punishment of such crimes as are idolatry, blasphemy and others that touch the majesty of God doth not appertain to kings and chief rulers only, but also the whole body of that people and to every member of the same, according to the vocation of every man ond according to that possibility and occasion which God doth minister to revenge the injury done against his glory, what time that impiety is manifestly known." John Knox in *Appellations*, Vol. IV, p. 496.

वादी आन्दोलन के महाद्वीपव्यापी प्रभाव को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला निषेधात्मक प्रभाव और दूसरा रचनात्मक प्रभाव।

निषेधात्मक प्रभाव में सुधारवादी आन्दोलन के निम्नलिखित कार्य उल्लेखनीय हैं— (अ) राजनीति में मैकियावली की शिक्षाओं के कारण आनेवाली अनैतिक प्रवृत्तियों का हनन, (आ) गिरजा की सार्वभौमक साम्राज्य स्थापित करने की कल्पना का अन्त, (इ) विश्व भर में ईसाई धर्म स्थापित करने के विचार का अन्त और (ई) पोपसत्ता के प्रभाव की समाप्ति।

सुधारवादी आन्दोलन ने रचनात्मक प्रभावों द्वारा राजनीति के क्षेत्र में नैतिकता को महत्व दिलाया। **लूथर, मेलंकथाँ, कालविन, जॉन नॉक्स** इन सब ने यह कहा कि राज्य के कार्य अनिवार्य रूप से नैतिकता पर आधारित होने चाहिए। इन्हीं विचारकों ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अनैतिक साधनों द्वारा किया गया कोई भी कार्य अधिक समय तक नहीं चल सकता और साथ ही वह लोक महत्व भी प्राप्त नहीं कर सकता। लेकिन हर बात में सुधारवादियों ने **मकियावली** का विरोध नहीं किया। उन्होंने मैकियावली की भाँति राष्ट्रीयता का समर्थन किया, यद्यपि इस शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। धर्म तथा चर्च को प्रादेशिक बनाकर तथा राजसत्ता के पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व पर विशेष रूप से बल देकर सुधारवादियों ने यह बतलाया कि समाज के लौकिक शासन का सारा दायित्व राजा पर है। सोलहवीं शताब्दी में इस आन्दोलन के कारण प्रारंभ में तो निरंकुश राजतंत्रों को बल मिला लेकिन बाद में विधि के शासन का मार्ग भी इन्हीं की शिक्षाओं से प्रशस्त हुआ। वास्तविकता यह है कि सुधारवादियों की सारी राजनीतिक सिद्धान्तावली राज्य और धर्म के पारस्परिक संबंधों के निर्णय करने तथा राजसत्ता के कार्यों का नैतिक आधार सिद्ध करने में ही समाप्त हो गयी। लेकिन अपने आप यह भी एक बहुत बड़ा कार्य था।

१०. मध्य युग में समाजवाद के तत्व

इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व यह अच्छा होगा कि हम कुछ ऐसे सम्प्रदायों के राजनीतिक विचारों पर भी दृष्टिपात कर लें जिनमें समाजवाद के कुछ तत्व थे। मध्य युग का समाजवाद आधुनिक समाजवाद से इन अर्थों में भिन्न था कि वह मुख्यतः ईसाई धर्म पर अवलम्बित था। जहाँ तक मध्ययुगीन समाजवाद के मूल तत्त्वों का संबंध है—वे ईसाई धर्म में भी पाये जाते हैं। ईसा ने आरंभ से ही अपनी शिक्षाओं में यह कहा था कि ईश्वर के सम्मुख सब बराबर हैं। यद्यपि यह बराबरी धर्म से संबद्ध थी किन्तु कुल मिलाकर इसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र पर भी पड़ा और यह माना जाने लगा कि जहाँ तक मानव-समाज का संबंध है—उसके सभी सदस्य समान हैं। कोई किसी से छोटा या बड़ा नहीं है। ईसाई धर्म ने शुरू से ही स्वेच्छित निर्धनता पर भी बहुत अधिक बल दिया। यह स्थिति उस समय तक बनी रही जब तक सम्राट् कांस्टेनटीन ने ईसाई धर्म नहीं स्वीकार किया किन्तु इसके बाद जब सम्पत्ति का तत्व भी प्रविष्ट हो गया तब निर्धनता के जीवन में आचरण संबंधी जिन उच्च आदर्शों की दिशा में अग्रसर होने का प्रयास किया जाता था उनका परित्याग कर दिया गया। वैभवजन्य विलासिता और उसके दोषयुक्त सभी परिणाम पोपतंत्र में आकर केन्द्रीभूत हो गये। यह स्थिति कुछ लोगों को आगे चलकर अत्यन्त असह्य प्रतीत होने लगी। कुछ सम्प्रदायों ने इसका बड़ा विरोध किया; किन्तु पोप ने अत्यन्त कठोरता से उनका दमन कर दिया। लेकिन दमन से भी यह ज्वाला शान्त नहीं हुई। बारहवीं शताब्दी में वाल्डेंसेज तथा 'एपॉस्टिलीकन्स' नाम के कुछ सम्प्रदायों ने फिर इस अग्नि को प्रज्ज्वलित किया। लूथर तथा सुधारवादियों की शिक्षाओं के परिणामस्वरूप पोपों द्वारा किये जाने वाले शोषण के विरुद्ध असंतोष का भाव और अधिक

भड़का। इसके साथ ही यह भी भावना उठी कि सम्पत्ति को व्यक्तिगत न मानकर उसे सामाजिक समझा जाय। पन्द्रहवीं शताब्दी में सम्राट् सिगिसमण्ड ने भी सुधारों की कोशिश की। उसकी इच्छा थी कि दासता आदि को समाप्त कर दिया जाय तथा गिल्डों आदि पर जो कुछ धनियों का अधिकार है वह भी समाप्त कर दिया जाय तथा मजदूर काम करें और जो कुछ उत्पादन हो, वह आपस में बाँट लिया जाय। किन्तु, यह सुधार का प्रयत्न असफल रहा। दासों की अवस्था खराब होती गयी। फलस्वरूप बोहेमिया तथा जर्मनी आदि में बहुत से विद्रोह हुए। किसानों तथा दासों द्वारा विद्रोहों की यह चेष्टा विफल कर दी गयी। किन्तु इन्हीं विद्रोहियों में से कुछ ने जर्मनी के बाहर जाकर नीदरलैण्ड में अपना एक समाज स्थापित कर लिया। इसका नाम 'एनाबेपटिस्ट' था। पोपों तथा अन्य अधिकारियों ने इनको धर्महीन घोषित कर काफी दबाया और ये भाग कर मोरेविया चले गये। मोरेविया जाने का यह अभियान सन् १५२६ में हुआ। मोरेविया में इन लोगों ने अपना एक नया समाज स्थापित किया। जिसके सिद्धान्तों के विषय में गेटिल ने लिखा है, "वे विद्या से घृणा करते थे किन्तु शारीरिक श्रम के प्रति उनका बड़ा आदर का भाव था। सम्पत्ति पर सब का अधिकार माना जाता था। निजी सम्पत्ति समाप्त कर दी गयी थी। शादी-विवाह समाज के मुखिया द्वारा तय होते थे।" दमन द्वारा इन लोगों का पूर्णतः उन्मूलन कर दिया गया। इसमें शक नहीं कि उनका यह प्रयोग एक हद तक काफी सफल रहा।

एनाबेपटिस्टों के नैतिकता और राज्य संबंधी मतों को लिखित सामग्री विस्तृत रूप से उपलब्ध नहीं है किन्तु जो कुछ भी मिल सकी है उससे यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि इस संबंध में उनकी सामान्य धारणाएँ क्या थीं। वे ईसाई धर्म द्वारा पोषित प्रारंभिक नैतिकता के सिद्धान्तों के परम पोषक थे। वे युद्धों को पाप समझते थे और शस्त्र धारण करना केवल उसी समय उचित ठहराते थे जब स्वयं उनके अस्तित्व पर हो कोई हमला करता। सामान्यतः युद्ध करना उन्हें पसन्द नहीं था। राज्य संबंधी उनकी धारणाएँ आधुनिक समाजवाद से काफी मिलती-जुलती हैं। वे राज्य को आवश्यक बुराई (Necessary evil) मानते थे। उनका कहना था कि राज्य एवं समाज की तभी तक आवश्यकता है जब तक वह आत्मभरित नहीं हो जाता। जहाँ समाज का प्रत्येक सदस्य अपना-अपना कर्तव्य पालन करने लगेगा, राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। उनका लक्ष्य अन्त में वर्गहीन समाज की स्थापना करना था। कालान्तर में अराजकतावादियों ने अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार करने में इनसे काफी मदद ली।

सुधारवादी आन्दोलन की प्रतिक्रिया और राजतंत्र विरोधी प्रवृत्तियाँ

१. पोपसत्ता को प्रबल बनाने की चेष्टा--२. ट्रेण्ट का धर्माधिकारी सम्मेलन--३. जोससवादियों का समाज--४. जोससवादी विचारक--५. गैर-जोससवादी विचारक--६. राजतंत्र विरोधी विचारक--७. राजतंत्र विरोधी विचारकों का प्रभाव।

सोलहवीं शताब्दी में यूरोप तथा इंगलैण्ड की राजनीतिक स्थिति कुछ ऐसे संक्रान्ति काल में पहुँच गयी थी कि उसमें मध्ययुग की भाँति किसी एक सत्ता के पोषक विचारकों का बाहुल्य नहीं था। इस काल में एक ओर धर्मसत्ता के पोषक तत्व सर उभार रहे थे और दूसरी ओर राजसत्ता के समर्थक बल ग्रहण कर रहे थे। एक प्रकार से दोनों पक्षों की विचारधाराओं और प्रधाराओं के बीच यूरोप और इंगलैण्ड दोनों कभी इस ओर और कभी उस ओर बढ़ रहे थे। पिछले अध्याय में हम यह तो बता ही चुके हैं कि सुधारवादी आन्दोलन ने पोप के विरुद्ध इतना अधिक प्रचार किया था कि जनता धर्मसत्ता को एकताकारी ग्रंथि के रूप में मानने की मानसिक अवस्था में नहीं थी। लेकिन जिन राज्यों में राष्ट्रीयता बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही थी--उन्हीं राज्यों में कुछ ऐसे विचारक भी पैदा हुए जिन्होंने सुधारवादियों को यह बात मानने से इनकार कर दिया कि धर्मसत्ता के विरुद्ध राजसत्ता को सर्वथा निरंकुश अधिकार प्राप्त होने चाहिए। यह सच है कि सुधारवादी आन्दोलन ने कई देशों में प्रोटेस्टेण्ट धर्म का प्रचार किया लेकिन उसके साथ ही स्पेन आदि कैथोलिक राज्यों में यह प्रयत्न किया जाने लगा कि पोपतंत्र को पुनः सबल बनाया जाय।

१. पोपसत्ता को प्रबल बनाने की चेष्टा

कैथोलिक धर्मावलम्बियों द्वारा पोप की सत्ता को पुनः बलवान् बनाने की चेष्टा सुधारवादी आन्दोलन की प्रतिक्रिया थी। यह स्वाभाविक ही था कि पोप तथा उनके अनुयायियों एवं शुभचिंतकों की ओर से ऐसा प्रयत्न किया जाता। किन्तु, स्वयं पोप तथा उनके अनुयायियों के शिविर में भी एकता नहीं थी। कैथोलिक धर्म मानने वालों में ही ऐसे व्यक्ति थे जिनमें पोप की सत्ता को लेकर काफी मतभेद था। सम्मेलन (कौंसिल) संबंधी आन्दोलन इस बात का प्रमाण था। कुछ लोगों का यह कहना था कि पोप ही सर्वोच्च अधिकारी होने के नाते धर्म संबंधी प्रत्येक मामले में सर्वेसर्वा है जब कि दूसरा पक्ष कहता था कि पोप केवल प्रशासकीय अध्यक्ष (Administrative Head) है और पोप के कार्यों का भी निरीक्षण करने का अधिकार धर्माधिकारी सम्मेलन को है। यद्यपि सम्मेलन (कौंसिल) आन्दोलन समाप्त हो गया था किन्तु उसकी प्रवृत्तियाँ उस समय भी विद्यमान् थीं। इन्हीं अनैक्यताकारी तत्वों के फलस्वरूप चर्च को अपनी स्थिति सन्तुलित करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था।

२. ट्रेण्ट का धर्माधिकारी सम्मेलन

फिर भी इन कठिनाइयों को दूर करने में समकालीन धर्माधिकारियो के अध्यक्ष पोपों ने काफी योग्यता का परिचय दिया। पोप की ही ओर से सन् १५६३ में ट्रेण्ट में धर्माधिकारियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन के समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि पोप

और सम्मेलन में किसकी सत्ता उच्चतर है। इसके साथ ही लौकिक और आध्यात्मिक अर्थात् राजसत्ता और धर्मसत्ता के अधिकार-क्षेत्रों का भी परिसीमन (Delimitation) करना था। किन्तु यह कार्य आसान न थे। सम्मेलन के सामने सबसे पहला प्रश्न यह आया कि कैथोलिक धर्म की क्या परिभाषा की जाय ? इस कार्य को करने में सम्मेलन को अठारह वर्ष लग गये; तब कहीं, पचीसवें अधिवेशन में कैथोलिक धर्म की परिभाषा तैयार हो पायी। केवल इसी एक उदाहरण से पोप तथा उसके अनुयायियों की कठिनाइयों की कल्पना की जा सकती है। ट्रैण्ट सम्मेलन के सामने जो मुख्य समस्याएँ रखी गयी थीं उनका फैसला नहीं हो सका, लेकिन अन्त में सम्मेलन पर पोप की प्रभुता जीससवादी समाज के सदस्यों की सहायता से मान ली गई। दूसरी समस्या को भी समय ने अपने आप हल कर दिया। सुधारवादी आन्दोलन की प्रतिक्रिया का यह परिणाम निकला कि पोपों ने कई ऐसे कार्य किये जो सामयिक आवश्यकता की दृष्टि से अत्यन्त जरूरी थे। इन्हीं कार्यों में से एक कैलेण्डर के संशोधन का कार्य था। **जूलियस सीजर** के समय से तिथियों तथा पंचांग का जो क्रम चल रहा था उसमें ग्यारह मिनिट की अशुद्धि थी। इस अशुद्धि के परिणामस्वरूप सूर्य की गति और तिथियों में उस समय तक ग्यारह दिन का अन्तर पड़ गया था। सन् १५८१ में पोप ग्रेगरी तेरहवें ने यह अशुद्धि दूर करने के लिये यह आदेश दिया कि ५ दिसम्बर १५८२ को १५ दिसम्बर १५८२ मान लिया जाय। पोप के इस आदेश को कैथोलिक धर्म मानने वाले राज्यों ने तो तुरन्त मान लिया लेकिन प्रोटेस्टेण्ट राज्यों ने बहुत दिनों तक नहीं माना। इसी प्रकार के अन्य कई कार्य भी पोपों की ओर से किये गये। पोप के समर्थन में जिन लोगों ने सबसे अधिक कार्य किया उनमें जीससवादी समाज के सदस्य प्रमुख थे।

३. जीससवादियों (Jesuits) का समाज

जीससवादियों के समाज की स्थापना एक स्पेनवासी **इगनेशियस लॉयोला** (Ignatius Loyola) ने की थी। लॉयोला पहले एक सैनिक था परन्तु बाद में वह एक कैथोलिक भिक्षु बन गया था। जीससवादियों के समाज की कुछ चारित्रिक विशेषताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस संघटन ने अपने सदस्यों में धार्मिकता और सैनिक प्रशिक्षा का बड़ा सुन्दर समन्वय किया। इसके सदस्य रोम की सेवा करना अपना परम धर्म मानते थे। वह यह कार्य सैनिकों की भाँति करते थे और सैनिक अनुशासन का अनुसरण भी करते थे। इगनेशियस इन लोगों का प्रथम सेनापति था।

जीससवादी विचारकों ने जिस दर्शन की नींव रखी, वह सन्त टॉमस एक्वीनॉज के स्कॉलस्टिक दर्शन पर आधारित है।[1] उन्होंने प्राकृतिक विधियों की श्रेष्ठता पर बल दिया। उनके विचारों में प्रतिभासम्पन्नता नहीं थी, कारण, जो विचार जीससवादियों ने प्रकट किये वे मौलिक नहीं थे। उन्हें मध्य युग के पोप और धर्मसत्ता समर्थक विचारकों की पुस्तकों से ग्रहण किया गया था। किन्तु जीससवादियों की शिक्षा व्यवस्था में कुछ ऐसी शक्ति थी कि वे अपने विचारों द्वारा महत्वपूर्ण व्यक्तियों और जनता का ध्यान सहसा

---

1 "The foundation of philosophy which is set forth in all these writers is the theory of Justice, of rights and of law, that was formulated by Thomas, Aquinas from whom are taken by all alike the definitions and classification of law and the important distinction of jus natural and jus gentium". W. A. Dunning *From Luther To Montesquieu*, p. 134

अपनी ओर खींच लिया करते थे। जोससवादियों की एक विशेषता यह भी थी कि वे प्रचार कार्य में कूटनीति का भी प्रयोग करते थे। मैकियावली की भाँति वे साधनों की श्रेष्ठता सफलता की कसौटी से आँकते थे। उन्होंने धर्म और राजनीति के बीच ही सीमारेखा नहीं खींची, बल्कि आचार शास्त्र को भी अलग माना। कैथोलिक धर्म के प्रचार में उन्होंने बड़ा कार्य किया। राइनलैण्ड तथा पोलैण्ड में कैथोलिकों की संख्या उन्होंने ही बढ़ायी। वेस्टइण्डीज तथा अमेरिका में भी धर्म प्रचार उन्होंने किया। संसार भर में अधिकांश मिशनमण्डल इन्हीं के हैं। उन्होंने वास्तुकला तथा गृहनिर्माण-कला के विकास में भी बड़ी सहायता दी।

४. जीससवादी विचारक

जोससवादी विचारकों में से **बेलारमिन, फ्रांसिस, पारसन** तथा **मेरियाना** के नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इसी युग में कुछ गैर-जोससबादी विचारक भी हुए किन्तु अपेक्षाकृत ये विचारक अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं।

४·१ **राबर्ट बेलारमिन** (Robert Bellarmin)—बेलारमिन फ्रेंच पादरी था। इसका जन्म सन् १५४२ में हुआ था और मृत्यु सन् १६२१ में। यह जीससवादी समाज का सदस्य था। इसकी दो पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं; एक तो **डिस्प्यूटेशन्स** और दूसरी डी **पोटेस्टेट सम्मी पोण्टेफिस**; पहली पुस्तक सन् १५८१ में प्रकाशित हुई थी और दूसरी सन् १६१० में। '**डिसप्यूटेशन्स**' में मुख्यतः राजनीतिक और दूसरी पुस्तक में पोप की स्थिति पर विचार किया गया है। इन पुस्तकों से बेलारमिन पर पड़ा संत टॉमस और काल्विन का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। अन्य पादरियों को भाँति वह भी यह विश्वास करता था कि मानव स्वभाव स्वार्थ और मोह से भ्रष्ट हो चुका है; किन्तु, उसमें सुधार किया जा सकता है। मानव-समाज ही राजा को सत्ता प्रदान करता है। इसलिये राजसत्ता मानवीय है और उसका देवत्व केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही माना जा सकता है। इसके विपरीत धर्मसत्ता और पोप साक्षात् ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। सामान्य लौकिक मामलों में धर्मसत्ता या पोप को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए; लेकिन जहाँ आत्मा की मुक्ति जैसा महत्वपूर्ण प्रश्न उलझा हो वहाँ धर्मसत्ता को लौकिक सत्ता के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार है। इस प्रकार बेलारमिन ने पोप का स्थान राजा से उच्चतर बतलाते हुए भी पोप के क्षेत्र को धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व के मामलों तक सीमित कर दिया है।[1] बेलारमिन ने शासनतंत्रों का भी वर्गीकरण किया है और इस वर्गीकरण में उसने सांविधानिक राजतंत्र को सर्वोत्तम बतलाया है। उसका कहना है कि वैसे तो निरंकुश राजतंत्र ही सर्वोत्तम होता है लेकिन वह सत्तामद हो जाने के कारण शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है। बेलारमिन का कहना था कि यदि कोई राजा धर्महीनता प्रदर्शित करता है और प्रजा को धर्मविरोधी कार्य करने के लिये कहता है तो प्रजा उसकी आज्ञाएँ मानने से इन्कार कर सकती है। राजा और प्रजा के संबंधों को बेलारमिन ने अनुबंधात्मक (Contractual) बतलाया है। फ्रान्स के अन्य न्यायाचार्यों ने बेलारमिन के इस सिद्धान्त का अत्यधिक विरोध किया है।

४·२ **जुआन मेरियाना** (Juan Mariana)—जुआन मेरियाना स्पेनवासी विचारक था। उसका जीवनकाल सन् १५३६-१६२४ तक माना जाता है। राजनीति की

1 "Except for a stronger emphasis on the secular origin of royal power, Bellarmin's theory of Church and State was not substantially different from St. Thomas, G. H. Sabine, *in A History of Pol. Theories*, p. 330

दृष्टि से इसकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक **'डी रेजे एट रेजिस इन्स्टीट्यूशन'** (De Rege et Regis Institution) मानी जाती है। यह सन् १५९९ में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक मेरियाना ने स्पेन के युवराज[1] को समर्पित की। पुस्तक का मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक राजनीति के सिद्धान्तों और सूत्रों की व्याख्या करना है लेकिन पुस्तक को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना अधिक है। मेरियाना के विचारों पर मध्ययुगीन संवासों का काफी प्रभाव पड़ा है। वह **मैकियावली** के विचारों से भी प्रभावित था। मानव-स्वभाव के संबंध में मेरियाना का मत था कि मनुष्य सारे काम अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर करता है। स्वार्थ ही मनुष्य की प्राथमिक मनोवृत्ति है। इसी आधार पर मेरियाना ने बतलाया कि मनुष्य को सभ्य समाज (Civil Society) स्थापित होने के पूर्व क्या अवस्था थी। मेरियाना का कहना है कि प्रकृति की गोद में मनुष्य काफी सुखी था लेकिन बाद में सम्पत्ति रखने की वृत्ति पैदा हुई। यह वृत्ति बुरी थी और इसने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था के सुखों को समाप्त कर दिया। इस संबंध में मेरियाना का मत रूसो (Rousseau) से काफी मिलता-जुलता है। शासनतंत्र की स्थापना के पूर्व मानवसमाज की स्थापना हुई। मनुष्य प्रकृति की अवस्था में रहने के बजाय अब सुखी था लेकिन फिर भी एक नियंत्रण करने वाले अधिकारी की आवश्यकता थी। अतः, राजा चुना गया। वह मनुष्य द्वारा समाज और राज्य को स्थापना को बिलकुल स्वाभाविक विकास का विषय मानता है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के संबंध में मेरियाना का मत है कि वह समाज और शासक के बीच एक समझौते के कारण बना। इस समझौते की भी यह विशेषता थी कि इसमें जनता ने या समाज ने शासक को केवल कुछ सीमित अधिकार ही प्रदान किये थे। प्रजा ने विधेयन (Law Making) और राजस्व निर्धारण (Taxation) का कार्य अपने हो हाथ में रखा था। अतः, मेरियाना का समस्त सांविधानिक सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि राजसत्ता की उत्पत्ति मानवीय है। उसका कार्य धर्मसत्ता की अपेक्षा हेय है। यदि शासक अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लंघन कर विधि के विरुद्ध कार्य करता है तो प्रजा को उसे हटा देने का अधिकार है। मेरियाना ने विस्तारपूर्वक यह बतलाया है कि राज्य के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं। राज्य को प्रशासन की व्यवस्था रखनी चाहिए ? सेना कितनी रखनी चाहिए ? सैन्य-नीति कैसी होनी चाहिए ? वह भी मैकियावली की भाँति इस बात पर विशेष रूप से बल देता है कि राज्य का विस्तार होना चाहिए। मेरियाना का यह भी कहना है कि गरीबों की सहायता को भी व्यवस्था होनी चाहिए। राजा यदि अत्याचारी हो जाय तो प्रजा को उसे पदच्युत करने का अधिकार है। राज्य का प्राथमिक कार्य शान्ति-स्थापना है। यदि राजा के अत्याचारों से अशान्ति फैलती है तो किसी भी नागरिक को अधिकार है कि वह उसकी हत्या कर दे। लेकिन हत्या का कार्य तभी होना चाहिए—जब राजा को पहले से चेतावनी दे दी जाय। यह चेतावनी उसे प्रतिनिधि सभा (People's Assembly) द्वारा दी जानी चाहिए। हत्या का कार्य खुले आम या कूटनीति के सहारे सम्पन्न किया जाना चाहिए। **जॉन सेलिसबरी** की भाँति मेरियाना शासक को विष खिलाये जाने के पक्ष में नहीं था।[2] उसका कहना था कि शासक को मारने के लिये अन्य विधियों को अपनाया जाय। इस

१ यही युवराज आगे चल कर फिलिप तृतीय के नाम से स्पेन की गद्दी पर बैठा था।

२ यहाँ मेरियाना पर ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ता है। मेरियाना का कहना है कि राजा को भोजन में यदि विष दिया जायगा तो चूंकि वह उसे स्वयं खायगा, वह आत्महत्या का कृत्य हो जायगा आत्महत्या को ईसाई धर्म में जघन्यतम अपराध बतलाया गया है। इसलिए मेरियाना ने ऐसे कार्य का विरोध किया है।

समस्त कार्य में कम से कम अशान्ति होनी चाहिए। मेरियाना के इन विचारों का स्पेन के बाहर बड़ा विरोध किया गया। फ्रांस में उन्हीं दिनों **हेनरी तृतीय** की हत्या कर दी गयी थी। एक प्रकार से मेरियाना ने उसका समर्थन किया था। इसलिए फ्रान्सवासियों ने उसकी पुस्तक को जलवा दिया था। बहुधा कहा जाता है कि मेरियाना जीससवादी समाज का सदस्य होते हुए भी अपने मतों में उतना कट्टर नहीं था जितने अन्य जीससवादी। यह कथन अत्यन्त सन्तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाना चाहिए। जहाँ तक मेरियाना के जीससवादी होने का संबंध है वह उस समाज का सदस्य था और उसके विचारों से भी प्रभावित था। मेरियाना पर यह प्रभाव उस समय स्पष्ट हो जाता है, जब वह राज्य और धर्म—इन दोनों सत्ताओं को सर्वथा अलग-अलग मानता है और राज्य को धर्मसत्ता की अपेक्षा हीन और निम्नतर समझता है। वह धार्मिक आचार तथा नैतिकता को भी राजनीति में प्रविष्ट नहीं होने देता। ये सब विचार विशुद्ध जीससवादी समाज के हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि मेरियाना ने पोप को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया। वह लौकिक क्षेत्र में पोप की सत्ता को भी बहुत बढ़ावा नहीं देता था और न यह ही मानता था कि उसे इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करना चाहिए। मेरियाना ने पोप का विरोध तो नहीं किया किन्तु उसकी उपेक्षा अवश्य की। अतः यह कहा जा सकता है कि वह अन्य जीससवादियों की भाँति कट्टर नहीं था।

४·३ **फ्रांसिस्को सूरेज** (Franctisco Suarez)—फ्रांसिस्को सूरेज का जन्म सन् १५४८ में हुआ था। वह सन् १५६४ में जीससवादियों के समाज का सदस्य हुआ था। इसके बाद वह कोयम्बरा विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का व्याख्याता हो गया। उसने सन् १६१२ से लेकर सन् १६१६ तक कई पुस्तकें लिखीं जो राजदर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। उसकी सबसे पहली पुस्तक का नाम '**लॉ एण्ड गॉड दि लेजिस्लेचर**' है। इसके बाद दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें उसने कैथोलिक धर्म तथा चर्च के पक्ष को विरोधियों की निन्दा से बचाने का प्रयास किया।[१] सूरेज की अध्ययन पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने स्कॉलस्टिक पद्धति को अपनाया और इस मार्ग में टॉमस एक्वीनॉज का पूर्ण अनुसरण किया। सूरेज के दो अनुदाय सबसे महत्वपूर्ण हैं। पहला प्राकृतिक विधि संबंधी और दूसरा संप्रभुता और राज्य की उत्पत्ति के संबंध में। उसके विचारों की सबसे बड़ी विशेषता वैज्ञानिकों जैसी तटस्थता है। उन पर समकालीन विवादों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। सबसे पहले हम सूरेज के प्राकृतिक विधि संबंधी विचारों पर प्रकाश डालेंगे। सूरेज ने प्राकृतिक विधि का मूल स्थान मानवात्मा को माना है। उसका कहना है कि मनुष्य की अन्तरात्मा प्राकृतिक विधि की शक्ति के कारण ही इस बात का अन्तर कर लेती है कि कौन-सी बात सही है और कौन-सी गलत। प्राकृतिक विधि का स्रोत स्वयं ईश्वर है और प्राकृतिक विधि का मुख्य लक्ष्य प्राणी मात्र का कल्याण है।[२] लेकिन प्राकृतिक विधि केवल मानवीय विवेक का ही फल नहीं होती अपितु वह ईश्वरीय आदेशों का भी प्रतिनिधित्व करती है। अतएव, प्राकृतिक विधि को दैवी विधियों

---

[१] **इस पुस्तक का पूरा नाम है** *Defence of the Catholic and Apostolic Church against the Errors of the Anglican Sect* **यह पुस्तक जेम्स प्रथम की पुस्तक** *Apology of James I* **के उत्तर में पोप पाल पंचम के कहने से लिखी गयी थी।**

[२] Natural law is that law implanted in human source through which right is distinguished from wrong. Its source is God the creator and its end the good of the creature, W. A. Dunning, *Pol. Theories*, Vol II. p. 137

(Divine Laws) की भी संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि प्राकृतिक विधियों द्वारा निर्धारित आचरण के नियमों का कोई भी भौमिक या सांसारिक शक्ति उल्लंघन करने की क्षमता नहीं रखती। सूरेज ने सामाजिक विधियों को भी प्राकृतिक विधियों की भाँति ही बतलाया है। उसने यह स्वीकार किया है कि सामाजिक विधियाँ लिखित नहीं होतीं और वे परम्पराओं से बनती हैं। उनमें तथा प्राकृतिक विधियों में यही अन्तर है कि जहाँ प्राकृतिक विधियों का कार्य यह है कि वह बतलाएँ कि नैतिक दृष्टि से क्या उचित है वहाँ सामाजिक विधियों (Jus Gentium) का कार्य यह बतलाना है कि सामाजिक दृष्टि से क्या आवश्यक है। क्रम की दृष्टि से सूरेज ने प्राकृतिक विधियों को प्रथम, सामाजिक विधियों को द्वितीय और नागरिक विधियों को तृतीय स्थान दिया है।

सूरेज मनुष्य को प्रकृतितः स्वतंत्र मानता है किन्तु इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के साथ ही राजनीतिक व्यवस्था भी विकसित होती है; क्योंकि वह समाज का ही उन्नत स्वरूप है। मनुष्य अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को समाज के हित के लिए बलिदान कर देता है। यही कारण है कि सूरेज ने प्रारंभिक पादरी विचारकों की भाँति यह नहीं माना कि राज्य केवल दमन का ही साधन है। सूरेज का यह भी कहना है कि राज्य का समाज के विभिन्न वर्गों के साथ न्याय करना भी कर्तव्य है। शासन की सम्पूर्ण सत्ता समाज मे परिवेष्ठित रहती है, किसी एक व्यक्ति या वर्ग में नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो की ही भाँति सूरेज ने भी लोकप्रिय संप्रभुता की व्याख्या की है। धर्मसत्ता को सूरेज ने लौकिक अधिकार प्रदान नहीं किये हैं। पोप को राज्य कार्य में तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब प्रजा के धार्मिक हितों पर कोई प्रहार होता हो। अन्य विचारकों की भाँति सूरेज ने राज्यों का विभाजन भी किया है। उसका यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है। वह राजतंत्र, आभिजात्यतंत्र और प्रजातंत्र—ये तीन प्रकार के राज्य मानता है। इनमें वह राजतंत्र को आदर्श मानता है। यद्यपि राजतंत्र में भी उसने आभिजात्यतंत्र और प्रजातंत्र के गुणों को भी काफी हद तक सम्मिलित कर लिया है। वह विश्वास करता है कि राजा को जनता की अनुमति से ही शासन करना चाहिए। वह यह विश्वास नहीं करता कि जो राजा अपनी प्रजा के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करे और प्रजा की इच्छाओं का निरन्तर दमन करे, वह पदारूढ़ रहे। उसका कहना है कि ऐसे राजाओं को तो हटा ही देना चाहिए। अच्छे शासक को बुरे शासक की हत्या कर देने का अधिकार है।

५. गैर-जीससवादी विचारक

इसी युग में कुछ गैर जीससवादी विचारक भी हुए। ऐसे विचारकों में एडम ब्लैकवुड, विलियम बार्कले और टॉमस कैम्पानेला का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। संक्षेप में हम इन विचारकों के विचारों पर इस प्रकार प्रकाश डाल सकते हैं—

५·१ एडम ब्लैकवुड (Adam Blackwood)—ब्लैकवुड का जन्म स्काटलैण्ड में सन् १५३९ में हुआ था। वह कैथोलिक था और उसकी इच्छा यह थी कि प्रसबाइटेरियन नेताओं का स्कॉटलैण्ड में आधिपत्य स्थापित हो जाय। लेकिन उस समय स्कॉटलैण्ड की राजनीतिक स्थिति ब्लैकवुड के प्रतिकूल पड़ी और उसे फ्रांस भाग जाना पड़ा। उसने राजतंत्र विरोधी विचारकों की आलोचना की। वह यह मानता था कि राजाओं की उत्पत्ति दैवी इच्छा से हुई है, अतः उनका विरोध करना ईश्वर का विरोध करना है। वह यह भी मानता था कि राज्य को उन व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए जो

धर्महीनता फैलाते हों। ब्लैकवुड के विचारों का प्रभाव अँग्रेज विचारकों पर भी पड़ा। **फिल्मर** ने अपनी रचनाओं में ब्लैकवुड के विचारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। **जेम्स प्रथम** पर भी ब्लैकवुड के विचारों का असर पड़ा। ब्लैकवुड की मृत्यु सन् १५८१ में हुई।

५·२ **विलियम बार्कले** (William Barclay)––बार्कले ब्लैकवुड का ही समकालीन रोमन कैथोलिक था। उसे अतिवाद से चिढ़ थी। वह न तो यही चाहता था कि प्रोटेस्टेण्टों को राजतंत्र विरोधी प्रवृत्तियों का उग्रतम रूप स्वीकार किया जाय और न वह यही पसन्द करता था कि जीससवादियों का पोप का कट्टर समर्थन संबंधी दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया जाय। वह भी ब्लैकवुड की भाँति ही धर्मनिरपेक्ष राजतंत्र का समर्थक था। वह ऐसे राजाओं को गद्दी से उतार दिये जाने का पक्षपाती था जो प्रजा पर अत्याचार करते थे। बार्कले के विचारों के उद्धरण भी हमें फिलमर, जेम्स प्रथम आदि की रचनाओं में मिलते हैं। बार्कले की प्रथम कृति **डी पोस्टेस्टेट पेपे** (De Potestate Papae) का अनुवाद भी सन् १६११ में लैटिन से अँग्रेजी में किया गया था।

५·३ **टॉमस कैम्पानेला** (Thomas Campanella)––कैम्पानेला इटालियन था। उसका जन्म सन् १५६८ में दक्षिणी इटली में हुआ था और मृत्यु सन् १६३९ में। वह डोमनीकन सम्प्रदाय का अनुयायी था और उसकी रचनाओं का मुख्य गुण भौतिकवाद और ईसाई धार्मिक विचारधारा का समन्वय है। उनमें दर्शन और धर्मशास्त्रों की कल्पना का मिश्रण है। राज्य के शासन के संबंध में उसकी व्यवस्था थी कि सर्वोच्च सत्ता पोप के हाथ में होनी चाहिए। उसका यह भी मत था कि समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार किसी को नहीं मिलना चाहिए। वह व्यक्ति के विकास के लिए परिवार को भी जरूरी नहीं समझता था। टॉमस के इन विचारों में हमें प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ता है। उसकी मुख्य कृति **"दि सिटी ऑफ सोल'** है। इस पुस्तक में उसने प्लेटो की कथोपकथन प्रणाली का उपयोग करते हुए कल्पना की कि जेनोआ का एक नाविक किस प्रकार एक ऐसे देश में पहुँच जाता है जहाँ युद्ध और कूटनीति, शिक्षा और कला तथा शारीरिक विकास के लिए अलग-अलग मंत्री हैं। उस राज्य में नागरिकों को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है। किसी भी नागरिक को परिवार या सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है। प्रत्येक नागरिक पर राज्य का नियंत्रण है। समकालीन विचारकों पर इन पुस्तकों का काफी प्रभाव पड़ा। इस संबंध में विशेषरूप से जीससवादियों का नाम उल्लेखनीय है। जीससवादियों ने पेरुग्वे में इस पुस्तक के आधार पर कई प्रयोग किये।[1]

६. राजतंत्र विरोधी विचारक

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप के तीन ऐसे देश थे जिनमें राजतंत्र विरोधी तत्व समकालीन परिस्थितियों के कारण उग्र रूप धारण कर रहे थे। इन देशों के नाम हैं, नीदरलैण्ड, फ्रांस और स्कॉटलैण्ड। यहाँ राजतंत्र की शक्ति का अत्याचारों की वजह से ह्रास हो रहा था। विशेषकर कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्टों में न केवल आन्तरिक कलह हो रहे थे अपितु अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध भी। पहले तो प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अनुयायी राजतंत्र विरोधी नहीं थे लेकिन सन् १५७२[2] और सन् १५८१[3] में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई जिनकी वजह से

---

[1] Gettell *His. of Pol. Thought*, p. 177

[2] सेण्ट बार्थोलोम्यू का हत्याकाण्ड।

[3] डचों की स्वतंत्रता सम्बन्धी घोषणा जिसमें उन्होंने यह कहा था कि जो राजा अपनी प्रजा को धार्मिक स्वतंत्रता देने से इन्कार करता है वह आततायी है और इस कारण उसे पदच्युत किया जा सकता है।

तटस्थों को भी राजतंत्र विरोधी बन जाना पड़ा। इन्हीं अवसरों पर ऐसा बहुत-सा साहित्य भी प्रकाशित हुआ जिसमें राजतंत्र के विरोध में मत प्रकट किये गये थे। इन देशों में क्रमशः किस प्रकार राजतंत्र विरोधी विचारक अवतीर्ण हुए और उनके विचार क्या थे—इनके ऊपर हम नीचे के अनुच्छेदों में विचार करेंगे।

६ १ **नीदरलैण्ड के विचारक**—नीदरलैण्ड के राजतंत्र विरोधी विचारकों में सबसे पहला नाम जिस व्यक्ति का लिया जाता है वह **जोनस एलथ्यूसियस** (Johannes Althusius) था। वह जर्मनी का निवासी था। उसे हालैण्ड की सक्रिय राजनीति का प्रत्यक्ष अनुभव था क्योंकि वह डच गणतंत्र के निकटवर्ती स्थान एमडन में तीस वर्षों से भी अधिक तक मैजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त रहा था। उसने अपनी एक पुस्तक[1] में राज्य की उत्पत्ति, संप्रभुता आदि के संबंध में अत्यन्त स्पष्ट रूप से विचार प्रकट किये हैं।

६·२ **राज्य की उत्पत्ति**—एलथ्यूसियस का कहना है कि प्रत्येक प्रकार का सामुदायिक जीवन अनुबंधों (contracts) पर निर्भर करता है। उसका कहना है कि अखिल मानव-समाज विभिन्न संवासों और संस्थानों (Associations and Institutions) से संबद्ध है। ये संवास क्रमशः उन्नत होते चले जाते हैं। जैसे, परिवार, ग्राम, नगर और राज्य। एलथ्यूसियस ने यह तो स्वीकार किया है कि प्रत्येक संवास की उपयोगिता और उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं लेकिन उनका आधार एक ही है और वह है अनुबंध। अनुबंध के कारण ही दोनों पक्षों के लिये यह आवश्यक होता है कि वे उसकी शर्तों या दशाओं का सर्वांश में पालन करें। राज्य को परिभाषा करते हुए अपनी पुस्तक में उसने लिखा है कि वह एक ऐसा सर्वसाधारण जनता का संवास है जिसमें बहुत से नगर और प्रान्त मिलकर अपनी सम्पत्ति और गतिविधियों को संयुक्त कर एक संप्रभु शक्ति की स्थापना और उसकी प्रतिरक्षा करने का अनुबंध करते हैं।[2]

इसी स्थल पर एलथ्यूसियस ने यह भी बतलाने की चेष्टा की है कि **संभुता** क्या है और उसकी लोकप्रियता का क्या अर्थ है। इस संबंध में उसका कहना है कि संप्रभुता वह सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, जो राज्य के सदस्यों के भौतिक और आधिभौतिक कल्याण के लिए कार्य करती है।[3] वह यह मानता है कि प्रत्येक मनुष्य साधारणतः स्वतंत्र है और किसी भी व्यक्ति को एक दूसरे पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का अधिकार नहीं है। लेकिन वे सब की समान सुविधाओं के लिए कुछ अधिकार छोड़ देते हैं। उनके अधिकारों के परित्याग से ही संप्रभु शक्ति निर्मित होती है। इसलिए संप्रभु शक्ति का मूल स्थान अखिल समाज है, कोई एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का वर्ग नहीं। अतः संप्रभु शक्ति ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकती जिससे सर्वसाधारण का अहित हो। यदि अहित होता है तो इसका अर्थ यह है कि संप्रभु शक्ति का दुरुपयोग किया जा रहा है और दुरुपयोग करनेवाले व्यक्ति को

---

१ **पुस्तक का नाम है** *Politics Systematically Arranged* **यह सन् १६१० में प्रकाशित हुई थी।**

2 "A State is a general public association in which a number of cities and provinces combining their possessions and their activities contract to establish, maintain and defend a sovereign power" R. M. Murray, *The His. of Pol. Science*, p. 160

3 Sovereignty is "the supreme and super-eminent power of doing what pertains to the spiritual and bodily welfare of the members of the State". W. A. Dunning, *Pol. Theories*, Vol. II, p. 63.

हटाया जा सकता है। संप्रभु शक्ति द्वारा निर्मित विधियों का पालन शासकों का कर्तव्य है। यह शक्ति हस्तान्तरित नहीं की जा सकती। राजा या नरेश केवल एक ऐसा प्रतिनिधि (Agent) है जो यह प्रतिज्ञा करके पदारूढ़ होता है कि वह विधिवत् (lawful) शासन करेगा। सिंहासनारोहण आदि के समय को गयी प्रतिज्ञाएँ इसी का उदाहरण हैं। इस प्रकार एलथ्यूसियस ने जहाँ एक ओर लोकप्रिय संप्रभुता की व्यवस्था की वहीं दूसरी ओर यह भी बतलाया कि राजा अनुबंध का एक फरीक है और यदि वह समझौते का उल्लंघन करता है तो उसे पदच्युत किया जा सकता है। उसने राज्य के कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला है। वह छोटे संवासों को राज्य के अधीन मानता है। उस पर पवित्र रोमन साम्राज्य के संविधान तथा डचों के स्वतंत्रता युद्ध के इतिहास का प्रभाव पड़ा है। उसके विचारों से बाद के अनुबंधवादी (Contractualist) दार्शनिकों ने काफी लाभ उठाया।

६ ३ **फ्रांस के विचारक**—फ्रांस के जिन विचारकों ने सबसे पहले राजतंत्र विरोधी साहित्य की सृष्टि की उनमें सबसे पहला नाम **निकोलस बर्नार्ड**[1] (Nicholas Barnard) का है। इसके बाद **फ्रांसिस हॉटमन**[2] (Francis Hotman), **ह्यबर्ट लैंग्वे** (Hrbert Languet) या **डूप्लेस मॉर्न**[3] (Duplessis Mornay) का नाम आता है। फ्रांस के राजतंत्र विरोधी विचारकों में ह्यूगनॉट्स और कैथोलिक दोनों ही हैं। ह्यूगनॉट्स को तो सेण्ट बार्थोलोम्यू के हत्याकाण्ड के बाद से राजतंत्रविरोधी हो जाना पड़ा क्योंकि इस सम्प्रदाय के लोगों की तत्कालीन राजा ने बड़ी बेरहमी से हत्या करा डाली थी और कैथोलिक उस समय राजतंत्र-विरोधी हो गये जब सन् १५८९ में **हेनरी चतुर्थ** नाम का एक प्रोटेस्टेण्ट राजा फ्रांस की गद्दी पर बैठ गया।

इन विचारकों ने कुछ ऐसी बातें कहीं जिनका सार यह था कि प्रजा ऐसे राजा की आज्ञाएँ मानने के लिए बाध्य नहीं है जो ईश्वर विरोधी आदेश दे। इन लेखकों ने विस्तारपूर्वक यह बतलाने की चेष्टा की कि धर्म पुस्तकों में भी ऐसे राजा को राजा न मानने की सलाह दी गयी है। वे यह मानते हैं कि राज्य की उत्पत्ति अनुबंध द्वारा हुई है। अतः दोनों पक्षों को अनुबंध की शर्तों को मानना चाहिए। **ह्यबर्ट लैंग्वे** या डूप्लेस मॉर्न की पुस्तक में दो अनुबंधों की कल्पना की गयी है। पहले अनुबंध में तो दो पक्ष ईश्वर और मानव समाज है जिसमें राजा भी सम्मिलित है और दूसरे में एक तरफ राजा और दूसरी तरफ प्रजा है। राजा प्रतिज्ञा करता है कि न्यायपूर्वक शासन करेगा और प्रजा उसकी आज्ञाओं का पालन करने का वचन देती है। यदि राजा अन्यायी हो जाता है तो प्रजा भी अनुबंध की शर्तों से मुक्त हो जाती है। लेकिन हर-एक व्यक्ति को राजा का प्रत्यक्ष विरोध करने का अधिकार नहीं है। उसे यह कार्य सामूहिक रूप से विधान सभा आदि द्वारा करना चाहिए। राजा को दण्डित किया जा सकता है। इसी पुस्तक में यह भी कहा गया है कि यदि पड़ोसी राज्य का कोई राजा प्रजा पर अत्याचार कर रहा हो तो न्यायी राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा की सहायता करे। उस पर यह कर्तव्य अखिल मानव-समाज का सदस्य होने के कारण आकर पड़ता है। फ्रांस के लेखकों पर कौंसिल आन्दोलन का काफी प्रभाव पड़ा

---

[1] निकोलस बर्नार्ड ने *Awakening Call to Frenchmen* नाम की पुस्तक लिखी।

[2] फ्रांसिस हॉटमैन ने *Franco Gallia* नाम की पुस्तक लिखी जो सन् १५७३ में प्रकाशित हुई थी।

[3] ह्यबर्ट लैंग्वे या डूप्लेस मॉर्न को प्रसिद्ध पुस्तक *Vindicial Contra Tyranno* का लेखक माना जाता है। इस पर उन दोनों में से किसी का भी नाम नहीं है बल्कि एस० जे० बूटस का नाम है जो छद्मनाम बतलाया जाता है।

है और वे अपने तर्कों को सिद्ध करने के लिये धर्मपुस्तकों के दृष्टान्तो का आश्रय लेते हैं जिसकी वजह से उनमें वैज्ञानिकता और ऐतिहासिकता का अभाव है।

६·४ **स्कॉटलैण्ड के विचारक**——स्कॉटलैण्ड के राजतंत्र विरोधी विचारकों की परम्परा जॉन नॉक्स से आरम्भ होती है। नॉक्स के विचारों की चर्चा हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। सोलहवीं शताब्दी में सबसे अधिक प्रसिद्ध राजतंत्र विरोधी विचारक जार्ज बकनन (George Buchanan) था। बकनन ने भी राजा और प्रजा के संबंधों को अनुबंध के आधार पर ही स्थिर किया है। उसने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था पर भी प्रकाश डाला है और लिखा है कि समाज और राज्य की स्थापना मनुष्य ने इसी-लिये की कि वह उस अवस्था से मुक्ति प्राप्त कर सके। समाज में रहने की इच्छा मनुष्य में अपने हित की दृष्टि से हुई क्योंकि मनुष्य ने अनुभव किया कि वह समाज में अपेक्षाकृत अधिक सुखी रहेगा। राजा का कर्तव्य है कि वह न्यायपूर्वक शासन करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे हटाया जा सकता है और दण्डित किया जा सकता है। उसके विचारों का प्रभाव इंगलैण्ड पर भी पड़ा था। लॉक इससे विशेषरूप से प्रभावित हुआ था। फ्रांस, स्कॉटलैण्ड और नीदरलैण्ड के अतिरिक्त इगलैण्ड और स्पेन में भी कुछ राजतंत्र विरोधी विचारक हुए। बिशप ऑफ विनचेस्टर **जॉन पिन** (John Pynet) ऐसे पहले अँग्रेज विचारक थे। उन्होंने राजा की अंधभक्ति के सिद्धान्त का खण्डन किया था और लोकसंप्रभुता का समर्थन किया था। इसी प्रकार **मेरियाना** ने स्पेन में राजतंत्र विरोधी विचार प्रकट किये। लेकिन इंगलैण्ड और स्पेन में राजतंत्र विरोधी विचारों का अधिक विकास इसलिए नहीं हो सका कि वहाँ एलिजाबेथ और फिलिप द्वितीय के राजतंत्र पर्याप्त लोकप्रिय और सुदृढ़ थे।

७· राजतन्त्र विरोधी विचारों का प्रभाव

सत्रहवीं शताब्दी में राजतंत्र विरोधी विचारों का जो जोर बँधा—वह बहुत कुछ इन्हीं विचारकों की कल्पनाओं का परिणाम था। राजतंत्र-विरोधी विचारकों ने न्यूनाधिक मात्रा में तीन चीजों को काफी स्पष्ट कर दिया। **पहली** बात तो यह सिद्ध हो गयी कि राज्य और समाज की स्थापना के पूर्व मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में रहना पड़ता था—भले ही इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण हो या न हो। दूसरी बात यह थी कि समाज, सरकार और राज्य की स्थापना का आधार अनुबंधों को मान लिया गया। तीसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि लोक-संप्रभुता के सिद्धान्त की सृष्टि की गयी। इन विचारकों का मुख्य उद्देश्य शासनकार्य को इस प्रकार चलाना था जिससे जनता की इच्छाओं के अनुसार उसके हितों को दृष्टि में रखते हुए शासन किया जा सके। ये बातें पहले भी सामने आई थीं लेकिन सत्रहवीं शताब्दी में इन विचारकों की वजह से यह स्थिति उत्पन्न हो गयी कि इनका कोई भी विचारक उपेक्षा न कर सका।

———

जीन बोदाँ और ह्यूगो ग्रोशस

१. बोदाँ की जीवनी---२. बोदाँ की कृतियाँ---३. अध्ययन पद्धति---४. राज्य की उत्पत्ति और प्राकृतिक विधियाँ---५. संप्रभुता का सिद्धान्त---६. शासनतंत्रों का वर्गीकरण---७. राजक्रान्तियों के संबंध में---८. बोदाँ और मकियावली---आधुनिकता का नायक कौन ? ९. बोदाँ का अनुदाय, महत्व और प्रभाव---१०. ग्रोशस का जीवन और उसकी सामयिक परिस्थितियाँ---११. प्राकृतिक विधियों का विवेचन---१२. विधियों का वर्गीकरण---१३. मानवप्रकृति और राज्य की उत्पत्ति--१४. संप्रभता---१५. ग्रोशस का महत्व और अनुदाय।

१. बोदाँ (Bodin) की जीवनी

जीन बोदाँ फ्रांसीसी दार्शनिक था। उसका जन्म सन् १५३० में और मृत्यु ६६ वर्ष की अवस्था में सन् १५९६ में हुई थी। जिन दिनों बोदाँ का जन्म हुआ उन दिनों फ्रांस धर्मयुद्धजनित गृह-कलहों से बुरी तरह पीड़ित था।[१] इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उसका ध्यान इस ओर जाता। सौभाग्यवश उन्हीं दिनों फ्रांस में धार्मिक सहिष्णुता का आन्दोलन चल पड़ा जिसे इतिहास में हम पॉलिटिक्स (Politiques) के नाम से जानते हैं। बोदाँ इसी आन्दोलन का समर्थक था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उसने विधि या कानून की शिक्षा प्राप्त कर वकालत की। अपनी प्रतिभा के कारण उसका संबंध फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय से हो गया और उसके दरबार में रह कर उसने अंतिम समय तक कार्य किया। वह अनेक भाषाओं का ज्ञाता था। फ्रेंच तो उसकी मातृभाषा ही थी। इसके अतिरिक्त उसने लैटिन और ग्रीक का भी गहन अध्ययन किया था। यूरोप की भी कई भाषाओं का वह विद्वान् था। उसने वकालत में ख्याति पाने के लिये न केवल कई देशों के कानूनों का अध्ययन किया वरन् बहुत से देशों के संविधान भी पढ़े। उसके ऊपर दो बड़े जबर्दस्त प्रभाव पड़े---एक ओल्ड टेस्टामेण्ट का और दूसरा नवीन प्लेटोवादी दर्शन का। प्लेटो का प्रभाव इटालियन प्लेटोवादियों द्वारा पड़ा।[२]

२. बोदाँ की कृतियाँ

बोदाँ ने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के अतिरिक्त पाँच प्रमुख ग्रंथ लिखे हैं। इनके नाम हैं : (१) रेसपॉन्स (Response), (२) डेमोनोमेनी (Demonomanie), (३) हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomeres), (४) यूनिवर्स नेचरे थियेटरम् (Universe Naturae Theatrum) और (५) सिक्स लाइवर्स डि ला रिपब्लिक (Six liveres de La Republique)। उसकी सबसे पहली पुस्तक सन् १५६९ में छपी। इस पुस्तक

---

[१] सन् १५६२ से लेकर १५९८ तक फ़्रांस में ९ धर्मयुद्ध हुए थे।

[२] "The chief of the influences in his intellectual life seem to have been the Old Testament and the new Platonic Philo ophy as interpreted by Italiau Platonists",. F. J. C. Hearnshaw in the *Social & Political Idea of the Sixteenth and Seventeenth Centuries*, **p. 42**

का विषय राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था है। अंतिम पुस्तक सन् १५७६ में प्रकाशित हुई। यह ६ संस्करणों में है। बोदाँ की **डी ला रिपब्लिक** को सोलहवीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। सच पूछा जाय तो बोदाँ की अब तक की सारी ख्याति इसी पुस्तक पर आधारित है। बोदाँ ने राजनीतिशास्त्र को अनेक शब्दों की परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न किया है। राज्य, संप्रभुता, नागरिकता आदि की परिभाषाएँ हमें बोदाँ के ग्रंथों में ही मिलती हैं। शायद ही राजनीति का कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसे बोदाँ ने स्पर्श न किया हो। राज्य की एकता पर उसने जितना बल दिया है समकालीन विचारकों में से शायद ही किसी ने दिया हो। ज्ञान के पुनरोदय की आभा उसकी कृतियों में साफ-साफ झलकती है। उसमें दर्शन और व्यावहारिकता दोनों पर समुचित ध्यान दिया गया है। बोदाँ ने अपने ग्रंथों में मुख्यतः दो मान्यताओं का प्रतिपादन किया है। एक तो यह कि राजा का अधिकार निर्विवाद है और दूसरा यह कि धार्मिक सहिष्णुता राष्ट्रीय एकता के लिये आवश्यक है। दोनों ही विषयों पर बोदाँ के विचार स्पष्ट हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी कृतियों में कोई त्रुटि ही नहीं है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक **डी ला रिपब्लिक** को ही ले लीजिए। उसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह बड़ी अव्यवस्थित है। पुनरुक्ति का दोष भी उसमें बहुत अधिक है। बहुत से विचार असंबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त वह इतने अधिक ऐतिहासिक दृष्टान्त, अंक, उदाहरण और कानूनी व्याख्या भर देता है कि पाठक का चित्त मुख्य समस्या पर केन्द्रित नहीं रह पाता। इसी कारण उसकी पुस्तक जटिल और स्वरूपहीन है। वह अतीत के युगों की बहुत अधिक याद दिलाता है।[१] फिर भी कहीं-कहीं उसके विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं।

३. अध्ययन-पद्धति

बोदाँ ने जिस अध्ययन पद्धति का अनुसरण किया है—वह मुख्यतः ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक है। वह इस बात पर भी बहुत अधिक बल देता है कि राज्य के विभिन्न अंगों और संवासों का भली भाँति अध्ययन एवं पर्यवेक्षण करके सिद्धान्त निर्धारित किये जायँ। उसने इतिहास का उचित प्रकार से प्रयोग न करने के लिये **मैकियावली** की पर्याप्त आलोचना की है। बोदाँ ने स्वयं इतिहास का अत्यन्त गंभीर अध्ययन कर यह पता लगाने का यत्न किया था कि प्राचीन काल से अब तक मानवीय विकास की प्रगति में किन-किन सिद्धान्तों और तथ्यों का हाथ रहा है। इस प्रकार की अध्ययन पद्धति का प्रतिपादन कर उसने इतिहास के एक दर्शन की ही रचना कर डाली है।[२] बोदाँ का मत है कि संसार के समस्त ज्ञान को एक समन्वित ग्रंथि के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यदि हम भूले न हों तो ज्ञान के संबंध में सन्त टॉमस एक्वीनॉज तथा अन्य स्कॉलस्टिक विद्वानों ने भी लगभग ऐसा ही मत प्रकट किया था। उसने तुलनात्मक अध्ययन पर भी विशेष बल दिया था। वह इस प्रकार के अध्ययन का न केवल न्याय शास्त्र और विधि में ही पक्षपाती था अपितु यह भी चाहता था कि राजनीति और राजदर्शन में भी ऐसा ही किया जाय। वह व्याप्तिमूलक पद्धति (Inductive Method) का भी अनयायी था।

४. राज्य की उत्पत्ति और प्राकृतिक विधि

बोदाँ ने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त पर रिपब्लिक में प्रकाश डाला है। लेकिन राज्य की उत्पत्ति पर विचार करने के पूर्व उसने प्राकृतिक विधि (Law of Nature) के

---

१ G. H. Sabine in *A History of Political Theory* p. 342.

२ बोदाँ का इतिहास संबंधी दार्शनिक मत उसके निबंध *Methodus ad Facilem Historiarum Gognitionem* में देखा जा सकता है। यह १५६६ में प्रकाशित हुआ था।

संबंध में लिखा। इसीलिए सबसे पहले हम उसके प्राकृतिक विधि के विचारों का अध्ययन करेंगे।

कई मध्ययुगीन विचारकों की भाँति प्राकृतिक विधियों के संबंध में बोदाँ का मत है कि वे मुख्यत: नैतिक हैं। इनका आवास मनुष्य के हृदय में है। प्राकृतिक विधियों की शक्ति से ही मनुष्य यह तय कर पाता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित। बोदाँ का मत है कि राजनीति के उच्चतर सिद्धान्तों का निर्धारण प्राकृतिक विधियों की सहायता से ही होता है। संसार का कोई भी नरेश या राजसत्ताधारी व्यक्ति उनकी अवहेलना नहीं कर सकता। प्राकृतिक विधियाँ विवेक का फल होती हैं। अतएव जो राजा या शासक विवेक द्वारा पथप्रदर्शन नहीं ग्रहण करता वह कदापि सफल नहीं हो सकता। वह सदाचरण को भी महत्व देता है।

बोदाँ ने राज्य का निर्माण करनेवाली इकाई व्यक्ति को न मानकर परिवार को माना है। वह अरस्तू की भाँति व्यक्ति को नहीं बल्कि परिवार को राज्य की प्राथमिक या आधारभूत शिला मानता है। वह विवाह, माता-पिता और बालकों के साथ उनके संबंधों, सम्पत्ति, दास-प्रथा आदि सब को परिवार का अंग मानता है। राज्य को वह इन सबसे अलग मानता है। उसने राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "राज्य एक परिवार तथा अनेक स्वत्वों का एक समूह है जिसका शासन एक संप्रभु शक्ति और विवेक द्वारा होता है।" यदि ध्यान से देखा जाय तो बोदाँ की यह परिभाषा प्राचीन काल की अरस्तू की राज्य संबंधी कल्पना और अनुबंधवादियों के राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचारधारा का समन्वय करती है। बोदाँ प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्यों को समान अधिकार देता है। लेकिन इस स्वतंत्रता से कुछ के अहित की संभावना बनी रहती है, इसलिये वह उस स्वतंत्रता के नियंत्रण के लिये राज्य का आविर्भाव आवश्यक मानता है। अत: राज्य की उत्पत्ति का आधार बलप्रयोग द्वारा नियंत्रण का सिद्धान्त है। अपने इस विचार की संगति वह इस प्रकार बैठाता है कि परिवार में जिस प्रकार पिता को अपने बच्चों, पत्नी और नौकरों पर बलप्रयोग द्वारा नियंत्रण रखने का अधिकार है उसी प्रकार राज्य के शासक को भी प्रजा के हित के लिये बलप्रयोग द्वारा नियंत्रण का अधिकार है। वह परिवार के अध्यक्ष को नागरिकता का अधिकारी मानता है। इस दृष्टि से बोदाँ की नागरिकता संबंधी कल्पना अत्यन्त संकीर्ण है। उसने यह तो स्वीकार किया है कि राज्य के अन्य संवास व्यक्ति की सामाजिकता की प्रवृत्ति पर निर्भर करते हैं लेकिन वह यह नहीं मानता कि राज्य की सदस्यता भी व्यक्ति की इच्छा और रुचि पर निर्भर है। इसके विपरीत वह राज्य की सदस्यता को अनिवार्य मानता है। बोदाँ के मत के अनुसार राज्य सभी संवासों का अंतिम स्वरूप है। सभी संवास उसके अधीन हैं और राज्य की आज्ञाओं का पालन करना उनका कर्तव्य है। बोदाँ के लिये नागरिक और संवास राज्य की प्रजा हैं। उन्हें वह राज्य की संप्रभु शक्ति का हिस्सेदार नहीं मानता।

४·१ आलोचना—राज्य की उत्पत्ति के संबंध में बोदाँ ने जो विचार प्रकट किये हैं, उनका सबसे बड़ा दोष तो यह है कि वे बड़े असंबद्ध हैं। दूसरी त्रुटि यह है कि वह राज्य के लक्ष्य को निर्धारित करने में बिलकुल असफल रहा। वह यह तो मानता है कि राज्य "बहुत से परिवारों और उनकी सम्पत्ति के उस सामूहिक स्वरूप का नाम है जिसका शासन एक विधिवत् निर्मित सरकार द्वारा होता है।" लेकिन उस शासन के उच्चतर लक्ष्यों के संबंध

---

1 A state is "an aggregation of families and their common possessions ruled by a sovereign power and by reson. R. H. Murray in *The History of Pol. Science*, p. 180.

में वह कोई भी सुस्थिर विचार प्रकट नहीं कर पाया है। वह यह मानता है, और इससे उसकी प्रतिभा की झलक भी मिलती है, कि जो लक्ष्य प्राचीनकाल में नगर राज्यों के थे––वे आजकल के देशराज्यों के उपयुक्त नहीं हैं और इसीलिये वह अरस्तू से सहायता नहीं लेता। लेकिन वह यह मानता है कि परिवार की सीमाओं के अन्दर व्यक्ति स्वतंत्र है और राज्य के अधिकार परिवार की चौखट पर जाकर समाप्त हो जाते हैं। राज्य और परिवार दोनों के अधिकार-क्षेत्रों को उसने बिलकुल अलग-अलग कर देने पर बहुत अधिक बल दिया है। वह सम्पत्ति पर राज्य के शासक का अधिकार नहीं मानता और उसका कहना है कि परिवार के मामलों में राज्य को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये बोदाँ के तर्क स्पष्ट नहीं हैं। वह यहभी स्पष्ट नहीं कर सका कि परिवारों के समूह से राज्य का निर्माण किस प्रकार हो जाता है। बोदाँ ने इतना अवश्य खोल कर समझाया कि एक सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना बिना एक संप्रभु शक्ति के नहीं हो सकती।

५. संप्रभुता का सिद्धान्त

राजदर्शन के इतिहास में बोदाँ का संप्रभुता सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। संप्रभुता की परिभाषा करते हुए एक स्थान पर बोदाँ ने कहा है, "संप्रभुता नागरिकों और प्रजाजनों पर प्रयुक्त की जानेवाली वह सर्वोच्च शक्ति है जो विधियों द्वारा नियंत्रित नहीं होती।" इसी संबंध में बोदाँ के शब्दों में ही एक और स्पष्टीकरण कराया गया है जो इस प्रकार है, "प्रत्येक स्वतंत्र समुदाय में जिसका विधिवत शासन होता है ऐसी कोई न कोई सर्वोच्च शक्ति अवश्य होना चाहिए–जो चाहे एक व्यक्ति में हो या अनेक में–जिससे विधियों की स्थापना होती हो और जो स्वयं विधियों का स्रोत हो। ऐसी शक्ति को विधि से भी अधिक उच्चतर होना चाहिए।" संप्रभुता के मूल स्रोत के संबंध में बोदाँ का मत है कि वह सामूहिक रूप से जनता में ही निहित है। लेकिन जनता सामूहिक रूप से इस शक्ति का प्रयोग नहीं करती। वह अपनी इस शक्ति को नरेश, शासक या राजा को समर्पित कर देती है और राजा द्वारा इसका प्रयोग विविध राज्याधिकारियों द्वारा राज्य का प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेने के बाद किया जाता है। समाज की इच्छाका उच्चतम और सर्वाधिक विकसित स्वरूप संप्रभुता है। यह संप्रभुता का ही प्रभाव होता है कि अन्य नागरिकों तथा संवासों की इच्छाओं को राज्य की इच्छाओं के समक्ष नतमस्तक हो जाना पड़ता है। राज्य को अपनी संप्रभुता के कारण ही हर प्रकार की वैधानिक सीमाओं और अनिवार्यताओं से मुक्ति हो जाती है और राज्य पर राज्य की स्वीकृति के बिना उसके अपने या किसी न्यायालय में कोई मामला नहीं चलाया जा सकता है। इस प्रकार आधुनिक ही क्या समस्त राजदर्शन के इतिहास में पहली बार संप्रभुता की इतनी विशद विवेचना हमें उपलब्ध होती है। वैसे तो हॉब्स ने भी संप्रभुता

१ Sovereignty has been described as the "supreme power over citizens and subjects unrestraines by the law." R. H. Murray in *The History of Political Science*, p. 181.

२ "In every independent community governed by law there must be some authority whether residing in one person or several whereby the laws are established and from which they proceed. And this power being the source of law must itself be above the law" Sir F Pollock in *The History of the Science of Politics*, p. 47

की विवेचना की है किन्तु बोदाँ ने उससे भी पूर्व कहीं अधिक स्पष्ट रूप से यह व्याख्या कर दी है। उसने संप्रभु शक्ति की असीमता बतलाते हुए लिखा है, "संप्रभुता पर कोई सीमा संबंधी प्रतिबंध लागू नहीं हो सकते। यही बात उसकी कर्तृत्वशक्ति या विधि निर्माण के संबंध में भी सत्य है क्योंकि वह संप्रभुताधारी के बजाय स्वयं राज्य में निहित होती है।"[१] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संप्रभुता ही समस्त विधियों के निर्माण का मूल स्रोत है। ऐसी अवस्था में संप्रभुताधारी व्यक्ति भी विधियों के बंधनसे परे है क्योंकि सारी विधियों का एक प्रकार से वही स्रोत होता है। इस प्रकार "संप्रभुता सर्वोच्च और शास्वत सर्वव्यापिनी वैधानिक शक्ति है।"[२] इसका अर्थ यह है कि संप्रभुताधारी व्यक्ति भले ही मर जाय लेकिन संप्रभुता कभी नहीं मरती। लेकिन इतने पर भी बोदाँ ने संप्रभुताधारी व्यक्ति को सर्वथा निरंकुश अधिकार नहीं सौंपे। उसने कहा, संप्रभुताधारी व्यक्ति को भी अपने कर्तव्यों और नैतिक उत्तरदायित्वों का पालन करना होगा। वह यह नहीं कह सकता कि "मैं संप्रभुताधारी हूँ, इसलिए किसी भी प्रकार के कर्तव्य के निर्वहन के लिए बाध्य नहीं हूँ।" यही नहीं स्वयं संप्रभुता को भी बोदाँ ने अनेक सीमाएँ बतलायी हैं। संप्रभुता जिस व्यक्ति द्वारा कार्यान्वित होती है उसे भी ईश्वरीय आदेशों, प्राकृतिक विधियों तथा अन्य देशों की विधियों अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विधियों की मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता है। उसे वे बातें भी याद रखनी पड़ती हैं जिनकी प्रतिज्ञा उसने की हो। इसका अर्थ यह हुआ कि वह उन कर्तव्यों के पालन के लिये भी बाध्य है जिनकी पूर्ति की प्रजा की तरफ से उससे आशा की जाती है। वह अपनी विधियों की मर्यादा मानने के लिये विवश है। यद्यपि संप्रभु शक्ति के सामने कोई विधि बड़ी नहीं है तथापि वह अपनी ही विधियों को अकारण नहीं बदल सकता। कुछ मामलों में उसे अपने पूर्ववर्तियों के वचनों का भी ध्यान रखना पड़ता है। लेकिन वह इस बात के लिये बाध्य नहीं कि कभी भी उनके विपरीत आचरण न करे। आवश्यकता पड़ने पर, समय की माँग के अनुसार वह समुचित संशोधन कर सकता है। जो संप्रभु शासक दैवी आदेशों और प्राकृतिक विधियों का उल्लंघन करता है वह आततायी (Tyrant) कहलाता है। लेकिन उसका भी विरोध करने का अधिकार बोदाँ प्रजा को नहीं देता। वह भले राजतंत्र और आततायी शासनतंत्र में केवल नैतिक अन्तर ही बतला कर चुप हो जाता है। उसने वैधानिक कर्तव्यों की सीमाओं को पहली बार बिलकुल अलग-अलग किया। लेकिन उसने संप्रभु को यह स्पष्ट आदेश दिये कि वह प्रजा की सम्पत्ति के अपहरण के कार्य से बिलकुल दूर रहे। सम्पत्ति को वह परिवार के लिए आवश्यक मानता है और सम्पत्ति के अधिकार को परिवार का निजी अधिकार। इस संबंध में उसका मत एक सीमा तक मैकियावली से मिलता है। मकियावली ने अपने 'प्रिंस' को प्रजा की सम्पत्ति न लूटने की सलाह दी थी। इसके विपरीत हॉब्स ने प्रतिकूल मत प्रकट किया। वह कहता है कि संप्रभु जो चाहे कर सकता है। वह चाहे तो सम्पत्ति भी छीन सकता है।

---

१ Sovereignty can suffer on limitations in time, in function or in law", (because) it "belongs rather to the state itself than to the actual sovereign". F. J. C. Hearnshaw in *Social and Political Ideas of the Sixteenth & Seventeenth Centuries*, p. 50

२ "Sovereignty was supreme and perpetual legal omnipotence." R. G. Gettell in *The History of Political Thought*, p. 183.

बोदाँ ने संप्रभु शासक के कर्तव्यों को भी बतलाया है। संप्रभु शासक का प्रथम और अंतिम कर्तव्य विधियों का निर्माण करना है।[१] यह विधियाँ उसकी प्रजा पर व्यक्तिगत या सामूहिक किसी भी रूप में लागू हो सकती है। इसी स्थान पर बोदाँ ने विधियों और प्रथाओं का अन्तर भी बतलाया है। वह कहता है कि संप्रभु शासक यदि चाहे तो कानून या विधि द्वारा किसी प्रथा को नष्ट कर सकता है। लेकिन प्रथा द्वारा विधि नष्ट नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त युद्ध या शांति की घोषणा, राज्य के लिए अधिकारियों की नियुक्ति, क्षमादान करना, सिक्के बनाना, राजस्व वसूल करना आदि की संप्रभु के सहायक कर्तव्य हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो संप्रभु शासक के जो-जो कर्तव्य बोदाँ ने बतलाये हैं—वे पूर्णतः आज के संप्रभुतासम्पन्न राज्यों द्वारा पूरे किये जाते हैं।

५·१ **आलोचना**—बोदाँ की संप्रभुता की व्याख्या से यह तो कम से कम स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों शासक और शासित के बीच किस प्रकार संबंधों की कल्पना की जाती थी। उसने बताया कि राज्य का मुख्य गुण संप्रभुता है। यदि यह गुण किसी राज्य में वर्तमा नहीं तो वह देश राज्य की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। उसने, विस्तार-पूर्वक यह भी बतलाया कि संप्रभुता किस प्रकार शाश्वत, अहस्तान्तरणीय, और असीम होती है। संप्रभुता इतनी महत्वपूर्ण है कि उसकी स्थिति के स्थान से ही शासनतंत्रों का वर्गीकरण हो सकता है। लेकिन इतने पर भी उसके संप्रभुता के सिद्धान्त में काफी उलझन है और किसी एक नतीजे पर पहुँच जाना बहुत आसान नहीं है। एक ओर जहाँ वह उसे असीम बतलाता है वहीं दूसरी ओर प्राकृतिक विधियों, अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाओं और दैवी आदेशों के बंधनों से युक्त भी बतलाता है। बोदाँ का संप्रभु शासक एक हद तक अपनी वाणी की मर्यादा की रक्षा करने के लिए भी विवश है। अतः विवश शासक संप्रभु कैसे हो सकता है? दूसरे, जहाँ वह एक ओर यह कहता है कि सब लोग संप्रभु शासक की आज्ञा मानने के लिए विवश हैं, वह दूसरी ओर यह भी कहता है कि यदि संप्रभु शासक किसी मैजिस्ट्रेट के प्राकृतिक विधि के आदेशों के विरुद्ध कार्य करने का आदेश देता है तो मैजिस्ट्रेट के लिये यह उचित होगा कि वह उसकी आज्ञा का पालन न करे। बोदाँ के संप्रभुता के सिद्धान्त में दूसरी उलझन यह है कि वह यह भी कहता है कि संप्रभु शासक राज्य का संविधान मानने के लिये भी विवश है। ऐसी अवस्था में शासक पर एक और बंधन लग जाता है। अतः, बंधनों से संप्रभुता के उस सिद्धान्त की व्यावहारिक पुष्टि नहीं होती जिसकी कल्पना उसने की थी। इस प्रकार एक ओर तो शासक जिसे वह संप्रभु मानता है विधियों का स्रोत (Fountain of Law) है और दूसरी ओर वह उन सांविधानिक विधियों (Constitutional Laws) के बंधन में है जिन्हें न तो उसने बनाया है और न उनमें कोई परिवर्तन कर सकता है। इससे सांविधानिक सरकार के प्रति बोदाँ की चाहे जितनी निष्ठा प्रकट होती हो लेकिन इतना स्पष्ट है कि उसका संप्रभु शासक संप्रभुता के सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक क्षेत्र में प्रकट नहीं होता। सच यह है कि बोदाँ दो उद्देश्यों का समन्वय करना चाहता था—एक ओर फ्रांस के राजा को संप्रभु बनाना तथा दूसरी ओर फ्रांस में जो सांविधानिक व्यवस्था चली आरही थी उसमें कोई फर्क न पड़ने देना। वह यह अनुभव करता था कि अशान्तिपूर्ण परिस्थितियों की वजह से यह आवश्यक है कि

---

१ L'‘egislation is not then the chief function of the Sovereign. It is practically the sole and all-inclusive function. W. A. Dunning in *Pol. Theories*, Vol II, p. 103.

राजा की शक्तियाँ बढ़ायी जायँ लेकिन वह राजा की शक्ति इतनी अधिक भी नहीं बढ़ा देना चाहता था कि वह फ्रांस की प्राचीन सांविधानिक संस्थाओं को उलट-पुलट दे। इस प्रकार उसका संप्रभुता संबंधी सिद्धान्त अव्यवस्थित है। इसमें व्यवस्था लाने के लिय वह यह तय नहीं कर सका कि उक्त दोनों बातों म से कौन सी मौलिक है? इसके लिय बहुत कुछ समकालीन परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी थ । उसके सिद्धान्त में तीसरी त्रुटि सम्पत्ति के अधिकार संबंधी विचारों के कारण थी। यह सच है कि बोदाँ ने सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार बतला दिया था किन प्राकृतिक विधि के अनुसार जो अधिकार मिलता है—वे तो नैतिक होते हैं वैधानिक नहीं। परन्तु, यहाँ बोदाँ इस अधिकार को नैतिक अधिकारों से भी अधिक महत्व दे देता है। उसन सम्पत्ति के अधिकार को इतना पवित्र बतलाया है कि संप्रभु शासकभी उसे बिना स्वामी की आज्ञाके स्पर्श नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह था कि बिना सामन्तों की सलाह के संप्रभु शासक कोई कर नहीं लगा सकता था। ऐसी अवस्था में उसकी संप्रभुता कितनी पुंसत्व शक्ति युक्त या कितनी प्रभावशाली हो सकेगी, इसकी कल्पना भली भाँति की जा सकती है। स्पष्ट है कि वह परिवार के संप्रभुता द्वारा भी स्पर्श न किये जानेवाले सम्पत्ति के अधिकार की संगति 'शास्वत, मर्यादाहीन और असीम' संप्रभुता के सिद्धान्त के साथ नहीं बैठा पाया है। लेकिन समय ने बतलाया कि उसका यह सिद्धान्त ठीक ही था कि संप्रभु शासक भी बिना प्रजा की अनुमति के कर नहीं लगा सकता है।

६. शासनतन्त्रों का वर्गीकरण

बोदाँ ने राज्यों का नहीं वरन् शासनतंत्रों या सरकारों का वर्गीकरण किया है। सबसे पहले उसने यह बतलाया कि राज्यों के स्वरूप में नहीं बल्कि शासनतंत्रों में अन्तर होता है। इसी स्थल पर यह स्पष्ट कर देना भी जरूरी मालूम होता है कि राज्य और शासनतंत्रों के स्वरूप का अन्तर किस प्रकार स्पष्ट किया गया है। बोदाँ ने लिखा है कि "सर्वोच्च शक्ति किसके हाथ में है—इससे तो राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है लेकिन जिस व्यवस्था एवं पद्धति द्वारा उस शक्ति का प्रयोग होता है उससे शासनतंत्र का स्वरूप निश्चित होता है।" अरस्तू तथा अन्य यूनानी विद्वानों ने राज्यों के स्वरूप का जो वर्गीकरण किया है, स्थूल रूप से बोदाँ ने उसे मान लिया है। लेकिन रोमन विचारकों की भाँति वह किसी मिश्रित राज्य के स्वरूप में विश्वास नहीं करता। राज्यों के जो स्वरूप उसने माने हैं, वे हैं (१) राजतंत्र (Monarchy), (२) आभिजात्यतंत्र (Aristocracy) और (३) प्रजातंत्र (Democracy) **बोदाँ** ने बताया कि राज्यों का स्वरूप और शासनतंत्रों का स्वरूप एक समान ही हो—यह आवश्यक नहीं है। उसकी यह बात इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है। उदाहरण के लिये ब्रिटेन एक ऐसा राज्य है जहाँ राजतंत्र है किन्तु वहाँ का शासनतंत्र राजतांत्रिक नहीं अपितु प्रजातांत्रिक है। अस्तु, जब बोदाँ यह कहता है कि मिश्रित राज्य जैसी कोई चीज नहीं होती तब उसका आशय यह होता है कि राज्य की सर्वोच्च शक्ति या संप्रभुता अविभाज्य है। यह नहीं कि शासनतंत्र में विभिन्न पद्धतियों के गुणों का समावेश नहीं किया जा सकता। बोदाँ राजतंत्र को अन्य सब तंत्रों से श्रेष्ठ मानता है। राज्य के स्वरूप के संबंध में ही उसका यह मत नहीं है, वरन्, शासनतंत्रों में भी वह राजतांत्रिक व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ मानता है। उसने लिखा है कि राजतांत्रिक व्यवस्था में ही व्यक्ति के अधिकार और उसकी सम्पत्ति सुरक्षित रहती हैं। अच्छे राजा को किस प्रकार का होना चाहिए उसने यह भी बतलाया है। अच्छा राजा हमेशा प्राकृतिक विधियों और दैवी विधियों का सम्मान करता हुआ शासन करता है और इसके फलस्वरूप वह जिन विधियों की रचना करता है उनको जा स्वेच्छा से मानती है और

तदनुसार राजा के प्रति आज्ञापालन का भाव रखती है। उसने राजतंत्र तथा आभिजात्य तंत्र और प्रजातंत्र के भ्रष्ट स्वरूपों की चर्चा भी की है। यदि कहीं राजतंत्र न हो तो वह आभिजात्यतंत्र को ही पसन्द करता है। प्रजातंत्र उसने कहीं भी पसन्द नहीं किया और उसकी तुलना प्राकृतिक अवस्था से की है। वह यह समझता है कि प्रजातंत्र में तेजी से प्रगति नहीं हो सकती। राजतंत्र ही उसके व्यवस्थित राज्य की कल्पना का मुख्य आधार था। इससे स्पष्ट है कि वह शासनतंत्र में भी राजा की पूर्ण निरंकुशता का पक्षपाती था। यह बात कुछ नयी नहीं थी। बोदाँ के पूर्व मैकियावली ने भी इसी प्रकार की शासक की निरंकुशता की कल्पना की थी। और इसमें कोई संदेह नहीं कि आगे चलकर विचारकों की श्रेणी में हॉब्स भी ऐसा व्यक्ति हुआ जिसने शासक या राजा की इसी प्रकार की निरंकुशता का समर्थन किया। बोदाँ के इस प्रकार के विश्वास का कारण बहुत कुछ सामयिक परिस्थितियाँ भी थीं। जब कि शेष यूरोप अशान्ति के दावानल में जल रहा था उस समय इंगलैण्ड और स्पेन में राजतंत्र के कारण न केवल शान्ति थी, वरन् वहाँ के लोग प्रगति के पथ पर भी क्रमशः बढ़े चले जा रहे थे।

७. राजक्रान्तियों के सम्बन्ध में

राजक्रान्तियों के संबंध में बोदाँ ने जो मत प्रकट किया उसमें अरस्तू का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। सबसे पहले उसने बतलाया कि राजक्रान्ति का अभिप्राय क्या है? उसका कहना था कि राजक्रान्ति तभी होती है जब संप्रभुता की स्थिति में कोई परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिये राजतंत्र में संप्रभुता राजा के हाथ में रहती है। यदि वहाँ संप्रभुता राजा के हाथ से हटकर प्रजा के हाथ में चली जाय तो राजक्रान्ति हो गई मानी जाती है। इसी प्रकार की बात अन्य प्रकार की राजक्रान्तियों के संबंध में भी कही जा सकती है। केवल विधियों के परिवर्तन से राजक्रान्ति हो जाती हो--बोदाँ की यह धारणा नहीं है। यह बतलाने के बाद कि राजक्रान्ति क्यों होती है--बोदाँ ने बताया कि राजक्रान्ति को किस प्रकार रोका जा सकता है। उसने कहा कि राजा को राज्य के किसी वर्ग विशेष पर अधिक कृपा नहीं करनी चाहिए। उसकी नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे राज्य के विभिन्न वर्गों में द्वेष भाव न फैलने पाये और अधिक से अधिक सामंजस्य की भावना बनी रहे। राजक्रान्तियों का कारण धन का असमान वितरण भी होता है। इसलिए बोदाँ सलाह देता है कि वित्तीय समानता पर भी राजा को ध्यान रखना चाहिए। राजा को बलप्रयोग तथा दमन कार्य करते समय बड़ा सावधान रहना चाहिए। दमन करते समय उसे यह देख लेना चाहिए कि सफलता मिलने की अधिक से अधिक आशा है या नहीं; क्योंकि दमन की विफलता बड़ी घातक होती है। उसने राजा को यह भी परामर्श दिया कि वह धार्मिक सहिष्णुता प्रदर्शित करे। राज्य में विभिन्न धार्मिक विश्वासों के लोगों को रहने की स्वतंत्रता होनी चाहिए और उनके धार्मिक विश्वासों पर कोई आघात नहीं होना चाहिए। यदि देखा जाय तो बोदाँ ने राजक्रान्ति निषेध संहिता तैयार करने में एक प्रकार से पॉलिटिकस आन्दोलन की नीतियों और सिद्धान्तों को ही निष्कर्ष रूप में रख दिया था।

राजक्रान्तियों के संबंध में ही विचार करते समय बोदाँ ने अपनी मध्ययुगीनता का भी परिचय दे दिया है। वह ज्योतिष और जादू टोन के उपायों द्वारा भी राजक्रान्तियों को रोकने की सलाह देता है। इसके साथ ही उसने विशद रूप से इसी प्रसंग में अपनी आधुनिकता का भी परिचय दिया है और विस्तारपूर्वक यह बतलाया है कि राज्य का स्वरूप और उसकी स्थिरता में भौगोलिक वातावरण का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। भौगोलिक अवस्थाओं द्वारा ही नागरिकों के राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होता है और उस चरित्र के प्रभाव से ही राज्य का स्वरूप बनता है। उसने उत्तर और दक्षिण की भौगोलिक अवस्थाओं

का अध्ययन करने के बाद बतलाया कि उत्तर के लोग शारीरिक दृष्टि से सबल होते हैं लेकिन उनका मानसिक विकास अत्यन्त मन्दगति से होता है और वह बहुत धीरे-धीरे काम करते हैं। दक्षिणी क्षेत्रों वाले व्यक्ति अपेक्षाकृत निर्बल होते हैं लेकिन मानसिक दृष्टि से बहुत विकसित होते हैं। अतएव सर्वोत्तम क्षेत्र बीच का होता है जहाँ ये दोनों प्रकार के गुण समान रूप से मिलते हैं। भौगोलिक दशा का राज्य पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है-- स्पष्ट कर बोदाँ ने अपने उत्तराधिकारियों[1] को एक नया मार्ग दिखलाया। उसने राज-क्रान्तियों को रोकने के लिये यह भी आवश्यक बतलाया कि दास-प्रथा को समाप्त कर दिया जाय। उसका यह भी मत था कि नैतिक सदाचरण की शिक्षाएँ देकर राजा को प्रजा का जीवन सुधारने की चेष्टा करनी चाहिए।

राज्य की रक्षा के लिये उसने यह भी बतलाया कि राजा को संधियों तथा समझौतों का पालन करना चाहिए। यहाँ वह मैकियावली[2] की भाँति यह नहीं मानता है कि राजा को केवल अपना हित ही देखना चाहिए।

राजक्रान्तियों का निषेध करते समय बोदाँ अरस्तू की भाँति यह नहीं लक्ष्य करता कि वे किसी भी दशा में न हों--वरन् वह यह मानकर चलता है कि परिवर्तन तो होगा ही। लेकिन वह परिवर्तन हिंसात्मक और आकस्मिक न होना चाहिए। उसे श्रमिक और स्वाभाविक होना चाहिए जिससे अशान्ति न हो।

८. बोदाँ और मैकियावली—आधुनिकता का नायक कौन ?

प्रोटेस्टेण्ट सुधारों के परिणामस्वरूप यूरोप में अशान्ति की लहर दौड़ गयी थी जिस कारण चारों तरफ कैथोलिकों और प्रोटेस्टेण्टों में युद्ध होने लगे थे। इन अशान्तिकारी युद्धों के परिणामस्वरूप बड़े-बड़े राजनीतिक संवासों की जड़ें हिलने लगीं। ऐसे वातावरण में फ्रेंच विचारक बोदाँ का आविर्भाव हुआ था। बोदाँ ने स्थिर चित्त और भावनाहीन दृष्टिकोण से शांति और व्यवस्था के सिद्धान्तों का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया। कहा जाता है कि राजदर्शन के इतिहास का आधुनिक काल मैकियावली से नहीं बल्कि जीन बोदाँ से आरंभ होता है। इसमें संदेह नहीं कि बोदाँ ने कई प्रकार से मैकियावली द्वारा स्थिर किये सिद्धान्तों के प्राथमिक स्वरूपों को अधिक विकसित रूप दिया और शायद यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि जो कार्य मैकियावली ने आरंभ किये और जिन्हें मैकियावली अपने समय में पूरा नहीं कर सका उनमें से कई कार्यों को बोदाँ ने पूरा किया। असंदिग्धतः, मैकियावली के विचार-दर्शन में हमें आधुनिकता के कई लक्षण दिखलायी पड़ते हैं, जैसे मैकियावली की ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति, राज्य संबंधी सिद्धान्त की कल्पना और राजनीति एवं आचार शास्त्र का अलग-अलग क्षेत्र निर्धारण आदि; लेकिन स्पष्ट है कि इन सबको मैकियावली उतना विकसित नहीं कर सका जितनी आवश्यकता थी। राज्य शब्द का प्रयोग तो मैकियावली ने किया लेकिन वह यह नहीं बतला सका कि राज्य के अनिवार्य तत्व क्या हैं। राज्य के तत्वों को बतलाने का काम बोदाँ ने किया।

बोदाँ और मैकियावली--इन दोनों में से आधुनिकता का विधायक कौन था, यह समझने के लिये प्रसंगवश हमें पहले यह जान लेना चाहिए कि राजदर्शन के इतिहास में

---

१ मॉण्टेस्क्यून इस विषय में पर्याप्त छानबीन की और राज्य के इस पक्ष पर भी काफी लिखा है।

२ मैकियावली का कहना था कि राजा या शासक को संधि की शर्तें तभी तक माननी चाहिए जब तक उनसे उनका लाभ हो। फासिस्ट और नाजी भी यही कहते थे। लेकिन आधुनिक प्रजातंत्रवादी राज्य इससे सहमति प्रकट नहीं करते।

आधुनिक और मध्य युग के विचारों में अन्तर क्या है ? इसी अन्तर के आधार पर हम यह बतला सकेंगे कि दोनों में से कौन आधुनिकता के अधिक निकट है। सबसे पहली बात इस संबंध में यह है कि आधुनिक युग के राजनीतिक संवास मध्य युग के राजनीतिक संवासों से भिन्न हैं। आधुनिक युग में हम राष्ट्र राज्य (Nation State) की कल्पना पाते, हैं, जब कि ऐसी किसी भी कल्पना का मध्य युग में कोई अस्तित्व नहीं था। उन दिनों तो सार्व-भौमिक राज्य की कल्पना को ही मान्यता प्राप्त थी। मध्य युग का राजदर्शन रूढ़िवादी, अंधविश्वास प्रधान, धार्मिक मूढ़ताओं पर आधारित एवं अवैज्ञानिक था। एक वाक्य में मध्य युग का पूरा राजदर्शन राजसत्ता और धर्मसत्ता के पारस्परिक संबंधों को स्थिर करने का प्रयत्न था। इसके विपरीत आधुनिक युग में राजदर्शन के अध्ययन का दृष्टिकोण बदल गया है। अब यह अनुभूतिमूलक, ऐतिहासिकता पर आधारित, व्याप्तिमूलक, आलोचनात्मक और वैज्ञानिक है।

८·१ **अध्ययन पद्धति**—अब हम सबसे पहले बोदाँ और मैकियावली की अध्ययन पद्धति पर विचार करेंगे। इस विषय पर आते ही हमें प्रोफेसर डनिंग के ये शब्द याद आ जाते हैं कि इतिहासकारों और आलोचकों के बीच इस बात पर काफी मतैक्य है कि अरस्तू के युग से राजनीति शास्त्र अपने जिस स्वरूप और पद्धति से भटक गया था—बोदाँ ने उसे वह प्राचीन स्वरूप तथा अध्ययन पद्धति देकर कम से कम वैज्ञानिकता का बाह्य आवरण प्रदान किया। मैकियावली ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न अवश्य किया था लेकिन उन प्रयत्नों की संपूर्ति का कार्य बोदाँ ने किया। ऐतिहासिक प्रणाली का प्रयोग मैकियावली ने किया था लेकिन उसका यह प्रयोग अत्यन्त सीमित था। बोदाँ ने उसे व्यापक रूप दिया। बोदाँ ने बतलाया कि इतिहास द्वारा हम बड़े-बड़े राज्यों और उनके उत्थान तथा पतन के कारण को जान सकते हैं; इतिहास के ज्ञान द्वारा हम बीती पीढ़ियों की अच्छाइयों और बुराइयों को समझ, सफलता-असफलताओं का अध्ययन कर उनसे आगे के लिये शिक्षा ले सकते हैं। इन्हीं के आधार पर भावी आचरणों का नियंत्रण और नियमन भी किया जा सकता है। ये सिद्धान्त निस्संदेह बड़े उपयोगी और निश्चयात्मक सिद्ध हो सकते हैं। इनसे हम ऐसी सरकार या ऐसे आदर्श शासनतंत्र की कल्पना कर सकते हैं जो सब भाँति दक्ष हो। इस प्रकार के कार्यनिपुण और दक्ष शासनतंत्र को स्थायित्व कैसे प्रदान किया जा सकता है—यह भी ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा स्थिर किया जा सकता है। यह भी जाना जा सकता है कि अच्छे राज्य को अव्यवस्था और बरबादी से बचाने का रास्ता कौन-सा है। यह मार्ग मैकियावली ने दिखलाया था। ऐलेन के मत से मैकियावली में उसकी अध्ययन पद्धति ही सबसे अधिक मौलिक थी। लेकिन मैकियावली यहीं तक सीमित नहीं रहा। उसने व्याप्ति-मूलक (Inductive) पद्धति का भी सहारा लिया। मैकियावली के पूर्व मध्य युग के विद्वान् निगमनात्मक (Deductive) पद्धति का ही प्रयोग करते थे। मैकियावली ने इस पद्धति का परित्याग कर दिया और **एल० ए० बर्ड** के शब्दों में "उसने अनुभूति द्वारा तथ्यों को संचित कर इतिहास के अध्ययन पर आधारित सिद्धान्तों द्वारा जाँचा।" लेकिन

---

1 "On one point, however, there is substantial and well founded agreement among historians ahd critics and that is, that Bodin brought back political theory to the form and method from which it had gone far astray since Aristotle and gave to it again the externals at least. of a science Prof. W. A Dunning in *A History of Political Theories from Luther to Montesquieu*. p. 120,

मैकियावली ने वस्तुतः जिस पद्धति का प्रयोग किया वह ऐतिहासिक-सी प्रतीत होती थी; तथ्यतः वैसी नहीं थी। उसकी प्रेरणा का असली सूत्र वह रुचि थी जो उसे मनुष्य के स्वभाव के अध्ययन के लिये उत्साहित करती थी और अपने समकालीन युग की बुराइयों को दूर करने के लिये उसे प्रेरित करती थी। उसने पहले अपने आस-पास के वातावरण का अध्ययन किया। इसके बाद यह जानने का प्रयत्न किया कि बुराइयों को किस प्रकार दूर किया जाय। ऐतिहासिक प्रणाली का उपयोग करते समय इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिये कि कौन व्यक्ति क्या लिख रहा है। और जो कुछ वह लिख रहा है—वह सब लिखने का वह किस हद तक अधिकारी है; लेकिन इस प्रकार की समालोचनात्मक दृष्टि का मैकियावली में बिलकुल अभाव था। प्रो० डनिंग की यह टिप्पणी इस स्थल पर उपयुक्त जान पड़ती है कि मैकियावली ने उक्त प्रकार से ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करने के बजाय राज्य के सिद्धान्तों के निर्धारण के कुछ ऐसे नियम संकलित कर दिये जो शासनतंत्र चलाने के काम की दृष्टि से अधिक उपयोगी थे। ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा प्राप्त साधनों का तो मैकियावली ने प्रयोग किया लेकिन उस प्रणाली के प्रयोग करने में तथा समकालीन वातावरण का पर्यवेक्षण करने में मैकियावली केवल अनुभूतिमूलकता तक ही सीमित रह गया।[1] इसका नतीजा जो कुछ हुआ वह पूर्वोक्त वाक्य में बतलाया जा चुका है। इसके विपरीत बोदाँ ने इतिहास का एक व्यवस्थित दर्शन ही बना डाला। **मैक्सी** के शब्दों में "बोदाँ ने इतिहास के सार्वभौमिक दृष्टिकोण को ग्रहण नहीं किया और न ही ब्रह्माण्ड के अस्तित्व के कारणों तथा उसका नियंत्रण करनेवाली विधियों को ही जानने की कोशिश की; बल्कि उसकी इस बात में अधिक रुचि थी कि इतिहास विवेकपूर्वक कैसे लिखा जाय और उसकी बुद्धिपूर्वक व्याख्या कैसे की जाय।"[2] यह वह आवश्यक मानता था कि इतिहासकार के लिए घटनाओं का वर्णन करते समय निष्पक्षता बहुत जरूरी है। यदि इस प्रकार से लिखे गये इतिहास का अध्ययन किया जाय तो मनुष्य को बहुत-सी समस्याओं का उत्तर स्वयमेव ही मिल जायगा। यही कारण है कि बोदाँ में राजनीतिशास्त्र के प्रत्यक सिद्धान्त का वैज्ञानिक आधार खोजने का प्रयत्न पाया जाता है। अतः, बोदाँ की अध्ययन पद्धति मैकियावली की अपेक्षा कहीं अधिक आधुनिक है और उसमें अधिक व्यवस्था और वैज्ञानिकता है।

८·२ **राज्य की कल्पना**—यह अवश्य है कि मैकियावली ने अपनी पुस्तक **'दि प्रिंस'** (The Prince) में राज्य शब्द का प्रयोग किया है लेकिन यह बात बड़ी ही संदेहास्पद है कि वह राज्य के समस्त तत्वों को स्वयं भी भली भाँति समझ पाया था या नहीं। अपनी पुस्तक में राज्य के तत्वों को उसने कहीं कोई विवेचना नहीं की। ऐलेन भी यही कहता है कि मैकियावली राज्य की कल्पना ठीक-ठीक कर पाया या नहीं—अभी संदिग्ध है। सच तो यह है कि उसने केवल अपने समय के राज्यों तक ही अपनी दृष्टि सीमित रखी थी।

1 "In Machiavelli the method of historical research and contemporary observation was fully appreciated but in its appreciation became little more than empiricism and produced rather a body of it principles for the practical conduct of government than a theory of the state" Prof W. A. Dunning in *A History of Political theories from Luther to Montesquieu* p. 102.

2 "Bodin did not take a cosmic view of history, seeking to find its causes first and unfold its governing laws but he was much interested in the rational writing of history and in its intelligent interpretation C. C. Maxey in his *Pol. Philosophies.* p. 163

अपने समय के राज्यों में भी उसने फ्रांस और स्पेन का अध्ययन किया था लेकिन वह किसी परिणाम पर नहीं पहुँच पाया था। उसने जातीयता के आधार पर इटली के पुनर्निर्माण और पुनर्संघटन की बात अवश्य सोची थी लेकिन वह राष्ट्र-राज्य की कल्पना नहीं कर पाया था। मरे के शब्दों में "यह कार्य बोदाँ को ही करना पड़ा कि वह बतलाये कि सार्वभौमिक साम्राज्यों के चाहे वे रोमन हों या फ्रेंच, दिन बीत चुके ह। राष्ट्रीयता के उदय होने का समय आ गया है और उसके साथ ही यह भी आवश्यक हो गया है कि संप्रभुता की अलग से बिलकुल भिन्न व्याख्या की जाय और उसका एक नया सिद्धान्त बनाया जाय। बोदाँ ने रिपब्लिक में अपने आप को यही कार्य सौंपा है। यही उसका सबसे अधिक स्थायी कार्य है।"[१] यदि मैकियावली ने राज्यविस्तार के सिद्धान्त का विकास किया और कूटनीतिक कला की सृष्टि की तो बोदाँ ने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त की रचना की जिसे हॉब्स, ऑस्टिन आदि जैसे न्यायाचार्यों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया।

८·३ **संप्रभुता**—अपनी पुस्तक में बोदाँ ने राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "राज्य परिवारों तथा उनकी सम्पत्ति का समूह है जिसका शासन एक सर्वोच्च शक्ति और विवेक द्वारा होता है।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि राज्य का मुख्य तत्व उसकी संप्रभुता है। "सर्वोच्च शक्ति" शब्द का प्रयोग इसी संप्रभुता की ओर संकेत करता है। यह तत्व एक ऐसा तत्व है जो राज्य को अन्य समस्त राजनीतिक संवासों से भिन्न स्थिति प्रदान कर देता है। "संप्रभुता नागरिकों और प्रजाजनों पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति है और वह विधि (कानून) द्वारा सीमित नहीं होती।" आधुनिक राजदर्शन म बोदाँ का महत्व ही यह है कि उसने सबसे पहले संप्रभुता के प्रश्न को उठाया और उसका वैधानिक दृष्टि से परीक्षण किया। यद्यपि संप्रभुता की कल्पना की उत्पत्ति रोमन विधि संहिताओं में मिल जाती है, तथापि यह बोदाँ का ही कार्य था कि उसन संप्रभुता की परिभाषा की और उस परिभाषा को राजनीतिशास्त्र का एक अंग बना दिया। समकालीन अशान्ति तथा ऊह.पोह को दृष्टि में रखते हुए बोदाँ इस परिणाम पर पहुँचा था कि संप्रभुता ही एकमात्र ऐसा तत्व है जो राज्य को एकता और शक्ति प्रदान कर सकता है। मैकियावली ने इसके विपरीत संप्रभुता की ओर केवल हलका सा संकेत किया और परिभाषा देने की कोई चेष्टा नहीं की।

८·४ **राजनीति और आचारशास्त्र**—मैकियावली के अनुदायों पर पिछले अध्याय में विचार करते हुए हमने इस बात की ओर संकेत किया था कि उसने राजनीतिशास्त्र (Politics) को आचारशास्त्र (Ethics) से बिलकुल पृथक् कर दिया था। उसने राज्य के कर्ताधर्ता के लिये नैतिकता या आचारिकता के उन नियमों का कोई बंधन नहीं लगाया जो व्यक्ति पर लागू होते हैं। वह राज्य के नैतिक अस्तित्व को नहीं मानता था। राज्य के लिय मकियावली के अनुसार कोई भी कार्य नैतिक या अनैतिक नहीं है। यदि किसी कार्य करनसे राज्य की भलाई होती है तो वह कार्य यदि अनैतिक हो, तब भी राजा को उसे कर डालना चाहिए। बोदाँ ने मैकियावली के इस त्रुटिपूर्ण मत का संशोधन किया और एक मध्यमार्ग अपनाया। उसने कहा कि राजनीतिक संवासों और जीवन को नियंत्रण करनेवाली

[१] It was reserved for Bodin to point out that the days of Empires, whether Roman of French, had altogethr passed away. The day of ascent of antionalism had arrived and with its arrival is was high tıme to devise a theory of sovereignty to this task. Bodın addresseshimselfinhis Rspublique and it constitutes his most permanent achievement R H Murray in *The History of Political Science from Plato to present* pp. 178-179.

दो शक्तियाँ हैं—पहली ईश्वर की शक्ति और दूसरी न्याय की शक्ति। बोदाँ कहता है कि राज्य के कल्याण के लिये शासक का किसी ऐसी अलौकिक शक्ति में विस्वास होना जरूरी है जो सदैव राज्य के कल्याण का चिन्तन करती है। यद्यपि इस मत में भी त्रुटियाँ हैं क्योंकि बोदाँ यह नहीं बतला पाया कि ईश्वर और न्याय की शक्तियाँ किस प्रकार भौतिक रूप से राज्य का नियंत्रण करती हैं लेकिन राज्य को अधिकांश मामलों में मध्य-मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए--आधुनिक राजदर्शनशास्त्री यह बात एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

८·५ **भौतिक वातावरण का प्रभाव**--राजनीतिक संवासों की रचना और किसी देश के निवासियों के राजनीतिक जीवन को भौतिक वातावरण किस हद तक नियंत्रित करता है--यह बात सबसे पहले बोदाँ ने ही बतलायी। भौगोलिक, आर्थिक और धार्मिक वातावरणों द्वारा संवास किस प्रकार प्रभावित होते हैं--इस पर मैकियावली ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था। बोदाँ ने इस क्षेत्र में अनुसंधान कर विस्तारपूर्वक यह बतलाया कि शासनतंत्रों की स्थिरता और उनके स्वरूप पर भौतिक वातावरण का किस प्रकार और कितना प्रभाव पड़ता है एवं नागरिकों का चरित्र उनसे कितना अधिक प्रभावित होता है। इस प्रकार बोदाँ ने माण्टेस्क्यू द्वारा भविष्य में होने वाले कार्य की तरफ संकेत किया।

८·६ **नागरिकता की कल्पना**—बोदाँ के राजदर्शन की एक और विशेषता जिससे उसकी आधुनिकता प्रकट होती है उसकी नागरिकता (Citizenship) की कल्पना है। एक राज्य के सब नागरिकों में यह समानता होती है कि वे एक ही संप्रभु के प्रति आस्था और भक्ति रखते हैं। यह कार्य मैकियावली नहीं कर सका था। मैकियावली यह तो चाहता था कि इटली एक शक्तिशाली राज्य बने और एक संप्रभु शासक उसका नेतृत्व करे लेकिन वह यह नहीं जानता था कि नागरिकता एवं संप्रभुता; राष्ट्रराज्य की कल्पना के वे साधन हैं जिनसे उसका देश शक्तिशाली और उसकी कल्पना का बलवान् राज्य हो सकता है। यह काम बोदाँ ने पूरा किया। इस दृष्टि से बोदाँ मैकियावली से कहीं अधिक आधुनिकता का नायक है।

इतना होते हुए भी यह कहना एक बहुत बड़ी भूल होगी कि बोदाँ सब भाँति आधुनिक था। वास्तव में वह ऐसे युग को परस्पर विरोधी शक्तियों का शिशु था जो न आधुनिक थीं और न मध्ययुगीन। वह युगसंधि का विचारपुरुष था। यही कारण है कि उसमें दोनों युगों के विचारों का मिलन हमें दिखलायी पड़ता है। भूतों और चुड़ैलों में बोदाँ को विश्वास था। वह नक्षत्रों के प्रभाव में विश्वास करता था। अंकों द्वारा भविष्य को जाना जा सकता है--इस बात पर भी उसका विश्वास था। उसका कहना था कि उसे अपनी आयु के ३७वें वर्ष से एक प्रेत की सिद्धि है जिसकी वजह से वह इतना काम कर सका है। यदि वह गलत कार्य करता है तो यह प्रेत उसका बायाँ कान छूता है और यदि सही तो दायाँ। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि उस पर मध्य युग का भी प्रभाव था।

९. बोदाँ का महत्व, अनुदाय और प्रभाव

बोदाँ को अरस्तू के बाद राजदर्शन का सबसे बड़ा विचारक इसलिये माना जाता है कि उसने राजनीति के सिद्धान्तों को एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। मैकियावली ने राजनीति के सिद्धान्तों के निर्धारण में जिस ऐतिहासिक और पर्यवेक्षणात्मक पद्धति का अनुगमन किया था बोदाँ की पद्धति उससे कहीं अधिक विकसित थी। दोनों ने मैकियावली की भाँति ऐतिहासिक पद्धति का यह अर्थ नहीं निकाला कि कुछ काल्पनिक आधारों पर कोई सिद्धान्त निश्चित कर लिया जाय और फिर उसकी पुष्टि के लिये इतिहास से प्रमाण खोजे जायँ। इसके विपरीत बोदाँ ने इतिहास के गहन अध्ययन के पश्चात्

घटनाओं की मूल प्रवृत्तियों को समझ कर उनके आधार पर राजनीति के सिद्धान्त स्थिर करने की प्रणाली अपनायी थी। उसने यह स्वीकार तो किया था कि राजविज्ञान में नैतिक विचारों और वधानिक विचारों को अलग-अलग क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाय लेकिन वह मैकियावली की भाँति इस विचार का नहीं था कि राजनीति और धर्म को कठोर एवं सर्वथा भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त कर दिया जाय। बोदाँ के राजविज्ञान के चार महत्वपूर्ण अनुदान हैं—(१) प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त, (२) संप्रभुता की कल्पना, (३) शासन तंत्र (सरकार) और राज्य का विभेद और (४) राजनीतिक जीवन तथा राष्ट्रीय चरित्र पर भौगोलिक वातावरण का असर। जहाँ तक प्राकृतिक विधि (Natural Law) का संबंध है—विद्वानों का यह कहना ठीक ही है कि बोदाँ ने मध्य युग के विचारकों की ही बात को थोड़े से हेर-फेर के साथ मान लिया है। लेकिन शेष अनुदानों के संबंध में यह कहा जाता है कि वे काफी हद तक मौलिक हैं। प्राकृतिक विधियों को तो तब तक एक स्वयं-सिद्ध सत्य के रूप में ग्रहण किया जाता था और उसकी पुष्टि के लिये अधिक प्रमाणों को खोजने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। लेकिन बोदाँ ने संप्रभुता की जो परिभाषा दी है उससे बोदाँ का शब्दकौशल भले ही प्रकट हो लेकिन भावों का स्पष्टीकरण नहीं होता। फिर भी संप्रभुता की कल्पना में एक बात बोदाँ ने स्पष्ट कर दी और वह यह कि संप्रभुता का स्रोत मलतः लौकिक है—दैवी नहीं। इस प्रकार उसने एक नयी विचारधारा की सृष्टि की। उसकी इस विचारधारा ने इंगलैण्ड और फ्रांस के विचारकों को बड़ा प्रभावित किया। हॉब्स और फिलमर ने इस संबंध में बड़ा काम किया। वे दोनों ही अँग्रेज थे और दोनों ही बोदाँ से प्रभावित थे।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों ने ही राजा की निरंकुशता का समर्थन किया और यह कहा कि संसद (Parliament) को राजा की गतिविधि को नियंत्रित करने का कोई अधिकार नहीं है। अन्य विचारकों ने बोदाँ के संकेतों पर चलते हुए प्राकृतिक विधियों का धर्म-निरपेक्षीकरण (Secularisation) किया था। यह कार्य मुख्यतः ग्रोशस तथा लॉक ने किया। मांटेस्क्यू ने भौगोलिक वातावरण का राजनीति पर कैसा प्रभाव पड़ता है—इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया। बोदाँ के बाद यदि उसकी **डी रिपब्लिका** उपेक्षित हो गयी तो इसका यह कारण नहीं था कि उसमें महत्व की बातें नहीं थीं बल्कि यह कि उसकी भाषा जटिल तथा लिखित सामग्री अव्यवस्थित थीं।

१०. ह्यगोग्रोशस (Hugo Grotius) उसका जीवन और सामयिक परिस्थितियाँ

ह्यूगो ग्रोशस (Hugo Grotius) का जन्म हालैण्ड में एक वकील के घर में सन् १५८३ में हुआ था। प्रारंभ से ही वह बड़ा प्रतिभाशाली था और पढ़ाई-लिखाई म अपने साथी छात्रों से आग रहता था। उसकी प्रतिभा की कल्पना इसी बात से की जा सकती है कि उसने सोलह वर्ष की स्वल्प अवस्था में ही डॉक्टर ऑफ लॉ की उपाधि ग्रहण कर ली थी। कुछ ही समय में उसकी गणना यूरोप के सर्वश्रेष्ठ वकीलों में की जाने लगी थी। वह हालैण्ड में कई ऊँचे सरकारी ओहदों पर नियुक्त हो चुका था। लेकिन उन दिनों यूरोप में चारों तरफ अशान्ति और अव्यवस्था का राज्य था। इंगलैण्ड में भी षड्यन्त्र हो रहे थे।[2] स्पेन में भी राजद्रोह की अग्नि धधक रही थी।[3] इन्हीं दिनों फ्रांस में भी राजनीति के क्षेत्र में

---

[1] डी रिपब्लिका का १६०६ म अँग्रजी में अनुवाद हुआ था और उसे केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ाया जाता था।

[2] सन् १६०५ का Gun Powder Plot इस संबंध में उल्लेखनीय है।

[3] स्पेन में निरंकुश और आततायी राजतंत्र के विरुद्ध आन्दोलन और मेरियाना की प्रसिद्ध पुस्तक डी रेगे एट रेजिस इन्स्टीट्यूशन का प्रकाशन।

हिंसात्मक उपद्रवों का होना आरंभ हो गया था। यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध चल रहा था।[1] हॉब्स की भाँति ग्रोशस भी इस अशांति, अव्यवस्था तथा क्रूरतापूर्ण कार्यों से अत्यन्त दुखी हुआ था। वह कोई ऐसा मार्ग तलाश करना चाहता था जिससे इन सारी परिस्थितियों का अन्त हो सके। वह वकील था——इसलिए उसने इस समस्या को वैधानिक (legal) दृष्टिकोण से देखा। वह ईसाई धर्म की एकता में अधिक निष्ठा रखता था और वह उस व्यापक निष्ठा के समक्ष छोटे-छोटे मतभेदों को कोई महत्व नहीं देता था। उसने कई वैधानिक तथा राजनीतिक पुस्तकें लिखीं। इनकी ही वजह से वह सबसे बड़ा न्यायाचार्य (Jurist) माना जाने लगा। वह अपने समय के मानवतावादी आन्दोलन (Humanist School of Thought) से बहुत अधिक प्रभावित था। उसकी मृत्यु सन् १६४५ में हुई।

१०·१ **ग्रोशस की पुस्तकें**——ग्रोशस की पुस्तकें मुख्यतः विधि संबंधी हैं और उसने उनमें प्राकृतिक विधियों तथा उनके आधार पर अपने राजनीतिक विचारों का विवेचन किया है। इसीलिए उसे प्राकृतिक विधियों का सबसे बड़ा विद्वान् भी माना जाता है उसकी तीन पुस्तकें सबसे अधिक महत्वपूर्ण इस प्रकार हैं : (१) डी जूरे प्रेदे (De Jure Praedae), (२) डी जूरे बेली एक पेसिस (De Jure Belli ac Pacis), और (३) मेयर लायबेरम (Mare Liberum)। पहली पुस्तक सन् १६०४, दूसरी सन् १६२५ और तीसरी सन् १६०९ में प्रकाशित हुई थी। पहली पुस्तक ग्रोशस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) के संबंध में लिखी। लेकिन इस पुस्तक में उसने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया——वे अधिक विस्तारपूर्वक **'डी जूरे बेली एट पेसिस'** में प्रतिपादित किये गये। इन दोनों ही पुस्तकों का विषय प्राकृतिक विधियाँ हैं। तीसरी पुस्तक, 'मेयर लायब्रेरम' में ग्रोशस ने व्यापारिक स्वतंत्रता की चर्चा की और लिखा कि समुद्र यात्रा करने की स्वतंत्रता सबको होनी चाहिए। यह ठीक नहीं कि समुद्र पर किसी एक राज्य का आधिपत्य हो जाय। उसको तीनों पुस्तकों का सार निकाला जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि वह कुछ ऐसी विधियों और नियमों को खोजना चाहता था——जो समान रूप से विश्व भर में प्रयुक्त की जा सकें। इस प्रकार ग्रोशस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियों की स्थापना की। उसके विचार अत्यन्त परिपक्व थे और उसकी पुस्तकें पढ़ने से ऐसा लगता है कि सामान्य विधियाँ (Jus Gentium) और प्राकृतिक विधियाँ (Jus Naturalae) के संबंध में गहन अध्ययन करके उसने अपना मत इस संबंध में भली भाँति सुस्थिर कर लिया था। उसकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक **'डी जूरे बेली एट पेसिस'** है। यह तीन भागों में विभक्त है। इन भागों में अलग-अलग युद्ध, युद्धों के कारण और उनके औचित्य तथा अन्त म उन मर्यादाओं का अंकन किया गया है जिनको युद्धरत देशों को भी भंग नहीं करना चाहिए। ग्रोशस की पुस्तकों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें व्यवस्था और स्पष्टता के अतिरिक्त मौलिकता नहीं है। सच तो यह है कि स्पेनिश विचारक फ्रांसिस्को सूरेज न जो मत अपनी पुस्तकों में प्रकट किये हैं उनसे ग्रोशस के मत भी काफी मिलते-जुलते हैं। लेकिन सूरेज के विचार अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके जिसका कारण यह था कि वे मध्य युग से प्रभावित थे। इसके विपरीत ग्रोशस के मत में सुधारवादिता थी। उनमें इटली के ज्ञान के पुनरोदय के आन्दोलन की मूल वृत्तियों और मानवतावादी आन्दोलन की उन बातों का बड़ा अच्छा समन्वय था जिनका यूरोप की समकालीन जनता पर बड़ा प्रभाव था। यही नहीं ग्रोशस ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म की उन बातों को भी स्वीकार किया जो कैथोलिक धर्म के विरुद्ध तो थीं लेकिन उनसे प्रगति में सहायता मिलती थी। इस पुस्तक के लिखने के संबंध में ग्रोशस को विटोरिया, आयला, जेण्टीलिस आदि विचारकों से बड़ी सहायता मिली और

[1] सन् १६१० में फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ की हत्या।

उसने इस सहायता को स्वीकार भी किया है। लेकिन उसने सूरेज या अपने समकालीन जर्मन तथा फ्रेंच न्यायाचार्यों के प्रति कोई कृतज्ञता प्रकट नहीं की। हार्नशॉ ने ठोक ही लिखा है कि प्राचीन ज्ञान को सुधारवादी और ज्ञानके पुनरोदय के आन्दोलन की दुनिया के प्रयोग के लिये इस पुस्तक में सँजोकर रख दिया गया है।[1] प्राकृतिक विधि, अन्तर्राष्ट्रीय विधि और संप्रभुता आदि संबंधी उसके विचार इसी पुस्तक से ग्रहण किये गये हैं। ग्रोशस का लक्ष्य वस्तुतः अधिकारों और कर्तव्यों की एक ऐसी तालिका तैयार करना था जिसे सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त हो। वह इन अधिकारों और कर्तव्यों को प्राकृतिक विधियों की सहायता से पुष्ट करना चाहता था। उसे विश्वास था कि ऐसा हो जाने से यूरोप की लुप्त एकता और शान्ति पुनः स्थापित हो सकेगी। ग्रोशस की प्राकृतिक विधि की कल्पना पर ही सर्व प्रथम हम विचार करेंगे।

११. प्राकृतिक विधि (Natural Law) का विवेचन

इस स्थल पर यह जान लेना आवश्यक है कि प्राकृतिक विधियों की तरफ ग्रोशस का ध्यान क्यों गया। यह तो हम बतला ही चुके हैं कि उन दिनों यूरोप अशान्ति के दावानल में जल रहा था। युद्ध हो रहे थे और युद्धों में तरह-तरह के अत्याचार किये जा रहे थे। ये अत्याचार इतने लोमहर्षक थे कि ग्रोशस घबड़ा उठा और उसने यह आवश्यक समझा कि कोई ऐसी विधि बनाई जाय जिसे सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त हो। स्पष्ट है कि कोई ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि कोई राजा या किसी देश का शासक नहीं बना सकता था,जिसे सब देश मान लें। सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त विधि के निर्माण के लिये आवश्यक था कि उसका स्रोत कोई दूसरा हो, कारण उन दिनों स्थिति यह थी कि 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) जैसी किसी चीज को मानने के लिये लोग तैयार नहीं थे। उन्हें विश्वास भी नहीं था कि ऐसी भी कोई विधि हो सकती है।[2]

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में यह एक परिपाटी-सी हो गयी थी कि लोग विधि संबंधी किसीभी प्रश्न पर विचार करते समय हमेशा आधारभूतविधियोंयाप्राकृतिक विधियों की चर्चा करते थे। "ईसाई राजदर्शन विचारकों की दीर्घ परम्परा में ऐसा कोई व्यक्ति

---

1 The book. "summed up the accepted wisdom of the ancients and applied it to unprecedented conditions of the Renaissance and Reformation world, it epitomised all that had been written by stoic philosophers, Roman lawyers, scholastic theologians and Jesuitical casuists, concerning the law of nature and the law of nations, and combined it into a solid foundation for an incalculably valuable superstructure of international morality and custom". F. J. C. Hearnshaw in *Social & Political Ideas of the Sixteenth and Seventeenth Centuries*. p. 137.

2. "Such a work is all the more necessary because in our day, as in former times, there is no lack of men who view this branch of law with contempt as having no reality outside of an empty name" Grotius in *Prolegomena*, Sec. 3 (F. W. Kelsey's Translation).

नहीं हुआ जिसने प्राकृतिक विधियों की वैधता में कोई शक किया हो।"[1] इसलिये उसकी वैधता के प्रश्न को ग्रोशस ने नहीं उठाया लेकिन प्राकृतिक विधि के होते हुए भी जिस प्रकार ईसाई एकता के भव्य भवन की दीवालें ढहती जा रही थीं उनकी वजह से ग्रोशस को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि वह इस संबंध में विचार करे। प्राकृतिक विधियों के बारे में यूनानी विचारकों का तो अनुदाय था ही इनके अतिरिक्त रोमन विचारकों में से सिसरो ने भी इस दिशा में काफी काम किया। ग्रोशस ने इन विचारों से काफी और निस्संदेह सहायता ली।

प्राकृतिक विधि क्या है—यह बतलाने के पूर्व ग्रोशस ने मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्तियों पर विचार प्रकट किये। उसने बतलाया कि "मनुष्य भी एक प्राणी है। लेकिन वह सामान्य प्राणी नहीं है—अन्य प्राणियों से उसकी स्थिति उच्चतर है।... उसके चरित्र की एक विशेषता यह भी है कि उसमें सामाजिक जीवन व्यतीत करने की बड़ी तीव्र आकांक्षा रही है। वह हर प्रकार के समाज में नहीं रह सकता बल्कि चाहता है कि एक शांतिपूर्ण और व्यवस्थित समाज में उसका जीवन व्यतीत हो।"[2] यह प्रवृत्ति वही है जिसे स्टोइक विचारकों ने सामाजिकता की प्रवृत्ति कहा था। यह प्रवृत्ति ही सब प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार होती है और समाज में जितनी भी विधियाँ हैं—वे सब इस प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न होती हैं।[3] यही नहीं जैसा मानवीय स्वभाव है यदि उसके अनुरूप ही समाज को चलना है तो कुछ ऐसी बातें हैं जिनके मूल्यों की अनुभूति भी आवश्यक है। उदाहरण के लिये सम्पत्ति रखने का अधिकार और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था, ईमानदारी, पारस्परिक विश्वास की भावना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे मनुष्य के आचरण को नियंत्रित किया जाता है और नियंत्रित होना भी चाहिए। ये परिस्थितियाँ परम्पराजनित नहीं हैं बल्कि ऐसी आवश्यकताएँ हैं जिनकी वजह से परम्पराएँ बनती हैं। ग्रोशस ने स्वयं लिखा है कि "यदि हमें किसी चीज की आवश्यकता न हो तब भी मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि वह स्वयं ही पारस्परिक संबंधयुक्त समाज का निर्माण स्वयमेव कर लेता है। यही प्रवृत्ति प्राकृतिक विधि की जननी है।" प्राकृतिक विधि के एक स्वरूप का एक विकसित फल ही रचनात्मक या सिद्धि विधि (Positive Law) के रूप में हमारे सामने आता है। यह दूसरी बात है कि अलग-अलग देशों में न्याय के विधान भिन्न-भिन्न हों किन्तु कुछ ऐसे सिद्धान्त अवश्य होते हैं जो प्राकृतिक होते हैं और जिनका स्रोत मानवीय विवेक होता है। ये सिद्धान्त ऐसे होते हैं जिनको न तो कोई बदल सकता है और न उन पर स्थान या भौगोलिक स्थिति का ही कोई असर होता है। उदाहरण के लिये दो और

---

1 "In the long tradition of Christstian political thought no writer had denied or even doubted the validity of such a law,, G. H. Sabine in *A His. of Pol. Theories*, p. 359.

2 Man is, to be sure, an animal—but an animal of superior kind . . . But among the traits and characteristics of man is an impelling desire for society, that is for social life not of any and every sort but peaceful . . ." Grotius in *Prolegmena* Sec. 6 as quoted by G. H. Sabine.

3 "This maintainance of the Social Order . . . . . is the souree of law properly so called." Ibid. See s.

4 "For the very nature of man, which even if we hadns lack of anything would lead us into the mutual relations of society is the mother of the law of the nature" Ibid. Sec. 16.

दो चार होते हैं। इनके जोड़ में कभी कोई फर्क पड़ ही नहीं सकता।[1] इन्हीं को प्राकृतिक विधि कहा जा सकता है। ग्रोशस के ही शब्दों में प्राकृतिक विधि की परिभाषा इस प्रकार है:—

"प्राकृतिक विधियाँ उचित विवेक का आदेश होती हैं। वे यह संकेत करती हैं कि एक कार्य—जो हुआ है मनुष्य की विवेकयुक्त प्रकृति के अनुसार है या नहीं—वह कार्य नैतिक दृष्टि से निन्दनीय था (या नहीं) या उसको नैतिक दृष्टि से आवश्यकता थी और तब यह कहा जाता है कि वह कार्य प्रकृति के विधाता ईश्वर की मर्जी के अनुसार है या नहीं। ईश्वर उसे चाहेगा या नहीं।"[2]

ग्रोशस ने यह परिभाषा देने के बाद इस बात को स्पष्ट कर देने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है कि इसके पीछे कोई धार्मिक बंधन नहीं है। प्राकृतिक विधि के मौलिक मूल्यों में ईश्वर की इच्छा या अनिच्छा का कोई हाथ नहीं होता। वे मूल्य जैसे पहिले थे—वैसे ही सदा बने रहेंगे।

यहाँ ग्रोशस ने विधियों का वर्गीकरण भी किया है। उसने दैवी विधि से प्राकृतिक विधि को किसी भी प्रकार निम्नतर नहीं बतलाया। उसका कहना है कि दोनों ही विधियों का अपना अलग-अलग और स्वतंत्र अस्तित्व है। लेकिन प्राकृतिक विधियों को दो भागों में अवश्य ही विभक्त किया जा सकता है और वे हैं (१) विशुद्ध प्राकृतिक विधियाँ जो राजनीतिक समाज के निर्माण के पूर्व थीं और (२) वे प्राकृतिक विधियाँ जो राजनीतिक समाज के निर्माण के बाद बनीं। प्राकृतिक विधि कौन-सी है—इसका फैसला ग्रोशस ने तीन बातों के आधार पर किया है—**पहली** बात तो यह कि सामान्य व्यक्ति की आत्मा क्या कहती है; **दूसरी** यह कि बुद्धिमान व्यक्तियों में उसके संबंध में मतैक्य है या नहीं और **तीसरी** यह कि सभ्य देशों में क्या होता है। लेकिन यदि किसी आधार पर प्राकृतिक विधि का फैसला न हो सके तो प्राकृतिक विधि उसी को मानना चाहिए जो 'साधारण व्यक्ति की आत्मा कहे।'

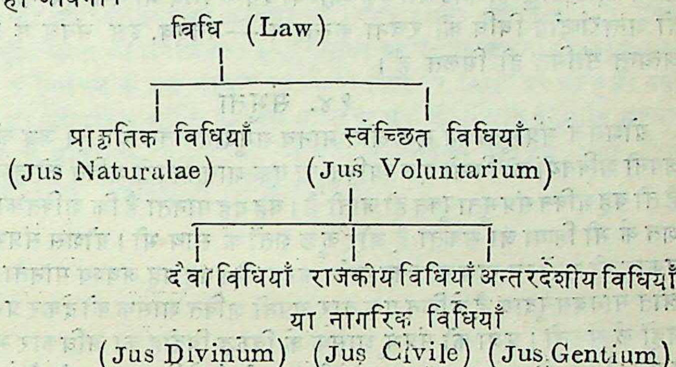
१२. विधियों का वर्गीकरण

ग्रोशस ने जिस प्रकार यह बतलाया है कि सभी प्राकृतिक विधियाँ मानवीय विवेक का परिणाम होती हैं और वे अनिवार्यतः मनुष्य की उस सार्वभौमिक और अपरिवर्तनशील प्रकृति का अंग होती हैं जिसमें औचित्य और न्याय की भावना पल्लवित होती है, उसी प्रकार उसने अन्य प्रकार की विधियों का विवेचन भी किया है। लेकिन विधियों के वर्गीकरण के पूर्व उसने यह बतला दिया है कि सभी विधियाँ प्राकृतिक विधियों के अन्तर्गत होती हैं और उनकी जड़ भी उसी में है। उसका आशय इस कथन से यह है कि सभी विधियाँ मानव प्रकृति और विवेक जनित हैं। उपयोगिता तो एक सहायक अंश मात्र है। यह बतलाने के बाद सभी प्रकार की विधियाँ प्राकृतिक विधियों के अन्तर्गत होती हैं—ग्रोशस ने समस्त विधियों को दो भागों में विभक्त किया है—(१) प्राकृतिक विधि और (२) स्वेच्छित विधि। स्वेच्छित विधियाँ (Jus Voluntarium) वे हैं जो मनुष्य अपनी इच्छा से

1 "Just as even God, then cannot eaust that two times two should not make four, so he cannot cause that which is intrinsically evil be not evil." Grotius in *Prolegomena*; Sec. 10 as quoted by Sabine in *A His. of Pol. Theories*, p. 361.

2 The law of nature is dicate of right reason, which points out that an act, according, as it is or is not in conformity with rational nature, has in it a quality of moral baseness or moral necessity and that in consequence, such an act, is either forbidden or enjoined by the Auth or of Nature—God". Ibid, Bk I, Ch. 1. Sec. 10, 1.

बनाता है और जिनका उद्देश्य मानवीय शक्तियों को किसी रचनात्मक कार्य में लगाना होता है। स्वेच्छित विधियों को भी ग्रोशस ने तीन भागों में बाँटा है—(१) दैवी या ईश्वरीय विधियाँ (Jus Divinum), (२) राजकीय विधियाँ (Jus Civile) और (३) अन्तरदेशीय विधियाँ (Jus Gentium)। यह विभाजन निम्न तालिका से और भी स्पष्ट हो जायगा।



इस वर्गीकरण को भली भाँति समझने के बाद अब हम अलग-अलग यह विचार करेंगे कि विभिन्न विधियों के बारे में ग्रोशस का अपना मत क्या है और उनकी परिभाषाएँ वह क्या देता है। ऊपर हम यह तो बता ही चुके हैं कि प्राकृतिक विधियाँ और स्वेच्छित विधियाँ क्या होती हैं। अब हम यहाँ शेष तीन विधियों पर विचार करेंगे। ऐसी विधियाँ जिनकी रचना में किसी मानवीय शक्ति का हाथ न हो वे **दैवी विधियाँ** कहलाती हैं। जो विधियाँ राज्य की तरफ से किसी संप्रभु शक्ति द्वारा बनायी जायँ और जिनका उद्देश्य नागरिकों का नियमन करना हो—वे **नागरिक** या **राजकीय** विधियाँ कहलाती हैं और जिन विधियों की सहायता से विभिन्न देश अपने पारस्परिक संबंधों का नियमन करें वे **अन्तरदेशीय विधियाँ** कहलाती हैं। इन विधियों को ग्रोशस ने स्वेच्छित विधियाँ ही माना है। इसी के आधार पर उसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) का भव्य भवन खड़ा किया है। उसका कहना है कि इन विधियों का स्रोत इस बात में निहित है कि समाज का एक बहुत बड़ा भाग मानवीय कल्याण का इच्छुक होता है। ग्रोशस ने अन्तरदेशीय विधियों की मीमांसा करने में बोदाँ और विकलर से बड़ी सहायता ली है। इतना होते हुए भी ग्रोशस की मीमांसा में कई उलझनें और त्रुटियाँ रह गई हैं। वह बहुत-सी चीजें स्पष्ट नहीं कर सका है। उसका अन्तरदेशीय दायरा बड़ा संकीर्ण है। वह उसमें केवल कुछ यूरोप के देशों को ही रखता है। दूसरे, अन्तरदेशीय विधियों में ऐसी बहुत सी विधियाँ हैं जिनकी अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिये कोई आवश्यकता नहीं है। ग्रोशस आवश्यक और अनावश्यक विधियों के बीच अन्तर की कोई भी रेखा स्पष्ट रूप से अंकित नहीं कर सका है।

१३. मानवप्रकृति और राज्य की उत्पत्ति

ग्रोशस ने राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने के पूर्व यह बतलाया है कि मानव प्रकृतिः सामाजिक होता है। यही नहीं वह सुव्यवस्थित और सुनियमित समाज चाहता है। यही वजह है कि वह राज्य को जन्म देता है। इसका अर्थ है कि राज्य मानव प्रकृति की एक ऐसी मौलिक प्रवृत्ति का परिणाम है जिसका उद्देश्य मानवजाति को एक लक्ष्य विशेष के लिये संघटित करना होता है। लेकिन वह अरस्तू की भाँति राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की समाज में रहने की इच्छा में ही न मानकर, आगे कहता है कि स्वार्थ की दृष्टि से मनुष्य को

प्रतीत होता है कि उसका समाज में रहना उपयोगी है। राज्य में रहने से मनुष्य को कुछ ऐसे लाभ होते हैं जिन्हें वह राज्य के बाहर प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये वह उन लाभों को प्राप्त करने के लिये राज्य को अपने कुछ अधिकार समर्पित कर देता है और उसमें रहता है। लेकिन सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत को ग्रोशस ने अधिक विकसित नहीं किया। वह राज्य की उत्पत्ति की कोई मौलिक व्याख्या देने के लिये भी समुत्सुक नहीं था। उसका लक्ष्य तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि की रचना करना था—अतएव, इस संबंध में हमें उसके विचार अत्यन्त सीमित ही मिलते हैं।

१४. संभुता

ग्रोशस ने संप्रभुता का मूल स्रोत मानव समुदाय बतलाया है। जब कोई मानव समुदाय अपनी शक्तियों को किसी एक व्यक्ति या एक शासनकारी शक्ति को हस्तान्तरित कर देता है तो वह शक्ति संप्रभुतायुक्त हो जाती है। वह यह मानता है कि शक्ति का हस्तान्तरण बिना शर्त के भी किया जा सकता है और कुछ शर्तों के साथ भी। ग्रोशस संप्रभुता के रूप में एक प्रकार की सर्वोच्च राजसत्ता का दर्शन करता है। वह यह अवश्य मानता है कि संप्रभुता का स्रोत मानवसमुदाय है लेकिन एक बार अपनी शक्ति शासक को देकर प्रजा फिर उसे वापस नहीं ले सकती। प्रजा को संप्रभु शासक के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ग्रोशस का संप्रभुता संबंधी मत बोदाँ से भिन्न था। बोदाँ ने यह नहीं माना कि एक बार शासक को दी गयी संप्रभुता कभी वापस ही नहीं ली जा सकती। ग्रोशस ने यह भी बतलाया है कि राजसत्ता से उसका क्या अभिप्राय है। राजसत्ता राज्य के शासन करने की एक नैतिक शक्ति है। इस शक्ति में सामान्य और विशेष सभी प्रकार के शासनात्मक कार्य करने की शक्ति अभिहित हैं। ये कार्य व्यक्तिगत हितों के भी हो सकते हैं और सामुदायिक हितों के भी और ये कार्य या तो संप्रभुतायुक्त व्यक्ति स्वयं करता है अथवा किसी को हस्तान्तरित कर देता है। राजसत्ता को एक बार जब यह शक्ति मिल जाती है तो फिर उसे किसी भी प्रकार वापस नहीं लिया जा सकता और न उस हस्तान्तरण में ही कोई परिवर्तन किया जा सकता है। लेकिन ग्रोशस संप्रभु शासक के असीम अधिकारों में विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि नागरिक या राजकीय विधियों तथा सामान्य व्यक्तियों की इच्छाओं को छोड़कर, संप्रभु शासक के लिये यह आवश्यक है कि वह प्राकृतिक, दैवी, सांविधानिक और अन्तर राष्ट्रीय विधियों के आदेशों का पालन करे। दूसरी विधियों के विरुद्ध वह आचरण कर सकता है। लेकिन ग्रोशस का यह मत भी निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्या यह संभव है कि कोई संप्रभु शासक अपनी ही बनायी हुई विधियों को न माने ? स्पष्टतः यह बात नहीं हो सकती ग्रोशस ने इसका भली भांति स्पष्टीकरण नहीं किया है। दूसरे उसका यह मत भी आधुनिक विचारकों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया कि शासक कितना ही आततायी हो—उसके विरुद्ध प्रजा को विद्रोह का अधिकार नहीं है। किन्तु ग्रोशस के इस मत से हमें उस विचार-रेखा का संकेत अवश्य मिल जाता है जिसके आधार पर हॉब्स ने अपने नश्वर देव (Leviathan or Mortal God) का ढाँचा खड़ा किया था। हाँ, ग्रोशक शासक की ऐसी आज्ञाओं को न मानने की सलाह अवश्य देता है जो दैवी या प्राकृतिक विधियों के विरुद्ध हों। यह तो स्वीकार किया ही जाता है कि उसकी संप्रभुता का सिद्धान्त एलथ्यूसीयस से भी अधिक अस्पष्ट है।

१५. ग्रोशस का महत्व और अनुदाय

राजनीतिक और राजविज्ञान के दर्शन के इतिहास में ग्रोशस का नाम इसलिये नहीं है कि उसने राज्य की उत्पत्ति या संप्रभुता के किसी नये सिद्धान्त की विवेचना की अपितु इसलिये

१ हॉब्स ने भी संप्रभु शासक के संबंध में बिलकुल यही विचार प्रकट किये हैं।

कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण किया। यही कारण है कि अपने लक्ष्य की पूर्त्ति की धुन में उसने राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना अन्तर्राष्ट्रीय विधि को सामान्य आचारशास्त्र और न्यायशास्त्र से अलग करने में। यही कारण है कि उसके राजनीतिक विचारों में हमें सरकारों की सामान्य समस्याओं पर विचार नहीं मिलते, उसने "अपने पूर्ववर्ती राजतंत्र विरोधियों और अपने उत्तराधिकारी हॉब्स और लॉक की भाँति सामाजिक अनुबंधों की कल्पना पर विशेष ध्यान नहीं दिया।"[1] उसने यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की अराजकता को दूर करने का प्रयत्न किया। यह कार्य उसने प्राकृतिक विधियों के विवेचन के उस आधार पर किया जिन पर किसी को संदेह ही नहीं था। उसने राज्य की आन्तरिक शान्ति के लिये संप्रभु शासक की स्थिति को और मजबूत किया। इसी में उसने प्राकृतिक विधियों का भी बड़ा प्रभावयुक्त विवेचन किया जिसे उसके बाद के प्रायः सभी विचारकों ने स्वीकार किया है।

1 "Grotius did not stress the conception of social contract as did the anti-monarchists who preceded him and Hobbes and Locke who followed him". R. G. Gettell in *The History of Pol. Thought*, p. 191.

१९

इंगलैण्ड में राजदर्शन का विकास

(सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक)

१. राजदर्शन का जन्म––२. नॉर्मन विजय के राजनीतिक परिणाम––३. सर जॉन फोर्टे और रिचर्ड हुकर––४. सर टॉमस मोर––५. जेम्स प्रथम––६. गृहयुद्ध और उसके परिणाम––७. फ्रांसिस बेकन––८. राजतंत्र विरोधियों का पक्ष––९. क्रॉमवेल और उनके साथी––१०. सर एडवर्ड कोक और जॉन मिल्टन––११. हैरिंगटन और फिल्मर।

१. इंगलैंड में राजदर्शन (Political Philosophy) का जन्म

इंगलैण्ड में राजदर्शन का जन्म और विकास जिस ढंग से तथा जिन परिस्थितियों में हुआ, वे यूरोप से बहुत भिन्न थीं। सच तो यह है कि इंगलैण्ड अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यूरोपियन समस्याओं से बहुत कम प्रभावित हुआ और जब तक इंगलैण्ड में ही राजदर्शन के क्षेत्र में अनेकों राजनीतिक समस्याएँ न उठ खड़ी हुई तब तक वह यूरोप के राजनीतिक विवादों से दूर रहा। प्रो० डब्लू० ए० डनिंग (Prof W.A. Dunning) तथा लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने इंगलैण्ड में राजदर्शन के जन्म और विकास की तुलना रोमन राजदर्शन के साथ की है। दोनों ही विद्वानों ने बतलाया है कि प्राचीन रोम तथा इंगलैण्ड में राजदर्शन का जन्म होने के पूर्व ही वहाँ प्रतिनिधि राजनीतिक संवासों की स्थापना हो चुकी थी और व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा भी दोनों ही देशों के निवासियों को काफी मिल चुकी थी। व्यावहारिक अनुभव द्वारा लाभ उठाने की प्रतिभा भी रोमनों तथा इंगलैण्ड-वासियों दोनों में ही पायी गयी। रोमनों और अंग्रेजों ने शासनतंत्रों (सरकारों) को चलाने में भी बड़ी योग्यता का परिचय दिया। दूसरी बात यह है कि यदि रोमनों और अँग्रेजों के राजदर्शन के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो यह पता चलेगा कि वहाँ आरंभ से राजदर्शन के विद्वान् नहीं हुए। विद्वानों की संख्या क्रमशः बढ़ती चली गयी। जिस बात पर वहाँ विशेष बल दिया गया, वह व्यावहारिकता थी––सैद्धान्तिकता नहीं। कोई सिद्धान्त इसलिये नहीं अपनाया गया कि वह सिद्धान्त की दृष्टि से अच्छा था ; वरन् इसलिये कि वह व्यावहारिक दृष्टि पर खरा उतरता था। वास्तविकता तो यह है कि राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग पहले हुए और सिद्धान्त बाद में स्थिर किये गये। तीसरे रोमन और ब्रिटिश दोनों ही संविधानों की देशवासियों और विदेशियों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। रोमन संविधान की प्रशंसा करने-वाला सबसे पहला विद्वान् पोलिवियस था। वह रोम का नहीं बल्कि यूनान का रहनेवाला था। इसके बाद सिसरो आदि ने पोलिवियस का समर्थन किया। पोलिवियस ने जिस प्रकार रोमन संविधान को उत्कृष्ट बतलाया, उसी प्रकार माँटेस्क्यू ने इंगलैण्ड के संविधान की व्यावहारिकता की दृष्टि से तारीफ की, यद्यपि उसके ब्रिटिश संविधान संबंधी कुछ पर्यवेक्षण सर्वथा

---

1 Vide W. A. Dunning in *Political Theories*, Vol. II, pp. 192-193.

2 Vide Lord J. Bryce, *Studies in History of Jurisprudence*, pp. 1-3 and 14-16.

अशुद्ध थे। माँटेस्क्यू भी ब्रिटेन का निवासी नहीं, वरन् फ्रेंच था। मांटेस्क्यू के बाद दूसरे अनेक विद्वानों ने, जिनमें अँग्रेज भी थे, ब्रिटिश संविधान की उत्तमत्ताओं पर प्रकाश डाला। इनमें ब्लैकस्टोन, हैरिंगटन, बर्क आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। चौथे रोम और इंगलैंण्ड दोनों ही स्थानों में विधि-दर्शन (Legal Philosophy) ने बड़ी उन्नति की। रोम और इंगलैण्ड दोनों ही की विधियाँ केवल अपनी ही भौगोलिक सीमाओं में सीमित नहीं रह गयीं बल्कि उनका दुनिया के बहुत बड़े हिस्से पर प्रभाव पड़ा। आजकल भी संसार का शायद ही कोई देश ऐसा निकले जहाँ रोम और इंगलैण्ड के न्यायशास्त्र और विधि-दर्शनों की शिक्षा विधि (Law) और राजनीति के विद्यार्थियों को न दी जाती हो।

प्राचीनकाल के बाद जब हम मध्य युग में आते हैं तो देखते हैं कि प्राचीन रोम का यश और गौरव तो लुप्त हो जाता है लेकिन इंगलैण्ड का और भी अधिक विकास होता है। यह ठीक है कि मध्य युग में इंगलैण्ड राजदर्शन के क्षेत्र में आजकल के इटली, फ्रांस, जर्मनी और स्पेन की तुलना में आगे नहीं रहा, लेकिन इस बीच वह व्यावहारिक राजनीति का बराबर अनुभव प्राप्त करता रहा। मध्य युग में इंगलैण्ड में **जॉन सैलिसबरी, विलयम ओकाम और जॉन वाईक्लिफ** जैसे विद्वान् पैदा हुए लेकिन उन्होंने इंगलैण्ड की राजनीतिक समस्याओं पर इतने अधिक विचार प्रकट नहीं किये कि उनसे इंगलैण्ड के राजदर्शन का इतिहास आरंभ हो सकता। उन्होंने धर्मसत्ता और राजसत्ता के द्वन्द्व के संबंध में अपने विचार प्रकट किये। अतः, इनकी गणना भी यूरोपियन विचारकों में हो जाती है। इनके अतिरिक्त इंगलैण्ड धर्मसत्ता और राज-सत्ता के उस द्वन्द्व से सर्वथा दूर ही रहा जिसका समकालीन यूरोप अखाड़ा बना हुआ था।

२. नॉर्मन-विजय के राजनीतिक परिणाम

इंगलैण्ड पर नॉर्मनों की विजय हो गयी और उनका वहाँ एकछत्र राज्य स्थापित हो गया तो वहाँ कुछ सुनिश्चित राजनीतिक परम्पराओं की स्थापना हुई। संक्षेप में हम उन्हें एक-एक करके इस प्रकार बता सकते हैं। सबसे **पहली** बात तो यह हुई कि देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार बन गयी। यह सरकार सभी प्रकार के विदेशी प्रभाव से मुक्त थी। उस शासनतंत्र के राजाओं पर धर्माधिकारियों का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य था लेकिन वह भी कालान्तर में दूर हो गया और आगे चलकर इंगलैण्ड ने धार्मिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। **दूसरे**, सबल केन्द्रीय शासनतंत्र के कारण इंगलैण्ड में सामन्तशाही प्रथा कभी भी बहुत अधिक बलवान् न हो सकी। यही वजह है कि यूरोप में जहाँ हम पूरा एक सामन्तवादी युग पाते हैं––वहाँ इंगलैण्ड में यूरोप की तरह का सामन्त-वादी युग कभी भी स्थापित न हो सका। **तीसरे**, तेरहवीं शताब्दी में यूरोप में प्रतिनिधिक और प्रजातांत्रिक संवास क्रमशः लुप्त होते चले गये परन्तु इंगलैण्ड में प्रतिनिधिक संवासों (Representative Institutions) का शनैः-शनैः विस्तार और विकास होता चला गया और वहाँ उनके न केवल लुप्त होने की ही नौबत न आई, अपितु आगे चलकर इंगलैण्ड आधुनिक प्रजातंत्रवाद का जन्म-स्थान माना जाने लगा। **चौथे**, भूमिपतियों की व्यवस्था इंगलैण्ड में अवश्य रही लेकिन भूमिपति राजा की अपेक्षा सर्वसाधारण के अधिक समीप रहे। इसका फल यह हुआ कि जब भी राजसत्ता ने निरंकुश होने का प्रयत्न किया

---

१ मांटस्क्यू की एक सबसे बड़ी गलती यह है कि उसने कह दिया था कि इंगलैण्ड के संविधान में शक्ति विभाजन का सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) **कार्य करता है; जब कि वस्तुतः ऐसा नहीं था।**

उसका यह प्रयत्न सफल नहीं होने दिया गया। शाही ताकत को सदैव अंकुश के नीचे रक्खा गया। राजाओं को यह बराबर याद रखना पड़ा कि वे संप्रभु अवश्य हैं किन्तु देश के विधि-विधानों तथा उनकी परम्पराओं के विरुद्ध कार्य कर सकना उनकी सामर्थ्य के बाहर की बात है। सिंहासनारोहण के समय राजाओं द्वारा की जानेवाली प्रतिज्ञाएँ, मैगनाकार्टा के अधिकार आदि राजाओं को बराबर उनकी मर्यादाएँ बतलाते रहते थे और यह भी संकेत करते रहते थे कि उनके आगे बढ़ने का अधिकार उन्हें नहीं है।

इन्हीं सब परम्पराओं की वजह से हम देखते हैं कि इंगलैण्ड के इतिहास में सोलहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण के पूर्व तक कोई महत्वपूर्ण उथल-पुथल नहीं हुई। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस में जसी उग्र राजनीतिक प्रतिद्वंद्विताएँ थीं वैसी प्रतिद्वंद्विताओं का इंगलैण्ड में सर्वथा अभाव था। **प्योरिटनों** की क्रान्ति के पूर्व वहाँ यह सुस्थिर हो चुका था कि राजा का स्थान दवी है और उसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रजा का कर्त्तव्य है। दूसरे उस समय तक राजा और प्रजा दोनों के अधिकार परम्पराओं द्वारा सुस्थिर हो चुके थे।

३. सर जॉन फोर्टे और रिचर्ड हुकर (Sir John Forte & Richard Hooker)

प्योरिटन राजक्रान्ति के बाद इंगलैण्ड के राजदर्शन ने एक निश्चित गतिदिशा ग्रहण की। लेकिन इस क्रान्ति के पूर्व ही कुछ ऐसे विचारक हो गये जिनकी कृतियों और विचारों से यह पता चल जाता है कि इंगलैण्ड के राजदर्शन का इतिहास किन रेखाओं के आधार पर आगे बढ़ने वाला था। ये विचारक सर जॉन फोर्टे और रिचर्ड हुकर हैं। ये दोनों ही पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में हुए थे।

सर जॉन फोर्टे (Sir John Forte) का जन्म इंगलैण्ड में सन् १३९४ में हुआ था और मृत्यु सन् १४७६ में। इन्होंने अपने जीवनकाल में तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं—(१) **नेचर ऑफ दि लॉ ऑफ नेचर** (Nature of the Low of Nature) (२) **दि एक्सीलेंस ऑफ दि लॉज ऑफ इंगलैण्ड** (The Excellence of the Laws of England) और (३) **ऑन दि गवर्नेंस ऑफ इंगलैण्ड** (On the Governance of England)[2] इन तीनों ही पुस्तकों से सर जॉन फोर्टे की विचारधारा का संकेत मिल जाता है। वे मुख्य रूप से अपना ध्यान इंगलैण्ड की विधियां तथा उनकी मीमांसा की तरफ केन्द्रित कर रहे थे। इस प्रकार का कार्य पहले-पहल उन्होंने ही नहीं किया, बल्कि उनके पहले रेनॉल्फ, डी ग्लेनविल तथा ब्रैकटन ने भी किया था। उन्होंने सामान्य विधियों के सिद्धान्तों को स्थिर कर उन्हें सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया था। उनकी चेष्टा यह थी कि राजसत्ता को विधि की मर्यादा में बाँध दिया जाय। सर जॉन फोर्टे ने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने राजा की शक्ति और विधियों की शक्ति दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हुए यह बतलाने की चेष्टा की कि दोनों के संयुक्तीकरण और उचित सामंजस्य द्वारा ही सबको लाभ हो सकता है। सर जॉन फोर्टे पर टॉमस एक्वीनॉज के स्कॉलस्टिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक विधियों के सिद्धान्तों का विशेष प्रभाव पड़ा था और उन्होंने रोमन विधियों का भी अध्ययन किया था।

सर जॉन फोर्टे का प्राकृतिक विधि संबंधी मत हमें उनकी पहली पुस्तक 'आन **दि नेचर आफ दि लॉ ऑफ नेचर**' में देखने को मिलता है इसमें उन्होंने बतलाया है कि प्राकृतिक विधियाँ ईश्वर प्रणीत हैं और अपने आप में पूर्ण न्याय का प्रतिनिधित्व करती हैं। वही सृष्टि की समस्त

---

१ इंगलैण्ड में सबसे पहला गृहयुद्ध सन् १६४० में छिड़ा था।

2 Vide R. G. Gettell in *The History of Political Thought*, p. 195 footnote number 6.

वस्तुओं को संहिता हैं।"[1] जब तक परंपरात्मक विधियों (Customary Laws) का सृजन नहीं हुआ था तब तक प्राकृतिक विधियों द्वारा ही सारे लौकिक कार्य होते थे। सर जॉन ने इस स्थल पर यह स्पष्ट कर दिया है कि यह स्थिति उस समय की है जब मनुष्य प्राकृतिक दशा में था। लेकिन जैसे ही वह समाज में आया क्रमशः परम्परागत विधियाँ बन गयीं। इसके बाद राज्य की विधियाँ बनीं। लेकिन सर जॉन का कहना है कि सभी विधियों का स्रोत प्राकृतिक विधियाँ ही थीं। सर जॉन ने मनुष्य की उस अवस्था का भी चित्रण किया है जब वह प्रकृति के अंक में था। उन्होंने यह बतलाया है कि राजा को शासन की जो भी शक्ति मिली—वह सब मानव समुदाय से ही मिली। लेकिन इस आधार पर उन्होंने राज्य की उच्चतम शक्ति या संप्रभुता का विवेचन नहीं किया है। यह कार्य आगे चलकर हॉब्स आदि ने किया। सर जॉन फोर्टे ने इंगलैण्ड के संविधान के गुणों पर एक अन्य पुस्तक में प्रकाश डालते हुए रोमन संविधान से उसकी तुलना की और बतलाया कि उसमें शाही और राजनीतिक शासनतंत्र (Royal and Political Government) के बीच किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया गया है। उसका कहना था कि इंगलैण्ड में शाही शासनतंत्र तो शक्ति और बलप्रयोग पर आधारित है; लेकिन राजनीतिक शासनतंत्र के संबंध में ऐसी बात नहीं है—वह तो जनता की सहमति द्वारा ही चलता है। इंगलैण्ड के संविधान में इन दोनों का ही समन्वय है। एक ओर तो वहाँ राजा को सर्वोच्च शक्ति और सम्पूर्ण राज्य की एकता का प्रतीक और सारी विधियों का स्रोत और स्रष्टा माना जाता है; दूसरी ओर राजा संसद की स्वीकृति से ही विधियाँ पारित करता है और संसद (Parliament) की इच्छानुसार ही कर लगाता है। वहाँ के न्यायालय विधियों (Laws) की आज्ञा मानते हैं—राजा के व्यक्तिगत आदेशों को नहीं। उसने इंगलैण्ड के संविधान की तुलना रोम के संविधान से करते हुए यह बतलाया कि दोनों संविधानों में बहुत-सी समान बातें थीं। इसके बाद फ्रांस का उदाहरण देते हुए सर जॉन ने लिखा कि वहाँ की जनता इसलिये कष्टग्रस्त रहती है क्योंकि वहाँ केवल शाही शासनतंत्र द्वारा शासन होता है जो सर्वथा बलप्रयोग पर आधारित है। इंगलैण्ड में विधियों तथा संविधान में कोई अन्तर ही नहीं माना जाता। दोनों ही अपने-अपने स्थानों पर अचल हैं। सर जॉन फोर्टे की रचनाओं और विचारों का सबसे अधिक लाभ सत्रहवीं शताब्दी के राजसत्ता विरोधियों ने उठाया। सर एडवर्ड कोक पर भी सर जॉन के विचारों का प्रभाव पड़ा। आगे चलकर इंगलैण्ड में व्यक्तिस्वातंत्र्य का जो आन्दोलन चला आरंभ में फोर्टे का वही हाथ है जो किसी नींव रखनेवाले का होता।

सर जान फोर्टे के उपरान्त **टिण्डल,[2] लेटोमार,[3] हेवुड[4]** आदि कुछ अन्य अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विचारक हुए जिन्होंने राजसत्ता का समर्थन किया। लेकिन राजसत्ता के समर्थन में इनका मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीयता की भावना को सहारा देना था। इन लोगों ने ट्यूडर राजाओं का समर्थन इसलिये किया जिससे वे धर्मसत्ता और रोमन पोपतंत्र से छुट्टी पा सकें। ऐसा

---

1 The nature of law has been defined by Sir John Fotesque "as the universal code of all created things, dictated by God and embodying perfect justice". Quoted by W. A. Dunning in *Political Theories*, Vol. II on p. 201

२ टिण्डल के विचार उसकी पुस्तक *The Obedience of Christian Man* में मिलते हैं।

३ लेटीमार के विचार *An Exhortation concerning Order and Ob. dience* में प्राप्त होते हैं।

४ हेवुड का *Royal King and Layal Subject* नाम का एक नाटक उल्लेखनीय है।

तभी हो सकता था जब इंगलैण्ड की केन्द्रीय सरकार भली भांति शक्तिशाली हो—इसीलिये उन्होंने राजसत्ता का समर्थन किया।

रिचर्ड हुकर (Richard Hooker) पादरी विचारक था। उसका जन्म सन् १५५३ में हुआ था और मृत्यु सन् १६०० में। उसकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक **"दि लॉज ऑफ दि एक्लेजिएस्टिकल पॉलिटी** (The Laws of the Ecclesiastical Polity) है। यह पुस्तक सन् १५९४ में प्रकाशित हुई थी। हुकर के राज्य की उत्पत्ति, सामाजिक अनुबंध, विधि तथा राजतंत्र आदि संबंधी विचार महत्वपूर्ण हैं। लेकिन उसके विचारों का मूल भाव उन हमलों से इंगलैण्ड के चर्च की रक्षा करना था जो प्रेस्बीटेरियन विचारक कर रहे थे। प्रेस्बीटेरियन विचारकों की इच्छा थी कि वे इंगलैण्ड के चर्च के अधिकारियों की ताकत घटा दें। इसी का हुकर ने विरोध किया।[2] इसी सिलसिले में उसने राजनीतिक महत्व के विचार भी प्रकट किये।

३·१ **प्राकृतिक अवस्था और राज्य की उत्पत्ति**—रिचर्ड हुकर ने सबसे पहले तो यह बतलाया कि मनुष्य राज्य की उत्पत्ति के पूर्व प्राकृतिक अवस्था में रहता था। उस समय न कोई संघटित समाज था और न शासनतंत्र। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को बड़ा हिंसामय जीवन बिताना पड़ता था। इस अरक्षित अवस्था से घबड़ाकर मनुष्य ने सामुदायिक रूप से[3] यह तय किया कि वह शासनतंत्र की स्थापना करे। उसने ऐसा इसलिये और भी किया क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है और वह सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत करना चाहता है। इसलिये उसने सरकार की स्थापना का फैसला किया था। लेकिन प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की दशा बिलकुल ही खराब न थी। उसमें भी वह काम चला ही लेता था। वह अपने विवेक से कार्य करता था। यही विवेक के आदेश बाद में प्राकृतिक विधियों का रूप धारण कर सामान्य और नागरिक विधियों के आधार बन कर राज्य में आये।[4] वे विधियाँ भी दैवी ही थीं।

---

१ यह पूरी पुस्तक सात भागों में है। इसके चार भाग तो सन् १५९४ में प्रकाशित हुए थे, पाँचवाँ सन् १५९७ में और शेष दो भाग हुकर की मृत्यु के बाद छपे थे।

2 "The main object of Hooker was to show that the Puritans in refusing obedience to the established church were implicitly denying the foundations of all political obligations; Englishmen are bound by reason to obey the ecclasiastical law of England, while Puritans are not bound; either by reason or religion, to disobey it." G. H. Sabine in *Political Theories*, p. 374.

3 Hooker, "shared the view that compact was between the members of the group not between the ruler and the subject..." G. P Gooch in *Political thought from Bacon to Halifax* on 50. The same thing in other terms is supported by Sir F. Pollock in his *History of the Science of Politics* on p. 70 when he quotes, "Hooker referred the origin of Government....." to 'deliberate advice, consultation and composition between men".

4 Natural law is, the law of reason which governed the thoughts of men and the laws of conduct which bound them into political societies, were equally divine in origin and binding in character with the special laws of religion". *The Social and Political Ideas of 16th and 17th Centuries*, p. 64.

३.२ **विधि संबंधी कल्पना—हुकर** यह मानता है कि विधियाँ आवश्यक हैं। उनके बिना मनुष्य सामुदायिक या असामुदायिक स्थिति में रह ही नहीं सकता। यह कहना भी गलत है कि विधियों से मनुष्य की वैयक्तिक स्वतंत्रता का हनन होता है। इसके विपरीत हुकर ने कहा है कि उनसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा होती है। यह बतलाने के उपरान्त हुकर ने विधि की उत्पत्ति, स्वभाव तथा उसके सामान्य उत्तरदायित्वों पर प्रकाश डाला। उसने बतलाया कि विधियों का स्वभाव हो अनुबंधात्मक होता है। वे दो पक्षों की स्वीकृति पर निर्भर करती हैं। उनकी उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति उनसे प्रभावित हों, वे उन्हें स्वीकार करें। यह स्वीकृति चाहे लोगों की व्यक्तिगत हैसियत से हो या किसी प्रतिनिधि संस्था द्वारा। यहाँ पर हुकर ने प्राकृतिक विधियों और राज्य की विधियों का अन्तर बतलाया है और कहा है कि प्राकृतिक विधियाँ समान रूप से सब पर लागू होती हैं और राजकीय विधियाँ उस समय तक लागू नहीं होतीं जब तक उनकी घोषणा न की जाय और राज्य तथा सरकार की मोहर उन पर न लग जाय।[1] यहीं पर उसने यह भी बतलाया है कि मनुष्य को प्राकृतिक विधियों के अलावा कुछ और भी विधियों की आवश्यकता पड़ती है। धार्मिक विधियाँ (Religious Laws) इसी वर्ग में आती हैं। इनको उसने अलौकिक विधियाँ (Supernatural) बतलाया है। प्राकृतिक विधियों की मीमांसा करते हुए उसने लिखा कि उन विधियों को स्वयं प्रकृति ने ही मनुष्य को सिखाया होगा।[2] वह यह मानता है कि विधियों का निर्माण करना ही राज्य का या किसी भी सरकार का प्राथमिक कर्तव्य है क्योंकि उन्हीं से सर्वसाधारण का कल्याण होता है।[3] वह यह भी कहता है कि प्राकृतिक विधियाँ भले ही अपरिवर्तनीय हों, लेकिन राजकीय और धार्मिक विधियों को समय की आवश्यकता के अनुरूप अवश्य बदला जा सकता है। अन्त में हुकर ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के प्रश्न को भी स्पर्श किया। उसने बतलाया कि जब मनुष्य अराजकता की अवस्था में नहीं रह सकता और उससे परेशान हो उठता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में प्राकृतिक अवस्था के स्थान पर ऐसी विधियों को जन्म देता है जिनसे विभिन्न देशों के पारस्परिक संबंध नियंत्रित किये जा सकें।

३·३ **शासनतंत्र का चयन**—हुकर चाहता था कि हर प्रकार के शासनतंत्रों को मान्यता प्राप्त हो—चाहे वे धार्मिक शासनतंत्र हों या राजनीतिक। उसने अपनी शासनतंत्र संबंधी जो सिद्धान्तावली बनायी थी उसमें यह निहित था कि शासनतंत्र चाहे जिस प्रकार का हो उसकी उत्कृष्टता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें धार्मिक सहिष्णुता की गुंजायश

---

1. "Laws natural always do bind ; laws positive (i.e. state laws) not so, but noly after they have been expressly and wittingly imposed". E. J. C. Hearnshaw in his book *The Social and Political Ideas of the Sixteen'h and Seventeeth Centuties*, p. 71.

2. "That which all men have at all times learned, nature herself must have taught". Richard Hooker in *The Laws Ecclesiastical Polity*. Bk I, Sec. 8 as quoted by G. H. Sabine in *Political theories* on p. 374

3 "The very soul of Politic body, the parts whereof are of law animated, held together and set on work in such actions as the common good requireth" Ibid. Sec. 10.

रखी गयी है या नहीं।[1] वह प्रारंभ में राजतंत्र के देवत्व में विश्वास नहीं करता था लेकिन विचारों की कट्टरता ने उसे राजतंत्रात्मक शासनतंत्र का समर्थन करने के लिये विवश कर दिया। उसका कहना था कि राज्य की शक्ति को नियंत्रित करनेवाली विधियाँ वे हैं जो सामाजिक अनुबंध की शर्तों के रूप में निश्चित हो जाती हैं। यदि ऐसी शर्तों का अभाव हो तो वह लिखित संविधान तथा देश की प्रचलित परम्पराओं को शासनतंत्र के नियंत्रण का अधिकार देता है। उसका मत था कि सामाजिक व्यवस्था और शांति के लिये सबसे आवश्यक बात यह है कि सुनियंत्रित और सुस्थिर शासनतंत्र हो। यदि ऐसा नहीं है तो सामाजिक शांति नहीं रह सकती। इसी प्रसंग में वह यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न करता है कि ऐसा तभी हो सकता है जब शासन राजतंत्रात्मक हो। वह अरस्तू की भाँति प्रजातंत्र का विरोधी है क्योंकि उसका कहना है कि प्रजातंत्र में कोई सरकार कभी भी सुस्थिर नहीं रह सकती। हुकर पर कुछ मध्य युग का भी प्रभाव था। वह युग को ढकेल कर पीछे जाना चाहता है और एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें धर्म तथा राजनीति में कोई फर्क न रह जाय। उसने सामाजिक अनुबंधों तथा संप्रभुता आदि के संबंध में भी अपने विचार प्रकट किये। हॉब्स और लॉक तथा ऑस्टिन आदि विद्वानों ने उनका लाभ उठाया। उसकी पद्धति में एक नवीनता यह मिलती है कि वह स्कॉलस्टिक दार्शनिकों की भाँति बहुत अधिक परम्पराओं तथा उद्धरणों पर निर्भर नहीं रहता। बाद के विचारकों ने भी ऐसी पद्धति ही अपनायी। उसने ऐसी सरकार का समर्थन किया जो लोकप्रिय हो। यद्यपि प्रजातंत्रवाद का उसने विरोध किया लेकिन आधुनिक काल के प्रजातंत्रवादी विचारकों ने उसके विचारों का सबसे अधिक प्रयोग किया है।

४. सर टॉमस मोर (Sir Thomas More)

सर टॉमस मोर सोलहवीं शताब्दी के आदर्शवादी विचारक थे। इनका जन्म सन् १४७८ में हुआ और मृत्यु १५३५ में। इन्होंने केवल एक पुस्तक लिखी जो सन् १५१६ में प्रकाशित हुई। पुस्तक का नाम 'यूटोपिया' (Utopia) है और यह मूलतः लैटिन में लिखी गयी थी। इसका बहुत दिनों बाद अँग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि टॉमस मोर पर किस-किस विचारधारा का प्रभाव पड़ा। प्लेटो की रचना 'रिपब्लिक' के साथ तो इसकी तुलना की ही जाती है; साथ ही यह भी कहा जाता है कि लेखक पर इटालियन मानवतावादियों का भी काफी प्रभाव पड़ा। उन दिनों स्पेन और पुर्तगाल के नौ सैनिकों को नये-नये देश खोजने में जो सफलता मिल रही थी— इससे भी मोर प्रभावित हुआ था। यह पुस्तक प्रश्नोत्तरी प्रणाली के अनुसार लिखी गयी है और इसमें समकालीन इंगलैण्ड की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के छिद्रों की ओर संकेत किया गया है। रचना व्यंगात्मक है। जिन दिनों पुस्तक लिखी गयी उन दिनों इंगलैण्ड में ट्यूडर राजाओं का निरंकुश शासन था। दैवी सिद्धान्त का बोलबाला था। राजा के प्रति आज्ञाकारिता और भक्ति भावना रखना आवश्यक समझा जाता था। सामाजिक मान्यता यह थी कि लोग हर तरह से सम्पत्ति और धनार्जन को ही जीवन का मूल लक्ष्य मान बैठे थे। गरीबों की दशा बहुत खराब थी। मोर को तत्कालीन राजतंत्र और सामाजिक व्यवस्था में कुछ अनिवार्य त्रुटियाँ दिखलायी पड़ीं। उसने इंगलैण्ड की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था

1 "A complete theory of (religious) toleration was implicit in Hooker, who taught that reason was of divine origin as well as scripture and that ecclesiastical government was a matter of expediency." G. P. Gooch in *Political Thoughts*, p. 204.

पर व्यंग किया। मोर के राजनीतिक विचारों का निष्कर्ष यह है कि वह प्रजातंत्रवादी साम्यवाद का समर्थक है। वह धर्मतंत्र या धार्मिक कट्टरता में विश्वास नहीं करता। वह सहिष्णुता का समर्थक है। सामुदायिक जीवन को वह बहुत अधिक महत्व देता है। कल्पना बाहुल्य के कारण मोर की पुस्तक राजदर्शन की ऐसी पुस्तक नहीं मानी जाती जिसका राजनीति को कोई महत्वपूर्ण अनुदान हो। उसकी साहित्यिक ख्याति ही अधिक है।[1]

५. जेम्स प्रथम (James I)

जेम्स प्रथम का जन्म सन् १५६६ में हुआ था और मृत्यु सन् १६२५ में। उसके पिता की हत्या कर दी गयी थी और उसकी माँ को गद्दी से उतार कर फाँसी पर चढ़ा दिया गया था। जब वह गद्दी पर बैठा उस समय प्रेस्बीटेरियन नेता लोकप्रिय शासनतंत्र की माँग कर रहे थे। साथ ही वह भी शोर मचा रहे थे कि राजा को प्रजा के नियंत्रण में रहना चाहिए। इसके पूर्व रानी एलिजाबेथ वगैरह ने बड़ी सावधानी और चतुराई के साथ राजगद्दी की लोकप्रियता में वृद्धि की थी।[2] किन्तु, जेम्स प्रथम ने गद्दी पर बैठते ही प्रजा की इस माँग का विरोध किया कि राजा को उसके नियंत्रण में रहना चाहिए। उसने राजा की तुलना ईश्वर से की और बतलाया कि राजा प्रजा पर ठीक उसी प्रकार शासन करता है जिस प्रकार ईश्वर मनुष्य जाति पर।[3] जिस प्रकार वह जीवनदान दे सकता है और मार सकता है उसी प्रकार के अधिकार राजा को भी प्राप्त हैं।

५.१ जेम्स प्रथम की कृतियाँ—जेम्स प्रथम ने दो ऐसे ग्रंथ लिखे हैं जो राजनीतिक महत्व के हैं। पहला तो है, बेसिलीकॉन डोरोन (Basilecon Doron) और दूसरा है, ट्रू लॉ ऑफ फ्री मोनार्कीज, (True Law of Free Monarchies)। इसके अतिरिक्त उसके ऐसे बहुत से भाषण हैं जो उसने समय-समय पर दिये। उसने बत्तीस वर्ष की अवस्था में सबसे पहले राजनीतिक निबंध लिखा। उसका गुरु बकनन था लेकिन उसने अपने गुरु की शिक्षाओं के ठीक विपरीत आचरण किया। उसका पहला निबंध प्रकाशित नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि उसने वह लेख अपने पुत्र के पथप्रदर्शन के लिए लिखा था—प्रकाशन के लिए नहीं। यह निबंध तीन भागों में विभक्त है। **पहले** भाग में उसने बतलाया है कि ईश्वर के प्रति राजा का क्या कर्तव्य है। **दूसरे** भाग में बतलाया है कि राजा का अपने पद के प्रति क्या कर्तव्य है और **तीसरे** में बतलाया है कि विभिन्न अवसरों पर राजा को क्या-क्या करना चाहिए। दूसरी पुस्तक १५९८में लिखी गयी थी। इसके अतिरिक्त उसका संसद (Parliament) के समक्ष दिया गया सन् १६०९ का भाषण भी प्रसिद्ध है। उसने मुख्यतः जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे थे (१) राजा की उत्पत्ति दैवी स्रोतों से हुई है; अतएव, वह देवतुल्य है और उसका विरोध करने का अधिकार प्रजा

---

1 "More's Utopia calls for mention on account of its literary fame; but, though it contains incidentally not a few shrewd criticisms, open and covert, on the state of English Society in the first quarter of sixteenth century, we cannot count it as an addition to political science". Sir F. Pollock *History of Political Science*, p. 57.

2 Queen Elizabeth once declared, that "Nothing. no worldly thing under the sun is so dear to me as the love and goodwill of my subjects". G. P. Gooch, *Political Thought*, p. 8.

3. "Kings are justly called Gods for they exercise a manner of resemblance of divine power on earth". Ibid, p. 14.

को नहीं है; (२) उसने आततायी और भले शासक का अन्तर बतलाया, (३) संप्रभुता का सिद्धान्त स्थिर किया और (४) राजतंत्र ही क्यों अपेक्षित है, इसका स्पष्टीकरण किया।[1]

५.२ **पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव**—जेम्स प्रथम पर जिन पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव पड़ा उनमें **बार्कले** और **ब्लैकवुड** का नाम उल्लेखनीय है। संप्रभुता के संबंध में वह जीन बोदाँ तथा तत्कालीन फ्रेंच आन्दोलन पॉलिटिक्स से प्रभावित हुआ था। उसने बार्कले तथा ब्लैकवुड का समर्थन इसलिये किया था कि उन्होंने राजा की उत्पत्ति के संबंध में दैवी सिद्धान्त की पुष्टि की थी। **जॉन नॉक्स**[2] और **बकनन**[3] का वह विरोधी था क्योंकि इन दोनों ने ही यह कहा था कि यदि राजा आततायीपन करता है और उन शर्तों को नहीं मानता जिनके पालन की उसने प्रतिज्ञा की थी तो उसे पदच्युत किया जा सकता है।

५.३ **दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन**—जेम्स प्रथम ने यह बतलाया कि राजा की स्थिति लघु ईश्वर की-सी है। उसका कार्य राजसिंहासन पर बैठ कर शासन करना है। राजा पृथ्वी पर ईश्वर का अंश है। अतः प्रजा को अपने राजा की आज्ञा का पालन करने में ही अपना कल्याण समझना चाहिए। इसी सिद्धान्त के आधार पर जेम्स प्रथम ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि राजतंत्रात्मक शासन ही सर्वोत्तम है। राजा को सिंहासन पर बैठने का अधिकार जन्म से ही मिलता है। उसके लिये उसे न तो प्रजा की अनुमति की आवश्यकता है और न किसी कानून की। राजा की शासन कार्य में विधि से ऊँची स्थिति है। वह किसी विधि को मानने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। वह शासन प्रजा के कल्याण के लिये करता है, लेकिन प्रजा को उसके कार्यों के बारे में कोई निर्णय देने का अधिकार नहीं है। उसका निर्णय तो ईश्वर ही कर सकता है।

५.४ **संप्रभुता**—संप्रभुता संबंधी सिद्धान्त का विवेचन जेम्स प्रथम ने अपनी पुस्तक 'ट्रू लॉ ऑफ फ्री मोनार्कीज' में किया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उसने फ्रेंच विचारक जॉन बोदाँ के संप्रभुता संबंधी सिद्धान्त का अनुगमन किया है। राजा को संप्रभुता का प्रतीक बताने के बाद जेम्स का कहना था कि वह विधियों (Laws) और प्रजा (Subjects) से ऊपर है और वह उनमें से किसी की भी आज्ञाएँ मानने के लिये बाध्य नहीं। यदि वह किसी के प्रति उत्तरदायी है तो केवल ईश्वर तथा अपनी आत्मा के प्रति।[4] उसका कहना था कि राजा संप्रभु होता है। इस अधिकार से वह विधियों की रचना करता है।

---

1 "As it is atheism and blasphemy to dispute what God can do, so it is presumption and high contempt in a subject to dispute what a king can do". G. P. Gooch in *Political Thought*, p. 15.

2 John Knox had declared, "No oath or promise can bind the People to obey and maintain tyrants against God; and if they ignorantly chose such as after declare themselves unworthy most justly they depose and punish them". Ibid, p. 10.

3 Buchanan declared that a ruler derived his entire authority from the people. Ibid.

4 "A good king will frame all his actions according to the law; yet he is not bound thereto but of his own goodwill and for good example to his subjects". G. P. Gooch in *Political Thought*. p. 10

एक राजा चाहे तो हजारों विधियाँ बना सकता है लेकिन हजारों विधियाँ मिलकर एक राजा नहीं बना सकतीं। लेकिन उसने यह भी कहा कि राजाओं को अपने पूर्ववर्ती राजाओं की प्रतिज्ञाओं तथा उपयोगी विधियों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

५.५ **आततायी और उत्तरदायी राजा का अन्तर**—जेम्स ने यह भी बतलाया कि एक आततायी और उत्तरदायी राजा के बीच क्या अन्तर होता है। उसका कहना था कि आततायी राजा न प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों की पूर्ति करता है और न ईश्वर के प्रतिही उत्तरदायित्व अनुभव करता है।[1] इसके विपरीत उत्तरदायी राजा वह होता है जो अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ, ईश्वर के प्रति अपनी जिम्मेदारी अनुभव करता है। लेकिन उसका कहना था कि राजा आततायी हो या उत्तरदायी प्रजा को किसी भी अवस्था में उसके विरोध का अधिकार नहीं है। यदि राजा आततायी है तब भी उसके विरुद्ध विद्रोह नहीं होना चाहिए, कारण आततायी राजा का जन्म प्रजा को उसके पापों का दण्ड देने के लिए होता है, और यदि यह भी मान लिया जाय कि प्रजा पापी नहीं है तो भी राजा के चुनाव का कार्य ईश्वर करता है और ईश्वर के कार्य के संबंध में मनुष्य को नुकताचीनी नहीं करनी चाहिए। वह संसद को एक परामर्शदात्री संस्था मानता था, इससे अधिक वह उसे कोई भी अधिकार देने के लिए प्रस्तुत नहीं था।

५.६ **जेम्स प्रथम का उत्तराधिकारी विचारकों पर असर**—जेम्स प्रथम के लेखों और भाषणों का समकालीनों तथा उत्तराधिकारियों दोनों पर समान रूप से असर पड़ा। संसद के समर्थकों ने तो जेम्स प्रथम का बड़ा जबर्दस्त विरोध किया। फिर भी **फिल्मर** ने यह बतलाया कि राजतंत्र द्वारा निरंकुश शासन करने के अधिकार की माँग ऐतिहासिक दृष्टि से उचित है। **हॉब्स** ने बतलाया कि यदि राजा शासन के निरंकुश अधिकार माँगता है तो उसे वह मिल जाने चाहिए क्योंकि इसी में प्रजा का कल्याण है। जेम्स प्रथम के बाद जब इंगलैंड में गृहयुद्ध छिड़ा तो यह दशा हो गयी कि राजा के समर्थक दलों ने राजा की उत्पत्ति की दैवी सिद्धान्त मान लिया। समकालीनों में जेम्स प्रथम का समर्थन विश्वविद्यालयों के कुछ विचारकों और चर्च के अधिकारियों ने किया और कहा कि प्रजा का कर्तव्य है कि वह अंधविश्वास के साथ राजा की सारी आज्ञाओं का पालन करे। उन्हें ऐसा लगा कि **प्योरिटिनों** तथा **सैनिकवादी** पोपतंत्र से यह पूर्ण राजतंत्र कहीं अधिक अच्छा है।

६. गृहयुद्ध और उसके परिणाम

अतः सत्रहवीं शताब्दी के आरंभिक चरण में हम देखते हैं कि राजसत्ता और प्रजासत्ता समर्थक अपनी-अपनी माँगों को पूरा कराने के लिये तुल गये थे। सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक विवाद समाप्त हो चुके थे। राजनीतिक समस्याएँ तेजी से उभर रही थीं। वे समस्याएँ यह थीं। **एक,** न्यायपालिका राजा के संरक्षण से मुक्त हो पूर्ण स्वतंत्र होना चाहती थी। उसका कहना था कि वह प्रचलित और सामान्य विधियों के अतिरिक्त न्याय के मामले में अन्य किसी का व्यक्तिगत नेतृत्व स्वीकार नहीं करेगी। **दो,** संसद यह कहने लगी थी कि राजा को बिना उसकी अनुमति के कर लगाने का अधिकार नहीं है। इस माँग के पीछे पृष्ठभूमि यह थी कि उस समय तक वास्तविक सत्ता राजाओं के हाथ से निकल कर मध्यवर्ग के व्यापारियों के हाथ में पहुँच चुकी थी। **तीन, प्योरिटन** और विशेषकर स्वतंत्र दल यह कहने लगे थे कि धार्मिक स्वतंत्रता उन्हें पूर्ण स्वतंत्र राजतंत्र के रहते हुए

---

1 "The tyrant.....feels no responsibility towords God...a lawful king on the other hand occupies a noble position". Ibid.

नहीं मिल सकती। इधर तो यह विरोधी तत्व प्रबल हो रहे थे और उधर जेम्स प्रथम का हठ चल रहा था जिसकी वजह से दोनों पक्ष अपनी-अपनी जगहों पर अड़ गये और सन् १६४० में इंगलैण्ड में गृहयुद्ध छिड़ गया।

गृहयुद्ध के दौरान में ज्यों-ज्यों संसद समर्थकों का दल बढ़ता गया त्यों-त्यों उन्होंने राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्तों के विरुद्ध व्यवस्थित प्रचार आरंभ कर दिया। इन सिद्धान्तों पर हम लोग आगे के अनुच्छेदों में विचार करेंगे किन्तु इसके पूर्व यह उपयुक्त होगा कि हम एक और ऐसे विचारक के राजनीतिक मतों को समझ लें जो निरंकुश राजतंत्र का सबसे बड़ा हिमायती समझा जाता है।

७. फ्रान्सिस बेकन (Francis Bacon)

जेम्स प्रथम के बाद फ्रांसिस बेकन अपने समय का सबसे बड़ा राजतंत्र (निस्संदेह योग्य राजतंत्र) का समर्थक समझा जाता है। उसका जीवनकाल सन् १५६१ से सन् १६२६ तक माना जाता है। बेकन की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'दि न्यू एटलाण्टिस' है जो सन् १६२७ या सन् १६२९ में प्रकाशित हुई थी।[1] यह पुस्तक मोर के **इटोपिया** की भाँति ही समझी जाती है लेकिन दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ मोर आचारिक साम्यवाद की कल्पना करता है वहाँ बेकन वैज्ञानिक खोज और भौतिक समृद्धि के आधार पर अपने राजनीतिक मत प्रकट करता है। उसके विचारों पर मैकियावली का प्रभाव है। वह युद्ध द्वारा राज्य विस्तार का समर्थक है। हमें बेकन के राजनीतिक विचार इस पुस्तक के अतिरिक्त छोटे छोटे परचों, भाषणों, निबंधों और लेखों के रूप में भी मिलते हैं। बेकन, अँग्रेजी राजनीतिज्ञों में अग्रणी था और उसके विचार यदि प्रतिक्रियावादी नहीं तो कट्टरतावादी अवश्य थे। वह राष्ट्रीय चर्च का समर्थक था। राजा के निर्विवाद अधिकारों का भी वह समर्थक था।[2] उसने जेम्स प्रथम की 'ट्रू लॉ ऑफ मोनार्कीज' में प्रकट किये मत से पूर्ण सहमति प्रकट की। वह विधिवेत्ताओं का विरोधी था क्योंकि उन दिनों विधिवेत्ता राजतंत्र के अधिकारों को कम करने के लिये प्रचार कर रहे थे। उसका मत था कि राजा संसद को मुअत्तल कर सकता है और सामान्य विधियों को नियंत्रित कर सकता है। वह यह नहीं चाहता था कि संसद सरकार को नियंत्रित करे। परामर्शदात्री संस्था के रूप में वह उसकी अनुमति देता है। उसकी कल्पना के राज्य संबंधी विचार हमें 'डी ऑगमेण्टिस' में मिलते हैं। यह उसके १६१२ से १६२५ तक के निबंधों का संग्रह है। वह एक सबल सैनिक राज्य का प्रतिपादन करता है। वह युद्ध और सैन्यदल को ही राष्ट्रीय गौरव का साधन मानता था। उसने विद्रोह के नियंत्रण के उपाय भी सुझाये। उसका कहना था कि विद्रोह दो कारणों से पनपता है; एक असंतोष और दूसरा गरीबी। उसका मत था कि उदर की अग्नि से प्रताड़ित विद्रोह सबसे अधिक भयंकर होता है। इसलिये वह कहता था कि राज्य को अपनी प्रजा के लिए भोजन आदि की समुचित व्यवस्था करना चाहिए, उसे देश के उद्योग-धंधे बढ़ाने चाहिए तथा बेकारी दूर करनी चाहिए। खेती पर उचित ध्यान देना चाहिए तथा मूल्यों पर नियंत्रण रखना चाहिए। कर तथा राजस्वों को सीमित परिधि के भीतर रखना चाहिए। धन का उचित वितरण होना चाहिए। दूसरे प्रकार के विद्रोहों को

---

१ इस पुस्तक का प्रकाशन कब हुआ था—इस संबंध में एक मत नहीं मिलता। गटिल ने सन् १६२९ बतलाई है और गूच ने सन् १६२७। देखिए *History of Political Thought* का p. 198 और *Political Thought* का p. 22

2 "For the prerogative of the Prince, I hope I shall never hear it discussed". G. P. Gooch, *Political thought,* p. 24

रोकने के लिए वह एक ऐसे शक्तिशाली सैनिक स्वभाव के व्यक्ति को अपने निकट रखने की सलाह देता था जो राजविद्रोह को कठोरतापूर्वक दबा सके। वह राजा को ही राज्य की प्रत्येक गतिविधि का नियंत्रणकर्ता बतलाता था। चर्च का यह कर्तव्य है कि वह प्रजा में किसी भी प्रकार का असंतोष या अव्यवस्था न उत्पन्न करे। वह यह मानता था कि राजा का परामर्शदाता-मण्डल बुद्धिमान होना चाहिए लेकिन राजा को किसी की भी सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि हॉब्स से भी एक पीढ़ी पूर्व बेकन ने राजा की एक ऐसी संप्रभुता की कल्पना कर ली थी जो धर्म और राजनीति—दोनों पर समान रूप से हावी थी।[1] वह संसद को इतना अनुभवी नहीं समझता कि वह भली प्रकार शासन कर सके। यहाँ बेकन यह भूल गया कि हर राजा एक ही प्रकार का नहीं हो सकता। वह भी आखिर मनुष्य है और उसमें भी त्रुटियाँ हो सकती हैं। कभी-कभी वह भी अयोग्य सिद्ध हो सकता है। दूसरे बेकन ने यह भी अनुभव नहीं किया कि स्वशासन की शिक्षा भी महत्वपूर्ण है। तीसरे उसने जेम्स प्रथम को इतना आसमान पर चढ़ा दिया कि वह बहुत दंभी हो गया। चौथे उसने सैनिकतावादी शासन तंत्र का रूप सामने रखते हुए यह बिलकुल भुला दिया कि सभ्यता और मानवता के प्रति भी राजा के कुछ कर्तव्य हैं। पाँचवें उसने राजविद्रोह के दमन के जो उपाय बतलाये उनमें व्यावहारिकता का अभाव है। वह अन्त में यही कह कर रह जाता है कि एक बुद्धिमान सरकार हर एक बात को बड़ी योग्यता के साथ सँभाल सकती है। कुल मिलाकर उसके विचारों में हमें दूरदर्शिता का बड़ा अभाव मिलता है। वह आनेवाले युग की प्रजातंत्रवादी प्रवृत्तियों को नहीं देख सका।

८. राजतंत्र-विरोधियों का पक्ष

गृहयुद्ध के दौरान में राजतंत्र विरोधियों को अपना पक्ष मजबूत कर लेने का अच्छा अवसर मिल गया था। संसद के समर्थकों ने राजतंत्र के विरुद्ध एक व्यवस्थित सिद्धान्त का निरूपण किया। इसका लक्ष्य दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन करना था। इसके लिये उन्होंने इंगलण्ड की सामान्य विधियों (Commorn laws) का सहारा लिया। उन्होंने समस्त सांविधानिक और विधिगत सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से उपस्थित कर यह सिद्ध किया कि राजा का दैवी उत्पत्ति से अपना स्वत्व पुष्ट करना ठीक नहीं। इसके साथ ही उन लोगों ने स्कॉटलैण्ड और यूरोप के उन विचारकों के मतों को भी ग्रहण किया जो राजतंत्र के विरोधी थे। संसद के पीछे असन्तुष्ट भूमिपतियों और व्यापारियों का वह वर्ग था जो राजा को यह अधिकार नहीं देना चाहता था कि वह उन पर उनकी अनुमति प्राप्त किये बिना कर लगाये। इनके अलावा न्यायपालिका (Judiciary) तथा विधिवेत्ताओं का एक ऐसा दल था जो विधियों की प्रभुता का समर्थक था और राजा और चर्च के व्यापक और नियंत्रणहीन अधिकारों के विरुद्ध था। प्रारंभ में राजतंत्र विरोधी पक्ष ने वैधानिक और विधिसम्मत तर्कों का आश्रय लिया। उन्होंने सामान्य विधि द्वारा न्यायपालिका के स्वतंत्र रखे जाने की माँग को तर्कसंगत सिद्ध करने का यत्न किया। लेकिन श्रेष्ठता सिद्ध करने का यह प्रयत्न सफल न हो सका। जेम्स प्रथम ने सभी तर्कों को मानने से कठोरतापूर्वक इन्कार कर दिया। न्यायपालिका की स्वतंत्रता के पोषकों में सर एडवर्ड कोक और सर जॉन सेल्डन थे। सर एडवर्ड कोक अपने विचारों के कारण मुख्य न्याया-

1 "A generation before Hobbes Bacon fought the unfettered sovereignty of the state alike over the relegion and the politics". G. P. Gooch in *Political Thought from Bacon to Halifax*, p. 31.

धीश के पद से हटा दिया गया था। सर जॉन सेल्डन भी दैवी सिद्धान्तों के विरोधी थे। वे सामाजिक कल्याण को सबसे अधिक महत्व देते थे और हर बात को विवेक की कसौटी पर कस लेने के बाद ही मानने को तैयार होते थे। उनका कहना था कि राजा समाज की ही कृति है और उसे शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए उसी प्रकार नियुक्त कर दिया गया है जैसे घर का एक साधारण नौकरानी को बाजार से गोश्त लाने के लिये नियुक्त कर दिया जाता है।[1] इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह बात सिद्ध हो सकी कि संसद ही, अर्थात् जनता ही, सारी विधियों के निर्माण का स्रोत है।[2] इस मान्यता की स्थिरता के साथ ही व्यक्ति स्वातन्त्र्य की माँग भी बढ़ी। अधिकारों की याचिका (Petition of Rights) और अधिकारों के विधेयक (Bill of Rights) में इन्हीं माँगों की प्रतिध्वनि हमें सुनाई पड़ती है। इन माँगों के अनुसार राजा को यह अधिकार नहीं था कि वह अकारण ही किसी को पकड़कर बंदीगृह में डाल दे या उसकी सम्पत्ति हड़प ले। यह कल्पना क्रमशः पनपती चली गयी और सीमित राजतंत्र और नागरिक स्वतंत्रता का विचार वयस्क हो गया। इसके बाद स्कॉटलैण्ड के विचारकों और राजनीतिक घटनाओं के प्रभाव के कारण इंगलैण्ड में पादरियों को राजनीतिक पदों से हटा दिया गया और **बकनन** को लोकप्रिय सम्प्रभुता और सामाजिक अनुबंधों की कल्पना को इंगलैण्ड में भी मूर्तरूप दे दिया गया।[3]

लेकिन बढ़ती हुई प्रजातंत्रवादी प्रवृत्तियों से इंगलैण्ड का एक वर्ग कुछ घबड़ा-सा भी गया था। उसने एक स्वतंत्र विचार रखा अपनायी। इस वर्ग ने धार्मिक स्वतंत्रता का एक नया आन्दोलन खड़ा कर दिया जिसका उद्देश्य धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार करना था। इस आन्दोलन के विधाता **राबर्ट ब्राउन** थे। ब्राउन पर हालैण्ड की धार्मिक सहिष्णुता सम्बन्धी राजनीतिक कल्पनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनका कहना था कि राज्य और चर्च के क्षेत्र सर्वथा अलग हैं और उनको अलग ही रहना भी चाहिए। चर्च की व्यवस्था में प्रत्येक का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। धर्म को इन लोगों ने और भी व्यक्तिगत बना दिया और कहा कि राज्य को इसमें उस समय हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब तक वह कोई राजद्रोहात्मक कार्रवाइयाँ न करे। इससे इंगलैण्ड के प्रजातंत्रात्मक आन्दोलन को और भी अधिक बल मिला।

९. क्रामवेल (Cromwell) और उसके साथी

गृहयुद्ध के दौरान में संसद तथा सेना के अधिकारियों में समझौता रहा और दोनों ने राजतंत्र के विरुद्ध डटकर युद्ध किया। लेकिन चार्ल्स प्रथम को मौत के घाट उतारने के बाद सेना का क्रान्तिकारी तत्व सामने आ गया। गृहयुद्ध में प्रेस्बीटेरियनोंका जोर था और वे किसी भी प्रकार की धार्मिक सहिष्णुता बरतने के लिये तैयार नहीं थे किन्तु बाद

---

1 "King is a thing, men have made for their ownselves, for quietness' sake, just as in a family one maid is appointed to buy the meat". G. P. Gooch in *Political Thought from Bacon to Halifax*, p. 74

2 "That the King was subject to law and that law had its source not in the monarch but in the people as represented by the historical organ the Parliament". W. A. Dunning in *Political Theories*, Vol. VI. p. 220

3 See the Covenant of 1643.

में सेना में **लेवलर्स** (Levellers) आगे आ गये। उन्होंने **प्रेस्बीटरियनों** को भगा दिया और **क्रॉमवेल** तथा उनके साथियों ने **लेवलर्स** की ओर से सत्ता सँभाली। लेवलर्स का कहना था[1] कि मनुष्य प्रकृतितः स्वतंत्र और समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन धारण करने, सम्पत्ति रखने, समाज में समानतापूर्वक विचरने, अपनी आत्मा के पथप्रदर्शन के अनुसार कार्य करने और भाषण करने का एक-सा अधिकार है। उन्होंने ये अधिकार किसी एक संस्था या संवास के लाभ के लिए नहीं माने वरन् कहा कि वे प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य होने के नाते प्राप्त हैं। लेवलर्स के एक दूसरे वर्ग का कहना था[2] कि उस समय तक किसी भी राजनीतिक सुधार का कोई अर्थ नहीं जब तक सामाजिक और आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती। लेकिन **क्रॉमवेल** और उनके साथी **लेवलर्स** के उग्र क्रान्तिकारी विचारों को नहीं मानते थे। वे स्वाभाविक विवेक और प्राकृतिक अधिकारों के बजाय विधियों के आधार पर खड़ा होना अधिक पसन्द करते थे। लेवलर्स ने एक संविधान भी तैयार किया।[3] इसमें जनता की इच्छा से एक विधान सभा रखने का प्रस्ताव था। विधायिनी सभा की शक्तियों को व्यक्ति के हस्तांतरित अधिकारों का फल माना गया था और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि विधान सभा को भी व्यक्ति के मौलिक अधिकारों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इसी में यह भी स्वीकार किया गया था कि शासनतंत्र स्पष्टतः इस अनुबंध का परिणाम है। यदि शासनतंत्र जनता के प्रति लिखित उत्तरदायित्वों की पूर्ति नहीं करता तो जनता को उस शासनतंत्र के अधिकारियों को हटा देने का पूरा-पूरा अधिकार है। लेकिन लेवलर्स का यह प्रयत्न मौलिक नहीं था। उन्होंने केवल ट्यूडरों के समय की सांविधानिक सरकार को ही पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया था। यह संविधान सेना के अपेक्षाकृत कट्टरतावादी वर्ग ने क्रियान्वित नहीं होने दिया। बाद में पुनः एक संविधान तैयार किया गया।[4] इसमें एक ऐसी संसद की व्यवस्था थी जिनके पास पर्याप्त सम्पत्ति हो। एक अधिनायक नियुक्त किये जाने का प्रस्ताव भी इसमें था। यह संविधान पहले संविधान की अपेक्षा कम प्रगतिशील था। उसे क्रॉमवेल ने संसद भंग करने के बाद अपने साथियों के सहयोग से तैयार किया था। लेकिन यह कभी क्रियान्वित नहीं हो सका।

१०. सर एडवर्ड कोक (Sir Edward Coke) और जॉन मिल्टन (John Milton)

१०.१ **सर एडवर्ड कोक**—इनका जन्म सन् १५५२ में हुआ था और मृत्यु सन् १६३४ में। जीवन के जितने अधिक उतार-चढ़ाव सर एडवर्ड कोक ने अपने समय के विचारकों में देखे उतने शायद अन्य किसी भी व्यक्ति ने नहीं। फ्रांसिस बैकन ने यदि सारी विधियों का स्रोत इंगलैण्ड के राजा को बतलाया तो सर एडवर्ड कोक ने कहा कि राजा विधि की मर्यादाओं को मानने के लिए बाध्य है और अपने इन विचारों के लिए सर कोक को सब कुछ बलिदान करना पड़ा। इनके ग्रंथों में 'इन्स्टीट्यूट्स (Institutes) [नामक ग्रंथ

1 Vide John Selbourne's pamphlets on this subject, namely, *Vox Plebis and Fundamental Liberties of England.*

2 Vide Gerard winstanley's essay on this issue in the *Law of Freedom* and the *Saints Paradise* published in 1652 and 1658 respectively.

3 *Agreement of the People of* 1647 in S. R. Gardiner's Document No. 74.

4 Instrument of Government framed in the year 1654.

सबसे प्रसिद्ध है। यह चार भागों में है लेकिन सन् १६२८ में इसका केवल एक ही भाग प्रकाशित हो सका था। शेष तीन भाग उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए।

१०.२ **सामान्य विधि** (Common Law)——जेम्स प्रथम ने राजतंत्र के जिन अधिकारियों की स्थापना दैवी सिद्धान्त की सहायता और बेकन के समर्थन द्वारा करनी चाही थी——वे अधिकार सर कोक के विरोध के कारण स्थापित नहीं हो सके। सर एडवर्ड कोक इंगलैण्ड की सामान्य विधि (Common Law) को ही सब कुछ मानते थे। उनका कहना था कि सामान्य विधियाँ ही मौलिक और सम्पूर्ण मानवीय विवेक का प्रतिनिधित्व करती है। इस विवेक की प्राप्ति स्वाभाविक रूप से नहीं हो जाती। इसके लिये जीवन भर की तपस्या और अनुभव की आवश्यकता होती है। कोक का दावा था कि यह अनुभव उन्हें प्राप्त हो चुका है और उन्होंने स्पष्टतः यह बात कह दी कि राजा को विधियों का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है और इंगलैण्डवासियों के जीवन और धन तथा सम्पत्ति आदि संबंधी मामलों का फैसला केवल विवेक द्वारा ही नहीं किया जा सकता।[1] कोक यह नहीं मानते थे कि सामान्य विधियों के मौलिक तत्वों को भी राजा को बदल देने का अधिकार है। सामान्य विधि की इसी कल्पना के आधार पर कोक ने यह फैसला कर दिया था कि राजा अपनी घोषणा या आदेश मात्र से किसी कार्य को वर्जित कर उसे अपराध की संज्ञा नहीं दे सकता।[2] वह अधिक से अधिक प्रजाजनों को उक्त साधन द्वारा परामर्श दे सकता है और

---

१ सर कोक ने जेम्स के साथ अपनी एक वार्ता का विवरण अपनी पुस्तक के एक भाग में दिया है।

See "Coke's. *Legal Reports* Pt. XII, 65 as following :

"Then the King said, that he thought the law was founded upon reason and that he and others has reason, as well as the judges; to which it was answered by me, that true it was, that God had endowed his Majesty with excellent sense and great endowments of nature; but his Majesty was not learned in the laws of his realm of England and causes which concern the life, or inheritance, or goods or fortunes of his subjects are not to be decided by natural reason but by the artificial reason and judgment of law, which law is an act which requires long study and experience before that a man can attain to the cognizance of it... with which the King was greatly offended, and said, that then he should be under the law, which was treason to and affirm, as he said to which I said that Bracton saith, Quod rex non debet esse sub homine, sed sub Deo at lege"

Perhaps, it was Coke in mind when James I said, "As for the absolute prerogative of the crown, that is no subject for the tongue of a lawyer, nor is lawful to be disputed''. Extract from the Address to the judges of the Star Chamber as quoted be G. P. Gooch in *Political Thought from Bacon to Halifax*, P. 62.

2 "The King cannot create any offence by his prohibition or proclamation which were not an offence before" Coke's *Reports*, p. XII, 75.

यह कह सकता है कि वे विधियों का पालन करें। यही नहीं उसका तो यह भी कहना था कि संसद भी सामान्य विधियों के मौलिक तत्वों के विरुद्ध कोई अधिनियम (Act) नहीं बना सकी।[1] यदि सामान्य विधियों संबंधी कोक के विचारों का हम अध्ययन करें तो हमें बड़ी आसानी से ज्ञात हो जायगा कि हुकर तथा स्मिथ के विचारों का कोक पर प्रभाव पड़ा था। कोक ने विधि को व्याख्या करते हुए कहा है कि वह जगत में अपने आप उत्पन्न होती है। लगभग ऐसे ही विचार हुकर के भी थे। यह संसद या सरकार को विधायिनी शक्ति मानता ही नहीं था। यह ठीक है कि राजा के अधिकार साधारण प्रजाजनों की भाँति नहीं थे, लेकिन यह भी सच है कि राजा को साधारण नागरिक की भाँति विधि की मर्यादा के उल्लंघन का अधिकार नहीं था। विधि की यह कल्पना प्राचीन थी और राजा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त अपेक्षाकृत नवीन। विचारों की दृष्टि से कोक कट्टरतावादी था। इसीलिये वह प्राचीनता का समर्थक था और उसने जेम्स प्रथम का विरोध किया। कोक के लिये "इंगलैण्ड की सामान्य विधियाँ धर्म थीं और वह उनका ऐसा व्याख्याता पुरोहित था जो उनके रहस्य को जानने तथा उनकी पवित्रता की रक्षा करने का दावा करता था।"

१०.३ सर कोक का अनुदाय—कोक के स्वतंत्रता संबंधी विचार संकीर्ण थे और राजा का वह कोपभाजन बना लेकिन उसने अनजाने में ही इंगलैण्ड में सांविधानिक शासनतंत्र स्थापित करने के प्रयत्नों में बड़ा गहरा योग प्रदान कर डाला। कोक म विचारक की दूरदर्शिता का अभाव था। यह उसको ससद (Parliament) के प्रति उपेक्षा से ही प्रकट है। वह मानता था कि ससद को हर दशा में सामान्य विधियों को चहारदीवारी के अन्दर रह कर ही कार्य करना चाहिए।

१०.४ जॉन मिल्टन (John Milton)—जॉन मिल्टन का जन्म सन् १६०८ में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा के बाद उसने केम्ब्रिज से बी० ए० परीक्षा पास की और वहीं से बाद में एम० ए० भी किया। कविता से मिल्टन को सहज स्नेह था लेकिन जो भावुकता उसे कविता के क्षेत्र में ले गया उसी ने मिल्टन को स्वतंत्रता का कट्टर समर्थक बनाकर राजनीतिक क्षेत्र में घसीट लिया और हम देखते हैं कि सन् १६४० से लेकर अन्त तक मिल्टन ने क्रान्तिकारी तत्वों का साथ दिया। मिल्टन की मृत्यु सन् १६७४ में हुई।

१०.५ मिल्टन की रचनाएँ—मिल्टन की राजनीतिक रचनाओं में निम्नलिखित पुस्तकों का नाम उल्लेखनीय है—(१) एरियोपेजिटिका (Areopagitica) जो सन् १६४४ में प्रकाशित हुई, (२) दि टेन्योर आफ किंग्स एण्ड मैजिस्ट्रेट्स (The Tenure of Kings and Magistrates), (३) डिफेंसियो पॉपुलि एंग्लीकानि[3] (Defenso Populi Anglicani), (४) दि रेडी एण्ड ईजी वे टु इस्टेब्लिश ए फ्री कॉमनवेल्थ (The Ready and Easy Way to establish a Free Common wealth)। ये पुस्तकें

---

1 "It appears in our books, that in many cases, the common law will control acts of parliaments . . . . ." Ibid. p. VIII, 118a.

2 "For Coke law was indigenous growth within the realm". G. H. Sabine in *A History of Politicat Theories*, p. 385.

३ यह पुस्तक एक डच लेखक सालमेसियस की एक पुस्तक के उत्तर में लिखी गयी है। डच लेखक ने चार्ल्स प्रथम की हत्या को अनुचित बतलाया था। मिल्टन ने उत्तर में ; या का औचित्य सिद्ध किया था।

क्रमशः सन् १६४९, १६५१, १६६० और १६५६ में प्रकाशित हुई थीं। इसके अतिरिक्त एकिनोक्लास्टेस (Ekinoklastes) का नाम भी उल्लेखनीय है।

१०.६ **प्राकृतिक अधिकार**—मिल्टन के प्राकृतिक अधिकार संबंधी विचार बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इन्हीं अधिकारों की व्याख्या करने के उपरान्त मिल्टन सामाजिक अनुबंध और लोक संप्रभुता संबंधी विचारों को विकसित कर पाया। मिल्टन का मत था कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है। प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में किसी को किसी पर शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। लेकिन पारस्परिक हित और कल्याण की दृष्टि से मनुष्यों ने समाज और राजनीतिक संबंधों की रचना की। लेकिन इस अवस्था में भी उसने जीवन, सम्पत्ति आदि संबंधी कुछ अधिकार सुरक्षित रखे यही प्राकृतिक अधिकार हैं। यदि कोई राजा इन प्राकृतिक अधिकारों का अपहरण करता है या उन उत्तरदायित्वों की अवहेलना करता है तो प्रजा को अधिकार है कि वह उसको हटा दे। प्रजा को अपने शासकों को चुनने या शासनतंत्र बदलने का ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है।[1] इस प्रकार इन विचारों में हम तीन कल्पनाओं के बीज देखते हैं—(१) सामाजिक अनुबंध की कल्पना, (२) लोकप्रिय संप्रभुता का विचार तथा (३) व्यक्ति स्वातंत्र्य। मिल्टन किसी भी दशा में व्यक्ति स्वातंत्र्य की बलि देने को प्रस्तुत नहीं था। वह वंशानुगत राजतंत्र शासन का विरोधी था। इसके साथ ही वह राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को भी नहीं मानता था।

१०.७ **विधियाँ** (Laws)—विधियों के संबंध में उसका कहना था कि उनकी उत्पत्ति शासक और शासित दोनों की सहमति से होती है। अतएव जिस प्रकार शासितों को विधियों के उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार शासकों को भी नहीं। शासक या राजा को भी विधि की मर्यादा का पालन करना चाहिए।

१०.८ **वाक्-स्वातंत्र्य**—व्यक्ति स्वातंत्र्य (Individual Liberty) की भाँति ही मिल्टन वाक् स्वातंत्र्य का भी पक्का समर्थक था। उसने अपने इस विचार की पुष्टि 'एरोपेजिटिका' में की है जहाँ प्रेस की स्वतंत्रता के पक्ष में आवाज उठायी गयी है। उन दिनों की पुस्तकों के प्रकाशनादि पर जो प्रतिबंध लगाये गये थे उनका विरोध करते हुए मिल्टन ने अपनी पुस्तक में लिखा था कि "किसी व्यक्ति की हत्या करना या पुस्तक की हत्या करना एक ही बात है। कोई मनुष्य यदि व्यक्ति की हत्या करता है तो वह केवल एक विवेकयुक्त प्राणी की ही हत्या करता है लेकिन यदि वह पुस्तक को नष्ट करता है तो इसका अर्थ है कि वह साक्षात् विवेक को ही जो ईश्वर की प्रतिमूर्ति है मार डालता है।"[2] इस प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल की "ऑन लिबर्टी" की भाँति ही यह पुस्तक भी प्रसिद्ध है जिसमें प्रकाशन पर लगाये गये प्रतिबंधों की व्यर्थता सिद्ध की गयी है। मिल्टन का कहना था कि वाक् और प्रकाशन स्वातंत्र्य द्वारा ही सत्य प्रकाश में आता है।

---

1 "The right of choosing, yea of changing their government by the grant of God himself of the people." Von Brown in the *Eng. Pol. Theory*, p. 60

2 "As good almost kill a man as kill a good book He who kills a man kills a reasonable creature but he who destroys a book kills reason itself, the image of God." G. P. Gooch in *Pol. Thought from Bacon to Halifax*, p. 98

१०.९ **राज और धर्म**—राज्य और धर्म के संबंध में मिल्टन का कहना था कि इन दोनों को अलग-अलग रहना चाहिए। वह प्रेसबीटेरियनों का हिमायती था। अतः धर्म के मामले में वह लेवल की भाँति धार्मिक सहिष्णुता का पक्षपाती नहीं था। यह कुछ अजीब-सी बात है कि भाषण और प्रकाशन स्वातंत्र्य का इतना बड़ा समर्थक धार्मिक सहिष्णुता का समर्थक न हो।

१०.१० **मिल्टन का प्रभाव और अनुदाय**—मिल्टन पर स्कॉट विचारक बकनन का प्रभाव पड़ा था और इसी आधार पर उसने राजाओं की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्तों का विरोध किया। उस पर समकालीन कट्टरवादी (Canservative) राजनीतिक विचार-धाराओं का भी प्रभाव पड़ा था। इसी आधार पर उसने धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन नहीं किया। मिल्टन के राजनीतिक अनुदायों में सामाजिक अनुबंध लोक संप्रभुता, व्यक्ति और वाक् स्वातंत्र्य आदि के सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। इन सिद्धान्तों संबंधी मतों का लॉक, रूसो, मिल आदि पर प्रभाव पड़ा। मिल्टन के विचारों में कुछ त्रुटियाँ भी थीं। वह आभिजात्यवर्ग द्वारा शासन का समर्थक था हालाँकि उसने लॉर्ड प्रोटेक्टर क्रॉमवेल की प्रशंसा की थी। वह प्रजातंत्रवादी प्रवृत्तियों के पक्ष में होते हुए भी प्रतिनिधिक शासन की संस्थाओं से घबड़ाता था। उसने अपने जीवन के अंतिम दिनों में सुझाव दिया था कि कुछ योग्य व्यक्तियों की एक संसद बनायी जाय जिसकी सदस्यता आजीवन रहे। यह उसकी राजनीतिक अदूरदर्शिता और निराशा का ही परिचायक है।

११. हैरिंगटन और फिलमर (Harrington & Filmer)

११.१ **जीवन परिचय**—जेम्स हैरिंगटन का जन्म इंगलैण्ड के एक धनी परिवार में सन् १६११ में हुआ था। ऑक्सफोर्ड में उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के बाद नीदरलैण्ड, फ्रांस, इटली आदि यूरोपियन देशों का हैरिंगटन ने व्यापक भ्रमण किया। इंगलैण्ड के गृहयुद्ध में वह बिलकुल निर्दलीय एवं तटस्थ दृष्टिकोण से घटनाओं को देखता रहा। उस पर इंगलैण्ड के राजा की मृत्यु का बड़ा असर पड़ा था। सन् १६७७ में उसकी मृत्यु के बाद उसके राजनीतिक विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा।

११.२ **अध्ययन पद्धति और विचारकों का प्रभाव**—जेम्स हैरिंगटन इतिहास का विद्यार्थी था और समकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों के साथ ही तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं का भी बड़ा मेधावी पर्यवेक्षक था। अतः, हैरिंगटन की अध्ययन पद्धति न केवल ऐतिहासिक है बल्कि पर्यवेक्षणात्मक भी है। वह अरस्तू और मैकियावली का प्रशंसक था और उनके राजनीतिक विचारों का भी इस पर काफी असर पड़ा था। हॉब्स के ग्रंथ लेवॉयथन की उस पर बड़ी प्रतिक्रिया हुई थी और वह उसके सिद्धान्तों का कट्टर विरोधी था। उसने इंगलैण्ड के लिये जो संविधान तैयार किया था उसमें इतिहास के साथ गणतंत्रात्मक (Republican) संविधानों से सहायता ली थी।

११.३ **ग्रंथ**—उसका एक ही ग्रंथ उल्लेखनीय है और वह है 'दि कॉमनवेल्थ ऑफ ओसियाना' (The Common wealth of Oceana)। यह ग्रंथ सन् १६५६ में प्रकाशित हुआ था। यह मोर के 'यूटोपिया' की तरह बतलाया गया है लेकिन इसम शासन की कई व्यावहारिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इसकी मौलिकता भी उल्लेखनीय है।[1]

---

1 We miss the thunderous roll of Miton's prose, the pregnant brevity of Hobbes, the scintillating aphorism of Halifax, yet Harrington is more original than any one of them." G. P. Gooch in *Political Thought from Bacon to Halifax*, p. 113.

यह पुस्तक क्रॉमवेल द्वारा उसी प्रकार अव्यावहारिक समझी गयी जिस प्रकार पिट द्वारा गॉडविन की 'पॉलिटिकल जस्टिस' और इस पर भी कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया। इस पुस्तक ने तत्कालीन इंगलैण्ड में बड़ी हलचल मचायी और इसमें निहित सिद्धान्तों पर काफी प्रचार हुआ।[1]

११.४ **शासनतंत्र और संप्रभुता की कल्पना**—हैरिंगटन का शासनतंत्र और संप्रभुता के संबंध में क्या मत था—यह बतलाने के पूर्व हम उसके एक मौलिक सिद्धान्त पर प्रकाश डाल देना उचित समझते हैं। हैरिंगटन शायद सबसे पहला ऐसा विचारक था जिसने इतिहास के अध्ययन द्वारा यह परिणाम निकाला कि शासनतंत्र की सारी शक्ति का स्रोत या तो धन है अथवा बौद्धिक प्रतिभा। इसी सिद्धान्त के अनुसार उसने राजतंत्र को हटा देने के लिये और शासनतंत्र की स्थिरता के लिये दो सुझाव रखे थे। **पहला** यह कि राज्य अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे और **दूसरा** यह कि वह धन के समान वितरण का प्रबन्ध करे। उसका कहना था कि सारी सत्ता का स्रोत जनता है—इसी लिये वास्तविक संप्रभुता सामुदायिक रूप से उसी में निहित है। इन बातों के आधार पर शासनतंत्र (सरकार) का एक ढाँचा हैरिंगटन ने खड़ा किया था। इस रूपरेखा में शक्ति विभाजन (D.stribution of Powers) को मूल आधार बनाया गया था। इस संविधान में तीन प्रकार की संस्थाएँ हैं। पहला है सीनेट। इसके संबंध में हैरिंगटन का कहना था कि सीनेट की सदस्यता आभिजात्यवर्ग के लोगों तक सीमित होनी चाहिए। इसका कार्य नयी नीतियों और विधियों को रचना करना होना चाहिए। इसके बाद एक कौंसिल या संसद होनी चाहिए जिसमें साधारण नागरिकों के प्रतिनिधि बैठें। इसका कार्य यह हो कि वह सीनेट की तरफ से जो भी विधियाँ या नीतियाँ विचारार्थ आवें उन पर विचार करें और उनके संबंध में मत द्वारा अपना निर्णय दें। इन दो के अतिरिक्त एक मैजिस्ट्रेसी या कार्यपालिका के विधान की आवश्यकता पर भी उसने बल दिया। हैरिंगटन ने कार्यपालिका का काम यह बतलाया कि वह शासनतंत्र के प्रशासनात्मक (admini.trative) कार्य करे। कार्यपालिका के सदस्य गुप्त मत संग्रह द्वारा चुने जायँ। उनको एक निश्चित अवधि के लिये नियुक्त किया जाय। लेकिन यदि वे राज्य को नीतियां या विधियों का उल्लंघन करें तो उन्हें हटा दिया जाय। इसके साथ ही हैरिंगटन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि राज्य में किसी भी धार्मिक विश्वास को मानने की पूरी छूट रहनी चाहिए। राजतंत्रात्मक व्यवस्था के लिये हैरिंगटन ने अपने गणतंत्रात्मक संविधान में कोई गुंजायश नहीं रखा। उसने संप्रभुता को सीमित कर देने के बजाय और भी अधिक मुक्त कर दिया।

११.५ **समकालीन और उतराधिकारी विचारकों पर असर**—अपनी पुस्तक लिखने के बाद हैरिंगटन ने इस बात का बहुत प्रयत्न किया कि उसने अपनी पुस्तक में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—वे इंगलैण्ड में कार्यान्वित हो जायें लेकिन अपने प्रभाव तथा मित्र-मण्डली के बावजूद वह ऐसा न कर सका। हैरिंगटन की पुस्तक का अनुवाद यूरोप की कई भाषाओं में हुआ और फ्रेंच विचारक उससे प्रभावित हुए। यही नहीं उसके विचारों का प्रभाव इंगलैण्ड से अमेरिका पहुँचा। अमेरिका में केरोलिना, न्यूजेर्सी और पेनसिल-बेनिया और मैसाचुसेट्स के संविधानों में उसका प्रभाव स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। उक्त राज्यों के संविधानों के स्रष्टाओं ने यह स्वीकार किया है कि वे एक ऐसी सरकार की स्थापना करने जा रहे हैं जो व्यक्तियों की नहीं अपितु विधि की सरकार होगी।[2] इंगलैण्ड में

१ इस संबंध में Rota Club के विवादों की रिपोर्ट उल्लेखनीय है।

2 "To the end it may be a government of laws and not of men". See the last sentence of Massachusette Constitution of 1780 as quoted by Gettell in *His. of Pol Thought*, p. 208.

ह्यूम तथा कोलरिज तथा अमेरिका में ओटिस, जॉन एडम्स तथा जेफरसन हैरिंगटन उसके विचारों से प्रभावित हुए।

११.६ **सर राबर्ट फिल्मर** (Sir Robert Filmer)—फिल्मर का जन्म कब हुआ—यह ज्ञात नहीं है लेकिन बतलाया जाता है कि गृहयुद्ध के दौरान में वह था और उसको बंदा गृह में भी रखा गया था। उसकी मृत्यु सन् १६५३ में हुई। उसका प्रमुख ग्रंथ पेट्रीआर्का (Patriarcha) है जो उसकी मृत्यु के बाद सन् १६८० में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में राजा को स्वाभाविक शक्तियों के संबंध में प्रकाश डाला गया है तथा हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। फिल्मर मनुष्य की ऐसी किसी प्राकृतिक अवस्था को स्वीकार नहीं करता है जो इतिहास सिद्ध हो। उसका कहना था कि मनुष्य ऐसी दशा में कभी नहीं रहा जब वह अपनी सरकार आप ही चुनने के लिये स्वतंत्र रहा हो। फिल्मर का मत है कि मनुष्य ने कभी भी अपने प्राकृतिक अधिकारों को नहीं छोड़ा। राज्य केवल परिवार का ही अधिक व्यापक स्वरूप है। राजा का स्थान पिता के बराबर है और प्रजा का पुत्र के बराबर। सब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में भी समान नहीं थे क्योंकि आदम के जमाने से ही राजा और प्रजा के संबंध चले आ रहे हैं। इसलिये राजतंत्र दैवी है और प्राकृतिक विधियों के अनुकूल है। राजा और प्रजा के बीच किसी प्रकार के अनुबंध की ठीक उसी प्रकार कोई आवश्यकता नहीं है जिस प्रकार पिता और पुत्र के बीच किसी समझौते की आवश्यकता नहीं होती। पिता अपनी इच्छा के अनुसार पुत्रों, परिवार तथा नौकरों का पालन-पोषण करता है। नौकरों तथा पुत्रों द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन करने के लिये वह बाध्य नहीं किया जा सकता। राजा की शक्ति भी इसी प्रकार ईश्वर-प्रदत्त है। संसार की अन्य कोई ताकत उसकी सत्ता को अपनी प्रभुता के क्षेत्र में रखने योग्य नहीं है। फिल्मर ने इस प्रकार राजा के पिता होने की उपमा को एक ऐसी तर्क संगत कल्पना का रूप दिया जिससे राजतंत्र की निरंकुशता का औचित्य सिद्ध किया जा सके। फिल्मर का कहना था कि राजा को इस बात का पूरा अधिकार है कि वह संसद द्वारा बनायी गयी किसी विधि को सम्पूर्ण रूप से मान ले या उसका केवल एक ही अंश स्वीकार करे। वह सिंहासनारोहण के समय जो शपथ ग्रहण करता है उसका उद्देश्य केवल इतना ही है कि वह अच्छी विधियों का पालन करेगा। विधियों के बारे में अंतिम निर्णय करने का काम राजा का है किसी और का नहीं। संसद का कार्य केवल इतना ही है कि वह राजा को अपना परामर्श दे। प्रजा का कर्तव्य है कि वह राजा के समस्त आदेशों का पालन करे। यदि वे आदेश विधि के प्रतिकूल भी हों तो भी प्रजा को यह अधिकार नहीं कि वह उसके विरुद्ध आचरण करे। राजा चाहे तो ईश्वरीय विधियों के प्रतिकूल भी चलने का आदेश दे सकता है। राजतंत्र के विरुद्ध विद्रोह का परिणाम अराजकता या सैनिक अधिनायकतंत्र ही हो सकता है। लेकिन फिल्मर अपने तर्क को विवेक की मर्यादा में नहीं रख सका। वह करीब-करीब हॉब्स के पास ही पहुँच जाता है जब वह कहता है कि पुत्रों की बनायी विधियों को मानने के लिये पिता बाध्य नहीं जिसका प्रकारान्तर से यह अर्थ होता है कि प्रजा को कोई भी अधिकार नहीं है। इसलिये लॉक का यह कहना ठीक ही है कि अच्छी भाषा में इतना निरर्थक बात कभी नहीं कही गयी।

२०

हॉब्स और लॉक

१. टॉमस हॉब्स (जीवनी आदि) और उसकी कृतियाँ——२. लेयॉयथन का विश्लेषण——३. मानव प्रकृति और प्राकृतिक अवस्था——४. प्राकृतिक विधियाँ और अधिकार——५. राज्य की उत्पत्ति——६. धर्म और राज्य——७. विधियाँ——८. हॉब्स के राज्य में व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्ति के अधिकार——९. सर्वश्रेष्ठ शासनतंत्र——१०. हॉब्स के विचारों के गुण-दोष और अनुदाय——११. जॉन लॉक——१२. राज्य और धर्म——१३. राजक्रान्ति का अधिकार——१४. लॉक की व्यक्ति वादिता——१५. लॉक के विचारों की त्रुटियाँ——१६. हॉब्स और लॉक की तुलना——१७. लॉक का अनुदाय और स्थान।

१. थॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes)

१.१ **जीवन**——टॉमस हॉब्स का जन्म सन् १५८८ में हुआ था। यह वही वर्ष था जब आर्मेडा का युद्ध हुआ था और इंगलैण्ड में सर्वत्र भय का साम्राज्य था। वह ब्रिटेन के मेलसमबरी नामक स्थान में पैदा हुआ था जो इंगलैड के दक्षिणी तट पर अवस्थित है। वह बचपन से ही डरपोक था। प्रारंभिक शिक्षा के बाद वह ऑक्सफोर्ड भी भेजा गया लेकिन वहाँ से लौट आया। झगड़ा, अशान्ति और अव्यवस्था से वह आरंभ से ही घबड़ाता था। सन् १६४० में जिन दिनों उन्मादी संसद (Mad Parliament) की बैठकें हो रही थीं——उन दिनों वह गृहयुद्ध की मारकाट के दृश्यों से बचने के लिये पहले ही इंगलैण्ड से भाग गया था। लेकिन अन्य बालकों की अपेक्षा विद्याध्ययन की ओर उसकी रुचि अधिक थी और वह शान्तिपूर्वक जीवन बिताने का इच्छुक था। वह अन्य लोगों के लिये भी यही चाहता था कि वे शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करें। बाल्यकाल रानी एलिजाबेथ के स्वर्णकाल में बिताने के बाद वह गृहयुद्ध के पूर्व अपने स्वामी के पुत्र के साथ फ्रांस चला गया जिसे वह पढ़ाया करता था। वह तीन बार यूरोप गया और आया और कुल मिलाकर उसने अपने जीवन के बीस वर्ष महाद्वीपीय यूरोप में बिताये। उन दिनों फ्रांस में राजतंत्र था और वहाँ अपेक्षाकृत शांति थी। इन परिस्थितियों ने हॉब्स को बहुत अधिक प्रभावित किया और वह इस नतीजे पर पहुँचा कि सच्ची सुख-शान्ति और व्यवस्था की कुंजी राजतंत्र ही है। यदि किसी देश में राजतंत्र होगा तो वहाँ अमन-चैन कायम रहेगा और जहाँ वह न होगा अराजकता फैलेगी। फ्रांस में वह चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक रहा। इसके अतिरिक्त वहीं उसकी भेंट डेकार्टे (Descartes), गेलीलियों (Galileo) और हार्वे (Harve) आदि विद्वानों से हुई। उसने राज्यशास्त्र का अध्ययन करने के अतिरिक्त समाजशास्त्र, गणित और दर्शनशास्त्र का भी अध्ययन किया। यही नहीं मानव प्रकृति का भी उसने सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया। सत्रहवीं शताब्दी तक ब्रिटेन में ऐसा कोई दार्शनिक पैदा नहीं हुआ था जिसने राजशास्त्र का गंभीर मनन कर राज्य की उत्पत्ति का एक व्यवस्थित सिद्धान्त संसार को दिया हो। हॉब्स ने न केवल इतना ही किया बल्कि राज्यशास्त्र को और भी कई बहुमूल्य अनुदान दिये। हॉब्स की मृत्यु सन् १६७९ में ९१ वर्ष की अवस्था में हुई।

१.२ **परिस्थितियाँ**——जिस समय हॉब्स ने राजदर्शन के अध्ययन-क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय ब्रिटेन में गृहयुद्ध हो रहा था। राज्य भर में अशान्ति और अव्यवस्था थी और

चारों तरफ से राजसत्ता पर तरह-तरह के प्रहार हो रहे थे। एक तरफ तो राजाओं का वह पक्ष तथा समर्थक वर्ग था जो यह स्वर गूँजा रहा था कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है; प्रजा को उसकी आज्ञाओं का निर्विरोध पालन करना चाहिए; राजा का प्रजा के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं है; वह केवल ईश्वर के समक्ष अपने कार्यों के लिये जवाबदेह है; और दूसरी ओर सामन्तों तथा व्यापारियों का वह वर्ग था जिसके प्रतिनिधि संसद में यह माँग कर रहे थे कि राजा संसद के प्रति उत्तरदायी हो, वह राज्य का प्रशासन कार्य संसद के अनुमोदन से करे। इस प्रकार संसद पक्ष राजा की सत्ता को सीमित करना चाहता था। तीसरी ओर सर एडवर्ड कोक आदि जैसे कुछ ऐसे न्यायाचार्य थे जो यह कहते थे कि सामान्य विधियाँ ही सब कुछ हैं। इनकी मर्यादा का पालन करना राजा और संसद दोनों का कर्तव्य है। कुछ ऐसे भी विद्वान थे जो कहते थे कि प्राकृतिक विधियाँ ही सब की मर्यादा निर्धारित करती हैं। अतः उनका उल्लंघन करने का अधिकार किसी को नहीं है। एक दल पादरियों और कट्टर धर्मांधों का था जो राजा और प्रजा दोनों को अपने नीचे समझता था और चाहता था कि उसकी श्रेष्ठता के समक्ष सब लोग सिर झुकायें। ऐसे लोगों में कैथोलिक सम्प्रदाय तथा कालविनवादियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ प्रजातंत्रवादी दार्शनिक थे—जो यह मानते थे कि राजा और प्रजा के संबंध अनुबंध पर आधारित हैं। यदि राजा उन शर्तों का पालन नहीं करता जो अनुबंध के अनुसार उसे पूरी करने चाहिए तो प्रजा को अधिकार है कि वह उसे हटा दे। ऐसी विभिन्न प्रकार की धाराओं-प्रधाराओं के बीच हॉब्स को यह तय करना था कि राजसत्ता का वास्तविक अधिकारी कौन है और शांति और व्यवस्था किस प्रकार स्थापित हो सकती है। उसने यह कार्य न तो धर्मशास्त्र के आधार पर किया और न परम्पराओं के आधार पर। उसने मानव-स्वभाव को अपना आधार बनाया और उसका सूक्ष्म अध्ययन करके मानवीय प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया। इन्हीं प्रवृत्तियों द्वारा उसने राज्य और संप्रभु शासक की कल्पना का किला खड़ा किया। उसके ग्रंथों में हमें राजनीतिक और मनोविज्ञान इन दोनों के बड़ा सुन्दर समन्वय का प्रयास मिलता है। उसने तत्कालीन ब्रिटेन की समस्या को समझ लिया था। हॉब्स के अनुसार इंगलैण्ड में राजा और प्रजा के संबंध मुख्य प्रश्न बने हुए थे।[1] उसने इन समस्याओं का हल खोजने की भी कोशिश की।

१.३ हॉब्स के मुख्य ग्रंथ और उसकी अध्ययन पद्धति—हॉब्स के ग्रंथों में निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं :—

(१) **डी कारपोरे पॉलिटिको** (De Carpore Politico)।
(२) **डी सिवे** (De Cive)।
(३) **एलीमेण्ट्स ऑफ लॉ** (Elements of Law)।
(४) **लेवॉथन** (Leviathan) **और**
(५) **ए डॉयलाग ऑन दि सिविल वार्स** (Dialogue on the Civil Wars)।

ये पुस्तकें क्रमशः सन् १६४०, १६३२, १६५०, १६५१ और १६७९ में प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों से हमें हॉब्स के राजदर्शन की कई विशेषताओं का पता चलता है।

---

1 "He once said that England was boiling hot with questions concerning the right of dominion andthe obedience due from subjects" as quoted by R. G. Gettell in *History of Political Thought* on page 218 foot note No. 2.

हर एक समस्या के संबंध में वह दार्शनिक और वैज्ञानिक-सी तटस्थ दृष्टि रखता है। य बात इसी से प्रकट है कि उसका संप्रभुता का सिद्धान्त राजतंत्र और गणतंत्रवादी सिद्धान्तों पर समान रूप से लागू होता है। दूसरे उसका राजदर्शन धार्मिक मूढ़-विश्वासों पर आधारित न होकर वैज्ञानिक भौतिकवाद (Scientific Materialism) पर आधारित है—वह क्रिया और प्रतिक्रिया के सिद्धान्त की नींव पर अपने 'नश्वर देव' (Leviathan or Mortal God) की रचना करता तीसरे वह मनुष्य के स्वभाव का बाह्य वातवरण को पृष्ठिभूमि में अध्ययन करता है। इन ग्रंथों की लेखन पद्धति का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि हॉब्स ने इतिहास द्वारा प्रामाणिकता सिद्ध करने का बहुत कम प्रयास किया था। साथ ही वह राजनीति की यथार्थताओं पर भी अधिक ध्यान नहीं देता। वह मुख्यतः मनोवैज्ञानिक अध्ययन पद्धति को अपनाता है। उसकी प्रणाली (रिजॉल्यूटिव कंपोजिव) भौतिक विज्ञान की प्रणाली भी कही जाती है। इस प्रणाली का अर्थ यह है कि किसी वस्तु के दोषों को जानने के लिये सर्वप्रथम उसका पूर्णतः विश्लेषण करना चाहिए और फिर उसके दोषों को दूर कर कार्य करने योग्य बना देना चाहिए। आपकी साइकिल या मोटर के इंजिन में कोई दोष उत्पन्न हो जाय और वह चले नहीं तो मिस्त्री पहले उसे ऊपर से देखेगा और यदि फिर भी उसकी समझ में रोग न आये तो वह पूरी साइकिल या इंजन खोल डालेगा। हर पुर्जे की परीक्षा करेगा और फिर खराब पुर्जों को मरम्मत कर गाड़ी को उपयोग में लाने योग्य बना देगा। न्यूनाधिक, हॉब्स ने भी ऐसा ही किया। वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ या नहीं—या कितना सफल हुआ और कितना असफल—इस पर हम आगे के पृष्ठों में विचार करेंगे।

१४ **हॉब्स पर प्रभाव**—हॉब्स पर अपने पूर्ववर्त्तियों तथा समकालीनों में **बेकन, डेकार्टे** और **गैलिलिओ** का प्रभाव पड़ा था। इन्हीं विद्वानों द्वारा गणित और भौतिक शास्त्र के क्षेत्र में हॉब्स का प्रवेश हुआ। इनके अतिरिक्त वह **हुकर** के सन् १५९४ में प्रतिपादित अनुबंध सिद्धान्त से भी प्रभावित हुआ था। संप्रभु शासक की निरंकुशता के संबंध में **मैकियावली** से संप्रभुता की कल्पना के संबंध में **जीन बोदाँ** से, और प्राकृतिक विधियों के संबंध में वह **ग्रोशस**, से प्रभावित हुआ था। **मार्सीलिओ ऑफ पेडुआ** की धर्म-निरपेक्षता का भी उस पर बड़ा जबर्दस्त असर पड़ा था।

२. लेवॉयथन (Leviathan) का विश्लेषण

'लेवॉयथन' हॉब्स का सबसे प्रमुख ग्रंथ है। इसी में उसके सारे विचार भली भाँति प्रकट हुए हैं। यह ग्रंथ चार भागों में विभक्त है। पहले भाग के अन्तिम चार अध्यायों में हमें हॉब्स द्वारा अंकित प्राकृतिक अवस्था का चित्र मिलता है। इसके बाद पुस्तक के दूसरे भाग के प्रथम पाँच अध्यायों में हमे हॉब्स का राज्य की उत्पत्ति के संबंध में मत मिलता है। इन्हीं अध्यायों में हमें संप्रभुता के संबंध में भी हॉब्स की कल्पना दिखलायी पड़ती है। पुस्तक के शेष दो भाग धर्म और राज्य के संबंध में हैं। इन दोनों भागों में हॉब्स ने यह बतलाने का यत्न किया है कि धर्म का स्थान क्या है और उसे राजसत्ता के अधीन क्यों रहना चाहिए।

२.१ **हॉब्स के अन्य ग्रंथों का परिचय**—हॉब्स ने 'लेवॉयथन' के पूर्व भी कुछ ऐसे ग्रंथ लिखे थे जिनमें उसके उन विचारों का बीज मिलता है जो 'लेवॉयथन' तक पहुँचते-पहुँचते एक बड़े बटवृक्ष के रूप में बदल गये हैं। उदाहरण के लिये हॉब्स की पुस्तक **'डी कॉरपोरे पोलिटिको'** ऐसी ही है जिसमें हॉब्स ने मानव-प्रकृति का सबसे पहले विश्लेषण किया है और यह बतलाया है कि मनुष्य के मस्तिष्क पर सदैव भय किस प्रकार छाया रहता है। इसी में

हॉब्स ने संक्षेप में प्राकृतिक अवस्था को युद्ध की अवस्था सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसी में उसने यह भी बतलाया है कि प्राकृतिक अवस्था में रहने पर भी मनुष्य प्राकृतिक विधियों की सहायता से किस प्रकार राजनीतिक समाज की रचना करता है और फिर इसके बाद सरकार बनाता है। यह सरकार हो जिसका प्रतिनिधित्व एक या कुछ व्यक्ति करते हैं सम्पूर्ण अनुबंधित मानव-समुदाय की इच्छाओं को प्रदर्शित करती है। इसी में वह बतलाता है कि संप्रभु शासक का विरोध क्यों नहीं किया जाना चाहिए। संप्रभु शासक मनुष्य या नागरिक को भौतिक गतिविधियों पर नियंत्रण रख सकता है लेकिन उसे नागरिक की आत्मा पर शासन करने का अधिकार नहीं है। उसे चाहिए कि वह प्रजा को किसी भी धर्म में विश्वास रखने की छूट दे। इस प्रकार वह एक प्रकार की धार्मिक सहिष्णुता का प्रतिपादन करता है। इसके बाद पेरिस से हॉब्स की दूसरी पुस्तक डि सिवे (De Cive) सन् १६४२ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में भी उसने एक संप्रभु शासक की आवश्यकता बतलायी। साथ ही संप्रभुता का भी स्पष्टीकरण किया और परिभाषा दी। इसके बाद अन्त में उसका ग्रंथ 'लेवॉयथन' सन् १६५१ में प्रकाशित हुआ। हॉब्स के ग्रंथों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी व्यवस्था और युक्तिसंगत तर्कक्रम है। वह एक के बाद एक करके इस प्रकार तर्क रखता हुआ चला जाता है कि उसकी बात जब तक पूरी नहीं होती किसी को उसकी बातों पर संदेह ही नहीं होता। वह बीजगणित की तरह परिभाषाओं में एक-एक शब्द बड़ी सावधानी से रखता है और ऐसा करने में उसका उद्देश्य यह रहता है कि वे बिलकुल शुद्ध रहें। उसने राजनीतिशास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को, जो प्राचीन और मध्यकाल से चले आ रहे थे—एक नया रूप दिया। प्राकृतिक अवस्था, प्राकृतिक विधियाँ और प्राकृतिक अधिकार आदि ऐसे ही कुछ शब्द हैं जिनको हॉब्स ने अपनी व्याख्या द्वारा एक बिलकुल नया ही रूप दे डाला। अपनी इन्हीं व्याख्याओं और परिभाषाओं के कारण हॉब्स राज्यदर्शन की तार्किक धारा का सबसे बड़ा विद्वान् समझा जाता है, और कहा जाता है कि राज्यदर्शन को आधुनिकता की दिशा में प्रवृत्त करने का ऐतिहासिक कार्य सबसे पहिले उसी ने किया।

३. मानव प्रकृति और प्राकृतिक अवस्था

जैसा कि हम बतला आये हैं, मानव-प्रकृति संबंधी हॉब्स के विचार हमें सबसे पहले सन् १६४० में प्रकाशित **'डी कारपोरे पोलिटिको'** में मिलते हैं और इसके बाद **'लेवॉयथन'** के प्रथम भाग के अंतिम चार अध्यायों के आरंभ में जिसके बाद वह मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करता है। हॉब्स मानव प्रकृति को स्वार्थी और भय खानेवाली बतलाता है। उसका कहना है कि वह सदैव किसी न किसी प्रकार के हित साधन की चेष्टा में रहती है। उसका मुख्य उद्देश्य अपने यश को बढ़ाना होता है। अपने इन्हीं स्वार्थों के लिये मनुष्य बराबर लड़ाई-झगड़ा करता है। हॉब्स का कहना था कि मनुष्य की पद्धति का अध्ययन करके यह सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसमें अपनी शक्ति वृद्धि की लिप्सा शाश्वत रूप से बनी रहती है। यह लिप्सा उसे बराबर कार्यशील बनाये रखती है और वह इसकी वजह से बेचैन रहता है। मनुष्य की यह लिप्सा तभी लुप्त होती है जब उसकी मृत्यु हो जाती है। हॉब्स इस प्रश्न का भी उत्तर देता है कि मनुष्य अधिक-से-अधिक शक्ति पा जाने पर भी चैन से क्यों नहीं बैठता, और जितनी शक्ति उसे प्राप्त हो जाती है, उससे अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है? हॉब्स कहता है "ऐसा इसलिये नहीं होता कि अधिक शक्ति प्राप्त करने के कारण मनुष्य अधिक आनन्द का अनुभव करता है, अपितु इसलिये कि यदि वह ऐसा न करे तो इस बात का क्या आश्वासन है कि जितनी शक्ति

उसके पास है--वह बनी रह सकेगी।[1] इसीलिये वह अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार हाब्स का यह भी कहना है कि मनुष्य प्रकृतितः समान हैं। थोड़ा-बहुत शारीरिक बल का अंतर हो तो दूसरी बात है, लेकिन कोई भी आदमी इतना दुर्बल नहीं होता कि दूसरे को उससे किसी प्रकार का भय न रहे। न ही कोई व्यक्ति इतना बलवान ही होता है कि उस पर किसी भी प्रकार का आक्रमण न किया जा सके। इस प्रकार सभी व्यक्तियों में समान रूप से भय की भावना कार्य करती है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो सर्वथा भय से मुक्त हो। इसके बाद वह बतलाता है कि ऐसी प्रकृति वाले मनुष्यों का प्राकृतिक अवस्था में क्या दशा होती है। हॉब्स कहता है कि प्राकृतिक अवस्था अराजकता की दशा का ही दूसरा नाम है। यह उस समय के पूर्व का चित्र है जब मनुष्य समाज या राजनीतिक अनुबंध की दशा में नहीं रहता। प्राकृतिक अवस्था में सभी व्यक्ति आपस में लड़ते रहते हैं। वे अकारण ही मार-काट करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि यदि वे स्वयं पड़ोसी पर पहले हमला करके उसे नष्ट नहीं करेंगे तो वह उनको समाप्त कर देगा। मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में ऐसा हिंसामय जीवन बिताने के लिये विवश होना पड़ता है जिसमें उसकी दो ही प्रवृत्तियाँ उभर पाती हैं और वे हैं बल प्रयोग की और धोखा देने की। इसी हिंसात्मक जीवन के दौरान में व्यक्ति यह अनुभव करता है कि यदि किसी प्रकार वह अपनी रक्षा की व्यवस्था कर सके तो अच्छा है। वह निरन्तर मार-काट और लड़ाई-झगड़ों से ऊब जाता है और शान्ति की कामना करने लगता है। लेकिन वह देखता है कि वह इस दिशा में अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन "जंगली, दुष्टतापूर्ण और अल्प" होता है। उसे दरिद्रतापूर्ण और एकाकी जीवन बिताने के लिये लाचार होना पड़ता है क्योंकि ऐसी अवस्था में न उद्योग के लिये कोई गुंजायश रहती है और न मनुष्य किसी धंधे में ही लग सकता है। वह विद्या, संस्कृति, कला आदि की शिक्षा भी नहीं पा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा लगता है कि वह न जाने कब मार डाला जाय। भय के कारण वह कहीं आ-जा नहीं सकता और उसका जीवन सूना तथा एकाकी रह जाता है। प्राकृतिक अवस्था में क्या ठीक है और क्या गलत—इसका भी कोई फैसला नहीं हो सकता। कोई बात ठीक है तो क्यों ठीक है और गलत है तो क्यों गलत है—इसका फैसला करने के लिए एक सामान्य विधि की आवश्यकता पड़ती है। आचरण के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों और परम्पराओं की जरूरत पड़ती है। एक ऐसे न्यायाधीश की आवश्यकता पड़ती है जो आचरण की परीक्षा कर सके और उसके संबंध में अपना कोई फैसला दे सके। यदि कोई ऐसा निर्णायक नियुक्त किया जाय तो सब व्यक्तियों की इस बात के लिय सहमति होनी चाहिए कि वह जो कुछ कहेगा—उसे सब मानेंगे। ऐसा तभी हो सकता है जब कोई समझौता हो जाय। समझौते से प्राकृतिक अवस्था स्वयमेव समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार प्राकृतिक अवस्था में

---

1 "I put for a general inclination of all mankind a perpetual and restless desire of power after power, that ceaseth only in death. And the cause of this, is not always that a man hopes for a more intensive delight, than he has already attained to; or that he cannot be content with a more moderate power; but because he cannot assure the power and means to live well, which he hath present, without the acquisition of more" Leviathan chapter XI as quoted by G. H. Sabine in *A History of Political Theores*, p. 394.

इस बात का भी कोई फैसला नहीं किया जा सकता कि क्या न्यायसंगत है और क्या अन्यायपूर्ण। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक अवस्था में कोई संप्रभु शासक नहीं होता और न कोई ऐसी विधि (Law) ही होती है जिसको सामने रखकर यह कहा जा सके कि यह कार्य अन्यायपूर्ण है। इसी प्रकार प्राकृतिक अवस्था में कोई व्यक्ति सम्पत्ति भी नहीं रख सकता। कारण, सम्पत्ति तो तभी रखी जा सकती है जब व्यक्ति एक स्थान पर जम कर रहे, और उसे इस बात का कोई डर न हो कि वह उससे छीन ली जायगी। प्राकृतिक अवस्था के संबंध में हॉब्स की यही कल्पना है। हॉब्स इस कल्पना को किसी ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं करता बल्कि अनुमान करता है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की दशा इसी से मिलती-जुलती रही होगी। अपनी बात को सिद्ध करने के लिये हॉब्स ने बतलाया है कि गृहयुद्ध के दौरान में करीब-करीब ऐसी ही दशा होती है क्योंकि ऐसे समय में कोई संप्रभु शासक नहीं होता। ऐसी ही दशा आजकल उन जातियों को पायी जाती है जो अभी तक सभ्य नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत का उदाहरण देते हुए हॉब्स कहता है कि सब देशों के ऊपर कोई संप्रभु सत्ता नहीं है, इसीलिये वे प्राकृतिक अवस्था में रहते हैं और उनमें परस्पर युद्ध होता रहता है।

४. प्राकृतिक विधियाँ और अधिकार

हॉब्स ने **'लेवॉयथन'** के एक अध्याय में यह बतलाया है कि प्राकृतिक विधियाँ और प्राकृतिक अधिकारों के बीच क्या अन्तर होता है? वह कहता है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में अपने शरीर की रक्षा के लिये जो भी कार्य करने को स्वतंत्रता पाता है वही उसका प्राकृतिक अधिकार (Natural Right) है।[१] इसी प्रकार वह यह भी बतलाता है कि प्राकृतिक विधियों द्वारा मनुष्य को अपने उत्तरदायित्वों का बोध होता है। अतः प्राकृतिक अधिकार और विधि में वही अन्तर है जो उत्तरदायित्व और स्वातंत्र्य के बीच होता है।[२] लेकिन हॉब्स इतने से ही संतुष्ट न होकर प्राकृतिक विधियों की और व्याख्या करता है। उसने मध्यकाल के विद्वानों की भांति यह बतलाया कि प्राकृतिक विधियाँ मनुष्य के उचित विवेक का आदेश हैं। वे यह बतलाती हैं कि जीवन धारण करने के लिये मनुष्य की जितनी सामर्थ्य है उसके अन्तर्गत उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं?[३] इसके अतिरिक्त प्राकृतिक विधि की उसने एक और भी परिभाषा दी है। इस परिभाषा के अनुसार प्राकृतिक विधि वह सूक्ति या सामान्य नियम है, जो विवेक द्वारा ज्ञात होता है और जिसके द्वारा

---

1 "Natural Right was the liberty possessed by all men of doing what was necessary for the preservation of existence". R.G. Gettell, *History of Political Thought*, p. 219.

2 "Right consisteth in liberty to do or to forbear; whereas law determineth and bindeth to one of them; so that law and right differ as much as obligation and liberty". F.J.C. Hearshaw in *Social and Political Ideas of Sixteenth and Seventeenth Centuries*, p. 158.

3 "Therefore the law of Nature...is the dictate of right reason, conversant about those things which are either to be done or omitted for the constant preservation of life and members as much as in us lies". *De Cive*, Ch. II, English Works edited by Molesworth, Vol. II, p. 16.

मनुष्य को या तो किसी ऐसे कार्य को करने से रोका जाता है जिससे उसके जीवन के ध्वंस होने की संभावना होती है या किसी ऐसे काम को करने के लिये कहा जाता है जिससे उसकी जीवन रक्षा हो सके।[1] इन्हीं दो मान्यताओं के आधार पर वह समाज का ढाँचा खड़ा करता है। हॉब्स प्राकृतिक विधि के अलावा प्राकृतिक दशा में अन्य किसी विधि का अस्तित्व नहीं मानता। उसका कहना था कि प्राकृतिक विधियों की सहायता से ही मनुष्य प्राकृतिक अवस्था से मुक्ति प्राप्त कर सका है। यह बात उसकी प्राकृतिक अधिकारों और विधियों की व्याख्या से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। प्राकृतिक अधिकारों का सहारा लेकर मनुष्य किसी भी दूसरे व्यक्ति से युद्ध कर सकता है, परन्तु प्राकृतिक विधि उसे ऐसा करने से रोकती है और विवेक से काम लेने की सलाह देती है। लेकिन युद्ध से छुटकारा केवल एकाध व्यक्ति के ही प्राकृतिक विधि का आदेश पालन करने से नहीं हो जाता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करे। यह कार्य सार्वभौमिक रूप से होना चाहिए। जब कभी मनुष्य ऐसा करने के लिये तैयार हो जाते हैं तो वह अपने-अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर यह वादा करते हैं कि वे अपने अधिकार एक व्यक्ति-विशेष के हाथ में सौंप देंगे और उसकी आज्ञाओं का पालन करेंगे। सच तो यह है कि हॉब्स की प्राकृतिक विधि मनुष्य के सामने स्पष्टतः दो मार्ग रखती है—(अ) एक मार्ग वह जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का एक अंश एक अनुबंध द्वारा अन्य सब व्यक्तियों के साथ एक ऐसे शक्ति को समर्पित कर देता है जो सबकी स्वतंत्रता की रक्षा कर सके और (आ) दूसरा मार्ग वह जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति तथा अपने ही साधनों से अपनी रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है। यदि मनुष्य प्रथम मार्ग चुनता है तो वह अनुबंध की दशा में रहता है और उसके अधिकारों की रक्षा संप्रभु द्वारा की जाती है। ऐसी अवस्था में जो व्यक्ति शर्तों के अनुसार आचरण नहीं करते, उन्हें दण्डित किया जाता है।

५. राज्य की उत्पत्ति

जैसा हम ऊपर बतला आये हैं, प्राकृतिक अवस्था में भी प्राकृतिक विधियों या स्वाभाविक विवेक के कारण व्यक्ति यह प्रयत्न करता है कि वह शान्ति कायम रखे और अपनी रक्षा करे। लेकिन अनुभव द्वारा उसे ज्ञात होता है कि वह दूसरों की सहायता के बिना अकेला कुछ नहीं कर सकता। ऐसी दशा में वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि एक ऐसे संप्रभु (Sovereign) की स्थापना की जाय जो प्राकृतिक विधियों के आदेशों के अनुसार सभी व्यक्तियों को आचरण करने के लिये विवश कर सके। प्राकृतिक विधि का अर्थ हॉब्स ने इस प्रकार समझाया है कि यह वह नियम है जो कहता है कि 'तुम कोई ऐसा कार्य मत करो जो तुम स्वयं अपने लिये पसन्द नहीं करते।' प्राकृतिक अधिकारों पर रोक की आवश्यकता सभी व्यक्ति महसूस करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि वे एक अनुबंध द्वारा अपने उन समस्त प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर देते हैं जिन्हें यदि वे अपने आप रखें तो अशान्ति की संभावना बनी रहती है। अतः वे अनुबंध की रचना करते हैं और इस बात की व्यवस्था करते हैं कि जो व्यक्ति शर्तों का उल्लंघन करे उसे इतना बड़ा दण्ड दिया जाय कि और लोग वैसा करने का साहस न करें। मनुष्य में चूँकि भय की भावना होती है और वह स्वार्थी भी होता है—इसलिये वह भय और अपने अहित की आशंका से ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे अनुबंध की शर्तों का उल्लंघन हो। यदि वह ऐसा करता है तो उसे दंड दिया जाता है। दंड

---

1 "A law of nature is a precept or general rule, found out by reason by which a man is forbidden to do, that which is destructive of his life or taketh away the means of preserving the same, and omit, that by which he thinketh it may be best preserved." *Leviathan*, Ch. XIV.

का विधान इसलिये आवश्यक है।[१] यह दंड इतना दिया जाता है कि वह उस लाभ की तुलना में कहीं अधिक हो जो अनुबंध की शर्तों के उल्लंघन से उसे प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार हॉब्स अनुबंध के सिद्धान्त को एक नये परिधान में, एक नयी व्याख्या के साथ उपस्थित करता है। सामाजिक अनुबंध (Social Contract) शब्द के उपयोग से पहले यह तात्पर्य ग्रहण किया जाता था कि शासक और शासित के बीच कोई समझौता हुआ है लेकिन हॉब्स ने इसका अर्थ ही बिलकुल बदल दिया। उसने कहा अनुबंध में कोई अलग शासक नहीं होता। उसमें बँधने वाले स्वयं व्यक्ति ही होते हैं। वह सब मिलकर कुछ इस प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं :—

"मैं अपने उन अधिकारों को जिनकी वजह से मुझे अपनी इच्छा के अनुसार चलने का अधिकार है इस व्यक्ति को या इस व्यक्ति-समुदाय को इस शर्त पर समर्पित करता हूँ कि तुम भी अपने अधिकारों को मेरी ही भाँति इसे समर्पित कर दो और मेरी ही भाँति इसके कार्यों को अधिकारपूर्ण मानो।"[२]

इस प्रकार अनुबंध द्वारा हॉब्स एक ऐसी नियंत्रणकारी शक्ति की सृष्टि करता है जो इसके पूर्व नहीं थी। वह अनुबंध के द्वारा दो कार्यों की पूर्ति करता है—प्रथम वह एक व्यवस्थित और सभ्य समाज की स्थापना करता है, और द्वितीय वह एक ऐसे राज्य की स्थापना करता है जिसमें मनुष्य अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर एक निरंकुश संप्रभु का निर्माण करते हैं। वह कहता है कि अनुबंधों द्वारा निर्मित राज्य व्यक्तियों को आश्वासन देता है कि उनकी बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा की जायगी। ऐसा तभी हो सकता है जब सब मनुष्य राज्य की आज्ञा पालन करने का आश्वासन दें और राज्य की सारी शक्ति किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समुदाय (Assembly of men) में परिवेष्ठित कर दी जाय। ऐसा व्यक्ति ही सबकी इच्छाओं को एक शक्तिशाली इच्छा के रूप में परिवर्तित कर सकता है। जो व्यक्ति इस शक्ति का प्रतीक होगा वह संप्रभु कहलाता है। इसी संप्रभु व्यक्ति को हॉब्स ने नश्वरदेव (Mortal God or Leviathan) की संज्ञा दी है। एक बार पुनः हॉब्स ने बतलाया है कि इस प्रकार का संप्रभु व्यक्ति तभी सामने आ सकता है जब सब व्यक्ति अपनी-अपनी शक्तियों या प्राकृतिक अधिकारों का स्वेच्छा से या किसी बाह्य प्रेरणा की सहायता से उपरोक्त पद्धति से परित्याग कर दें। संप्रभु शक्ति की उत्पत्ति की उक्त कल्पना देने के बाद हॉब्स नश्वरदेव[३] के चौदह गुण बतलाता है जो इस प्रकार हैं :—

---

1 "Covenants without the sword are but words and of no strength to secure a man at all''. T. Hobbes in *Leviathan* in Ch. XVII or "The bonds of words are too weak to bridle men's ambition avarice, anger and other passions withont the fear of some coercive power." Ibid., Ch. XIV.

2 Thomas Hobbes stated the covenant as follows—

"I authorise and give up my right of governing myself, to this man or to this assembly of men, on this condition, that thou give up thy right to him and authorise all his actions in like manner." .. Ibid., Ch. XVII.

३ यहाँ हाब्स का अर्थ यह नहीं है कि संप्रभु शासक केवल एक ही व्यक्ति हो बल्कि उसका आशय एक ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय से है जिसमें राज्य की सम्पूर्ण सत्ता परिवेष्ठित होगी।—लेखक

५.१ इसमें संदेह नहीं कि राज्य या कॉमनवेल्थ की सृष्टि सामाजिक अनुबंध द्वारा होती है और उसी के अनुसार संप्रभु शासक भी बनता है, लेकिन हॉब्स का संप्रभु शासक स्वयं अनुबंध का कोई फरीक नहीं बनता। वह किसी भी व्यक्ति से कोई समझौता नहीं करता। वह सब व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते के कारण उत्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ कि जहाँ प्रत्यक नागरिक इस बात क लिय बाध्य है कि वह संप्रभु की हर उचित-अनुचित आज्ञा का पालन करे और उसके प्रति आज्ञाकारिता का भाव रख—वहाँ संप्रभु शासक का नागरिक या प्रजा के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं है उसको वैसे ही अधिकार प्राप्त हैं जैसे हर व्यक्ति को सामाजिक अनुबंध की शर्तें मानने के पहले प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में प्राप्त थे। एक बार जहाँ संप्रभु शासक या नश्वरदेव का जन्म हुआ कि व्यक्ति के सारे अधिकार समाप्त हो जाते हैं। दूसरे कोई व्यक्ति उस संप्रभु सत्ता के समक्ष यह नहीं कह सकता कि वह अनुबंध से अपने आपको मुक्त रखता है।

५.२ इस प्रकार संप्रभु शासक की शक्ति असीम है। वह किसी भी लौकिक उत्तरदायित्व से बाध्य नहीं है। संविधान का कोई अंकुश उस पर नहीं लगाया जा सकता। वह सार्वभौमिक व्यक्ति समुदाय द्वारा बनता है। उसे यदि कोई शक्ति अच्छा या बुरा काम करने स रोक सकती है तो वह उसका अपना विवेक है। चूँकि संप्रभु शासक प्राकृतिक अवस्था में है—इसलिए वह विवेकजनित प्राकृतिक विधियों से पथप्रदर्शन ग्रहण करता है; अन्य किन्हीं विधियों से नहीं। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं कि वह उसे यह बतलाने का प्रयत्न करे कि प्राकृतिक विधि के अनुसार उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं।

५.३ संप्रभु शासक को प्रजा अपनी तरफ से कोई दण्ड नहीं दे सकती। यदि वह ऐसा करती है तो उसका यह कार्य अन्यायपूर्ण होगा।

५.४ प्रजा अपनी इच्छा से जिस संप्रभु शासक की स्थापना करती है वह प्रजा को कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकता। इसका कारण यह है कि वह तो प्रजा का अधिकार प्राप्त रक्षक है। उसका कोई काय अवैधानिक नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं सारी विधियों का स्रोत (Fountain of Law) है। वह जो भी विधियाँ बनाता है—वह कवल प्रजा क आचरण का नियंत्रण करने के लिये होती हैं—उसके स्वयं के आचरण का नियमन करने के लिये नहीं। विधियों का आशय और उनकी व्याख्या करना प्रजा का कार्य नहीं, यह संप्रभु शासक का कार्य है। वह उनकी जो भी व्याख्या करता है, वह उचित ही नहीं होता है।

५.५ संप्रभु शासक के आने से ही मानव-समाज में शांति होती है, मनुष्य उद्यम में लग सकता है तथा धनार्जन कर सकता है और धन संग्रह से सम्पत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार सम्पत्ति का विधाता वही है, और यदि वह सम्पत्ति का विधाता है तो प्रजा की सारी सम्पत्ति का भी स्वामी वही है। ऐसी दशा में यदि वह कोई कर लगाता है या किसी की सम्पत्ति ले लता है तो उसका यह कार्य किसी भी प्रकार नाजायज नहीं बतलाया जा सकता। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य की भाँति ही स्वतंत्र है। वह युद्ध की घोषणा कर सकता है और जब चाहे संधि करके शांति भी कर सकता है। अपने इन कार्यों के लिये वह किसी की भी अनुमति पहले से प्राप्त करने के लिये बाध्य नहीं।

५.६ संप्रभु शासक के समक्ष किसी व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हैं। वह जो चाहे अधिकार प्रजा को दे सकता है और उन्हें जब चाहे छीन सकता है। भाषण-स्वातंत्र्य और सभी अधिकारों के संबंध में हॉब्स का यही मत है। यदि वह समझता है कि किसी मत के प्रचार से राज्य को खतरा है या उसकी शांति भंग हो जाने की संभावना है तो वह उस बिना किसी संकोच के दबा सकता है और यह भी कर सकता है कि कोई उस प्रतिबंध के विरुद्ध आवाज न उठाये।

५.७ संप्रभु शासक राजसत्ता की अंतिम, सर्वोच्च और एकाकी अवस्था का प्रतीक है। कोई भी व्यक्ति उस सत्ता का प्रतिरोध तब तक नहीं कर सकता—जब तक ऐसा करना उसकी अपनी आत्मरक्षा के लिये ही जरूरी न हो जाय।

५.८ संप्रभु शासक का यह कर्त्तव्य है कि वह उन उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन करे जिनके लिये उसकी रचना की गयी है। वे उत्तरदायित्व और कर्तव्य ये हैं :— बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों से प्रजा की रक्षा करना और राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना। इसके अतिरिक्त वह संप्रभु शासक का कोई कर्तव्य नहीं बतलाता।

५.९ संप्रभु शासक की आज्ञा चाहे गलत हो या सही—प्रजा द्वारा उस आज्ञा का पालन किया जाना जरूरी है। यदि कोई व्यक्ति उन आज्ञाओं का पालन नहीं करता तो वह अनुबंध की शर्तों का उल्लंघन करता है। वह अपराधी है और उस पर राजद्रोह का आरोप लगा कर संप्रभु शासक जो चाहे दण्ड दे सकता है। कोई नया संप्रभु शासक उस समय तक नहीं बनता जब तक पूर्ववर्ती संप्रभु अपने पद से हट न जाय या नये संप्रभु की नियुक्ति का आदेश न दे द। संप्रभु जो चाहे प्रजा की तरफ से कर सकता है क्योंकि वह प्रजा का ही विकसित और संयुक्त स्वरूप है।

५.१० यदि संप्रभु अपने उत्तरदायित्वों का पालन नहीं करता तो प्रजा के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं जिससे वह उसका विरोध कर सके। संप्रभु अविवेकी हो सकता है लेकिन उस पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वह अन्याय करता है। वह चूंकि प्राकृतिक अवस्था में है और उसके ऊपर अपने विवेक के अतिरिक्त कोई शक्ति नहीं है और उसे सारे प्राकृतिक अधिकार प्राप्त हैं—इसलिये, उसके लिये कोई भी कार्य न्याय या अन्याय की कल्पना से रहित है क्योंकि ऐसा ही प्रत्येक व्यक्ति के लिये उस समय भी था जब वह स्वयं प्राकृतिक अवस्था में था।

५.११ व्यक्ति के लिये संप्रभु शासक ही ईश्वर है—क्योंकि लौकिक जगत में उसके अतिरिक्त ईश्वर का प्रतिनिधित्व अन्य कोई व्यक्ति नहीं कर सकता। इसलिये यह कहना निरर्थक है कि ईश्वर से व्यक्ति का कोई ऐसा भी अनुबंध हो सकता है जो संप्रभु द्वारा न हो। ईश्वर से होने वाले प्रत्येक अनुबंध के लिये संप्रभु शासक का साक्ष्य अपेक्षित है।

५.१२ संप्रभु सम्पूर्ण प्रशासकीय सत्ता का प्रतीक है और राज्य के समस्त अधिकारियों का वह उच्चतम अधिकारी है। राज्य में उससे बड़ा कोई अधिकारी नहीं हो सकता। वही मान-सम्मान का स्रोत भी है।

५.१३ व्यक्तियों का ऐसा समुदाय जो अल्पमत हो—यह नहीं कह सकता कि वह अमुक संप्रभु की सत्ता को नहीं मानता क्योंकि वह संप्रभु उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं चुना गया है। यदि वह ऐसा करता है तो बहुमत की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले संप्रभु शासक को इस बात का पूरा अधिकार है कि वह अपने विरोधियों का उन्मूलन कर डाले। यदि संप्रभु विरोधियों का उन्मूलन करता है तो उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं की जा सकती।

५.१४ संप्रभु के अधिकारों और गुणों को कोई भी विभाजित नहीं कर सकता। वे अविभाज्य, अहस्तान्तरणीय और अपरिवर्तनीय हैं। संप्रभु के सामने लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही निगमों और संवासों के व्यक्तियों को नतमस्तक होना पड़ता है।

हॉब्स के मतानुसार सीमित संप्रभुता जैसी कोई चीज नहीं होती। हॉब्स की संप्रभुता संबंधी परिभाषा जीन बोदाँ से काफी प्रभावित है। हॉब्स का संप्रभु शासक ही प्राकृतिक विधियों का सर्वोच्च निर्णायक और व्याख्याता है। संप्रभु शासक को ईश्वर के सामने नतमस्तक करने वाली शक्ति प्राकृतिक विधियाँ ही हैं। उन्हीं विधियों के द्वारा वह ईश्वर

के प्रति उत्तरदायी है। दूसरे, हॉब्स की संप्रभुता की परिभाषा की तरफ हम ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वह निरंकुश राजतंत्र (Absolute Monarchy) में ही अपनी कल्पना की संप्रभुता को केन्द्रित नहीं करता अपितु कहता है कि संप्रभुता किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय में परिवेष्ठित की जा सकती है। इससे कम से कम यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि वह शासनतंत्रात्मक (सरकार की) निरंकुशता का पक्षपाती है—राजतंत्रात्मक निरंकुशता का नहीं। वह प्रजा से शासन के विरुद्ध विद्रोह के सारे अधिकार छीन लेता है और शासन के आदेशों का विरोध करने को आज्ञा तभी देता है जब किसी का जीवन खतरे में हो। इसके अतिरिक्त हॉब्स की संप्रभुता की व्याख्या में पोपतंत्र या धर्म की श्रेष्ठता का कोई स्थान नहीं है। वह पादरियों की शक्ति को राजसत्ता की तुलना में हेय समझता है और उसका विचार है कि यदि संप्रभु शासक के बराबर ही कोई दूसरी धर्मशक्ति खड़ी कर दी जाय तो इस बात का खतरा है कि राज्य की शांति भंग हो जाय। इसलिये वह अपनी संप्रभुता के सामने किसी भी बाह्य सत्ता का अधिकार मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

६. धर्म और राज्य

हॉब्स के सभी ग्रंथों में धर्म के प्रति असहिष्णुता और विरोधी भावना प्रकट की गयी है। यह भावना **'लेवॉयथन'** में हमें पूर्ण रूप से विकसित मिलती है। हॉब्स राजनीतिक क्षेत्र में राजसत्ता का बड़ा जबर्दस्त समर्थक था और इस दिशा में उस पर मार्सीलिओ का बड़ा प्रभाव पड़ा। वह स्पष्टत: ऐसी ताकत का विरोधी था जो राज्य में ही रहकर राज्य की शक्ति को चुनौती दे। वह यह तो जरूर चाहता था कि राज्य में एक ही धर्म रहे लेकिन उसकी इच्छा थी कि धर्माधिकारी राजा के आदेशों के अन्तर्गत रहें। वे इस बात का प्रयत्न करें कि शासक उनकी मर्जी के अनुसार कार्य करें। परिभाषा-निर्माण में चतुर हॉब्स ने चर्च की परिभाषा यह कहकर कि वह ईसाई धर्म को मानने वाले ऐसे लोगों की संगति है जो एक संप्रभु के व्यक्तित्व के द्वारा परस्पर संगठित हों। किसी ऐसे चर्च या धर्म का कार्य सर्वथा अवैधानिक है जो बिना संप्रभु शासक की अनुमति के कार्य करता है।[1] धर्म को राष्ट्रीयता का बाना पहनाने में भी हॉब्स ने बड़ा कार्य किया। उसने कहा कि कोई चर्च सार्वभौमिक नहीं हो सकता और न कोई धर्म ही सब देशों में समान रूप से माना जा सकता है। वह किसी आध्यात्मिक शासनतंत्र का अस्तिव भी नहीं मानता था। उसका कहना था कि राजनीति के क्षेत्र में संप्रभु ही आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही पक्षों का ईश्वरीय प्रतिनिधि है। उसे आध्यात्मिक दलालों (पुरोहितों और पादरियों) की कोई आवश्यकता नहीं है। वह पुरोहितों को आध्यात्मिक कार्य करने की अनुमति देता है, उन्हें शासन करने का अधिकार नहीं देता। इसीलिये उसने अपने संप्रभु शासक को यह परामर्श भी दिया कि वह किसी पादरी को अपनी आज्ञा के विरुद्ध न चलने दे। यदि कोई धर्मा-
भी दिया कि वह किसी पादरी को अपनी आज्ञा के विरुद्ध न चलने दे। यदि कोई धर्मा-
धिकारी ऐसा करने का दुस्साहस करे तो ऐसे व्यक्ति को कड़ाई से कुचल दिया जाय। उसका कहना था कि धर्म का कार्य राजा या संप्रभु सत्ता को उसके काम में सहायता देना है—अड़ंगा डालना नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हॉब्स ने सत्रहवीं शताब्दी में राजसत्ता को धर्मसत्ता की दासता के पाश से सर्वथा मुक्त कर दिया। हॉब्स भौतिकवादी था और उसके लिये धर्म-सी अभौतिक आध्यात्मिक वस्तु सर्वथा काल्पनिक थी। वह उसे रोमन साम्राज्य के एक प्रेत से अधिक कुछ नहीं समझता था। वह पैगम्बरी कथाओं में कोई सत्य

1 "For it is the mysteries of our religion as with some wholesome pills for the sick which swallowed would, have the virtue to cure; but chewed, are for the most part cast up again without effect" Hobbes in *Leviathan* as edited by R. Rhyes in Ch. XXXII.

नहीं देखता। वह धर्म को एक ऐसी मीठी गोली समझता था जो यदि पानी के साथ ली जाय तो मरीज को अच्छा कर देती है, लेकिन यदि उसे चबा लिया जाय तो उसकी उपयोगिता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है।[1] वह चर्च को एक निगम (Corporation) समझता था और उसका कहना था कि अन्य निगमों तथा संप्रभु की भाँति संप्रभु शासक चर्च का भी अध्यक्ष है। उसका कहना था कि चर्च का कार्य उपदेश देना है, लेकिन वह यह कार्य तभी कर सकता है जब उसे संप्रभु सत्ता की अनुमति प्राप्त हो। यहाँ वह मार्सीलियो से कुछ आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार हॉब्स का शासनतंत्र और संप्रभु शासक धर्म पर हावी रहता है—धर्म उन पर नहीं।

७. विधियाँ (Laws)—हम ऊपर के अनुच्छेदों में प्राकृतिक विधियों की चर्चा कर आये हैं। हॉब्स ने प्राकृतिक विधियों (Natural Laws) पर विचार करने के बाद विधियों का प्रश्न उठाया। उसने कहा कि प्राकृतिक विधियों (Natural Laws) और सामान्य सकारात्मक विधियों (Ordinary Positive Laws) में अन्तर है। सामान्य राजकीय विधियाँ संप्रभु शासक की इच्छा से उत्पन्न होती हैं। विधियाँ तीन प्रकार की होती हैं:—(१) दैवी विधियाँ (Divine Laws), (२) नागरिक विधियाँ (Civil Laws) और (३) प्राकृतिक विधियाँ। प्राकृतिक विधियाँ विवेकजनित ऐसे निष्कर्ष होते हैं जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। सामान्य नागरिक विधियाँ या सकारात्मक विधियाँ संप्रभु की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती हैं और प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह संप्रभु की इच्छा का पालन करे और विधियों द्वारा आचरण के जो नियम निर्धारित हों उनका पालन करे। नागरिक विधियों की उत्पत्ति का स्रोत मानव-स्वभाव की आत्मरक्षा की प्रवृत्ति में रहता है। विधियों के अनुसार आचरण करना इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। हॉब्स साधारण सामाजिक प्रथाओं को भी नागरिक विधियों की भाँति ही उपयोगी और मान्य मानता था। उसका कहना था कि चाहे सामाजिक प्रथाओं को संप्रभु ने अपने मुँह से नहीं बनाया हो तब भी उनके विरुद्ध आचरण करने की आज्ञा संप्रभु नहीं देता। इस दशा में उसकी तटस्थता ही स्वीकृति का लक्षण है। इसीलिये सामाजिक प्रथाओं को वही स्थान प्राप्त होना चाहिए जो सामान्य नागरिक विधियों का होता है। ईश्वरीय विधियाँ (Divine Laws) वे हैं जिनकी रचना में मनुष्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई हाथ नहीं होता।

विधियों का राज्य में क्या स्थान है? इस संबंध में हॉब्स का मत व्यक्तिवादियों की तरह है। हॉब्स के संप्रभु का राज्य ऐसा है जिसमें नागरिक स्वतंत्रता में सामान्यतः कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता। प्रत्येक नागरिक स्वतंत्रता से जो कार्य चाहे कर सकता है—बशर्ते, वह शान्ति भंग न करे, अव्यवस्था न फैलाये और राजद्रोही न हो। वह लोक-कल्याण का भी उत्तरदायित्व अपने संप्रभु शासक के ऊपर नहीं छोड़ता। इस प्रकार हॉब्स के संप्रभु शासक (Sovereign) का राज्य पुलिस राज्य है। आजकल के कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की कल्पना से उसका मेल नहीं बैठता।

८. हॉब्स के राज्य में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और व्यक्ति के अधिकार

हॉब्स ने यद्यपि अपने राज्य की उत्पत्ति सामूहिक इच्छा द्वारा बतलायी है और यह

---

1 "For it is the mysteries of our religion as with some wholesome pills for the sick which swallowed would, have the virtue to cure; but chewed, are for the most part cast up again without" Hobbes in '*Leviathan*' as edited by R. Rhyes in Ch. XXXII.

भी कहा है कि संप्रभु शासक की आज्ञा मानना व्यक्ति का कर्तव्य है लेकिन उसने कहा है कि यदि कोई संप्रभु व्यक्ति के जीवन की रक्षा न कर सके तो नागरिक उसकी आज्ञा मानने के लिये बाध्य नहीं हैं। उसने कहा है कि यदि शासक व्यक्ति से आत्महत्या करने को कहे तो वह ऐसा करने से इनकार कर सकता है। यदि उसे प्राणों का भय हो तो वह सैनिक बनने से भी इनकार कर सकता है। जहाँ तक व्यक्ति-स्वातंत्र्य (Individual Liberty) का संबंध है—हॉब्स अपने राज्य में व्यक्ति को कोई ऐसी स्वतंत्रता नहीं देता जो संप्रभु की स्वतंत्रता में बाधा डालती हो। व्यक्ति को केवल इतना ही अधिकार है कि यदि संप्रभु उसके जीवन की रक्षा करने में असमर्थ हो या उसके प्राण हरना चाहे तो वह उसकी आज्ञा न मानकर अपने को बचाने का प्रयत्न कर सकता है। जहाँ संप्रभु अपनी प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ हो वहाँ उसके सारे अधिकार समाप्त हो जाते हैं।[1]

९. सर्वश्रेष्ठ शासनतंत्र (Best Government)

हॉब्स राजतंत्र (Monarchy) को सर्वश्रेष्ठ शासनतंत्र मानता है। उसने राजतंत्र की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने के पूर्व यह बतलाया कि शासनतंत्र किस-किस प्रकार के होते हैं। वह कहता है कि मोटे तौर पर शासनतंत्रों का वर्गीकरण इन वर्गों में किया जा सकता है—(१) राजतंत्र (Monarchy), (२) आभिजात्यतंत्र (Aristocracy) और (३) प्रजातंत्र (Democrracy)। यह वर्गीकरण इस आधार पर किया गया है कि संप्रभुता कितने व्यक्तियों के हाथ में रहती है। यदि संप्रभुता एक व्यक्ति तक ही सीमित है तो वह राजतंत्र कहलायेगा; यदि संप्रभुता राज्य के सम्पन्न और बौद्धिक प्रतिभायुक्त व्यक्तियों के एक वर्ग में सीमित है तो वह आभिजात्यतंत्र कहलायेगा और यदि संप्रभुता सम्पूर्ण नागरिकों में निहित है तो वह प्रजातंत्र कहलायेगा। वह लोककल्याण और सार्वजनिक हित की दृष्टि से आभिजात्यतंत्र और प्रजातंत्र को ठीक नहीं समझता। उसका कहना है कि इन दोनों ही शासनतंत्रों में राज्य के मुख्य लक्ष्य, शांति और व्यवस्था की रक्षा भली भाँति नहीं हो पाती। कारण, आभिजात्यतंत्र में एक वर्ग के व्यक्ति अधिक से अधिक सत्ता प्राप्त करने के लिये प्रतिद्वंद्वात्मक संघर्ष में व्यस्त रहते हैं, और प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों के लिये चिन्तित रहता है और उनकी पूर्ति के लिये दूसरों से लड़ता रहता है। इसके विपरीत राजतंत्र में संप्रभु सत्ता के लिये कोई संघर्ष होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि संप्रभुता के सारे अधिकार उसी के पास रहते हैं। राजा अपने स्वार्थों और प्रजा के हितों के बीच अपेक्षाकृत जल्दी सामंजस्य स्थापित कर सकता है। इसलिये हॉब्स का मत है कि "राजतंत्रात्मक शासन न केवल उचित ही है; वरन् सर्वश्रेष्ठ भी है। उसमें लाभ अधिक हैं और त्रुटियाँ (अपेक्षाकृत) न्यून।"[2] उसने इस संबंध में मार्सीलिओ के विचारों का भी अध्ययन किया था और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि निर्वाचित राजतंत्र की पद्धति ठीक नहीं है—आनुवंशिक राजतंत्र ही अधिक अच्छा है।

---

1 "The obligation of subjects to the sovereign is understood to last as long and no longer than the power lasteth by which he is able to protect them. Hoddes in *Leviathan*, Ch. XXVI.

2 Monarchy, is not the only legitimate form of government; but it is the best form; it has more advantages and fewer drawbacks than others". Henry Sidgewick in *The Development of European Polity* p. 352.

१०. हॉब्स के विचारों के गुण-दोष और अनुदाय

यदि हॉब्स के विचारों के गुण-दोषों का विवेचन किया जाय तो जिस तरफ हमारा ध्यान सबसे पहले जायगा—वह है उसकी प्राकृतिक अवस्था तथा मनुष्य के स्वभाव का चित्रण। हॉब्स का कहना था कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी है। वह अपने लाभ के अतिरिक्त अन्य किसी बात को नहीं देखता। वह अपनी कीर्ति चाहता है। लेकिन हॉब्स यह भूल जाता है कि मनुष्य में परोपकार और परसेवा की वृत्ति भी होती है; मनुष्य में दोष ही नहीं कुछ गुण भी होते हैं। मनुष्य को स्वभावतः बुरा मानकर आगे चलने का परिणाम यह होता है कि हॉब्स मनुष्य की राज्य के बनने के पूर्व की दशा या प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) का जो चित्रण करता है, वह पढ़ने पर बड़ा भयावह मालूम होता है। उसके शब्दों में पूर्ण अराजकता की अवस्था ही इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में कितना दुखी था। उसके इस कथन में सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव भी झलकता है। इंगलैण्ड में उन दिनों की गृहयुद्धजनित अराजकता को हॉब्स मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का प्रतीक मान बैठा था। अपनी धारणा की पुष्टि के लिय उसने इतिहास से कोई प्रमाण ढूँढ़ने का यत्न नहीं किया। इस प्रकार तर्क और विवेक की कसौटी पर उसका मानव-स्वभाव संबंधी मत खरा नहीं उतरता और प्राकृतिक अवस्था संबंधी उसकी कल्पना भी अवास्तविक प्रतीत होती है। उसके व्यवस्थित तर्कों में कई बातें ऐसी मिलती हैं जो उसकी ही बातों का खण्डन करती हैं। एक ओर तो वह कहता है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के अत्यधिक स्वार्थी होने के कारण कोई अनुबंध संभव नहीं है; दूसरी ओर वह प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य में ही, बिना कोई परिवर्तन आये, दो अनुबंधों के अस्तित्व को मान लेता है। एक अनुबंध जिसके अनुसार मनुष्य सभ्य समाज की स्थापना करता है और दूसरा अनुबंध वह जिसके आधार पर मानव-समाज संप्रभु शासक की सृष्टि करता है। यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि जब मनुष्य के स्वभाव में कोई परिवर्तन ही नहीं होता और प्राकृतिक अवस्था में कोई अनुबंध संभव नहीं है तब ये दो अनुबंध कैसे हो जाते हैं? हॉब्स की किसी पुस्तक में हमें इसका समाधान नहीं मिलता। यही नहीं, हॉब्स एक तरफ तो कहता है कि उसका संप्रभु शासक या नश्वरदेव (Mortal God) जनता का प्रतिनिधि है और दूसरी ओर कहता है कि वह जनता के प्रति तनिक भी उत्तरदायी नहीं है। समझ में नहीं आता कि ऐसा कौन-सा प्रजा का प्रतिनिधि हो सकता है जो उन व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी न हो जिनके द्वारा उसकी सृष्टि हुई है या जिनके प्रतिनिधित्व का वह दम भरता है। हॉब्स कहता है एसे संप्रभु शासक के हाथ म प्राकृतिक अवस्था के अंक में पलने वाला स्वार्थी मनुष्य अपने सारे प्राकृतिक अधिकार सौंप देता है। यदि यह ठीक है तो हमें मनुष्य के विवेक पर ही संदेह हो उठता है और लॉक के ये शब्द याद आते हैं—"क्या प्राकृतिक अवस्था में रहनेवाले लोग इतने मूर्ख थे कि वे लोमड़ियों तथा जंगली बिल्लियों की शरारतों से बचने की तो फिक्र करते थे, लेकिन उस अवस्था में संतुष्ट थे और अपने आपको सुरक्षित अनुभव करते थे जब शेर उन्हें निगले जा रहा हो।"

हॉब्स के सारे राजदर्शन का आधार व्यक्ति है। वह आदि से अन्त तक व्यक्ति को व्यक्ति ही रखता है। वह अरस्तू की भाँति व्यक्ति के क्रमिक वकास पर कोई ध्यान नहीं देता। वह बोदाँ की तरह व्यक्ति के पारिवारिक पक्ष की ओर नहीं जाता। इसका अर्थ हुआ कि वह इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देता कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। नतीजा यह होता है कि वह उसके स्वभाव की संतुलित व्याख्या करने में असफल रहता है। मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्था से सभ्य समाज की दुनिया में पैर रखा—इसके बाद राज्य बनाया—यह सारा कार्य उसके क्रमिक बौद्धिक विकास का परिचायक है। एक दिन

की आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है। प्राकृतिक अवस्था से राज्य निर्माण तक और उसके भी आगे मनुष्य ने जो प्रगति की—वह सब की सब उसकी आवश्यकताओं का परिणाम थी।

हॉब्स का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था में आजकल जैसी कोई विधियाँ नहीं थीं। यह कहना भी बिलकुल सच नहीं है; क्योंकि उस काल में आजकल की भाँति विधियों की रचना के लिये चाहे संसदें और विधानसभाएँ न रही हों लेकिन आदिकाल का मनुष्य भी कुछ न कुछ नैतिक सिद्धान्तों को अवश्य मानता था। हॉब्स का विधियों संबंधी मत अत्यन्त संकीर्ण है। कारण, हॉब्स अपने संप्रभु शासक को ही ऐसा अंतिम व्यक्ति मानता था जो विधि का स्रोत एवं उसका व्याख्याता हो। क्लेरेण्डन का तो कहना था कि उसे इंगलैण्ड की विधियों और प्रथाओं का भी कोई ज्ञान नहीं था।

संप्रभुता के विषय में हॉब्स का कहना है कि प्रत्येक काल में निरंकुश सत्ता बराबर किसी न किसी व्यक्ति या वर्ग के हाथ में रही है; क्योंकि यदि यह निरंकुश सत्ता न रहे तो अराजकता फैल जायगी और मनुष्य फिर वैसा ही हो जायगा जैसा वह प्राकृतिक अवस्था में था; प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के विरुद्ध संघर्ष करने लग जायगा; युद्ध और हत्याओं का बाजार गरम हो जायगा। लेकिन यह बात भी इतिहास द्वारा सिद्ध नहीं होती क्योंकि यदि हम मध्य युग के इतिहास के पृष्ठों को उलटें तो कुछ ही क्षणों में यह स्पष्ट हो जायगा कि मध्य युग में ऐसे सैकड़ों बरस गुजरे जब निरंकुश सत्ता किसी के हाथ में नहीं रही और वह धर्म और राजसत्ता के बीच बँट गयी। ऐसी अवस्था में भी न तो राज्य ही नष्ट हुआ और न समाज ही और न हम यही देखते हैं कि मनुष्य फिर प्राकृतिक अवस्था में पहुँच गया हो। हॉब्स की शासनतंत्र की कल्पना में मिश्रित तंत्र की कोई गुंजाइश ही नहीं है। उसका कहना है कि यदि एसा होगा तो संप्रभुता एक स्थान में रह ही नहीं सकती और यदि वह एक स्थान में नहीं रह सकती तो फिर अराजकता अवश्यभावी है। इतिहास द्वारा फिर एक बार उसका यह मत खण्डित हो जाता है। वह यह भूल जाता है कि मनुष्य पर सदा हिंसा का ही भूत सवार नहीं रहा। उसका अपना भी विवेक है। मनुष्य के धार्मिक विश्वास होते हैं। सामाजिक मतों का भी उस पर असर पड़ता है। हॉब्स राज्य को आवश्यक बुराई के रूप में देखता है, वह उसे मनुष्य के कल्याण का साधन नहीं मानता।

हॉब्स ने अपने मतों के कारण समकालीन समाज के प्रत्येक वर्ग को अपना आलोचक बना लिया था। राजतंत्र के समर्थकों ने उसका समर्थन इसलिए नहीं किया कि वह प्रजा को संप्रभु शासक की आज्ञाकारिता से उस समय मुक्त कर देता है, जब वह नागरिकों की जीवनरक्षा करने के अयोग्य हो जाता है। राजतंत्र समर्थक विचारकों का कहना था कि किसी देश के राजा को विदेशी आक्रमण के कारण यदि अपना पद खो देना पड़े तो हॉब्स के अनुसार प्रजा को ऐसे राजा के प्रति भक्ति प्रकट करने की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि वह राजा अपने प्रजा के जीवन की रक्षा करने के अयोग्य हो गया है। स्पष्ट था कि कोई भी राष्ट्रीय भावनाओं का व्यक्ति हॉब्स की यह बात नहीं मान सकता था। पादरी और चर्च के लोग हॉब्स के भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा धर्मसत्ता के राजनीतिक क्षेत्र में विरोध के कारण बिगड़ गये थे। प्रजातंत्रवादी कहते थे कि हॉब्स राजतंत्रात्मक शासन का हिमायती है। उन्होंने उसके बहुत से विचारों को अनैतिक बतलाया। मनोवैज्ञानिकों ने उसके मानव स्वभाव संबंधी चित्रण को इसलिये त्रुटिपूर्ण कहा कि उसने मानवीय स्वभाव के दुर्गुणों पर ही सबसे अधिक बल दिया था। व्यक्तिवादी उसके इसलिये विरुद्ध थे कि उसके राज्य में व्यक्ति-स्वातंत्र्य था ही नहीं। वह अपने राज्य में किसी को संप्रभु शासक की आलोचना करने का अधिकार ही नहीं देता था।

हॉब्स की आलोचना का यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा। सबसे पहले लॉक, इसके बाद रूसो तथा अन्य समकालीन विद्वानों ने उनकी कड़ी आलोचना की। लेकिन बाद में बेंथम ने सबसे पहले उसके अनुदायों की तरफ बौद्धिक एवं दार्शनिक वर्ग का ध्यान आकृष्ट किया। बेंथम ने हॉब्स का अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि हाब्स ने मनुष्य के उस स्वभाव का चित्रण किया है जिसमें वह अपना ही लाभ देखता है। इस प्रकार यह कहा गया कि हॉब्स के मनुष्य का स्वभाव उपयोगितावादी है। ऑस्टिन ने उसकी संप्रभुता (या संप्रभु शासक के अधिकारों की कल्पना) से प्रभावित होकर संप्रभुता की न्यायशास्त्रीय ढंग से परिभाषा की। स्पिनोजा ने हॉब्स के अन्य विद्वानों का प्रतिपादन किया।

हॉब्स के राजनीतिक अनुदायों में सबसे बड़ा अनुदाय तो यह है कि उसने राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त का अभिनवीकरण किया। हॉब्स के पूर्व, अनुबंध द्वारा राज्य की उत्पत्ति की कल्पना की गयी थी लेकिन फिर भी राज्य की उत्पत्ति को ईश्वरीय माना जाता था। हॉब्स ने अपने पूर्ववर्तियों का (ह्यूगनॉट्स विचारकों का विशेष रूप से) खण्डन किया और कहा कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वरीय इच्छा का परिणाम नहीं बल्कि मानवीय इच्छा का परिणाम है। इसका नतीजा यह हुआ कि मानव-मस्तिष्क का ध्यान आगे बढ़ा और उसने राज्य के कर्तव्यों और उद्देश्यों को निर्धारित करने की भी चेष्टा की। कल्याणकारी राज्य की वर्तमान कल्पना इसी मनोवृत्ति का वृहद् रूप है।

हॉब्स का राजदर्शन आधुनिक युग की तरफ समस्त मानव-जाति को ले जानेवाला एक मोड़ इन अर्थों में है कि उसने मध्यकालीन मूढ़ विश्वासों का अन्त कर मानवीय विवेक पर सर्वाधिक बल दिया और बतलाया कि प्राकृतिक विधियों, दैवी विधियों और धर्मसत्ता को प्रधानता आदि का राजनीतिक क्षेत्र में कोई अलग अस्तित्व नहीं है। इन सबको राज्य का अंग और सहयोगी एवं सक्रिय अंग बन कर ही आगे चलना चाहिए। उसने व्यक्ति के हितों को सर्वोच्च महत्व दिया। वह यह मानता था कि जीवन रक्षा के अधिकार से ही सभ्य समाज बनता है एवं राज्य की रचना होती है। इसी विश्वास ने आगे चलकर आधुनिक प्रजातांत्रिकता को जन्म दिया। हॉब्स के राज्योत्पत्ति के ये सिद्धान्त—कि भय तथा अपने कल्याण की भावना के कारण ही मनुष्य राज्य का अस्तित्व चाहता है—आधुनिक राज्यों को आधारशिला बने हुए हैं। हॉब्स संप्रभु शासक को स्वेच्छा से शासन करने का जो अधिकार देता है उसका एकमात्र कारण यही है कि वह एक ऐसी सत्ता को सब भाँति स्वतंत्र रखना चाहता था जो सामयिक आवश्यकताओं के अनुकूल कार्य कर सके। सच तो यह है कि संप्रभुता व्यक्तिवादी विचारधारा, भौतिकवादी दर्शन, उपयोगितावाद आदि के आजकल के रूपों का वह जन्मदाता था।

११. जॉन लॉक (John Locke)

११.१ **जीवन परिचय**—जॉन लॉक का जन्म सन् १६३२ में और मृत्यु सन् १७०४ में हुई था। इस काल का इतिहास देखने से पता चलता है कि लॉक को राजनीतिक क्षेत्र में किन परिस्थितियों को पृष्ठभूमि में कार्य करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त नीचे लिखे उसके जीवन परिचय से भी यह पता चल जायगा कि वह किन लोगों के साथ रहा और किन-किन विचारधाराओं का उस पर असर पड़ा। उसका जन्म इंगलैण्ड के एक मध्यवर्ग के परिवार में हुआ था। उसके पिता सेना में अफसर थे। उन्होंने लॉक को उच्चतम शिक्षा दिलायी और उसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। वह इतना प्रतिभासम्पन्न था कि उसे विश्वविद्यालय में ही अध्यापन कार्य मिल गया और इस अध्यापन काल में उसका सम्पर्क अनेक विद्वानों से हुआ। इसी बीच लार्ड शेफ्ट्सबरी

(Lord Shaftsbury) को एक सहायक की आवश्यकता पड़ी और उनका ध्यान इस असाधारण प्रतिभावाले युवक की तरफ गया। उन्होंने उसे अपना सचिव बनाकर रख लिया। इसके बाद वह ह्विग दल का कार्यकर्त्ता बन गया। अपनी स्वाध्याय और अति परिश्रमी प्रकृति के कारण उसे क्षय रोग हो गया। इसकी चिकित्सा के लिये उसे फ्रांस जाना पड़ा। फ्रांस में ही अपने विश्रामकाल में उसने राजदर्शन का व्यापक अध्ययन किया। नतीजा यह हुआ कि वह समकालीन राजनीतिक घटना-चक्र का अत्यन्त संतुलित विवेचन कर सका। सन् १६८३ में लॉक को फ्रांस से हॉलैण्ड कुछ राजनीतिक कारणों की वजह से चला जाना पड़ा। यहाँ वह सन् १६८८ तक रहा। तभी इंगलैण्ड में सन् १६८८ की स्वर्ण-क्रान्ति हुई। लॉक ने इस क्रान्ति का समर्थन किया। इसी वजह से वह उस गौरवमय क्रान्ति का दार्शनिक और विचारक माना जाता है। उसकी मृत्यु ७२ वर्ष की अवस्था में हुई।

११.२ **सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव**—हॉब्स पर सामयिक परिस्थितियों एवं पूर्ववर्ती विचारकों का असर पड़ा जैसा कि स्वाभाविक था अध्ययन की आरंभिक अवस्था में उस पर डॉ० बसबो और डॉ० जॉन ओवेन की प्योरिटन विचारधारा का असर पड़ा था। लॉर्ड शेफ्ट्सबरी के सम्पर्क के कारण वह ह्विग दल तथा उदारतावादियों से भी प्रभावित हुआ। हुकर का उसकी कृतियों पर काफी असर है। इतने पर भी यदि हॉब्स और फिलमर ने निरंकुश राजतंत्र का खुला समर्थन न किया होता तो शायद लॉक को इतना लिखने की जरूरत न पड़ती।[1]

११.३ **लॉक की समस्याएँ**—हॉब्स और लॉक की समस्याओं में कुछ मौलिक अन्तर है और वह यह कि जहाँ हॉब्स की समस्या यह थी कि शान्ति और व्यवस्था युक्त राज्य की स्थापना कैसे की जाय—वहाँ लॉक की समस्या थी कि एक ऐसे राजतंत्र को जिसकी स्थापना सन् १६८८ की क्रान्ति के बाद हो गयी थी, किस प्रकार उचित और न्यायसंगत बतलाया जाय। हॉब्स को तर्क द्वारा लोगों को ऐसे कार्य करने के लिये प्रेरित करना था जिनसे राजा की सत्ता बनी रहे; लॉक को जनता द्वारा की गई क्रांति का औचित्य सिद्ध करना था जो परिस्थितियों वश हो चुकी थी और जिसका प्रयोग सफल हुआ था। यही बात लॉक ने भी प्रकारान्तर से स्वीकार की है।[2]

११.४ **रचनाएँ और अध्ययन-पद्धति**—लॉक की रचनाओं में निम्नलिखित निबंधात्मक ग्रंथों के नाम उल्लेखनीय हैं :—(१) ऐसे कनसर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टेंडिंग (२) टू ट्रीटाइजज ऑफ गवर्नमेण्ट और (३) लेटर्स ऑन टॉलरेशन। प्रथम दो कृतियाँ सन् १६९० में तथा अंतिम कृति एक-एक पत्र के रूप में सन् १६९५ तक प्रकाशित हो चुकी थीं। लॉक की अध्ययन-पद्धति समकालीन मनोविज्ञान-युक्त है। वह अनुभूतिमूलक (Empirical) है। लॉक यह मानकर चलता है कि समस्त ज्ञान अनुभूति द्वारा सूचित किया जाता है। मनुष्य का मस्तिष्क एक सख्त तख्ती की तरह है जिस पर अनुभव की उँगलियाँ बराबर लिखती रहती हैं। इस प्रकार लॉक की अध्ययन-पद्धति व्याप्तिमूलक (Inductive) है।

---

1 "Locke could not have written, had not Hobbes and Filmer defended in set terms the ideal of despotic govenment.'' Harold J. Laski in his *Political Thought of England from Locke to Bentham*, p.15

2 To establish the throne of our great restorer, our present king William and make good his title in the consent of the people, Ibid, p. 26

११.५ राज्य की उत्पत्ति--राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त स्थिर करते हुए हॉब्स की भाँति लॉक भी इस प्रश्न को दो भागों में विभक्त कर देता है—(क) एक भाग वह जब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहता था और (ख) दूसरा वह जब वह राज्य का निर्माण कर लेता है। लेकिन वह हॉब्स का यहीं तक अनुसरण करता है। इसके आगे वह हॉब्स की किसी बात को नहीं मानता। हम सबसे पहले लॉक द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था तथा मनुष्य के स्वभाव पर विचार करेंगे।

११.६ मनुष्य का स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था--लॉक का कहना था कि मनुष्य स्वभाव से हिंसक नहीं है। वह शांतिप्रेमी है। यही कारण है कि वह प्राकृतिक अवस्था में शांतिपूर्वक रहता है तथा एक दूसरे की सहायता करता है। इस अवस्था में 'प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के विरुद्ध युद्धरत' नहीं रहता, वरन् प्रेम और शांति का जीवन व्यतीत करता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि प्राकृतिक अवस्था में कभी लड़ाई-झगड़े नहीं होते। लड़ाई-झगड़े होते हैं लेकिन मनुष्य अपने विवेक द्वारा उन्हें न्यूनतम बनाये रखते हैं। इस प्रकार, लास्की के शब्दों में, लॉक की प्राकृतिक अवस्था राज्यहीन अवश्य थी, परन्तु समाजहीन नहीं। इस अवस्था में मनुष्य संघर्षों को कम करने के लिए जिस विवेक का प्रयोग करता था वह प्राकृतिक विधियाँ कहलाती थीं। इन्हीं प्राकृतिक विधियों के आधार पर आगे चलकर नागरिक विधियाँ बनीं। लॉक यह नहीं मानता कि प्राकृतिक विधियाँ नागरिक विधियों का प्रतिकूल रूप हैं वरन् वह कहता था कि प्राकृतिक विधियाँ नागरिक विधियों का पूर्व रूप हैं। लॉक का यह भी कहना था कि प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य समान थे। यह समानता किस चीज की थी ? इस प्रश्न के उत्तर में लॉक कहता है—यह समानता जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति की थी। वह कहता था कि प्रत्येक व्यक्ति को जीने का समान रूप से हक है, बोलने और आने-जाने की स्वतंत्रता है और स्वोपार्जित सम्पत्ति रखने का अधिकार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लॉक ने मनुष्य की जिस प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया है उसमें मनुष्य सामाजिक अवस्था में शांतिपूर्वक रहता है।

लॉक आगे चलकर इस बात का भी विश्लेषण करता है कि ये अधिकार क्या हैं। जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति के अधिकार मौलिक हैं। लॉक का कहना है कि इन अधिकारों का परित्याग मनुष्य किसी भी अनुबंध के लिये नहीं कर सकता और न उसने कभी ऐसा किया ही है। ऐसी मूर्खता कोई व्यक्ति नहीं कर सकता कि वह अपने जीवन को किसी एक व्यक्ति के भरोसे छोड़ दे। स्वातंत्र्य अधिकार (Right of Liberty) से लॉक का आशय था ऐसे समस्त प्रतिबधों का अभाव जो व्यक्ति के पूर्ण विकास में बाधक होते हैं। लेकिन वह प्राकृतिक वि.धयों के प्रतिबंधों को मानता था। प्रतिबंधों से लॉक का आशय उन विधियों से था जो राज्य द्वारा बनाई जाती हैं और जिनका आधार प्राकृतिक विधियाँ न होकर अन्य बातें होती हैं। मनुष्य के सम्पत्ति के अधिकार की भी लॉक ने व्याख्या की और बतलाया कि कोई वस्तु उस समय किसी मनुष्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाती है जब उसमें उसका श्रम लग जाता है। उदाहरण के लिये किसी मैदान में मिट्टी पड़ी हुई है और

1 "Man being born as has been proved with a title perfect freedom and an uncontrolled enjoyment of all the rights and privilegs of the law of nature, equally with any other man, or number of men in the world hath by nature a power not only to preserve his property that is his life, liberty and estate against the injuries and attempts of other men but to judge of and punish the breaches of that law in others." John Locke in *The Two Treatises on Government* edited by Morley p. 234. Also see the chapter on State of Nature from page 5 to 15 and essay on Social Contract of Locke, Hume and Rousseau.

यदि कोई व्यक्ति एक टोकरी मिट्टी खोद कर उसे अपने घर ले आता है तो श्रम के कारण वह मिट्टी उस व्यक्ति की सम्पत्ति हो जाती है। इन तीनों अधिकारों के संबंध में हॉब्स का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था में भी मनुष्य उन्हें मानते थे और राज्य की स्थापना के बाद भी उन्होंने उनको नहीं छोड़ा है। प्राकृतिकअवस्था में मनुष्य को प्राकृतिक विधियों द्वारा यह शिक्षा मिली थी कि सभी व्यक्तियों के स्वतंत्र और समान होने के कारण किसी भी व्यक्ति को दूसरे के जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति के अधिकारों का अपहरण नहीं करना चाहिए।

लेकिन प्राकृतिक अवस्था में भी कुछ कठिनाइयाँ थीं। सबसे **पहली** कठिनाई यह थी कि व्यक्ति प्राकृतिक विधियों को स्पष्टत:, निष्पक्षतः और विवेकपूर्वक कार्यान्वित नहीं कर पाते थे। इसका कारण यह था कि सभी की बौद्धिक क्षमताएँ समान नहीं थीं। परिणाम यह होता था कि प्राकृतिक विधियों को ही लोग भिन्न-भिन्न ढंगों से व्याख्या करते थे और उन व्याख्याओं के अनुसार उनका प्रयोग करते थे। अत: सब ने यह अनुभव किया कि विधियों को निश्चित शब्दों में लिखित रूप से होना चाहिए, जिससे उनके आधार पर यह निर्णय किया जा सके कि कौन अपराधी है और कौन नहीं। दूसरे शब्दों में, उन्होंने एक विधानमंडल (Legislature) की आवश्यकता अनुभव की। **दूसरी** कठिनाई यह थी कि विधियों की व्याख्या करने वाला ऐसा कोई निष्पक्ष व्यक्ति नहीं था जिसके निर्णय पर भरोसा किया जा सके। बहुधा ऐसा हो जाता था कि लोग अपने हितू-संबंधियों के पक्ष में फैसला कर देते थे। यहीं नहीं, प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक विधियों की अपनी-अपनी व्याख्या करने के लिये स्वतंत्र था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि बहुत उलझनें पैदा हो जातीं। **तीसरी** दिक्कत यह थी कि यदि सर्वसम्मति से कोई अपराधी घोषित भी कर दिया जाता तो यह समस्या उत्पन्न होती थी कि उसे दण्डित किस प्रकार किया जाय। जो अन्याय का शिकार होता था वही अपराधी को दण्ड देता था। लेकिन यदि आक्रान्त व्यक्ति निर्बल था तो वह अन्यायी को दण्ड देने के लिये समर्थकों से आशा करता था कि वे उसके साथ सहयोग करेंगे। लेकिन यदि उनका सहयोग न मिलता तो अपराधी बिना दण्ड पाये ही रह जाता था। इसलिये न्यायपालिका (Judiciary) के साथ ही कार्यपालिका (Executive) की आवश्यकता भी अनुभव की गयी।

११.७ राज्य की स्थापना—उपरोक्त कठिनाइयों की वजह से ही इस बात की आवश्यकता अनुभव की गयी कि राज्य की स्थापना की जाय। तदनुसार न्यायपालिका और कार्यपालिकायुक्त एक शासन की स्थापना की गयी। इस शासन को केवल वे ही शक्तियाँ दी गयीं जिनसे मनुष्य समाज की उक्त कठिनाइयों तथा असुविधाओं का निवारण हो सके। शेष प्राकृतिक अधिकार मौलिक अधिकारों के रूप में व्यक्तियों के पास ही रहे। इस प्रकार लॉक के अनुबंध की यह विशेषताएँ थीं;—(१) **पहला** यह कि अनुबंध राजनीतिक था; (२) **दो**, यह कि अनुबंध एक ही था, दो नहीं; (३) **तीन**, अनुबंध का जन्म इसलिये हुआ कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज की रक्षा के लिये राजनीतिक संवास एक हद के बाद आवश्यक हो जाते हैं। लॉक इस अनुबंध को विवेक की विजय बतलाता है; (४) **चार**, अनुबंध करने के उपरांत भी व्यक्ति जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति के अधिकार नहीं खोता। इस प्रकार हॉब्स और लॉक के अनुबंध में अंतर है। हॉब्स का अनुबंध व्यक्ति से सब कुछ ले लेता है जब कि लॉक का अनुबंध व्यक्ति के पास भी बहुत कुछ बना रहने देता है; (५) **पाँच**, अनुबंध द्वारा राज्य केवल प्राकृतिक विधियों के अन्तर्गत ही व्यक्ति की रक्षा करता है। अनुबंध द्वारा व्यक्ति किसी संप्रभु शासक या किसी संप्रभु वर्ग को उक्त अधिकार नहीं देता बल्कि वह जो कुछ भी अपने अधिकार समर्पित करता है वह समाज को समूह रूप में करता है। प्रत्येक व्यक्ति समाजके साथ उक्त अनुबंध करता

है। लेकिन व्यक्ति जो अधिकार छोड़ता है उसमें भी उसकी यह शर्त लगी रहती है कि समाज किसी भी व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का अपहरण नहीं करेगा। इस प्रकार समाज के साथ जो अनुबंध होता है उससे कोई संप्रभु सत्ता नहीं बनती और वास्तविकता तो यह है कि संप्रभुता या संप्रभु सत्ता आदि जैसे किसी शब्द का लॉक प्रयोग ही नहीं करता। इस प्रकार कुल मिला कर लॉक एक सीमित राज्य और राजसत्ता का चित्र लेकर हमारे सामने उपस्थित होता है। वह शासनतंत्र (Government) को एक प्रन्यास (Trust) मानता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि प्रन्यास (Trust) का उल्लंघन करता है तो उसे हटाया जा सकता है उसी प्रकार कोई शासक यदि व्यक्ति के मौलिक अधिकारों अर्थात् प्राकृतिक अधिकारों का अपहरण करता है या उनकी रक्षा नहीं करता या अपने उन कर्तव्यों का पालन नहीं करता जो उसे सौंपे गये हैं तो उसे हटाया जा सकता है। लॉक के अनुबंध की ही एक उपसिद्धि (Corollary) यह भी है कि शासनतंत्र की स्थापना बहुमत से होती है; अतः उसे बहुमत से ही समाप्त भी किया जा सकता है। वह कहता है कि शासन को उधर ही चलना चाहिए जिधर बहुमत चलना चाहे।[1] यदि लॉक के सामाजिक अनुबंध द्वारा निर्मित शासनतंत्र का हम भली भाँति विश्लेषण करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। वह जनता की संप्रभुता अर्थात् लोक-संप्रभुता की कल्पना करता है। वह जनता की उस लोक-संप्रभुता को व्यक्ति के मौलिक अधिकारों द्वारा सीमित भी कर देता है। लॉक व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रबल समर्थक था। वह राज्य को उसी हद तक अधिकार देना चाहता था जिस हद तक व्यक्ति के मौलिक अधिकारों पर कोई प्रहार नहीं होता। वह ऐसे शासनतंत्र का हिमायती था जिसको जनता की सहमति और स्वीकृति प्राप्त हो। यह स्वीकृति मौन भी हो सकती है और वाणी द्वारा भी दी जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति किसी राज्य के शासनान्तर्गत रहता है और उसका संरक्षण स्वीकार करता है तो यह मान लेना होगा कि उसने शासन को अपनी मौन स्वीकृति दे दी। शासनतंत्र की जिस सत्ता या राज्य की जिस संप्रभुता की कल्पना लॉक ने की—वह अनिवार्यतः लोकसत्ता है। किसी अविभक्त, वैधानिक या निरंकुश संप्रभुसत्ता की कल्पना ही नहीं करता। उसके राज्य में शासनतंत्र के सीमित अधिकार और सीमित उत्तरदायित्व हैं। लॉक शासन को ऐसा कोई कार्य करने की इजाजत नहीं देता जो सार्वजनिक कल्याण के हेतु न हो। लॉक का कहना था कि जो शासनतंत्र नागरिक के हितों के विरुद्ध कार्य करता है वह शासनतंत्र जीवित नहीं रहना चाहिए। ऐसा कहकर लॉक ने कहा कि निरंकुश राजतंत्र को बिना प्रजा की अनुमति लिये कर लगाने का अधिकार नहीं। वह शासन की इच्छा को ही सब कुछ नहीं मानता था। उसका कहना था कि शासन विधि के अनुसार होना चाहिए और विधियाँ समस्त या शायद यह कहना अधिक उचित और शुद्ध होगा कि, बहुमत की सहमति से बननी चाहिए। यदि कोई शासनतंत्र अपनी सीमाओं की मर्यादा की परवाह नहीं करता तो उस शासन के कर्णधारों को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि प्रजा उनकी आज्ञाओं का पालन करेगी। वह शासनतंत्र को उपयोगिता की कसौटी पर जाँचता था। यदि कोई शासनतंत्र जनता के लिये उपयोगी नहीं तो वह जीवित रहने का भी अधिकारी नहीं। यहाँ हॉब्स के मूल सिद्धान्त उपयोगितावाद से लॉक भी मतैक्य प्रकट करता है।

---

1 "That which acts any community, being only the consent of the individuals of it, and it being necessary to that which is one body to move one way; it is necessary the body should move that way whither the greater force carries it; which is the consent of majority". John Locke in his essay on Civil Government in Bk. II Sec. 96

११.८ शासन के कर्त्तव्य—लॉक ने शासन का सबसे पहला कर्तव्य यह बतलाया कि उसे ऐसी विधियाँ बनानी चाहिए जो प्राकृतिक विधियों पर आधारित हों; क्योंकि प्राकृतिक विधियों की उपयोगिता के संबंध में कोई मतभेद नहीं; और उन विधियों द्वारा प्रत्येक नागरिक के कर्तव्य तथा अधिकारों को निर्धारित किया जा सकता है। शासन का दूसरा कार्य राज्य के विभिन्न समुदायों, वर्गों तथा व्यक्तियों के हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करना है। शासन का तीसरा कार्य युद्ध, शान्ति, संधियों आदि अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों एवं कर्तव्यों की पूर्ति करना है। वह शासन की परिवर्तनशीलता में भी विश्वास करता था। लॉक का कहना था कि शासन अलग-अलग भागों में विभक्त होना चाहिए। कार्यपालिका (Executive) को न्यायपालिका के निर्णयों तथा विधान-मण्डल अथवा संसद द्वारा निर्मित विधियों के अनुसार कार्य करना चाहिए। इसी प्रकार विधानमण्डल को विधेयन (Legislation) और न्यायपालिका को विधानमण्डल की विधियों के अनुकूल फसले करने चाहिए। इस प्रकार हमें शासन के शक्ति विभाजन सिद्धान्त के बीज लॉक में मिलते हैं। फिर भी लॉक की कार्यपालिका सबल है; क्योंकि वह उसे अस्थायी विधियों या अध्यादेशों के बनाने का अधिकार भी देता है। उसका कहना था कि शक्ति-विभाजन बड़ा ही आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं किया जाता और दोनों को एक ही में रखा जाता है तो "विधानमण्डल के सदस्य जो विधियाँ बनायें उनसे अपने आपको मुक्त रख सकते हैं और एसी विधियाँ बना सकते हैं जिनसे उन्हीं का स्वार्थ सिद्ध हो।"[1] इसी प्रकार का कार्य अन्य विभाग भी कर सकते हैं। अतएव, प्रत्येक विभाग के कर्त्तव्य निर्दिष्ट और उनके अधिकारी अलग-अलग होने चाहिए। इस प्रकार लॉक के राज्य में संप्रभुता रहती तो समाज म है लेकिन उसका प्रयोग बहुमत की आज्ञा के अनुसार होता है। राज्य सदैव सार्वजनिक कल्याण की भावना से ही कार्य करता है। उसकी विधियों की विशेषता यह है कि वे प्राकृतिक विधियों के अनुकूल होती हैं। प्रत्येक विभाग का कार्य निश्चित होता है और उस कार्य को कोई दूसरा विभाग नहीं कर सकता।

§१२. राज्य और धर्म

राज्य और धर्म संबंधी लॉक का मत हमें उसके 'लेटर्स ऑन टॉलरेशन' (Letters on Toleration) से प्राप्त होता है। लॉक धार्मिक सहिष्णुता का पक्षपाती था। लेकिन उसके पूर्व ही सोलहवीं शताब्दी में इस प्रकार का आन्दोलन शुरू हो गया था। धार्मिक सहिष्णुता का सबसे बड़ा पक्षपाती **राबर्ट ब्राउन** था। उसके बाद **विलियम दि सायलेट** ने भी धार्मिक विश्वासों के कारण किये जानेवाले दमन के विरुद्ध आवाज उठायी। **बुशर, रिचर्डसन, रोजर विलियम, मिल्टन** आदि ने धर्म के आधार पर किये जानेवाले दमन के औचित्य को नहीं माना। हालैण्ड, अमेरिका तथा इंगलैण्ड में भी समकालीन समाज इसी प्रकार के विचारों का पक्षपाती था। इस प्रश्न पर लॉक ने दार्शनिक ढंग से विचार किया।

---

1 Executive and Legislative must be separated for otherwise the legislator "may exempt themselves from obedience to the laws they make and suit the law, both in its making and its execution, to their own private wish and therby come to have a distinct interest from the rest of the community, contrary to the end of society and government." Harold J. Laski in *Political Thought in England form Locke to Bentham*, p. 40.

उसका कहना था कि धर्मतंत्र के किसी भी अंग को राजनीतिक वैधता प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार राज्य में जिन अधिकारियों का कार्य शासन संबंधी उत्तरदायित्वों का पालन करना है उनको भी विधि के अनुसार काम करना चाहिए। विधि को आत्मा या भावना जगत की किसी वृत्ति की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। यदि धर्म की आड़ में लोग राज-विरोधी कार्य करते हों तो लॉक बल प्रयोग की भी सलाह देता है, लेकिन वह यह स्पष्ट कर देता है कि ऐसा तभी करना चाहिए जब अन्य किसी उपाय से काम न चले। वह कैथोलिकों, मुसलमानों और नास्तिकों का विरोधी था; क्योंकि कैथोलिक अपने धर्म के सिवा अन्य किसी को कोई भी "धर्म मानने नहीं देते थे और अपनी रक्षा के लिये विदेशी राजसत्ता की ओर देखते थ; मुसलमानों के नैतिक सिद्धान्त यूरोपियन सभ्यता में खप सकते थे और नास्तिकों के सामने ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जिसकी वजह से वे आचरण की शुद्धता पर ध्यान दें।" लॉक चर्च अर्थात् धर्म और राज्य—इन दोनों के बीच समन्वय का पक्षपाती था और चाहता था कि दोनों एक दूसरे की सहायता से आगे बढ़ें। वह धर्म को व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत विश्वास की चीज मानता था। वह ईमानदार मत-प्रकाशन के लिये धर्म को राज्य के अन्तर्गत मानता था और कहता था कि राज्य को सभी मतावलम्बियों को अपने यहाँ रहने की इजाजत देनी चाहिए।

१३. राजक्रान्ति का अधिकार

लॉक हॉब्स के प्रतिकूल प्रजा से राजक्रान्ति का अधिकार छीन लेने का विरोधी था। वह राज्य में शासन को प्रन्यास (Trust) मानता था और कहता था कि अधिकारियों को सब के हितों के लिये एक निर्दिष्ट दिशा में कार्य करने का दायित्व सौंपा गया है। जब तक वे व्यक्ति के जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखते हैं तब तक उन्हें अपने पदों पर बने रहने का अधिकार है लेकिन जैसे ही वह उक्त अधिकारों पर प्रहार करते हैं या आन्तरिक या बाह्य आक्रमण से उनकी रक्षा करने में असमर्थ होते हैं—वसे ही उनके विरुद्ध राजक्रान्ति करने का अधिकार नागरिकों को प्राप्त हो जाता है। जो शासक मनमानी करता है—विधियों के अनुसार नहीं चलता, वह प्रजा का हितू नहीं, शत्रु है। उसके विरुद्ध समाज के प्रत्येक व्यक्ति को क्रान्ति का अधिकार है लेकिन राजक्रान्ति तभी होनी चाहिए जब बहुमत उसके पक्ष में हो।

१४. लॉक की व्यक्तिवादिता

लॉक पर बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि वह कट्टर व्यक्तिवादी था। वॉन ने भी कहा है "लॉक की व्यवस्था में हर वस्तु व्यक्ति के इर्दगिर्द चक्कर काटती है; प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार सजा कर रखा गया है कि व्यक्ति की संप्रभुता सब प्रकार सुरक्षित रहे।" लॉक वस्तुतः क्रान्ति का सिद्धान्तशास्त्री था। लॉस्की के शब्दों में उसका काम सन् १६८८ की राजक्रान्ति का औचित्य सिद्ध करना था। यह बात हम पिछले अनुच्छेदों में भी कह आये हैं। लेकिन यह बात इस स्थल पर एक बार पुनः दोहरानी इसलिये आवश्यक हो गयी है क्योंकि इस तथ्य की पृष्ठभूमि में ही हम यह समझ सकते हैं कि वह किस हद तक व्यक्तिवादी था। दो स्टुअर्ट राजाओं का विरोध इंगलैण्ड के सम्पत्तिशाली वर्गों ने किया था। ये लोग लेवलर्स (Levellers) के विरोधी थे। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि इंगलैण्ड में राजतंत्र तो होना चाहिए लेकिन यह राजतंत्र नाममात्र का हो। सत्ता वस्तुतः उस वर्ग के हाथ में रहे जिसके पास सम्पत्ति हो। इस प्रकार तत्कालीन इंगलैण्ड का धनीवर्ग राजा को हाथ-पैर बाँध कर अपना नेता बनाये रखना चाहता था। लॉक अपने राजदर्शन में इसी

वर्ग के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। उसे एक ऐसे राज्य की कल्पना करनी थी जिसमें व्यक्ति के आर्थिक हित सर्वथा सुरक्षित रहें। लॉक को अपने इस मत की पुष्टि के लिये प्राकृतिक विधियों से बड़ी सहायता मिली। लॉक, हॉब्स के मत के विपरीत यह मानता था कि यथार्थ विधियाँ प्राकृतिक विधियों का ही विकसित स्वरूप हैं। वह यह नहीं मानता था कि दोनों विधियाँ परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध हैं। लॉक जैसा कि कहा जा चुका है कि प्राकृतिक विधियों को ऐसी नियमसंहिता मानता था, जो हर समय, हर स्थान पर, हर व्यक्ति के आचरणों का नियंत्रण करती हैं। प्राकृतिक विधियों की कसौटी विवेक है और यह बात विवेक-सिद्ध है कि हरएक मनुष्य समान है। इस प्रकार वह प्राकृतिक विधियों के आधार पर प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना करता था यही उसकी व्यक्तिवादी विचार धारा की कुंजी थी। लॉक की प्राकृतिक विधि, नागरिक शासनतंत्र, सामाजिक अनुबंध आदि सभी चीजों की कल्पना उसकी व्यक्तिवादिता पर आधारित हैं। हॉब्स ने मानव-स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था आदि का जो कुछ चित्रण किया है, वह सब अत्यन्त काला है लेकिन वह हॉब्स की व्यक्तिवादिता का औचित्य सिद्ध करता है और लॉक ने मानव-स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था का जो सुनहला चित्र अंकित किया है, वह भी उसकी व्यक्तिवादिता ही सिद्ध करता है। वह व्यक्ति के जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति के अधिकारों को अविभाज्य और अविछिन्न मानता है। वह सम्पत्ति को अन्य दो अधिकारों की रक्षा का साधन मानता है। उसका कहना है कि बिना सम्पत्ति के जीवन और अन्य स्वतंत्रताओं की रक्षा नहीं हो सकती। शासन का लक्ष्य सभ्य समाज की स्थापना करना है और सभ्य समाज में नागरिकों के जीवन और उनकी सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा होती है। यही दलील लॉक अपने सामाजिक अनुबंध को सिद्ध करने के लिये देता है लेकिन यदि मानव प्राकृतिक-अवस्था में "शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता और संरक्षण" के वातावरण में रहता तो फिर उसे ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी जिसकी वजह से उसे प्राकृतिक अवस्था छोड़ने के लिये विवश हो जाना पड़ा ? इसके उत्तर में वह फिर कहता है कि मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्था का परित्याग इसलिये किया कि वह चाहता था कि वह अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा कर सके और कुछ उन असुविधाओं को दूर कर सके जिनकी वजह से उसका जीवन उतना सुखमय नहीं हो पा रहा था जितना सभ्य समाज में आकर हो जाता। इसीलिये मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्था को त्यागा और यह फैसला किया कि वह एकता के साथ एक सभ्य समाज का सदस्य बन कर रहेगा जिससे वह अधिक सुख से, सुरक्षा के वातावरण में, शांतिपूर्वक रह सके, और एक दूसरे की सम्पत्ति रक्षित रहे और उन सब को वह सुरक्षा प्राप्त हो जो पहले प्राप्य नहीं थी।[२] वह राज्य की स्थापना के लिये प्रत्येक नागरिक की औपचारिक सहमति जरूरी समझता था। लेकिन समझौते या अनुबंध में एक बात स्पष्ट थी और वह यह कि कोई व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों का समर्पण नहीं करेगा। प्रत्येक ने केवल इतने ही अधिकार समर्पित किये जितने प्राकृतिक विधियों को लागू करने के लिये आवश्यक थे और जितने दूसरों को

---

1 H. J. Laski in the selections from *Encyclopaedia of Social Sciences.* Article on the Rise of Liberalism.

2 Men agreed to join and unite into a community for their comfortable, safe and peaceable living, one amongst another in a secure enjoyment of their properties and a greater security against any that were not before it. John Locke in *Two Treatises of Civil Government* p. 164.

समाज के विरुद्ध अपराध करने पर दण्ड दिये जाने के लिये जरूरी थे। ये अधिकार पूरे समाज को दिये गये थे। लॉक ने ऐसी कोई बात नहीं कही जिससे हॉब्स के जैसी किसी संप्रभु सत्ता की सृष्टि होती।[१] लॉक ने न केवल 'संप्रभुता' शब्द का प्रयोग ही नहीं किया वलिक अपने राज्य को संप्रभु राज्य नहीं माना। **मैक्सी** के शब्दों में उसका कार्य "राजसत्ता को स्थिति को उच्चतर बनाना नहीं अपितु उसकी मर्यादाओं को बताना था।"[२] वह शासकों को समाज का प्रतिनिधि मात्र बतलाता था। उनको केवल इतनी ही शक्तियाँ प्राप्त हैं जितनी समाज को व्यक्ति ने दी हैं। राज्य एक तरह से एक बहुत बड़ी लिमिटेड कम्पनी है। प्रोफेसर **डनिंग** के शब्दों में, "व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार संप्रभु समाज के अधिकारों को ठीक वैसे हो सीमित करते हैं जिस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार द्वारा दूसरे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को सीमित करते हैं।"[३] शक्ति का कोई दुरुपयोग न करे इसलिये लॉक ने शक्तिविभाजन का सिद्धान्त भी स्थिर कर दिया। वह विधायिका और कार्यपालिका विभागों को सर्वथा अलग-अलग रखना चाहता था, क्योंकि उसका कहना था कि दोनों शक्तियों को एक ही स्थान पर रखा जायगा तो शक्ति के दुरुपयोग का खतरा रहेगा। वह लोगों की क्रान्ति का अधिकार भी अपनी व्यक्तिवादिता के कारण ही देता था।[४] धर्म के संबंध में उसने जो विचार प्रकट किये उनमें भी व्यक्तिवादिता ही टपकती है। वह व्यक्ति को अपनी आत्मा के अनुसार कार्य करने की पूरी स्वतंत्रता देता था। इसी प्रकार धर्म और पूजन की छूट भी वह देता था। उसका कहना था कि एक ही राज्य में सब को इस बात की छूट होनी चहिए कि व्यक्ति जो धर्म चाहे माने और चाहे जिस सम्प्रदाय का सदस्य रहे।

१४.१ **आलोचना**—लॉक की व्यक्तिवादिता में त्रुटियाँ भी हैं और उन पर भी यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि उसके व्यक्तिवादी विचार प्राकृतिक अधिकारों पर आधारित हैं और प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक विधियों पर। लेकिन प्राकृतिक विधियाँ लॉक की व्यक्तिवादिता के प्रतिकूल पड़ जाती हैं। उसके सारे सिद्धान्त व्यक्ति की स्वीकृति पर निर्भर करते हैं। लेकिन वह सब की स्वीकृति के बजाय वस्तुतः बहुमत की स्वीकृति पर बल देता था। इसका अर्थ यह हुआ कि अल्पमत स्वीकृति नहीं देता लेकिन राज्य बिना उनकी स्वीकृति के ही उन पर शासन करता है। इसका आशय है कि जिन प्राकृतिक अधिकारों को वह व्यक्ति से अभिन्न और अविभाज्य बतलाता है वे अल्पमत के पास नहीं रह पाते। स्पष्ट है कि उसकी पहली बात का दूसरी बात से खण्डन हो जाता है। इस प्रकार हमें इस मत से सहमत होना पड़ता है कि लॉक के समाज में भी व्यक्ति को बहुमत के सामने अपने उचित निश्चय का परित्याग करने के लिये विवश होना पड़ सकता है। यही नहीं **वॉन** का यह कहना भी सही प्रतीत होता है कि राज्य

I "There is in this conception nothing of that absolute, unlimited and uncontrollable sovereignty which was the soul of Hobbes's system" Prof. W. A. Dunning in *political Theories* Vol. II, p. 349.

2 "It was not his concern to exalt political authority but to describe its limitations". C. C. Maxey in *political philosophies*, p. 255

3 Prot. W. A. Dunning's comment *political theories* Vol. II, p. 350.

4 John Locke in *Two Treatises*-pp. 28-29.

की स्थापना के लिये वस्तुतः किसी व्यक्ति से स्वीकृति नहीं प्राप्त की जाती। अन्त में हम बहुमत को भी सफल होता नहीं देखते और उनके स्थान पर पाते हैं कि व्यक्तिगत निरंकुशता सफल हो जाती है। वही व्यक्ति समाज में शासन करेगा जिसके पास धन होगा और निर्धनों को उसकी आज्ञा माननी होगी। यही नहीं, लॉक का सिद्धान्त राज्य को व्यक्ति की दया पर छोड़ देता है क्योंकि प्राकृतिक अधिकारों की वजह से राज्य के किसी भी कार्य को कोई भी व्यक्ति चुनौती दे सकता है। सम्पत्ति की उत्पत्ति संबंधी लॉक का सिद्धान्त भी अधिक संतोषजनक नहीं है। सम्पत्ति की उत्पत्ति प्राकृतिक अवस्था में समझ में नहीं आती। लॉक के बजाय मॉण्टेस्क्यू का यह कहना अधिक सही जान पड़ता है कि सम्पत्ति सभ्य समाज को देन है। लॉक राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र मानता था और राज्य में व्यक्तियों को प्राकृतिक अधिकार देकर वह राज्य के कर्तव्यों को इतना सीमित कर देता था कि वह पुलिस-राज्य मात्र रह जाता था। लॉक के राज्य में शासन का कार्य केवल शान्ति और व्यवस्था की रक्षा करना मात्र है। अतएव, लॉक का यह राज्य उन लोगों की समझ में आजकल बिलकुल नहीं आता जिनके मन में कल्याणकारी राज्य (Welfare Stute) की कल्पना समा गयी है।

१५. लॉक के विचारों में त्रुटियाँ

लॉक के विचारों पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि डाली जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि उनम अनक त्रुटियाँ हैं। हम क्रमपूर्वक इन पर विचार करेंगे।

१५.१ **प्राकृतिक अवस्था का चित्रण**—लॉक ऐसे वर्ग की विचारधारा से प्रभावित था जो सम्पत्तिवाला था। वह स्वयं भी उसी वर्ग का सदस्य था। इसी आधार पर उसने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का भी चित्रण किया है। इस विवरण को पढ़ने से ऐसा लगता है कि औसत प्राकृतिक अवस्था में भी प्रत्येक के पास सम्पत्ति थी और प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक रूप से विवेकयुक्त था। इस व्यक्ति का आचरण प्राकृतिक विधियों द्वारा नियमित और नियंत्रित होता था और वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता था जिससे किसी दूसरे के प्राकृतिक अधिकार छिनें। इस प्रकार वह एक ऐसे सभ्य समाज का कल्पना-चित्र हमारे सामने रखता है जो अत्यन्त अस्वाभाविक-सा लगता है। यह तो स्पष्ट ही है कि वह प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की जो दशा थी उसको सिद्ध करने के लिये हॉब्स की तरह ही ठोस प्रमाण रखने में असफल रहा है।

१५.२ दूसरे लॉक समुदाय और राज्य के बीच अन्तर की कोई स्पष्ट रेखा अंकित नहीं कर पाया है। वह अनुबंध द्वारा राज्य की स्थापना करता है, यह तो ठीक है लेकिन उसके सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त के सूत्र सुव्यवस्थित और तर्कसंगत नहीं हैं। वह अपन समकालीन समाज के विभिन्न संवासों और संस्थाओं के उदाहरण देकर अपने एक-एक मत को प्रमाणित करना चाहता है, लेकिन ऐसा सफलतापूर्वक नहीं कर पाता। वह साफ-साफ यह भी नहीं बतलाता कि उसके अनुबंध से केवल समाज बनता है या केवल राज्य। दूसरे, उसके राज्योत्पत्ति सिद्धान्त संबंधी तर्क वास्तविकता के प्रतिकूल पड़ते हैं।

१५.३ इसी प्रकार एक ओर तो वह शासनतंत्र में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और दूसरी ओर कार्यपालिका (Executive) को अध्यादेश जारी करने के अधिकार भी दे देता है।

१५.४ लॉक का राज्य संप्रभु-सत्तावान राज्य नहीं है। उसमें राज्य के हितों के बजाय व्यक्ति के हितों की रक्षा पर अपेक्षाकृत बहुत अधिक बल दिया जाता है। वह राज्य को केवल एक ऐसा मानव-समुदाय मानता है जो कुछ विशेष कार्यों और उद्देश्यों की

सिद्धि के लिये परस्पर मिल कर रहते हैं। अतः वह राज्य के हितों को सर्वोपरि न मानकर व्यक्ति के हितों को सर्वोपरि मानता है। यह बात केवल पूँजीवादी आधार पर चलने वाले किसी व्यक्तिवादी राज्य में ही मानी जा सकती है। कोई कल्याणकारी राज्य का विचारक इसे नहीं मान सकता।

१६. हॉब्स और लॉक की तुलना

हॉब्स और लॉक दोनों विचारकों के तर्कों की उत्पत्ति का केन्द्र एक ही है लेकिन तुलना करने पर ज्ञात होता है कि एक ही स्थान से चलने पर भी दोनों विचारक एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं और दोनों ही एक दूसरे के प्रतिकूल निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। उदाहरण के लिये, हॉब्स और लॉक दोनों ने मनुष्य की उस अवस्था का चित्रण किया है जब वह प्राकृतिक अवस्था में था। लेकिन हॉब्स ने जहाँ मनुष्य को हिंसक, अविवेकी और सदव लड़ने-झगड़नेवाला बतलाया, वहाँ लॉक ने प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य को विवेकी, दयालु और दूसरे व्यक्तियों का ख्याल रखनेवाला कहा। मानव-स्वभाव के संबंध में भी उनके मत भिन्न हैं। हॉब्स के मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में अपनी जीवन-रक्षा करने के अधिकार के अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं थे। उसके विपरीत लॉक अपने प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के तीन प्राकृतिक अधिकार बतलाता है। हॉब्स का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य ने एक अनुबंध से सभ्य समाज में प्रवेश किया और दूसरे से संप्रभु शासक की स्थापना की—वहाँ लॉक केवल एक अनुबंध का ही अस्तित्व मानता है और कहता है कि वह अनुबंध केवल शासन—सीमित शासनतंत्र—की स्थापना के लिये हुआ था। वह ऐसी प्राकृतिक अवस्था की कल्पना कर लेता है जिसमें मनुष्य को जीवन-रक्षा, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति-रक्षा के प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे। हॉब्स प्राकृतिक विधियों को यथार्थ विधियों (Real Laws) का प्रतिवादात्मक रूप (Antithesis) मानता है जब कि लॉक प्राकृतिक विधियों को नागरिक विधियों का पूर्व रूप मानता है और कहता है कि उन्हीं के आधार पर आगे चलकर नागरिक विधियाँ विकसित होती हैं। हॉब्स कहता है कि जब तक सारे अधिकार संप्रभु शासक को नहीं दे दिये जाते तब तक वास्तविक राज्य बन ही नहीं सकता। इसके विपरीत लॉक कहता है कि वह कैसा राज्य होगा और कैसा शासनतंत्र जिसमें व्यक्ति के सारे अधिकार हड़प लिये जायँ। वह समस्त अधिकारों को हड़प लेनेवाले शासक को लालची शासक बतलाता है। लॉक ऐसे किसी शासक के शासनतंत्र को मानने के लिये तैयार नहीं है जो जनता की सहमति से न बना हो। लॉक की दृष्टि से शासन के लिये जनता की स्वीकृति अनिवार्य है। वह हॉब्स की तरह अत्यन्त स्पष्ट ढंग से तर्कों को सुव्यवस्थित रूप से नहीं रख पाता।

१७. लॉक का अनुदाय और स्थान

लॉक हॉब्स के बाद एक ऐसा सामाजिक अनुबंधवादी विचारक था जो बहुत अधिक मौलिक न होते हुए भी कई आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं की नींव रख गया। जिन विचारधाराओं की नींव उसने रखी; वे थीं—'उपयोगितावाद', 'व्यक्तिवाद' तथा 'प्रजातंत्रवाद'। उसने बतलाया कि मनुष्य सारे काम दुख से बचने के लिये और सुख प्राप्त करने के लिये करता है। वह नैतिक आचरण के सिद्धान्तों को अपने जीवन में ढालने का यत्न इसलिये करता है जिससे वह आनन्द प्राप्त कर सके। सभी विधियों के विधेयन का भी यही उद्देश्य होता है। उसके इन्हीं विचारों से बेंथम ने प्रेरणा ग्रहण की थी। इसी प्रकार उसने सीमित शासनतंत्र और राज्य के सीमित कर्तव्यों पर बल दे कर एक ऐसी व्यक्तिवादी विचारधारा को आगे बढ़ाया जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास भली भाँति

कर सके। लॉक अपने सामने एक लक्ष्य रखकर आगे चला था और वह यह कि वह सन् १६८८ को राजक्रान्ति का औचित्य सिद्ध करे और बतलाये कि राजा को बिना संसद की अनुमति प्राप्त किये नये कर लगाने और नयी विधियाँ बनाने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार उसने प्रजा के प्रति उत्तरदायी शासनतंत्र की स्थापना के सिद्धान्त को मान्यता दिलायी जो आगे चलकर प्रजातंत्रवादी विचारधारा के रूप में पुष्पित हुआ। वह मौलिक नहीं था क्योंकि सामाजिक अनुबंध, प्राकृतिक विधि, प्राकृतिक अधिकार, राजक्रान्ति के अधिकारों आदि संबंधी उन मतों का बहुत पहले ही विकास हो चुका था जिनके आधार पर उसने अपने राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त को स्थिर किया। यह सच है कि उसका मस्तिष्क हॉब्स की भाँति तार्किक नहीं था लेकिन उसने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह समकालीन इंगलैण्ड के अनुकूल था और यही नहीं, आगे चलकर भी लॉक के विद्वतापूर्ण मतों की वजह से इंगलैण्ड को प्रजातंत्र की दिशा में आगे बढ़ने में निश्चित रूप से बड़ी सहायता मिली। प्रत्येक प्रजातंत्रवादी राज्य में आज जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति रक्षा के अधिकारों को सांविधानिक मान्यता दी जाती है। प्रत्येक प्रजातंत्रवादी राज्य का शासन (सरकार) यह मानता है कि वह तभी चल सकते हैं जब तक उसे शासितों की सहमति प्राप्त हो। शासकों को प्रजा का स्वामी नहीं, वरन् सेवक समझा जाता है। यह सच है कि लॉक के सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त आधुनिक युग में नहीं माने जाते लेकिन जिन बातों की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, वे आज भी मानी जाती हैं। लॉक के विचारों का रूसो पर बड़ा प्रभाव पड़ा और रूसो के सिद्धान्तों की पृष्ठिभूमि में ही फ्रांस की राजक्रान्ति हुई। मॉन्टेस्क्यू ने लॉक के आधार पर ही शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का विकास किया। लॉक के विचार इंगलैण्ड और फ्रांस तथा यूरोप तक ही सीमित नहीं रहे अपितु अमेरिका तक पहुँचे और अमेरिका के राज्यों के कई संविधान उन सिद्धान्तों के अनुसार बने। यह लॉक की ही शिक्षाओं का परिणाम था कि दैवी सिद्धान्तों के अनुसार अपनी उत्पत्ति सिद्ध करनेवाले राजतंत्रों का अन्यायपूर्वक शासन करने का अधिकार सदैव के लिये छिन गया। इसमें संदेह नहीं कि सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त के अमान्य हो जाने से लॉक की प्रतिष्ठा को हॉब्स से भी अधिक धक्का लगा। लेकिन उसका प्रभाव आज भी इतना अधिक है कि लॉक के ग्रंथों को बिना पढ़े ही लोग सर्वोत्कृष्ट मान लेते हैं। लॉक की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण लास्की के शब्दों में यह था कि "लॉक के प्रश्न स्थूल रूप से आज भी हमारे प्रश्न बने हुए हैं और हमें व्यापक रूप से उसके सिद्धान्तों से उन प्रश्नों का उत्तर पाने में सहायता मिलती है।"[1]

---

1 "In the largest sense his questions are still our own. In the largest sense we are near enough to his time to profit at each step of our own efforts by the hints he proffers....The emphasis is..upon the problem of freedom.....It is the glory of Locke that he brought a generous patience and a searching wisdom to the solution he proffered to his generation.

सत्रहवीं शताब्दी के यूरोपियन विचारक

१. वेस्टफलिया की संधि के राजनीतिक परिणाम—२. बेनेडिक्ट स्पिनौजा—३. सैम्युल पफेनडर्फ—४. प्राकृतिक अवस्था का पफनडर्फ द्वारा चित्रण—५. अनुबंध की द्वैधता—६. जकस बासेट—७. मार्क्विस हैलीफैक्स।

१. वेस्टफेलिया की संधि के राजनीतिक परिणाम

पिछले अध्याय में हम सत्रहवीं शताब्दी के दो सबसे बड़े अँग्रेज विचारकों के राजदर्शन पर प्रकाश डाल आये हैं। इसमें संदेह नहीं कि अस्थायी रूप से जहाँ तक दार्शनिकों का संबंध है, लोगों का ध्यान यूरोप की तरफ से हटकर इंगलैण्ड की ओर चला गया था और इसका कारण वहाँ की व्यवस्थित और शांतिपूर्ण राजनीतिक दशा थी। इंगलैण्ड जहाँ सन् १६८८ को क्रान्ति के बाद सांविधानिक राजतंत्र की ओर दृढ़ता से अग्रसर होता चला जा रहा था—वहाँ यूरोप तीस वर्षीय युद्ध में ग्रस्त था और यद्यपि सन् १६४८ में वेस्टफेलिया की संधि हो गयी थी फिर भी यूरोप का राजनीतिक वातावरण इतना क्षुब्ध था कि किसी भी विचारक के लिये स्थिर-चित्त हो दार्शनिक चिन्तन करना असंभव-सा था। यही वजह है कि सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स और लॉक की टक्कर का कोई विचारक हमें यूरोप में दिखलायी नहीं पड़ता। लेकिन वेस्टफेलिया की संधि के कुछ ऐसे राजनीतिक परिणाम हुए जिन्होंने राजदर्शन के चिन्तन को निश्चित रूप से प्रभावित किया। वे परिणाम इस प्रकार थे—(अ) पोप की मान्यता सदैव के लिये समाप्त हो गयी, (आ) राजतंत्रात्मक राष्ट्र-राज्यों की श्रीवृद्धि हुई, (इ) धार्मिक मतों को राजनीतिक निर्णयों में गौण स्थान दिया जाने लगा और (ई) पवित्र रोमन साम्राज्य विघटित हो गया। ये सारे परिणाम राज-दर्शन को आधुनिकता की ओर लाने में सहायक हुए।

स्पेन पोप के समर्थकों का गढ़ था। परन्तु क्रमशः इस राज्य की भी सैनिक शक्ति कम होती चली गयी और निर्बलता इस सीमा तक पहुँची कि साम्राज्य के बँटवारे की बातें सोची जाने लगीं। इधर स्पेन की शक्ति के ह्रास के साथ और प्रशा के राजनीतिक पतन के बाद यूरोप का नेतृत्व फ्रांस के हाथ में चला गया। फ्रांस ने रिचलू और मेजारिन की प्रतिभा से एक सुदृढ़ राजतंत्र की स्थापना की और चौदहवें लुई के रूप में एक निरंकुश राजा यूरोप में पैदा हुआ। इस महत्वाकांक्षी राजा ने मैकियावली को राज्य-विस्तार की नीति को अपनी विदेशनीति का आधार बनाया। औपनिवेशिक और व्यावसायिक क्षेत्र की वृद्धि के लिये प्रतिद्वंद्विताएँ बढ़ गयीं। इंगलैण्ड फ्रांस के सबल प्रतिद्वंद्वी के रूप में राज-नीतिक क्षेत्र में आ गया। उसने हालैण्ड को फ्रांस के आक्रमण से बचाया। इन राजनीतिक अवस्थाओं में यह स्वाभाविक ही था कि कोई उच्चकोटि का विचारक यूरोप में पैदा न हो सका और राजदर्शन-शास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों की विभीषिका से घबड़ाकर किसी ऐसी व्यवस्था की खोज करते जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय संबंध पहले की अपेक्षा अधिक सामंजस्यपूर्ण बन सकते। इसके साथ-ही शासकों और शासितों के बीच के संबंधों को स्थिर करने का भी प्रयत्न किया जाता। मुख्यतः यही दो राजनीतिक समस्याएँ थीं। इन समस्याओं पर अपने-अपने ढंग से जिन-जिन विचारकों ने प्रकाश डाला, उनमें डच विचारक स्पिनोजा, जर्मन

विचारक पफेनडर्फ, फ्रेंच विचारक बोसेट और एक अँग्रेज विचारक हैलीफेक्स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस अध्याय में हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

२. बेनेडिक्ट स्पिनोजा (Benedict Spinoza)

बेनेडिक्ट स्पिनोजा का जन्म पुर्तगाल के एक यहूदी परिवार में सन् १६३२ में हुआ था। लेकिन स्पेन और पुर्तगाल में उन दिनों कैथोलिकों का अन्य धर्मावलम्बियों पर जो दमन-चक्र चल रहा था उसके फलस्वरूप अत्याचारों से बचने के लिये स्पिनोजा को अपनी मातृभूमि छोड़कर हालैण्ड भाग जाना पड़ा। यहाँ आकर उसने डच नागरिकता स्वीकार कर ली और वहीं बस गया। उसकी मृत्यु सन् १६७७ में हालैण्ड में ही हुई। उसके जीवन के इस प्रसंग से यह तो स्पष्ट ही है कि वह धार्मिक असहिष्णुता का शिकार हुआ था। इसलिये स्पिनोजा के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वह धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता और राजतंत्र के विरुद्ध होकर आभिजात्यतंत्र का समर्थन करता ? उसके राजनीतिक विचार हमें तीन पुस्तकों में मिलते हैं; जो इस प्रकार हैं :— (१) ट्रैक्टेटस थियोलॉजिका पॉलिटिकस (Tractatus Theologica Politicus); (२) ट्रैक्टेटस पॉलिटिकस (Tractatus Politicus) और (३) एथिक्स (Ethics)। ये तीनों पुस्तकें लैटिन में हैं। इनमें से पहली पुस्तक सन् १६७० में और शेष दो पुस्तकें सन् १६७७ में प्रकाशित हुई थीं। स्पिनोजा के ग्रंथों से प्रकट होता है कि उस पर ग्रोशस और हॉब्स का प्रभाव पड़ा था। वह धार्मिक सहिष्णुतायुक्त उदारतावादी राज्य को आदर्श मानता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हॉब्स की कुछ मौलिक बातों से प्रभावित होते हुए भी हम उसके लक्ष्यों से सहमत नहीं हैं। उस पर मैकियावली का भी प्रभाव पड़ा।

२.१ राज्य की उत्पत्ति—स्पिनोजा मानवीय स्वभाव का विश्लेषण करता हुआ यह मानता है कि मनुष्य सारे कार्य अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखते हुए करता है। वह मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करते हुए बतलाता है कि जीवन की रक्षा करने का अधिकार ही प्राकृतिक अधिकार है। इससे उसका आशय यह है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को अपने जीवन की रक्षा के लिये सभी अधिकार थे। मनुष्य उचित या अनुचित का विचार न करके अपने प्राणों को बचाने के लिये सब कुछ कर सकता था। उसका कहना था कि सभ्य समाज में मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में कहीं अधिक अधिकार प्राप्त है। राज्य की उत्पत्ति का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य की कुछ ऐसी शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक आवश्यकताएँ हैं जो राज्य के बिना पूरी ही नहीं हो सकतीं। दूसरे, मनुष्य एक दूसरे की सहायता के बिना नहीं रह सकता क्योंकि समाज-रहित जीवन श्री और समृद्धिहीन होता है। स्पिनोजा पशुओं तथा मनुष्यों में स्वार्थभावना की दृष्टि से बहुत कम अन्तर देखता है। उसका कहना है कि मनुष्यों तथा जानवरों में फर्क यही है कि पशु अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये बुद्धि का प्रयोग नहीं करते जब कि मनुष्य ऐसा करता है। सामाजिक गुण केवल ऐसी परम्पराएँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपना हित साधन करता है। वह यह मानता है कि मनुष्य ने सभ्य समाज में किसी अनुबंध (Contract) द्वारा प्रवेश नहीं किया, वरन् मानव सभ्य समाज क्रमिक विकास का फल है। राज्य की उत्पत्ति अनुबंध द्वारा हुई। वह अनुबंध इस प्रकार का था कि राज्य से प्रत्येक व्यक्ति ने अपने हित साधन की व्यवस्था माँगी। इस प्रकार स्पिनोजा का अनुबंध ऐसा नहीं है जैसा हॉब्स का; जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने समस्त अधिकार एक संप्रभु शासक को अर्पित कर देता है। राज्य को वह केवल एक ऐसा साधन मानता है जिससे व्यक्ति का काम चलता है; उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार राज्योत्पत्ति का आधार स्पिनोजा आवश्यकताएँ मानता है—किसी प्रकार की हिंसा का भय नहीं।

वह राज्य की एकता पर भी बल देता था लेकिन एकता से स्पिनोजा का आशय बौद्धिक प्रेरणाओं से जनित एकता था। उसका कहना था कि राज्य में जो व्यक्ति प्रजा के रूप में रहें उन्हें चाहिए कि वे राज्य के उपयोगी अंगों के रूप में रहें। वह शरीर जैसी एकता का पक्षपाती था। उसने राज्य की आवयश्विक एकता पर विशेष रूप से बल दिया। वह संप्रभुता को राज्य के समस्त निवासियों की इच्छा का औसत रूप मानता था। रूसो ने स्पिनोजा के सिद्धान्त से काफी लाभ उठाया।

२.२ **संप्रभुतावान शासक के अधिकार**—फिर भी स्पिनोजा यह तो मानता ही है कि राज्य में शासक होता है और राज्य में उसके पास वे सारे अधिकार होते हैं जो व्यक्ति राज्य को प्रदान करता है—या अपनी इच्छा से समर्पित कर देता है। वस्तुतः संप्रभु उन्हीं अधिकारों का सामूहिक प्रतिनिधित्व करता है जो व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग उसे दे दिये जाते हैं। संप्रभु का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी विधियाँ बनावे जो "समर्पित अधिकारों के अनुकूल" हों और लोग भली भाँति एक दूसरे के साथ सहयोग करते हुए रह सकें। 'समर्पित अधिकारों' से आशय यहाँ उन अधिकारों से है जिन्हें व्यक्ति संप्रभु को दे देता है और जिनके कारण संप्रभु की शक्ति की रचना होती है। स्पिनोजा ने बतलाया कि न्याय या अन्याय की कल्पना राज्य में ही की जा सकती है; राज्य बनने के पूर्व प्राकृतिक अवस्था में नहीं। संप्रभु के अधिकार व्यक्ति की तुलना में अधिक हैं,क्योंकि व्यक्ति केवल अपने ही अधिकारों का प्रतिनिधित्व करता है जब कि संप्रभु बहुत-से व्यक्तियों के अधिकारों का। फिर भी वह हॉब्स की तरह यह नहीं कहता कि संप्रभु की आज्ञा के सामने व्यक्ति कुछ भी कर ही नहीं सकता। उसका कहना था कि मनुष्य चाहे तो सौदेबाजी कर सकता है।

हॉब्स को व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चिन्ता नहीं थी। वह तो केवल एक ऐसा राज्य चाहता था जिसमें शांति और व्यवस्था रहे। स्पिनोजा के लक्ष्य कुछ भिन्न थे। उसकी इच्छा थी कि व्यवस्था के अतिरिक्त व्यक्ति स्वातंत्र्य (Individual Liberty) भी सुरक्षित रहे। वह कहता था कि व्यक्ति को इतनी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह अपने विवेक और तर्कबुद्धि द्वारा व्यक्तित्व का विकास करते हुए जीवित रह सके। यही उसके लिये राज्य का मुख्य लक्ष्य था। वह व्यक्ति को धर्म, वाणी और विचार का स्वातंत्र्य उस हद तक देने को तैयार है जिस हद तक राज्य को उन स्वतंत्रताओं से कोई खतरा नहीं पदा हो जाता है। व्यक्ति स्वातंत्र्य संबंधी इस दृष्टिकोण के कारण स्पिनोजा के राज्य में व्यक्ति दास नहीं रहता अपितु नागरिक का जीवन व्यतीत करता है। हॉब्स के विचारों में ऐसा नहीं है। वह व्यक्ति संप्रभु का गुलाम बना देता है।

इसी सिलसिले में स्पिनोजा का कहना है कि व्यक्ति और शासन के आचरण के सिद्धान्त समान नहीं हो सकते। वह राजनीति से आचारशास्त्र को मैकियावली की भाँति ही अलग कर देता है। उसका कहना है कि राज्य के कर्णधारों को समय की आवश्यकतानुसार कार्य करना चाहिए।

२.३ **राज्य और आदर्श शासनतंत्र**—स्पिनोजा ने राज्य और शासनतंत्र (सरकार) दोनों को अलग-अलग बतलाया। उसने शासनतंत्रों के तीन प्रकार गिनाते हुए बतलाया कि इनमें आदर्शतंत्र कौन-सा है। स्पिनोजा के अनुसार आदर्श शासनतंत्र वह है जो आभिजात्यतंत्रात्मक गण राज्य हो। राजतंत्र में सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती है। उसे यह बात उचित प्रतीत नहीं होती थी। राजतंत्रात्मक शासन को वह सैद्धान्तिक रूप से पसन्द नहीं करता था और उसका कहना था कि यह व्यवस्था अव्यावहारिक है। इसी प्रकार

उसे उग्र प्रजातंत्र के विरुद्ध यह कहना था कि उसमें शासनकार्य में इतने अधिक लोग भाग लेने लगते हैं कि सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती अर्थात् राज्य प्रगति नहीं कर पाता। वह ऐसे प्रजातंत्र को पसन्द करता था जो विशुद्ध प्रजातंत्र न हो अपितु आभिजात्य तंत्र और प्रजातंत्र का मिश्रित स्वरूप हो। इस प्रकार के शासनतंत्र को उसने आभिजात्यात्मक प्रजातंत्र (Aristocratic Democracy) कहा है। उसका कहना था कि ऐसी अवस्था में सत्ता-दुरुपयोग के अवसर कम आते हैं। अतः राजतंत्र और प्रजातंत्र दोनों ही अवांछनीय हैं। वह ऐसे शासनतंत्र की कोई उपयोगिता नहीं मानता था जिसमें व्यक्ति को शांतिमय जीवन बिताने की सुविधाएँ प्राप्त न हों। वह समझता था कि यदि कोई शासन ऐसी अवस्था देने में असमर्थ सिद्ध होता है तो समझना चाहिए कि वह अपने जीवित रहने का अधिकार समाप्त कर चुका है।

२.४ **व्यक्ति के अधिकार**—स्पिनोजा का कहना था कि राज्य में व्यक्ति के केवल उतने ही अधिकार हैं जितने कोई शासनतंत्र अपने नागरिकों को दे देता है। वह यह विश्वास नहीं करता था कि व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त हैं। राज्य या शासनतंत्र से व्यक्ति को अधिकार दिलाने का स्पिनोजा का मतलब यह था कि नागरिकों की चेतना का जो संघटित समूह संप्रभुता के रूप में है और जो प्रत्येक व्यक्ति के हितों का समान रूप से ध्यान रखती है—उसी की तरफ से व्यक्ति के अधिकार निश्चित होने चाहिए। उसका ख्याल था कि ऐसा करने से व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकारों से कहीं अधिक अधिकार मिल जाते हैं।

२.५ **स्पिनोजा का स्थान**—स्पिनोजा के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के विचारों को लॉक ने ग्रहण किया था। उसकी संप्रभुता की कल्पना से **आस्टिन** ने भी लाभ उठाया। **रूसो** की सामान्य इच्छा (General Will) बहुत कुछ वही है जिसे स्पिनोजा ने समूह की संघटित चेतना बतलाया था। वह अपने धार्मिक विचारों की वजह से समकालीन विचारकों में अप्रिय हो गया और हॉब्स तथा लॉक की तरह उसे भी नास्तिक बतलाया गया। स्पिनोजा के ग्रंथ लगभग सौ बरसों तक इस प्रकार पड़े रहे कि उनकी ओर किसी का ध्यान हो नहीं गया। लेकिन बाद में उपयोगितावादियों ने उसका अध्ययन किया और ह्यूम, बेंथम तथा बर्क आदि ने उसके सिद्धान्तों के आधार पर अपनी विचार-धाराओं की पुष्टि की। ह्यूम और बेंथम तो यह मानकर चले कि मनुष्य सारे कार्य सुख पाने और दुख से बचने के लिये करता है। बर्क ने स्पिनोजा की यह बात मानी कि राज्य या शासनतंत्र को श्रृंखलाओं से नहीं जकड़ना चाहिए। उनको इस बात की स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको मोड़ लें। बर्क के सामयिक आवश्यकतानुसार कार्य करने के सिद्धान्त (Principle of Expeciency) को स्पिनोजा से बड़ी सहायता मिली थी।

३. सैम्यूअल पफेनडर्फ (Samuel Pufendorf)

जिस व्यक्ति के बाद से आधुनिक युग की तरफ जर्मनी के राजदर्शन की चिन्तनधारा मुड़ती है—वह विचारक है सैम्युअल पफेनडर्फ। पफेनडर्फ का जन्म सन् १६३२ में हुआ था। उसकी मृत्यु ५२ वर्ष की अवस्था में सन् १६९४ में हुई। वह प्राकृतिक विधियों का अगाध विद्वान् था और इस संबंध में उसने न केवल यूनानी और रोमन साहित्य का अध्ययन किया बल्कि हॉब्स और ग्रोशस को भी पढ़ा। हॉब्स की निरंकुश संप्रभुता और ग्रोशस की सीमित और आचार-प्रधान संप्रभुता के बीच पफेनडर्फ ने सामंजस्य स्थापित किया था। उसके दो ग्रंथ हैं—(१) डी जूरे नेचर एट जेण्टियम और (२) डी ऑफिशियो होमिनस एट सिविस। ये दोनों ग्रंथ १६७२ तथा १६७३ में प्रकाशित हो

गये थे। ग्रोश स और हॉब्स के बीच पफेनडर्फ ने किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया है यह इसी बात से प्रकट हो जाता है कि वह एक ओर ग्रोशस को प्राकृतिक विधि की यह परिभाषा स्वीकार कर लेता है कि प्राकृतिक विधियाँ विवेक-जनित होती हैं और दूसरी ओर हॉब्स की यह बात मान लेता है कि मनुष्य के सारे कार्य उस कार्य की उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। उसकी अध्ययन-प्रणाली विवेकाधारित (Rationalistic) है। प्राकृतिक विधियाँ चूँकि विवेकजनित होती हैं, इसलिये वह प्राकृतिक विधियों के चारों ओर ही अपने राजदर्शन के ताने बाने बुनता है।

४. प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)

पफेनडर्फ मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था को ऐतिहासिक तथ्य मानकर आगे चलता है। उसका कहना है कि राज्योत्पत्ति के पूर्व मनुष्य था—परन्तु वह एक दूसरे से अलग-अलग रहता था। एक मनुष्य दूसरे पर विश्वास नहीं करता था और प्रत्येक व्यक्ति सारे काम अपने लाभ के लिये करता था। धीरे-धीरे मनुष्य ने साथ रहना सीखा और यह समझा कि समाज में रहना लाभप्रद है। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में समाज बन गया लेकिन इस अवस्था में कोई ऐसी शक्तिशाली मानवीय सत्ता (Human Authority) नहीं थी, जिसके आदेश मानने के लिये वे बाध्य किये जा सकते। इस समाज के सदस्य सदैव प्राकृतिक विधियों को भी नहीं मानते थे। उनको कभी-कभी झक सवार हो जाती थी, जिस दशा में वह जो मन में आता, कर डालते थे। ऐसे कार्यों से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती थीं। यह अवस्था मनुष्य के लिए बड़ी दुखदायी थी। हालाँकि यह सच है कि उस अवस्था में बराबर युद्ध नहीं होते थे, लोग विवेक से काम लेते थे। परन्तु यह अवस्था काफी असहनीय हो गई थी। कारण यह था कि अधिकांश व्यक्ति अविवेकी थे। इसी अविवेक के कारण ऐसी अवस्था का अभाव खटकता रहता था, जो न्याय और शांति की दशा को स्थापना कर सके। फलतः प्राकृतिक दशा के समाज में रहने वाले मनुष्यों ने अपनी इच्छा ने ऐसे सभ्य समाज की स्थापना की जिसमें मनुष्य अपेक्षाकृत शांति से रह सके। यह कार्य एक अनुबंध द्वारा किया गया। इस प्रकार हॉब्स की भाँति पफेनडर्फ ने भी अनुबंध की द्वैधता स्वीकार की है।

५. अनुबंध की द्वैधता

पफेनडर्फ ने अनुबंध की द्वैधता इस प्रकार सिद्ध की कि पहले तो सभ्य समाज स्थापित किया गया और इसके बाद दूसरी स्थिति में शासनतंत्र स्थापित किया गया। लेकिन जिस प्रकार का शासनतंत्र स्थापित हो—इसका फैसला सभ्य-समाज ने बहुमत द्वारा किया। शासनतंत्र ने समाज से प्रतिज्ञा की कि वह सार्वजनिक कल्याण के लिये कार्य करेगा और समाज ने वचन दिया कि वह शासनतंत्र की आज्ञाओं का पालन करेगा। इस प्रकार राज्य की स्थापना के बाद शासनतंत्र को सर्वोच्च अधिकार दे दिए गए लेकिन वे अधिकार निरंकुश नहीं थे। शासनतंत्र इन अर्थों में सर्वोच्च था कि वह किसी भी प्रकार को मानवीय विधियों के मानने या किसी बाह्य मानवीय संस्था द्वारा बनाए गये कानूनों के पालन के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता था। लेकिन शासनतंत्र दैवी विधियों और प्राकृतिक विधियों की मर्यादा मानने के लिये बाध्य था। राज्य तथा नागरिक को प्राकृतिक तथा दैवी विधियों की वह व्याख्या माननी पड़ती थी जो बुद्धिमान लोग करते थे। इस प्रकार शासनतंत्र के पास जो संप्रभु शक्ति थी वह सर्वोच्च होते हुए भी ऐसी नहीं थी कि वह सारे ब्रह्माण्ड की शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हो। इस प्रकार पफेनडर्फ ने ऐसे व्यक्ति को संप्रभु माना जो निर्वाचित राजा हो और जिसके अधिकार सीमित हों। इस श्रेणी में इंगलैण्ड का आजकल का राजा आता है लेकिन हॉब्स की दृष्टि से इंगलैण्ड के आजकल

के राजा को संप्रभु शासन नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि वह सांविधानिक परम्पराओं की दृष्टि से संसद को हर आज्ञा का पालन करने के लिये बाध्य है। यहाँ पफेनडर्फ पर ग्रोशस का प्रभाव है।

५.१ आलोचना—यदि ध्यान से पफेनडर्फ के राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन किया जाय तो उसमें हमें अनेक प्रतिवादात्मक बातें दिखलायी पड़ेंगी। वह हॉब्स से कुछ ही भिन्न प्राकृतिक अवस्था की कल्पना करता है और द्वैध अनुबंधों का सिद्धान्त मानता है। लेकिन यहाँ फिर वही शंका उठती है कि यदि व्यक्ति इतने अधिक अविवेकी थे कि प्राकृतिक अवस्था में उनका रहना असहनीय हो उठा तो सहसा वे किस प्रकार इतने सभ्य बन गये कि सभ्य समाज में रहते हुए भी राज्य बना सके। लेकिन इन प्रतिवादात्मक बातों के होते हुए भी जर्मनी तथा यूरोप के कई विचारकों ने इसे माना।

६. जेक्वे बॉसेट (Jacques Bousset)

बॉसेट का जन्म फ्रांस में सन् १६२७ में हुआ था। उसे आरम्भ से ही धार्मिक शिक्षा मिली थी और उसने फ्रांस के चर्च की सेवा में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया था। उस पर गेलकिन चर्च के इस मत का बड़ा प्रभाव पड़ा था कि चर्च को पोप के नियंत्रण से मुक्त रहना चाहिए। उसने अपने ग्रंथ में इसी विचारधारा का प्रतिपादन भी किया था। वह बड़ा प्रभावशाली वक्ता भी था। वह चौदहवें लुई के पुत्र का शिक्षक था। उसकी मृत्यु सन् १७०४ में हुई। बॉसेट की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "पॉलिटिक्स"[१] है। यह धार्मिक ग्रंथों के आधार पर लिखी गयी है। इस पुस्तक में बॉसेंट ने कहा है कि राजा ईश्वर का अंश है और उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा का कर्त्तव्य है। अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने में बॉसेट ने स्कॉलस्टिक दर्शन का सहारा लिया। वह हॉब्स के इस मत से भी प्रभावित हुआ कि शासक संप्रभु होता है और उस पर कोई अंकुश नहीं होना चाहिए।

बॉसेट ने बतलाया कि मनुष्य वैसे तो सामाजिक होता है लेकिन उसमें बहुत-सी बुराइयाँ भी होती हैं और इन बुराइयों की वजह से यह जरूरी है कि उस पर नियंत्रण रखा जाय। यह नियंत्रण शासन या सरकार द्वारा ही रखा जा सकता है। उसका कहना था कि जिस प्रकार परिवार के सदस्यों और बच्चों की देखभाल पिता करता है उसी प्रकार राज्य में विभिन्न वर्गों तथा प्रजा की देखभाल राजा करता है। राजा और पिता दोनों का दर्जा समान है। जिस प्रकार पिता अपने परिवार के किसी भी व्यक्ति द्वारा बनाये गये नियमों के मानने के लिये बाध्य नहीं है; उसी प्रकार राजा का स्वत्व भी पवित्र, पितातुल्य, निरंकुश और केवल अपने विवेक के मातहत है। राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा के कल्याण की चिन्ता उसी प्रकार करे जिस प्रकार पिता करता है; क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे इसका उत्तर ईश्वर के सम्मुख देना होगा। लेकिन राजा की आलोचना करना प्रजा का कार्य नहीं है। यदि कोई इस तरह की बात करता है तो धर्म की दृष्टि से वह निन्दनीय कार्य करता है। प्रजा के कल्याण-चिन्तन के अतिरिक्त चूंकि राजा का कार्य धर्म और न्याय की रक्षा करना भी है इसलिये वह धर्महीनों को दण्ड भी दे सकता है। राजा राज्य का प्रतीक है; समस्त प्रजाजनों की सामूहिक शक्ति का वह

---

१ इस पुस्तक का पूरा नाम ***La politique tiree de Eecriture Saint*** **है। यह फ्रेंच में है और उक्त लम्बे नाम का अर्थ है "पवित्र ग्रंथों और सन्तों की वाणी पर आधारित राजनीति।"**

2 Kings should be guarded as holy things." Bousset as quoted by R. G. Gettell in *History of Political Thought*, p. 237.

प्रतिनिधित्व[1] करता है ; इसलिये किसी भी व्यक्ति को उसका विरोध करने का अधिकार नहीं है। ध्यान से देखा जाय तो बॉसेट में दो बातों का बड़ा सुन्दर समन्वय मिलता है। एक ओर तो वह राजा की निरंकुशता और उच्चतम स्थिति का प्रतिपादन करता है और दूसरी ओर यह भी बतलाता है कि उसका नैतिक उत्तरदायित्व प्रजा का कल्याण करना है और यदि वह वैसा नहीं करता तो ईश्वर के सामने अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी होगा। इस प्रकार वह राजतंत्रात्मक शासन को सर्वश्रेष्ठ मानता था। बॉसेट के इन विचारों का अपने समकालीन और बाद के कुछ जर्मन और फ्रेंच विचारकों पर काफी प्रभाव पड़ा। इन्हीं विचारों के परिणामस्वरूप कुछ समय के लिये राजतंत्र विरोधियों का नाम-निशान मिट गया।

७. मार्क्विस हैलीफेक्स (Marqu's of Halifax)

मार्क्विस हैलीफेक्स का पूरा नाम जॉर्ज सेवाइल मार्क्विस ऑफ हैलीफेक्स था। इसका जन्म सन् १६६३ में हुआ। हैलीफेक्स ने जब राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय संसद-समर्थक और राजतंत्र-समर्थकों के बीच गहरा विरोध था। हैलीफेक्स ने अपनी असाधारण प्रतिभा से दोनों पक्षों के बीच का एक मार्ग खोज निकाला। उसने दोनों ही पक्षों की उग्रवादिता को अनुचित बतलाया। लेकिन कुल मिलाकर हैलीफेक्स के विचारों का सार निकाला जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वह कट्टरवादिता था और ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि वह भूमिपति (जमींदार) था और रूढ़िवादी वातावण में ही उसका पालन-पोषण भी हुआ था। लेकिन वह अपने वर्ग के बहुत से प्रतिक्रियावादी विचारों का जबर्दस्त विरोधी था। उस पर हॉब्स का प्रभाव पड़ा था। हैलीफेक्स ने कोई पुस्तक नहीं लिखी है लेकिन हमें उसके विचार यत्र-तत्र प्रकाशित लेखों और निबंधों आदि से मिल जाते हैं। उसके राजनीतिक विचारों का एक संग्रह सन १६९५ में उसकी मृत्यु हो जाने के पाँच बरस बाद छपा था—इस पुस्तिका का नाम 'थॉट्स एण्ड रिफलेक्शन्स' है। उसकी अध्ययन-पद्धति अनुभूतिमूलक (Empirical) थी। वह सिद्धान्तों की प्रयोगवादी उपयोगिता में विश्वास करता था। इस पद्धति से उसकी आधुनिकता प्रकट होती है—मानव-स्वभाव के संबंध में उसका मत भी हॉब्स की भाँति ही था। वह भी मनुष्य को स्वार्थी और हिंसक मानता था। लेकिन वह हॉब्स का निरंकुश संप्रभु नहीं चाहता था। हैलीफेक्स के आदर्श राजतंत्र की कल्पना बहुत कुछ लॉक से मिलती-जुलती थी। वह संप्रभु राजा के शासन का पक्षपाती था तो और यह भी चाहता था कि राजतंत्र आनुवांशिक हो लेकिन वह यह नहीं पसन्द करता था कि राजा को प्रजा पर शासन करने के निरंकुश अधिकार प्रदान कर दिये जायँ। वह व्यक्ति की स्वाधीनता का हिमायती था। लेकिन इसके साथ ही उसका यह भी कहना था कि प्रजा को अपने अधिकार प्राप्त करने के लिये राजा के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ देना चाहिए। प्रजा सांविधानिक साधनों (Constitutional means) द्वारा ही अपने अधिकारों को राजा से मनवा सकती है। धर्म के मामलों में उसका कहना था कि कैथोलिकों को राज्य में ऊँचे पद न दिये जायँ, क्योंकि वे पोप के प्रति आस्था प्रकट करते हैं और पोप इंगलैण्ड का राष्ट्रीय धर्माध्यक्ष नहीं है ; किन्तु वह कहता था कैथोलिकों को अनावश्यक रूप से तंग न किया जाय। संक्षेप में वह धार्मिक आधार पर किये जाने वाले दमन का विरोधी था।

1 "All the state is in him, the will of the people is included in his." Ibid.

2. "Kings must exercise their power with fear and self-restraint, as s thing coming from God and of which God will demand an account: Ibid.

२२

मॉण्टेस्क्यू और उसके कुछ पूर्ववर्ती विचारक

१. अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध—२. बॉलिंगब्रुक—३. डेविड ह्यूम—४. जियाम बटिस्टोवीको—५. टामेसियस और वुल्फ—६. माण्टेस्क्यू के पूर्व फ्रांस की राजनीतिक अवस्था—७. माण्टेस्क्यू का जीवन-परिचय, ग्रंथ और अध्ययन-पद्धति—८. पूर्ववर्तियों का माण्टेस्क्यू पर प्रभाव—९. सामाजिक और राजनीतिक संवास तथा विधियाँ—१०. शासनतंत्र—११. व्यक्ति स्वातंत्र्य—१२. शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त—१३. भौतिक वातावरण का राष्ट्रीय चरित्र पर प्रभाव—१४. धर्म और राज्य—१५. माण्टेस्क्यू के विचारों की मीमांसा—१६. माण्टेस्क्यू का स्थान।

अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध

राजनीतिक विचारों की प्रगति की दृष्टि में अठारहवीं ताब्दी के पूर्वार्द्ध में ऐसा कोई महत्वपूर्ण विचारक इंगलैण्ड या यूरोप में पैदा नहीं हुआ जिसने राजदर्शन को कोई युगान्तकारी अनुदाय प्रदान किया हो। लॉक के उपरान्त मॉण्टेस्क्यू के अभ्युदय तक पाश्चात्य राजदर्शन में द्वितीय श्रेणी के विचारकों का बोलबाला रहा।

इंगलैण्ड में हॉब्स और लॉक के बाद एक प्रकार से अशान्ति का युग समाप्त हो गया। राजसत्ता और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में यह धारणा दृढ़तापूर्वक लोगों के हृदयों में घर कर गयी कि राजा की सत्ता का स्रोत प्रजा है और प्रजा को ही अपने शासकों को निर्वाचित करने का अधिकार है। यह भी समझ लिया गया कि शासक स्वामी नहीं बल्कि प्रजा के सेवक हैं। धर्म और राज्य का संघर्ष भी इस विश्वास के दृढ़ हो जाने के कारण लुप्त हो गया कि पादरियों और धर्माधिकारियों का क्षेत्र राजनीति से भिन्न है और उनको समाज की आध्यात्मिक उन्नति की ओर राजनीतिक समस्याओं के सुलझाने से अधिक ध्यान देना चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र में प्रजासत्ता की धारणा के उदय हो जाने के कारण प्रशासनिक जटिलताएँ बढ़ गयीं और उन छोटी-छोटी जटिलताओं को दूर करने में ही सामान्य राजनीतिज्ञों का समय अधिक व्यतीत होने लगा। इन लोगों ने राज्य की उत्पत्ति, राज्य और शासनतंत्र के भेद आदि जैसे गहन विषयों पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखने के बजाय भिन्न-भिन्न राजनीतिक समस्याओं पर विचारपूर्ण निबंध लिखने आरम्भ कर दिये। शासनतंत्र से विभिन्न अंगों के कर्तव्यों और अधिकारों के समन्वय और सामंजस्य पर अधिक बल दिया जाने लगा। कहा जाने लगा कि यदि सम्पूर्ण शासन को तीन भागों में विभक्त कर दिया जाय और तीन विभागों के कर्तव्य और अधिकार विभक्त कर दिये जायँ तो किसी भी अधिकारी के हाथ में अधिक शक्ति न होने के कारण व्यक्ति या नागरिक की स्वतंत्रता अधिक सुरक्षित रह सकेगी। क्रमशः यह भी अनुभव किया जाने लगा कि संसद की सत्ता बढ़ती जा रही है। शासन-कार्य उस दल के हाथ में सौंपा जाने लगा जिसका संसद में बहुमत हो। इस प्रकार दलगत शासन की नींव पड़ी। विलियम और मेरी के सिंहासनारोहण के बाद यह परम्परा और भी मजबूत हो गयी। कुछ समय के लिये सर्वदलीय शासन-प्रथा का प्रयोग किया गया था लेकिन वह असफल रहा और इस कारण यह प्रथा हमेशा के लिये स्थापित हो गयी कि जो दल चुनाव में अधिक मत प्राप्त कर सके वही शासन करे।

बॉलिंगब्रोक (Viscount Bolingbroke)

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंगलैण्ड में दो उल्लेखनीय विचारक पैदा हुए। एक तो वाईकाउण्ट बॉलिंगब्रोक थे और दूसरे डेविड ह्यूम। बॉलिंगब्रोक का जन्म जैसा कि नाम से ही प्रकट है, एक अमीर खानदान में सन् १६७८ में हुआ था। रानी एन (Queen Anne) के जमाने में बॉलिंगब्रोक राजकीय सलाहकार के पद पर थे लेकिन विलियम के सिंहासनारोहण के बाद उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ा। इनके राजनीतिक विचार सम-कालीन पत्रों में प्रकाशित लेखों से प्रकट होते हैं। इन्होंने "क्रैफ्ट्समैन" नाम का एक राज-नीतिक समाचारपत्र निकाला जिसके बारे में कहा जाता है कि वह अपने समय का पहला दलगत मुखपत्र था। इसके पहले राजनीतिक दल कोई मुखपत्र नहीं निकालते थे।

बॉलिंगब्रोक के विचारों के एक सामान्य अवलोकन से ही पता चल जाता है कि वे कट्टरतावादी विचारक थे।

बॉलिंगब्रोक पर लॉक के विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा था और वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य का बड़ा पक्षपाती था। वह राजा के निरंकुश अधिकारों के विरुद्ध था और उसका कहना था कि राजा को संसद के नियंत्रण में कार्य करना चाहिए। उसके प्रजा और राजा के पारस्परिक संबंधों के बारे में अनुबंधवादी विचार थे। वह इंगलैण्ड को एक उन्नतिशील व्यापारिक राष्ट्र के रूप में देखना चाहता था। उसका कहना था कि राजा को देशभक्त[1] होना चाहिए। उसे राष्ट्रीय एकता और व्यक्ति-स्वातंत्र्य दोनों की रक्षा करनी चाहिए। देश में अनैक्य पैदा करने वाले तत्वों को पनपने नहीं देना चाहिए। भ्रष्ट मंत्रियों को निकाल बाहर करना चाहिए। इस प्रकार राजा को प्रजा का प्रिय बनना चाहिए। उसे समझना चाहिए कि "राज्य की सर्वोच्च सत्ता का स्रोत प्रजा ही है। वह संविधान को राजा और प्रजा के बीच हुआ अनुबंध समझता था।" लॉक की ही भाँति वह यह मानता था कि यदि राजा अनुबंध का अर्थात् संविधान की मर्यादा का उल्लंघन करता है तो उसे हटा देने का प्रजा को पूरा-पूरा अधिकार है। वह राज्य की ही नहीं बल्कि प्रत्येक राजनीतिक संवास की उत्पत्ति को अनुबंधात्मक मानता था और कहता था कि यदि किसी संवास की उपयोगिता उसके सदस्यों के लिये नहीं रह जाती तो उसे समाप्त कर देना चाहिए। वह शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का समर्थक था। इसी के आधार पर वह यह मानता था कि नागरिक की स्वतंत्रता सुरक्षित रखी जा सकती है। उसके विचारों से जार्ज तृतीय और डिजरेली बहुत प्रभावित थे। बॉलिंगब्रोक ने मुख्यतः अस्थायी तुच्छ राजनीतिक समस्याओं की ओर ही अधिक ध्यान दिया। उसके राजनीतिक विचार बड़े प्रतिवादात्मक थे और उसके कार्यों तथा शिक्षाओं में परस्पर मेल नहीं खाता। उदाहरणार्थ जब बॉलिंगब्रोक बहुमत में था उस समय वह इस बात पर जोर दिया करता था कि शासनकार्य का भार केवल उस दल को सौंपा जाना चाहिए जिसका बहुमत हो; लेकिन जब वालपोल ने उसे परास्त कर दिया तो वह इस मत का विरोधी हो गया। एक ओर तो वह नैतिकता का बड़ा जबर्दस्त हिमायती बनता था और दूसरी ओर उसने वालपोल के दल को निर्बल बनाने के लिये उसके दल के असंतुष्ट व्यक्तियों को अपनी ओर मिलाने का पूरा यत्न किया। उसके कार्यों और

---

१ 'देशभक्त राजा की कल्पना' Idea of a Patriot शीर्षक निबंध में ये विचार बॉलिंगब्रुक ने प्रकट किये हैं। यह निबंध सन् १७३८ में छपा था।

२ यह संकेत वालपोल के खिलाफ है। बॉलिंगब्रुक वालपोल को भ्रष्टाचारी समझता था और चाहता था कि इस आधार पर उसके राजनीति प्रतिद्वंद्वी को पदच्युत कर दिया जाय।

शिक्षाओं का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो ऐसी और भी बहुत सी बातें मिलेंगी। बॉलिंगब्रोक की मृत्यु सन् १७५१ में हो गई।

डेविड ह्यूम (David Hume)

डेविड ह्यूम का जन्म सन् १७११ में हुआ था। ह्यूम ने कई महत्वपूर्ण निबंध लिखे। ये दो पुस्तकों के रूप में सन् १७४८ और सन् १७५२[1] में प्रकाशित हुए। लॉक और रूसो ने अपना विभिन्नताओं के होते हुए सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त मान लिया था लेकिन ह्यूम ने उसे नहीं माना और इसका कारण उसकी अध्ययन पद्धति थी। ह्यूम ने राजदर्शन के अध्ययन और सिद्धान्त प्रणयन में ऐतिहासिक प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया और सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त की इस दृष्टि से आलोचना की। लेकिन इस आलोचना में उसने सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त की सभी मान्यताओं को नहीं उलट फेंका बल्कि कुछ बातों को माना भी। परन्तु, ह्यूम ने जो भी बातें मानी उनको यथार्थता की कसौटी पर अवश्य कसा और जब वे विवेक और वास्तविकताओं के जगत् में ठीक उतरीं तभी उनको स्वीकार किया। ह्यूम यह मानता था कि राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त तथा सामाजिक अनुबंध द्वारा राज्य के जन्म के सिद्धान्तों की सृष्टि दलगत स्वार्थों की पुष्टि के लिये इंगलैण्ड की ह्विग और टोरी पार्टियों के विचारकों ने कई पीढ़ियों के प्रयत्न के बाद की। इन सिद्धान्तों को पनपने में लगभग सौ बरसों का समय लग गया। ह्यूम ने दोनों सिद्धान्तों का अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि दोनों ही सिद्धान्तों में सत्य का अंश है लेकिन दोनों पूर्णतः सच हों ऐसी बात नहीं है। वह राज्य की उत्पत्ति के दैवी-सिद्धान्त की अपेक्षाकृत कम आलोचना करता है और क्योंकि उसके समय तक दैवी-सिद्धान्त की जड़ें पहले से ही उखड़ गई थीं वह अपना ध्यान मुख्यतः सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्तों को खंडित करने पर केन्द्रित करता है। उसने यह कार्य करने में इतिहास और पर्यवेक्षण दोनों का सहारा लिया। सबसे पहले, उसने सिद्ध किया कि प्राकृतिक दशा में मनुष्य इतना अधिक बुद्धिमान् नहीं था कि अनुबंध (Contract) जैसी किसी जटिल व्यवस्था की कल्पना कर सकता। दूसरे, यदि प्राकृतिक दशा के मनुष्य ने कोई ऐसा अनुबंध किया भी हो तो—वह बाद की पीढ़ियों पर किस प्रकार लादा जा सकता है। तीसरे, किसी भी देश में, या दुनिया के किसी भी कोने में यह बात नहीं मानी जा सकती कि राजसत्ता जनता की सहमति पर आधारित है। ह्यूम का कहना था कि राजसत्ता अधिकारों के अपहरण या सैनिक विजय पर—या दोनों पर आधारित होती है। तो फिर मनुष्य राज्य के अधिकारियों की आज्ञा क्यों मानता है? इस प्रश्न के उत्तर में ह्यूम कई कारण देता है, पहला यह कि व्यक्ति अपनी आदतों और समाज की प्रथाओं का दास होता है; इसलिये वह राज्य की उत्पत्ति के समय से आदतन उसकी आज्ञाएँ मानता चला आया है। दूसरे, यह कि यदि वह ऐसा न करे तो मानव-समाज का अस्तित्व

---

१ पुस्तकों के नाम हैं *Essays, Mora Political & Literary* तथा *Political Discourses.*

2 "Locke and Rousseau, if in different ways and dfferenet degrees accepted the idea of the Social Contract, Hume more historically minded and more conservative in his conviction was its critic," E. Barker in *Social Contract.*

ही कठिन हो जायगा। अस्तु, उसने सलाह दी कि जो भी सत्ता हो—मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी आज्ञाओं का पालन करे।[1]

ह्यूम का कहना था कि सामान्य व्यक्ति राज्य की उत्पत्ति संबंधी समस्याओं पर कभी अधिक ध्यान नहीं देता क्योंकि उसे ऐसा करने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती। यह कार्य केवल कुछ ही लोग करते हैं। यही नहीं यदि हम यह मान भी लें कि व्यक्ति की अनुमति से ही राज्य बनता है तथा शासनतंत्र स्थापित होता है; तो इस अवस्था में हमें यह भी मानना होगा कि व्यक्ति राज्य की सदस्यता और शासन के प्रति अपने उत्तरदायित्वों से मुक्त भी हो सकता है। लेकिन जब हम इस निष्कर्ष की वास्तविकता से तुलना करते हैं तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ऐसा करना कभी संभव नहीं था और न आज हो है। यहाँ ह्यूम शासनतत्र के अस्तित्व का औचित्य मनोविज्ञान के सहारे सिद्ध करने का यत्न करता है। वह कहता है कि शासन और राज्य दोनों का अस्तित्व इसलिये बना हुआ है कि समाज और व्यक्ति के लिये इनको उपयोगिता है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह दूसरों की राय तथा अपने विचारों के अनुसार कार्य करता है और उसके ये विचार इस बात पर आधारित होते हैं कि उनसे उसके हितों की कितनी पूर्ति होती है? चूँकि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है—इसलिये वह कहीं अपने स्वार्थ में दूसरे के स्वार्थों का हनन न कर दे, इसलिए राज्य को बीच में आना पड़ता है।

ह्यूम का शासनतंत्र की लोकप्रियता में कतई विश्वास नहीं था। वह उसे शक्ति का प्रतीक मानता था। वह शासनतत्र का एक कर्तव्य यह भी मानता था कि वह सम्पत्ति का उचित बंटवारा करे। वह हैरिंगटन की इस बात को मानता था कि शासन तंत्र के संघटन में वही वर्ग सक्रिय भाग ले सकता है जो सम्पत्तिवान् हो। वह आने वाले प्रजातंत्रवादी युग का पदचाप सुन रहा था; अतः युग की आवश्यकता की दृष्टि से उसने विचार और समाचारपत्र-स्वातंत्र्य के अधिकार का समर्थन किया। वह व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में इस बात के विरुद्ध था कि राज्य का बहुत अधिक नियंत्रण रहे।

ह्यूम पर स्कॉटिश लेखकों के अलावा लॉक, फ्रांसिस हचसन आदि के विचारों का प्रभाव पड़ा। वह नैतिकता के परम्परागत सिद्धान्तों मे विश्वास न करके सामयिक आवश्यकतानुसार बदली जा सकनेवाली नैतिकता का समर्थक था। उसकी अध्ययन-प्रणाली ने कालान्तर में एडमण्ड बर्क तथा राजनीतिक सिद्धान्तों के निर्धारण में मनोविज्ञान के प्रयोग द्वारा बेंथम को प्रभावित किया।

ह्यूम के विचारों से व्यक्तिवादी अर्थशास्त्री भी प्रभावित हुए थे। ह्यूम की मृत्यु सन् १७७६ में हुई थी।

४. जियाम बेटिस्टा वीको (Giam Battista Vico)

हॉब्स, लॉक और ह्यूम आदि विचारक, इसमें संदेह नहीं कि, राजनीति में मनोविज्ञान को ले आये लेकिन इनमें से एक भी एक ऐसा विचारक नहीं था जिसने इतिहास और

---

1 "Obey the powers that be. It is true that they are ordained by usurpation, or force or both, but you must none the less pay them obedience for the simple reason that society could not otherwise subsist." David Hume as quoted by Sir E. Barker in *Social Contract* Introduction. page Lviii.

मनोविज्ञान का भली भाँति समन्वय करके राजदर्शन के सिद्धान्तों के निरूपण का प्रयोग किया हो। यह कार्य सुप्रसिद्ध इटालियन राजदर्शनशास्त्री वीको ने किया।

वीको का जन्म सन् १६६८ में हुआ था और मृत्यु सन् १७४४ में। वह राजदर्शन के इतिहास में अपनी नवीन पद्धति के कारण अपना नाम चिरस्थायी कर गया है। वीको न्याय्याचार्य था और उसने ग्रोशस तथा फ्रांसिस बेकन के विचारों का गहरा अध्ययन किया था। वह इनके प्राकृतिक विधि संबंधी विचारों से बड़ा प्रभावित हुआ था। राज्य की उत्पत्ति तथा संप्रभुता आदि संबंधी विचारों के क्षेत्र में वह मैकियावली तथा बोदाँ से प्रभावित हुआ था और अपनी तीनों पुस्तकों में इन दार्शनिकों के विचारों को व्यापक रूप से वीको ने उद्धृत किया है।

४.१ **प्राकृतिक विधियाँ**—वीको के प्राकृतिक विधि संबंधी विचार उल्लेखनीय हैं। प्रायः सभी मध्यकालीन विचारकों ने यह स्वीकार किया कि प्राकृतिक विधियाँ विवेकजनित होती हैं। वे यह भी कहते थे कि वे अपरिवर्तनशील होती हैं। वीको यह तो मानता था कि प्राकृतिक विधियाँ सामान्यतः सभी व्यक्तियों पर लागू होती हैं; लेकिन उसका कहना था कि प्राकृतिक विधियाँ अपरिवर्तनशील और स्थिर नहीं होतीं; बल्कि वे प्रगतिशील भी होती हैं। वह यह बात इतिहास के प्रमाणों द्वारा सिद्ध करता है और उसके तर्कों का सार यह है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उसकी प्राकृतिक-विधियों संबंधी कल्पना भी विकसित होती जाती हैं। इसी विकास को वह प्राकृतिक विधियों की प्रगतिशीलता कहता है। दूसरे, वीको का कहना था कि मनुष्य की यह दुर्बलता है कि वह सभी परिस्थितियों और स्थानों में विवेक का समान रूप से प्रयोग नहीं कर पाता। वह मनुष्य मात्र की बौद्धिक समानता में भी विश्वास नहीं करता था। इसीलिये वह हर मानवीय क्षेत्र में विधियों तथा अधिकारों की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करता था।

४.२ **राज्य और शासनतंत्र-संबंधी मत**—वह राज्य की उत्पत्ति के अनुबंधात्मक सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता था। उसने बतलाया कि इतिहास की धारा में अन्य राजनीतिक संवासों की भाँति राज्य का भी क्रमशः विकास हुआ है। वह शासनतंत्रों की चक्रवत परिवर्तनशीलता में विश्वास करता था। वीको ने शासनतंत्रों का जो वर्गीकरण किया है उससे प्रकट होता है कि वह अन्य विचारकों की भाँति अरस्तू के शासनतंत्र के वर्गीकरण को आँखें मूँदकर नहीं मान लेता। वह (१) शासनतंत्र का आधुनिकतम स्वरूप स्वतंत्र राज्य मानता है। स्वतंत्र राज्यों की तुलना वह समकालीन गणतंत्रात्मक या प्रजातंत्रात्मक अथवा राजतंत्रात्मक राज्यों से करता है। उसका कहना है कि इस अवस्था में राजसत्ता एक मनुष्य द्वारा प्रयुक्त की जाती है। वही सारे समाज का प्रतिनिधित्व करता है। (२) इससे पूर्व की शासनतंत्र को अवस्था को वह आभिजात्यतंत्रात्मक कहता है जिसमें परिवारों के अध्यक्ष शासन करते हैं। (३) शासनतंत्र की प्राथमिक अवस्था वह धर्मतंत्रात्मक मानता है। उसका कहना है कि उस समय शासनकार्य ईश्वरीय आदेशों द्वारा संचालित होता था। उसने मिश्रित शासनतंत्रों को भी माना लेकिन वह उन्हें अस्थायी या अन्तरिम काल की अवस्था मानता था। वह व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध था। उसने अरस्तू का यह सिद्धान्त मान लिया था कि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक होता है। वह व्यक्ति नहीं बल्कि बोदाँ की भाँति परिवार को महत्व देता था। वीको ने प्लेटो के प्रभाव के अन्तर्गत यह बात स्वीकार की कि समन्वय में ही मनुष्य-जीवन का सारा सुख निहित है। इसी आधार पर उसका कहना था कि मानवीय जीवन के धार्मिक नागरिक, राजनीतिक और नैतिक जीवन एक दूसरे से गुँथे हुए और समन्वित रहने चाहिये। राष्ट्रीय वातावरण, भूगोल और इतिहास का किसी देश के नागरिकों के चरित्र-निर्माण म बहुत बड़ा हाथ रहता है—यह बात वीको के प्रभावान्तर्गत मॉण्टेस्क्यू ने भी स्वीकार की थी।

वीको का इतिहास-दर्शन (Philosophy of History) विशेष रूप से जानने योग्य है। इस दर्शन में वह अपना त्रिविधिक सिद्धान्त (Theory of Triad) स्थिर करता है। वह कहता है कि इस भौतिक जगत् के समस्त पदार्थों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है, अर्थात् (१) शक्ति, (२) ज्ञान और (३) इच्छा। वह प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक चरित्र की, प्रत्येक समाज की तीन अवस्थाओं की कल्पना करता है। यद्यपि वह अपने इस सिद्धान्त को भली भाँति प्रतिपादित नहीं कर पाया लेकिन इस सिद्धान्त के आधार पर काण्ट आदि ने काफी प्रगति की और उसे एक नया रूप दिया।

५. टॉमेशियस और वुल्फ (Christian Thomasius & Christian Wolff)

पिछले अध्याय में हम दार्शनिक पफेनडर्फ के विचारों पर संक्षेप में प्रकाश डाल आये हैं। पफेनडर्फ सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्थ का विचारक था; उसके विचारों की पृष्ठ-भूमि द्वारा एक बात तो जानी ही जा सकती है कि उन दिनों भी जर्मन बुद्धिवादियों पर धार्मिक प्रभाव काफी मात्रा में था। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में स्थिति यह थी कि पवित्र रोमन साम्राज्य का हवाई किला न जाने कब का धूल-धूसरित हो चुका था। छोटे-छोटे राज्य शेष अवश्य थे और वह सामन्तवादी युग की याद दिलाते थे। इन राज्यों के छोटे-छोटे राजा थे जो आपस में अपने निरंकुश अधिकारों के लिये सदैव परस्पर संघर्ष किया करते थे। पफेनडर्फ ने बौद्धिक जीवन को विवेकाधारित पथ पर चलाने की चेष्टा की। उसी की परम्परा में अठारहवीं शताब्दी में क्रिश्चियन टॉमेशियस और क्रिश्चियन वुल्फ—य दो विद्वान् और हुए।

क्रिश्चियन टॉमेशियस का जन्म सन् १६५५ में हुआ। वह मुख्यतः न्यायशास्त्र का विद्वान् था और उसने विधि विज्ञान तथा नीति आदि का विशेष रूप से अध्ययन किया था। उसने विधि और नैतिकता (Law and Morality) का क्षेत्र बिलकुल अलग-अलग कर दिया। प्राकृतिक विधियों को मानवीय विधियों का मूलस्थान बतलाते हुए टॉमेशियस ने यह बतलाया कि प्राकृतिक अधिकार और नागरिक अधिकारों में क्या अन्तर है। उसका कहना था कि अपने जीवन की रक्षा करना जहाँ मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार है वहाँ सम्पत्ति रखने का अधिकार कृत्रिम है क्योंकि यह अधिकार उसे राजकीय विधियों द्वारा मिलती है। टॉमेशियस इससे और अधिक आगे नहीं बढ़ा। टॉमेशियस की पुस्तक जिसमें उसने अपने उक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, सन् १७०५ में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक का नाम "फण्डामेण्टा जूरिस नेचर एट जेण्टियम" (Fundamenta Juris nature et gentium) है। उसकी मृत्यु सन् १७२८ में हुई।

क्रिश्चिन वुल्फ का जन्म सन् १६७९ में हुआ था। वह हैले विश्वविद्यालय में प्राध्यापक (प्रोफेसर) था। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक डाइ पॉलिटिक (Die Politik) है जो १७२१ में छपी। वुल्फ की मृत्यु सन् १७५४ में हुई। वुल्फ अपने समय का सबसे लोकप्रिय विचारक था। उस पर ग्रोशस और पफेनडर्फ का बड़ा प्रभाव पड़ा। वुल्फ की महत्ता इसलिये है कि उसने विभिन्न राजनीतिक शब्दों की उचित परिभाषाएँ दीं जिनके अभाव में उन शब्दों के अर्थ लुप्त हुए जा रहे थे। मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण करने में वुल्फ ने लॉक से सहायता ली और बतलाया कि प्राकृतिक विधियाँ मनुष्य के नैतिक स्वभाव की परिचायक हैं। उसने प्राकृतिक अधिकारों का भी इसी प्रकार विश्लेषण किया। पफेनडर्फ की भाँति वुल्फ यह मानता था कि सब मनुष्य समान हैं। उनके अधिकार और कर्तव्य भी समान हैं। वुल्फ अनुबंधवादी सिद्धान्त में विश्वास करता था। उसका कहना था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य द्वारा अपने अधिकारों के समर्पण से हुई। लेकिन लॉक के

समान उसने कहा कि इस अनुबंध में व्यक्ति न अपने समस्त अधिकारों को समर्पित नहीं कर दिया। उसने केवल कुछ ही अधिकारों को समर्पित किया। राज्य का कर्तव्य है कि वह मानवकल्याण की अधिक-से-अधिक चिन्ता करे।

सन् १७४० में प्रशा (आधुनिक जर्मनी) के **राजा फ्रेडरिक** ने भी राजदर्शन के चिन्तन के क्षत्र में सिंहासनारोहण के पूर्व और उसके बाद भी सक्रिय भाग लिया। फ्रेडरिक मकियावली सिद्धान्तों का खुला विरोधी था और उसने मैकियावली की बड़ी आलोचना की। वह राज्य और व्यक्ति की नैतिकता का अलग-अलग होना नहीं मानता था। लेकिन उसका मैकियावली का विरोध मुँह तक ही सीमित रहा। फ्रेडरिक महान् के युग के इतिहास-कारों का कहना है कि मैकियावली का विरोध करते हुए भी फ्रेडरिक ने राजदर्शन के मैकिया-वली द्वारा प्रतिपादन अनेक सिद्धान्तों का अक्षरशः अनुकरण किया। फ्रेडरिक ने मैकियावली के विरुद्ध एक पुस्तक लिखी जिसका नाम **एण्टी मैकियावली** (Anti-Machiavli) है और जो सन् १७३९ में प्रकाशित हुई। इसमें फ्रेडरिक ने यह साफ-साफ लिखा कि राजा को निस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए। उसे अपने नैतिक आचरण द्वारा प्रजा के समक्ष आदर्श उपस्थित करना चाहिए। वह मैकियावली की राजा संबंधी इस कल्पना पर पूर्ण असहमति प्रकट करता था कि राजा को "स्वार्थी, निरंकुश और महत्वाकांक्षी" होना चाहिए।

६. मॉण्टेस्क्यू के पूर्व फ्रांस की राजनीतिक अवस्था

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे यदि हम फ्रांस की राजनीतिक अवस्था जानने की चेष्टा करें तो यह ज्ञात होने में हमें अधिक समय नहीं लगेगा कि वहाँ राजतंत्र होते हुए भी राज्य भर में सामन्तवादी व्यवस्था का बोलबाला था। प्रजा पर एक ओर तो राजा की ओर से कर लगाये जाते थे और दूसरी ओर सामन्तों का यह प्रयत्न जारी रहता था कि वे गरीब किसानों से अधिक-से-अधिक धन चूस कर अपने कोष भर लें। राज-व्यवस्था में या तो राजवंश के लोग पूछे जाते थे या सामन्तों के संबंधी। शेष व्यक्तियों की न कोई सामा-जिक स्थिति थी और न उनको कोई राजनीतिक अधिकार ही प्राप्त थे। लेकिन इस व्यवस्था के बीच में एक वर्ग तेजी के साथ पनप रहा था और वह था व्यापारियों का वर्ग। यह वर्ग न तो भुखमरा था और न इसके पास सामन्तों और राजवंशों के संबंधियों-सी अतुल सम्पत्ति ही थी, लेकिन भविष्य इसके हाथ में जरूर था। यह वर्ग ही वस्तुतः मध्यवर्ग था। किसानों की भाँति राजतंत्र और सामन्तवादी शासन की चक्की में मध्यवर्ग भी पिस रहा था। राजदरबार के खर्च इतने अधिक बढ़ गये थे कि राज्य का खजाना खाली हो गया था और फ्रांस पर विदेशी कर्ज चढ़ गया था। ऐसी दशा में राजस्व की वसूली के लिये सख्ती होना स्वाभाविक थी। लेकिन इस सख्ती से प्रजा की बिगड़ी हुई अवस्था भी नहीं सुधर सकती थी। इस समस्या ने एक नयी और क्रान्तिकारी राजनीतिक विचारधारा को जन्म दिया। इस विचारधारा के परिणामस्वरूप स्थिति में सुधार नहीं हुआ अपितु राजा तथा शासक वर्ग और प्रजा के बीच विरोध की खाई और भी अधिक बढ़ गयी। इसी बीच चौदहवें लुई का देहान्त हो गया। इस घटना के बाद राज्याधिकारियों की दमन नीति और भी अधिक बढ़ गयी। दमन के बढ़ने के साथ ही मध्यवर्ग के विचारकों का एक ऐसा दल उठ खड़ा हुआ जो राजनीतिक दृष्टि से अधिक जागरूक था। इसके अलावा लॉक के निरंकुश राजतंत्र-विरोधी विचारों का भी फ्रांस में असर हुआ था। कुछ तो राजतंत्र की अपनी नीति के कारण, कुछ विदेशी अँग्रेजी राजनीतिक विचारों के कारण और कुछ मध्यवर्ग की राजनीतिक जागरूकता के फलस्वरूप, फ्रांसवासी यह महसूस करने लगे कि उनका कल्याण इसी में है कि निरंकुश राजतंत्र का खातमा कर दिया जाय। लेकिन

जनता का इन राजतन्त्रविरोधी भावनाओं की तरफ फ्रांस के शासक वर्ग ने कोई ध्यान नहीं दिया और वह बराबर अपने स्वार्थों की पूर्ति में ही लगा रहा। इधर फ्रांसीसी विचारकों ने इंगलैण्ड जा-जाकर वहाँ से राजनीतिक शिक्षा ली और फ्रांस के अनुत्तरदायी राजतंत्र की खुल कर निंदा की। इस प्रकार जब मॉण्टेस्क्यू ने फ्रेंच राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय राजतंत्र-विरोधी वर्ग खड़ा हो चुका था।

७. माण्टेस्क्यू (Montesquieu)—जीवन-परिचय, ग्रंथ और अध्ययन पद्धति

७.१ जीवनी—मॉण्टेस्क्यू (Baron De Monstesquieu) का जन्म सन् १६८९ में एक फ्रेंच वकील के घर में हुआ था। उसे अपने जीवन के आरंभ से ही कानून की शिक्षा मिली थी। लेकिन उसका अध्ययन कानून तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि उसने इतिहास और साहित्य का भी गहरा अध्ययन किया। वह मध्यवर्ग का प्रतिनिधि था और उसके समय में अनुत्तरदायी शासनतंत्र के विरुद्ध जो बुद्धिवादी आन्दोलन चल रहा था—उसमें उसकी रुचि स्वाभाविक थी। वह बोर्डों की संसद का अध्यक्ष चुना गया था। इसके अतिरिक्त वह यूरोप और इंगलैण्ड भी घूम चुका था। यह यात्राएँ उसने सन् १७२८ से ३१ तक की थीं। यात्राओं का उद्देश्य राजनीतिक संवासों का अध्ययन करना था। वह जीवन भर राजनीति और दर्शन के संबंध में लिखता रहा। वह इंगलैण्ड की रॉयल सोसाइटी का सम्मानित सदस्य था। एक अजीब बात यह भी है कि उसके राजनीतिक विचारों का विदेशों पर तो प्रभाव पड़ा लेकिन फ्रांस ने मॉण्टेस्क्यू के विचारों से कोई लाभ नहीं उठाया। उसकी मृत्यु सन् १७५५ में ६६ वर्ष की अवस्था में हुई।

७.२ ग्रंथ—मॉण्टेस्क्यू के तीन ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त भी उसने बहुत से फुटकर निबंध लिखे हैं। "पर्शियन लेटर्स" (Persian Letters 1721) "कान्सीडरेशन्स ऑन ग्रेटनेस एण्ड डिके ऑफ रोमन्स" (Considerations on Greatness and Decay of Romans. 1734) और "दि स्पिरिट ऑफ लॉज" (The Spirit of Laws, 1748) उसकी प्रमुख पुस्तकों के नाम हैं। पहली पुस्तक उसके समकालीन राजनीतिक स्थिति पर व्यंगात्मक लेखों का संग्रह है। इसमें उसने तत्कालीन फ्रेंच समाज की मूर्खताओं की खूब खिल्ली उड़ायी है। इन लेखों में उसने मूढ़ सामाजिक रूढ़ियां और धार्मिक अंधविश्वासों का भी मजाक उड़ाया है। दूसरी पुस्तक में उसकी वे प्रतिक्रियाएं हैं जो विभिन्न देशों के इतिहासों के अध्ययन के परिणामस्वरूप उस पर हुई थीं। तीसरी पुस्तक राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह पुस्तक मॉण्टेस्क्यू ने सत्रह वर्ष के अध्ययन के बाद लिखी और यह कुल ३१ अध्यायों में विभक्त है। मोटे तौर पर विचारों के आधार पर इसे छः भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम भाग में विधियों की परिभाषा, उनकी उत्पत्ति, शासनतंत्र तथा उनका वर्गीकरण आदि किया गया है। दूसरे में सैनिक व्यवस्था तथा राजस्व आदि संबंधी विचार प्रकट किये गये हैं। तीसरे भाग में सामाजिक परम्पराओं की व्याख्या करते हुए यह बतलाया गया है कि नागरिकों के चरित्र-निर्माण में देश विशेष के भौगोलिक वातावरण का कितना असर पड़ता है। चौथे में आर्थिक विषयों और पाँचवें में धर्म संबंधी समस्याओं के बारे में मॉंटेस्क्यू के विचार हमें मिलते हैं। छठे भाग में विभिन्न देशों की विधियों पर विचार प्रकट किये गये हैं।

७.३ अध्ययन-पद्धति—मॉण्टेस्क्यू की अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक थी। लेकिन इस दृष्टि से उस पर मैकियावली का प्रभाव अधिक पड़ा था। वह ऐतिहासिक सिद्धान्तों के आधार पर घटनाओं का विश्लेषण नहीं करता था; बल्कि कुछ घटनाओं के संबंध में अपना मत निर्धारित करके उनकी पुष्टि ऐतिहासिक प्रमाणों से करता था। मॉण्टेस्क्यू पर बौद्धिकतावादियों या आदर्शवादियों का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। वह सामाजिक और राजनीतिक

संवासों के अध्ययन में विश्वास करता था। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उसकी पद्धति पर्यवेक्षणात्मक थी। वह उपयोगिता के आधार पर राजनीतिक संवासों के बारे में दृष्टिकोण स्थिर करता था। इस दृष्टि से हमें मॉण्टेस्क्यू की अध्ययनपद्धति में अनुभूतिमूलकता दिखाई पड़ती है। लेकिन माण्टेस्क्यू की पद्धति ऐतिहासिक, पर्यवेक्षणात्मक यथार्थवादी और अनुभूतिमूलक ही नहीं थी—बल्कि उसमें एक उल्लेखनीय तत्व तुलनात्मक अध्ययन का भी था। वह विश्वास करता था कि प्रत्येक सामाजिक संवास का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार इन संबंधों द्वारा राजनीति का मार्ग प्रशस्त होता है। आधुनिक राजदर्शन के इतिहास में इस प्रकार की अध्ययन-पद्धति को काम में लाने का श्रेय मॉण्टेस्क्यू को ही है। उसके पूर्व मैकियावली और बोदाँ ने भी राजनीति में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया था लेकिन उनकी पद्धति इतनी व्यापक नहीं थी। मॉण्टेस्क्यू ने इतनी व्यापक पद्धति सहित प्रथम बार न केवल राजदर्शन के क्षेत्र में प्रवेश किया बल्कि उसे न्यायशास्त्र (Jurisprudence) में भी ले गया।

मॉण्टेस्क्यू की अध्ययन-पद्धति का यदि विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि वह प्लेटो और लॉक के बजाय अरस्तू और बोदाँ से अधिक मिलती-जुलती है।

लेकिन यह कहना अत्यन्त भ्रामक होगा कि मॉण्टेस्क्यू की अध्ययन-पद्धति सर्वथा दोषहीन थी और उसमें कोई त्रुटि ही नहीं थी। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उसने ऐतिहासिक अनुसंधान-पद्धति का उस प्रकार प्रयोग नहीं किया जिस प्रकार होना चाहिए था। दूसरे उसकी पद्धति सच्चे अर्थों में अनुभूतिमूलक भी नहीं थीं। अपने सिद्धान्तों और मतों को पुष्ट करने के लिये न तो उसके पास अनुभवाधारित प्रमाण थे और न उसने अनुभूति द्वारा प्रमाणों को प्राप्त करने का कोई यत्न ही किया।

८. पूर्ववर्त्तियों का माण्टेस्क्यू पर प्रभाव

मॉण्टेस्क्यू पर प्लेटो से अरस्तू का अधिक प्रभाव पड़ा था। इसी प्रभाव की वजह से वह प्लेटो की भाँति कल्पनावादी नहीं हुआ बल्कि अरस्तू की तरह यथार्थवादी हो गया। उस पर संप्रभुता आदि सांविधानिक बातों में बोदाँ और मैकियावली का भी असर पड़ा था। उसने लॉक के साहित्य का अत्यन्त विस्तारपूर्वक अध्ययन किया था। अपने समकालीन अँग्रेज विचारकों में बॉलिंगब्रुक, हैरिंगटन और ब्लैकस्टोन से उसका अन्यन्त घनिष्ठ संबंध था। उसने यूनानी राजदर्शन के साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन रोम के इतिहास का भी खूब अध्ययन किया था। उसके दृष्टिकोण को एक निश्चित रूप प्रदान करने में तत्कालीन यात्रा साहित्य का भी कम हाथ नहीं था।

८.१ मॉण्टेस्क्यू की समस्याएँ——इसके पहले कि हम मॉण्टेस्क्यू के राजदर्शन संबंधी विचारों पर प्रकाश डालना आरंभ करें——यह अधिक अच्छा होगा कि हम उसकी समस्याओं को समझ लें। इससे हमें यह ज्ञात हो जायगा कि राजदर्शन (Political Philosophy) के क्षेत्र में मॉण्टेस्क्यू ने किस दृष्टिकोण से प्रवेश किया था।

मॉण्टेस्क्यू समकालीन फ्रांस में फैली अव्यवस्था तथा अशान्ति से असन्तुष्ट था। वह देख रहा था कि एक ओर तो राजवंश के लोगों तथा सामन्तों के पास अपार सम्पत्ति जमा हो गयी थी जिसके बल पर वह वर्ग ऐश-आराम की जिन्दगी व्यतीत कर रहा था और दूसरी ओर साधारण मजदूर और किसान जनता थी जो भूखों मर रही थी। इन दो परस्पर-विरोधी अवस्थाओं से मॉण्टेस्क्यू को यह लगा कि फ्रांस के राजतांत्रिक यंत्र में कहीं-न-कहीं खराबी अवश्य है और उसे दूर करने के लिये वह सचेष्ट हो गया।

मॉण्टेस्क्यू अपने उत्तराधिकारियों की तरह आमूल परिवर्तन का हिमायती नहीं था। वह सुधार चाहता था। उसकी इच्छा थी कि शासन की समस्याओं के सुलझाने में व्यावहा-

रिक सहायता दी जाय जिससे उसमें दक्षता आ सके। यही कारण है कि कल्पनावादियों की तरह वह राजा और उसके अधिकारों के बारे में ख्याली घोड़े नहीं दौड़ाता रहा। उसने नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों पर भी इसलिए अधिक ध्यान नहीं दिया। सच तो यह है कि वह काल्पनिक सिद्धान्तों के फेर में पड़ना ही नहीं चाहता था। अतएव हम देखते हैं कि उसकी दृष्टि मुख्यतः फ्रांस के राजनीतिक सुधार की ओर केन्द्रित थी लेकिन इसके साथ ही उसने अपने व्यापक दृष्टिकोण की वजह से कुछ सार्वभौमिक महत्व के भी विचार प्रकट किये।

९. सामाजिक और राजनीतिक संवाद तथा विधियाँ

मॉण्टेस्क्यू मनुष्य और उसके स्वभाव को एक अनिवार्य सामाजिक ताने-वाने में देखता था। उसका मत था कि प्रत्येक सामाजिक और राजनीतिक संवास के लिये मनुष्यों की सदस्यता आवश्यक होती है और जिस प्रकार एक मनुष्य का अस्तित्व दूसरे मनुष्यों से संबंधों पर आधारित है उसी प्रकार सामाजिक और राजनीतिक संवास भी एक दूसरे से स्वभावतः संबद्ध होते हैं। इसके बाद विधियों की चर्चा करने के पहले मॉण्टेस्क्यू ने मनुष्य के स्वभाव की भी चर्चा की। उसने बतलाया कि मनुष्य प्रारम्भ में किसी ऐसी अवस्था में अवश्य था जब राज्य नहीं था। इस अवस्था को अन्य विचारकों की भाँति उसने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था बतलाया। मॉण्टेस्क्यू का मत था कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य सदैव भयभीत रहा करता था। प्राकृतिक अवस्था की यह कल्पना लॉक और हॉब्स दोनों से भिन्न है। लॉक ने बतलाया था कि प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य बहुत अधिक बुद्धिमान था और हॉब्स ने कहा कि वह निर्दयी और निष्ठुर था, लेकिन मॉण्टेस्क्यू ने लॉक और हॉब्स दोनों से भिन्न मत प्रकट करते हुए कहा कि प्राकृतिक अवस्था में पहले तो मनुष्य भयभीत रहता था लेकिन क्रमशः उसका ज्ञान बढ़ा। ज्ञान की वृद्धि के साथ उसका भय तथा एकदूसरे को समान समझने की प्रवृत्ति लुप्त हो गयी और वह यह चाहने लगा कि अपने से कमजोर व्यक्तियों को दबा ले और उन पर शासन करने लगे। शासन करने की इस इच्छा के फलस्वरूप यह स्वाभाविक था कि युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती क्योंकि सभी एक दूसरे का दमन कर उस पर शासन करने की बात सोचने लगे थे। अन्त में यह अवस्था आ गयी कि कुछ बलवानों ने निर्बलों को दबा लिया और राज्य की स्थापना हुई। इस प्रकार वह राज्य की उत्पत्ति के अनुबंधात्मक सिद्धान्त का खण्डन कर देता है। वह कहता है कि राज्य किसी अनुबंध के कारण नहीं बल्कि उपयुक्त वातावरण की वजह से पैदा हुआ। राज्य की यह आवयविक (organic) कल्पना है। इसके साथ ही तीन प्रकार की विधियाँ भी विकसित हुईं। ये विधियाँ मनुष्य के तीन प्रकार के संबंधों से संबद्ध थीं। वे संबंध थे--(१) एक राज्य के निवासियों के दूसरे राज्य के निवासियों से संबंध (२) राज्य के शासक के साथ शासितों के संबंध और (३) शासितों या नागरिकों के पारस्परिक संबंध। पहले संबंधों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का जन्म और विकास हुआ; दूसरे प्रकार के संबंधों के कारण राजकीय विधियाँ बनीं और तीसरे प्रकार के संबंधों की वजह से नागरिक विधियाँ बनीं। अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का तथा शेष दो प्रकार की विधियों में मॉण्टेस्क्यू ने यह अन्तर बतलाया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ सभी राज्यों में समान होती हैं जब कि राजकीय विधियाँ और नागरिक विधियाँ प्रत्येक राज्य में अलग-अलग प्रकार की होती हैं।

अपनी पुस्तक 'दि स्पिरिट ऑफ लॉज' में मॉण्टेस्क्यू का पहला वाक्य ही विधियों की उत्पत्ति से संबंधित है। वह कहता है "विधि का अर्थ है वह अनिवार्य संबंध है जो एक वस्तु से दूसरी वस्तु के साथ स्वभावतः उत्पन्न हो जाते हैं।" प्राकृतिक विधियों को वह न्यायपूर्ण मानता है क्योंकि वे मनुष्य के स्वाभाविक विवेक पर आधारित होती हैं।

प्राकृतिक विधियों की प्रकृति ही शांति की स्थापना करना और सामाजिक सुख-शांति बनाये रखना होती है।

मॉण्टेस्क्यू ने विस्तारपूर्वक बतलाया है कि विधियाँ सापेक्ष (Relative) होती हैं। आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन होता है और होना भी चाहिए। वह किसी भी प्रकार की विधियों की अपरिवर्तनीयता (Immutability) नहीं मानता था। मॉण्टेस्क्यू चूँकि किसी प्रकार की कल्पना में विश्वास नहीं करता था और इसी आधार पर कहता था कि सभी प्रकार का ज्ञान एक दूसरे से संबद्ध है; इसीलिये उसने यह भी कहा कि विधियाँ उन संबंधों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो एक दूसरे के लिये स्वभावतः या अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू ने बतलाया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ, नागरिक विधियाँ, राजकीय विधियाँ और प्राकृतिक विधियाँ सभी एक दूसरे से संबंधित हैं। विधियाँ मनुष्य की बुद्धि और मानवजाति के विकसित पारस्परिक संबंधों पर प्रकाश डालती हैं। उनसे सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं का रूप परिलक्षित होता है। उनसे मनुष्य के जीवन में नियमितता आती है और इसके साथ ही गतिविधियाँ भी नियंत्रित होती हैं। मॉण्टेस्क्यू अन्तर्राष्ट्रीय, राजकीय और नागरिक विधियों को सकारात्मक विधियों (Positive Laws) की श्रेणी में रखता था और कहता था कि सभी प्रकार की सकारात्मक विधियों को राष्ट्रीय परम्पराओं पर आधारित होना चाहिए। इन विधियों का मूल समाज ही है। राजकीय विधियों (State or Political Laws) को ऐसा होना चाहिए कि उनसे राज्यवासियों का राष्ट्रीय चरित्र झलकता हो। यदि कोई राजकीय विधि राष्ट्रीय चरित्र के प्रतिकूल होगी तो मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार वह असफल हो जायगी। इसी प्रकार नागरिक विधियाँ अनिवार्यतः सामाजिक और भौगोलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली होनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि विधियों को मानवीय, सामाजिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रतिनिधि मानकर मॉण्टेस्क्यू ने विधियों संबंधी कल्पना को अपेक्षाकृत व्यापक बना दिया। विधियों की इस व्यापकता के कारण निस्संदेह उनकी उपयोगिता बहुत कुछ बढ़ गयी।

१०. शासन-तंत्र (सरकारें)

मनुष्य के स्वभाव और राज्य की उत्पत्ति पर विचार कर लेने के बाद विधियों की उत्पत्ति तथा उनके वर्गीकरण और तत्संबंधी मॉण्टेस्क्यू की कल्पना की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। इसके बाद मॉण्टेस्क्यू ने शासनतंत्रों के संबंध में भी अपने विचार प्रकट किये। इन विचारों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। मॉण्टेस्क्यू ने सबसे पहले तो यह बतलाया कि शासनतंत्र के मौलिक सिद्धान्त क्या होने चाहिए। इसके बाद यह बतलाया कि शासनतंत्रों का वर्गीकरण किस प्रकार होना चाहिए। अन्त में उसने बतलाया कि सर्वोत्तम शासनतंत्र क्या होता है।

१०.१ शासनतंत्र के मौलिक सिद्धान्त–शासनतंत्रों के मौलिक सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए मॉण्टेस्क्यू ने बतलाया कि प्रत्येक प्रकार के शासनतंत्र के अपने-अपने अलग-अलग कुछ मौलिक सिद्धान्त होते हैं। लेकिन मॉण्टेस्क्यू ने शासनतंत्रों का वर्गीकरण दो प्रकार के आधारों पर किया। पहला यह कि कितने व्यक्तियों के हाथ में राजनीतिक सत्ता रहती है और दूसरा यह कि उस राजसत्ता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। मॉण्टेस्क्यू ने बतलाया कि शासनतंत्र के उक्त दोनों सिद्धान्त शासनतंत्र की मूल प्रकृति से अधिक महत्वपूर्ण हैं। सिद्धान्तों की संज्ञा मॉण्टेस्क्यू ने उन "मानवीय भावनाओं" को दी जिनकी वजह से "शानसतंत्र चलता है।" किसी शासनतंत्र की एक निश्चित रूपरेखा को ही मॉण्टेस्क्यू उस शासनतंत्र की प्रकृति मानता है।

१०.२ शासनतंत्रों का वर्गीकरण—मॉण्टेस्क्यू ने शासनतंत्रों को तीन वर्गों में विभाजित किया है जिनके नाम इस प्रकार हैं : गणतंत्र (Republic), राजतंत्र या नृपतंत्र (Monarchy) और निरंकुशतंत्र (Despotism)। गणतंत्र का मॉण्टेस्क्यू ने दो और विभागों में विभाजन किया है। गणतंत्र के उसने ये दो प्रकार बतलाये हैं : आभिजात्यतंत्र और प्रजातंत्र।

गणतंत्र में, चाहे वह आभिजात्यतंत्र हो और चाहे प्रजातंत्र, शासनतंत्र देशभक्ति पर आधारित रहता है। प्रत्येक नागरिक का गणतंत्रात्मक राज्य में इतना अधिक मानसिक विकास हो जाता है कि वह सदैव जनसेवा के लिये तत्पर रहता है और अपना प्रत्येक कार्य इस दृष्टि से करता है कि देश का कल्याण हो। वह राज्य के हित के लिये अपने स्वार्थों और निजी हितों के वलिदान से जरा भी नहीं हिचकिचाता। ऐसे राज्य में नागरिकों के चरित्रवान् और गुणयुक्त होने पर विशेष ध्यान दिया जाता है और तदनुसार अवसर प्रदान किये जाते हैं। इस प्रकार के राज्य में प्रत्येक नागरिक के हृदय में सार्वजनिक सेवा का भाव पैदा हो जाता है। गणतंत्र का प्रत्येक नागरिक राजनीतिक दृष्टि से बड़ा जागरूक होता है। इस प्रकार गणतंत्र चाहे आभिजात्यतंत्रात्मक हो या प्रजातंत्रात्मक उसके शासन के मूलतत्व देशभक्ति, देशकल्याण-चिन्तन, सार्वजनिक सेवा का भाव और वलिदान की भावना होते हैं।

राजतंत्र में समूची राजसत्ता एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में चली जाती है जो विधिवत् (lawfully) शासन करता है। इसमें वे मौलिक तत्व नहीं रहते जो गणतंत्र में रहते हैं। राजतंत्र में व्यक्ति मान-रक्षा और मर्यादा की भावना से शासन करता है।

निरंकुशतंत्र में राजतंत्र की भाँति शासन तो एक ही व्यक्ति के हाथ में रहता है लेकिन विभिन्नता यह होती है कि उसमें राजा इस बात की परवाह नहीं करता कि वह शासन विधिवत् ही करे। वह अधिकांशतः ऐसे कृत्य कर डालता है जिसमें विधियों का उल्लंघन किया गया हो। प्रजा वराबर निरंकुश राजा से भयभीत रहती है और भय के कारण ही सारे कार्य करती है। निरंकुशतंत्र में सारे प्रजाजन दास बना दिये जाते हैं।

१०.३ आदर्श शासनतंत्र की कल्पना—सच तो यह है कि मॉण्टेस्क्यू ने अपने आप में किसी शासनतंत्र को आदर्श शासनतंत्र माना ही नहीं। उसका कहना था कि किसी भी विधि या किसी भी प्रकार के शासनतंत्र को काल्पनिक और सार्वभौमिक आधार पर अच्छा या बुरा नहीं बताया जा सकता। इसका निश्चय तो केवल ऐतिहासिक और सापेक्षिक आधार पर ही किया जा सकता है।[1] इस प्रकार शासनतंत्र के प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्गों को क्रमशः "प्रकाश, गोधूलि और अंधकार" (Light, Twilight and Darkness) बतलाया गया है। गणतंत्र 'प्रकाश' है, क्योंकि उसमें व्यक्ति के मानसिक विकास पर सर्वाधिक वल दिया जाता है। गणतंत्र में वह इस बात की चिन्ता नहीं करता कि शासन-सत्ता कुछ व्यक्तियों के हाथ में रहती है या बहुत से व्यक्तियों के हाथ में। वह सबसे अधिक इस तत्व पर वल देता है कि उसमें व्यक्ति के गुणों का समुचित विकास होता है या नहीं। लेकिन ऐसा गणतंत्र, मॉण्टेस्क्यू की राय में केवल छोटे राज्यों के लिये ही अधिक उपयुक्त होता है।

---

1 "Montesquieu's fundamental doctrine is that laws and forms of government cannot be properly judged to be good or bad abstractly and universally, but only historically and relatively." E. M. Sidgewick in *Lectures on the Development of European Polity* p. 372.

बड़े-बड़े राज्यों के लिये राजतंत्र ही सर्वाधिक उपयुक्त होता है। मॉण्टेस्क्यू निरंकुशतंत्र का विरोधी था। वह गणतंत्र को आदर्श शासनतंत्र अवश्य मानता था लेकिन व्यावहारिक नहीं क्योंकि गणतंत्र की जैसी कल्पना उसने की वह मुख्यतः यूनानी नगर-राज्यों जैसे अपेक्षाकृत कम क्षेत्रवाले राज्यों में ही लागू हो सकती थी। आधुनिक देश-राज्यों के लिये वह राजतंत्र को ही सर्वोत्तम मानता था। राजतंत्र को सर्वोत्तम मानने का एक कारण यह भी था कि उसे फ्रांस के राजतंत्र से प्रेम था। दूसरा कारण यह था कि वह यथार्थवादी था और जानता था कि राजतंत्र को जड़ उखाड़ना आसान नहीं है। लेकिन वह फ्रांस के समकालीन शासनतंत्र को निरंकुशतंत्र मानता था। उसने निरंकुशतंत्र की जो व्याख्या[1] की वह तत्कालीन फ्रांस के शासनतंत्र के बारे में पूरी तरह लागू होती थी।

१०.४ **आलोचना**—मॉण्टेस्क्यू ने तीन प्रकार के शासनतंत्र तो वर्गीकरण द्वारा बतला दिये लेकिन वे व्यापक होते हुए भी अपने आप में सीमित और चुने हुए-से प्रतीत होते हैं। यद्यपि प्रत्येक प्रकार के शासनतंत्र के मूलतत्वों या सिद्धान्तों को भी मॉण्टेस्क्यू ने बतलाया लेकिन कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं बताया जिसके आधार पर हम तीनों शासनतंत्रों को एक कसौटी पर जाँच सकें। उदाहरण के लिये यदि इस आधार पर हम मॉण्टेस्क्यू के वर्गीकरण को देखें कि राजसत्ता कितने व्यक्तियों के हाथ में रहती है तो निरंकुशतंत्र और राजतंत्र का भेद लुप्त होता दिखलायी पड़ेगा; क्योंकि दोनों ही शासनतंत्रों में सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि शासनतंत्रों के वर्गीकरण में मॉण्टेस्क्यू ने निश्चित सिद्धान्तों का प्रयोग नहीं किया। यदि सांविधानिकता के आधार पर देखा जाय तो गणतंत्र और निरंकुशतंत्र दोनों ही विधिहीन प्रतीत होंगे क्योंकि इनमें कोई भी इस बात के लिये बाध्य नहीं कि वह विधिपूर्वक शासन करे। इसके अलावा उसका वर्गीकरण पर्यवेक्षण और तुलनात्मक अध्ययन पर भी आधारित नहीं है। इनके अतिरिक्त मॉण्टेस्क्यू यह तो स्वीकार करता है कि कोई भी शासनतंत्र भ्रष्ट हो सकता है; शासनतंत्र का मौलिक-तत्व ही उसका गुण होता है और यदि यह गुण नष्ट हो जाय तो शासनतंत्र भ्रष्ट हो जाता है, उदाहरणार्थ गणतंत्र का प्रजातंत्रात्मक स्वरूप नागरिकों के गुणवान् होने और समानता के आदर्श पर आश्रित है, यदि किसी राज्य में यह गुण न मिले तो वह भ्रष्ट माना जायगा। इसी प्रकार आभिजात्यतंत्रात्मक गणतंत्र उस समय भ्रष्ट समझा जायगा जब उसका मुख्य गुण सहिष्णुता लुप्त हो जाय। इसी प्रकार वह राजतंत्र भ्रष्ट माना जायगा जहाँ का शासक अपना मान खो बैठे। लेकिन इसके आगे मॉण्टेस्क्यू मौन है। वह यह नहीं बतलाता कि भ्रष्ट शासनतंत्र के सुधार के लिये क्या उपाय किया जाय या उसका स्थान किसी स्वस्थ शासनतंत्र को किस प्रकार दिया जाय। मॉण्टस्क्यू ने राजक्रान्तियों का भी कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह हमें भ्रष्ट शासनतंत्रों द्वारा जनित अव्यवस्था से बचने का कोई उपाय नहीं बतलाता।

११. व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

मॉण्टेस्क्यू के व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अन्य प्रकार की स्वतंत्रताओं संबंधी विचार हमें मुख्यतः 'दि स्पिरिट ऑफ लॉज' के नवें भाग के पाँचवें अध्याय में मिलते हैं। सामान्यतः

1 "A despotism exhausts the resources of the people enslaved by it. Property being in continual danger, the springs of industry and of commerce are destroyed." F. J. C. Hearnshaw in *The Social and Political Ideas of Some Great French Thinkers of the Age of Reason*, p. 130.

व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा का मनोभाव हमें मॉण्टेस्क्यू की रचनाओं में उसी प्रकार शाश्वत रूप से झलकता दिखलायी पड़ता है जिस प्रकार "दर्पण में आकृति"। इस कथन का आशय यह है कि मॉण्टेस्क्यू ने न केवल व्यक्ति-स्वातंत्र्य संबंधी विचार ही प्रकट किये अपितु यह भी बतलाया कि प्रत्येक संवास (Institutions) को स्वतंत्रता मिलनी क्यों आवश्यक है। स्वतंत्रता का अर्थ मॉण्टेस्क्यू प्रतिबंधों का अभाव बतलाता था। उसका कहना था कि बहुत अधिक नियंत्रण से व्यक्तित्व भली भाँति विकसित नहीं हो पाता। यह प्रतिबंध कहाँ से लगते हैं? बाह्य प्रतिबंधों का मुख्य स्रोत वह शासन (सरकार) को मानता था। इसलिए वह यह चाहता था कि स्वतंत्रता के मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा करने के लिय शासनतंत्र की समस्त शक्तियों को एक ही स्थान पर केन्द्रित न रखा जाय बल्कि उन्हें विभिन्न विभागों के बीच बाँट दिया जाय। शक्ति का यह विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि शासनतंत्र का कोई भी भाग किसी भी नागरिक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दमन या अपहरण न कर सके। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये मॉण्टेस्क्यू ने सुझाव दिया है कि प्रत्येक भाग एक दूसरे के कार्यों पर नियंत्रण रखे।[1] लॉक ने भी यह कह कर ऐसे विचार प्रकट किये थे कि शासनतंत्र के विधायक (Legislative) और कार्यपालिका संबंधी अधिकार और उनका कार्य-क्षेत्र अलग-अलग होना चाहिए। लॉक की ही रेखाओं का अनुसरण करते हुए मॉण्टेस्क्यू ने इस दिशा में एक चरण और आगे रख दिया। उसने कहा कि न्यायपालिका का क्षेत्र भी इन दोनों से अलग होना चाहिए। स्वातंत्र्य की कल्पना से उसकी सम्पूर्ण पुस्तक ओत-प्रोत है लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि मॉण्टस्क्यू ने अपनी पुस्तक में स्वातत्र्य की कहीं भी परिभाषा नहीं दी। प्रसंगवश उसने जहाँ-जहाँ इस शब्द की व्याख्या की है—उस से यह आशय निकाला जा सकता है कि "राजनीतिक स्वतंत्रता वह अधिकार है जिससे कोई व्यक्ति (या संवास) वह सब कुछ कर सकता है जिसे करने का उसे विधि द्वारा अधिकार प्राप्त है।" मॉण्टेस्क्यू का स्वतंत्रता संबंधी कल्पना की दो विशेषताएँ और भी हैं जिन्हें स्पष्टतः समझ लेना आवश्यक हैं। वह राजनीतिक स्वातंत्र्य और नागरिक या व्यक्तिगत स्वातंत्र्य को दो भिन्न चीजें समझता है। दूसरे वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य की कल्पना तो लॉक से लेता है, परन्तु, उसका प्राकृतिक अधिकारों और प्राकृतिक न्याय संबंधी सिद्धान्त बिलकुल नहीं मानता। इसी प्रकार वह राजनीतिक स्वतंत्रता की अपनी व्याख्या द्वारा यह भी साफ कर देता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता शासक और शासितों के बीच संबंध स्थिर करती है। उसका यह कहना था कि जहाँ लोग विधियों के अनुकूल आचरण नहीं करते वहाँ किसी भी व्यक्ति (या संवास) की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं है। उसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की परिभाषा करने पर इतना ध्यान नहीं दिया जितना इस ओर कि वह नियत्रण और सन्तुलनयुक्त ऐसा शासनतंत्र खोज निकाले जिसमें व्यक्ति को विधियों की मर्यादा के अन्दर विकास के पूरे अवसर मिल सकें और सब की राजनीतिक स्वतंत्रता सुरक्षित रहे। वह राजनीतिक स्वतत्रता को केवल राजतंत्र में ही सुरक्षित मानता है और कहता है कि वह निरंकुशतंत्र में सुरक्षित नहीं रह सकती। लॉक की तरह मॉण्टेस्क्यू व्यक्ति-स्वातंत्र्य को प्राथमिक महत्व नहीं देता। व्यक्तिस्वातंत्र्य की उत्पत्ति वह व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों से मानता है और उसका

---

1 "Separation of fundamental powers of government and a balanced distribution of them among different organs, differently appointed bodies or individuals, so that by natural play of the whole organisation any tendency to oppression on the part of any one organ of government may be checked by another." E. M. Sidgewick in *Lectures on the Development of European Polity*, p. 376.

कहना है कि स्वातंत्र्य की विपरीत अवस्था दासता है। वह दासता के विरुद्ध था और कहता था कि इसके रोकने का सभी राज्यों द्वारा सामूहिक प्रयत्न होना चाहिए।

१२. शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त

यह तो हम प्रसंगवश ऊपर बतला ही चुके हैं कि मॉण्टेस्क्यू एक ऐसे शासनतंत्र की शोध कर रहा था जिसमें प्रजा की राजनीतिक स्वतंत्रता बनी रह सके। उसने लगातार सत्रह वर्षों के प्रयत्न के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि शक्ति-पृथक्करण के आधार पर निर्मित शासन-तंत्र में प्रजा की राजनीतिक स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है। शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त ही मॉण्टेस्क्यू की आधुनिक युग को देन है।

लेकिन, इतिहास के पृष्ठ यदि उलटे जायँ तो शक्ति-पृथक्करण की कल्पना प्लेटो के समय से किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। प्लेटो ने इस प्रकार का विचार 'लॉज' में सामने रखा है। प्राचीन रोम के युग में पोलिबियस ने रोमन साम्राज्य की केन्द्रीय सत्ता को शक्ति-पृथक्करण के आधार पर ही संघटित बतलाया था और कहा था कि रोम साम्राज्य की स्थिरता का भी यही कारण है। मध्य युग में भी कई विचारकों ने इस प्रकार के विचार प्रकट किये थे जिनमें इस सिद्धान्त की गंध आती थी। मार्सीलिओ पेडुआ का नाम इस संबंध में लिया जा सकता है लेकिन मॉण्टेस्क्यू को ही यह गौरव प्राप्त है कि उसने इस विचार को अत्यन्त व्यवस्थित रूप से आधुनिक राजदर्शन में स्थान दिया।

मॉण्टेस्क्यू ने शासन (सरकार) के समस्त कार्यों को तीन भागों में विभक्त किया है—(१) कानून बनाना, (२) शासन करना और (३) न्याय की व्यवस्था करना। उसने कहा कि यह तीनों कार्य तीन अलग-अलग संस्थाओं द्वारा किये जाने चाहिए। मॉण्टेस्क्यू का कहना था कि ऐसा करने से राजनीतिक स्वातंत्र्य की रक्षा भली भाँति हो सकेगी। लेकिन यदि ऐसा नहीं किया जाता तो राजनीतिक स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रहेगी। यह बात मॉण्टेस्क्यू ने काफी विस्तारपूर्वक बतलाया है। उसका कहना था कि यदि कार्यपालिका और विधायिका सभा के कार्य (Functions of Executive and Legislative Organs) एक ही विभाग को या एक ही व्यक्ति को सौंप दिये जायँ तो यह विभाग या व्यक्ति मनमानी विधियाँ (Laws) बनाकर मनमाना शासन कर सकता है और ऐसी अवस्था में किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता का न रह जाना स्वाभाविक है। निरंकुशतंत्र (Despotism) में यही होता है। ऐसे राज्य में शासक मनमाने कानून बनाकर मनमाना शासन करता है। परिणाम यह होता है कि लोगों को शासक के किसी कार्य पर विश्वास नहीं रहता और वे निरन्तर भयभीत रहते हैं। इसी प्रकार यदि किसी न्यायाधीश को विधेयन और कार्यपालिका संबंधी कर्तव्य भी सौंप दिये जायँ तो पहले तो वह मनमानी विधियाँ बनायगा फिर उनकी मनमानी व्याख्या करेगा और अन्त में कार्यपालिका के अधिकारों के जरिए जैसी उसको इच्छा होगी वसे फैसले देकर उन्हें कार्यान्वित करेगा। इसी प्रकार यदि तीनों शक्तियाँ किसी एक वर्ग या एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जायँ तो राज्य में किसी प्रकार की स्वतंत्रता कायम नहीं रह सकती। इसके विपरीत यदि विधायिका सभा केवल विधियाँ (कानून) बनाती है और कार्यपालिका उन विधियों के अनुसार शासन करती है तथा न्यायपालिका विधियों के उल्लंघनकर्ताओं को विधियों की उचित व्याख्या करके दण्ड देती है तो शासनतंत्र का प्रत्येक अंग अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रहते हुए भी दूसरे विभाग के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता। इससे प्रत्येक विभाग का एक दूसरे पर स्वयमेव नियंत्रण रहता है और सन्तुलन भी।

सैद्धान्तिक दृष्टि से शक्ति-पृथक्करण की यह व्याख्या मॉण्टेस्क्यू ने ठीक की और यह उसके समय में खूब मानी भी गयी। शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का असर न केवल यूरोप में ही हुआ बल्कि अटलाण्टिक पार अमेरिका[1] में भी हुआ। वहाँ कई राज्यों के ऐसे संविधान बने जिनमें शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को मूल आधार मानकर संविधानों की रचना की गई। लेकिन जो भी हो मॉण्टेस्क्यू ने शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त इंगलैण्ड के संविधान के आधार पर स्थिर किया था। यह स्रोत गलत था। इंगलैण्ड के संविधान में शक्ति-पृथक्करण जैसी कोई वस्तु कभी नहीं रही। उदाहरण के लिये हाउस ऑफ लार्ड्स को विधायिका (Legislative) और न्यायपालिका (Judiciary) दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं। लॉर्ड चान्सलर न्यायपालिका (Judiciary), विधायिका (Legislative) और कार्यपालिका (Executive) तीनों के ही कृत्य सम्पन्न करता है। इतने पर भी उसका यह कहना तो ठीक ही था कि शक्ति-पृथक्करण द्वारा विधिसम्मत नियंत्रण और सन्तुलन का एक ऐसा सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है जिससे नागरिकों की राजनीतिक स्वतंत्रता की एक सीमा तक भली भाँति रक्षा की जा सकती है। फिर भी उसने शासनतंत्र के विभिन्न अंगों के एकदम स्वतंत्र कर दिये जाने की सलाह नहीं दी। उसका मत था कि यदि शासनतंत्र के सभी विभाग एकदम स्वतंत्र हो जायँ तो इससे अराजकता का खतरा पैदा हो सकता है। इसलिये शक्ति-पृथक्करण द्वारा कार्य और अधिकारक्षेत्रों के अलग कर दिये जाने पर भी वह चाहता था कि एक विभाग दूसरे विभाग को इस प्रकार नियंत्रण में रखे कि सब विभाग सन्तुलित रूप से अपना-अपना कार्य करते चले जायँ।

१२.१ **आलोचना**——मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त की सबसे पहली और बड़ी त्रुटि यह है कि उसका मूल स्रोत ही गलत है। मॉण्टेस्क्यू यह मानकर चलता है कि इंगलैण्ड में शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग हुआ है; जैसा कि वस्तुतः नहीं है। **दूसरे** मॉण्टेस्क्यू यह साफ-साफ नहीं बतला पाता कि शक्ति-पृथक्करण किस प्रकार होना चाहिए। सभी विभाग स्वतंत्र हों तो कितने स्वतंत्र हों और यदि एक दूसरे पर निर्भर करें तो कितना करें। वह स्वयं कहता है कि सभी विभागों को परस्पर सम्पर्क रखना चाहिए, लेकिन उसके सिद्धान्तानुसार जिन-जिन संविधानों में ऐसा किया गया है उनमें सबसे बड़ी त्रुटि यह प्रकट हुई है कि व्यावहारिक रूप से सभी विभाग अपने कार्यक्षेत्र में आवश्यकता से अधिक स्वतंत्र हो गये हैं। इसकी वजह से राज्य की आवयविक एकता (organic unity) स्थित नहीं रह पाती है। **तीसरे** हरएक विभाग के कार्यक्षेत्र को एकदम अलग-अलग विभक्त नहीं किया जा सकता। ऐसा करना असंभव भी है और अस्वाभाविक भी।[2] **चौथे** मॉण्टेस्क्यू का यह कहना भी ठीक नहीं कि शक्ति-पृथक्करण से नागरिकों की राजनीतिक स्वतंत्रता की अनिवार्यतः रक्षा हो जाती है। सच यह है कि राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा तभी होती है, जब सभी नागरिक——जिनमें शासक और शासित दोनों ही सम्मिलित हैं——इस बात के लिये इच्छुक हों कि राजनीतिक स्वतंत्रता सुरक्षित रहे। किसी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जनता की शाश्वत जागरूकता (eternal

---

१ वर्जीनिया को १७७६ की अधिकारों संबंधी घोषणा, मसाच्यूसेट्स का सन् १७८० का संविधान फ्रांसीसियों की मानव अधिकारों संबंधी सन् १७९१ की घोषणा आदि का नाम इस सिलसिले में उल्लेखनीय है।

इस विषय की पूर्व विवेचना के लिए देखिए:

2 Dr. Finer *The Theory and Practice of Modern Governments* Vol. 1, p. 171-72.

vigilance) की अपेक्षा है। यदि जागरूकता का अभाव होगा तो कोई भी शासनतंत्र भ्रष्ट हो सकता है। **पाँचवें**, शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त पर यदि बहुत अधिक बल दिया जायगा तो उसकी वजह से संकीर्ण विभागीयता (narrow departmentalism) की भावना पैदा हो जायगी और इससे कुल मिलाकर राज्य के हितों की बड़ी हानि हो सकती है। इन हानियों पर जे० एस० मिल ने काफी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। **छठे** न्यायपालिका के अधिकारियों का भी यदि अन्य विभागीय अध्यक्षों की तरह निर्वाचन किया जाता है तो दलबंदी के कारण अयोग्य और अदक्ष व्यक्ति इस विभाग में प्रवेश कर सकते हैं। **सातवें**, शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि प्रत्येक विभाग का दर्जा समान है और इसलिये प्रत्येक की शक्तियाँ भी समान होनी चाहिएँ; लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रत्येक विभाग का कार्य और उसकी शक्ति समान नहीं होती। जो विभाग राजस्व तथा करों के लगाने या न लगाने का फैसला करता है वह उस विभाग से निश्चित रूप से बड़ा है जो केवल आज्ञाओं का पालन करता है। अतएव, विधायिका की शक्ति और स्थिति कार्यपालिका तथा न्यायपालिका से अनिवार्यतः उच्चतर है।[1]

१३. भौतिक वातावरण का राष्ट्रीय चरित्र पर प्रभाव तथा धर्म संबंधी मत

बोदाँ ने सबसे पहले यह बात कही कि राज्य के वातावरण का किसी भी राज्य के नागरिकों के चरित्र निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रहता है। मॉण्टेस्क्यू ने बोदाँ के इस विचार को और भी विकसित रूप प्रदान किया और बतलाया कि राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण का कार्य न केवल भौगोलिक वातावरण ही करता है, अपितु, राष्ट्रीय चरित्र पर सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक वातावरण का प्रभाव भी पड़ता है। भौगोलिक वातावरण से मॉण्टेस्क्यू का आशय किसी देश की जलवायु से है। जलवायु द्वारा ही किसी देश के नागरिकों का मानसिक विकास स्थिर होता है। उदाहरण के लिये गरम देशों के लोग अधिकांशतः आलसी, आरामपसन्द और कलाप्रेमी होते हैं। इसके विपरीत शीतल देशों के निवासी अधिक सक्रिय, बलवान् और परिश्रमी होते हैं। दोनों प्रदेशों के निवासियों का रहन-सहन भी भिन्न-भिन्न होता है। इसी की वजह से नैतिकता और विधियों संबंधी कल्पना भी भिन्न-भिन्न होती है। यही कारण है कि सभी देशों की राजकीय और नागरिक विधियाँ एक ही तरह की नहीं होतीं। वे भिन्न-भिन्न होती हैं। देशों के संविधान भी भौगोलिक वातावरणों की ही देन होते हैं क्योंकि जिस देश के निवासियों का जैसा स्वभाव होता है, वैसा ही उनका रहन-सहन होता है और उसी रहन-सहन के अनुकूल वे अपना संविधान बनाते हैं। पहाड़ के लोगों को स्वतंत्रता से अपेक्षाकृत अधिक प्रेम होता है। उनको जीतना कठिन होता है। इसके विपरीत मैदानी लोगों को जल्दी परास्त किया जा सकता है। मॉण्टेस्क्यू ने आर्थिक वातावरण की भी चर्चा की है। वह हैरिंगटन की तरह यह मानता है कि राजसत्ता अधिकांशतः सम्पत्तिशील वर्ग के पास ही रहती है। राजनीतिक परिवर्तन भी इन्हीं कारणों से होते हैं। यदि कोई राज्य व्यापार-वाणिज्य पर निर्भर करता है तो वहाँ के लोग यह कभी बर्दाश्त नहीं करेंगे कि वहाँ निरंकुश राजतंत्र रहे। वे प्रजातंत्र को ही पसन्द करेंगे। वह धर्म में विचार-स्वातंत्र्य को काफी स्थान देता था। वह कैथोलिक धर्म की मूढ़ताओं और रूढ़िवादों के विरुद्ध था और उसने 'पर्शियन लेटर्स' में कैथोलिक संवासों का काफी उपहास किया है। वह धार्मिक निष्ठुरताओं के भी विरुद्ध था और यह नहीं चाहता था कि चर्च को शारीरिक-दण्ड या यातना देने के अधिकार दिये जायँ।

---

१ इस विषय पर विशेष अध्ययन के लिए देखिए :
Harold J. Laski; *A Grammar of Politics* pp 67-98

१४. धर्म और राज्य

मॉण्टेस्क्यू यह नहीं चाहता था कि धर्मसत्ता राजसत्ता को अपने नियंत्रण में रखे। उसका यह भी कहना था कि चर्च के अधिकार न्यूनतम कर दिये जायँ। मॉण्टेस्क्यू ने यह भी बतलाया कि धर्म से राज्य का स्वभाव और राज्य के स्वभाव से धर्म को समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए गणतंत्रात्मक राज्यों के लिये प्रोटेस्टेण्ट धर्म अच्छा होता है। निरंकुशतंत्र उन्हीं राज्यों में सफलतापूर्वक चल सकता है जिनमें इस्लाम धर्म माना जाता है। कैथोलिक ईसाई भी राजतंत्रात्मक शासन को पसंद करते हैं क्योंकि उनके धर्म में राजतंत्रात्मक शासन के स्वभाव के अनुकूल ही रंगीनी और शान-शौकत के प्रदर्शन के बीज होते हैं। कुल मिलाकर धर्म के संबंध में मॉण्टेस्क्यू का यह मत था कि धर्म व्यक्तिगत विश्वास की चीज है; इसलिये राज्य को व्यक्तिगत और सर्वथा अराजनीतिक विश्वासों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए तथा धार्मिक सहिष्णुता दिखलानी चाहिए इससे राज्य के शासनतंत्र की स्थिरता बढ़ती है और नागरिक-स्वातंत्र्य सुरक्षित होता है।

१५. मॉण्टेस्क्यू के विचारों की मीमांसा

मॉण्टेस्क्यू को उसके राजदर्शन संबंधी विचारों के कारण रूसो (Rousseau) के अलावा सबसे महत्वपूर्ण विचारक माना जाता है। इसका कारण यह है कि उसे अपने समय के सब विचारकों से अधिक सामाजिक विकास के दर्शन की जटिलताओं का ज्ञान था। जिस युग में वह पैदा हुआ था––वह बौद्धिकता का युग था और उसने युग की माँग को उसी पद्धति से पूरा किया जिसकी उस समय सबसे अधिक आवश्यकता थी। उसकी अध्ययन-पद्धति न केवल ऐतिहासिक एवं व्याप्तिमूलक थी बल्कि अनुभव और व्यावहारिक उपयोगिता पर भी वह सबसे अधिक बल देता था। उसका दृष्टिकोण सार्वभौमिक था। वह आधुनिक युग की वैज्ञानिक महत्वाकांक्षाओं को प्रकट करता था। उसने अपने पूर्ववर्त्तियों से उसी सीमा तक सहायता ली जिस सीमा तक उसे आगे बढ़ने में सहायता मिली––लेकिन जहाँ उसने देखा कि पूर्ववर्त्तियों के विचार उसकी प्रगति में बाधा डाल रहे हैं, उनका अंधानुगमन करने से उसने साफ इन्कार कर दिया। उदाहरण के लिए उसने प्राकृतिक विधियों को तो अपनाया लेकिन अनुबंधवाद के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया क्योंकि उसने अनुभव किया कि इतिहास द्वारा राज्य की उत्पत्ति के अनुबंधवादी सिद्धान्त को सिद्ध करना असंभव है। वह राजनीतिक स्वतंत्रता का पक्षपाती था। उसके इन विचारों के कारण निश्चित रूप से व्यक्तिवाद के पनपने में बड़ी सहायता मिली। मॉण्टेस्क्यू की पुस्तकें बोदाँ और मैकियावली के ग्रंथों की भाँति कभी भी इतिहास से ओझल नहीं हुईं और इसका मुख्य कारण उनकी उत्कृष्ट शैली है। बोदाँ ने भी, भौतिक वातावरण का राजनीति पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है––इस प्रश्न को उठाया था लेकिन इसी बात को अपने तर्कों और प्रमाणों से मॉण्टेस्क्यू ने इतना अधिक पुष्ट कर दिया कि वह राजदर्शन का अभिन्न अंग माना जाने लगा। इस प्रकार राजदर्शन के इतिहास में मॉण्टेस्क्यू का मानसिक व्यक्तित्व अत्यन्त ही गौरवमय प्रतीत होता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मॉण्टेस्क्यू में कुछ भी त्रुटियाँ नहीं थीं। उसमें त्रुटियाँ थीं और ऐसी कि जिनकी वजह से बड़े-बड़े विचारक उसके विचारों के निष्कर्षों को उद्धृत करने से घबड़ाते हैं। उन्हें यह खतरा महसूस होता है कि सूत्र रूप में मॉण्टेस्क्यू के विचारों को यदि रख दिया जायगा तो कहीं उनका गलत अर्थ न समझ लिया जाय। यह सच है कि मॉण्टेस्क्यू संभवतः अपने युग का सबसे बड़ा समाजदर्शनशास्त्री था और राजनीतिक एवं सामाजिक गुत्थियों को समझता था लेकिन वह भी उन गुत्थियों को अत्यन्त सरल बतला देने के दोष से मुक्त नहीं किया जा सकता। वह अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को ऐतिहासिक और अनुभूतिमूलक पद्धति द्वारा स्थिर

करता था लेकिन वास्तविकता यह है कि उसने जो भी राजनीतिक सिद्धान्त स्थिर किये उनको पुष्टि के लिये न तो उसके पास कोई अनुभवयुक्त प्रमाण थे और न उसने अनुभव द्वारा प्रमाणों को प्राप्त करने की कोई चेष्टा की। यह सच है कि उसके विचारों से सार्वभौमिकता परिलक्षित होती है; लेकिन यदि उसके विचारों का गहराई से विश्लेषण किया जाय तो उसके विचारों का मौलिक स्वर स्थानीय देशभक्ति ही प्रतीत होगा। वह सार्वभौमिक हित की बात बाद में सोचता है; पहले वह फ्रांस के कल्याण की बात सामने रखता है। उसे फ्रांस का राजनीतिक सुधार करना था, इसीलिये उसने इतना अध्ययन किया। वह हर विचार को वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित करना चाहता था, इतने पर भी उसके विचार अनेक स्थलों पर अस्त-व्यस्त हैं। व्यवस्था का उनमें अभाव है। वह इस बात की भी चिन्ता नहीं करता था कि जिन तथ्यों के आधार पर अपना सिद्धान्त स्थिर करने जा रहा है, वे तथ्य हैं भी या नहीं। यही नहीं सांविधानिक सिद्धान्तों का जिस तेजी से और सरसरी तौर पर वह विश्लेषण करता है—उससे उसके निष्कर्षों में अनेक स्थलों पर अशुद्धियाँ रह जाती हैं। उसका अध्ययन असंदिग्धतः बड़ा गहरा था, लेकिन बड़ा उलझा हुआ। यही कारण है कि उसकी पुस्तकों की शैली पर विद्वता की छाप होते हुए भी उनमें अस्तव्यस्तता और उलझनों की भरमार है। वह अपने युग का प्रगतिशील विचारक माना जाता था लेकिन राजनीति के क्षेत्र में प्रतिक्रियावादियों ने उससे जितना फायदा उठाया, उतना शायद ही किसी प्रगतिशील विचारक ने उठाया हो। उसके विचारों का सारांश उपस्थित करना इसलिए बड़ा ही कठिन है क्योंकि वह दो परस्पर विरोधी विचारों के बीच झूलता रहता है। एक ओर तो वह यह विश्वास प्रकट करता है कि मानव-स्वभाव ही कल्याणकारी होता है; अतः विधियाँ और प्रथाएँ भी कल्याणकारी होती हैं। दूसरी ओर वह दास प्रथा को रोकने के लिये कहता है और बहुविवाह के विरुद्ध आवाज उठाता है। यदि सभी प्रथाएँ और विधियाँ कल्याणकारी होती हैं तो फिर दास-प्रथा जिसे कई देशों की विधियों की सहमति भी प्राप्त थी और बहुविवाह की प्रथा कैसे अकल्याणकारी हो गया। इस समाधान का वह कोई यत्न नहीं करता।

१६. मॉन्टेस्क्यू का स्थान

मॉण्टस्क्यू को समकालीन राजसत्ताधीशों ने भले ही मान्यता व सम्मान न दिया हो लेकिन राजदर्शन के इतिहास में उसका स्थान उसके अनुदायों और प्रभाव के कारण सदैव के लिये सुरक्षित है। अपने पूर्ववर्त्ती विचारकों से प्रभावित होते हुए भी उसने प्लेटो, अरस्तू, एक्वानॉज, बोदाँ तथा पफेनडर्फ और सूरेज के विचारों का अंधानुगमन और पिष्ट-पेषण नहीं किया बल्कि भौतिक वातावरण का सामाजिक और राजनीतिक संवासों की रचना में निश्चित प्रभाव बतलाकर राजदर्शन का क्षेत्र पहले से अधिक व्यापक बना दिया। उसने समस्त संवासों को उपयोगिता की कसौटी पर परखा—जो उन पर सच्चे उतरे उनको स्वीकार किया, शेष को अमान्य ठहराया। वह प्राकृतिक विधियों का अस्तित्व मानता था लेकिन प्राकृतिक अधिकारों की रूढ़िवादिता में उसे कोई भी विश्वास नहीं था। वह राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा का साधन शक्ति-पृथक्करण को मानता था। उसने राजदर्शन के अध्ययन में प्रयुक्त की जानेवाली पर्यवेक्षणात्मक और ऐतिहासिक पद्धति को और भी अधिक उन्नत बना दिया। राजदर्शन के अध्ययन में अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र, भौतिकशास्त्र आदि का प्रयोग कर राजनीतिक विचारकों और दार्शनिकों के लिये उसने ज्ञान के समन्वय का ऊँचा आदर्श उपस्थित किया। मॉण्टेस्क्यू का प्रभाव फ्रांस तक ही सीमित नहीं रहा—उसने अपने विचारों से इंगलैण्ड में ब्लेकस्टोन आदि उच्चकोटि के विचारकों को प्रभावित किया। अमेरिका तक उसके विचारों की तरंगें पहुँचीं और अमेरिका के संविधान के निर्माता,

जफरसन, वाशिंगटन, आदि उससे प्रभावित हुए। व्यक्तिवादियों तथा उपयोगितावादियों ने भी उसके विचारों की सराहना करते हुए उन्हें स्वीकार किया। बैंथम तो मॉण्टेस्क्यू की अनुभूतिमूलक पद्धति से काफी प्रभावित था।

अपने युग की भावना की तुलना में उसने अपेक्षाकृत प्रगतिशील विचार प्रकट किये लेकिन उसकी जड़ें कट्टरतावादा थीं क्योंकि उसे लोकप्रिय संप्रभुता में विश्वास न था। प्रजातंत्र को वह अव्यावहारिक समझता था। यह सच है कि उसने फ्रांस के अनेक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संवासों की मूढ़ताओं और रूढ़ियों की आलोचना की लेकिन वह उसके आमूल परिवर्तन का इच्छुक नहीं था—वह उनमे केवल सुधार चाहता था।

—— ————

वॉल्टेयर और रूसो

१. वॉल्टेयर के विचारों की भूमिका—२. वॉल्टेयर का राज्योत्पत्ति संबंधी सिद्धान्त—३. शासनतंत्रों का वर्गीकरण—४. अपराध और दण्ड—५. वॉल्टेयर का स्थान—६. रूसो की जीवनी और वातावरण—७. रूसो के ग्रंथ, अध्ययन-पद्धति और उस पर अन्य विद्वानों का प्रभाव—८. रूसो की समस्याएँ—९. मानव-स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था—१० सभ्य-समाज और राज्य की उत्पत्ति—११. सामान्य इच्छा—१२. संप्रभुता संबंधी मत—१३. शासनतंत्रों का वर्गीकरण—१४. व्यक्ति स्वातंत्र्य और विधियाँ—१५. राजक्रान्तियाँ—१६, रूसो का अनुदाय और महत्व।

१. वॉल्टेयर (Voltaire) के विचारों की भूमिका

वॉल्टेयर का युग अनिवार्यतः फ्रांस की राजक्रान्ति की भूमिका का युग था। फिर भी वॉल्टेयर अपने विचारों द्वारा राजक्रान्ति के समर्थक या पूर्ववक्ता के रूप में हमारे सामने नहीं आता। वह एक सुधारवादी के रूप में सामने आता है। उसके आने के पूर्व फ्रांस का राजनीतिक वातावरण दमन और उसके विरुद्ध होनेवाली प्रतिक्रियाओं से आन्दोलित हो रहा था। वॉल्टेयर उस आन्दोलन की आत्मा की अभिव्यक्ति है। वह उस अशान्ति की ज्वाला का प्रतिनिधित्व करता है जो उन दिनों फ्रांस के अन्दर-ही-अन्दर सुलग रही थी। फ्रांस के राजतंत्र तथा उसके अधिकारियों के अत्याचारों के कारण जनता का मध्यवर्ग विकल था और इस युग में इस बात के लिए कोई गुंजायश नहीं थी कि मध्यवर्ग का प्रवक्ता शान्ति और गंभीरतापूर्वक किन्हीं राजनीतिक सिद्धान्तों को गढ़ता। वॉल्टेयर के लेखों की उष्णता इसी अभाव की ओर संकेत करती है। फिर भी वॉल्टेयर का युग बौद्धिकता एवं विवेक का युग था, अतएव युग की यह विशेषता उसकी रचनाओं में परिलक्षित होती है।

१.१ जीवन, कृतित्व और अध्ययन-पद्धति—वॉल्टेयर का जन्म सन् १६९४ में हुआ था। वह इतिहास, दर्शन और भौतिक शास्त्र का विद्यार्थी था। यात्रा का उसे बड़ा शौक था और वह घूमा भी खूब था। यूरोप के अलावा वह इंगलैण्ड भी गया था। उसे समकालीन देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का बड़ा अच्छा ज्ञान था। फ्रांस की दुरवस्था के कारणों को भी उसने अपने देश की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन कर भली भाँति समझ लिया था। उसकी लेखन-शक्ति अत्यन्त चमत्कारपूर्ण थी और इसी प्रतिभा की बदौलत वह अपने विरोधियों और शत्रुओं को सदैव अत्यन्त हास्यास्पद बना देता था। उसने इंगलैण्ड के राजनीतिक विचारों को फ्रांस में लोकप्रिय बनाने में विशेष भाग लिया। वॉल्टेयर की मृत्यु सन् १७७८ में हुई थी। उसकी सबसे प्रसिद्ध कृति उसके वे पत्र हैं जो इंगलैण्ड के राजनीतिक विचारों के संबंध में उसने लिखे थे। ये सन् १७३३–३४ में अँग्रेजी और फ्रेंच दोनों भाषाओं म प्रकाशित हुए थे। वह न्यूटन के भौतिक-शास्त्र तथा लॉक के मनोविज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। प्राचीन विचारकों में उस पर अरस्तू का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था मकियावली की रचनाओं का भी उसने काफी अध्ययन किया था। समकालीन बॉलिगब्रुक

से उसकी खासी मैत्री थी। उसने अन्य भी दो-तीन[1] पुस्तकें लिखी थीं। वॉल्टेयर की अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक और अनुभूतिमूलक थी। कुछ आध्यात्मिकता का पुट भी हमें उसमें मिलता है। यह प्रभाव उस पर सुप्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक पियरे बेली के कारण आया।

२. वॉल्टेयर का राज्योत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

२.१ **मानव-स्वभाव और समाज की रचना**—राज्योत्पत्ति संबंधी अपने विचारों की विवेचना करने के पहले वॉल्टेयर ने हॉब्स और लॉक की भाँति मानव-स्वभाव का विश्लेषण किया है। लेकिन वॉल्टेयर का यह विश्लेषण हॉब्स से भिन्न है। वह मनुष्य को स्वभावतः स्वार्थी, क्रूर और निष्ठुर नहीं मानता। उसका कहना है कि मनुष्य स्वभावतः समानता (Equality) और स्वतंत्रता (Liberty) का प्रेमी होता है। मनुष्य को कार्यरत करानेवाली मुख्यतः दो अन्तर शक्तियाँ होती हैं—(१) आत्मरक्षा की चिन्ता और (२) सन्तानोत्पत्ति की इच्छा। लेकिन मनुष्य इतने ही तक सीमित नहीं रहता। मनुष्य स्वभावतः दयालु भी होता है। अस्तु, आत्मरक्षा की भावना, सन्तानोत्पत्ति की इच्छा और दयालुता इन तीनों से मिलकर परिवार बनता है और परिवार से समाज बनता है। यह कार्य स्वभावतः होता है।[2] इसमें किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। वॉल्टेयर समाज की स्थापना या राज्य की स्थापना में किसी अनुबंध (contract) का हाथ नहीं मानता। समाज के प्रबंध और उसकी रक्षा तथा उन्नति के लिए ही राज्य की स्थापना होती है, यद्यपि अनुबंध का भाव इस स्वाभाविक दशा में भी निहित रहता है; लेकिन वॉल्टेयर का कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं है। अनुबंध जैसी किसी कल्पना का अस्तित्व न मानने के ही कारण वॉल्टेयर हमें संप्रभुता का कोई सिद्धान्त नहीं दे पाया।

२.२ **प्राकृतिक अधिकार संबंधी मत**—वॉल्टेयर राज्य की उत्पत्ति उसकी उपयोगिता में मानता है। इसीलिए उसका कहना है कि मनुष्य राज्य में अपना विकास करने के लिए तो प्रवेश अवश्य करता है लेकिन वह अपने समस्त अधिकारों का परित्याग नहीं कर देता। वह समानता और स्वतंत्रता का अधिकार बनाये रखता है। वॉल्टेयर लॉक की भाँति ही व्यक्ति के सम्पत्ति संबंधी अधिकार में भी विश्वास करता है। उसका कहना है कि मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार ही वह साधन है जिनके द्वारा उसे आनन्द लाभ होता है। प्राकृतिक अधिकारों की वॉल्टेयर ने अलग से विवेचना नहीं की है लेकिन उसने यह अवश्य बतलाया है कि जो अधिकार इँगलैण्ड के संविधान में नागरिकमात्र को प्राप्त है—वही फ्रांस में भी सबको मिलने चाहिए। इन अधिकारों में वॉल्टेयर ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य, सम्पत्ति रखने के अधिकार, विचार-स्वातंत्र्य, केवल कानून द्वारा ही दंड पाने के अधिकार और धार्मिक विश्वास के अधिकारों को भी सम्मिलित कर लिया है।[3] मनुष्य की स्वाभाविक समानता

---

१ उसकी पुस्तिकाओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—(१) *Essay on Manners and Civilization*, (२) *New Theories of History* और (३) *History of the Age of Louis XIV*.

2 Society "is the most natural thing in the world, it is the fulfilment of human nature's instinctive need, the condition of its wellbeing, the vehicle for its self-realisation." F. J. C. Hearnshaw in *The Pol. Ideas of the Age of Reason*, p. 151.

3 These rights include, "entire liberty of person and property; freedom of the press ; the right of bring tried in all criminal cases by a jury of independent men, the right of being tried only according to the strict letter of the law, and the right of every man to profess, unmolested what religion he chooses." F. J. C. Hearnshaw in *The Pol. Ideas of the Age of Reason*, p. 151.

में विश्वास करते हुए भी, यह आश्चर्य की बात है कि, वह सबकी सामाजिक समानता में विश्वास नहीं करता था। वह सम्पत्ति की समानता को भी नहीं मानता था और इस प्रकार उसके विचारों से व्यक्तिवादिता की गंध आती है।

२.३ **धार्मिक उग्रता का विरोध**—वॉल्टेयर धार्मिक उग्रवादिता का कट्टर विरोधी था। वह किसी भी प्रकार इस बात का पक्षपाती नहीं था कि राज्य की तरफ से धार्मिक अत्याचार किये जायँ या शासनतंत्र किसी व्यक्ति को इस बात के लिये मजबूर करे कि वह कौन-सा धर्म माने। वह चर्च की सत्ता की श्रेष्ठता का भी विरोधी था। वह चाहता था कि चर्च को राज्य की सत्ता के नीचे चलना चाहिए। उसका मत था कि नैतिकता का प्रचार केवल ईसाइयत की वजह से ही नहीं हुआ। नैतिकता इसलिये फली-फूली कि मनुष्य का वैसा स्वभाव था। वॉल्टेयर ने तो यहाँ तक कहा है कि सबसे ज्यादा अनैतिकता ईसाइयत ने फैलायी और इसलिये उससे लाभ के बजाय हानि ही अधिक हुई है। वह कैथोलिक धर्म का इसलिये और भी अधिक विरोधी हो गया था कि उसने देखा था कि उसके द्वारा ही फ्रांस में विदेशी प्रभाव आता था। दूसरे, कैथोलिक धर्म की जड़ें उखाड़ देने से इंगलैण्ड को कितना फायदा हुआ था, यह भी उससे छिपा नहीं था। वह मार्सीलिओ की भाँति यह चाहता था कि चर्च की सारी सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार रहे। इसी प्रकार वह चाहता था कि समस्त धर्माधिकारी भी राजसत्ता के अधीन रहें। वह इस बात का पक्षपाती नहीं था कि धर्माधिकारियों के साथ नागरिकों की तुलना में अधिक अच्छा व्यवहार किया जाय।

३. शासनतंत्रों का वर्गीकरण

वॉल्टेयर ने शासनतंत्रों का वर्गीकरण भी किया है। यह इस प्रकार है:—(१) गणतंत्र (Republic), (२) प्रजातंत्र (Democracy) और (३) राजतंत्र (Monarchy)। उसने इन तीनों प्रकार के शासनतंत्रों के भ्रष्ट स्वरूपों की भी कल्पना की थी। गणतंत्रवादी शासन वह उसे मानता था जो नागरिकों के गुणों के विकास पर ही अधिक बल देता है। लेकिन, जब गणतंत्रवादी शासन में शासक महत्वाकांक्षी हो जाते हैं तब वे नागरिकों के गुणों के विकास में रुचि नहीं लेते और यही गणतंत्र का भ्रष्ट स्वरूप बन जाता है। प्रजातांत्रिक शासन में हर नागरिक शासन के कार्य में भाग लेता है। इस प्रकार के शासन को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक अपने आप को शासन कार्य चलाने के योग्य बनाये। चूंकि इस प्रकार की योग्यता हर व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता—इसलिये प्रजातंत्रवादी शासन की व्यावहारिकता को वॉल्टेयर ने स्वीकार नहीं किया। उसकी इन उदासीनता से ज्ञात होता है कि वह प्रतिनिधिमूलक शासनतंत्र का अधिक समर्थक नहीं था। वह ऐसे राजतंत्र को अधिक पसन्द करता था जिसमें शासक विधि और न्याय के अनुसार शासन करें। राजतंत्र में शासक को अपने उत्तरदायित्व के योग्य शिक्षा प्रदान करके सब भाँति योग्य बनाया जा सकता है। वह ऐसे राजतंत्र को सर्वोत्तम मानता था जिसमें (अ) राजा प्रजा से केवल उचित राजस्व तथा कर आदि ले; (आ) प्रजा के अधिकारों की रक्षा करे; अर्थात् उस राज्य में नागरिकों की समानता की रक्षा की जाय और उनकी स्वतंत्रता के अधिकारों का अपहरण न किया जाय; (इ) राजा ही सर्वोच्च धर्माधीश रहे। इसका अर्थ है कि धर्मसत्ता राजसत्ता के अधीन रहे; धर्मसत्ता का स्थान राजसत्ता से उच्चतर न रहे और (ई) गिरजों तथा धर्म-मठों की सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति ही मानी जाय। वॉल्टेयर को अपनी यह सारी कल्पना राजतंत्र में मूर्तिमान् होती लगती थी और इसी दृष्टि से वह इंगलैण्ड के राजतांत्रिक संविधान का प्रशंसक था। वह सामन्तवाद का विरोधी था।

४. अपराध और दण्ड (Crime & Punishment)

वॉल्टेयर के अपराध (Crime) और दण्ड (Punishment) संबंधी मत भी उल्लेखनीय हैं। वह चाहता था कि अपराधी व्यक्ति को अपराध स्वीकार करने के लिये शारीरिक यातनायें तथा अन्य प्रकार की यंत्रणायें न दी जायँ। अपराध के अनुपात से ही दण्ड दिया जाय। अपराधों की विवेचना तथा निर्धारण करनेवाली विधियों तथा दण्ड के विधानों को समयानुकूल रखा जाय। उसके यह विचार तत्कालीन फ्रांस की अवस्था को देखने पर आसानी से समझ में आ जाते हैं। उन दिनों फ्रांस में जरा-जरा से अपराधों पर मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। अपराधों को मनवाने के लिये यंत्रों में कसकर निरपराधियों की हड्डी-पसली तोड़ दी जाती थी। ऐसी अवस्था में वॉल्टेयर जैसे आलोचक के लिये यह असंभव था कि वह चुप बैठा रहता।

५. वॉल्टेयर के विचारों का स्थान

वॉल्टेयर का राजदर्शन के इतिहास में स्थान स्थिर करने से पहिले यह आवश्यक है कि हम उसकी त्रुटियों पर ध्यान दें। आलोचनात्मक दृष्टि से वॉल्टेयर के विचारों को देखने से पता चलता है कि उसके विचारों में मौलिकता (originality) का अभाव है। वह अपनी आलोचना की मार से विरोधियों का मुँह अवश्य बंदकर देता था लेकिन जहाँ तक रचनात्मक सुझावों का संबंध है उसकी प्रतिभा उसका अधिक साथ नहीं दे सकी। इसी कारण उसके विचारों को कई विद्वानों ने निषेधात्मक बतलाया। इससे वॉल्टेयर की उपयोगिता का कम हो जाना स्वाभाविक है। वह हर चीज और हर व्यवस्था को बदलने के लिये ही कहता था जिसका परिणाम यह होता था कि स्वयं उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके दर्शन का उपयोग सुधार के बजाय क्रान्ति के लिये किया गया। इतने पर भी राजदर्शन के इतिहासकार निम्नलिखित अनुदायों के लिये उसके कृतज्ञ हैं:—(१) वॉल्टेयर संभवतः सबसे पहला दार्शनिक था जिसने कहा कि व्यक्ति को धार्मिक विश्वासों को तभी मानना चाहिए जब वे बुद्धि की कसौटी पर खरे उतरें। इस प्रकार धर्म को बौद्धिक आधार पर तौलकर मानने की बात कहनेवाला वह पहला व्यक्ति था, (२) उसने प्रत्येक प्रकार के अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठायी और हर प्रकार के दमन को अनुचित ठहराया; (३) उसने कहा कि नागरिकों को हर अच्छे-बुरे कानून को मानने के लिये बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार उसने सहिष्णुता, बौद्धिकता और मानवतावादी दृष्टिकोण को अधिकाधिक बढ़ावा देते हुए उदारतावादी विचारधारा को जन्म दिया। वॉल्टेयर के विचारों का फ्रांस की राजक्रान्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। समाचारपत्रों तथा प्रेस की स्वाधीनता का आन्दोलन भी वॉल्टेयर के विचारों से काफी प्रभावित हुआ। उसकी समानता और स्वतंत्रता संबंधी व्याख्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

६. रूसो (Rousseau) की जीवनी और वातावरण

रूसो का जन्म अत्यन्त अशान्ति के युग में हुआ था। उसकी लोकप्रियता और उसके प्रभाव के व्यापक दायरे को समझने के लिये यह आवश्यक है कि उसके जन्म के समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों को समझ लिया जाय। रूसो के काल में यूरोप में प्रतिकूल विचारधाराओं का जमाव था। इनका केन्द्रस्थल फ्रांस था। फ्रांस में एक ओर ऐसे विचारक थे जो बौद्धिकता पर बहुत अधिक बल देते थे, और दूसरी ओर बुद्धि शून्य राजनीतिक थे जो दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का सहारा लेकर अत्यन्त अनुत्तरदायी ढंग से निम्न और मध्यवर्गीय जनता के शोषण का समर्थन करते थे। लगभग यही हाल चर्च का भी था। धर्माधिकारियों को राजदरबार में जाकर राजा मुसाहिबों की खुशामद से ही इतनी फुरसत न मिलती थी कि वे गरीबों की तरफ कोई ध्यान देते। सामन्तों का वर्ग उन्नतिशील व्यापारिक वर्ग की भावनाओं और महत्वकांक्षाओं को सकारात्मक रूप नहीं ग्रहण करने दे रहा था। धनिक वर्ग की अहंवादिता

के कारण सामाजिक असन्तोष भी बहुत अधिक बढ़ गया था। दूसरी ओर बौद्धिकतावादी कहते थे कि व्यक्ति लक्ष्य है और समाज साधन। व्यक्ति और समाज के लिये ऐसी कोई चीज अस्तित्वहीन है जिससे उसे सुख न मिले। ऐसी दो परस्पर विरोधी विचार धाराओं के युग में सन् १७१२ में जीन जेक्वे रूसो (Jean Jacques Rousseau) का जन्म स्विट्जरलैण्ड के प्रजातंत्रवादी वातावरण में जेनेवा में हुआ। रूसो का जन्म होते ही उसकी माता का देहान्त हो गया। उसके पालन-पोषण का कार्य पिता ने पड़ोसियों की सहायता से किया। उसका पिता एक घड़ीसाज था। वह गरीब था और इस कारण जीवन-यापन के लिये उसे बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता था। फलस्वरूप, वह रूसो की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे पाया। परिणाम यह हुआ कि रूसो शीघ्र ही बुरी संगत में पड़ गया। दस वर्ष की अवस्था में ही उसे नौकरी करनी पड़ी लेकिन अपनी बुरी आदतों की वजह से वह शीघ्र छूट गई। इसके बाद, बहुत बुरी हालत में वह वेनिस पहुँचा। वहाँ उसके मित्रों ने प्रयत्न करके फ्रेंच दूतावास में उसे नौकरी दिला दी लेकिन यहाँ भी वह अधिक दिनों तक नहीं टिका। दो वर्ष बाद ही उसे निकाल दिया गया। इसी बीच वह पक्का चोर और मिथ्याभाषी हो गया। सन् १७४४ में वह फ्रांस चला गया। वहाँ वह १७५६ तक रहा जहाँ उसका अधिकांश समय पेरिस की गंदी बस्तियों में बीता था फिर पेरिस से कुछ दूर जंगल में। वह चरित्रहीन भी था। कई स्त्रियों से उसके अनुचित संबंध थे लेकिन उसने विवाह किसी से नहीं किया। सन् १७४९ में डिजॉन अकादमी द्वारा घोषित एक निबंध-प्रतियोगिता में उसने भाग लिया और प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। उसके बाद से वह लेखक और दार्शनिक हो गया। लेकिन उसकी दार्शनिकता हॉब्स, लॉक और ह्यूम आदि से भिन्न थी। वह मुख्यतः साहित्यिक प्रतिभा का व्यक्ति था। उसके मस्तिष्क में आसपास के वातावरण से विचार ग्रहण कर लेने की चुम्बकीय शक्ति थी। यद्यपि रूसो को लॉक की भाँति कोई राजनीतिक अनुभव नहीं था फिर भी उसने अपनी साहित्यिक प्रतिभा और स्वाभाविक संचेत्यता के कारण हॉब्स और लॉक जितने ही महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये। सन् १७६२ में उसकी प्रसिद्ध पुस्तक **'एमिली'** निकली। उसके प्रकाशन से फ्रांस में इतनी उथल-पुथल मची कि उसे देशछोड़-कर भागना पड़ा। वह अपने नगर जेनेवा में जाकर रहना चाहता था लेकिन क्रान्तिकारी विचारों के कारण उसे वहाँ रहने की अनुमति नहीं मिली। फलतः इटली और जर्मनी आदि देशों में घूमता रहा और इसी दर्शन में सन् १७७८ में उसकी मृत्यु हो गयी।

७. रूसो के ग्रंथ, अध्ययन-पद्धति और उस पर अन्य विद्वानों का प्रभाव

रूसो का सबसे पहला निबंध सन् १७४९ में प्रकाशित हुआ था। इसका विषय था कि कला और विज्ञान की प्रगति के साथ मानवता की उन्नति हुई है या अवनति[1]। इस निबंध में रूसो ने विस्तारपूर्वक यह बतलाया कि मनुष्य की कला और विज्ञान के कारण अवनति हुई है। सन् १७५४ में रूसो ने एक दूसरा निबंध लिखा। इस निबंध में रूसो ने विस्तारपूर्वक यह बतलाने की चेष्टा की कि सामाजिक असमानता की उत्पत्ति कैसे हुई और उसका आधार क्या है।[2] पहले निबंध की भाँति इस निबंध पर रूसो को पुरस्कार तो न मिल सका लेकिन उसका असर बहुत हुआ। इसके बाद रूसो ने लगातार कई पुस्तकें लिखीं। सन् १७५८ में उसकी राजनीतिक अर्थशास्त्र संबंधी पुस्तक An Introduction to Political Economy प्रकाशित हुई। सन् १७६२ में रूसो की सामाजिक अनुबंध (Contract Social) संबंधी एक पुस्तक छपी और उसी वर्ष उसका एक और शिक्षा संबंधी ग्रंथ प्रकाशित हुआ इस ग्रंथ के कारण जिसका नाम 'एमिली' (The Emile) था उसे फ्रांस छोड़ना पड़ा और शेष

1 *The Discourse on Arts and Science*, 1749.
2 *On the Origin and Foundation of Inequality*, 1754.

जीवन प्रवासी के रूप में बिताना पड़ा। प्रवास-काल में ही उसने अपना आत्मचरित संबंधी ग्रंथ (Confessions) लिखा। इसके अलावा कॉर्सिका और पौलेण्ड[1] के संविधान भी उसने लिखे। उसके राजक्रान्तियों के संबंध म विचार हमें एक पत्र में मिलते हैं जो उसने जेनेवा के नागरिकों को लिखा था।[2] रूसो की अध्ययनपद्धति हॉब्स जैसी थी। उसने भी इतिहास के सहारे अनुभूतिमूलक पद्धति का अनुसरण किया था। उसने यूनान और प्राचीन रोम के साहित्य का स्वाध्याय किया था। यूनानी और रोमन साहित्य का उस पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा था। वह प्रत्यक्ष प्रजातांत्रिक शासनपद्धति का समर्थक भी नगर-राज्यों के प्रभाव के कारण ही गया था। प्लेटो से उसने दो बातें सीखी थीं। पहली तो यह कि राज्य की अधीनता नागरिक इसलिये स्वीकार करता है कि राज्य उसका आचारिक (Ethical) नियंत्रण करे और व्यक्ति को उसके अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो और दूसरी यह कि समाज स्वयं ही एक एसा तत्व है जो व्यक्ति को नैतिक बनाता है। इन दोनों बातों के बाद शांति और व्यवस्था का प्रश्न आता है रूसो यह तो मानता था कि राज्य का कर्तव्य शांति और व्यवस्था करना है लेकिन इसे वह प्राथमिक महत्व नहीं देता यह दृष्टिकोण भी उसने प्लेटो से ही ग्रहण करके बनाया था। उसने यूनानी दार्शनिकों के प्रभावान्तर्गत यह भी स्वीकार कर लिया था कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। रूसो का दर्शन पफेनडर्फ, लॉक और मॉण्टेस्क्यू से भी प्रभावित है। वह मकियावली से भी प्रभावित हुआ था। वह मैकियावली की भाँति यह मानता था कि मानव-इतिहास मानवजाति के पतन की कहानी है। कला और विज्ञान की उन्नति के साथ मानवजाति की अवनति हुई है—वह यह बात धर्म से प्रभावित होकर कहता था। इस स्थल पर उस पर मध्य युग का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

८. रूसो की समस्या

रूसो के युग का व्यक्ति अपरिमित बधनों में बँधा था और वह बुरी तरह उन बंधनों से मुक्तिलाभ के लिये छटपटा रहा था। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अंकुशों ने फ्रांस और यूरोप के निवासयों को छलनी कर डाला था। वह स्वयं ही इस उत्पीड़न का शिकार था और चाहता था कि उससे स्वयं भी मुक्ति प्राप्त करे और दूसरों को भी दिलावे। इसलिये उसकी सबसे पहली समस्या यह थी कि व्यक्ति को किस प्रकार सभ्यता के बंधनों से इतनी मुक्ति दिलायी जाय जिससे वह अपनी आत्मा द्वारा प्रदर्शित पथ पर स्वतंत्रतापूर्वक आगे बढ़ सके। लेकिन इस स्वतंत्रता के साथ ही वह इस बात का भी इच्छुक था कि व्यवस्था भी बनी रहे। अतः उसका प्रयत्न स्वतंत्रता और व्यवस्था (Freedom & Order) के बीच एक आदर्श समन्वय खोज लेने की दिशा की ओर था। वह सामाजिक व्यवस्था को भी पवित्र मानता था और उसे बिलकुल उजाड़ फेंकने का पक्षपाती नहीं था।[3] वह

---

१ यह पुस्तक भी रूसो की अन्य पुस्तकों की भाँति फ्रेंच में है और इसका नाम है *Considerations Sur Le Government De Pologne*".

२ रूसो का पूरा साहित्य C.E. Vaughan द्वारा संपादित *Political Writings of Jean Jacques Rousseau* नाम की पुस्तक से मिल सकता है। यह दो भागों में है। अँग्रेजी जाननेवालों के लिये G.D.H. Cole का अनुवाद भी उपलब्ध है जिसका नाम है Social Contract & Discourses इसके अतिरिक्त Social Contract Edited by E. Barker नाम की पुस्तक में भी है।

3 "The problem is to find a from of association which will gefend and protect with the whole common force the person and poods of each associate and in which, wbile uniting himself with all may still obey himself alone and remain as free as before. J. J. Rousse au in *Social Contract*, Book I Ch. Vi.

चाहता था कि व्यक्ति एक ऐसे समाज में रहे जिसमें उसे समाज के सारे लाभ मिलें और आत्मनिर्दिष्ट पथ का अवलम्बन करने की स्वतंत्रता रहे। यह कार्य उसने मानव-स्वभाव का विवेचन कर आरंभ किया और हॉब्स और लॉक की तरह मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की, यद्यपि उसकी यह कल्पना दोनों से भिन्न है।

९. मानव स्वाभाव और प्राकृतिक आवस्था

९.१ मनुष्य का स्वभाव—वह हॉब्स की इस मान्यता को नहीं मानता था कि मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है। रूसो ने मानव-स्वभाव को भलाई चाहनेवाला माना है। वह यह मानता है कि मनुष्य कभी-कभी बुराई का शिकार हो जाता है लेकिन यह कहना गलत है कि उसका सुधार ही नहीं हो सकता। मनुष्य स्वभावतः नम्र, परोपकारी और दूसरों की सेवा करनेवाला प्राणी है। वह सामाजिक है।

९.२ प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य—उसने कल्पना की कि एक समय ऐसा था जब मनुष्य प्रकृति के अंक में जीवन व्यतीत करता था। यह राज्य की स्थापना के पूर्व की अवस्था थी। इस अवस्था में वह बड़ा सुखी था। उसे कोई चिन्ता नहीं थी। वह वन-उपवनों में विचरण करता था और कन्द-मूल आदि खाकर जीवन निर्वाह करता था। या तो वह वस्त्र बिना रहता था या शिकार में मारे गये जानवरों की खाल ओढ़ लेता था। उसे भाषा का ज्ञान न था। उसके पास सम्पत्ति नहीं थी। उसका यह जीवन अत्यन्त शांतिपूर्ण और सब प्रकार से सन्तोषजनक था। उसे कोई कष्ट या दुख न था। उसका न घर था और न घर की चिन्ताएँ। सभी व्यक्ति समान और आत्मभरित थे। इन शब्दों के साथ मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था की सुनहली कल्पना रूसो ने सन् १७४९ में प्रकाशित 'कला और विज्ञान' पर विचार शीर्षक एक निबंध में की। इसके बाद सन् १७५४ के एक निबंध में[1] उसने कहा कि वन में रहनेवाला मानव आदर्श "सज्जन वनचारी" (Noble Savage) था। वह न किसी से लड़ता था और न द्वेष करता था। उसे सब वस्तुओं पर समान अधिकार था। इस अवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसी कोई चीज नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे मनुष्य के दिमाग में मोह पैदा हुआ और उसने यह सोचना शुरू किया कि यदि वह भूमि जिस पर वह रहता है उसी की हो जाय तो उसके बच्चों को नयी जमीन खोजने की परेशानी न करनी पड़े। और बस इस भावना के उत्पन्न होते ही "सम्पत्ति रूपी सर्प मानव समाज में पैदा हो गया और उसकी सुख-शान्ति काफूर हो गई।" रूसो का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति अराजनीतिक था—असामाजिक नहीं। हॉब्स रूसो के विपरीत मनुष्य को राजनीतिक और असामाजिक दोनों मानता था। लॉक की भाँति रूसो मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में नैतिक भी नहीं मानता क्योंकि नैतिकता आदि को वह राज्य की देन मानता है जो विवेक द्वारा उत्पन्न होती है। वह अपनी कल्पना के सज्जन वनचारी (Noble Savage) व्यक्ति को विवेकशून्य मानता था। उसका कहना था कि बुद्धि के विकास के साथ ही व्यक्ति का पतन हुआ है। वह बौद्धिकता, विवेक आदि को विनाशकारी मानता था। वह श्रद्धा और विश्वास तथा बिना सोची हुई बातों को कर देने की प्रवृत्ति को लाभकारी मानता था। ये बातें प्राकृतिक अवस्था में थी। इसीलिए वह प्राकृतिक अवस्था का पुजारी था। उसका कहना था कि मनुष्य को अधिक से अधिक प्राकृतिक अवस्था में रहना चाहिए।[2] वह

---

1 *The Origin and Foundation of Inequatity.*

२ रूसो स्वयं भी ६ वर्षों तक पेरिस के निकट एक जंगल में रहा था। उसने अपने निबंध में प्रकृति विरोधियों को इन शब्दों में बड़ा फटकारा था—

"These vain and futile declaimiers (the philosophers) go forth on

विवेक को प्रकृति के विरुद्ध मानता था। इतने पर भी वह पुनरभ्युदयवाद (Revivalism) का पोषक नहीं था और यह नहीं कहता था कि समाज में जितनी प्रगति हुई है उसकी अवहेलना कर वापस लौट चलना चाहिए। वह मानता था कि प्रगति के चक्र को पीछे नहीं लौटाया जा सकता। लेकिन सादा जीवन बिताने की प्रवृत्ति अवश्य उत्पन्न की जा सकती है।

९.३ **आलोचना**—प्राकृतिक अवस्था के संबंध में रूसो की कथा कल्पना मात्र है—कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं लेकिन अधिकांश विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि हॉब्स और लॉक की तुलना में रूसो की प्राकृतिक अवस्था संबंधी कल्पना तथ्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। रूसोके प्राकृतिक अवस्था संबंधी विचार सदैव एक से नहीं रहे। वे बदलते रहे हैं। उनकी वजह से कहीं-कहीं असंगति भी उत्पन्न हो गयी है।

—१०. सभ्य समाज और और राय की उत्पत्ति

रूसो के कथनानुसार निजी सम्पत्ति की उत्पत्ति के कारण समाज में असमानता उत्पन्न हो गयी। इस असमानता से कई कठिनाइयाँ पैदा हुईं। इस कारण यह प्रयत्न किया गया कि एक राजनीतिक समाज स्थापित किया जाय जिससे उक्त कठिनाइयाँ दूर हो सकें। इस प्रकार एक सामाजिक अनुबंध द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना हो गयी और ऐसा सब लोगों की सहमति से हुआ। रूसो ने यह आवश्यक बतलाया कि सभी व्यक्तियों की सहमति राजनीतिक समाज या राज्य की स्थापना के लिये जरूरी है क्योंकि सहमति द्वारा ही राजसत्ताधारी समाज बन सकता है और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा की जा सकती है। जो व्यक्ति राजनीतिक समाज की स्थापना करना चाहते थे वे एक स्थान पर सामूहिक रूप से एकत्रित हुए और उन्होंने अपने प्राकृतिक अवस्था के समस्त अधिकारों को समर्पित करते हुए कहा, "हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर तथा अपनी समस्त शक्तियों (अधिकारों) को सामान्य इच्छा (General Will) के सुपुर्द करता है और हम लोग अपनी इस निगमात्मक अवस्था में प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण शक्ति का अभिन्न अंग मानते हैं।"[1] व्यक्ति का यह समर्पण सम्पूर्ण होता है और वह अपने पास कोई भी अधिकार न रखकर एक सामूहिक एवं नैतिक इच्छा का निर्माण करता है? इससे एकता स्थापित होती है। यही राज्य का स्वरूप है। रूसो ने राज्य के स्वरूप की सावयविक (Organic) कल्पना की। राज्य से समाज में वैसी ही एकता पैदा होती है जैसी शरीरमें। रूसो ने बतलाया कि राज्य में शासन का वह अंग जो विधेयन करता है शीश के समान है। कार्य और न्यायपालिक मस्तिष्क हैं। उद्योग और व्यवसाय उदर है। आय रक्त है।

---

all sides, armed with their fatal paradoxes to sap the foundation of our faith and nullify virtue. They smile contemptuously at such old names as patriotism and religion, and consecrate their talents and philosophy to the destruction and defamation of all that men aold sacred." J. J. Rousseau in his essay on Arts and Sciences. Trans. by G. D. H. Cole, *The Social Contract & Discoursez*, p. 142

1 " Each of as (men) puts his person and all his natural power in common vnder the supreme direciion of the general will, and, in our corporate capacity, we receive each meber as an indivisible part of the whole." J. J. Rousseau in *Social Contract*, Bk. I Ch. VI.; d. 25 (ed, by E. Barker).

रूसो ने बतलाया कि सामाजिक अनुबंध से राज्य में समानता आ जाती है, कारण प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के पास जो भी अधिकार थे उन्हें उसने राज्य की सामान्य इच्छा को समर्पित कर दिये। अतः किसी के पास कोई अधिकार नहीं रहा और इस प्रकार अधिकार-हीनता ने सबको समान बना दिया। हरएक व्यक्ति ने समाज को अपने अधिकार दिए, किसी व्यक्ति को नहीं, इसलिये प्रत्येक की स्वतंत्रता--व्यक्तिगत स्वतंत्रता--भी सुरक्षित रही। अनुबंध द्वारा जिस समाजकी स्थापना की जाती है, वह स्वयं भी अनुबंध का एक दल होता है। एक बार बहुमत से राजनीतिक समाज या राज्य की स्थापना हो जाने के बाद कोई भी व्यक्ति यदि चाहे तो भी उससे अलग नहीं हो सकता। वह कहता था कि ऐसी अवस्था में बहुमत अल्पमत का स्वतत्र होने के लिये विवश कर सकता है।[1] रूसो ने केवल एक ही अनुबंध की कल्पना की जिससे सभ्य समाज और राज्य दोनों की उत्पत्ति हो गई।[2] अनुबंध में क, ख, ग, घ, अलग-अलग व्यक्तिगत रूप से अपने-अपने अधिकारों को क+ख+ग+घ+ को सामूहिक और संघटित इच्छा को देदेते हैं जिससे सामान्य इच्छाकी सृष्टि होती है। इसके बाद व्यक्ति नागरिक हो जाता है। उसमें नैतिकता की भावना जागृत हो जाती है। वह हॉब्स के सामाजिक अनुबध को व्यक्ति की दासता का पाश बतलाता है। यदि सब मनुष्य अपने सारे अधिकारों को समर्पित कर एक व्यक्ति की आज्ञा का अंधानुकरण करने के लिय विवश कर दिये जाते हैं तो यह दासता के अतिरिक्त क्या है? वह ऐसे अनुबंध को पागलपन बतलाता है। वह लॉक की प्रतिनिधि शासन-व्यवस्था को भी गलत बताता ह क्योंकि उसका ख्याल है कि ब्रिटेन में निर्वाचन के समय के अलावा अन्य समय में लोग दासता का जीवन बिताते हैं। उसने इस बात पर बहुत अधिक बल दिया कि व्यक्तियों को पहले नागरिक बनाया जाय। बिना नागरिक बनाये उन्हें सभ्य नहीं बनाया जा सकता। शासन को नागरिक बनाकर उन्हें स्वतंत्रता देनी चाहिए।

११. सामान्य इच्छा (General Will)

ऊपर हम यह तो बतला ही आये हैं कि सामाजिक अनुबंध द्वारा जिस राजनीतिक समाज की स्थापना की जाती है उस सम्पूर्ण समाज की इच्छा ही सामान्य इच्छा है। इस स्थल पर हम यह बतला देना चाहते हैं कि सामान्य इच्छा से रूसो का क्या अभिप्राय है क्योंकि रूसो के सम्पूर्ण राजदर्शन का यही सर्वाधिक महत्वपूर्ण अनुदाय है।

रूसो यह मानकर चलता है कि मनुष्य की दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। एक तो भावना-प्रधान इच्छा (Actual Will) होती है और दूसरी यथार्थ इच्छा (Real Will) होती है। भावना-प्रधान इच्छा और यथार्थ इच्छा इन दोनों के गुण अलग-अलग होते हैं। भावना-प्रधान इच्छा, जैसा कि नाम से ही प्रकट है; भावात्मक होती है। वह मनुष्य की अस्थिरता की द्योतक होती है। उसमें विवेक या विचार का अभाव होता है। बिना सोचे-समझे जो कार्य हो जाता है वह भावना-प्रधान कहलाता है। इस इच्छा से ग्रस्त व्यक्ति केवल

---

1 "It is the common people who compose the human race; what is not the people is hardly worth taking into account. man is the same in all ranks; that being so, the ranks which are most numerous deserve most resyect." J. J. Rousseau as quoted by Morley in 'Rousseau' (1886) Vol. II. p. 226 from *G.* H. Sabine's *A History of Pol. Theories*, p. 488

2 There is thus no contract of government for Rousseau; he will only recognise the one contract of society: "There is only one contract in the state, that of association and it excludes all others." *Social Contract* edited by E. Barker, p. XLVII.

अपने संकीर्ण स्वार्थ की ही परवाह करता है और अन्य किसी बात की चिन्ता नहीं करता। वह समाज का भी ध्यान नहीं करता। इसके विपरीत मनुष्य की एक अलग यथार्थ इच्छा होती है। यह इच्छा बुद्धि एवं विचार का परिणाम होती है। इससे व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण होता है। यथार्थ इच्छा का कार्य समन्वयात्मक होता है। मनुष्य इसी इच्छा के सहारे आत्मावलोकन और पर्यालोचन करता है। सामान्य इच्छा राजनीतिक समाज के सदस्यों की सामूहिक यथार्थ इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है। किसी विषय पर विवेकपूर्वक विचार-विमर्श द्वारा जो मानसिक चैतन्यता अथवा जागरूकता होती है—और जिससे व्यक्ति और समाज का समान रूप से कल्याण होता है—वह सामान्य इच्छा कहलाती है।

रूसो की सामान्य इच्छा की इस कल्पना पर एलथ्यूसियस का काफी प्रभाव पड़ा है और एक प्रकार से यह संप्रभुता की कल्पना को स्पष्ट करता है। रूसो का कहना है कि सामान्य इच्छा ही में संप्रभुता अवस्थित है। लॉक की संप्रभुता जहाँ संरक्षक है और हॉब्स की संप्रभुता अधिनायकत्व, वहाँ रूसो की संप्रभुता अनिवार्यतः प्रजातांत्रिक है।

सामान्य इच्छा की उपर्युक्त कल्पना द्वारा हम निम्नलिखित परिणाम निकाल सकते हैं। **पहला,** यह कि रूसो राज्य को सावयविक मानता है। **दूसरा,** यह कि सावयविक राज्य का नैतिक अस्तित्व होता है जिसकी अपनी इच्छाएँ भी होती हैं। **तीसरा,** यह कि यही सामान्य इच्छा विधियों का अंतिम स्रोत है। **चौथा,** यह कि सामान्य इच्छा के अधिकार-क्षेत्र में राज्य का प्रत्येक व्यक्ति आ जाता है। सामान्य इच्छा को इस बात का पूरा हक है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक कृत्य का फैसला करे और बतलाये कि उसका वह कार्य न्यायसम्मत है या नहीं। **पाँचवाँ,** यह कि सामान्य इच्छा का स्वरूप जितना विराट् होगा उतनी ही वह न्यायशील होगी। **छठा,** यह कि सामान्य इच्छा की प्रवृत्ति सदैव लोक कल्याण की दिशा में रहेगी। रूसो ने इस स्थल पर यह स्पष्ट कर दिया है कि बहुमत की इच्छा ही सामान्य इच्छा नहीं है क्योंकि कभी-कभी बहुमत भी भावनाप्रधान इच्छा का शिकार हो सकता है। मान लीजिए, यदि किसी शहर के अधिकांश व्यक्ति हैजे से पीड़ित हो जायँ और अस्पतालों में रख दिये जायँ। वहाँ डाक्टर की यह आज्ञा सामान्य इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करेगी कि किसी को एक बूँद भी पानी नहीं दिया जाय। ऐसी दशा में यदि रोगियों का पूरा समूह भी पानी माँग तो भी यही कहा जायगा कि वह भावना-प्रधान इच्छा का शिकार है। यथार्थ इच्छा के निर्देशों को वह नहीं मान रहा।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ यह हैं : वह ऐक्यकारी, स्थायी, उचित, अदेय, अविभाज्य, निरपेक्ष एवं शाश्वत होती है। सामान्य इच्छा चूँकि विवेक के निर्देशों का परिणाम होती है इसलिये उसमें प्रतिकूलताएँ नहीं होतीं। जब प्रतिकूलता नहीं होती तो उसका फल एकताकारी होता है। यह स्थायी होती है क्योंकि इसमें परिवर्तन की कभी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्य सदा कल्याण चाहता रहा है, चाहता है और आगे भी चाहेगा, इससे अधिक शाश्वतता का और क्या प्रमाण हो सकता है। जिस प्रकार व्यक्ति किसी को अपना जीवन नहीं दे सकता, उसी प्रकार सामान्य इच्छा भी किसी को हस्तांतरित नहीं की जा सकती।

११.१ **त्रुटियाँ**—रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। सबसे बड़ी त्रुटि तो यह है कि वह अस्पष्ट है। उसके सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का भली-भाँति अध्ययन करने के बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सामान्यइच्छा अंकगणित की कुछ गणनाओं का परिणाम है जब कि वास्तविकता इससे भिन्न है। सामान्य इच्छा कुछ सचल-शक्तियों की गति का परिणाम होती है। दूसरे, व्यावहारिक क्षेत्र में यह अन्तर स्थापित करना बड़ा कठिन है कि कौन-सी सामान्य इच्छा है और कौन-सी बहुमत की इच्छा। सच तो यह है कि कभी-कभी व्यक्ति की ही भावनाप्रधान और यथार्थ इच्छाओं के बीच भेद

स्थापित करना कठिन हो जाता है तो फिर सामान्य इच्छा के बारे में यह कैसे फैसला किया जा सकता है कौन-सी वस्तुतः सामान्य इच्छा है और कौन-सी केवल बहुमत की इच्छा।

रूसो सामान्य इच्छा के जरिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य को भी छीन लेता है जिसकी रक्षा करना वह अपना लक्ष्य बतलाता है। उसका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को सामान्य इच्छा की आज्ञाओं को मानने के लिए विवश किया जा सकता है। सामान्य इच्छा राज्य में ही रह सकती है, इसलिये यह परिणाम स्वाभाविक है कि शासनतंत्र निरंकुश होगा। रूसो का यह कहना गलत है कि सामान्य इच्छा प्रतिनिधिमूलक नहीं होती। वास्तविकता यह है कि आजकल के प्रजातंत्रात्मक देशों में प्रतिनिधित्व द्वारा ही शासन होता है और प्रतिनिधि संवासों में ही सामान्य इच्छा अवस्थित रहती है।

११.२ सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के अनुदाय—इसी सिद्धान्त के आधार पर ग्रीन ने यह सिद्धान्त विकसित किया कि राज्य का आधार बल प्रयोग नहीं बल्कि इच्छा है। कल्याणकारी राज्य की कल्पना के विकास में इससे बड़ी सहायता मिली क्योंकि सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने निजी हितों को पीछे डालकर सामाजिक हितों को आगे रखा। इसी आधार पर यह भी कहा गया कि ऐसे वर्गों को राज्य में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता जो केवल अपने ही हितों का ध्यान रखें। आर्थिक प्रजातंत्र के सिद्धान्त के विकास को भी इससे बड़ा बल मिला।

१२. संप्रभुता संबन्धी मत

रूसो ने संप्रभुता का आवासस्थल सामान्य इच्छा में बतलाया। सामान्य इच्छा चूँकि लोककल्याण की भावना का प्रतिनिधित्व करती है—इसलिये संप्रभुता लोकप्रिय होती है। रूसो को संप्रभुता अनश्वर, अविभाज्य, अप्रतिनिधिमूलक और अमर्यादित है। संप्रभुता अनश्वर है क्योंकि सामान्य इच्छा शाश्वत है। जब तक सामान्य इच्छा का अस्तित्व रहेगा तब तक संप्रभुता भी नष्ट नहीं हो सकती। इसी प्रकार सामान्य इच्छा की अविभाज्यता का असर भी संप्रभुता पर पड़ता है। वह अप्रतिनिधिमूलक है क्योंकि सामान्य इच्छा के बारे में भी कहा गया है कि उसका प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता। वह संप्रभुता को अमर्यादित और असीम बतलाता है फिर भी शासक को यह परामर्श देता है कि उसे प्रत्येक कार्य सामाजिक कल्याण को दृष्टि में रखते हुए करना चाहिए और विधियों को समान रूप से सब के ऊपर लागू करना चाहिए।

१३. शासनतंत्रों का वर्गीकरण

शासनतंत्रों का वर्गीकरण रूसो ने भी किया है लेकिन राज्य और शासनतंत्र को अलग-अलग रखकर। रूसो के मतानुसार राज्य एक सम्पूर्ण सावयव है जिसमें सामान्य इच्छा का आवास होता है। शासनतंत्र राज्य के उन व्यक्तियों का समूह है जिनको यह अधिकार दिया जाता है कि वे सामान्य इच्छा की शक्तियों का समाज के हित में प्रयोग करें। शासनतंत्र लोकप्रिय सामान्य इच्छा के निर्देशों के पालन का साधन है। रूसो ने (१) राजतंत्र, (२) आभिजात्य तंत्र और (३) प्रजातंत्र के रूप में शासनतंत्रों का वर्गीकरण किया है। वह मिश्रित शासनतंत्रों के स्वरूपों को भी मान्यता देता है। प्रजातांत्रिक शासन को वह छोटे राज्यों के उपयुक्त मानता था। किस देश के लिये कौन-सा शासनतंत्र उत्तम होगा—यह बात रूसो देश के भौतिक वातावरण पर निर्भर करता है। साधारणतः उसका मत था कि प्रजातंत्र और रूसो भी प्रत्यक्ष प्रजातंत्र (Direct Democracy) सर्वोत्तम है।

१४. व्यक्ति-स्वातंत्र्य और विधियाँ

रूसो का कहना था कि चूँकि प्राकृतिक अवस्था के बाद व्यक्ति राज्य को अपने सारे अधिकार दे देता है और राज्य उसका ही एक विराट् रूप है—इसलिये राज्य के बंधनों से व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई हनन नहीं होता। राज्य जो विधियाँ बनाता है—वह उसी की इच्छा से बनी होती है; अतः उनको व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता पर लगाये गये प्रतिबंध नहीं मानता। वह अपने राज्य के नागरिकों को राज्य की शक्ति का मुकाबला करने या सीमित करने के लिये कोई अधिकार नहीं देता।

विधियों को रूसो ने सामान्य इच्छा की आवाज ही माना है। उसका कहना है कि विधि की उत्पत्ति सामूहिक इच्छा और सहमति से होती है। उसमें सबका कल्याण निहित होता है—इसलिये विधि से व्यक्ति का विरोध हो ही नहीं सकता। वह विधियों को सामान्य इच्छा के निर्देशों के पालन का साधन मानता है?

१५. राजक्रान्तियाँ

सन् १७५२ में जेनेवावासियों को रूसो ने एक पत्र लिखा था जिसमें कई राजनीतिक महत्व की बातें थीं। इसी पत्र में हमें उसके राजक्रान्तियों संबंधी विचार मिलते हैं। उसने लिखा था कि हत्याएँ करना अत्यन्त खतरनाक काम है। क्रान्ति में हत्याओं का होना अनिवार्य है और हत्याओं से वही सब दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिन दोषों को मिटाने के लिये क्रान्ति की जाती है। इसलिये क्रान्तिकारियों को हत्याओं से यथाशक्ति बचना चाहिए। इतना होते हुए भी रूसो के राजदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों ने फ्रांस की राजक्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया और उस क्रान्ति में ऐसा रक्तपात हुआ जिसकीबातें सुनकर रूसोकी मृतात्मा भी कब्र में सिहर उठती होगी। रूसो के दर्शन के फ्रांसीसी क्रान्तिकालीन नेता और व्याख्याता रॉब्रेस्पोयर ने रूसो को क्रान्ति के देवता की उपाधि से विभूषित किया। और यह ठीक भी था--क्योंकि रूसो के सारे सिद्धान्त तर्कसंगत दृष्टि से क्राति की ओर ही ले जानेवाले थे।

१६. रूसो के अनुदाय और उनका महत्व

रूसो ने अपने युग और आनेवाली पीढ़ियों को प्रकृति की ओर वापस लौटने का बड़ा जबर्दस्त नारा दिया। इस नारे का असर साहित्य, दर्शन, शिक्षा और राजनीति आदि सब पर पड़ा। यूरोप में तो प्रकृतिवादियों का एक आन्दोलन ही चल पडा था। रूसो ने राष्ट्र-राज्य की कल्पना के विकास में भी बहुत अधिक मदद दी। राज्य की एकता पर भी उसने बहुत अधिक बल दिया। रूसो ने विधियों की श्रेष्ठता सिद्ध की और आधुनिक विधियों के निर्माण में सक्रिय योग प्रदान किया। शासनतंत्र और राज्य का अन्तर जितने स्पष्ट ढंग से रूसोने किया, वैसा अन्य समकालीन विचारकों में नहीं मिलता। रूसोके उत्तराधिकारियों ने व्यक्तिवाद का समर्थन किया और उनमें से कुछ तो राज्य की शक्ति और अधिकार-सीमा को भी कम करने का प्रयास करने लगे। आजकल के कल्याणकारी राज्य की कल्पना का श्रीगणेश भी रूसो ने यह कहकर किया कि राज्य को ऐसी विधियाँ बनानी चाहिएँ जिनसे नागरिकों का चरित्र-निर्माण हो, उनके व्यक्तित्व का उत्कर्ष हो। समकालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों को देखते हुए उसका यह कार्य बड़ा जबर्दस्त था। उसने प्रजातंत्र की नींव रखने में बड़ी सहायता दी। यह सिद्धान्त रूसोके बाद ही यूरोपियन राज्यों में स्वयंसिद्ध माना जाने लगा कि जनता ही सारी सत्ता का अंतिम स्रोत है। राज्य की सावयवी कल्पना भी उसी की देन है। व्यक्ति की स्वतंत्रता--राजनीतिक, आर्थिक और आत्मिक स्वतंत्रता--का ढिंढोरा जितना रूसो ने पीटा उतना शायद ही उसके पहले किसी ने पीटा हो। कुछ मामलों में तो वह अपने पूर्ववर्ती फ्रेंच विचारक मॉण्टेस्क्यू से भी आगे बढ़ गया। इसमें तो कोई शक

ही नहीं कि लॉक को अपेक्षा रूसो ने इस दिशा में काफी अच्छा काम किया। रूसो ने अधिकार और स्वतंत्रता के बीच समन्वय स्थापित किया।

लेकिन इसका यह अर्थ नहा है कि रूसो के विचार सब तरफ से सुलझे हुए ही थे। उनमें गुत्थियाँ भो थां और काफी जबर्दस्त गुथियाँ थीं। विचारों की असंगति तो पर्याप्त मात्रा मं परिलक्षित होती है; साथ ही, वस्तविकता यह है किउसने कोई बात निश्चयात्मक रूप से नहीं कहीं केवल संकेत मात्र दिये। उसमें मौलिकता का अभाव था लेकिन उसकी प्रतिभा का लोहा इस बात के लिये माना जाता है कि वह पुरानी ही बातों को बड़ी चतुराई के साथ नये ढग से रखता था। उसके विचारों में असगति इसी बात से प्रकट है कि प्रारंभ में तो वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य का बड़े जोरदार ढंग से समर्थन करता है लेकिन इसके बाद आगे चलकर व्यक्ति को सामान्य इच्छा की दासता छोड़ देता है। उसका कहना था कि सामान्य इच्छा केविरुद्ध किसी भी व्यक्ति को चलने नहीं दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार एक जगह के व्यक्तियों के लिये तो वह कहता है कि जलवायु के कारण वे परतंत्र रह ही नहीं सकते और दूसरी ओर कहता है कि जलवायु के कारण कुछ देशों के निवासियों के लिय स्वतंत्रता खो दना स्वाभाविक है। रूसो की इस बात का मेल उसके इस कथन से नहीं बठ पाता कि स्वतंत्रता सबका समान अधिकार है। एक ओर तो वह सम्पत्ति को आधुनिक सभ्यता का अभिशाप बतलाता है और दूसरी ओर यह भी कहता है कि मानव-जाति को प्रगति इसके बिना नहीं हो सकती। वह जब समकालीन समस्याओं का विश्लेषण करने लगता है तो समस्याओं का निदान करते हुए जो सुझाव देता है उनका उसके सिद्धान्तों से मेल नहीं बैठ पाता। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बड़े प्रजातांत्रिक राज्यों के लिये उपयुक्त नहीं है। उसका दृष्टिकोण धर्म से प्रभावित था और मध्य युग के कुछ विचारों का भी उस पर असर पड़ा था जिसकी वजह से उसका विश्लेषण त्रुटिपूर्ण हो गया था।

इतनी त्रुटियों के होते हुए भी रूसो का अपने युग पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके विचारों से न केवल फ्रांस और यूरोप ही प्रभावित हुआ बल्कि अमेरिका तक उसका असर पड़ा। फ्रांस की राजक्रान्ति का तो वह आदिस्रष्टा ही माना जाता है[1]; अमेरिका के कई राज्यों के संविधानों में उसके विचार उद्धृत किये गये।[2] व्यक्तिवादी, आदर्शवादी और प्रजातंत्रवादी विचारधाराओं को भी रूसो ने प्रभावित किया। रूसो के विचारों से जर्मनी के काण्ट और हीगल जैसे विद्वान् प्रभावित हुए। काण्ट ने स्वीकार किया है कि नैतिक इच्छा का महत्व सबसे पहले रूसो के साहित्य का अध्ययन करके ही समझा था। सामूहिक इच्छा को कल्पनात्मक रूप देकर सामान्य और लौकिक जीवन में हीगल ने जिस प्रकार उसका उपयोग किया वह रूसो के ही दिशा-दर्शन का फल था। गॉडविन, बेंथम आदि भी रूसो से प्रभावित थे।

1. The Declaration of Rights of Man of 8789.
2. The Declaration of Independence of America.

अठारहवीं शताब्दी की आर्थिक विचारधारा और राजदर्शन

१. राजदर्शन और अर्थशास्त्र का संबंध—२. वाणिज्यवाद का विकास—३. फिजियोक्रेटों की विचारधारा—४. ब्रिटन की आर्थिक विचारधारा के निर्माता—५. एडम स्मिथ—६. टॉमस राबर्टमालथ—७. डेविड रिकार्डो—८. एडम फर्ग्यूसन—९. उदारतावादी अर्थशास्त्रीय विचारधार का प्रभाव।

व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का चरमोत्कर्ष अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इउ काल में अन्य कोई सिद्धान्त थे ही नहीं या उनका विकास नहीं हो रहा था। हमारा आशय केवल इतना ही है कि उन दिनों की मूल प्रवृत्ति व्यक्तिवाद थी। लेकिन व्यक्तिवाद का जो स्वरूप चरमोत्कर्ष के रूप में हमारे सामने आता है—उसे उस अवस्था में पहुँचने में काफी समय लगा और इस बीच काफी घात-प्रतिघात भी हुए। व्यक्तिवाद का तीन दिशाओं से समर्थन किया गया। पहली दिशा अर्थशास्त्रीय थी; दूसरी उपयोगितावादी और तीसरी जीवशास्त्रीय। व्यक्तिवाद राजनीतिक सिद्धान्त है फिर भी उसका अर्थशास्त्र द्वारा समर्थन किया गया यह बात सुनने में कुछ विचित्र-सी भले ही प्रतीत हो लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अर्थशास्त्र ने राजनीतिक गति-दिशा को सदैव प्रभावित किया है—यह बात इतिहासप्रसिद्ध है। हाँ,यह बात दूसरी है कि कभी यह प्रभाव हलका रहा हो तो कभी गहरा।

१. राजदर्शन और अर्थशास्त्र के संबंध

इस स्थल पर यह बहुत अधिक अप्रासंगिक न होगा यदि हम राजनीति और अर्थशास्त्र के पारस्परिक संबंधा का सरसरी तौर पर सिंहावलोकन कर लें। यूनानी राजदर्शनशास्त्रियों में सबसे पहले प्लेटो ही ऐसा व्यक्ति था जिसने राजनीति और अर्थशास्त्र के घनिष्ठ संबंधी को मान्यता दी। अपनी पुस्तक 'दि लॉज' (The Laws) में **प्लेटो** ने सम्पत्तिशालिता के आधार पर शासन के पदों को तिरित किये जाने की अनुमति दी है। अरस्तू को राजनीति-शास्त्र और अर्थशास्त्र को दो पृथक् और भिन्न विद्यायें स्थिर करने का श्रेय प्राप्त है लेकिन उसने भी दोनों के घनिष्ठ संबंधों को स्वीकार किया है। उसने कहा कि दोनों शास्त्रों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। वह वयं यह बात भी मानता था कि यदि किसी राज्य को दीर्घजीवी होना है—यदि राज्य को शान्ति और सुख का घर बनाना है तो यह अनावश्यक है कि राज्य में बहुत अधिक अमीरों या गरीबों के वर्ग नहीं हों। धनसकामान वितरण वांछनीय है। यही नहीं उसने यहाँ तक कहा है कि किसी राज्य में कितने व्यक्तियों के पास कितना धन है—इसी आधार पर उस राज्य का स्वभाव निर्दिष्ट होता है। ईसा के बाद और मध्यकाल के आरंभ में जब ईसाई धर्मप्रचारकों का जोर था—तब उन विचारकों ने भी सामाजिक सुव्यवस्था और शान्ति के लिहाज से इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया था कि धन का समुचित रीति से वितरण किया जाय। **मैकियावली** ने, जो अपने युग का सबसे बड़ा राजनीतिक कूटनीतिज्ञ था, अपनी पुस्तक 'प्रिंस' में शासक को सलाह दी है कि वह राज्य को हमेशा धनिको के वर्ग में विभक्त रखे और इन वर्गों को आपस में इस तरह लड़ाता रहे कि शासक के अर्थात् राज्य के आर्थिक हितों को कोई भी क्षति न पहुँचने पाये।

मध्य युग और आधुनिक युग की संधि में भी कई विचारकों ने अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र के घनिष्ठ सबंधों को व्याख्या की। **हैरिंगटन** ने यह कहकर इतिहास की आर्थिक व्याख्या का पथ प्रशस्त कर दिया कि राजसत्ता सदैव सम्पत्तिशाली वर्ग के हाथ में रहती है। लॉक ने तो साफ-साफ यह कहा कि राज्य की उत्पत्ति का आधार ही सम्पत्तिरक्षा है। राज्य को व्यक्ति के जावन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति की रक्षा के लिये ही उत्पन्न किया गया है। मध्य युग का सामन्तवादो ढांचा तो धनियों और भूमिपतियों पर ही बना था।

वाणिज्य (Mercantilism) का विकास

यह सच है कि पाश्चात्य राजदर्शन के आदिकाल से अर्थशास्त्र ने राज्यशास्त्र को बराबर प्रभावित किया किन्तु इतने पर भी अर्थशास्त्र का यह कार्य पृष्ठभूमि में ही रहा। यह अवस्था सोलहवीं शताब्दी के आरंभ तक बनी रही। यूनानी तथा मध्यकालीन सभ्यता की विशेषताओं ने अर्थशास्त्र को राजनीति के क्षेत्र में सतह पर आने से रोका। यूनानी विचारकों ने वस्तुओं का भौतिक मूल्यांकन करने के बजाय आध्यात्मिक मूल्यांकन किया। मध्य काल मे भी अर्थशास्त्र को राज्य का घरेलू विषय समझा जाता था। स्थानीय निकायों का ही यह कार्य समझा जाता था कि वे कर आदि वसूल करें। इसके बाद के राजकोष में जमा हो जाते थे लेकिन इसी बीच एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ। यह वर्ग वणिकों और व्यापारियों का था। इस वर्ग के पास सामन्तों की भाँति न तो विपुल सम्पदा थी और न किसानवर्ग की भाँति यह अति दरिद्र ही था। मध्यवर्ग के लोगों का धनराशि सीमित थी फिर भी इन लोगों में अपने व्यवसाय के प्रति बड़ा उत्साह और उमंग थी और उन्हें विश्वास था कि व्यवसाय में धन लगाने से उनको वैभवशालीनता दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ेगी। ये गजब के साहसी भी थे। नयी दुनिया की खोज निकालना एक व्यापारी का ही काम था। कोलम्बस भारत का जलमार्ग खोजने निकला लेकिन भटककर पहुँच गया अमेरिका। अमेरिका से आनेवाले सोने-चाँदी ने सारे यूरोप के देशों की आँखे खोल दीं। सभी देशों ने स्पेन की समृद्धि से यह सबक सीखा कि कृषि पर अधिक निर्भर रहने से राज्य का वैभव नहीं बढ़ सकता। वह तो तभी बढ़ सकता है जब राज्य के लोग व्यापार करें। व्यापार के क्षेत्र में सभी यूरोपियन राष्ट्र आ गये। फ्रांस और इंगलैण्ड में बड़ी-बड़ी पूँजी से व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित हो गयीं। हालैण्ड भी पीछे नहीं रहा। डचों ने भी पूर्व और पश्चिम से व्यापार करने के लिये कम्पनियाँ बनायीं। प्रत्येक यूरोपियन देश को कच्चे माल की जरूरत थी जिससे वह माल तैयार कर सकता और माल के तैयार हो जाने के बाद ऐसे बाजारों की जरूरत थी जहाँ वह खपाया जा सकता। इस आवश्यकता ने उपनिवेशों को जन्म दिया और यूरोप के प्रमुख देशों ने सारी दुनिया को इस प्रकार आपस में बाँट लिया कि उन क्षेत्रों में उनका एकाधिकार सुरक्षित रहे। व्यापारिक प्रतियोगिता ने बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को और भी उकसाया। एक विद्वान् का यह कहना भी ठीक ही जान पड़ता है कि "वाणिज्यवाद राष्ट्रीयता का आर्थिक पहलू था।" विभिन्न राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति दृढ़ बनाये रखने के लिये सेनाओं की आवश्यकता थी। और भी तरह-तरह के खर्च बढ़ गये थे। यह धन केवल भूमि जोतनेवाले पर कर बढ़ाकर नहीं प्राप्त किया जा सकता था। राजकोष की पूर्ति व्यापार द्वारा ही हो सकती थी। इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के उत्कर्ष में वाणिज्यवाद अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। वाणिज्यवाद का सबसे पहला विचारक सेर्रा नाम का एक इटालियन विचारक था। इंगलैण्ड में वाणिज्यवादी दर्शन की रचना में **सर विलियम पेटटी** और **टॉम्स मन** का नाम उल्लेखनीय है। टॉमस मन ने इटली में रहकर लेवान्त देशों से व्यापार किया था और बड़ी रकम कमायी थी। इनको इंगलैण्ड लौटने पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का डाइरेक्टर नियुक्त किया गया था। टॉमस मन ने सन् १६३० में एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था

'इंगलैण्ड्स ट्रेजर बाई फॉरेन ट्रेड' (England,s Treasure by Foreign Trade) और जो सन् १६६३ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में **मन** ने विस्तारपूर्वक विदेशों से व्यापार करने के लाभ बतलाये थे। लेकिन न **पेट्टी** और न **मन** ने ही इस बात पर बल दिया कि राज्य आर्थिक मामलों में कोई हस्तक्षेप न करे इसके विपरीत प्रारंभ में वाणिज्यवादी विचारकों ने व्यापारियों और व्यापारिक कम्पनियों को यही सलाह दी कि वे यथाशक्ति राजदरबार और राज्याधिकारियों के सहयोग से कार्य करें। फ्रांस में चौदहवें लुई के योग्य वित्तमंत्री **कॉलबर्ट** ने वाणिज्यादी नीति को आगे बढ़ाया। कॉलबर्ट ने ऐसे कार्य किये जिनसे फ्रांस के व्यापारियों को अपने कार्य में अधिकाधिक सुविधा हो। उसने फ्रांस से बाहर भेजे जाने वाले माल पर कम और आनेवाले माल पर अधिक कर लगाकर फ्रांस के उद्योग को संरक्षण दिया। इसके अतिरिक्त फ्रांस के बाहर उसके बाजार बने रहें—इसकी व्यवस्था उसने फ्रांसीसी साम्राज्य का निर्माण करके की। फ्रांस की नौ सेना भी उसी ने बनायी। कॉलबर्ट की नीति की वजह से ही इंगलैण्ड को भी कई प्रतिबंधात्मक अधिनियम बनाने पड़े। इनमें नेवीगेशन एक्ट आदि का नाम उल्लेखनीय है। रूस और जर्मनी भी पीछे नहीं रहे। जर्मनी में अर्थविज्ञान का विकास हुआ। इसका नाम वहाँ केमरेलिज्म (Kammeralism) था। यह शब्द 'केमर' (Kammer) अर्थात् 'राज्यकोष' से बना है। लेकिन जर्मन केमरलिस्टों और इंगलैण्ड के वाणिज्यवादियों में मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ जर्मन 'केमरलिस्ट' अर्थविज्ञान के पारंगत विद्वान् थे वहाँ इंगलैण्ड के वाणिज्यवादी पंडित नहीं, कुशल व्यापारी थे। जर्मन केमरलिस्टों **बचर्स, बॉन हॉरिग, जस्टी** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

वाणिज्यवादी दर्शन के अध्ययन से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि इसके विचारक सम्पूर्ण राष्ट्र को सम्पत्ति बढ़ाना चाहते थे और सो भी राज्य के सहयोग से। वे यह नहीं कहते थे कि व्यापार करना व्यक्ति का काम है और राज्य को उसमें कोई भाग नहीं लेना चाहिए; केवल व्यक्ति की रक्षा, उसकी सम्पत्ति और स्वतंत्रता की रक्षा ही करनी चाहिए। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वाणिज्यवाद अनिवार्यतः व्यक्तिवादी नहीं था।

३. फिजियोक्रेटों (Physiocrates) की विचारधारा

'फिजियोक्रेट' का शब्दार्थ भौतिकवादी है। यह विचाधारा वाणिज्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप पनपी और इसका मुख्य केन्द्रस्थल फ्रांस था। फ्रांस के बाहर इस विचारधारा का प्रभाव तो पड़ा लेकिन यह विचारधारा अधिक मान्यता प्राप्त नहीं कर सकी। फिजियोक्रेट **वाणिज्यवायों** के विरोधी थे। इस विचारधारा के लिये फ्रांस की भूमि अत्यन्त उर्वर सिद्ध हुई। कॉलबर्ट ने व्यापारिक नीतियों का अनुसरण करते हुए जो विशल साम्राज्य खड़ा किया था उसे कॉलबर्ट के उत्तराधिकारी सँभाल न सके। कुछ समय के लिये यह स्थिति हो गयी कि निर्धन जनता राज्य के कर भारों से दबी हुई बुरी तरह कराह रही थी और दूसरी ओर धनिकवर्ग के लोग-भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर रहे थे। इन लोगों से राज्यकर भी नहीं लिया जाता था। किसान और कृषि उद्यम से संबंधित सभी व्यक्ति तबाह हो रहे थे। ऐसी अवस्था में फिजियोक्रेट विचारकों ने राज्य की वाणिज्यवादी नीति के विरुद्ध आवाज बुलन्द की और कहा कि व्यापार तथा उद्योग करनेवालों का श्रम अनुत्पादक है। उत्पादक श्रमिक वे ही हैं जो कृषि पर निर्भर रहकर, भूमि जोत-बोकर जीवन व्यतीत करते हैं। फिजियोक्रेटों ने व्यक्ति की स्वाधीनता पर लगाये गये प्रतिबंधों का भी विरोध किया। उन्होंने कहा कि वित्तीय और आर्थिक असन्तुलन का कारण वाणिज्यवादी नीति ही है।

३.१ **फिजियोक्रेटों के दर्शन पर समकालीन और पूर्ववर्तियोंका प्रभाव**—फिजियोक्रेट विचारक प्राकृतिक विधियों की पूर्ववर्ती और समकालीन दार्शनिकों की कल्पना से सबसे अधिक प्रभावित हुए थे। वे कहते थे कि प्राकृतिक विधियाँ न्याय का मूर्तिमान् स्वरूप हैं। जिस प्रकार इन विधियों का प्रयोग राजनीतिक क्षेत्र में किया जाता है उसी प्रकार इनका प्रयोग औद्योगिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में भी किया जाना चाहिए। इस संबंध में डेस्कार्टे, लॉक और रूसो के साहित्यसे फिजियोक्रेटों ने स्वतंत्रतापूर्वकसामग्री ली और उनके प्रति कृतज्ञता भी प्रकट की उनका कहना था कि प्राकृतिक विधियों के कारण एक प्रकार की स्वभाविक व्यवस्था (Natural Order) उत्पन्न हो जाती है और यह व्यवस्था सब भाँति से पूर्ण और त्रुटिहीन होती है। इसके विपरीत राज्य द्वारा की गयी सकारात्मक व्यवस्था (Positive Order) सदैव अपूर्ण होती है। उसमें त्रुटियाँ भी रह जाती हैं। इसीलिये बरावर संशोधन और परिवर्तन की आवश्यकता भी पड़ा करती है। अतः सबसे अच्छा मार्ग यही है कि प्राकृतिक या स्वाभाविक व्यवस्था के अनुकूल रहा जाय। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति पर कोई प्रतिबंध न लगाया जाय। वरन प्रतियोगिता में वह अपने अनुकूल स्वयं ही कोई मार्ग तलाश कर लेगा।

३.२ **फिजियोक्रेटो की आर्थिक सिद्धान्तावली**—फिजियोक्रेट विचारक, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, कृषि को मुख्य व्यवसाय मानते थे। वे उसी श्रम को श्रम—फलदायी अथवा उत्पादक श्रम—मानते थे जो भूमि पर किया जाय। इसी सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने व्यापार एवं वाणिज्य को अनुत्पादक माना है। उनका कहना था कि राज्य को तथा राज्य के पूँजीपतियों को भूमि में धन लगाना चाहिए तथा राज्य में केवल एक ही कर होना चाहिए। यह कर वे भूमिकर मानते थे। उनका कहना था कि वास्तविक सम्पत्ति किसी भौतिक पदार्थ में ही होती है और इसलिये भूमि ही सम्पत्ति है। वे व्यवसाय आदि के मामले में व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देते थे।

३.३ **समाज, राज्य और शासनतंत्र**—फिजियोक्रेटों ने लॉक का अनुसरण करते हुए बतलाया कि समाज और राज्य की उत्पत्ति सम्पत्ति-रक्षा की आवश्यकता के कारण ही हुई। लेकिन राज्य को व्यक्ति ने जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति के अधिकार नहीं दिये। वे अधिकार व्यक्ति ने अपने पास ही रखे और कहा कि इन अधिकारों की रक्षा करना राज्य का परम कर्तव्य है। राज्य द्वारा इन अधिकारों की रक्षा भली भाँति हो सके—इसलिये राजा को सेना रखने का अधिकार दिया गया। संप्रभु शासक को ऐसी विधियाँ बनाने का हक नहीं था जो व्यक्ति के उक्त तीन मौलिक अधिकारों के विरुद्ध हों। शासन को व्यक्ति पर न्यूनतम शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। फि जयोक्रेट राजतंत्र के पक्षपाती थे और वे चाहते थे कि गद्दी पर जो भी राजा बैठे वह ज्ञानवान् और उदारचेता हो। संप्रभुता संबंधी यह सीमा बतला देने के बाद कि राजा को संप्रभु होने के नाते मौलिक अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए, उन्होंने और कोई रोक राजा के अधिकारों पर नहीं लगाई। राजा और शासन का यह भी काम बतलाया कि वे कम से कम विधियाँ (laws) रहने दें। अनावश्यक विधियों को नष्ट कर दिया जाय। इतने पर भी उन्होंने कहा कि राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की शिक्षा की व्यवस्था करे।

३.४ **प्रमुख फिजियोक्रेट विचारक**—जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं फिजियोक्रेटिक विचारधारा का जन्म और विकास फ्रांस में हुआ था। इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि प्रमुख फिजियोक्रेट विचारक फ्रांसीसी होते। ऐसे फ्रेंच विचारकों में फ्रांकॉय क्वीन्सने (Franics Quensnay), ज्यां डी गूर्ने (Jean De Gournay), मर्सीयर डी ला रेवियर (Mercier De la Reviere), जक्वे टर्गाट (Jacques Turgot),

ड्यूपाँ डी नमर्स (Dupont De Nemours) का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी विचारक सन् १७५८ तक हुए। सन् १७५८ में क्वीन्सने की फिजियोक्रेटिक विचारधारा के संबंध में पहली पुस्तक 'टेबल इकनॉमिक' (Tableau Economique) निकली। इसके अतिरिक्त क्वीन्सने की प्राकृतिक अधिकार संबंधी पुस्तक "ले ड्रॉयट नेचुरल" (Le Droit Naturel) भी प्रसिद्ध है। ये दोनों पुस्तकें फ्रेंच भाषा में हैं। फिजियोक्रेटिक विचारधारा के अध्ययन के लिये मर्सीयर डी ला रेवियर की 'राजनीतिक समाजों की प्राकृतिक और आवश्यक व्यवस्था' (L, Order Natural et Essential des Societes Politiques) भी प्रसिद्ध है। इसके अलावा अन्य विचारकों की भी कई पुस्तकें हैं। इन सभी विचारकों ने प्रायः एक-से ही विचार प्रकट किये हैं जिनकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं।

४. ब्रिटेन की आर्थिक विचारधारा के निर्माता

ब्रिटेन की समकालीन आर्थिक विचारधारा के निर्माण में औद्योगिक क्रान्ति का बड़ा जबर्दस्त हाथ है। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व और इसके बाद भी इंगलैण्डवासियों को भयंकर विपन्नता, मुसीबतों तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व इंगलैण्ड में यूरोप तथा अन्य देशों की भाँति हस्तकौशल ही उद्योग-क्षेत्र की कुंजी थी; लेकिन भाप के इंजिन के आविष्कार ने पूरा नकशा ही बदल दिया। हाथ की कारीगरी का स्थान मशीनों के हाथ में जाने लगा। एक मशीन दस-दस और बाद में सैकड़ों मजदूरों को बेकार करने लगी। उत्पादन के साधनों की संभावनाएँ मशीन के आ जाने से बहुत अधिक बढ़ गयीं। मशीनों के प्रचार से मजदूरों की बेकारी बढ़ गयी और बेकारी की वजह से दुष्कर्मों और अपराधों की संख्या भी बढ़ गयी। लेकिन यह क्रान्ति का कालिमापूर्ण पक्ष था। यदि उज्ज्वल पक्ष पर दृष्टि डाली जाय तो औद्योगिक क्रान्ति की वजह से ब्रिटेन दुनिया में प्रथम श्रेणी का औद्योगिक राष्ट्र बन गया। लंकाशायर में सूती वस्त्रों के बड़े-बड़े कारखाने औद्योगिक क्रान्ति की ही देन थे। कोयले का उत्पादन बढ़ जाने से ब्रिटेन इस्पात बनानेवाले देशों में भी सबसे आगे हो गया। इसी प्रकार इंगलैण्ड को कृषि की दृष्टि से उन्नत करने में भी मशीनों ने बड़ा योग दिया। कुल मिलाकर औद्योगिक क्रान्ति के उज्ज्वल पक्ष ने उसके कालिमापक्ष को धो दिया। राष्ट्रीय उत्पादन के साधनों के विकसित और उन्नत स्वरूप ने कुछ वर्षों के अन्दर देश में फैली बेकारी और गरीबी को काफी हद तक मार भगाया। पुराने समय की वाणिज्यवादी परम्पराएँ समाप्त हो गयीं। कुछ लेखकों ने इनका डटकर विरोध किया। ऐसे विचारकों में सर जोशिया चाइल्ड (Sir Joshiah Child) और डडले नार्थ (Dudley North) का नाम उल्लेखनीय है। इन दोनों विचारकों ने सेना के अग्रगामी विध्वंस दस्तों जैसा काम किया और पुरानी परम्पराओं के खण्डहरों पर औद्योगिक परम्पराओं का निर्माण किया। उद्योगपतियों को राज्य की ओर से भी बढ़ावा दिया गया। इंगलैण्ड के उद्योगों की रक्षा के लिये बड़े-बड़े उपनिवेशों से व्यवसाय आरंभ किया गया और ब्रिटेन ने अपने लिये एक ऐसा साम्राज्य बना लिया जिसमें "चौबीसों घण्टे सूरज चमका करता था।" लेकिन उद्योगों ने इंगलैण्ड की सारी समस्याओं को हल नहीं कर दिया। बेकारी और गरीबी तो दूर हुई, लेकिन काम मिलने पर भी पेट भरने और तन ढाँकने लायक से अधिक कोई मजदूर कितना ही काम करे—कमा न पाता। गरीबी गरीबों की नहीं बल्कि अमीरों की दूर हुई। गरीब गरीब होते चले गये और अमीरों की दौलत बढ़ती चली गयी। उद्योगीकरण से जिस सामाजिक रामराज्य (Social Millennium) की आशा की गयी थी वह सपने की चीज ही बनी रही। नतीजा यह हुआ कि कुछ लोगों ने माँग की कि राज्य मजदूर

वर्ग की रक्षा के लिये कदम उठाये। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया और कहा कि राज्य को ऐसा नहीं करना चाहिए। उन्होंने कहा कि राज्य का कर्तव्य केवल शांति और व्यवस्था की रक्षा करना है। उसका कार्य किसी वर्ग विशेष के हितों की रक्षा करना नहीं। इसलिये उसे उद्योग आदि के क्षेत्र में यद्‌भाव्यं नीति (Policy of Laissez Faire) का अनुकरण करना चाहिए। यद्‌भाव्यं नीति का अर्थ है जैसा होता है—वैसा होने दो; उसमें हस्तक्षेप मत करो। इस नीति के मौलिक सिद्धान्त के निर्माताओं में एडम स्मिथ, टॉमस राबर्ट मालथस और एडम फर्ग्यूसन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन विचारकों के संबंध में नीचे के अनुच्छेदों में हम जरा विस्तार से विचार करेंगे।

५. एडम स्मिथ (Adam Smith)

५.१ जीवन-परिचय—एडम स्मिथ का जन्म सन् १७२३ में हुआ था। उसका परिवार बड़ा सम्पन्न और ख्यातिप्राप्त था। प्रारंभिक शिक्षा के बाद वह ग्लासगो विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिये भेज दिया गया। वहाँ उसे फ्रांसिस हचेसन जैसे अध्यापक मिले। वह लगभग छः वर्ष तक ऑक्सफोर्ड में भी रहा। लेकिन इसके बाद अध्यापक की हैसियत से ग्लासगो वापस लौट आया। यहाँ उसका सम्पर्क ह्यूम जैसे उदारवादी विचारकों से हुआ। यहीं से उसने अपने गुरुओं की प्रेरणा से लिखने का कार्य शुरू किया। शीघ्र ही स्मिथ का लेखन-कला में बड़ा नाम हो गया और उसे चार्ल्स टाउनशंड जैसे प्रभावशाली व्यक्ति की कृपा प्राप्त हो गयी। इन्हीं के वरद् हस्त की छाया में एडम स्मिथ ने यूरोप का भ्रमण किया और फ्रांस जाकर अनेक अर्थशास्त्रियों और राजदर्शन के विचारकों से मिला। समकालीन फ्रांसीसी फिजियोक्रेटों से भी उसकी मुलाकात हुई। इन विचारकों ने एडम स्मिथ के विचारों की न केवल प्रशंसा ही की अपितु पुष्टि भी की। एडम स्मिथ की मृत्यु सन् १७९० में हुई। एडम स्मिथ ने अपना सारा जीवन नये-नये विचारों की खोज में ही बिताया था और लास्की ने यह ठीक ही लिखा है कि "बहुत कम ऐसी जीवनियाँ हैं जिनके नायकों ने एडम स्मिथ की भाँति दर्शन के तटस्थ स्वाध्याय में अपना जीवन बिताया हो।"

५.२ एडम स्मिथ के महत्वपूर्ण ग्रंथ—एडम स्मिथ का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ 'दि वेल्थ ऑफ नेशन्स' (**The Wealth of Nations**) है। यह सन् १७७६ में प्रकाशित हुआ था और इसी ग्रन्थ पर उसकी ख्याति आधारित है। उक्त पुस्तक का विषय मुख्यतः अर्थशास्त्र है—जैसा कि नाम से ही प्रकट है; लेकिन एडम स्मिथ के राजनीतिक विचार भी हमें इसी पुस्तक में मिलते हैं। इसके पूर्व एडम स्मिथ ने सन् १७५९ में दि थ्योरी ऑफ मॉरल सेन्टीमेण्ट्स' (The Theory of Moral Sentiments) भी लिखी थी यह उसकी पहली पुस्तक थी। इसके अलावा एडम स्मिथ के व्याख्यानों का एक संग्रह 'लेक्चर्स ऑन जस्टिस, पोलिस, रेवेन्यू एण्ड आर्म्स" (Lectures on Justice, Police, Revenue and Arms), भी प्रकाशित हुआ है। इन व्याख्यानों का संकलन केनान (Cannan) ने किया है। इनसे भी हमें स्मिथ के राजदर्शन संबंधी विचारों की झलक मिलती है।

५.३ पूर्ववर्तियों का प्रभाव—यदि एडम स्मिथ के उक्त साहित्य का अध्ययन किया जाय तो बड़ी सुविधा से यह पता लगाया जा सकता है कि पूर्ववर्तियों का सभी विचारकों की भाँति स्मिथ पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। एडम स्मिथ ने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध के सभी विचारकों के ग्रंथों का भली भाँति अध्ययन किया था। इनके अलावा उसने समकालीन फिजियोक्रेटिक विचारधारा का भी अध्ययन किया था। ह्यूम और **हचेसन** के तो व्यक्तिगत सम्पर्क में भी वह रहा था। इनके अलावा **पफेनडर्फ, ग्रोशस** और **लॉक** का भी उसने गहन अध्ययन किया था। अपने समय के विचारकों में एडम स्मिथ अपने अध्यापकों के अतिरिक्त **जोशिया टकर** और **एडम फर्ग्यूसन** से भी प्रभावित हुआ था।

५.४ एडम स्मिथ की समस्या—एडम स्मिथ ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक 'दि वेल्थ ऑफ नेशन्स' इँगलैण्ड की तत्कालीन आर्थिक पृष्ठभूमि में लिखी थी। इस पुस्तक का लक्ष्य राष्ट्रों के समक्ष ऐसे साधनों को स्पष्ट रूप से रख देना था जिनके उपयोग से वे अपनी गरीबी दूर कर सकें और आर्थिक वैभव प्राप्त करने के लक्ष्य की ओर बढ़ सकें। अतएव एक वाक्य में उसकी समस्या थी कि 'राज्य की आर्थिक अवस्था सुधारकर उसे किस प्रकार वैभवसम्पन्न' बनाया जाय।अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये एडम स्मिथ ने "उन राजनीतिक नियमों को आलोचना की जो न्याय के सिद्धान्तों पर नहीं आधारित होते बल्कि राज्य की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति और राज्य की निधि, शक्ति और सम्पत्ति बढ़ाने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए एडम स्मिथ ने वाणिज्य, वित्त, धार्मिक एवं सैनिक संस्थाओं से संबद्ध राजनीतिक संवासों पर विचार किया।"[1] हमें एडम स्मिथ के अर्थशास्त्र के विचारों से तो वर्तमान स्थल पर अधिक प्रयोजन नहीं है लेकिन आर्थिक समस्या का हल खोजने की चिन्ता में उसने राजनीतिक संवासों तथा राजनीति से संबंधित जो विचार प्रकट किये उन्हीं पर संक्षेप में विचार करना है।

५.५ मानव-स्वभाव और राज्य की उत्पत्ति—एडम स्मिथ का कहना था कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है। वह प्रत्येक कार्य किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये करता है। समाज की स्थापना भी व्यक्ति के स्वार्थों की पूर्ति के लिये हुई और समाज की सदस्यता भी मनुष्य ने इसीलिये स्वीकार की। आगे चलकर लोगों ने राज्य की स्थापना भी अपने कुछ हितों की पूर्ति के लिये ही की। लेकिन स्मिथ यह नहीं मानता कि मनुष्य ने अपने समस्त अधिकार राज्य को दे दिये। उसका कहना है कि राज्य की स्थापना के बाद भी उसके प्राकृतिक अधिकार बने रहे और राज्य को उन अधिकारों में हस्तक्षेप करने का कोई हक नहीं है। इस विचार में हमें स्मिथ पर लॉक के विचारों का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। स्मिथ यह भी नहीं मानता था कि कृषि श्रम ही परिश्रम का एकमात्र रूप है। उसकी मानव-स्वभाव, समाज और राज्य की कल्पना उपयोगितावादी है।

५.६ शासन के कर्तव्य—एडम स्मिथ ने राज्य और शासन का अन्तर स्पष्टतः मानते हुए शासनतंत्र के कर्तव्यों की जो विवेचना की है उनका मूलभाव यह है कि वे सीमित होते हैं। स्मिथ के राज्य में शासन को व्यापक अधिकार नहीं दिये जाते। लेकिन एडम स्मिथ अपने विचारों में कट्टरतावादी नहीं है—वह मानता है कि यदि शासनतंत्र चाहे तो अपने अधिकारक्षेत्र की वृद्धि भी कर सकता है। परन्तु उसका यह कहना था कि शासन को राज्य की शांति और व्यवस्था की ही रक्षा करनी चाहिए। यदि वह चाहे तो वाणिज्य और उद्योग के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप कर सकता है लेकिन उसे यथाशक्ति इससे बचना चाहिए। वह मानता था कि यदि शासन राज्य के निवासियों के जीवन का बहुत अधिक नियंत्रण और नियमन करेगा तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रगति और विकास में बाधा पड़ेगा। इसालिए स्मिथ ने शासन के निम्नलिखित कार्य बतलाये; (१) बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा, (२) विधि और न्याय का प्रबंध, (३) स्कूल, चर्च आदि जैसी उपयोगी संस्थाओं को चलाना तथा (४) राज्य के संचार-साधनों (Means of Communication) की व्यवस्था और रक्षा।

---

1 He (Adam Smith) 'examined those political regulations which are founded not upon the principles of justicebut that of expediency and which are calculated to increase the riches, the power and the property of a state. Under this view he considered the political institutions relating to commerce, to finance, to ecc- lesiastical and military establishment". See Stewart's Works, Ch. X, p. 12.

५.७ एडम स्मिथ के विचारों का प्रभाव——एडम स्मिथ के विचारों में यूरोप और इंगलैण्ड की सत्ताधारी शक्तियों को अपने मस्तिष्क और विचारों की झलक मिली। उसकी पुस्तक ने न केवल इंगलैण्ड में बल्कि यूरोप भर में हलचल मचा दी। यूरोप की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जिसमें एडम स्मिथ की पुस्तक का अनुवाद न हुआ हो। उसके जीवनकाल ही में उसकी पुस्तक की लाखों प्रतियाँ बिक गयीं। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री पिट ने बहुत से आर्थिक सुधार एडम स्मिथ की पुस्तक में दिये गये सुझावों के आधार पर ही किये। एडम स्मिथ के विचारों की प्रसिद्धि के कारण उसकी एक शिष्य-परम्परा ही चल पड़ी। **रिचर्ड कॉब्डन और जॉन ब्राइट** (Richard Cobden and John Bright) जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री इस शिष्य-परम्परा की ही देन हैं। उसके विचारों ने पुराने संसार में मुक्त व्यापार का द्वार खोल दिया।

५.८ आलोचना——एडम स्मिथ के विषय में विचार समाप्त करने के पूर्व उसके विचारों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डालना अनुचित न होगा। एडम स्मिथ ने राज्य की आर्थिक विपन्नता दूर करने के लिये जो सुझाव रखे थे उनके परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियों को तो लाभ अवश्य हुआ——इन अर्थों में कि पूँजीपतियों की पूँजी बढ़ी और उद्योगपतियों के उद्योग और आय के साधन बढ़े——लेकिन राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि के साथ जैसी खुशहाली आनी चाहिए थी वह न आ सकी। एडम स्मिथ के विचारों की वजह से लोगों में भौतिकवादी और अत्यन्त स्वार्थी दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया। एडम स्मिथ की राज्य की कल्पना पुलिस-राज्य से अधिक मिलती-जुलती थी; कल्याणकारी राज्य से नहीं। यही नहीं सम्पत्ति अर्जित करने के साधनों पर प्रकाश डालते हुए उसने जनसंख्या की समस्या पर भी कोई ध्यान नहीं दिया। यह कार्य एक अन्य विद्वान् मालथस ने किया।

६. टॉमस राबर्ट मालथस (Thomas Robert Malthus)

(अ) **जीवन-परिचय, ग्रंथ और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि**——टॉमस राबर्ट मालथस का जन्म सन् १७६६ में हुआ। वह भी एडम स्मिथ का प्रशंसक और अपने समय का प्रसिद्ध अर्थशास्त्री था। उसकी ख्याति का आधार भी एक ही पुस्तक है——'ऐसे ऑन पॉप्यूलेशन' (Essay on Population)। यह पुस्तक इतनी क्रान्तिकारी थी कि जब सबसे पहले सन् १७९८ में इसे प्रकाशित किया गया तो इस पर लेखक का कहीं नाम ही नहीं था। बाद में जब पुस्तक के विचारों का स्वागत होने लगा तो उसके अन्य संस्करणों की परिवर्धित करके मालथस ने उस पर अपना नाम दिया। इस पुस्तक को मालथस ने एक निश्चित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखा था। जब तक इस पृष्ठभूमि पर एक सरसरी-सी नजर न डाल ली जायगी तब तक पुस्तक का वास्तविक महत्व समझने में कठिनाई अनुभव होगी। मालथस के पहले मॉण्टेस्क्यू ने जनसंख्या के प्रश्न पर विचार किया था। बाद के कुछ विचारकों ने तो यहाँ तक कहा कि जनसंख्या का बढ़ते रहना जरूरी है और जितनी ही किसी देश की जनसंख्या अधिक होगी उतना ही वह बलवान् होगा। लेकिन मालथस के समय में यह दशा नहीं रही। बेकारी, गरीबी तथा महामारियों के भीषण दृश्यों ने मालथस को समस्या का हल खोजने के लिये विवश कर दिया। अभी वह सोच ही रहा था कि उन्हीं दिनों विलियम गॉडविन की एक पुस्तक निकली——'कनसर्निंग पॉलिटिकल जस्टिस' (Concerning Political Justice)। इस निबंध में गॉडविन ने यह बतलाने की कोशिश की कि हमारी धन की वितरण-प्रणाली ही त्रुटिपूर्ण है अन्यथा पृथ्वी पर पैदा होनेवाले प्रत्येक मनुष्य का बोझ धरती सँभाल सकती है। यदि धन का वितरण उचित प्रणाली से हो तो प्रत्येक को पर्याप्त अन्न और वस्त्र मिल सकता है और वह आराम से रह सकता है। मालथस ने केवल वितरण-प्रणाली को ही दोषपूर्ण मानने से इन्कार कर दिया और कहा

कि जनसंख्या भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि वह बराबर बढ़ती जायगी तो एक सीमा के बाद भूमि उनके लिये खाने भर को भी पैदा नहीं कर सकेगी। मालथस की मृत्यु सन् १८३४ में हुई।

६.१ **मालथस का जनसंख्या सिद्धान्त**—मालथस का कहना था कि उसने जनसंख्या संबंधी अपना मत जीवनयापन के साधनों और जनसंख्या वृद्धि के सापेक्षिक संबंधों के आधार पर स्थिर किया है। इस संबंध में उसका कहना था कि यदि किसी देश की जनसंख्या उस देश के जीवनयापन के साधनों से अधिक बढ़ जाती है तो वह देश उस अवस्था में हरगिज समृद्ध नहीं हो सकता। उसने बतलाया कि जीवनयापन के साधनों में हमेशा गणित के नियमों के अनुसार वृद्धि होती है; अर्थात् वे एक, दो, तीन, चार आदि इस तरह से बढ़ते हैं और जनसंख्या ज्यामितिक प्रणाली के अनुसार बढ़ती है; अर्थात् २×२=४, ४×४=१६, आदि। इस प्रकार जब जीवनयापन के साधन केवल चार गुना बढ़ पाते हैं तब जनसंख्या सोलह गुना बढ़ जाती है। ऐसी दशा में राष्ट्रीय समृद्धि बढ़ाने का क्या उपाय है? इस प्रश्न का उत्तर मालथस ने यह दिया कि "राज्य को जनसंख्या को बढ़ने से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।" यदि राज्य ऐसा नहीं करेगा तो प्रकृति करेगी। प्रकृति जनसंख्या की अधिकता को महामारी आदि से रोकती है। मालथस का कहना था कि जनसंख्या वृद्धि के मानवीय उपायों को काम में लाने से नागरिकों को सुखी रखा जा सकता है, राष्ट्र की समृद्धि बढ़ सकती है और लोगों को अनावश्यक कष्ट से बचाया जा सकता है।

मालथस के सिद्धान्त का अर्थशास्त्र पर तो असर पड़ा ही—राजदर्शन भी उससे प्रभावित हुआ। मालथस का मूल लक्ष्य था समाज की उन्नति हो और सब को सुख मिले। यह लक्ष्य उपयोगितावादी था। इसलिये, यह स्वाभाविक था कि उपयोगितावादी विचारक इसका स्वागत करते और वही हुआ भी। मिल के राजदर्शन संबंधी विचार इससे काफी प्रभावित हुए।

७. डेविड रिकार्डो (David Ricardo)

७.१ **परिचय**—अंग्रेज अर्थशास्त्रियों की परम्परा में डेविड रिकार्डो का नाम भी उल्लेखनीय है। रिकार्डो का जन्म सन् १७७२ में हुआ था और मृत्यु सन् १८२३ में। रिकार्डो के कई ऐसे आर्थिक सिद्धान्त हैं जिनका प्रभाव राजदर्शन पर पड़ा। ये सिद्धान्त 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकनॉमी' (The Principles of Political Economy) में प्रतिपादित किये गये हैं। यह पुस्तक सन् १८१७ में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक की वजह से ही बाद में रिकार्डो को पार्लियामेण्ट की सदस्यता के लिये प्राप्त हुई किया गया। डेविड रिकार्डो के विचारों ने केवल अप्रत्यक्षतः राजदर्शन को प्रभावित किया है और वे मुख्यतः अर्थशास्त्र की विषयवस्तु हैं—इसलिये हम उन विचारों के संबंध में विस्तारपूर्वक यहाँ चर्चा नहीं करेंगे।

७.२ **रिकार्डो का 'कर सिद्धान्त'**—रिकार्डो के ग्रंथ में लगान के सिद्धान्त (Law of Rent) का सबसे अच्छा विवेचन है। रिकार्डो का कहना था कि भूमि का लगान भी अपने आप स्थिर होता है। इस कार्य में राज्य की तरफ से कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। रिकार्डो का कहना था भूमि पर कर हमेशा औसत से अधिक होनेवाली पैदावार पर लगा करता है। यथा, क, ख और ग खेतों की उपज क्रमशः ८, १०, १२ मन है तो इनकी औसत पैदावार दस मन की मानी जायगी। यदि 'घ' नाम के भूमि क्षेत्र की पैदावार बढ़कर १४ मन हो जाती है तो इसका अर्थ यह होगा कि अतिरिक्त पैदावार ही 'घ' क्षेत्र का कर होना चाहिए। रिकार्डो ने अपनी 'पॉलिटिकल इकनॉमी' में यह बात बड़े-बड़े

उदाहरण देकर स्पष्ट की और बतलाया कि जिस प्रकार प्राकृतिक नियमों को कोई बदल नहीं सकता—वे शाश्वत और स्थायी होते हैं, इसी प्रकार भूमिकर का यह सिद्धान्त भी स्थायी है—इसमें कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। चूंकि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इतने स्पष्ट ढंग से सबसे पहले रिकार्डो ने किया था—इसलिये यह रिकार्डो का भूमिकर का सिद्धान्त कहलाता है।

८. एडम फर्ग्यूसन (Adam Ferguson)

८.१ **परिचय**—अठारहवीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों की परम्परा में चौथा नाम एडम फर्ग्यूसन का है। यह सच है कि एडम फर्ग्यूसन ने राजदर्शन या अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कोई मौलिक कार्य नहीं किया किन्तु अपनी साहित्यिक प्रतिभा और अभिव्यक्ति की शक्ति से उसने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। एक साधारण स्कॉच परिवार में फर्ग्यूसन का जन्म सन् १७२३ में हुआ था और मृत्यु सन् १८१६ में। लेकिन सीमित साधनों के होते हुए भी अपनी प्रतिभा के बल पर एडम फर्ग्यूसन धीरे-धीरे एडिनबरा विश्वविद्यालय में नैतिकदर्शन के प्राध्यापक के पद पर पहुँच गया।

एडम फर्ग्यूसन ने एडम स्मिथ, ह्यूम, मॉण्टेस्क्यू आदि के साहित्य के अतिरित अपने समकालीन सभी विद्वानों के ग्रंथों का गंभीर स्वाध्याय किया था और प्रायः सभी के विचारों में फर्ग्यूसन की पैठ और गति बड़ी अच्छी थी। उसने रूसो के साहित्य का भी अध्ययन किया था लेकिन वह रूसो के विचारों से बिलकुल सहमत नहीं था और उसने अपने ग्रंथों में उनकी आलोचना भी की।

फर्ग्यूसन के ग्रंथों में 'स्पिरिट ऑफ लॉज' (The Spirit of Laws) और 'प्रिंसिपिल्स ऑफ मॉरल एण्ड पॉलिटिकल साइन्स' (Principles of Moral and Politica- Science) का भी नाम है किन्तु उसकी सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक 'एसे ऑन सिविलाइजेशन (Essay on Civilization) है जो सन् १७६७ में प्रकाशित हुई।

८.२ **मुक्त प्रतिद्वंद्विता का सिद्धान्त**—अर्थशास्त्र के क्षेत्र में एडम फर्ग्यूसन का नाम मुक्त प्रतिद्वंद्विता के सिद्धान्त का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन करने के कारण प्रसिद्ध है। एडम स्मिथ की तरह फर्ग्यूसन भी यह मानता है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है लेकिन वह मानव-स्वभाव की यही व्याख्या मानने के लिये प्रस्तुत नहीं होता। उसका कहना है कि मानव-स्वभाव की कोई एक सरल व्याख्या करना बडा कठिन है क्योंकि वस्तुतः वह बड़ा जटिल होता है। वह शांति भी चाहता है लेकिन प्रगति का परित्याग नहीं कर सकता। वह अस्थिरता चाहते हुए भी स्थिरता की इच्छा करता है। फर्ग्यूसन रूसो की इस बात से बिलकुल सहमत नहीं है कि मानवता का अंतिम लक्ष्य पूर्ण शांति और स्थायी व्यवस्था को स्थापना करना है। फर्ग्यूसन का कहना है कि ऐसा तभी हो सकता है जब विकास और प्रगति की कभी कोई गुंजायश ही नहीं रहे जैसा होना सर्वथा असंभव है। जब तक मनुष्य विकास और प्रगति के लिये उत्सुक रहेगा तब तक संघर्ष होना अनिवार्य है। इसलिये संघर्ष और विरोध मनुष्य की प्रगति की इच्छा को प्रकट करनेवाले वाह्य लक्षण हैं। ये लक्षण मनुष्य की स्वाभाविकता और स्वस्थता को प्रकट करते हैं—इसलिये इनसे घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वाणिज्य, व्यवसाय, वित्त आदि के क्षेत्र में जितनी ही स्वतंत्रता होगी—जितनी ही मुक्त प्रतिद्वंद्विता होगी—उतना ही सब को लाभ होगा। फर्ग्यूसन का मत था कि इस कार्य में माँग और पूर्ति का सिद्धान्त सक्रिय रूप से कार्य करता है। राज्य को क्रय-विक्रय, मूल्य-निर्धारण आदि में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे विकास में बाधा पड़ती है।

८.३ **आलोचना**—मुक्त प्रतिद्वंद्विता का सिद्धान्त पुस्तक के पृष्ठों पर जितना सुनहला लगता है—वस्तुतः वह व्यावहारिक क्षेत्र में वैसा नहीं है। पूंजीपतियों और उद्योगपतियों ने अपनी साधन-सम्पन्नता का इस मामले में पूरा लाभ उठाया। वे निर्धन, साधनहीन और असहाय मजदूरों, उनकी स्त्रियों और बच्चों से अठारह-अठारह घण्टे काम लेते थे और इतने पर भी केवल पेट भरने लायक मजदूरी ही देते थे। जब इस दशा को सुधारने के लिये दयालु नागरिकों और मजदूर नेताओं की तरफ से आवाज उठायी गयी तो पूंजीपतियों और उद्योगपतियों ने कहा कि वे स्वयं ही अपने यहाँ के मजदूरों की अवस्था सुधारने का प्रयत्न करेंगे लेकिन राज्य की तरफ से इस तरह के किसी भी अधिनियम या कानून को बनाने का अर्थ होगा प्राकृतिक विधान में हस्तक्षेप करना जिससे समाज और राज्य की प्रगित तथा विकास में बाधा पड़ेगी। नतीजा यह हुआ कि मुक्त प्रतिद्वंद्विता के सिद्धान्तों की आड़ में निरीह मजदूरों पर किये जाने वाले अत्याचारों का एक प्रकार से अप्रत्यक्ष समर्थन किया गया। मजदूरों ने जब अपनी अवस्था सुधारने के लिये हड़तालें कीं, उपद्रव किये तो राज्य द्वारा शांति और व्यवस्था के नाम पर मजदूरों का दमन कर दिया गया। इसलिए उक्त सिद्धान्त का सामूहिक विकास का इष्ट कार्यान्वित न हो सका।

८.४ **राज्य की प्रकृति और उसके कर्तव्य**—फर्ग्यूसन ने राज्य की प्रकृति तथा उसके कर्तव्यों के संबंध में भी कई स्थलों पर प्रकाश डाला है। फर्ग्यूसन यह नहीं मानता कि राज्य की उत्पत्ति किसी अनुबंध या संविदा पर आधारित है। फर्ग्यूसन के अनुसार समाज की उत्पत्ति मनुष्य ने सहज स्वभाववश (अर्थात् अपने स्वार्थ साधन के स्वभाव से) की है। समाज के बाद राज्य की भी स्थापना इसी प्रकार हुई। मनुष्य की राज्य या समाज के पूर्व क्या अवस्था थी—यह अध्ययन का मनोरंजक विषय अवश्य हो सकता है लेकिन इसके आधार पर कोई कल्पना करके सिद्धांत स्थिर करने की बात मूर्खतापूर्ण है। फर्ग्यूसन ने यह बात हॉब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्त का अध्ययन कर भली भाँति अनुभव कर ली थी। उसने यह देख लिया था कि मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था की कल्पना का समान आधार मानते हुए भी उक्त तीनों विद्वानों के निष्कर्षों में कितना अन्तर था। राज्य की अनुबंधात्मक उत्पत्ति न मानते हुए भी फर्ग्यूसन ने यह बतलाया कि मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जाता है त्यों-त्यों यह आवश्यक होता जाता है कि शासन के अधिकारियों को अपने यहाँ के नागरिकों की सहमति प्राप्त हो। वह शासनतंत्र के अन्य व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों की भाँति अत्यन्त सीमित कर्तव्य बतलाता था। विवेचन के संबंध में उसका कहना था कि राज्य की विधायिका शक्ति (Legislative Organ) को सामाजिक, औद्योगिक अथवा वाणिज्य की समस्याओं को हल करने के लिये काम में नहीं लाना चाहिए क्योंकि मानवसमाज के विकास की दृष्टि से ऐसा करना हानिकारक है। मनुष्य सम्पत्ति इसलिये एकत्रित करता है क्योंकि वह चाहता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसके बच्चे और परिवार को भरण-पोषण की समस्या का सामना न करना पड़े। वह मानता है कि मनुष्य समान होते हैं लेकिन वह बौद्धिक असमानता में भी विश्वास रखता है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य भी वह आवश्यक समझता है लेकिन कहता है कि "उसकी रक्षा मतभेदों और विरोधियों की संख्या पर निर्भर करती है।" फर्ग्यूसन के विचारों के अध्ययन से यह साफ-साफ प्रकट हो जाता है कि उसका अपना क्या व्यक्तित्व था। वह कट्टरतावादी स्वभाव का था और यह नहीं चाहता था कि जो कुछ हो रहा है उसमें कोई हस्तक्षेप किया जाय। उसका कहना था कि अति करना ठीक नहीं होता। हमेशा मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। यही वजह है कि वह न आभिजात्य राजनीतिज्ञों द्वारा शासन किये जाने के पक्ष में था और न तो क्रान्तियाँ पसन्द करता था और न यही पसन्द करता था कि अत्यधिक लोकप्रिय प्रजातंत्रवाद की स्थापना की जाय। फर्ग्यूसन का अपना कोई मौलिक अनुदाय नहीं है

९. उदारतावादी अर्थशास्त्रीय विचारधारा का प्रभाव

एडम स्मिथ, टॉमस राबर्ट मालथस, डेविड रिकार्डो और एडम फर्ग्यूसन के अर्थशास्त्रीय विचारों को 'आर्थिक उदारतावाद' (Economic Liberalism) बतलाया जाता है लेकिन वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यह आर्थिक उदारतावाद कुछ ही साधनसम्पन्न व्यक्तियों के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। अधिकांश लोगों के लिये तो ये विचार व्यवहार में विष-तुल्य ही सिद्ध हुए। इन अर्थशास्त्रियों के मानव-स्वभाव (कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है), मुक्त प्रतिद्वंद्विता, जनसंख्या, भूमिकर आदि सभी सिद्धान्तों से ब्रिटिश उद्योगपतियों के हितों को पुष्टि हुई। इन सिद्धान्तों का जब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापारिक विनिमयादि के लिये प्रयोग किया गया तब भी ब्रिटिश पूंजीपतियों का ही फायदा हुआ। यदि अन्य राज्यों ने अपने देश के उद्योगों का संरक्षण कर लगाकर रक्षा न किया होता तो सभी देशों के उद्योग नष्ट हो जाते और उनके खण्डहरों पर ब्रिटेन के उद्योग-धंधे पनपते। इसका कारण यह था कि औद्योगिक क्रान्ति सबसे पहले यहीं हुई और उसके बाद ब्रिटेन के ही उद्योग-धंधों ने सबसे अधिक उन्नति की। अन्य राष्ट्र इस दौड़ में पिछड़े हुए थे। इसलिये ब्रिटेन की बनायी हुई चीजें ही सर्वोत्तम हुआ करती थीं। अमेरिका और फ्रांस आदि ने जब पहले-पहल संरक्षण कर (Protective Duties) लगाये तो इनका ब्रिटेन ने बड़ा विरोध किया। लेकिन बाद में जब ब्रिटेन औद्योगिक दौड़ में पिछड़ने लगा तो उसने खुल्लमखुल्ला अपने प्रचारित सिद्धान्तों के विरुद्ध अन्य देशों की सामग्री पर ब्रिटेन में कर लगा दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन अर्थशास्त्रियों के विचारों का स्वयं ब्रिटेन ने ही खण्डन कर दिया।

ब्लैकस्टोन, बर्क और गॉडविन

१. अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोपीय राजदर्शन--२. सर विलियम ब्लैकस्टोन--३. राज्य और संप्रभुता--४. आलोचना--५. जीन डी लॉल्मे--६. अमरीका की राजक्रान्ति--७. फ्रांस की राजक्रान्ति--८. बर्क के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि--९. जीवन-परिचय, अध्ययन-पद्धति और कृतियाँ--१०, राज्य और समाज संबंधी विचार--११. अधिकार और सम्पत्ति--१२. शासन एवं सुधारों के बारे में बर्क के विचार--१३. फ्रांस की राज का विरोध--१४. अनुदारवादी दार्शनिक के रूप में बर्क--१५. उपनिवेशों तथा युद्ध और शान्ति संबंधी विचार--१६. बर्क के अनुदाय और उसका स्थान--१७. टॉम पेन--१८. विलियम गॉडविन--१९. प्रतिक्रियावादी यूरोपियन विचारक।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोपीय राजदर्शन

यूरोप और इँगलैण्ड में अठारवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ऐसे अनेक सामाजिक, आर्थिक और राजदर्शनशास्त्री हुए जिनके विचारों का राजनीति पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। फ्रांस जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस और स्पेन के नरेश और राजसत्ताधारी व्यक्ति इन विचारकों के प्रभाव में आय और उन्होंने तदनुसार सुधार किये। अठारहवीं शताब्दी के विचारकों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। पहले वर्ग में सामाजिक और नैतिक विचारक आते हैं और दूसरे वर्ग में सांविधानिक दृष्टिकोण से राजदर्शन पर विचार करने वाले दर्शनशास्त्री आते हैं। पहले वर्ग के विचारक अधिकांशतः फ्रास में हुए जिनमें **मॉरेली** (Morelly) **एबेमेबली** (Aube Mably), **हेलवेशियस** (Helvetius) **हॉलबेक** (Holbach) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। फ्रांस में ये सब विचारक फ्रांस की राजक्रान्ति के पूर्व हुए।. दूसरे वर्ग में, जिसे हम न्यायाचार्यों या न्यायाशास्त्रियों का वर्ग भी कह सकते हैं **सीजारे बेसेरिया** (Cessare Beccaria), **गेटानो फायलेनजोरी** (Galtano Filangieri), **सर विलियम ब्लेक स्टोन** (Sir William Blackstone) तथा स्विस न्याय्याचार्य **डी लॉल्मे** (Jean De Lolme) का नाम लिया जाता है। राजदर्शनशास्त्रियों के विचारों के अनुसार जिन नरेशों ने कार्य किया उनमें जर्मनी के **फ्रेडरिक महान्** का नाम सबसे पहले लिया जाता है। फ्रेडरिक महान् के ही पदचिह्नों का अनुसरण आस्ट्रिया के **जोसेफ द्वितीय,** रूस की रानो **केथराइन द्वितीय** और स्पेन के **चार्ल्स तृतीय** ने किया। हमें प्रस्तुत अध्याय में यूरोप के तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधारों पर विचार नहीं करना है और न हम इस अध्याय में प्रथम वर्ग के सामाजिक और नैतिक विचारकों के सिद्धान्तों पर ही विचार करेंगे। प्रस्तुत अध्याय में हम द्वितीय वर्ग के प्रसिद्ध अँग्रेज न्यायशास्त्री सर विलियम ब्लैकस्टोन के संबंध में विचार करेंगे और संक्षेप में स्विस न्याय्याचार्य जोन डी लॉल्मे के विचारों पर भी प्रकाश डालेंगे।

सर विलियम ब्लैकस्टोन अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की सांविधानिक न्यायशास्त्रीय विचारधारा के प्रतिनिधि थे। यूरोप में ब्लैकस्टोन के समय में जो परिवर्तन हो रहे थे उनका

असर इँगलैण्ड मे भी हो रहा था। ब्लैकस्टोन के कृतित्व में वे लक्षण स्पष्टतः परिलक्षित हो जाते हैं। यूरोप के न्यायशास्त्री विचारकों की परम्परा में तो ब्लैकस्टोन का स्थान है ही, सर एडवर्ड कोक के बाद इंगलैण्ड के न्यायशास्त्री और संविधानवेत्ताओं की परम्परा में भी ब्लैकस्टोन का नाम आता है। ब्लैकस्टोन के पूर्व इंगलैण्ड के संविधान का अध्ययन मॉण्टेस्क्यू तथा वॉल्टेयर आदि विदेशी विचारकों ने किया था; लेकिन ब्लैकस्टोन के पहले किसी अँग्रेज विचारक ने यह कार्य नहीं किया था। माण्टेस्क्यू आदि की ब्रिटिश संविधान की प्रशस्ति से इंगलैण्डवासियों का ध्यान भी इस ओर गया और ऐसे व्यक्तियों की भावनाओं के प्रतिनिधि के रूप में ब्लैकस्टोन ने इंग्लैंड के संविधान का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया।

२.१ जीवन-परिचय और ग्रंथ—ब्लैकस्टोन का जन्म इंगलैण्ड के एक सामान्य घराने में सन् १७२३ में हुआ था। उन्होंने आरंभिक शिक्षा के उपरान्त ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। यहाँ उन्होंने उच्चतम शिक्षा ग्रहण की। ऑक्सफोर्ड में ही इन्हें प्राध्यापक की जगह मिल गयी। यहाँ नैतिक और आचारदर्शन के ये आचार्य माने जाते थे। इसी दौरान में राजदर्शन की दिशा में भी इनकी रुचि हुई और इन्होंने इंगलैण्ड की विधियों पर एक टीका लिखी जिसका नाम था 'दि कमेण्ट्रीज ऑन दि लॉज ऑफ इंगलैण्ड' (The Commentaries on the Laws of England) यह ग्रंथ सन् १७६५ में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ के बाद इन्हें इँगलैण्ड की संसद की सदस्यता भी प्राप्त हो गयी और बाद में इन्हें 'सर' की उपाधि दी गई। अपने जीवन के अन्तिम समय सर ब्लैकस्टोन जज थे। इनको ब्रिटेन के सॉलसिटर जनरल के पद पर भी नियुक्त किया जा रहा था लेकिन उस पद का कार्यभार सँभालना इन्होंने अस्वीकार कर दिया। सर ब्लैकस्टोन को अपने व्यक्तिगत जीवन में अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। इसलिए इन्होंने अपनी रचनाओं में असंतोष की भावनाओं को कोई स्थान नहीं दिया और इंगलैण्ड की विधियों को 'बौद्धिकता का चमत्कार' बतलाया। ब्लैकस्टोन की मृत्यु सन् १७८० में हुई।

ब्लैकस्टोन का ग्रंथ अपने आप में कोई बहुत मौलिक रचना नहीं है लेकिन इसमें इंगलैण्ड की प्रायः सभी विधियों को संकलित करके उनकी व्याख्या कर दी गयी है। प्रोफेसर डायसी का तो कहना है कि "इस पुस्तक में हमारी (इँगलैण्ड की) शासन व्यवस्था के बारे में पर्याप्त ज्ञान की बातें दी हुई हैं।" बेंथम के शब्दों में ब्लैकस्टोन ने "न्यायशास्त्र को पहली वार विद्वान् और सज्जन की भाषा प्रदान की।" कुछ भी हो ब्लैकस्टोन की यह पुस्तक यूरोप में ही लोकप्रिय सिद्ध न हुई अपितु अमेरिका में भी इनका बड़ा स्वागत किया गया। अनेक यूरोपियन भाषाओं में पुस्तक का अनुवाद हुआ और छपने के पहले ही हजारों प्रतियों के 'आर्डर' प्रकाशकों को मिलने लगे। फ्रांस के न्यायाचार्यों ने तो इस पुस्तक में वर्णित अनेक सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। इस पुस्तक में ब्लैकस्टोन ने सबसे पहले राज्य संबंधी सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया और इसके बाद विधियों को प्राकृतिक, दैवी और राजकीय, तीन वर्गों में विभक्त कर उनका विवेचन किया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि पुस्तक सर्वथा दोषरहित है। इसमें अनेक त्रुटियाँ भी हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे। इस पुस्तक के अध्ययन से विदित हो जाता है कि ब्लैकस्टोन पर पफेनडर्फ, लॉक और मॉण्टेस्क्यू आदि का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

---

1. Prof. Dicey has remarked, "Certainly the book contains much real learning about our system of Government," as quoted by H. J. Laski in *Pol. Th. in England from Locke to Bentham*, p. 117.

३. राज्य और संप्रभुता

ब्लैकस्टोन के राज्य संबंधी सिद्धान्तों के प्रतिपादन से ज्ञात होता है कि वह मानव-स्वभाव को स्वार्थी मानते हुए भी मनुष्य के मस्तिष्क की इतनी सरल व्याख्या को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न था। उसका कहना था कि मनुष्य का मस्तिष्क बड़ा जटिल होता है। यह सच है कि मनुष्य समाज और राज्य के कार्यों में अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही भाग लेता है लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे तत्व हैं जो मनुष्य को सचेष्ट बनाते हैं। ब्लैकस्टोन के अनुसार समाज मनुष्य की सहज-सहयोग की भावना के क्रियान्वित होने के अनुभव का परिणाम है। समाज की स्थापना और उसकी जड़ें पारस्परिक सहयोग के अनुभव के कारण दृढ़ होती गयीं। जब मनुष्य ने समाज की रक्षा, शान्ति और व्यवस्था के लिए राज्य की आवश्यकता समझी तब वह भी बन गया। इस प्रकार मनुष्य की समाज और राज्य की दिशा में हुई प्रगति स्वाभाविक थी। ब्लैकस्टोन समाज या राज्य की स्थापना का आधार किसी अनुबंध को नहीं मानते और न उनका विश्वास मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था की किसी कल्पना में है। वे समाज को "भय और आवश्यकताओं" पर आधारित मानते हैं। राज्य के विकास के स्वाभाविक बतलाने के उपरान्त ब्लैकस्टोन ने बतलाया कि प्रत्येक राज्य में एक "सर्वोच्च, अप्रतिहत, परम निरपेक्ष एवं अनियंत्रित" शक्ति होती है। इसी शक्ति को हम ब्लैकस्टोन की संप्रभुता की कल्पना कह सकते हैं। ब्लैकस्टोन का मत था कि इंगलैण्ड में यह शक्ति "नरेश सहित संसद" TheKing-in-Parliament में निहित है। ब्लैकस्टोन ने अपनी पुस्तक में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि उक्त (संप्रभु) शक्ति प्राप्त होने के ही कारण संसद (पार्लमेण्ट) द्वारा बनाई गई और राजा द्वारा स्वीकृत विधियों तथा अधिनियमों का उल्लंघन वहाँ का कोई भी नागरिक नहीं कर सकता।

३.१ **प्राकृतिक अधिकार, विधियाँ और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य**—जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, ब्लैकस्टोन ने विधियों के तीन स्वरूपों को माना है। पहला है प्राकृतिक; दूसरा है दैवी और तीसरा है राजकीय। ब्लैकस्टोन ने प्राकृतिक और दैवी विधियों पर तो विचार ही नहीं किया। इनके संबंध में उसने आरंभ में ही कह दिया कि इन विधियों पर विचार करना पुस्तक के विषय-क्षेत्र से बाहर है। उसने राजकीय विधियों पर ही विचार किया। राजकीय या नागरिक विधि की परिभाषा ब्लैकस्टोन ने इस प्रकार दी कि "राजकीय या नागरिक विधि वह नियम हैं जिनको राज्य की सर्वोच्चशक्ति नागरिकों के आचरणों को नियंत्रित करने के लिए बनाती है और बताती है कि क्या उचित है और क्या अनुचित।" ब्लैकस्टोन ने यह भी बतलाया कि अनुबंध और विधियों में अन्तर है और विधियों का पालन किया जाना अनिवार्य है। किन्तु, अनुबंध का विरोध करते हुए भी ब्लैकस्टोन ने व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का जिस प्रकार समर्थन किया उससे स्पष्ट है कि वह लॉक से कितना प्रभावित था। उसका कहना था कि मनुष्य ने राज्य की अधीनता अवश्य स्वीकार की है लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसने अपने प्राकृतिक अधिकारों का भी परित्याग कर दिया है। नागरिक स्वतंत्रता के अधिकारों को ही ब्लैकस्टोन प्राकृतिक स्वातंत्र्य मानता था। ब्लैकस्टोन का मत था कि इस अधिकार को मानवीय या नागरिक विधियों द्वारा उसी सीमा

---

1 Civil Law is "a rule of civil conduct prescribed by the supreme authority of the state, commanding what is right and what is wrong." Sir W. Blackstone in *Commentaries on the Laws of England* as quoted by H. J. Laski in *Pol. Th. in England from Locke to Bentham*, p. 117.

तक प्रतिबंधित किया जाना चाहिए जहाँ तक वह सार्वजनिक कल्याण के लिए आवश्यक हो[1] ब्लैकस्टोन का यह भी कहना था कि स्वातंत्र्य की रक्षा करना राज्य का परम कर्तव्य है। अब प्रश्न उठता है कि प्राकृतिक अधिकारों से ब्लैकस्टोन का क्या आशय था? ब्लैकस्टोन के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों के अन्तर्गत मूलतः तीन अधिकार आते हैं : (१) जीवन-रक्षा का अधिकार, (२) स्वतंत्रतापूर्वक गमनागमन या विचार-अभिव्यक्ति का अधिकार और (३) सम्पत्ति रखने का अधिकार। इन तीन अधिकारों की मूलभित्ति पर ब्लैकस्टोन ने अन्य अधिकारों की इमारत भी खड़ी की थी। अन्य अधिकारों में ब्लैकस्टोन ने व्यक्ति का कानून के अनुसार अपने कष्ट-निवारण के लिए राजा के समक्ष प्रार्थनापत्र देने का अधिकार व अपनी रक्षा के लिए शस्त्र रखने के अधिकार दिये हैं। अधिकारों और सुविधाओं की दृष्टि से ब्लैकस्टोन को इंगलैण्ड का संविधान सबसे अधिक पसन्द था। इसका कारण यह था कि ब्लैकस्टोन इंगलैण्ड के संविधान और उस संविधान के अनुसार निर्मित शासन को मिश्रित शासनतंत्र का आदर्श उदाहरण समझता था। उसके अनुसार इंगलैण्ड के संविधान में राजतंत्र (Monarchy), आभिजात्यतंत्र (Aristocracy) और प्रजातंत्र (Democracy) आदि तीनों प्रकार के शासनों या राज्यों के गुण आ जाते हैं। इस स्थल पर यह बतला देना अनुचित न होगा कि राज्य और शासनतंत्र के बीच ब्लैकस्टोन ने कोई स्पष्ट अन्तर नहीं बतलाया। इसलिये यह कह सकना कठिन है कि राज्य और शासन में ब्लैकस्टोन की दृष्टि से क्या अन्तर था। इंगलैण्ड में राजतंत्र, आभिजात्यतंत्र और प्रजातंत्र के तत्वों का प्रतिनिधित्व, ब्लैकस्टोन के मतानुसार, राजा (The King), लार्ड सभा (The House of Lords) और लोकसभा (The House of Commons) करते हैं। इन अंगों का एक दूसरे पर ऐसा नियंत्रण और सन्तुलन रहता है कि किसी भी वर्ग के हित को क्षति नहीं पहुँच सकती सब में सुरक्षा की भावना होने के ही कारण इंगलण्ड की राज्यव्यवस्था पूर्णतः समन्वित रहती है। ब्लैकस्टोन ने यह भी बतलाने की चेष्टा की कि शासन के विभिन्न अंग किस प्रकार इंगलैण्ड में कार्य करते हैं।

४ आलोचना

अन्त में यह आवश्यक है कि हम ब्लैकस्टोन के विचारों पर आलोचनात्मक दृष्टि से भी विचार कर लें। ब्लैकस्टोन का सबसे बड़ा दोष तो यह दिखलायी पड़ता है कि उसने अपने विचारों को समकालीन स्थिति के पर्यवेक्षण पर आधारित नहीं किया। अपने निष्कर्षों को ब्लैकस्टोन ने अतीत के तथ्यों द्वारा पुष्ट किया था और इस वजह से उसके निष्कर्ष गलत भी हो गये। जेरेमी बेन्थम ने अपनी पुस्तक में ब्लैकस्टोन की इस बात के लिए बड़ी आलोचना की है। ब्लैकस्टोन की पुस्तक के लोकप्रिय होने का एकमात्र कारण यह था कि उसमें इंगलण्ड के विधि-विधानों को लिख कर उनकी व्याख्या की गयी थी। चूंकि इंगलैण्ड का संविधान अलिखित है और उस समय तक वैसी कोई पुस्तक नहीं थी—इसलिए उक्त पुस्तक का इंगलण्ड तथा बाहर के देशों में स्वागत होना स्वाभाविक था। इतने पर भी ब्लैकस्टोन की पुस्तक में बहुत-सी बातें छूट गयी थीं। उदाहरण के लिए ब्लैकस्टोन की पुस्तक में मंत्रिमंडल, राजनीतिक दलों या मंत्रिमण्डलीय उत्तरदायित्वों

---

1 "Civil liberty was natural liberty," so far restrained by human laws (and no farther) as is necessary and expedient for the general advantage of the public. William Blackstone in *Commentaries of Blackstone* Book I, Chapter i.

की कोई चर्चा नहीं की गयी थी। इसके अलावा ब्लैकस्टोन अपनी मतों का आप ही खण्डन करने का भी दोषी है। एक ओर तो वह प्राकृतिक अवस्था (The State of Nature) की ऐतिहासिकता पर संदेह प्रकट करता हुआ राज्य की आनुबंधिक उत्पत्ति को अस्वीकृत कर देता है और दूसरी ओर प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना को सम्मानपूर्ण स्थान देता है; जब कि प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना पूर्णतः अनुबंधवाद पर ही आश्रित है। वह जानता था कि ह्यूम ने लॉक के उन सिद्धान्तों का भली भांति खण्डन कर दिया है जो कल्पना पर आधारित थे लेकिन इतने पर भी लॉक की प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना को स्वीकार कर ब्लैकस्टोन ने दो ऐसी बातों को जोड़ने की कोशिश की जिनका परस्पर कोई संबंध नहीं था, और वे हैं एक ओर तो अनुबंधवादी राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त का विरोध और दूसरी ओर प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि ब्लैकस्टोन के विचारों में अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती। ब्लैकस्टोन ने एक भूल यह भी की कि राज्य (State) और शासन (Government) का कोई अन्तर नहीं बतलाया। इसी प्रकार ऑस्टिन की यह आलोचना भी ठीक जान पड़ती है कि एक ओर तो ब्लैकस्टोन राज्य को सर्वोच्च शक्ति (संप्रभुता) का केन्द्रस्थल मानता है और दूसरी ओर यह कहकर कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को कोई नहीं छीन सकता—अपनी ही बात का खण्डन कर देता है। यदि व्यक्ति पर राज्य का पूरा अधिकार नहीं है और व्यक्ति के कुछ ऐसे भी अधिकार हैं जिन्हें राज्य स्पर्श नहीं कर सकता तो ब्लैकस्टोन की यह बात कैसे मानी जा सकती है कि राज्य सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न सत्ता है?

५. ज्याँ डी लाल्मे (Jean de Lolme)

ऐतिहासिक दृष्टि से ब्लैकस्टोन के बाद और विदेशी लेखकों की दृष्टि से मॉण्टेस्क्यू के बाद डी लॉल्मे का स्थान ब्रिटिश संविधान की प्रशस्ति करनेवालों में दूसरा है। डी लॉल्मे स्विट्जरलैण्ड का निवासी था। न्यायशास्त्र उसके अध्ययन का विषय था। लॉल्मे का जन्म सन् १७४० में हुआ था और मृत्यु सन् १८०६ में। उसने ब्रिटिश संविधान पर एक पुस्तक भी लिखी।[1] इस पुस्तक में उसने व्यक्ति-स्वातंत्र्य (Individual Liberty) की समस्या का हल खोजने का प्रयत्न किया है। लॉल्मे के विचार व्यक्तिस्वातंत्र्य के संबंध में ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

ब्रिटिश संविधान में लॉल्मे की राय में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यही थी कि उसमें बंदी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) का भी विधान है। ऐसी व्यवस्था लॉल्मे को अन्य किसी यूरोपियन देश की राज-व्यवस्था में नहीं दिखलायी पड़ी। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए लॉल्मे का कहना था कि जनसत्ता और राजसत्ता का परस्पर समन्वय चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जनसत्ता राजकीय सत्ता की इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं पर नियंत्रण रखे और राजकीय सत्ता जनसत्ता को अनुभवहीन कार्य करने से रोके। इन दोनों शक्तियों के सन्तुलन और नियंत्रण को बनाये रखने के लिए लॉल्मे ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता, जूरियों द्वारा न्याय करने की व्यवस्था और राजनीतिक दलों आदि को अच्छा उपादान माना है। लॉल्मे पूर्णतः प्रजातंत्रवाद का समर्थक नहीं था। उसका मत था कि सामान्य जनता को शासनकार्य में सीमित अधिकार ही देना चाहिए। सामान्य नागरिक की राजनीतिक बुद्धि स्वल्प और साधन सीमित होते हैं—इसलिए उनसे शासनिक कार्य में अधिक योग नहीं लेना चाहिए।

---

१ पुस्तक का नाम *Constitution de I Angleteree* है यह पुस्तक सन् १७७१ में लॉल्मे के निर्वासन काल में प्रकाशित हुई थी। इसका अँग्रेजी संस्करण भी है।

६. अमेरिका की राजक्रान्ति

बर्क तथा गॉडविन आदि राजनीतिज्ञों के राजदर्शन पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम लोग अमेरिकन और फ्रेंच राजक्रान्तियों के विषय में भी संक्षेप में विचार कर लें क्योंकि इन दोनों ही राजक्रान्तियों का इंगलैण्ड के समकालीन और बाद के राजदर्शन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

६.१ अमेरिका की राजक्रान्ति के मूल कारण—अमेरिका (उत्तरी) के उपनिवेशों में रहनेवाले अधिकांश निवासी यूरोपियन देशों और विशेषकर इंगलैण्ड के थे इन्हें आरंभ से स्वशासन के पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। इंगलण्ड की संसद इनके लिए विधियाँ और अधिनियम बनाया करता था और इनका कोई विरोध भी उपनिवेशों के निवासियों द्वारा नहीं किया जाता था। अमरिका की राजक्रान्ति के लगभग चालीस पचास वर्ष पूर्व से अमरिका और इंगलैण्ड के राजसत्ताधारियों में मताधिकार, बंदियों के आगमन, मुद्रा तथा भूमिकर आदि प्रश्नों को लेकर थोड़ा-बहुत खटपट हो गयी थी लेकिन ये प्रश्न बहुत ही छोटे और स्थानीय महत्व के थे—इसलिए इनकी वजह से ऐसी नौबत कभी नहीं आई कि इंगलैण्ड और अमरिका के निवासियों में युद्ध हो जाता। दूसरे इंगलैण्ड के प्रधानमंत्रियों, विशेषकर वालपोल तथा उनके उत्तराधिकारियों ने, इस बात का विशेष ध्यान रखा कि झगड़े किसी भी प्रकार न बढ़ें। लेकिन जॉर्ज द्वितीय की महत्वाकांक्षाओं की वजह से वह दल परास्त हो गया जो इंगलेंण्ड के अभिजात्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करता था और जिसने लगातार उपनिवेशों के अंग्रेज निवासियों की इच्छाओं का सम्मान किया था। जॉर्ज तृतीय ने पहले 'स्टाम्प कर' अधिनियम बनाया और इसके बाद कनाडा में रखी गयी ब्रिटिश सेनाओं का खर्च वसूल करने के लिए अमेरिकन उपनिवेशवासियों से राजस्व की माँग की। इन दोनों ही बातों का जबर्दस्त विरोध किया गया। विवश होकर इंगलैण्ड को स्टाम्प कर की वसूली बन्द करना पड़ा लेकिन इसके बाद उस कर के हट जाने से जो कमी आय में हुई वह अमरिकन माल पर आयात कर लगाकर पूरी की गयी। इस बात पर अमेरिका के बिखरे हुए उपनिवेशों में से तेरह उपनिवेश मिल गये और उन्होंने ब्रिटिश माल का बहिष्कार कर दिया। इंगलैण्ड ने इस घोषणा को राजविद्रोह माना और अमेरिका के दमन के लिए फौजें भेजीं। इन फौजों का सशस्त्र प्रतिरोध किया गया और फलतः इंगलैण्ड और अमेरिका के बीच युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में अन्त में विजय अमेरिका की ही हुई और अमरिका के उपनिवेशों ने मिलकर स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और अपना एक संघ स्थापित कर लिया। इस प्रकार अमेरिकन राज्य की रचना सन् १७८७ में हुई।

६.२ अमेरिका का क्रान्तिदर्शन—सच पूछा जाय तो अमेरिका ने जिस समय अपना स्वातंत्र्य युद्ध छेड़ा—उस समय उसका निदिष्ट और सुविचारित कोई क्रान्ति दर्शन नहीं था। आरंभ में क्रान्तिकारियों की माँगें अत्यन्त सामान्य थीं जो आगे चलकर पूर्ण स्वतंत्रता की माँग में बदल गयीं। अमरिका के क्रान्तिदर्शन की रचना सार्वजनिक मंचों पर, समाचार पत्रों के स्तंभों तथा क्रान्तिकारी नेताओं के भाषण द्वारा हुई। यही कारण है कि अमेरिकन क्रान्ति में हमें वह ग्रन्थन, नियोजन तथा एकात्मता नहीं मिलती जो फ्रांस की राजक्रान्ति में मिलती है। इसमें विविधता, अनैक्य तथा परस्पर असंबद्धता है। एक वाक्य में अमेरिका का क्रान्तिदर्शन किन्हीं ऐसे दार्शनिकों की देन नहीं है जिन्होंने सुचित्त होकर शान्तिमय वातावरण में उसे तैयार किया हो। अमरिका के क्रान्तिकारी यूरोप और इंगलैण्ड के सत्रहवीं शताब्दी के राजदर्शन से बहुत प्रभावित हुए थे। ऐसे राजदर्शनशास्त्रियों में जिनसे वे प्रभावित हुए थे, ग्रोशस, पफेनडर्फ, वटल, मिल्टन, सिडनी, हैरिंगटन और लॉक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रूसो का भी कुछ प्रभाव इन पर पड़ा था लेकिन वह उक्त विद्वानों के प्रभाव

की तुलना में अत्यल्प है। कुछ क्रान्तिकारियों ने क्रॉमवेल तथा उनके अनुयायियों से भी प्रेरणा ग्रहण की, लेकिन ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम थी। मॉण्टेस्क्यू और ब्लैकस्टोन का भी काफी असर पड़ा था। अमेरिका के क्रान्तिदर्शन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहली अवस्था में तो जॉन एडम्स, जेम्स विलसन, स्टीफेन हॉपकिन्स, रिचार्ड ब्लैण्ड आदि विचारकों ने सांविधानिक आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश की कि (१) करदाताओं की अनुमति बिना कोई कर नहीं लगाया जा सकता, (२) विधानमण्डल में उन लोगों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए जिन पर कर लगाए जायँ और (३) व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का जन्मसिद्ध अधिकार है। बाद में जॉन डिकिन्सन, सेम्युअलएडम्स, जेम्स विलसन आदि ने प्राकृतिक अधिकारों की आवाज उठायी और यह कहना आरंभ किया कि जो विधि प्राकृतिक विधियों पर आधारित नहीं है––वह विधि ही नहीं मानी जा सकती। विभिन्न घोषणाओं और अधिकार पत्रों में इन्हीं बातों को दोहराया गया। कुछ ऐसे भी विचारक थे जिन्होंने क्रान्ति का विरोध किया। इनमें कुछ का विरोध ''व्यक्तिगत कारणों, कुछ का सामयिक परिस्थितियों और कुछ का राजनीतिक सिद्धान्तों'' पर आधारित था। ऐसे लोगों में पादरी जोनाथन बाउचर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने क्रान्ति के नारों को अत्यन्त ही निन्दनीय और धर्मविरुद्ध बतलाया।

६.३ **अमेरिकन क्रान्ति का महत्व और प्रभाव**––अमेरिका की क्रान्ति का विश्वव्यापी असर हुआ। अमेरिकन क्रान्ति की वजह से राजदर्शन के क्षेत्र में निम्नलिखित प्रवृत्तियों को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला। (क) शासन को सीमित और स्पष्ट अधिकार दिए जायँ, (ख) शासन की शक्ति को उसके विभिन्न अंगों में इस प्रकार विभाजित कर दिया जाय कि कोई अंग अनियंत्रणीय न हो जाय, (ग) विधानमण्डल और कार्यपालिका के पदों की पूर्ति निर्वाचनों द्वारा की जाय और ये पद सीमित काल के लिए प्रदान किये जायँ। इन प्रवृत्तियों को अमेरिकन संविधान में लिखित रूप दिया गया। इसलिए अमेरिका ने संघीय और लिखित संविधान के क्षेत्रों में संसार का मार्गदर्शन किया। शासन तांत्रिक कार्यों से व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का जो दमन होता था––उस दमन की संभावनाएं निश्चित रूप से लिखित संविधानों के कारण घट गयीं। व्यक्तिवादी विचारकों को निश्चित रूप से अमेरिका से बड़ी प्रेरणा मिली। फ्रांस के दार्शनिक भी बहुत प्रभावित हुए।

फ्रांस की राजक्रान्ति

फ्रांस की राजक्रान्ति का स्वरूप अमेरिका की राजक्रान्ति से कुछ भिन्न था। फ्रांस की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्था क्रान्ति के पूर्व इतनी बिगड़ चुकी थी कि उसे और आगे बिलकुल बरदाश्त नहीं किया जा सकता था।

७.१ **फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण**––फ्रांसीसी क्रान्ति के मूल में निम्नलिखित कारण थे––

(क) राजनीतिक दृष्टि से फ्रांसीसी राजतंत्र के गद्दीधारी नरेशों ने यूरोप के अन्य देशों से कोई शिक्षा नहीं ली। वे उस समय भी सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के अधिकारों की कल्पना किया करते और यूरोप के देशों में जो राजनीतिक सुधार हो रहे थे उनकी तरफ से आँखे बंद किये बैठे थे। यही नहीं सामन्तों और पादरियों के हाथ से सारी राजनीतिक शक्ति छीन ली गयी थी। प्रशासन का स्तर एकदम गिर गया था। भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और कुनबा-परस्ती का बाजार गर्म रहता था। किसान और मध्यवर्ग के लोगों को कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। न उनकी कोई सुनवायी होती थी। इसके अलावा मॉण्टेस्क्यू, वॉल्टेयर और रूसो की रचनाओं ने भी जाग्रति उत्पन्न की थी।

(ख) आर्थिक दृष्टि से जनता की विपन्नता अपनी चरम अवस्था को पहुँच गयी थी। जनता पर इतने अधिक करों का बोझ लाद दिया गया था कि वह उठा ही नहीं सकती थी।

निम्नवर्ग की हर जगह तबाही थी। सामन्तों और पादरियों में ऊँचे वर्ग के लोग तो सबसे अधिक आर्थिक सुविधाओं का लाभ उठाते थे लेकिन सुविधाओं की तुलना में अपने कर्तव्यों का पालन अणुमात्र भी नहीं करते थे। हालत यह थी कि बड़ा सामन्त छोटे सामन्तों से जितना कर उगाहता था उसका अधिकांश भाग वह हजम कर जाता था और अल्पांश राजकोष में जमा करता था। बड़ा पादरी चर्च की अधिकांश आय तो स्वयं ले लेता था और काम छोटे पादरियों से अधिक कराता था। हालत यह थी कि किसान की कुल आय का ८२ प्रतिशत भाग राजस्व के रूप में ले लिया जाता था और केवल १८ प्रतिशत किसान के लिये छोड़ा जाता था। इतने पर भी राज्य की तरफ से कोई सुरक्षा किसान को नहीं मिलती थी। सामन्त लोग उनसे बेगार कराते थे, कोड़े लगवाते थे, कोल्हू चलवाते थे और आटे की चक्कियों में लगाकर आटा पिसवाते थे। इतने पर फ्रांस पर भी अरबों फ्रैंक का विदेशी कर्जा हो गया था जिसे वह चुकाने में बिलकुल असमर्थ था। राजदरबार के खर्च अंधाधुंध होते थे।

(ग) सामाजिक दृष्टि से फ्रांस शोषक और शोषित इन दो वर्गों में स्पष्ट रूप से विभक्त हो गया था। शोषितों के साथ जानवरों से भी बदतर व्यवहार किया जाता था।

७.२ क्रान्ति का घटनाचक्र—ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि फ्रांस का दिवाला निकल जाता, उसकी प्रशासन-व्यवस्था भंग हो जाती और चारों तरफ अशान्ति और अ-व्यवस्था फैल जाती। यही हुआ भी—फ्रांस के राजकोष का दिवाला पिटते ही 'इस्टेट्स जनरल' की स्थापना हुई। उसने शासनतंत्र अपने हाथ में ले लिया। यह कार्य नरम दल के लोगों ने किया था किन्तु क्रान्तिकारियों की उग्रता के प्रवाह ने उन्हें दूर फेंक दिया और इसके बाद क्रान्तिकारियों में ही एक के बाद एक का शासन इस प्रकार बदलना आरंभ हुआ कि कौन व्यक्ति कितनी देर राजसत्तायुक्त रहेगा और कब आरी के नीचे रखकर उसका सिर रेत दिया जायगा यह कोई नहीं कह सकता था। क्रान्तिकारियों के शासन की पहली लहर ने लुई सोलहवें और उसकी रानी तथा राजवंश के अन्य लोगों को मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद तो हत्या, लूट-मार आदि का ऐसा आतंक फ्रांस में फैला कि सारा यूरोप सिहर उठा। फ्रांस की यह आन्तरिक स्थिति अन्त में नैपोलियन के सम्राट् होने पर सँभली।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आरंभ में फ्रांस की राजक्रान्ति का दर्शन ऐसे व्यक्तियों ने तैयार किया था जो अमेरिका के क्रान्तिकारियों की भाँति इँगलैण्ड जैसे किसी दृढ़ राज्य के साथ युद्ध करने में व्यस्त नहीं थे। फ्रांस के क्रान्ति-द्रष्टाओं म रूसो, एबसेईज, कोण्डरसेट, टॉम पेन आदि का नाम लिया जाता है। इन लोगों ने फ्रांस की क्रान्ति के दर्शन को परिपक्व रूप प्रदान किया था। इन विचारकों में से हम लोग केवल टॉम पन के राजदर्शन पर एडमण्ड बर्क के बाद संक्षेप में विचार करेंगे।

७.३ फ्रांसीसी क्रान्ति के राजनीतिक फल—जिन विचारों को अमेरिकन राजक्रान्ति ने केवल हलका सा रूप दिया था—फ्रांसीसी राजक्रान्ति के फलस्वरूप वे और भी पुष्ट हो गये। फ्रांसीसी राजक्रान्ति के निम्नलिखित परिणाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—

(क) लिखित संविधान की कल्पना को फ्रांस की क्रान्ति ने और भी पुष्ट कर दिया। फ्रांस ने लिखित संविधान को इतना महत्व दिया कि अमेरिका की ही भाँति वहाँ भी संविधान परिषद् बैठी और उसने लिखित संविधान तैयार किया।

(ख) राष्ट्रीयता की कल्पना को जो रूप अमेरिका में दिया गया था उसकी भी पुष्टि की गयी।

(ग) राजनीतिक अधिकार जनता के पवित्र अधिकार समझे जाने लगे। शासक जनता के स्वामी नहीं सेवक माने जाने लगे और जनता का शासन जनता के मतानुसार माना जाने लगा।

(घ) शासनाधिकार--राजवर्ग और आभिजात्य वर्ग के हाथ से मध्यवर्ग के हाथ में चला गया।

७.४ आलोचना--यह सच है कि गणतंत्रवाद और प्रजातंत्रवाद के प्रसार में फ्रांसीसी राजक्रान्ति के "समानता, स्वतंत्रता और बंधुता" के नारे से बड़ी सहायता मिली; लेकिन फ्रांसीसी राजक्रान्ति ने ही इस कल्पना को भी जन्म दिया कि राजसत्ता का केन्द्रीकरण किया जाय। केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप शासनकार्यों में जनता की रुचि फिर नहीं रही और वह तटस्थ हो गयी। यही नहीं, फ्रांसीसी राजक्रान्ति से सत्ता बजाय जनता के हाथ में आने के मध्यवर्गीय सम्पत्तिवान् व्यापारिक वर्ग के हाथ में चली गयी और लोगों की अवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ। वास्तविकता यह है कि फ्रांसीसी क्रान्ति के द्रष्टाओं ने बजाय भविष्य की ओर देखने के अतीत की ओर देखा। उन्होंने अपनी क्रान्ति की शैली और सिद्धान्तावली को अठारहवीं शताब्दी के मध्यान्त में हुए विचारकों के दर्शन पर आधारित किया। इन विचारकों में से अधिकांश का विश्वास प्राकृतिक विधियों पर था जिन्हें वे सार्वभौमिक ही नहीं अपितु शाश्वत भी मानते थे। परिणाम यह हुआ कि इन लोगों ने प्राकृतिक अधिकार और नागरिक अधिकार बना देने की गलती कर दी।[1] राजनीतिक और नागरिक अधिकारों के संबंध में इन्होंने यह अनुभव किया कि ये अधिकार शाश्वत नहीं होते। इनमें समयानुसार परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती रहती है। यह गलती बर्क ने सुधारी। बर्क ने अधिकारों की व्याख्या करने से बिलकुल इन्कार कर दिया और कहा कि अधिकार सामयिक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं।

८. बर्क (Edmund Burke) के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

बर्क के विचारों को यहाँ उपस्थित करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम उन विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को पहले ही समझ लें, क्योंकि बिना उस पृष्ठभूमि को समझे, बर्क के विचारों की उपयोगिता समझने में हमें कठिनाई होगी। इसके लिये हमें इंगलैण्ड तथा इंगलैण्ड के बाहर की राजनीतिक अवस्था पर विचार करना होगा। बर्क की विचार-धारा को स्वरूप देने का कार्य चार ऐतिहासिक सूत्रों ने किया और वे थे--(१) अमेरिका की राजक्रान्ति, (२) फ्रांस की राजक्रान्ति, (३) ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में कुशासन और (४) जार्ज तृतीय का महत्वाकांक्षापूर्ण शासन।

बर्क के जीवनकाल में जब अमेरिका की राजक्रान्ति हो रही थी--उस समय इस क्रान्ति के संबंध में पूरा इंगलैण्ड मतों की दृष्टि से कई भागों में विभक्त था। एक ओर तो अनुदार दल के लोग थे जो चाहते थे कि क्रान्ति का पूरी तरह से दमन कर दिया जाय क्योंकि अमेरिकन क्रान्तिकारियों ने इंगलैण्ड की राजसत्ता के विरुद्ध शस्त्र उठाये थे। दूसरी ओर कुछ लोगों का कहना था कि अमेरिकन उपनिवेशवासियों को बिलकुल स्वाधीन कर दिया जाय। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने मध्यमार्ग का अनुसरण किया था। ऐसे व्यक्ति दमन के पक्ष में नहीं थे; बल्कि उनका कहना था कि क्रान्तिकारियों की माँगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाना चाहिए और जो माँगें संगत हों उनको स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। एडमण्ड बर्क ने अमेरिका की राजक्रान्ति के संबंध में इसी मध्यमार्ग का अनुसरण किया।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के आरंभ में तो इँगलैण्ड में बड़ी उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया हुई; लेकिन क्रान्तिकारियों ने राजवंश की सत्ता को उलटने के बाद जो कार्य किये, उनसे इँगलैण्ड-वासी घबड़ा गये और वर्ड्सवर्थ आदि जिन लोगों ने पहले फ्रांस की राजक्रान्ति का

१ इस संबंध में वे घोषणाएँ उल्लेखनीय हैं जो क्रान्तिकारियों ने मानव-अधिकारों के संबंध में की थीं।

स्वागत किया था——उन्होंने भी अपना मत बदल दिया तथा क्रान्ति का विरोध करना शुरू कर दिया। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने आरंभ से ही इस प्रकार की रक्तपातयुक्त क्रान्ति का विरोध किया था। बर्क की गणना ऐसे ही व्यक्तियों में की जा सकती है। बर्क का कहना था, इस प्रकार की क्रान्तियों से इतिहास की गति को सहसा रोक दिया जाता है जिससे व्यक्ति और समाज के विकास में अवांछनीय बाधा पड़ती है। यह बाधा अभीष्ट नहीं है—इसलिये रक्तमय क्रान्तियाँ नहीं होनी चाहिए। फ्रांस की राजक्रान्ति के संबंध में बर्क का दृष्टिकोण निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी था। इस संबंध में हम आगे और विचार करेंगे।

बर्क के समय में भारत का शासन इंगलैण्ड की सरकार के हाथ में नहीं था। यह कार्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी करती थी। लेकिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी और अधिकारी अत्यधिक लोलुप, रिश्वती और स्वार्थी थे। उन्हें अपने स्वार्थ के आगे अपने देश की मान-मर्यादा, हित-अनहित, किसी का भी ध्यान नहीं रहता था। वारेन हेस्टिंग्ज ने अपने समय में जो कुछ किया उसकी खबरें जब इंगलैण्ड में पहुँचीं तो कुछ समझदार अँग्रजों ने कम्पनी के अत्याचारों के विरुद्ध बड़ी जबर्दस्त आवाज उठायी। ऐसे व्यक्तियों के नेताओं में बर्क का नाम उल्लेखनीय है।

बर्क के दिनों में इंगलैण्ड में राजा जॉर्ज तृतीय गद्दी पर था। जॉर्ज तृतीय बड़ा ही महत्वाकांक्षी था। उसकी इच्छा थी कि वह न केवल राज्य का नामधारी अध्यक्ष रहे बल्कि वास्तविक शासनभार भी स्वयं ही सँभाले। वह यह भी चाहता था कि संसद (पार्लमेण्ट) के अधिकारों को सीमित कर दिया जाय। उसने प्रजातंत्रवादी माँगों को मान्यता देना सर्वथा अस्वीकार कर दिया था। यही नहीं वह बड़ा अदूरदर्शी और अनुदार था। बहुत जल्दी क्रुद्ध हो जाने की आदत के कारण ही वह संकटपूर्ण राजनीतिक स्थिति को सँभालने में कभी-कभी बड़ा अक्षम सिद्ध होता था। इंगलैण्ड की सर्वमान्य परम्पराओं और प्रथाओं का उल्लंघन करने में भी उसे कोई हिचकिचाहट नहीं होती थी। अमेरिका के इंगलैण्ड के हाथ से निकल जाने का एक कारण उसका हठी स्वभाव भी था। लेकिन बर्क ने जॉर्ज तथा प्रजातंत्रवादियों के संघर्ष में एक बार पुनः मध्यमार्ग का अनुसरण किया। उसने कहा जैसा है——वही ठीक है, सर्वोत्तम है। वह "यथापूर्व स्थिति" (Status que) का समर्थक था। सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार वह सुधार का पक्षपाती था लेकिन किसी भी व्यवस्था में वह आमूल परिवर्तन नहीं करना चाहता था। परिणाम यह हुआ कि उसने न तो क्रान्तिकारी सुधारवादी विचारकों का समर्थन किया और न घोर अनुदारवादी नेताओं का और इस प्रकार मध्यमार्ग अपनाया।

९. जीवन-परिचय अध्ययन- पद्धति और कृतियाँ

९.१ जीवनी——प्रत्येक विचारक के विचार अपनी जीवन-परिस्थितियों से भी प्रभावित होते हैं। बर्क भी इस कथन का अपवाद नहीं है। इसलिये उसकी जीवनी पर भी संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

एडमण्ड बर्क का जन्म सन् १७२९ में आयरलैण्ड में हुआ था। बर्क के पिता प्रसिद्ध वकील थे और सुधारक भी। वे परम्परागत कैथोलिक धर्म को न मानकर प्रोटेस्टेण्ट हो गये थे। इतने पर भी उनमें सहिष्णुता बहुत थी, क्योंकि बर्क की माँ कैथोलिक थी। बर्क में पारिवारिक सहिष्णुता और सुधारवादी दोनों प्रवृत्तियाँ ही पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थीं। बर्क ने डबलिन के प्रसिद्ध विद्यालय ट्रिनिटी कॉलेज में उच्चतम शिक्षा पायी। वहीं कानून का अध्ययन भी किया। शिक्षा के बाद उसने लेख लिखना शुरू किया, लेकिन वह

इस कार्य में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका। उसने लिखने का प्रयत्न त्याग दिया और स्वाध्याय आरम्भ किया। लगातार छः वर्ष तक उसने इतना अध्ययन किया कि अपने समय के प्रायः सभी लोगों में वह सबसे बड़ा विद्वान् माना जाने लगा। लार्ड राकिंघम के प्राइवेट सेक्रेटरी के नाते उसे ह्विग पार्टी के सम्पर्क में आना पड़ा और वह राजनीतिक क्षेत्र में आ गया। सन् १७६५ में, छत्तीस वर्ष की अवस्था में, वह ब्रिटिश पार्लमेण्ट का सदस्य हो गया। पार्लमेण्ट की सदस्यता के बाद से उसकी ख्याति में चार चाँद लग गये और इसी काल में उसकी प्रतिभा भी चमक उठी। वह अपने समय का अत्यन्त प्रसिद्ध वक्ता हो गया। उसके ऊँच आदर्शों, उसकी नैतिक और बौद्धिक महत्वाकांक्षाओं तथा सफलता ने उसे बहुत मान दिलाया। सन् १७९७ में उसकी मृत्यु हुई और वह तब तक बराबर संसद का सदस्य बना रहा।

९.२ **कृतियाँ**—बर्क आरंभ में लेखादि लिखने के कार्य में असफल रहा था। इस असफलता की मानसिक प्रतिक्रिया कुछ ऐसी हुई कि वह अन्त तक लिखने के काम से बचता रहा। उसकी कुछ पुस्तकें भी हैं लेकिन उसकी अधिकांश कृतियाँ भाषणों के लिखित रूप में हैं। इन्हीं लिखित भाषणों से विभिन्न विषयों पर हमें बर्क के विचार ज्ञात होते हैं। ऐसी कृतियों में निम्नलिखित बहुत प्रसिद्ध हैं—(१) 'विण्डीकेशन ऑफ नेचुरल सोसाइटी', (२) 'कॉजेज ऑफ ऑवर प्रेजेण्ट डिसकंटेण्ट्स', (३) 'स्पीच ऑन अमेरिकन टैक्सेशन', (४) 'स्पीच ऑन कन्सीलिएशन विद अमेरिका, (५) 'रिफ्लेक्शन्स ऑन दि रिवॉल्यूशन इन फ्रांस', (६) 'एपील फ्रॉम ओल्ड टु न्यू ह्विग्स', (७) थॉट्स ऑन फ्रेंच एफेयर्स,' और (८) लेटर्स ऑन रेजीसाइड पीस।

९.३ **अध्ययन-पद्धति** (Method)—कहा जाता है कि अनुबंधवादियों तथा प्राकृतिक विधिवादियों ने राजनीति और राजदर्शन के अध्ययन के क्षेत्र में से इतिहास को एक प्रकार से अलग कर दिया था; लेकिन इन विचारकों के बाद बर्क ही ऐसा विचारक था जिसने इतिहास को अपना पुराना स्थान पुनः दिलवाया। बर्क को बहुत सी जटिल राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने का काम करना पड़ा था। ऐसी समस्याओं को सुलझाने में उसने हमेशा इतिहास का सहारा लिया और उस समस्या की तह तक पहुँच कर उसका हल निकाला। अतएव, मॉण्टेस्क्यू की भाँति बर्क की भी अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक थी। बर्क का मत था कि ऐतिहासिक अध्ययन से ही समस्त समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। वह अनुभूति में विश्वास करता था—कल्पनावादिता में नहीं; और इन अर्थों में वह उपयोगितावादी भी था। उसकी अध्ययन-पद्धति व्याप्तिमूलक (inductive) थी, निगमनात्मक (deductive) नहीं।

वैसे तो बर्क पर किसी विशेष विद्वान् का बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा और यह बात इसी से प्रकट है कि वह राजनीतिक क्षेत्र में राजदर्शन की किसी विशेष विचारधारा का पोषक न था। फिर भी ऐसा लगता है कि वह हीगल, सेवाइ तथा डीमेस्त्रे आदि से प्रभावित हुआ था। उसने रूसो की कृतियाँ भी पढ़ी थीं, लेकिन वह रूसो के विचारों का घोर विरोधी हो गया था।

१०. राज्य और समाज संबंधी विचार

बर्क के राज्य संबंधी विचार उसकी अध्ययन-पद्धति से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। वह अपने इतिहास के अध्ययन की सहायता से ही इस परिणाम पर पहुँचा था कि राज्य का क्रमशः विकास हुआ है। राज्य किसी अचानक हो जानेवाली घटना का परिणाम नहीं

है। राज्य की उत्पत्ति क्रमिक विकास द्वारा ठीक उसी प्रकार हुई है जैसे मानव-शरीर का विकास होता है।[1] राज्य केवल वर्तमान तक ही सीमित नहीं है; वलिक उससे अतीत और भविष्य भी संयुक्त और संवद्ध हैं।[2] बर्क अनुबंधवादियों की यह बात नहीं मानता था कि राज्य किसी अनुबंध का परिणाम है; क्योंकि, इसका अर्थ यह होता है कि राज्य की उत्पत्ति सहसा हो गयी और चूँकि इतिहास और मानव-स्वभाव के तथ्य इससे विपरीत दिशा की ओर संकेत करते हैं; इसलिये अनुबंधवादियों का राज्योत्पत्ति संवधी निष्कर्ष गलत है।

बर्क राज्य संबंधी अपना मत इस मौलिक सिद्धान्त पर स्थिर करता है कि "मनुष्य स्वभाव से ही राजनीतिक होता है।" इसका आशय यह है कि मनुष्य बिना राज्य के रह ही नहीं सकता। अरस्तू की उक्त सूक्ति मान लेने के बाद यह स्वाभाविक ही है कि बर्क राज्य को भी आवश्यक मानता। ऐसी दशा में बर्क का मत यह है कि ऐसे व्यक्ति के ऐसे कोई भी प्राकृतिक अधिकार नहीं हैं जिन्हें राज्य स्पर्श न कर सकता हो। वह यह नहीं मानता कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व व्यक्ति के कुछ ऐसे अधिकार थे जिनको कभी भी न छीनने का वायदा राज्य ने किया हो। बर्क ने कहीं-कहीं पर यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति के राज्य के अन्तर्गत कुछ अधिकार अवश्य हैं; लेकिन वे इस बात पर निर्भर करते हैं कि एक व्यक्ति के अधिकारों को दूसरा व्यक्ति मान्यता प्रदान करे। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि समाज में ही व्यक्ति के अधिकारों का अस्तित्व है, समाज के बाहर अधिकारों जैसी कोई चीज हो ही नहीं सकती। वह प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की कल्पना को राज्य-विरोधी ही नहीं बलिक अराजकता प्रचारक मानता था। इसके लिये बर्क को फ्रांस की राजक्रान्ति का प्रमाण भी मिल गया। फ्रांस की राजक्रान्ति के सर्वेसर्वा प्राकृतिक अधिकारों में बहुत अधिक विश्वास करते थे। राजक्रान्ति के बाद फ्रांस में जो अराजकता फैली उसकी ओर संकेत करते हुए बर्क ने कहा कि काल्पनिक अधिकारों के सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने का स्वाभाविक परिणाम अराजकता ही होगी। व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्य, दोनों ही परिस्थितियों के बंधन में होते हैं। जो अधिकार काल और परिस्थितियों को ध्यान में रखे विना बनाये जाते हैं, उन्हें बर्क किसी भी तरह मान्यता देने को प्रस्तुत नहीं था। किसी भी उत्तरदायी शासन से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वह ऐसे काल्पनिक अधिकारों को क्रियान्वित करेगा।

इसी स्थल पर बर्क ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि समाज का आधार क्या है? बर्क ने बतलाया कि समाज का विकास ईश्वरीय निर्देशानुसार स्वाभाविक रीति से होता है। मनुष्य चूँकि समाज का ही प्राणी है, अत:, उसका कर्तव्य है कि वह समाज की

---

1 "......He saw the state organically....(and) was impressed by the......wisdom of the past."....He thought...."the species is wise and when time is given to it, as a species it almost always acts right." H. J. Laski in *Pol. Th. in England from* Locke *to Bentham, on*, p. 161.

2 "I attest the retiring, I attest the advancing generations, between which, as a link in the great chain of eternal order we stand." Edmund Burke in his speech on the Impeachment of Warren Hastings in the British Parliaments See his *Collecteed Works*, Volume VIII, p. 439.

मर्यादाओं का पालन करे। समाज की मर्यादाओ को भंग करने की दशा में व्यक्ति को कभी नहीं सोचना चाहिए क्योंकि ऐसा करना उसके तथा समाज दोनों के लिए बड़ा ही घातक होगा। समाज की रचना किसी एक पीढ़ी ने नहीं की। सच तो यह है कि समाज किसी एक व्यक्ति ने बनाया ही नहीं। समाज को यदि मानवीय प्रयत्नों का परिणाम भी मान लिया जाय तब भी यह स्वीकार करना होगा कि उसकी रचना म असंख्य पीढ़ियों न भाग लिया है तब जाकर मानव-समाज के वर्तमान स्वरूप के दर्शन हो सके ह। समाज की रचना या विध्वंस किसी एक व्यक्ति की इच्छानुसार कदापि नहीं हो सकता। अनुबंध-वादियों ने समाज को किसी एक पीढ़ी का कार्य बतला कर समाज की सम्पूर्ण कल्पना को अपवित्र कर दिया है। उन्होंने यह नहीं समझा कि मानव-समाज के प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य होता है कि उसे जो कुछ भी अपने पूर्वजों से मिला हो उसे कुछ उन्नत और विकसित करके उत्तराधिकारी पीढ़ी को दे। इतने पर भी समाज केवल व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं होता। बर्क के अनुसार सामाजिक अनुबंध सामान्य अर्थों मे माने जानेवाले अनुबंध नहीं है। वह मानव-स्वभाव की देन है। समाज एक नैतिक संस्था है और उसका नैतिक उद्देश्य है। समाज की सदस्यता एक बड़ी व्यापक हिस्सेदारी है।[1] इस हिस्सेदारी के उद्देश्यों की पूर्ति एक पीढ़ी तो क्या अनेक पीढ़ियाँ भी एक साथ नहीं कर सकतीं। सामाजिक अनुबध मे प्रवेश करते समय मनुष्य न केवल समाज के जीवित व्यक्तियों से समझौता करता है; बल्कि मृत पीढ़ियों और आनेवाली पीढ़ियों से भी समझौता करता है। वह एक शाश्वत शृंखला की छोटी-सी कड़ी होना स्वीकार करता है। समाज संबंधी यह मत ऐसा था जो अठारहवीं शताब्दी के अनुबंधवादों एवं प्राकृतिक अधिकारवादियों को सूझा ही नहीं था। बर्क का कहना था कि किसी वस्तु का हमारे सामने अस्तित्व होना ही इस बात का औचित्य है कि उस चीज को बना रहना चाहिए। बनी-बनायी चीज को बिगाड़ने के पक्ष में वह नहीं था। अतएव, शासन, विधि, अधिकार, सम्पत्ति आदि के समकालीन स्वरूपों में आमूल परिवर्तनों का वह कट्टर विरोधी था। उसका कहना था कि यदि आवश्यकता हो तो उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन विकास के लिए किया जा सकता है; लेकिन एक पीढ़ी को पहली पीढ़ियों के विश्वासों, मर्यादाओं आदि को उलट देना सर्वथा अवांछनीय है। इसका यह अर्थ था कि किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी सुधारों से मानव-समाज की व्यवस्था मे परिवर्तन करना बर्क को अभीष्ट न था। यही कारण है कि बर्क के कथनों में हमें आशावादिता नहीं मिलती। हर चीज को बर्क एक निराशावादी व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखता है। हर चीज के लिए वह पीछे देखता है, आगे देखने का उसका स्वभाव ही नहीं है। हालाँकि वह कहता है कि समाज और राज्य के विधि-विधानों में परिवर्तन करना ईश्वरीय इच्छा के विरुद्ध आचरण करना है फिर भी वह सामयिक आवश्यकताओं के तथ्यों की उपेक्षा नहीं करता और कहता है कि आवश्यकताओं के अनुरूप थोड़े बहुत परिवर्तन होते रहने चाहिए।

११. अधिकार (Rights) और सम्पत्ति (Property)

अधिकारों के संबंध में बर्क के मत पर ऊपर के अनुच्छेदों में हम प्रसंगवश थोड़ी-सी चर्चा कर आये हैं; लेकिन यहाँ उस मत पर जरा और विस्तार से विचार करेंगे। मनुष्य या व्यक्ति के अधिकारों को काल एवं परिस्थितिजनक बतलाने के बाद बर्क ने व्यक्ति के

1. It is "a partnership in all science, in all art, a partnership in every virtue and in all perfection..' Edmund Burke on French Revolution. See his *Works*, Vol. III, p. 359.

विभिन्न अधिकारों की चर्चा की है। वह नागरिक अधिकारों (Civil Rights) और राजनीतिक अधिकारों (Political Rights) की अलग-अलग विवेचना करता है। नागरिक अधिकारों के संबंध में बर्क का मत है कि वे समान रूप से सभी को मिलने चाहिए और इन अधिकारों का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति कर सके इसकी व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है। लेकिन राजनीतिक अधिकारों के संबंध में बर्क का कहना था कि वे समान रूप से प्रत्येक व्यक्ति को नहीं दिये जा सकते। राजनीतिक अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं, वे केवल एक व्यक्ति पर ही असर नहीं डालते; वरन् सारे समाज को प्रभावित करते हैं। इसलिए यदि राजनीतिक अधिकार किसी अयोग्य और अक्षम व्यक्ति को दे दिये जाते हैं तो उन अधिकारों से समाज को नुकसान भी पहुँच सकता है। अतएव बर्क का कहना था कि राजनीतिक अधिकार कुछ योग्य व्यक्तियों को ही मिलने चाहिए। इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम राजनीतिक क्षेत्र में बर्क निश्चित रूप से असमानता का पोषक और अप्रजातांत्रिक था। उसका कहना था कि किसी भी ऐसे व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं मिलना चाहिए जिसका वह लाभदायी ढंग से प्रयोग न कर सके। इस प्रकार बर्क का अधिकारों का सिद्धान्त अंशतः मानव-स्वभाव के तथ्यों पर और अंशतः समाज की सावयविक कल्पना पर आधारित है। चूँकि बर्क का कहना था कि अधिकारों का उपयोग केवल समाज में ही हो सकता है—इसलिए वह समाज की स्थापना के पूर्व प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य के अधिकारों को नहीं मानता। प्राकृतिक अधिकारों[1] की गणना वह इसी वर्ग के अधिकारों में करता है। बर्क का यह भी कहना था कि व्यक्ति के अधिकार सामयिक अवस्थाओं के अनुरूप बदलते रहने चाहिए। यही कारण है कि वह अधिकारों संबंधी निश्चित धारणाओं और कल्पनाओं का विरोध करता है और बर्क द्वारा लिखित संविधानों का विरोध भी बहुत कुछ इसी पर आधारित है। बर्क का कहना था कि यदि प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना स्वीकार कर ली जाय और इंगलैण्ड के प्रत्येक व्यक्ति को तदनुसार स्वतंत्र कर दिया जाय तो सारा शासन एक दिन के अन्दर ही उलट जायगा। बर्क को प्राकृतिक अधिकारों के नाम से चिढ़ थी।

सम्पत्ति (Property) को बर्क व्यक्ति के लिए आवश्यक समझता था। उसका कहना था कि जब तक व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा तब तक समाज की प्रगति होनी संभव नहीं है। सम्पत्ति संबंधी अपने विचारों के कारण ही वह व्यक्ति को समानता के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखता था।

१२ शासन एवं सुधारों के बारे में बर्क के विचार

बर्क चूँकि व्यक्तियों की समानता में विश्वास नहीं करता था—इसलिए वह चाहता था कि शासन योग्य व्यक्तियों के ही हाथ में रहे, अयोग्यों के हाथ में न जाने पाये। इस दृष्टि से वह आभिजात्यवर्ग (Aristocracy) के शासन का पोषक था। वह चाहता था कि शासन-कार्य इस प्रकार का हो कि उससे किसी भी प्रकार समाज के विकास और प्रगति में बाधा न पड़े। शासन सार्वजनिक कल्याण को दृष्टि में रखकर होना

1 "We are afraid to put men to live and trade each on his own private stock of reason, because we suspect that this stock in each man is small and that the individuals would do better to avail themselves of the general bank and capital of nations and of ages". Edmund Burke, *Reflections on the Revolution of France, Works*; Vol. 11, p. 359.

चाहिए। इसी सलसिले में बर्क ने प्रेस की स्वतंत्रता और जनमत की उपयोगिता के संबंध में भी अपने विचार प्रकट किये। बर्क का कहना था कि शासन (Government) को हमेशा जनमत का ध्यान रखना चाहिए। शासन करने वाले व्यक्तियों को हठवादिता कभी नहीं दिखलानी चाहिए। यदि काल और परिस्थितियों की माँग हो तो उचित परिवर्तन और सुधार अवश्य कर देने चाहिए। विरोधी पक्ष की भी न्यायोचित माँगें अवश्य स्वीकार करनी चाहिए। राज्य-कार्य को वह कल्पना की वस्तु नहीं समझता था। बर्क का कहना था कि अनुभव से ही शासन-कार्य में सफलता मिल सकती है। अनुभवहीन के हाथ में शासन दे देना जघन्यतम अपराध है। बर्क के सुधार संबंधी मत भी परिवर्तनवादी या क्रांतिकारी नहीं थे। उसके समय में जॉर्ज तृतीय ऐसे राजनीतिक परिवर्तन करना चाहता था जिससे उसकी शक्ति बढ़ जाय और ब्रिटिश संसद ऐसे सुधार करना चाहती थी जिससे प्रजातंत्रवादी प्रवृत्तियों को बल मिले। बर्क ने दोनों का ही विरोध किया और कहा कि न तो मताधिकार ही विस्तृत किया जाना चाहिए और न जॉर्ज तृतीय के अधिकारों में ही कोई वृद्धि की जानी चाहिए। उसका कहना था कि सुधार यदि किये जायँ तो वे न्यायपूर्ण हों––यदि न्याय न किया जा सके तो सुधार किये ही न जाने चाहिए। बर्क की सारी शक्ति संस्थाओं में परिवर्तन करने के बजाय उनके स्वरूप को ज्यों का त्यों बनाये रखने में लगी रहती थी।

१३. फ्रांस की राजक्रान्ति का विरोध

फ्रांस की राजक्रान्ति का बर्क ने बहुत विरोध किया था। समकालीन क्रान्ति समर्थकों ने बर्क की इस बात के लिए आलोचना भी की थी और उसे बड़ा प्रतिक्रियावादी बतलाया था। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि अमेरिका की क्रान्ति के समर्थन के बाद बर्क के विचार बदल गये हैं; लेकिन देखा जाय तो फ्रांस की राजक्रान्ति के विरोध करने में तथा अमेरिका के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाने में कोई भी असंगति नहीं है। बर्क ने हमेशा आवश्यकतानुकूल परिवर्तनों के किये जाने का समर्थन किया था और आमूल परिवर्तनों का विरोध। अमेरिका की माँगों का समर्थन करते समय बर्क का रुख केवल यही था कि वहाँ के निवासियों की माँगें न्यायोचित हैं और उन्हें स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। दूसरे अमेरिका के लोगों ने फ्रांस के क्रान्तिकारियों की भाँति निर्मम हत्याएँ और नृशंस अत्याचार नहीं किये थे। बर्क फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों के इन्हीं कृत्यों की वजह से सबसे अधिक भड़का था। लेकिन बर्क ने फ्रांस की राजक्रान्ति का विरोध करने में उस प्रतिभा का परिचय नहीं दिया जिसकी अमेरिकन क्रान्ति का समर्थन करने के बाद उससे आशा की जाती थी। बर्क का यह कहना गलत था कि समाज और राज्य पूर्णतः इतिहास के बन्दी हैं। यहाँ बर्क अपनी मर्यादा रेखा से आगे बढ़ गया। यह कहना तो ठीक है कि प्रत्येक गुजरी पीढ़ी वर्तमान पीढ़ी से संबद्ध है और आने वाली पीढ़ियों से वर्तमान पीढ़ी संबद्ध है; लेकिन यह कथन सुनते ही खटकने लगता है कि वर्तमान सर्वथा अतीत का ही बन्दी है। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने धर्म का भी विरोध किया और चूँकि बर्क धर्मभीरु राजनीतिज्ञ था, इसलिए फ्रांसीसी क्रान्ति का विरोध करना उनके लिए और भी स्वाभाविक हो गया।

१४. अनुदारवादी दार्शनक के रूप में बर्क

बर्क को बहुत-से विचारकों ने अनुदारवादी दार्शनिक कहा है। कुछ ने तो उसे आधुनिक

1 "If I cannot reform with equity, I will not reform at all." Edmund Burke as quoted in *History of Pol. Science* by R.M. Murray, p. 295.

अनुदारवादियों का पिता (Father of Modern Conservatives) बतला दिया है। **आइवर ब्राउन** ने तो लिखा है कि बर्क ने अनुदारवादी दर्शन को संसार के सामने इतनी पूर्णता और योग्यता के साथ रखा कि ऐसा कभी नहीं किया गया।[1] यह तो ठीक ही है कि बर्क ने कभी प्रजातंत्रवादी होने का दंभ नहीं किया। उसने अपने आपको कभी क्रान्तिकारी सुधारक नहीं माना। वास्तविकता यह है कि वह अपने समय के तथा अपने बाद आनेवाले सभी क्रान्तिवादी सुधारकों का पक्का विरोधी था। वह क्रान्तिवादियों के सिद्धान्तों और साधनों दोनों को ईश्वरीय इच्छा का विरोधी समझता था। उसका कहना था कि रीति-रिवाजों और परम्परा की मर्यादाओं का कभी भी उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। उसका कहना था कि परम्पराएँ मनुष्य के स्वभाव का जब एक बार अंग बन जाती हैं तो उनको तोड़ने से कष्ट और उपद्रव अवश्य होते हैं। **मेकुन** के शब्दों में बर्क का अनुदारवाद केवल सैद्धान्तिक है।[2] वह भावना या रुचियों की दृष्टि से अनुदारवादी बिलकुल नहीं है। यदि ध्यान से देखा जाय तो ऐसे दो सिद्धान्त हैं जिन पर बर्क का अनुदारवाद स्थिर है। पहला सिद्धान्त तो यह है कि मानव-समाज और राज्य को पुनर्रचना किसी एक व्यक्ति या एक पीढ़ी का काम नहीं। यह बात दूसरी है कि कोई व्यक्ति या एकाध पीढ़ी इस दिशा में थोड़ा बहुत प्रयत्न कर ले; लेकिन यह असंभव है कि उसे पूर्ण सफलता मिल जाय। दूसरा सिद्धान्त यह था कि इस प्रकार के प्रयत्न किये ही नहीं जाने चाहिए।

अठारहवां शताब्दी के दार्शनिकों ने समाज को अनुबंध का परिणाम बतलाया था। उन्नीसवीं शताब्दी ने समाज के अनुबंधवादी रूप को स्वीकार नहीं किया और कहा कि समाज सावयविक है। लेकिन समाज के सावयविक रूप को मानते हुए भी बर्क ने अनुबंध का प्रयोग किया। लेकिन, अनुबंध से बर्क का आशय एक ऐसे समझौते से रहा जो किसी कृत्य द्वारा सम्पादित नहीं होता, बल्कि अपने आप उत्पन्न हो जाता है, एक ऐसा अनुबंध जो क्रमिक विकास का परिणाम होता है।[3] समाज को जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं बर्क एक समझौते को अति व्यापक सदस्यता मानता है। उसका यह भी कहना है कि यह सदस्यता एक पीढ़ी में प्राप्त नहीं होती—इसके लिए कई पीढ़ियों तक प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को सदा समाज के सम्पूर्ण स्वरूप को मान्यता देनी चाहिए। उसे ध्वस्त या नष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार वह राजक्रान्ति का उपयोगितावादी आधार पर विरोध नहीं करता था; बल्कि उसका कहना था कि प्रत्येक चीज ईश्वर की बनायी हुई है। उसको जो भी नष्ट करता है वह ईश्वरीय इच्छा के विरुद्ध आचरण करता है। क्योंकि क्रान्ति में निर्मित चीजों का नाश किया जाता है, इसीलिए वह अवांछनीय है। बर्क के सभी

---

1 "Burke gave to the philosophy of conservation perhaps the fullest and most eloquent expression the world has ever heard." Ivor Brown in *English Pol. Theory*, p. 70.

2 "Burke's is not a conservatism of sentiment and still less of prejudice. It the conservatism of principles." John Maccunn in *The Pol. Philosophy, of Burke*, p. 68.

3 "The contract he has in mind always involes those slowly evolved, habitual, intimate, living ties between the members and classes of the body politic which are so clerly not the product of any explicit act of contract between man and man or class and class that they have driven our sociologists to lift society above the categories of law and plunge it deep in the categories of biology." *Ibid.*; p. 58.

विचारों पर धर्मभीरुता की छाप थी। उसका कहना था कि इतिहास की गति और राष्ट्रों का भाग्य ईश्वर की इच्छा और आदेशों के अनुसार निर्णयान्वित होता है। प्रत्येक देश का संविधान मनुष्यों की शाश्वत और सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा निर्मित होता है, इसलिए उसमें बाधा डालना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। यही कारण है कि वह धार्मिक और नैतिक आधारों पर सुधारों एवं आमूल परिवर्तनों का विरोध करता है। बर्क का सुधारवादियों के संबंध में कहना था कि वे किसी चीज को नष्ट भले ही कर दें, लेकिन उसका निर्माण करना उनके लिए बड़ा कठिन है। वह प्रजातंत्रवाद का भी विरोधी था। बर्क का कहना था कि सामान्यतः जनसाधारण का समूह सर्वथा मूढ़ होता है। यही कारण था कि जब कभी ब्रिटिश संसद के सामने मताधिकार के क्षेत्र को विस्तृत कर देने का सवाल उठा उसका बर्क ने पूरी शक्ति से विरोध किया। उसे प्रजातंत्रवादी नेताओं की इस माँग से कोई सहानुभूति न थी कि ग्रामीण क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाय और छोटे-छोटे कस्बों में म्युनिसिपैलिटियों का संगठन किया जाय। बर्क के सम्पत्ति संबंधी विचार भी उसकी अनुदारवादिता की ओर ही संकेत करते हैं।

१५. उपनिवेशों तथा युद्ध और शान्ति संबंधी विचार

बर्क को अनुदारवादी दार्शनिक के रूप में देख लेने के बाद यह भी आवश्यक है कि हम उसके प्रगतिवादी स्वरूप पर भी दृष्टि डालें। इस संबंध में बर्क के उपनिवेशों तथा युद्ध और शान्ति विषयक विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अमेरिका, भारत और आयरलैण्ड के संबंध में बर्क का व्यवहार अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण था। इन उपनिवेशों के संबंध में जब भी बर्क ने विचार प्रकट किये उसने हमेशा भविष्य को सामने रखा। वारेन हेस्टिंग्ज के मामले के संबंध में भारत के प्रति बर्क की सहानुभूति इसका ज्वलन्त प्रमाण है। अमेरिका के संबंध में ब्रिटिश संसद में दिये गये बर्क के भाषणों को पढ़ा जाय तो यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि बर्क ने कितनी व्यवस्था से क्रमशः औपनिवेशिक प्रशासन की त्रुटियों पर प्रकाश डाला था। ब्रिटिश अफसरों से चलकर ये कार्य स्वयं इंगलण्ड के हितों के विरुद्ध प्रमाणित होंगे। बर्क ने प्रयत्न किया था कि इंगलैण्ड अपने उपनिवेशों को स्वतंत्रता प्रदान करके वहाँ के निवासियों के हृदयों को अपनी उदारता से जीत ले। बर्क की बातों पर उसके समकालीन सत्ताधारियों और शासन ने कोई ध्यान नहीं दिया लेकिन अन्त में जो कुछ बर्क ने कहा वह अमेरिका और भारत के संबंध में सच साबित हुआ।

युद्ध और शांति की समस्याओं पर बर्क ने जो विचार प्रकट किये हैं—वे अपनी जगह पर बड़े आधुनिक प्रतीत होते हैं। उसने युद्ध के लिए युद्ध किये जाने का कभी समर्थन नहीं किया। "रिजो साइड पोस्ट" में बर्क ने लिखा है कि युद्ध बहुत ही खतरनाक शस्त्र है। युद्धों से बड़े-बड़े राष्ट्र बरबाद हो जाते हैं। युद्ध संबंधी निश्चय हमेशा खूब विचार-विनिमय के बाद किये जाने चाहिए। मनुष्य का रक्त जब तक उसी की शुद्धि के लिए आवश्यक न हो, नहीं बहाना चाहिए। परिवार, देश, मानवता और ईश्वर के लिए रक्तपात करना उचित है; लेकिन इसके अलावा खून बहाना दंभ और अपराध है।

१५.१ **आलोचना**—अन्त में यह उचित ही होगा कि बर्क के विचार का आलोचनात्मक सिंहावलोकन कर लिया जाय। बर्क ने जीवनभर ह्विग दल की सेवा और हमेशा ह्विग दल के दृष्टिकोण के औचित्य को ही सिद्ध किया। इसलिए उसके विचार दलगत सिद्धान्तों और निर्णयों से हमेशा प्रभावित रहते थे। यही कारण है कि ह्विग दल के दोष जानते हुए भी वह उनको दूर करने की चेष्टा नहीं करता था। व्यक्तिगत मित्रता और शत्रुता भी उसके विचारों की रचना में बड़ी सहायक होती थी। यह बात लार्ड चैथम के प्रति

बर्क के विरोध और फॉक्स के प्रति उसकी मित्रता से साफ-साफ प्रकट हो जाती है। यह सच है कि बर्क का मस्तिष्क ह्यूम की भाँति व्यापक नहीं था और एडम स्मिथ की तरह बर्क की दृष्टि भी तीक्ष्ण नहीं थी; लेकिन ह्यूम और स्मिथ में से कोई भी बर्क को उसकी दूरदर्शितापूर्ण सहानुभूति तथा गहराई से विचार करने की शक्ति के क्षेत्र में परास्त नहीं कर सका। बर्क में एक दोष यह था कि उसने कभी यह अनुभव नहीं किया कि राजतंत्र और आभिजात्यतंत्र के शासन के दिन लद गए हैं। विशेषाधिकारों का युग बीत चुका है। प्रजातंत्रवादी प्रवृत्तियाँ उभार पर हैं। इसका कारण संभवतः यही था कि बर्क सदैव अतीत की तरफ देखता था; भविष्य की ओर उसकी दृष्टि अपवादात्मक रूप से ही जाती थी। ब्रिटिश संविधान की प्रशंसा में उसने जो कुछ कहा--वह भी इसी प्रवृत्ति का फल था। उसकी यह प्रशंसा बीती बातों पर आधारित थी--वास्तविक एवं समकालीन तथ्यों पर नहीं। वह जनता को शासनकार्य में कोई स्थान देने का पक्षपाती नहीं था--यद्यपि वह जनमत के सुझावों को मानने के लिए तैयार था। फ्रांस की राजक्रान्ति के संबंध में बर्क का रुख आपत्तिजनक था। बर्क इतिहास का पुजारी होते हुए भी यह न समझ सका कि फ्रांस की क्रान्ति इतिहास की ही देन थी। फ्रांस में होनेवाली क्रान्ति किसी एक दिन की घटना का परिणाम नहीं थी। उसकी पृष्ठभूमि में कई दशकों का अत्याचार, उत्पीडन और दमन था जिसके विरुद्ध जनता ने विवश होकर तलवार उठायी थी। बर्क के विचारों से इंगलैण्ड में वर्गवाद की भावना बढ़ी ही--उसका स्थान वर्ग सामंजस्य न ग्रहण कर सका। बर्क किसी विशेष विचारधारा का अनुयायी न था--अतः उसका किसी राजनीतिक विचारधारा के क्षेत्र में कोई दृढ़ अनुदाय नहीं है।

१६. बर्क के अनुदाय और उसका स्थान

फिर भी यह कहना ठीक न होगा कि बर्क का कोई अनुदाय ही नहीं है। सच तो यह है कि बाद के राजदर्शन पर बर्क का काफी असर पड़ा। राज्य के स्वरूप को सावयविक बतलाने के कारण राज्य की उत्पत्ति और विकास के संबंध में एक जीवशास्त्रीय विचार-धारा ही बन गयी। प्रजातंत्रवाद का युग बर्क के बाद आया फिर भी बर्क ने अपने समय में प्रजातंत्र के दोषों को अनुभव कर लिया था। उसका यह भी कहना ठीक था कि प्रत्येक वस्तु का शनैः-शनैः ही विकास होने देना चाहिए। आकस्मिक परिवर्तन से वह लाभ नहीं हो सकता जो सामान्य रूप से विकास के कारण होता है। सुधार और परिवर्तन अनुभव द्वारा किये जाने चाहिए तथा इनके करने में सामयिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिए--यह बात भी बर्क ने ही बतलायी थी। आगे चलकर उपयोगितावादी विचारकों ने बर्क की इन बातों का बड़ा लाभ उठाया। बर्क उग्रतावादी (Extremist) नहीं था। वह सहिष्णुता का समर्थक था। हॉर्नशा के अनुसार बर्क के चार अनुदाय हैं--(१) विकासवादी प्रवृत्तियों का विवेचन (Evolutionaryn ature of things), (२) अनुभूतिमूलकता (Empiricism), (३) सामयिक परिस्थितियों पर विशेष बल (Expediency) और (४) सहिष्णुता और मध्यमार्ग का प्रतिपादन (Moderation)। बर्क ने अपने विचारों द्वारा निगमनात्मक

---

1 "The most conspicuous general features of his political out-pourings are, *first* his avoidance of abstract political speculation and his denunciation of the metaphysical treatment of practical affairs; *secondly*, his insistence on the empirical nature of art of

अध्ययन-पद्धति की समाप्ति कर दी। अनुबंधवादियों की कल्पनावादिता को विदा कर दिया। इतिहास को उचित स्थान दे दिया और इस प्रकार विकासवादी, जीवशास्त्रीय और उपयोगितावादी विचारकों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। बर्क से डिजराइली, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, साउदी, मेकिनटोश आदि बहुत प्रभावित थे।

लेकिन बर्क के विचारों के विरोधी भी थे और ऐसे लोगों में टॉम पेन (Thomas Paine) और विलियम गॉडविन (William Godwin) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अगले कुछ अनुध्यायों में हम इन्हीं दोनों के दर्शन पर संक्षेप में विचार करेंगे।

७. टॉम पेन (Thomas Paine)

१७.१ **जीवन परिचय और पुस्तकें**—टॉम पेन का जन्म सन् १७३७ में इंगलैण्ड में हुआ था। उसका परिवार बड़ा गरीब था। यही कारण था कि वह आरंभ से राजतंत्र और आभिजात्यवर्ग विरोधी आन्दोलन में पड़ गया। पेन गरीब था, फिर भी बड़ा प्रतिभासम्पन्न और विद्याप्रेमी था। यही कारण था कि जिससे प्रभावित होकर बेंजमिन फेंकलिन ने उसे अमेरिका आने के लिए निमंत्रित किया। सन् १७७४ में वह अमेरिका गया। वहाँ रहकर पेन ने स्वतंत्र-पत्रकारिता का व्यवसाय अपनाया और बहत से अमेरिकन पत्रों में सामयिक राजनीतिक समस्याओं पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे। वह फ्रांस की राजक्रान्ति का भी बड़ा पक्का समर्थक था। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने उसे निमंत्रित भी किया और वह क्रान्ति के बाद फ्रांस गया भी, लेकिन फ्रांस के असहिष्णु क्रान्तिवादी पेन की स्पष्टवादिता बरदाश्त न कर सके और उसे जेल में डाल दिया। किन्तु, वह किसी प्रकार छूट गया और नैपोलियन के शासनारूढ़ हो जाने के बाद पुनः सन् १८०२ में अमेरिका वापस रवाना हो गया। सन् १८०९ में पेन की अमेरिका में मृत्यु हो गयी। फ्रांस की राजक्रान्ति के अफसल हो जाने से उसे बड़ा धक्का लगा था। उसकी निम्नलिखित पुस्तकें उसके लेखों के अलावा बहुत प्रसिद्ध हैं—(१) 'कॉमन सेन्स' (Common Sense), (२) 'दि फारेस्टर्स लेटर्स (The Forester's Letters) और 'दि अमेरिकन क्राइसिस' (The American Crisis)। पहली और दूसरी पुस्तक सन् १७७६ में तथा तीसरी सन् १७८३ में प्रकाशित हुई थी। इसकेअतिरिक्त उसने छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ भी लिखी थीं जिनमें 'दि राइट्स ऑफ मैन' (The Rights of Man) बड़ी प्रसिद्ध है।

१७.२ **समाज और शासन**—टॉम पेन के समाज और राज्य संबंधी विचारों का एक विशिष्ट महत्व है। पेन ने न केवल समाज और शासन (सरकार) के अस्तित्व तथा स्वरूप को अलग-अलग बतलाया; अपितु कहा कि समाज और राज्य की उत्पत्ति के स्रोत भी अलग-अलग हैं। टॉम पेन ने 'कॉमन सेन्स' के पहले पृष्ठ पर ही लिखा कि "समाज का जन्म हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ।" लेकिन आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही मनुष्य के दोष भी बढ़ गये और उन दोनों से सामाजिक जीवन की पवित्रता की रक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार "शासन की उत्पत्ति वस्तुतः मानव-

---

govrenment; *thiydly*, his appeal to history and experience as the only satisfactory guides in administrative matters; *fourthly*, his emphasis on consideration of expediency rather than on arguments based on rights, in all debatable problems of policy and finally the essential moderation of all his opinions even when he expressed his opinions with extreme immoderation of language.'' F. J. C. Hearnshaw in *The Social & Pol. Ideas of the Revolutionary Era*, p. 89.

स्वभाव के दोषों के कारण हुई। मनुष्य ने राज्य में रहना इसलिए स्वीकार कर लिया क्योंकि शासन में रहने से उसके हितों की पूर्ति होती थी। पेन का कहना था कि राज्य एक प्रकार से अनिवार्य बुराई है। व्यक्ति पर राज्य का जितना ही कम नियंत्रण रहे उतना ही अच्छा है। वह चाहता था कि व्यक्ति के मामलों में शासन का हस्तक्षेप न्यूनतम हो। शासन से अधिक समाज को शक्तिशाली और उपयोगी मानता था।

१७.३ **व्यक्ति के अधिकार और उनकी रक्षा की समस्या**—पेन समाज में व्यक्ति की स्थिति बिलकुल स्वतंत्र मानता था। व्यक्ति की स्वतंत्रता से उसका यह आशय था कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ ऐसे प्राकृतिक अधिकार हैं जिन्हें कोई छीन नहीं सकता। पेन बर्क के विपरीत व्यक्ति की अनिवार्य असमानता का कट्टर विरोधी था। उसका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति समान है और सब के जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकार हैं। पेन का यह भी कहना था कि व्यक्ति के समस्त नागरिक अधिकार (Civil Rights) इन्हीं प्राकृतिक अधिकारों से उत्पन्न हुए हैं। राजसत्ता सभी व्यक्तियों के उन प्राकृतिक अधिकारों की औसत शक्ति है जिनका प्रयोग बिना राज्य के नहीं किया जा सकता और चूँकि राजसत्ता का जन्म ही प्राकृतिक अधिकारों के कारण हुआ है; इसलिए राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को छीन सके। राजसत्ता पर इस प्रकार के नियंत्रण की आवश्यकता पेन ने बतलायी थी। वह राज्य के सावयविक रूप को नहीं मानता। अब समस्या यह उठती है कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा का साधन क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर जो पेन ने दिया वह है—लिखित संविधान। लिखित संविधान ही शासन का पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। सामान्यतः पेन इस बात का पक्षपाती नहीं था कि संविधानों में बहुत अधिक परिवर्तन किये जायें; लेकिन उसने यह सुझाव स्वीकार किया कि समय और परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुरूप लिखित संविधान में भी संशोधन किये जा सकते हैं। लिखित संविधान न होने के कारण ही वह इंगलैण्ड की शासन-व्यवस्था का बड़ा कठोर आलोचक था।

१७.४ **सर्वश्रेष्ठ शासन**—पेन ने भी शासनतंत्रों को (१) राजतंत्र, (२) आभिजात्य-तंत्र और (३) प्रजातंत्र में बाँटा। वह मिश्रित शासनतंत्रों में विश्वास नहीं करता था और न यही मानता था कि मिश्रित शासनतंत्र संभव है। पेन राजतंत्र और उसके विशेषाधिकारों का कट्टर विरोधी था। वह आनुवंशिक राजतंत्र में भी विश्वास नहीं करता था। इसी प्रकार उसने आभिजात्यतंत्र की भी आलोचना की थी और बतलाया था कि वह किस प्रकार अनुपयुक्त है ? उसका विश्वास था कि वही शासन सर्वश्रेष्ठ है जिसमें जनता का प्रतिनिधित्व होता है। जिस शासन में जनता के सारे वर्गों का प्रतिनिधित्व हो उसमें किसी भी वर्ग के हितों को कोई क्षति कदापि नहीं पहुँच सकती। यह कार्य प्रजातंत्र में ही संभव है। वह शासन को तीन विभागों में विभक्त नहीं करता था। पेन उन विचारकों में है जिन्होंने शासन को केवल दो विभागों में विभक्त किया और वे हैं (क) विधियाँ

---

1 He ridiculed the idea of the divine right of monarchs and said, "One honest man was worth more than all the crowned ruffians that ever lived." Quoted by R. G. Gettell in *His of Pol. Thought*, p. 298.

2 „By ingrafting representation upon democracy we arrive at a system of government capable of embracing and confederating all the various interests and every extent of territory and population" Thomas Pain in *The Rights of Man*.

बनाने के लिए विधान मण्डल (Legislature) और (ख) कार्यपालिका (Executive)। न्यायपालिका (Judiciary) को वह कार्यपालिका का ही अंग मानता था।

पेन के विचारों में समाजवादी और व्यक्तिवादी विचारों का विचित्र मिश्रण है। एक ओर तो वह व्यक्ति के निजी क्षेत्र में शासन के प्रत्येक हस्तक्षेप को निषिद्ध ठहराता था और दूसरी ओर यह कहता था कि राज्य को अनिवार्य शिक्षा, गरीबों की सहायता और अन्तर्राष्ट्रीय सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना के लिए कार्य करने चाहिए। कुछ भी हो पेन के विचारों का प्रभाव अमेरिका के संविधान पर और फ्रांस के क्रान्तिकारियों पर बहुत अधिक पड़ा। इंगलैण्ड में तो उसकी पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई और वहाँ की सरकार द्वारा इतनी खतरनाक समझी गयी कि वह जब्त कर ली गयी।

१८. विलियम गॉडविन (William Godwin)

१८.१ जीवन-परिचय और रचनाएँ—विलियम गॉडविन अँग्रेज विचारक था। उसका जन्म सन् १७५६ में हुआ था। रह पहले 'नॉनकनफर्मिस्ट' (Non-Conformist) था लेकिन बाद में कालविनवादी (Calvinist) हो गया। उसने धर्म के साथ कई बार राजनीतिक मत में भी परिवर्तन किये। पहले गॉडविन टोरी (Tory) दल का सदस्य था। लेकिन कालान्तर में उसने इसे छोड़कर ह्विग दल की सदस्यता स्वीकार कर ली। जब ह्विगों के विचार भी उसकी समझ में नहीं आये तो उसने अराजकतावाद की दीक्षा ली और सन् १८३६ में अराजकतावादी दार्शनिक के रूप में ही उसकी मृत्यु हुई।

गॉडविन की प्रसिद्ध पुस्तक 'इनक्वायरी कनसर्निंग पॉलिटिकल जस्टिस' सन् १७९३ में प्रकाशित हुई। इसी पुस्तक से गॉडविन को सबसे अधिक ख्याति प्राप्त हुई। इस पुस्तक में कोई मौलिकता नहीं है।गॉडविन ने जो भी विचार प्रकट किये उनसे स्पष्ट है कि उस पर प्लेटो, मोर, लॉक, रूसो, मेबली, हेलवेशियस तथा वैलेस आदि का गहरा प्रभाव पड़ा था।[1]

१८.२ मनव स्वभाव, समाज, राज्य और शासन संबंधी विचार—गॉडविन का मत था कि सभी व्यक्ति समान पैदा होते हैं; लेकिन हर व्यक्ति में अपना विवेक होता है। उस का कहना था मनुष्य को अपनी विवेक-शक्ति को उन्नत बनाना चाहिए। उसका कहना था कि व्यक्ति के कुछ जन्मसिद्ध अधिकार होते हैं; लेकिन उनका कोई राजनीतिक महत्व नहीं है। वे अधिकार एक प्रकार से नैतिक विधियाँ हैं जो केवल व्यक्ति के कर्तव्य की ओर इंगित करती हैं। विधेयन जैसी कोई वस्तु नहीं होती। राजसत्ता जिस नैतिक विधि (Moral Law) की व्याख्या कर देती है—वही विधेयित विधि बन जाती है। शासन के प्रति कोई भी व्यक्ति आज्ञापालन की प्रतिज्ञा करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के आचरण को बल प्रयोग द्वारा नहीं विवेक और न्याय द्वारा नियंत्रित किया जाना चाहिए। गॉडविन का मत था कि यदि व्यक्ति को उचित शिक्षा दी जाय, उसे स्वस्थ वातावरण में रहने दिया जाय तथा अनुकूल राज-संवास हों, तो वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। गॉडविन समाज को व्यक्तियों का समूह मात्र मानता था और उसका कहना था कि शासन

---

1 "From Locke and the empiricists, he borrowed his ideas of the nature and structure of mind; from Rousseau, Helvetius and Hol lach he learnt the effects which education and political institutionos have on the formation of character; from Mably and others he accepted the idea of the uniformity of truth; Paine taught him distinction between society and government and from all these writers he took over the criticism of monarchy and aristocracy." F.C. Heornshaw in *The Social & Pol. Thinkers of the Revolutionary Era*, p. 146.

स्थापित करने का एकमात्र आधार पारस्परिक विचार-विनिमय है। टॉम पेन की भाँति उसका भी मत था कि व्यक्ति के निजी क्षेत्रों में राज्य और शासन का न्यूनतम हस्तक्षेप होना चाहिए। राज्य की उत्पत्ति संबंधी सिद्धान्त के विवाद में गॉडविन नहीं पड़ा। लेकिन उसने कहा कि राज्य एक प्रकार का अनिवार्य बुराई है।[1] ज्यों-ज्यों व्यक्ति का मानसिक विकास होगा और उसका मस्तिष्क निखरता जायगा, त्यों-त्यों यह बुराई दूर हो जायगी। गॉडविन का आदर्श समाज ऐसा होगा जिसके लिए शासन या राज्य की आवश्यकता नहीं होगी और प्रत्येक प्रकार के राजसंवास क्रमशः लुप्त हो जायँगे। गॉडविन यह नहीं मानता कि विधियों से सार्वजनिक कल्याण भी संभव है।

१८.३ **सम्पत्ति सबंधी विचार**—गॉडविन सम्पत्ति के अधिकार का बहुत बड़ा विरोधी था। उसका कहना था कि सामाजिक असमानता उत्पन्न होने का एक मुख्य कारण सम्पत्ति का अस्तित्व है। समाज में बुराइयाँ भी इसी वजह से पैदा होती हैं। सम्पत्ति के कारण मनुष्य के समुचित विकास में बाधा पड़ती है। जिनके पास सम्पत्ति होती है वे गर्व करने लगते हैं और अपेक्षित श्रम नहीं करते। जिनके पास सम्पत्ति नहीं होती उनके साथ यह मुसीबत पैदा हो जाती है कि वे विकास और श्रम के उचित अवसरों से वंचित रह जाते हैं। यही नहीं, गरीबों को धन के अभाव के कारण अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तरह-तरह के अपराध करने पड़ते हैं। सम्पत्ति अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का भी कारण बनती है। इसलिये गॉडविन का कहना था कि सम्पत्ति का वितरण इस प्रकार हो कि जिससे न किसी को बहुत अधिक तंगी महसूस हो और न किसी को सम्पत्ति होने की वजह से इतनी सुख-सुविधाएँ ही मिल जायँ कि वह कुछ भी काम नहीं कर सके।

गॉडविन के विचारों में व्यक्तिवादिता भी पर्याप्त अंशों में थी। उसने समाज या राज्य के पूर्ण विकास पर बल नहीं दिया; बल्कि व्यक्ति की पूर्णता को ही अपना लक्ष्य बनाया है।

गॉडविन के विचारों में कल्पनावादिता अधिक थी। उसके विचार भी समकालीन इंगलैण्ड की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं थे। तत्कालीन इंगलैण्ड के समाज को पेन या गॉडविन के बजाय बर्क ही अधिक निकट प्रतीत होता था। फलतः गॉडविन के विचारों का इंगलैण्ड के तत्कालीन समाज पर अत्यल्प प्रभाव पड़ा। इंगलैण्ड के बाहर यूरोप में कुछ विचारक अवश्य उससे प्रभावित हुए। ऐसे विचारकों में **सेण्ट साइमन** और **प्रूदों** आदि का नाम उल्लेखनीय है।

प्रतिक्रियावादी यूरोपियन विचारक

इंगलैण्ड में बर्क तथा उनके साथियों ने फ्रांसीसी राजक्रान्ति का विरोध किया था। यूरोप में भी (जहाँ फ्रांस की क्रान्ति का समर्थन करनेवाले विचारक भी काफी थे) ऐसे कई विचारक हुए जो क्रान्तिकालीन अत्याचारों से घबड़ाकर प्रतिक्रियावादी शिविर में चले गये और वहाँ से उन्होंने फ्रांस की क्रान्ति का विरोध किया। ऐसे विचारकों में **मार्क्विस डी बोनाल्ड जोसेफ डी मेस्त्रे** और **लुडविगवॉन हॉलर** का नाम मुख्यतः लिया जा सकता है। बोनाल्ड फ्रांसीसी था। उसने इस आधार पर फ्रांसीसी राजक्रान्ति का विरोध किया कि उससे नास्तिकता फैली। बोनाल्ड राजतंत्र का समर्थक था। डी मेस्त्रे भी ऐसा विचारक था जिसने फ्रांस की राजक्रान्ति का धार्मिक आधारों पर विरोध किया। लुडविग वॉन हॉलर राजतंत्र या गणतंत्र को शासन के दो भाग मानता था और इन दोनों का समर्थक था।

---

1 "Government is an evil, an usurpation upon the private judgment and individual conscience of mankind." W. Godwin, *Pol. Justice*, p. 380,

२६

उपयोगितावादी विचारक (पूर्वार्ध)
(UTILITARIAN THINKERS)

१. उपयोगितावाद क्या है ?--२. उपयोगितावादी की विशषताएँ--३. जेरेमी बेन्थम--४. उपयोगिता का सिद्धान्त--५. आलोचना-६. बेन्थम का मनोविज्ञान और आचारशास्त्र--७. राज्य शासन और संप्रभुता--८. अधिकार, विधि और दण्ड--९, बेन्थम की व्यक्तिवादिता--१०. बेन्थम के अनुदाय, उसका स्थान और प्रभाव--११. जेम्स मिल--१२. शासन और राज्य--१३. शिक्षा संबंधी सिद्धान्त--१४. जॉन ऑस्टिन--१५. राज्य और शासन--१६. संप्रभुता--१७. विधियाँ--१८. व्यक्ति स्वातंत्र्य और अधिकार--१९. ऑस्टिन का प्रभाव, अनुदाय और स्थान।

१. उपयोगितावाद क्या है ?

उपयोगितावाद अँग्रेजी के शब्द 'यूटिलिटेरियनिज्म' (Utilitarianism) का अनुवाद है। सामान्यतः उपयोगिता का अर्थ यह होता है कि कोई वस्तु किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों के लिये कितना लाभदायी है। लेकिन यह अर्थ बड़ा ही संकीर्ण है। यदि 'उपयोगिता' शब्द के व्यापक अर्थों पर हम विचार करें तो निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचेंगे। 'उपयोगिता'— किसी भी वस्तु की उपयोगिता--हमारे व्यापक सुख का प्रतिनिधित्व करता है और इसी पर यदि सामूहिक दृष्टि से विचार किया जाय तो वह अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का भी प्रतिनिधित्व करती है अतएव उपयोगिता में एक प्रकार से हम सार्वजनिक कल्याण की निहित भावना को देख सकते हैं। इस सार्वजनिक कल्याण की भावना में वे सब बातें छिपी हुई हैं जो मनुष्य के सुख-दुख का निर्धारण करती हैं। अतः, सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से हर वस्तु को देखने वाला व्यक्ति व्यावहारिक, अनुभूतवादी और व्यक्ति को अधिक-से-अधिक आनन्द के अवसर प्रदान करनेवाला होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में कुछ ऐसे विचारक हुए जिन्होंने उक्त लक्ष्यों की सिद्धि के लिए राजदर्शन की सर्जना की। इन विचारकों के विचारधारा ही उपयोगितावाद के नाम से प्रसिद्ध है। प्रायः सभी उपयोगितावादी विचारक—बेन्थम, जेम्स मिल, ऑस्टिन और जॉन स्टुअट मिल--अँग्रेज थे। यही कारण है कि उपयोगितावादी को मुख्यतः राजदर्शन के क्षेत्र में इंगलैण्ड का अनुदाय माना जाता है।

उपयोगितावादी राजदर्शन मुख्यतः मानवीय मनोविज्ञान के अध्ययन पर आधारित है। मनुष्य के इस पक्ष पर राजदर्शन के क्षेत्र में विचार करनेवाले दार्शनिकों में लॉक और ह्यूम का नाम सबसे पहले आता है। वैसे तो यूनानी सभ्यता के समय में एपीक्योरियनों ने भी उपयोगितावादी विचार प्रकट किये थे; लेकिन आधुनिक उपयोगितावाद का श्रीगणेश **रिचर्ड कम्बरलैण्ड** से हुआ था। सत्रहवीं शताब्दी के इस विचारक ने सन् १६७२ में प्राकृतिक विधियों के संबंध में एक निबंध लिखा था जिसमें उसने यह सिद्ध कर दिया था कि सार्वजनिक कल्याण ही सबसे बड़ा गुण है। बाद में फ्रांसिस हचेसन ने 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। प्रथम उपयोगितावादी विचारक बेंथम ने प्रीस्टले के विचारों से भी अपने कुछ सिद्धान्तों के निरूपण में सहायता ली थी।

उपयोगितावादी विचारकों ने राज्य को कृत्रिम संवास या सावयविक मानने से इनकार कर दिया। उन्होंने कहा राज्य का अस्तित्व केवल इसीलिए है कि वह मानव-समाज के लिए उपयोगी है। यदि राज्य की विधियाँ ऐसी हैं जिनसे सार्वजनिक कल्याण की सिद्धि नहीं होती तो उन विधियों को बदल डालने में कोई भी हानि नहीं है। और इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत-सी विधियों में संशोधन एवं परिवर्धन कराने का श्रेय उपयोगितावादियों को है भी। उन्होंने दण्ड-व्यवस्थाओं में परिवर्तन कराया। खदानों और कारखानों के मजदूरों की दशा सुधारने के लिये आन्दोलन किये। ब्रिटिश संसद (पार्लमेण्ट) के निर्वाचन में मताधिकार का क्षेत्र क्रमशः इस प्रकार विस्तृत कराया कि सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार न केवल सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया गया; अपितु उसे व्यावहारिक रूप भी मिल गया। ग्राम का प्रतिनिधित्व भी इन्हीं लोगों ने बढ़वाया। चार्टिस्ट आन्दोलन इन्हीं उपयोगितावादियों की ही देन था। गरीबों संबंधी कानून (Poor Laws) को बदलवाने का श्रेय भी इन्हीं लोगों को है। अन्न कानून (Corn Law) भी उपयोगितावादियों के कारण ही उठ सका। ये सब बातें क्रान्तिकारी थीं और बर्क शायद इनकी कल्पना भी नहीं कर सकता था।

उपयोगितावादी विचारधारा इतनी लोकप्रिय क्यों हुई? इसका एक कारण तो उपयोगितावादी विचारकों का सक्रिय सार्वजनिक कार्यकर्त्ता होना था तथा दूसरा कारण ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थीं। सक्रिय सार्वजनिक कार्यकर्त्ता होने के कारण उपयोगितावादी विचारकों को यह मालूम रहता था कि जनवादी प्रवृत्तियाँ क्या हैं। लोकरुचि क्या है और जनता किस दिशा की ओर बढ़ना चाहती है। व्यावहारिक दार्शनिक के लिए इतना ज्ञात हो जाना पतवार का मिल जाना है। दूसरे, फ्रांस की राजक्रान्ति असफल हो चुकी थी। नैपोलियन के हाथ में राजसत्ता चली गयी थी और उसने अपने आक्रमणों से समग्र यूरोप को त्रस्त कर रखा था। फ्रांस की राजक्रान्ति की प्रतिक्रिया सारे यूरोप और इंगलैण्ड में हुई। इंगलैण्ड में बर्क इस प्रतिक्रियावादी विचारधारा का नेता था। बर्क की नीति "यथापूर्व स्थिति" (Status quo) बनाये रखने की थी। यह नीति औद्योगिक क्रान्ति के बाद पनपने वाले पूँजीवादी और उद्योगपति वर्ग को फूटी आँखों न सुहाती थी। इसके साथ ही यह वर्ग टॉम पेन की क्रान्तिवादिता और गॉडविन की अराजकतावादिता से भी सहमत न था। ऐसे संक्रान्ति-स्थल पर उपयोगितावादी विचारक उक्त वर्ग के प्रवक्ता बन गये। उन्हीं दिनों मजदूरों के ट्रेड यूनियन तथा काम की दशा सुधारने की माँग के आन्दोलन चल रहे थे। उपयोगितावादियों ने इसका भी समर्थन किया और अपनी विचारधारा को लोकप्रिय बना लिया।

उपयोगितावाद की विशेषताएँ

लेकिन, उपयोगितावाद की अपनी भी कुछ विशेषताएँ हैं। सबसे पहली बात यह है कि उपयोगितावाद कोई ऐसा सिद्धान्त या सिद्धान्त-समूह नहीं है जो किसी एक विचारक ने किसी एक समय बनाकर दिया हो और फिर बाद के लोगों ने उसमें कोई परिवर्तन ही न किया हो। आगे जब हम बेंथम तथा जे० एस० मिल के विचारों का अध्ययन करने के बाद उनकी तुलना करेंगे तो कहीं-कहीं ऐसा लगेगा जैसे दोनों में जमीन आसमान का फर्क हो। अतः, अन्य बहुत सी विचारधाराओं की भांति उपयोगितावादी विचारधारा का भी क्रमशः विकास हुआ है।

---

१ अन्न कर सन् १८०२ में उस समय लगाया गया था जब इंगलैण्ड नैपोलियन से युद्ध कर रहा था। इस कर से ब्रिटेन म अनाज का मूल्य बढ़ गया। अन्त में लोगों ने इस कर के विरुद्ध आन्दोलन किया और सन् १८४६ में यह कर हटा लिया गया। उक्त कर हटाने के लिये पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों ने मुख्यतः आन्दोलन किया था क्योंकि मजदूरों की वेतनवृद्धि की माँग इसी की वजह से थी।——ले०।

उपयोगितावाद का दृष्टिक्षेत्र आरंभ में बड़ा संकुचित, किन्तु स्पष्ट था, लेकिन अनुभव और आलोचनापूर्ण सहानुभूतियुक्त गहरे पर्यवेक्षण से क्रमशः वह व्यापक और विकसित हुआ। उपयोगितावादी विचारकों ने रूढ़िवादिता से बचने की बराबर कोशिश की और यह भी प्रयत्न किया कि उपयोगितावाद अपने आपको नवीन से नवीन परिस्थितियों का सामना करने योग्य बनाये रखे।

उपयोगितावाद की **दूसरी** विशेषता यह है कि वह कल्पनावादिता पर आधारित नहीं है। उपयोगितावादी विचारक ऐसे किसी भी सिद्धान्त को काम में लाये जाने के पक्ष में नहीं हैं जिसका केवल काल्पनिक महत्व ही हो। कल्पनावादी विचार अठारहवीं शताब्दी में बहुत प्रचलित थे। विवेक युग (Age of Reason) की यही विशेषता थी। कल्पनावादियों की निगमनात्मक (deductive) अध्ययन पद्धति के विरुद्ध उपयोगितावादियों ने व्याप्ति एवं अनुभूतिमूलक (inductive & empiric) पद्धति का प्रयोग किया। वे व्यावहारिकता पर बहुत अधिक बल देते थे। उनका कहना था कि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक होता है। वह सुख चाहता है और ऐसे कामों से बचता है जिनसे उसे दुख मिलने की संभावना हो। इस प्रकार उपयोगितावाद का व्यावहारिक आचारशास्त्र और राजनीति से घनिष्ठ संबंध है।

उपयोगितावाद की **तीसरी** विशेषता उसकी मनोवैज्ञानिकता है। उपयोगितावादी यह मानते हैं कि मनुष्य केवल बौद्धिकता का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता। वह मानव-मस्तिष्क को अनेकांगी और उसकी प्रक्रियाओं को जटिल मानते हैं। इसी आधार पर वे यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के हित भी अलग-अलग होते हैं। मनुष्य अपनी रुचियों और महत्वाकांक्षाओं के अनुसार ही अपने हिताहित को सोचता और स्थिर करता है। प्रथमतः व्यक्ति की रुचियों का महत्व केवल निजी होता है लेकिन व्यक्ति चूंकि समाज का भी अंग होता है—इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की भावनाओं, रुचियों और आकांक्षाओं का प्रभाव अन्य लोगों पर भी पड़ता है। इसका यह अर्थ भी है कि कोई व्यक्ति कभी सर्वथा विलग तो हो ही नहीं सकता। सर्वथा एकाकी व्यक्ति केवल मानसिक कल्पना का ही विषय है। इसके बाद उपयोगितावादी विचारक बतलाते हैं कि मनुष्य की सारी गतिविधियों का लक्ष्य सुख प्राप्ति ही है। लेकिन मनुष्य को केवल अपने ही सुख में पूर्ण सुख नहीं मिलता। वह सबकी भलाई में ही अपना भी सुख अनुभव करता है। वह चाहता है कि अन्य लोग भी सन्तोष और सुख का जीवन व्यतीत करें। लेकिन संतोष और सुख भी तो एक प्रकार से "आनंद" के ही पर्याय हैं। अतः, उपयोगितावादी का अन्तिम इष्ट "आनन्द" लाभ है। प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है

चौथी बात यह है कि उपयोगितावादी विचारक की राजनीति में आचारशास्त्र सदैव छिपा रहता है। किसी राजनीतिक कृत्य को उपयोगितावादी तभी अच्छा मानते हैं जब उससे अधिक से अधिक व्यक्तियों का लाभ होने की संभावना हो। उसके लिये सार्वजनिक कल्याण ही सर्वाधिक महत्व की चीज है। इस दृष्टिकोण में यह बात भी निहित है कि प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तिगत विकास और निजी उन्नति के अधिक से अधिक अवसर मिलने चाहिए। ऐसी विधि का कोई मूल्य नहीं है जिससे राज्य के अधिकतम लोगों का कल्याण नहीं हो। विधियों के दो पक्ष उपयोगितावादियों ने बतलाये हैं—एक, निषेधात्मक और दूसरा सकारात्मक। जिस विधि या उसके किसी भाग से बुरी परिस्थितियों और विषाक्त वातावरण का नाश हो—वह निषेधात्मक है और जिससे निर्माण-कार्य हो—वह सकारात्मक। इस प्रकार राज्य की प्रत्येक चेष्टा, उसके प्रत्येक कार्य और विधेयन को राज्यवासियों के सुख-दुख से नापा जाना चाहिए। यही पैमाना उपयोगिता का सिद्धान्त है। उपयोगिता के सिद्धान्त के संबंध में सर **फ्रेडरक पोलक** ने कहा है कि यह नश्वर देव (लेवायथन) की नाक में डाली गयी लगाम है।

इन सब उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उपयोगितावादी गहन पर्यवेक्षण, अनुसंधान और परीक्षण पर बल देते हैं। वह नैतिकता, मानव-स्वभाव की प्रवृत्तियों और आचरणों के संबंध में बिना समझे-बूझे कोई टिप्पणी नहीं करते। अध्ययन की वैज्ञानिकता उपयोगितावाद की पाँचवीं विशेषता है।

३. जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham)

३.१ **जीवन-परिचय**--बेन्थम उपयोगितावादी विचारधारा की नींव रखनेवाला पहला अँग्रेज दार्शनिक था। **हेनरी मेन** के शब्दों में उन्नीसवीं शताब्दी में जितने सुधार हुए--आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैधानिक, उनमें से शायद ही ऐसा कोई सुधार हो जिस पर बेन्थम का प्रभाव न पड़ा हो।

बेन्थम का जन्म लन्दन के हाउण्ड्स डिच मोहल्ले में सन् १७४८ की १५ फरवरी को हुआ था। बेन्थम के पिता वकील थे। बेन्थम का परिवार वकालत के लिए प्रसिद्ध था। परिवार सब तरह से सम्पन्न था। बेन्थम के पिता की इच्छा थी कि उनका पुत्र उच्चतम शिक्षा प्राप्त करके कोई उच्च सरकारी अफसर बने। और कोई कारण न था कि बेन्थम वैसा न हो पाता। बेन्थम की प्रतिभासम्पन्नता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि सन् १७६३ में सोलह वर्ष की अल्पायु में ही उसने बी० ए० पास कर लिया था। बेन्थम ने बी० ए० कर के एम० ए० किया और इसके बाद कानून की परीक्षा पास की। इसके बाद बेन्थम ने अदालतों में जाना शुरू किया। लेकिन बजाय वकालत करने के बेन्थम ने विधियों (कानूनों) और अधिनियमों में ही संशोधन करने का कार्य सँभाला। शीघ्र ही उसने वकालत का पेशा छोड़ दिया और विधियों के सुधार के आन्दोलन में जुट गया।

बेन्थम स्वभावतः बड़ा ही परिश्रमी और संचेत्य था। उसने अपने आप कई भाषाएँ सीखीं। उसकी लिखित सामग्री इतनी अधिक है कि वह ग्यारह जिल्दों में प्रकाशित हुई है। अँग्रेजी भाषा को न्यूनतम (minimum), अधिकतम (maximum), संहिताकरण (codification), उपयोगितावादी (utilitarian) आदि जैसे शब्द बेन्थम के ही दिये हुए हैं। उसकी एक पुस्तक से ह्विग दल के नेता लार्ड शेलबर्न बहुत अधिक प्रभावित हुए थे और उनके जरिए ही बेन्थम राजनीति के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ। लार्ड शेलबर्न के घर पर ही बेन्थम का परिचय विलियम पिट, रोमिली, केमदन, ड्यूमॉण्ट और डनिंग आदि जैसे लोगों से हुआ।

बेन्थम की मृत्यु ६ जून सन् १८३२ को हुई।

३.२ **रचनाएँ**--बेन्थम ने 'लन्दन रिव्यू', 'वेस्ट मिनिस्टर रिव्यू' आदि जैसे पत्रों में बहुत से लेखों, निबंधों आदि के अलावा निम्नलिखित पुस्तकें लिखीं--(१) फ्रेगमेण्ट्स ऑन गवर्नमेंट (Fragments on Government); (२) एडिफेन्स ऑफ यूजरी (A Defence of Usury); (३) ऐन इंट्रोडक्शन टू दि प्रिंसिपिल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन (An Introduction to the Principles of Morals and Legislation); (४) डिसकोर्स ऑन सिविल एण्ड पनल लेजिस्लेशन (Discourse on Civil and Penal Legislation); (५) ए थ्योरी ऑफ पनिशमेण्ट ऐण्ड रिवार्ड्स (A Theory of Punishment & Rewards); (६) ए ट्रीटाइज ऑन जुडीशियल एवीडेन्स (A Treatise on Judicial Evidence); (७) पेपर्स अपॉन कोडिफिकेशन एण्ड पब्लिक इन्स्ट्रक्शन (Papers upon Codification & Public Instruction) और (८) 'दि बुक ऑफ फेलेसीज (The Book of Fallacies)। ये सारी पुस्तकें सन् १७६६ से लेकर सन् १८२४ तक प्रकाशित हुईं। इनके अतिरिक्त अभी ऐसी बहुत-सी सामग्री है जो अप्रकाशित ही पड़ी हुई है। उक्त पुस्तकों में से कई का अनुवाद विभिन्न यूरोपियन भाषाओं में हो गया है।

३.३ **अध्ययन-पद्धति**—बेन्थम ने व्याप्ति और अनुभूति-मूलक अध्ययन-पद्धति का प्रयोग किया और पर्यवेक्षण को सफलता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य बतलाया था। यही कारण है कि बेन्थम का अध्ययन-पद्धति में व्यावहारिकता पर बहुत अधिक बल मिलता है।

३.४ **बेन्थम की समस्या**—यद्यपि बेन्थम को इंगलैण्ड के उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे बलवान् आन्दोलन उपयोगितावाद का नेता माना जाता है लेकिन बेन्थम के विचारों के अध्ययन से यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि कोई नया राजनीतिक विचारधारा देने का बेन्थम का लक्ष्य न था। वह तो केवल सुधार–हर क्षेत्र में सुधार–चाहता था। सुधारों के लिए ही उसने एक सामान्य सिद्धान्त का अन्वेषण किया था जिसके आधार पर तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांविधानिक सेवाओं और संस्थाओं की परीक्षा की जा सके। बेन्थम के दर्शन की कुंजी हमें उसके इन वाक्यों में मिल जाती है, "प्रकृति ने सारी मानव जाति को सुख और दुख इन दो सप्रभु स्वामियों के अधीन रख छोड़ा है। यह कार्य इन्हीं दोनों शक्तियों का है कि वे बतलाएं कि हम क्या करना चाहिए और क्या नहीं।"[1] बेन्थम ने बतलाया कि इन्हीं दोनों बातों से हमारे जीवन के सारे व्यापार संचालित होते हैं। सुख और दुख को मानव-मनोविज्ञान के दो अविवादास्पद तथ्य मान लेने के बाद बेन्थम ने उपयोगिता के सिद्धान्त का निरूपण किया।

४. उपयोगिता का सिद्धान्त

बेन्थम के ही शब्दों में "उपयोगिता के सिद्धान्त से हमारा आशय उस सिद्धान्त से है जिससे संबंधित व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि या ह्रास होता है और जिसके आधार पर वह प्रत्येक कार्य को या तो उचित ठहराता है या अनुचित; या दूसरे शब्दों में जिससे सुख मिलता है या सुख नष्ट होता है। मैं यह बात हर कार्य के लिए कहता हूँ; और इसलिए मेरी यह बात किसी एक व्यक्ति पर नहीं बल्कि हर सरकारी कार्य के संबंध में भी लागू होती है[2]" बेन्थम का कहना था कि जीवन के लक्ष्य के संबंध में कोई अनुमान लगाना मूर्खता है; विशेषकर उस समय जब कि हमारे प्रतिदिन के प्रत्येक कार्य में वही लक्ष्य प्रतिबिम्बित होता है। यह लक्ष्य है सुख की प्राप्ति। हम सब आनन्द और सुख ही तो चाहते हैं। इसी के अनुसार हमारे वही कार्य अच्छे समझे जाते हैं जिनसे हमें सुख मिलता है। अतः, हमारे सारे कार्यों की एकमात्र कसौटी उनकी उपयोगिता (Utilitiy) है। यह ऐसी कसौटी है जिसके संबंध में किसी को कोई मतभेद नहीं हो सकता और न कोई इस पर किसी तरह का विवाद ही कर सकता है। बेन्थम का कहना है कि किसी वस्तु या कार्य की उपयोगिता ही उसके अच्छे या बुरे होने का फैसला करती है। अपने आप में न कार्य कोई अच्छा है और न बुरा। यदि किसी

---

1 "Nature has placad mankind under the governance of two sovereign masters, pain and pleasure. It is for them alone to point out what we ought to do, and as well as to determine what we shall do" J. Bentham in *Principles of Moral and Legislation* p. 1.

2 "By the principle of utility is meant that Principle which approves or dispproves of every action whatsoever according to the tendency it appears to have to augment or diminish the happiness of the party whose interest is in question: or what is the same thing in other words to promote or to oppose that happiness. I say of every action whatsoever, and therefore not only of every action of a private individual, but of every measure of government." *Ibid*, p. 2-

कार्य के करने से लाभ होता है, अर्थात् सुख मिलता है तो वह अच्छा है और यदि दुख मिलता है तो बुरा। सब कुछ परिणाम पर निर्भर करता है। इसीलिए मानव-स्वभाव के संबंध में बेन्थम ने कहा कि वह हमेशा ऐसे कार्य करने को प्रेरित होता है जिनसे सुख मिले और उन कार्यों से बचने की कोशिश करता है जिनसे दुख पाने की संभावना हो। यही उपयोगिता का व्यावहारिक सिद्धान्त है।

बेन्थम ने यह भी बतलाया कि सुख या दुख के कौन-कौन से स्रोत हैं। इन स्रोतों की संख्या पाँच है--(१) भौतिक या प्राकृतिक, (२) राजनीतिक, (३) नैतिक, (५) लौकिक और (५) धार्मिक। जब हमें कोई दुख या सुख प्रकृति के कारण मिलता है तो वह प्राकृतिक स्रोत से मिला दुख या सुख कहलायेगा। उदाहरण के लिए वर्षा के अभाव में खेती सूख जाय तो हमारे भूखों करने का कारण प्राकृतिक हुआ और यदि समय पर पानी बरस जाय तो सुख मिलने का कारण भी प्राकृतिक माना जायगा। इसी प्रकार यदि किसी का कर्जा अदा न करने के कारण राज्याधिकारी हमारा घरबार नीलाम करा देते हैं और हमें दर-दर की ठोकरें खाने को विवश होना पड़ता है तो हमारे दुख का कारण राजनीतिक माना जायगा क्योंकि हमें मिलनेवाली तकलीफ प्रत्यक्षतः समाज की सहमति से निर्मित शासन के एक प्रतिनिधि की दी हुई है। जब किसी कार्य के करने से हमें मन ही मन पश्चात्ताप होता है तो वह नैतिक कष्ट है। इसी तरह जब समाज हमें किसी कार्य के लिए दण्डित करता है तो हमारे दुख का कारण लौकिक होता है। धार्मिक विकासों के कारण भी हमें सुख या दुख मिल सकता है।

बेन्थम ने दुख या सुख के प्रकार नहीं बतलाए हैं। उसने यह बतलाने का भी प्रयत्न नहीं किया है कि कोई ऐसा भी सुख या दुख होता है जो एक सुख या दुख से ऊँचा या नीचा हो। बेन्थम केवल यही कहता है कि सुख या दुख मात्रा की दृष्टि से कम या ज्यादा हो सकता है लेकिन गुणात्मक दृष्टि से उनमें कोई अन्तर नहीं होता। बेन्थम की दृष्टि से काव्य के आनन्द और कबड्डी खेलने के आनन्द में कोई अन्तर नहीं है।

तो फिर मात्रा का अन्तर किस प्रकार पड़ता है? बेन्थम का कहना है कि सुख या दुख की मात्रा निम्नलिखित सात कारणों की वजह से कम या ज्यादा हो सकती है: (१) तीव्रता, (२) समय की लम्बाई, (३) निश्चितता, (४) निकटता या समीपता, (५) उर्वरता, (६) शुद्धता और (७) विस्तृतता। बेन्थम का कहना था कि उक्त कारणों के आधार पर ही हम सारी बातों को तौलते हैं। यही सातों कारण हमारे धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक, आचारिक और न्यायिक विश्वासों के मापदण्ड हैं। बेन्थम ने ऐसी बहुत सी तालिकाएँ बनाईं जिनसे उक्त कारणों के आधार पर कार्यों और वस्तुओं की उपयोगिता निर्धारित की गयी। बेन्थम ने यह भी बतलाया कि सुख या दुख दो प्रकार के होते हैं; एक तो सामान्य या सरल और दूसरे जटिल। सरल अथवा सामान्य प्रकार के चौदह सुख होते हैं और बारह दुख। सुख ये हैं; (१) इन्द्रिय सुख, (२) धन और सम्पत्ति सुख, (३) निपुणता का सुख, (४) मित्रता या सद्भाना का सुख, (५) यश का सुख, (६) शक्ति या सत्ता का सुख, (७) धार्मिक सुख, (८) दया का सुख, (९) निर्दयता का सुख, (१०) स्मृति सुख, (११) कल्पना का सुख, (१२) आशा का सुख, (१३) सम्पर्क या मिलन का सुख और (१४) सहायता अथवा भारमुक्ति का सुख। बारह प्रकार के दुख ये हैं—(१) दरिद्रता, (२) भावना, (३) परेशानी या हिचकिचाहट, (४) शत्रुता, (५) अपयश, (६) धार्मिकता, (७) दया, (८) निर्दयता या दुर्भावना, (९) स्मृति, (१०) कल्पना, (११) आशा और (१२) सम्पर्क। बेन्थम का कहना था कि गणना करके (हिडॉनिस्टिक केलकुलस द्वारा) यह बतलाया जा सकता है कि सुख या दुख की मात्रा कितनी है। इसी आधार पर किसी भी वस्तु या कार्य की उपयोगिता निर्धारित की जा सकती है।

५. अलोचना

बन्थम के उपयोगिता के सिद्धान्त (Principle of Utility) की बड़ी कठोर आलोचना हुई है। नतिकतावादियों तथा कल्पनावादी विचारकों ने उपयोगिता के सिद्धान्त को नितान्त भौतिकवादी बतलाया है और कहा है कि यह मनुष्य को नीचे ले जानेवाला सिद्धान्त है। यदि मनुष्य के सारे कार्यों का आधार उपयोगिता के सिद्धान्त को ही मान लिया जाय तो ऐसा लगता है कि बन्थम समस्त मनुष्यों को सुअरों की भाँति ही समझता था। आर० एच० मरे ने लिखा है कि "यदि हम बेन्थम की तरह व्यक्ति से उसकी आत्मा को छीन लेते हैं तो नैतिकता या अनैतिकतापूर्ण कार्य जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती हालाँकि ऐसे कार्य बच जाते हैं जो सर्वसाधारण के लिए लाभदायी हों या न हों। चूँकि व्यक्ति की आत्मा नहीं रह जाती इसलिये समाज की आत्मा भी नहीं रह जाती। अपराधी के निषेधों को अनुभव ही नहीं करता।" मरे का आशय यह है कि यदि हम बेन्थम की उपयोगिता का सिद्धान्त स्वीकार कर लेते हैं तो व्यक्ति और समाज दोनों को अपनी-अपनी आत्मा का परित्याग कर देने के लिए विवश कर देते हैं।

आलोचकों का यह भी कहना है कि यदि सभी मानवीय कार्य व्यापारों का उद्देश्य सुख लाभ करना है और दुखों से बचना है; जैसा कि बेन्थम का मत है, तो फिर मनुष्य के लिए जीवन का अन्य कोई उद्देश्य रह ही नहीं जाता—सिवा इसके कि वह सदैव अपने इंद्रिय सुखों की प्राप्ति के लिए ही सचेष्ट रहे क्योंकि सुखों में कोई गुणात्मक (qualitative) भेद तो बन्थम द्वारा माना ही नहीं गया है। मात्रात्मक सुख या दुख भी इस बात पर निर्भर करता है कि गणित क्या कहता है। इस प्रकार बेन्थम के सिद्धान्त में समाजसेवा, देशभक्ति, राष्ट्रप्रेम आदि जैसी भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि इन सब में आत्मोत्सर्ग और आत्मत्याग तथा बलिदान करना पड़ता है। टॉमस कार्लाइल ने बेन्थम के दर्शन को "सुअरों का दर्शन" कहा है। लेकिन बेन्थमवादियों ने इसका उत्तर दिया है कि जो सैनिक अपने शरीर को अपने देश और राष्ट्र के लिए बलिदान करता है—उसे भी एक प्रकार का सुख मिलता है—भले ही वह हमारे दैनिक सुखों से भिन्न हो। ऐसे बलिदानी राष्ट्रप्रेमी सैनिक या क्रान्तिकारी इस सन्तोष की भावना से मरते हैं कि उनके जीवन के बलिदान से आगे आनेवाली पीढ़ियों को सुख मिलेगा। इस प्रकार की संतोष-भावना का होना क्या कोई कम सुख है? अतः बेन्थम के आलोचकों की टिप्पणियाँ कहीं-कहीं अत्यधिक एकांगी हो गयी हैं।

बन्थम के उपयोगिता के सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि हर कार्य या वस्तु का औचित्य दुख और सुख के जरिए ही सिद्ध नहीं किया जा सकता।

बेन्थम का कहना है कि विधायिका शक्ति के प्रत्येक सदस्य को ऐसी विधियाँ (कानून) बनानी चाहिए जो अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिए अधिक से अधिक उपयोगी हों। लेकिन एक विधि दूसरी विधि से अधिक उपयोगी होगी—यह कैसे जाना जा सकता है? इसका उत्तर बेन्थम अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स ऑफ मारल्स और लेजिस्लेशन' में बहुत सी

1 "If we take away conscience, as Bentham does", (then, only the) "there is no such thing as a moral or an immoral action, though there may remain acts that are generally useful on the reverse. As there is no individual conscience, so there is no collective conscience. The culprit does not feel the censure of the community." R. H. Murray in *The History of Political Science* p. 314.

२ "सुअरों का दर्शन" (Pig-philosophy) से आशय यह है कि उन व्यक्तियों का दर्शन जो बस केवल आत्मतुष्टि में ही सम्पूर्ण आनन्दों को अनुभव कर लेते हैं।

तालिकाएँ बनाकर दिया है। बेन्थम का कहना है कि इन तालिकाओं से विभिन्न कार्यों की और वस्तुओं की उपयोगिता जानी जा सकती है। हालाँकि बेन्थम का यह दावा भी विवादास्पद है कि उन तालिकाओं से समस्त कार्यों और वस्तुओं की उपयोगिता जानी जा सकती है--लेकिन यह दावा मान लेने पर भी समस्या सुलझती नहीं है। यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि 'क' नाम का एक ऐसा विधेयक है, जिसे कानून बना देने पर पचीस आदमियों को दस इकाई सुख प्रति व्यक्ति के हिसाब से मिलता है। इस प्रकार कुल सुख की मात्रा ढाई सौ इकाइयों की हुई। अब एक दूसरा विधेयक है; जिसका नाम 'ख' है। इसको विधि बना देने से तीस व्यक्तियों को पाँच इकाई सुख प्रति व्यक्ति के हिसाब से मिलता है। इस प्रकार मिलनेवाले कुल सुख की मात्रा डेढ़ सौ इकाइयाँ हुईं। अब विधियों को बनानेवाला क्या करे; वह अधिक व्यक्तियों का ध्यान रखता हुआ 'ख' विधेयक को विधि बना दे या सुख की अधिक मात्रा को ध्यान में रखकर 'क' विधेयक को विधि बनाये। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीति में अंकगणित का प्रयोग करना कैसी गड़बड़ी पैदा कर देता है। इस संबंध में **जे० मेकन** की यही बात याद आती है कि अंकगणित राजनीति में उतनी ही अनुपयोगी है जितनी राजनीति अंकगणित में।

बेन्थम के उपयोगिता के सिद्धान्त से सबसे अधिक लाभ पूँजीपतियों के एक छोटे से वर्ग को हुआ। बहुसंख्यावाले गरीबों और मजदूरों के वर्ग की दशा में न तो कोई उल्लेखनीय सुधार ही हुआ और न कोई राहत ही उन लोगों को मिली। सुख की मात्रा को अधिकाधिक बढ़ाने की फिक्र में पूँजीपतियों ने बेन्थम के सिद्धान्तों की आड़ में अपने मुनाफे की रकमों को ही अधिक से अधिक बढ़ाया। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर राज्य की ओर से जब-जब मजदूरों की दशा सुधारने के लिए ब्रिटिश संसद में विधेयक उपस्थित किये गये—बेन्थमवादियों और पूँजीपतियों ने उनका विरोध किया।

६· बेन्थम का मनोविज्ञान और आचारशास्त्र

बेन्थम ने मनोविज्ञान और आचारशास्त्र की भी व्याख्या उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर की है। बेन्थम ने बतलाया कि मनुष्य की सारी आचारिकता सुखों की प्राप्ति के नियम द्वारा ही नियंत्रित होती है। उसका कहना था कि इस नियम को सिद्ध करने के लिए उसे कोई भी प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वमान्य बात है। यदि कुछ लोगों को इस नियम के विरुद्ध आचरण करते देखा जाता है तो वे अपवाद हैं और उनकी मनो दशा भ्रष्ट हो चुकी है। सामान्य और साधारण कोटि का व्यक्ति सदैव उक्त नियम के अनुसार ही आचरण करेगा। बेन्थम ने सम्पूर्ण मनोविज्ञान पर प्रकाश नहीं डाला। यह कार्य बेन्थम के मित्र जेम्स मिल को करना पड़ा। बेन्थम ने मनोविज्ञान की सहायता से व्यक्ति की मनोभावनाओं की गहराई में प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं किया। बेन्थम ने व्यक्ति और समाज की सुखानुभूति की भावनाओं को भी समन्वित करने का प्रयत्न नहीं किया। बेन्थम का मनोविज्ञान निर्बल और अपर्याप्त था।

७· राय शासन और सप्रभुता

७.१ राज्य संबंधी विचार--सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में राज्य की उत्पत्ति के संबंध में जो विवाद चल रहे थे उनकी तरफ बेन्थम ने कोई ध्यान नहीं दिया। उसने इन विवादों में पड़ने की कोई जरूरत भी नहीं समझी। वह राज्य की उत्पत्ति के संबंध में न अनुबंधवाद को मानता है और न राज्य संबंधी सावयवी सिद्धान्त को। अतीत में राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई--इस प्रश्न का उत्तर देने के बजाय बेन्थम ने पूछा कि राज्य क्यों वर्तमान है? उसने उत्तर दिया कि मानव-जाति को राज्य की आवश्यकता है। अतः,

हमारी यह आवश्यकता ही राज्य की उत्पत्ति का मुख्य कारण है। राज्य की उत्पत्ति का स्रोत मानव-जाति की आवश्यकताओं में निहित है। राज्य का लक्ष्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में बेन्थम ने कहा राज्य का लक्ष्य है, मानवसमाज को अधिक से अधिक सुख पहुँचाना। सुख पहुँचाने का तरीका यह है कि राज्य अपने सभी अंगों की आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति करे। आवश्यकताओं की पूर्ति होने से ही राज्य के सदस्यों को सुख मिलेगा और यदि उनकी पूर्ति न हुई तो दुख। राज्य को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए ऐसे कानून बनाने चाहिए जो ज्यादा से ज्यादा लोगों के लिए लाभदायी सिद्ध हों।

७.२ **शासन**—बेन्थम ने सैद्धान्तिक रूप से शासन के संबंध में अपना कोई मत प्रकट नहीं किया। उसने इस संबंध में जो कुछ भी कहा—वह सब ब्रिटिश शासन (British Government) को दृष्टि में रखते हुए कहा। वह ब्लैकस्टोन के इस कथन से सहमत नहीं था कि ब्रिटिश सरकार सब तरह से दोष रहित है। बेन्थम को ब्रिटिश शासन में ऐसी बहुत-सी त्रुटियाँ दिखलायी पड़ीं जिनको दूर करने की आवश्यकता उसे लगती थी। बेन्थम का कहना था कि इन त्रुटियों को वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान और संसद के प्रत्यक्ष चुनावों की व्यवस्था करके दूर किया जा सकता है। उसके सारे सुधार इंगलैण्ड को प्रजातांत्रिकता की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करते थे। उसे इंगलैण्ड के विधानमण्डल के दो सदन भी पसन्द नहीं थे। बेन्थम का कहना था कि कामन सभा के अतिरिक्त ब्रिटेन के विधानमण्डल को अन्य किसी सदन की आवश्यकता नहीं है। लार्ड-सभा को वह अनुपयोगी मानता था। उसका यह भी कहना था कि सर्वोत्कृष्ट शासन गणतंत्रात्मक (Republican) होता है; क्योंकि इस शासन में शासक और शासित दोनों के हित एक-से ही होते हैं। इसके बाद बेन्थम ने यह भी बतलाया था कि गणतंत्रात्मक शासन राजतंत्र अथवा आभिजात्य तंत्र की अपेक्षा किस प्रकार अधिक सुचारुता, दक्षता और लोकमत के अनुसार चलाया जा सकता है। इस तरह राजतंत्र और आभिजात्यतंत्र के प्रति उसका विरोधभाव स्वयं प्रकट हो जाता है और यह भी पता चल जाता है कि वह किस प्रकार उपयोगितावादी शासन का समर्थक था। लेकिन बेन्थम के प्रजातांत्रिक विचारों से यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि वह कल्याणकारी राज्य (Welfare State) को चाहता था। बिलकुल नहीं—इसके विपरीत उसका कहना था कि शासन को केवल शांति एवं व्यवस्था का कार्य करना चाहिए तथा व्यक्ति के निजी क्षेत्रों में तनिक भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वह शासन के हस्तक्षेप के इतने अधिक विरुद्ध था कि उसने सन् १७८७ में एक पुस्तक सूदखोरों के संबंध में 'ए डिफन्स ऑफ यूजरी' (A Defence of Usury) लिखी और बतलाया कि राज्य या राज्य के प्रतिनिधि के रूप में शासन को भी सूदखोरी रोकने के लिए कोई कानून क्यों नहीं बनाना चाहिये। वह "यह यद्‌भाव्यम् नीति" (laissage faire policy) का समर्थक था और उसका कहना था कि इंगलैण्ड को "मुक्त व्यापार" को अधिकाधिक प्रोत्साहित करना चाहिए।

७.३ **संप्रभुता के संबंध में**—बेन्थम राज्य की शक्ति को इतना उच्च और क्षमतावान् मानता था कि वह हर विषय पर जो विधि चाहे बना सकता है। उसका कहना था कि संप्रभुता की शक्ति अनन्त नहीं है लेकिन वह अनिश्चित अवश्य रहनी चाहिए। संप्रभुता की सीमा लोकमत है। यदि लोकमत किसी विधेयक का विरोध करता है तो संप्रभु शक्ति को उसे विधि का रूप न देना चाहिए। वह व्यक्तियों के कुछ निश्चित अधिकार हैं (जैसा कि प्राकृतिक अधिकारवादी कहते हैं)—इस कल्पना पर कोई विश्वास नहीं करता था। बेन्थम का कहना था कि व्यक्ति के अधिकारों को निश्चित करने वाली केवल एक ही शक्ति है और वह है संप्रभुता। यदि वह व्यक्ति के किसी अधिकार को नहीं मानती तो फिर उसका कोई उपचार नहीं किया जा सकता। हम किसी भी राज्य की संप्रभु शक्ति को इस

बात के लिए विवश नहीं कर सकते कि वह व्यक्ति के अधिकारों को माने ही। संप्रभु शक्ति का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक से सहयोगी नागरिक के प्रति वह कर्तव्य भी कराये जिनको करना सामान्यतः नागरिकों को प्रिय नहीं होता। अपने इन्हीं विचारों के कारण बेन्थम का कहना है कि किसी भी नागरिक को संप्रभुता का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं है। नागरिक का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह संप्रभु शक्ति की आज्ञाओं का पालन करे। लेकिन यह वैधानिक कर्तव्य तभी तक है जब आज्ञा पालन से प्रतिरोध के बजाय अधिक लाभ होता हो। यदि प्रतिरोध की तुलना में आज्ञापालन से कम लाभ होने लगे तो बेन्थम प्रजा को क्रान्ति का अधिकार दे देता है।

८. अधिकार विधि और दंड

८.१ **अधिकार**—जैसा कि पूर्ववर्ती अनुच्छेद में हम लिख आये हैं बेन्थम व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करता था। अधिकारों का निर्धारण बेन्थम के अनुसार सामयिक परिस्थितियों द्वारा होता है और अधिकारों और कर्तव्यों का वह एक दूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध मानता है। उसका कहना था कि प्रकृति शब्द ही बड़ा निरर्थक है। उससे किन्हीं अधिकारों की उत्पत्ति होना नहीं माना जा सकता। अधिकार दो प्रकार के हैं—(१) वैधानिक, अर्थात् वे अधिकार जो संप्रभु शक्ति द्वारा बनायी गयी विधियों से मिलते हैं और (२) नैतिक अधिकार। लेकिन इन अधिकारों के साथ राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक कर्तव्य भी संबद्ध हैं। अतः एक प्रकार से संप्रभु सत्ता को ही बेन्थम ने समग्र अधिकारों का स्रोत मान लिया था। वह टॉम पेन तथा गॉडविन आदि की प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना से कोई भी सहानुभूति नहीं रखता था।

८.२ **विधियाँ**—बेन्थम ने बतलाया कि विधियाँ ही संप्रभु सत्ता की इच्छा को प्रकट करती हैं। विधियाँ संप्रभु सत्ता के निश्चितआदेश हैं और इनका पालन करना राज्य में रहने वाले प्रत्येक नागरिक का परम कर्तव्य है। जिस प्रकार बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों को मानने से इन्कार कर दिया था ठीक उसी प्रकार बेन्थम ने प्राकृतिक विधियों को मानने से भी इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि विधियाँ केवल दो ही प्रकार की होती हैं: (१) या तो दैवी (Divine),(२) मानवीय (Human); लेकिन दैवी विधियों का चूँकि कोई निश्चित और दृढ़ स्वरूप नहीं है, इसलिए हर राज्य में संप्रभुता युक्त मानवीय संस्था द्वारा निर्मित कुछ विधियाँ अवश्य होनी चाहिए। विधियों का लक्ष्य क्या है? बेन्थम ने इस पर भी प्रकाश डाला है। राजसत्ता द्वारा बनायी गयी प्रत्येक विधि की कसौटी बेन्थम उसकी उपयोगिता मानता है। विधियों की उपयोगिता तीन प्रकार से सिद्ध होती है, **पहली** यह कि वह राज्य के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा प्रदान करती है या नहीं, **दूसरी** यह कि उससे लोगों को आवश्यकता की सामग्रियाँ यथेष्ठ मात्रा में मिलने लगती है या नहीं, और **तीसरी**, यह कि प्रत्येक नागरिक एक दूसरे नागरिक के साथ समानता का अनुभव करता है या नहीं। बेन्थम का कहना था कि यदि विधियाँ उक्त कसौटियों पर उपयोगी सिद्ध होती हैं तो विधि का लक्ष्य पूरा हो जाता है। विधियाँ अपने स्थायित्व और समाज व्यापी मान्यता से नागरिकों को सुख देती हैं। विधियों के संबंध में बेन्थम का यह भी कहना था कि उनका अधिक से अधिक प्रचार किया जाना चाहिए जिससे लोग देश या राज्य की विधियों से अनभिज्ञ न रहें। उसने विधियों की व्यापकता को देखते हुए उन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभक्त भी किया था—(१) अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ, (२) सांविधानिक विधियाँ, (३) राजकीय या नागरिक विधियाँ और (४) फौजदारी की विधियाँ। राजनीति और न्यायशास्त्र को भी बेन्थम ने अलग-अलग बाँटने की कोशिश की थी लेकिन वह अधिक सफल न हो सका।

बाद में उपयोगितावादी न्यायाचार्य जॉन ऑस्टिन ने आगे चलकर इस कार्य में सफलता पायी। लेकिन ऑस्टिन को बेन्थम द्वारा जो दिशा दिखलायी गयी थी——उससे बड़ी मदद मिली।

८.३ **दण्ड**——बेन्थम ने दण्ड संबंधी दो अत्यन्त अमूल्य सिद्धान्त स्थिर किये। **पहला** यह कि अपराधी को अपराध के अनुपात से दण्ड मिले और **दूसरा** यह कि जो दण्ड दिया जाय उसमें इस बात का ध्यान रखा जाय कि दण्डित व्यक्ति सुधर जाय तथा समाज पर उसकी शुभ प्रतिक्रिया हो। इस प्रकार के सिद्धान्तों तक पहुँचने में बेन्थम को समकालीन इंगलैण्ड की परिस्थितियों ने प्रेरित किया। उन दिनों इंगलैण्ड के फौजदारी के कानून बड़े ही सख्त थे। उनकी सख्ती की कल्पना इस बात से की जा सकती है कि जाली सिक्कों और नोटों आदि को बनाने के अपराध में कुछ वर्षों में सौ आदमियों को मृत्यु दण्ड दे दिया गया था। जेलों की व्यवस्था भी बड़ी खराब थी और होवर्ड फास्ट उस व्यवस्था को सुधारने के लिए आन्दोलन कर रहा था। बेन्थम को इस आन्दोलन से बड़ी सहानुभूति थी। उसने एक आदर्श जेल का नमूना भी तैयार किया था। इसका नाम उसने 'पेन ऑप्टिकन' (Pan Optican) रखा था। इस जेल की इमारत चक्राकार होती और उसके बीच जेल के गवर्नर के रहने का स्थान होता। चारों तरफ बंदियों की कोठरियाँ होतीं और गवर्नर अपने शीशे के केबिन में से बैठा-बैठा प्रत्येक बंदी की चौबीसों घण्टे की चर्या देखा करता और जिस बंदी को जैसे उपचार की उसके सुधरने के लिए आवश्यकता होती वैसी व्यवस्था करता। बेन्थम का विचार था कि ऐसी पहली जेल का गवर्नर वही बने लेकिन उसका यह इरादा पूरा न हो सका। वह इसके पहले ही मर गया। उसका विश्वास था कि उचित शिक्षा से प्रत्येक कैदी का जीवन सुधारा जा सकता है।

९. बेन्थम की व्यक्तिवादिता

बेन्थम का विश्वास था कि व्यक्ति की स्वतंत्रता संसार में सबसे बहुमूल्य वस्तु है। वह प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता और समानता के जन्मसिद्ध अधिकार को मानता था। उसका मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिभा के अनुसार विकास और उन्नति करने के पूरे अवसर मिलने चाहिए। लेकिन व्यक्ति समाज में रहता है। समाज में यदि सभी व्यक्तियों की स्वतंत्रता की रक्षा होनी है तो यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति का नियंत्रण किया जाय क्योंकि नियंत्रण के अभाव में एक व्यक्ति की स्वतंत्रता से दूसरे को नुकसान हो सकता है। नियंत्रण करने से स्वतंत्रता में जो कमी आती है वह उस अनियंत्रित स्वतंत्रता की दशा से बहुत कम है जिससे राज्य में किसी की भी स्वतंत्रता कायम नहीं रहती। इसलिए राज्य को बुराई समझते हुए भी बेन्थम उसे छोटी और अनिवार्य बुराई के रूप में ग्रहण करता है। राज्य को अनिवार्य बुराई के रूप में ग्रहण कर लेने के बाद वह इस बात का प्रयत्न करता है कि राज्य के नियत्रण की मात्रा जितनी ही कम हो उतना ही अधिक अच्छा। राज्य के पास व्यक्तियों के नियंत्रण का क्या साधन है? विधियाँ। अतः बेन्थम का कहना है कि कम नियंत्रण का अर्थ कम विधियों का होना है। अतएव, राज्य को जहाँ तक हो सके न्यूनतम विधियाँ बनानी चाहिएँ। विधियों की उपमा उसने औषधि से दी है। जिस प्रकार अधिक औषधियाँ मनुष्य के स्वास्थ्य को चौपट कर देती हैं उसी प्रकार अधिक विधियाँ भी समाज के विकास की अवरोधक शक्तियाँ बन जाती हैं। इसलिए विधियों की न्यूनता समाज और राज्य के स्वस्थ विकास के लिए बड़ी ही आवश्यक है। राज्य का कर्तव्य है और इसी बात में उसकी उपयोगिता भी है कि वह उन्नति करने के लिए व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता दे। कोई भी विधि बनाने के पहले राज्य को निम्नलिखित दो बातें सोचनी चाहिए——(१) जो विधि बनायी जा रही है क्या उसका लक्ष्य कोई ऐसी बुराई रोकना है जिसे समाज में सामान्यतः सब लोग बुरा समझते हैं? उदाहरण के लिए डकैती, गिरहकटी आदि ऐसी ही बुराइयाँ हैं। जिन्हें राज्य को कानून

बनाकर रोकना चाहिए। लेकिन सूदखोरी, मद्यपान आदि ऐसी बुराइयाँ नहीं हैं जिनको विधियों की ताकत से रोकने की आवश्यकता हो, (२) विधि बन जाने पर जो व्यक्ति उसका उल्लंघन करेगा उस अपराधी के लिए दण्ड बड़ी बुराई है या उसका अपराध करना ? उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को किसी के घर से लोटा चुराकर ले जाने देना बड़ी बुराई है या उसका दो-तीन महीने के लिए जेल भेज दिया जाना। बेन्थम का कहना था कि जब तक अनिवार्य ही न हो जाय तब तक राज्य को किसी भी व्यक्ति को जेल नहीं भेजना चाहिए क्योंकि ऐसा करने का अर्थ है कि राज्य उस व्यक्ति की वह स्वतंत्रता छीन रहा है जिसकी रक्षा के लिए वह बनाया गया है। जेल भेजने का अर्थ है कि राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने के प्राथमिक कर्तव्य में असफल रहा है। बेन्थम की स्वतंत्रता संबंधी कल्पना निषेधात्मक थी। वह प्रतिबंधों के अभाव को ही स्वतंत्रता समझता था। बेन्थम के इन विचारों का असर यह हुआ कि कुछ दिनों के लिए इंगलैण्ड पुलिस-राज्य हो गया——ऐसा राज्य जिसे बहुसंख्यक प्रजा के हितों की रक्षा से कोई मतलब नहीं था। उसका काम केवल देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा और आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था की रक्षा करना ही रह गया था। राज्य के इस तटस्थ व्यवहार के परिणाम स्वरूप "यद् भाव्यम्" नीति सामने आयी। इसमें संदेह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इंगलैण्ड औद्योगिक और व्यापारिक राज्य के रूप में चमक उठा लेकिन उद्योगपतियों और व्यापारियों का कोष ही बढ़ता चला गया——मजदूरों की दरिद्रता, बेकारी और दुख का कोई पारावार न रहा। अन्त में उपयोगितावादियों को स्वयं अपनी नीति में परिवर्तन करके मजदूरों की दशा सुधारने के लिए आन्दोलन करना पड़ा, कानून बनाने पड़े और यह कहना पड़ा कि व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना भी राज्य का ही कर्तव्य है।

१०. बेन्थम के अनुदाय, उसका स्थान और प्रभाव

बेन्थम का सबसे बड़ा अनुदाय यह है कि उसने शासन के भी कार्यों की परीक्षा के लिए उपयोगिता के सिद्धान्त को एक बड़ी अच्छी कसौटी रख दी। अच्छा शासन क्या होता है—इसका भी व्यावहारिक रूप उसने जनता के सामने रख दिया। बेन्थम का कहना था कि शासन राजतंत्रात्मक, आभिजात्यात्मक या प्रजातंत्रात्मक है—इससे प्रजा को उतना प्रयोजन नहीं, जितना इस बात से कि विधियाँ उपयोगी हैं या नहीं। **आइवर ब्राउन** के शब्दों में "बेन्थम ने इंगलैण्ड को सुख किस प्रकार मिले——इसके लिए केवल बातें ही नहीं बनायीं बल्कि बातें बनाने के साथ इंगलैण्ड को सुखी बनाने के लिए परिश्रम भी किया।"[1] वस्तुतः बेन्थमवाद ने एक प्रकार के मानवतावाद की नींव रखी। बेन्थम का लक्ष्य हमेशा यही रहा कि शब्दों की गहराई में पहुँचा जाय, उनमें छिपी उपयोगिता खोजी जाय तथा उसके अनुसार कार्य किया जाय, जनकल्याण को सर्वोच्च महत्व दिया जाय।

बेन्थम का अपने समय के बौद्धिक वर्ग पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जेम्स मिल, जॉन ऑस्टिन तथा जॉन स्टुअर्ट मिल आदि उसकी ही देन हैं। बेन्थम ने केवल इंगलैण्ड को ही अपनी प्रतिभा से प्रभावित नहीं किया बल्कि उसकी प्रतिभा की किरण-रेखाएँ रूस, पुर्तगाल, स्पेन, मेक्सिको तथा अन्य-अन्य दक्षिणी अमेरिका के देशों तक पहुँची। उसने इनमें से बहुत से देशों की विधि संहिताएँ तैयार कीं : "मुक्त व्यापार" तथा 'मानवतावादी' आन्दोलनों को तो बेन्थम से बड़ा बल मिला। बेन्थम का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितना सम्मान था—इसकी कल्पना इसी बात से की जा सकती है कि सन् १७९२ में पेन के साथ बेन्थम को भी फ्रांस की नागरिकता प्रदान की गयी थी। भारत भी बेन्थम से मुक्त नहीं रहा। लार्ड विलियम बेंटिक ने भारत में जितने

---

1 'Bentham did not talk about the happiness of England' he worked for the hapriness of [England. Ivor Brown in *English Political Theory* p. 102.

सुधार किये—वे सब के सब बेन्थम के विचारों से प्रभावित होकर किये गये थे। लार्ड बेंण्टिक ने तो बेन्थम को लिख भी दिया था कि भारत का गवर्नर जनरल वस्तुतः मैं नहीं बल्कि आप होकर जा रहे हैं। और बेन्थम का स्थान उपयोगितावादी विचारकों के नेता के रूप में तो सुरक्षित है ही।

११. जेम्स मिल (James Mill)

११.१ **जीवन-परिचय**—जेम्स मिल का जन्म ६ अप्रैल सन् १७७३ को स्कॉटलैण्ड के एक गाँव में हुआ था। उसका पिता मोची था और माँ एक किसान की पुत्री। लेकिन पिता ने अपने जूते बनाने के काम से ही बड़ा धन कमा लिया था। यही कारण है कि वह अपने पुत्र को उच्चतम शिक्षा दिलाने में सफल हुआ। अपने गाँव और पास के कसबे में माध्यमिक वर्गों तक की शिक्षा पा लेने के बाद जेम्स को सन् १७९० में एडिनबरा विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए भेज दिया। यहाँ जेम्स और जोसेफ ह्यूम एक दूसरे के सहपाठी के रूप में रहे। एडिनबरा विश्वविद्यालय से एम० ए० कर लेने के बाद जेम्स ने पादरी का पद सँभाला किन्तु चर्च की सेवा करते हुए भी उसने अध्ययन की आदत नहीं छोड़ी और इतिहास, राजनीति तथा दर्शन का गहन अध्ययन किया। जेम्स का स्वभाव बड़ा रूखा था। वह अपनी बातें इस तरह से कहता था जैसे वही बात ठीक हो तथा विरोधी मत बिलकुल गलत। कुछ भी हो, उसकी विद्वत्ता से सभी प्रभावित थे। सर जॉन स्टुअर्ट भी इस तरुण पादरी के प्रति आकर्षित हो गये और उन्होंने जेम्स को अपनी एकलौती पुत्री का अध्यापक नियुक्त कर दिया। सर स्टुअर्ट को जेम्स की शिक्षण-पद्धति बहुत पसन्द आयी और जब वे सन् १८०२ में ब्रिटिश संसद के सदस्य की हैसियत से लन्दन गये तो जेम्स को भी साथ लेते गये। सन् १८०५ में जेम्स का हैरियट बरो नाम की युवती से विवाह हो गया। लन्दन में जेम्स का परिचय बेन्थम से हुआ। यहीं रहकर वह अन्य उपयोगितावादी विद्वानों के सम्पर्क में आया और स्वयं भी उक्त विचारधारा का अनुयायी बन गया सन् १८१८ में उसका लिखा 'भारत का इतिहास' प्रकाशित हुआ। उसकी यह पुस्तक इतनी प्रसिद्ध हुई कि उसी वर्ष इण्डिया ऑफिस में उसे जगह मिल गयी। सन् १८३६ में २३ जून को जेम्स मिल की लन्दन में मृत्यु हुई।

११.२ **पुस्तकें और अध्ययन पद्धति**—सन् १८०४ में जेम्स की सबसे पहली पुस्तक 'कॉर्न ट्रेड' (Corn Trade) के नाम से इंगलैण्ड के अनाज कर के संबंध में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक ने सारे इंगलैण्ड का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर दिया। इसके बाद उसकी लिखी 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (History of India) सन् १८१८ में प्रकाशित हुई। सन् १८२९ और १८३५ में उसकी दो पुस्तकें निकलीं। पहली थी 'एन एनेलिसिस ऑफ दि फिनामिना ऑफ दि ह्यूमन माइण्ड (An Analysis of the Phenomena of the Human Mind) और दूसरी थी 'फ्रेगमेण्ट्स ऑन मेकिनटोश' (Fragments on Mackintosh)। इसके अलावा जेम्स ने शासन, अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ, शिक्षा आदि विषयों पर भी बहुत से निबंध और लेख लिखे। उसके ये लेख बहुधा 'लन्दन रिव्यू', मिनिस्टर रिव्यू' आदि पत्रों में निकला करते थे। जेम्स मिल ने भी अपने मित्र बेन्थम की ही व्याप्ति और अनुभूतिमूलक अध्ययन-पद्धति का अनुगमन किया।

११.३ **मिल का मनोविज्ञान**—बेन्थम के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए गत पृष्ठों में एकाधिक स्थल पर हम यह लिख आये हैं कि बेन्थम का उपयोगितावाद मनोविज्ञान के क्षेत्र में शिथिल पड़ जाता था। जेम्स मिल ने इस तरफ विशेष रूप से ध्यान दिया और उपयोगितावादी विचारधारा की दृष्टि से मानव-मस्तिष्क के तत्वों का विश्लेषण किया। मिल का मनोविज्ञान **सम्पर्कात्मक मनोविज्ञान** (Associationist Psychology) कहलाता

है। मिल के मनोविज्ञान संबंधी विचार हमें 'एनेलिसिस ऑफ दि फिनॉमिना ऑफ दि ह्यूमन माइण्ड' नाम की पुस्तक में मिलते हैं। मिल पर बेन्थम का बड़ा प्रभाव पड़ा था। वह यह मानता था कि कार्यों की नैतिकता और अनैतिकता—सब कुछ उनकी उपयोगिता पर निर्भर करती है।

१२. शासन और राज्य

जेम्स। मिल ने शासन और राज्य के संबंध में अपने विचार मानव-स्वभाव का विश्लेषण करने के बाद स्थिर किये थे। मिल का विश्लेषण बेन्थम के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि मनुष्य सुख चाहता है और दुख से बचने की कोशिश करता है। उसके समस्त कार्य-कलापों का प्रेरणा-सूत्र यही है। लेकिन कभी-कभी मनुष्य अपने आपको दुख से बचाने के लिये और स्वयं सुख पाने के लिये ऐसे कार्य भी कर बैठता है, या कम से कम करने की क्षमता रखता है जिससे उसे तो सुख मिल जाय किन्तु दूसरों को दुख मिलने लगे या उनके सुखों का हनन हो जाय। मनुष्य के स्वभाव की यह अन्तर्वृत्ति राज्य की उत्पत्ति और शासन (सरकार) की स्थापना को आवश्यक बना देता है। राज्य शासन के जरिए ही व्यक्तियों का स्वतंत्रता को इस प्रकार नियंत्रित करता है कि मनुष्य अपना व्यक्तिगत विकास तथा निजी उन्नति करने के लिए तो स्वतंत्र रहे लेकिन उसकी स्वतंत्रता अन्य लोगों की स्वतंत्रता में बाधक न बनने पाय। इस प्रकार राज्य और शासन का उपयोगितात्मक उत्पत्ति मान लेने के बाद मिल ने बतलाया कि राज्य चूँकि मनुष्य को स्वतंत्रता को नियंत्रित करता है, इसलिये बुरा है; लेकिन उसके बिना काम भी नहीं चल सकता; अतः आवश्यक भी है। इसलिये, राज्य और उसका शासन मानव-जाति के लिये ऐसी अनिवार्य बुराई है जिसे बरदाश्त करना ही होगा। इसके बाद मिलने प्रश्न उठाया कि सर्वोत्तम शासनतंत्र कौन-सा है? उसने राजतंत्र, आभिजात्यतंत्र, विशुद्ध प्रजातंत्र और मिश्रित शासनतंत्र तक पर विचार किया और बतलाया कि इनमें से एक भी शासनतंत्र ऐसा नहीं है जिसे 'उत्तम' की संज्ञा दी जा सके। तब इस अनिवार्य व्याधि का क्या उपाय है? मिल का उत्तर है—प्रतिनिधि शासन। उसका कहना है कि प्रतिनिधि शासनतंत्र (Representative Government) ही एकमात्र ऐसी दोषहीन व्यवस्था है जिससे समाज की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। उसका कहना था कि विधायिका शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में रहनी चाहिए। इन प्रतिनिधियों द्वारा भी राज्य की विधायिका शक्ति (Legislative power) का दुरुपयोग न होने पाये—इस दृष्टि से विधानमण्डल का कार्यकाल सीमित होना चाहिए और हर बार विधानमण्डल का कार्यकाल समाप्त होने पर नये निर्वाचन होने चाहिए। निर्वाचनों की व्यवस्था दे देने के बाद मिल ने मताधिकार का प्रश्न उठाया और कहा कि जिन व्यक्तियों को अपने जीवन-यापन के लिये दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता हो या, मिल के ही शब्दों में, जिन व्यक्तियों के हित दूसरे व्यक्तियों से संबद्ध हों उनको विधानमण्डल के सदस्यों के निर्वाचन में मतदान का अधिकार नहीं मिलना चाहिए। मिल के विचारों में यही एक ऐसा अंश है जिस पर उसके विरोधियों को बड़ी आपत्ति है। यदि मिल की उक्त बात मान ली जाती है तो बच्चों को तो मताधिकार मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता—वयस्क औरतों से भी मतदान का अधिकार छिन जाता है और बहुत से पुरुष भी चुनावों में भाग लेने से वंचित कर दिये जाते हैं। अतः सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के हिमायती तथा महिला मताधिकार की माँग करनेवाले व्यक्ति, जिनकी संख्या कम नहीं है, मिल की उक्त बात कभी नहीं मान सकते। मिल का कहना था कि मजदूरों और महिलाओं को मताधिकार से वंचित कर दिया जाय और धनिक तथा मध्यवर्ग के लोगों को ही मताधिकार दिया जाय। चूँकि धनिकों की संख्या कम है; इसलिये वास्तविक सत्ता मध्यवर्ग के हाथों में रहेगी और यही अपेक्षित भी है। लेकिन मिल यहाँ पर भूल गया कि मध्यवर्ग हमेशा ढुलमुल रहता है और उसके मतों को धनिक वर्ग बड़ी

आसानी से अपने दबाव के जरिए पक्ष में कर सकता है। इसके विपरीत धनिक वर्ग यदि चाहे तो भी मजदूरों को उनकी वहुसंख्या और सुधारवादी कट्टरता के कारण न तो प्रभावित कर सकता है और न खरीद सकता है। मिल की महिलाओं को मताधिकार न देने की नीति भी अन्यायपूर्ण थी। अन्त में मिल के पुत्र ने भी यह कहा कि स्त्रियों को मतदान का अधिकार मिलना चाहिए। मिल ने शासन-व्यवस्था के सुधारों के संबंध में उक्त दृष्टिकोण से ही आन्दोलन किया और सन् १८३२ का सुधार विधेयक (Reform Bill) बेन्थम और मिल के ही संयुक्त आन्दोलन का परिणाम था।

१३ शिक्षा संबंधी सिद्धान्त

मिल का राज्य और शासन संबंधी मत जान लेने के बाद उसका शिक्षा संबंधी सिद्धांत भी जान लेना आवश्यक है। हमें मिल के शिक्षा संबंधी सिद्धान्त की जानकारी इस विषय में 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के पाँचवें संस्करण में प्रकाशित लेख से मिलती है। मिल के शिक्षा विषयक मत का मूल आधार उसका यह विश्वास है कि सभी व्यक्ति समान होते हैं और यदि उनको अपने व्यक्तित्व के उभार का पूरा अवसर दिया जाय तथा उनके शिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था की जाय तो कोई कारण नहीं कि उनका पूर्ण विकास न हो सके। उसका यह मत हेलवेशियस तथा हॉलबेक आदि विद्वानों से प्रभावित था।

यह आश्चर्य की बात है कि एक पादरी के पद पर रहने के बाद भी जेम्स मिल का यह दृढ़ मत था कि सामान्य शिक्षणसंस्थाओं में बच्चों को धार्मिक पुस्तकें नहीं पढ़ायी जानी चाहिए। मिल ने सुझाव दिया था कि इंगलैण्ड के स्कूलों के पाठ्यक्रम में से बाइबिल की शिक्षा को हटा देना चाहिए। शिक्षा के संबंध में मिल का यह मत अत्याधुनिक था और इसमें संदेह नहीं कि शिक्षा के लौकिकीकरण (Secularization) की ओर यह बड़ा महत्वपूर्ण कदम था।

शिक्षा के परिणामों पर जेम्स मिल का अगाध विश्वास था। जेम्स मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने पिता के शिक्षा संबंधी मतों का उल्लेख करते हुए अपनी "आत्मकथा" में लिखा है, "मेरे पिता को मनुष्यजाति के मस्तिष्क पर विवेक शक्ति के प्रभाव पर इतना विश्वास था कि उनका कहना था कि यदि समस्त मनुष्यों को पढ़ा दिया जाय और उन्हें भाषणों तथा पुस्तकों द्वारा हर प्रकार के मत सुनने और पढ़ने को मिलें तो शायद ही कोई ऐसी चीज हो जो हो न सके।"

जेम्स मिल ने अपने शिक्षा संबंधी निबंध में यह प्रश्न उठाया है कि आखिर शिक्षा का उद्देश्य है क्या? शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से जो भी व्यक्ति पढ़ता-लिखता है, जेम्स के मतानुसार उसका पहला उद्देश्य तो यह होता है कि वह स्वयं सुख प्राप्त करे और उसका दूसरा उद्देश्य यह होता है कि वह अपने अर्जित ज्ञान को दूसरे लोगों में बाँटकर उन्हें प्रसन्न करे। स्पष्ट है कि शिक्षा संबंधी मिल का यह दृष्टिकोण उपयोगितावादी था।

इस प्रकार शिक्षा के उद्देश्य का निरूपण करने के बाद जेम्स मिल ने यह बतलाया कि उक्त लक्ष्य की प्राप्ति का साधन क्या है? मिल का कहना था कि हम मनुष्य की बुद्धि को जितना ही उर्वर बनायेंगे, जितना ही उसके सामने भिन्न-भिन्न रूपों में ज्ञान रखेंगे उतना ही उसकी बौद्धिक प्रतिभा का विकास होगा। जिस प्रकार खेत को जितना ही अधिक जोता

1 "So complete was my father's reliance on the influence of reason over the minds of mankind, whenever, it is allowed to reach them, that he felt as all would be gained if the whole population were taught to read, if all sorts of opinions were allowed to be addressed to them by word and in writing...." John Stuart Mill in his *Autobiography*; p. 106.

जाता है उतना ही वह उर्वर होता जाता है, उसी प्रकार तरह-तरह के विचारों से मानव-मस्तिष्क को जितना ही पूरित किया जायगा उतनी ही उसकी बौद्धिक-प्रतिभा उर्वर होगी; उसमें निखार आयेगा और वह चमकेगी। यही कारण था कि जेम्स मिल अपने बच्चों को तथा विद्यार्थियों को ज्ञान के संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकालकर उसके विस्तृत क्षेत्र में लाना चाहता था। बाइबिल को पाठ्क्रम से निकाल देने के सुझाव का भी यही कारण था। उसका कहना था कि व्यापक शिक्षा व्यक्ति के पाशविक विचारों और भावनाओं का उन्मूलन कर देती है और उनका स्थान न्याय और दया की भावनाओं तथा विचारों को दे देता है। जो शिक्षा यह कर देती है——वही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि न्याय और दया के विचारों से केवल शिक्षित व्यक्ति को ही नहीं बल्कि उस व्यक्ति के सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को बड़ा आनन्द मिलता है। मिल का यह भी कहना था कि विद्यार्थी में मानवतावादी भावनाओं को उत्पन्न करने का एक बड़ा अच्छा साधन अन्तर्राष्ट्रीय विधियों की शिक्षा देना है। अतः इनकी शिक्षा भी दी जानी चाहिए। शिक्षा संबंधी मिल के विचार आधुनिक युग को सचमुच ही रचनात्मक अनुदाय हैं।

मिल के विचारों का प्रभाव समकालीन सभी वर्ग के विचारकों पर पड़ा। जॉन स्टुअर्ट मिल तो निश्चित रूप से अपने पिता के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ।

४. जॉन ऑस्टिन (John Austin)

जॉन ऑस्टिन उपयोगितावादी न्यायशास्त्री था। बेन्थम ने उपयोगितावाद को उपयोगिता का सिद्धान्त दिया——मिल ने उपयोगितावाद के मनोवैज्ञानिक पक्ष को दृढ़ बनाया और जॉन ऑस्टिन ने उपयोगितावाद के पक्ष को विधि के क्षेत्र में सबल आधार शिलाएँ देने की चेष्टा की। ऑस्टिन ने विधि का दर्शन (Philosophy of Law) भी स्थिर किया।

१४.१ **जीवन-परिचय**——जॉन ऑस्टिन का जन्म सन् १७९० में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा के बाद कुछ और आगे बढ़ने पर ऑस्टिन की पढ़ाई छूट गयी और उसने सत्रह वर्ष की अल्पायु में सेना में नाम लिखा लिया। सेना में उसने लेफ्टनेण्ट के पद पर लगभग पाँच वर्ष तक काम किया। इसके बाद फौज की नौकरी से भी उसका जी ऊब गया और उसने वह काम भी छोड़ दिया। ऑस्टिन ने बैरिस्टरी पास करने के लिये कानून का अध्ययन किया। सन १८१८ में उसने बैरिस्टरी पास करके वकालत शुरू की। लेकिन वह वकालत में सफल न हो सका। जहाँ तक रुपये-पैसे के कमाने का संबंध है ऑस्टिन बड़ा अभागा निकला। कहा जाता है कि चालीस वर्ष की अवस्था के बाद मृत्यु तक उसकी कुल आय पन्द्रह सौ रुपये से अधिक नहीं हुई। उसका सारा व्यय-भार उसकी अमीर पत्नी और वकालत करनेवाले छोटे भाई ने सँभाला। वकालत में असफल होने के बाद ऑस्टिन का परिचय बेन्थम से हुआ। बेन्थम ने उसे सन् १८२६ में लन्दन विश्वविद्यालय में अध्यापक का पद मिला दिया लेकिन कुछ ही वर्षों में उसकी कक्षा के विद्यार्थियों की संख्या घटते-घटते पाँच रह गयी। वह न्यायशास्त्र का अध्ययन करने जर्मनी भी गया। लेकिन जर्मनी के कल्पनावादी विचारकों से वह प्रभावित नहीं हुआ। वह दो शाही कमीशनों का सदस्य भी रहा। सन् १८५९ में उसकी मृत्यु हो गयी।

१४.२ **रचनाएँ, अध्ययन-पद्धति और प्रभाव**——जॉन ऑस्टिन की कुल मिलाकर तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई। सन् १८३२ में पहली पुस्तक 'दि प्राविंस ऑफ ज्यूरिसप्रूडस डिटरमिन्ड' (The Province of Jurisprudence Determind) प्रकाशित हुई। यह उसके तत्संबंधी व्याख्यानों का संग्रह था। इसके बाद उसकी दूसरी पुस्तक 'एप्लो फॉर कान्स्टाट्यूशन' (A Plea for Constitution) सन् १८५९ में छपी। इसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गयी। ऑस्टिन की मृत्यु के ४ वर्ष बाद उसकी तीसरी पुस्तक 'ऑन दि स्टडी ऑफ ज्यूरिसप्रूडेन्स' (On the Study of Jurisprudence) प्रकाश में आयी।

अपने समय में ऑस्टिन जरा भी लोकप्रिय न हो सका। इसका कारण यह था कि एक तो उसका विषय ही बड़ा शुष्क था जिसमें सामान्यतः लोगों की रुचि होना कठिन है; दूसरे ऑस्टिन की शैली भी बड़ी नीरस थी। जब उसकी सबसे पहली पुस्तक छपी तो एक लॉर्ड ने उसे पढ़ने के बाद कहा कि ऐसी नीरस अन्य कोई पुस्तक उसने अपने जीवन में नहीं पढ़ी है। ऑस्टिन की लेखनशैली अत्यन्त औपचारिक और तर्कप्रधान है। वह अन्य उपयोगितावादी विचारकों की भाँति व्याप्तिमूलक (Inductive) पद्धति का प्रयोग न करके निगमनात्मक पद्धति (deductive) का प्रयोग करता है। पारिभाषिक शब्दों का बहुत प्रयोग करता है और साथ ही परिभाषाएँ भी खूब देता है। उस पर इस प्रकार का असर संभवतः हॉब्स और बोदाँ का पड़ा है। इनके अलावा ऑस्टिन रूसो तथा बेन्थम से भी प्रभावित हुआ था। उस पर एक जर्मन न्यायशास्त्री गुस्टाव वॉन् ह्यूगो ने भी प्रभाव डाला था। जर्मन विचारकों के आध्यात्मिक राजदर्शन से उसे चिढ़ थी।

१५. राज्य और शासन

वास्तविकता यह है कि ऑस्टिन के समय तक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ऐसी नहीं रही थीं जिनमें राज्य और शासन की उत्पत्ति के विवादों पर कोई ध्यान देता। स्वयं बेन्थम ने यह मानने से इन्कार कर दिया था कि राज्य और शासन की उत्पत्ति अनुबंधात्मक है या नहीं। उसने कहा था कि राज्य का अस्तित्व उपयोगितात्मक है। ऑस्टिन ने भी अपने गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन किया। उसने कहा कि राज्य की उत्पत्ति अनुबंध द्वारा नहीं हुई है। स्पष्ट है कि राज्य का जन्म जनमत की सहमति पर निर्भर नहीं करता। लेकिन इसके साथ ही ऑस्टिन ने यह भी कहा कि राज्य और शासन दोनों को आज जिस रूप में हम देखते हैं—वे सदैव से ही वैसे नहीं रहे हैं। उनका जीवधारी की भाँति क्रमशः विकास हुआ है। यह राज्य और शासन की उत्पत्ति का सावयवी सिद्धान्त है। इस प्रकार ऑस्टिन के मत में हमें राज्य की उत्पत्ति के उपयोगितावादी और सावयवी सिद्धान्तों का अच्छा मिश्रण मिलता है। ऑस्टिन ने यह भी बतलाया कि सभ्य समाज में शासन द्वारा दी गयी आज्ञाओं का इसलिये पालन नहीं किया जाता क्योंकि वह समाज अपनी किसी औपचारिक सहमति (अनुबंध) से इसके लिये बाध्य है बल्कि इसलिये कि राज्य की आज्ञाओं का पालन करने की उनकी आदत ही पड़ गयी है। ऐसे समाज में रहनेवाले व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि राज्य की आज्ञा का पालन करने से उन्हें लाभ होगा। लेकिन पिछड़ी जातियों में ऐसा क्यों होता है? ऑस्टिन ने इसका उत्तर यह दिया है कि उन जातियों में राज्य की आज्ञाओं का पालन रीति-रिवाज और परम्पराओं के कारण होता है।

इसी प्रकार, राज्य के साथ ही शासन का भी क्रमिक विकास होता है। ज्यों-ज्यों समाज में मानव-सभ्यता का विकास होता जाता है त्यों-त्यों शासन (सरकार) की उपयोगिता लोगों की समझ में आती जाती है और अराजकता की स्थिति में रहने के बजाय लोग यह पसन्द करते हैं कि वे किसी शासन के आज्ञानुवर्ती होकर रहें।

१६. संप्रभुता (Sovereignty)

आधुनिक राजदर्शन के आरंभिक चरणों में हॉब्स, बोदाँ और रूसो ने संप्रभुता के सिद्धान्तों को स्थिर करने का यत्न किया था। हॉब्स और बोदाँ दोनों ने संप्रभुता की स्थिति

---

1 "Governments do not come into existence full formed and mature but have to grow and grow through the perception of utility of political Government, or the preference of the bulk of the community of any government to anarchy." W. L. Davidson in *The Utilitarians*, p. 166.

राजा या राजसत्ता में बतलायी थी जब कि रूसो ने इसे सामान्य इच्छा (General Will) में बतलाया था। सच तो यह है कि संप्रभुता को इन तीनों में से कोई भी विशुद्ध न्यायशास्त्र की दृष्टि से देख ही नहीं पाया था। यह काम ऑस्टिन ने किया। उसने संप्रभुता के सिद्धान्त को ऐतिहासिक और आचरिक पृष्ठभूमि से अलग कर दिया और निश्चित विधियों के विज्ञान का निर्माण किया।

इस प्रकार संप्रभुता की परिभाषा ही राजदर्शन को न्यायशास्त्री ऑस्टिन की सबसे बड़ी देन है। इस परिभाषा को ऑस्टिन ने राज्य की विशेषताएँ बतलाते हुए आरंभ किया है। राज्य की सबसे **पहली** विशेषता ऑस्टिन ने यह बतलायी है कि उसमें रहनेवाले समाज के सदस्य अराजकता के बजाय किसी भी प्रकार की सरकार को पसन्द करते हैं और आदतन उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। **दूसरी**, संप्रभू और राज्य, ये दोनों अविभाज्य हैं। इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। इसका यह अर्थ है कि संप्रभुता राज्य का अनिवार्य लक्षण है। **तीसरी**, विशेषता यह है कि संप्रभुता की शक्ति न तो राजा में रहती है और न सारी जनता में। वह कुछ ऐसे निश्चित व्यक्तियों के समूह में होती है जो वस्तुतः राज्य की सर्वोच्च शासन सत्ता के स्वामी होते हैं। **चौथी**, विशेषता यह होती है कि राज्य की उस शक्ति पर किसी का कोई वैधानिक नियंत्रण नहीं होता। राज्य की इन विशेषताओं का विश्लेषण करने के बाद ऑस्टिन ने संप्रभुता की निम्नलिखित परिभाषा की :—

"यदि किसी ऐसे निश्चित व्यक्ति श्रेष्ठ की, जो अन्य किसी अपने ही समान व्यक्ति श्रेष्ठ की आज्ञा का पालन स्वभावतः न करता हो, किसी समाज विशेष का अधिकांश भाग स्वभावतः आज्ञापालन करता है तो वह निश्चित व्यक्ति श्रेष्ठ उस समाज का संप्रभु है और वह समाज उस व्यक्तिश्रेष्ठ सहित राजनीतिक और स्वतंत्र समाज है।"[2]

इस परिभाषा का यदि विचारपूर्वक अध्ययन किया जाय तो हमें इसमें सबसे पहली बात यह दृष्टिगोचर होगी कि संप्रभु कोई निश्चित व्यक्ति होना चाहिए। संप्रभुता की स्थिति किसी ऐसे व्यक्ति में नहीं हो सकती जो काल्पनिक हो, जिसका अपना कोई अस्तित्व नहीं हो। सामान्य इच्छा जैसी कल्पना की किसी वस्तु में संप्रभुता निवास नहीं कर सकती। दूसरी बात यह है कि वह 'व्यक्तिश्रेष्ठ' कोई मनुष्य होना चाहिए। ऑस्टिन किसी ऐसे 'व्यक्तिश्रेष्ठ' को मान्यता नहीं देता है जो मानवेतर अथवा अलौकिक हो। किसी देवता या ईश्वर में किसी राज्य की संप्रभुता का निवास होना सर्वथा असंभव है। तीसरी बात यह है कि एक राज्य का संप्रभु व्यक्तिश्रेष्ठ अपने ही समान किसी अन्य संप्रभु की आज्ञा का स्वभावतः पालन न करता हो। चौथी बात यह है कि वह संप्रभु ऐसा होना चाहिए कि जिस समाज में वह श्रेष्ठ माना जाता हो उस समाज के अधिकांश लोग उसकी आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करें। **पाँचवीं** बात यह है कि अपने समाज में उस व्यक्ति की श्रेष्ठता निर्विवाद होनी चाहिए। इस विशेषता की ओर संकेत करने का ऑस्टिन का

---

1 "He separated the theory of sovereignty from its ethical and historical background and by a process of abstraction built the science of positive law." R.G. Gettell in *His, of Pol. Thought*, p. 348.

2 "If a determinate human superior, not in the habit of a given to a like superior, receive habitual obedience from the bulk of a given society. that determinate isSuperior sovereign in that society and that society including the superior is a society political and independent." J. Austin in *Jurisprudence* Vol, I p. 226.

अभिप्राय यह है कि वह शासक और शासित इन दोनों के बीच अन्तर की एक स्पष्ट रेखा अंकित करता है। छठी, और अन्तिम बात यह है कि ऐसे संप्रभु के अस्तित्व के लिये यह आवश्यक है कि संबंधित राज्य भूमि की दृष्टि से पर्याप्त विस्तृत होना चाहिए।

ऑस्टिन की संप्रभुता संबंधी परिभाषा निम्नलिखित चार सिद्धान्तों पर आधारित है :

१६.१ **ऑस्टिन** का पहला सिद्धान्त यह है कि संप्रभुता राज्य का अनिवार्य लक्षण है। इस सिद्धान्त का आधार ऑस्टिन ने यह बतलाया है कि यदि किसी समाज में उक्त सर्वोच्च शक्ति नहीं रहती तो उसके अभाव में वह समाज अव्यवस्थित हो जायगा और उसमें गड़बड़ी फैल जायगी।

१६.२ संप्रभुता व्यक्तिश्रेष्ठ ही किसी राजनीतिक समाज की समस्त वैधानिकता का स्रोत होता है, इसलिए किसी भी विधि का कोई भी बंधन उस पर लागू नहीं हो सकता। यह ऑस्टिन का दूसरा सैद्धान्तिक विश्वास है। ऑस्टिन ने यद्यपि वैधानिक दृष्टि से संप्रभु को पूर्ण मुक्त और स्वच्छन्द मान लिया है फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य के संप्रभु व्यक्ति पर कोई प्रतिबंध ही नहीं होते। स्वयं ऑस्टिन ने अपने संप्रभु को नैतिक और व्यावहारिक मर्यादाओं द्वारा सीमित बतलाया है।

१६.३ ऑस्टिन को संप्रभुता का तीसरा आधार संप्रभुता की अविभाज्यता का सिद्धान्त है। अपने अविभाज्यता के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए ऑस्टिन ने ब्लैकस्टोन के इस मत की आलोचना की है कि कार्यपालिका और विधानमण्डल एक दूसरे का नियंत्रण और सन्तुलन कर सकते हैं।

१६.४ ऑस्टिन समस्त विधियों का विधाता संप्रभु को मानता है और कहता है कि समस्त विधियाँ केवल संप्रभु की इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करती हैं।

१६.५ **आलोचना**—सर हेनरी मेन जैसे न्यायशास्त्रियों ने ऑस्टिन की संप्रभुता की परिभाषा की बड़ी तीव्र आलोचना की है। सर हेनरी मेन ने ऑस्टिन के पहले आधारभूत सिद्धान्त को—कि संप्रभुता राज्य का अनिवार्य लक्षण है और राज्य तथा संप्रभुता को विलग नहीं किया जा सकता—अपनी समालोचना की मार का निशाना बनाया है। सर हेनरी मेन का कहना है कि इतिहास में और संसार में ऐसे समाज मिलते हैं जिनमें प्रत्यक्षतः किसी भी संप्रभु को खोजना कठिन है फिर भी वे समाज सुव्यवस्थित ढंग से जीवन-निर्वाह करते हैं और राजनीतिक समाज अर्थात् राज्य भी माने जाते हैं। इन समाजों या राज्यों में हम वैसी कोई गड़बड़ी नहीं देखते जैसी कि ऑस्टिन के मतानुसार उक्त लक्षण न मिल सकने पर होनी चाहिए। समाजों का ऐतिहासिक अध्ययन करने से पता चलता है कि ऐसे बहुत से मत-मतान्तर, भावनाएँ, विश्वास, अंधविश्वास और मान्यताएँ हैं जिनको बिना किसी संप्रभु की स्वीकृति के ही कानून जैसी शक्ति प्राप्त हो गयी है। उन चीजों को ऑस्टिन के किसी संप्रभु ने औपचारिक रूप से विधि के रूप में मान्यता देने की कोई घोषणा नहीं की है। और तो और स्वयं संप्रभु को ही उन सामाजिक शक्तियों द्वारा निदर्शित दिशा की ओर आगे बढ़ना पड़ा है।

संप्रभुता की अविभाज्यता की ऑस्टिन द्वारा की गयी व्याख्या के कुछ अंशों को ए० आर० लॉर्ड ने मिथ्या बतलाया है। लॉर्ड का कहना है कि ऐसी बहुत-सी दिशाएँ हैं, जिनम सर्वोच्च शक्ति की खोज की जा सकती है। ऐसी अवस्था में वास्तविकता यह है कि कोई भी यह नहीं कह सकता कि यदि किसी विशेष समाज में संप्रभुता की खोज की जाय तो अन्य समाजों की भाँति वह उसमें भी ठीक उसी व्यक्ति या वर्ग में मिल जायगी जिसमें किसी

अन्य समाज में मिली थी। साथ ही यह भी कोई नहीं कह सकता कि शासन की सत्ता को यदि प्रभावयुक्त बनाय रखना है तो उसका विभाजन किसी भी अवस्था मे होना ही नहीं चाहिए।

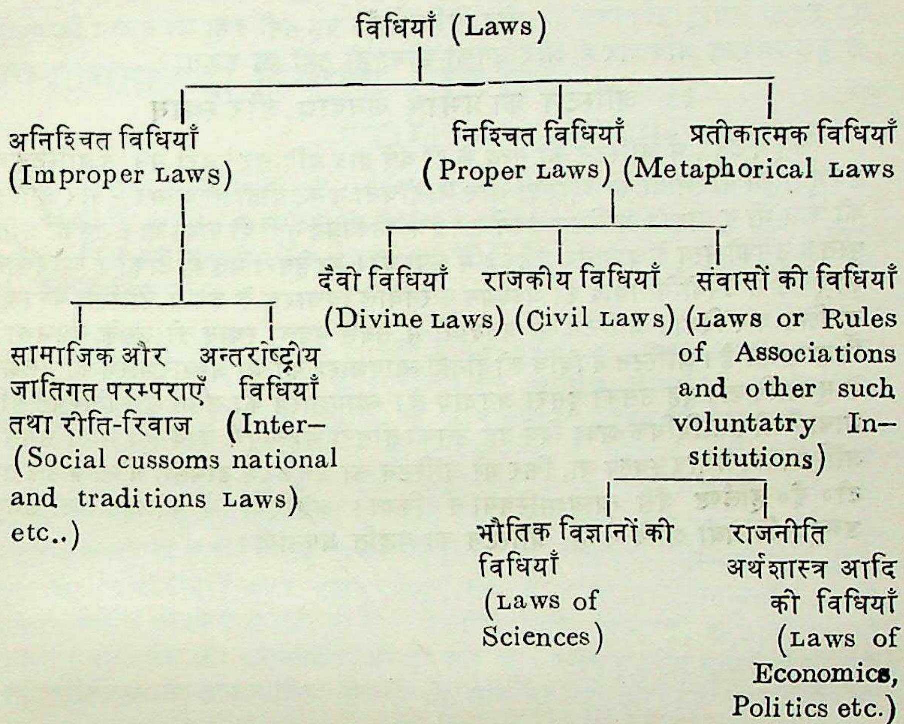
जो० एच० सेवाइन का कहना है कि ऑस्टिन ने संप्रभुता के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्व दे दिया है। वास्तविकता यह है कि वह सिद्धान्त तो बेन्थम के अदालती और संसदीय सुधार आन्दोलन के लिए तैयार किया गया था। इस बात को कोई अस्वीकार भी नहीं कर सकता कि ऑस्टिन ने संप्रभुता संबंधी मत बेन्थम के सुधार आन्दोलनों को पुष्टि के लिए ही स्थिर किया था लेकिन ऑस्टिन का शासन को एक निश्चित व्यक्तिश्रेष्ठ तक सीमित कर देना और उसके प्रति समाज के अधिकांश लोगों का स्वभावतः आज्ञापालन करने का भाव रखने का विचार बहुत हो अपर्याप्त था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऑस्टिन न्यायशास्त्र की दृष्टि से संप्रभुता की परिभाषा करते हुए राजनीतिक तथ्यों को अपने ध्यान मे नहीं रखा। **सर हेनरी मेन** के इस कथन में पर्याप्त बल है कि हर राज्य में संप्रभुता के निवास के लिए एक निश्चित व्यक्तिश्रेष्ठ आवश्यक नहीं है। ऑस्टिन को कल्पना के संप्रभु को अमेरिका जैसे किसी संघराज्य में खोजना बड़ा कठिन है क्योंकि वहाँ न तो सम्पूर्ण शक्ति राष्ट्रपति के हाथ में रहतो है, न विधानमण्डल के और न सर्वोच्च न्यायालय के। संप्रभु शक्ति तीनों म विभक्त रहती है और इस प्रकार ऑस्टिन की अविभाज्यता वाली बात भी ढेर हो जाती है।

लेकिन इन प्रतिकूल टिप्पणियों का यह आशय नहीं है कि ऑस्टिन की संप्रभुता की परिभाषा निरर्थक और सर्वथा प्रयोजनहीन है। वास्तविकता यह है कि न्यायशास्त्र की दृष्टि से संप्रभुता की प्रकृति की जितनी अच्छी व्याख्या ऑस्टिन ने की, वैसी अन्य किसी न कभी नहीं की। ऑस्टिन ने बताया कि कानून की दृष्टि से संप्रभु सर्वशक्तिमान् है, यह दूसरी बात है कि वह अपने अधिकारों का केवल न्यायोचित प्रयोग ही करता है। दूसरे उसके संप्रभुता संबंधी मत से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राज्य को एकता उसका आवश्यक एवं अनिवार्य तत्व है। लेकिन यहाँ हमें ऑस्टिन के संप्रभुता के सिद्धान्त और जर्मन आदर्शवादियों के सिद्धान्तों को परस्पर मिला देने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। काण्ट और हीगल जैसे कल्पनावादी विचारकों ने राज्य की संप्रभुता को नैतिक बंधनों से भी मुक्त कर दिया था। ऑस्टिन ने ऐसा नहीं किया।

१७. विधियाँ

ऑस्टिन के संप्रभुता संबंधी सिद्धान्त और परिभाषा पर विचार करते हुए हमने ऊपर एक बार यह चर्चा की थी कि उसने निश्चित विधियों (Proper Laws) के विज्ञान का निर्माण किया है। इससे विधि के क्षेत्र में ऑस्टिन के अनुदाय को कल्पना के महत्व को भली भाँति समझा जा सकता है। ऑस्टिन बेन्थम की ही भाँति इस बात में कोई विश्वास नहीं करता कि प्राकृतिक विधियों जैसी भी कोई विधियाँ होती हैं। प्राकृतिक विधियों को ऑस्टिन ने निरर्थक बतलाया है। उसने उन्हें तीन भागों में विभक्त किया है जो इस प्रकार हैं—(१) निश्चित विधियाँ, (२) अनिश्चित विधियाँ और (३) प्रतीकात्मक विधियाँ। इसके बाद निश्चित विधियों को (१) दैवी, (२) राजकीय तथा (३) संवासादि की विधियों मे बाँटा गया है। अनिश्चित विधियों में अन्तर्राष्ट्रीय विधियों तथा परम्पराओं तथा सामाजिक रीति-रिवाजों आदि को रखा है। राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि के नियमों को प्रतीकात्मक विधियाँ माना गया है। यही बात निम्नांकित चार्ट से और भी स्पष्ट हो जायगी।



ऑस्टिन ने न्यायशास्त्र (Jurisprudence) का विषय केवल राजकीय विधियों (Civil and Governmental Laws) तक सीमित रखा है। उसका कहना है कि न्यायशास्त्र का संबंध केवल राज्य द्वारा बनायी विधियों से ही है। विधियों को बनान का एकमात्र अधिकार वह संप्रभु को हो मानता है। ऑस्टिन का कहना है कि राजकीय विधियाँ संप्रभु की इच्छा को प्रकट करती हैं और वे प्रजा को एक निश्चित प्रकार का आचरण करने की आज्ञा देती हैं। यदि कोई भी उन निश्चित आज्ञाओं का पालन नहीं करता या उनके विरुद्ध आचरण करता है तो इसका अर्थ यह है कि वह संप्रभु के कोप को निमंत्रित करता है--ऐसे कोप को जिसका अर्थ दण्ड होता है। अन्य विधियों को वह न्यायशास्त्र के क्षेत्र से बाहर की चीज समझता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधियों को भी वह निश्चित विधियाँ इसलिए नहीं मानता कि उनको लागू कराने के लिए कोई संप्रभुता-सम्पन्न शक्ति नहीं है। सामाजिक रीतिरिवाजों और परम्पराओं के संबंध में भी यही बात लागू होती है।

१८. व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अधिकार

प्राकृतिक विधियों की भाँति ही ऑस्टिन व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों जैसी किसी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं मानता। उसका कहना है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता उतनी ही है जितनी संप्रभु शासक द्वारा उसे मिलती है। संप्रभु यदि चाहे तो नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का क्षेत्र व्यापक कर सकता है और चाहे तो सीमित। सच तो यह है कि ऑस्टिन को व्यक्ति स्वातंत्र्य संबंधी आन्दोलन से कोई सहानुभूति नहीं थी। वह इस प्रकार के सुधारों का विरोधी था। उसका कहना था कि राज्य का नियंत्रण भी उतना ही जरूरी है जितनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता। उसने सन् १८५९ में होनेवाले संसदीय सुधारो का भी विरोध किया था। अधिकारों के संबंध में भी उसका यही कहना था कि वे उपयोगिता पर निर्भर

हैं। इनका अर्थात् अधिकारों का स्रोत विधियाँ हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति के कुछ शाश्वत अधिकार हैं और उनको छीना ही नहीं जा सकता।

१९. ऑस्टिन का प्रभाव अनुदाय और स्थान

सन् १८५९ में ऑस्टिन की मृत्य के दो वर्ष बाद यदि सर हेनरी मेन नेऑस्टिन की संप्रभुता की परिभाषा की व्याख्या और आलोचना न की होती तो शायद संसार ऑस्टिन को जान भी न पाता। ऑस्टिन अपने समय में लोकप्रिय नहीं हो पाया था। उसकी अंतिम पुस्तक उसकी मृत्यु के बाद सन् १८६३ में छपी थी। हर हेनरी मेन की टीका ने न्यायशास्त्र की दृष्टि से उपयोगितावाद का अध्ययन करनेवाले विचारक के रूप में ऑस्टिन का स्थान सुरक्षित कर दिया। ऑस्टिन के अनुदायों में सबसे पहला स्थान तो उसके संप्रभुता के सिद्धान्त का है। ऑस्टिन ने विधि को हीनहीं न्यायशास्त्र को भी आचारशास्त्र की उलझनों से मुक्त किया। यह उसका दूसरा अनुदाय है। न्यायशास्त्र को उसने कुछ निश्चित परिभाषाएँ और प्राविधिक शब्द दिये यह उसका तीसरा महत्वपूर्ण कार्य है। अपने समय में ऑस्टिन का प्रभाव स्वल्प था, फिर भी ऑस्टिन का अनुकरण **डायसी, जेम्स ब्राइस** तथा **टी० ई० हॉलैण्ड** जैसे न्यायशास्त्रियों ने किया। अमेरिका में **कॉलहून** तथा **डब्लू० डब्लू० विलोबी** आदि ने भी ऑस्टिन की पद्धति अपनायी।

———

उपयोगितावादी विचारक (उत्तरार्ध)

(UTILITARIAN THINKERS)

१. जॉन स्टुअर्ट मिल--२. स्वतंत्रता संबंधो विचार-३. समाज और शासन-४. प्रतिनिधि शासन--५. प्रतिनिधि-शासन के कर्तव्य--६. महिलाओं के अधिकार--७. मिल का अनुदाय और स्थान--८. ग्रोटे और बेन--९. उपयोगितावाद का सिंहावलोकन।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का काल वस्तुतः सुधारों का युग है। इस युग में चारों तरफ से सुधारों की माँग हुई। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक संसदीय और सांविधानिक--सभी क्षेत्रों में सुधारों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इन सुधारों के लिए न केवल इंगलैण्ड में ही अपितु यूरोप के विभिन्न देशों में भी खूब आन्दोलन हुए। सच पूछिए तो ये आन्दोलन औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम थे। औद्योगिक क्रान्ति ने जीवन का पूरा दृष्टिकोण ही बदल दिया था। यही कारण था कि लोगों को हर क्षेत्र में सुधारों के बिना काम चलता दिखलायी नहीं देता था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक सुधारों के प्रति अपने सहानुभूतिपूर्ण रुख के कारण उपयोगितावाद ने अपनी जड़ें इंगलैण्ड में अच्छी तरह जमा ली थीं। उपयोगितावादी विचारकों के आन्दोलनों की वजह से कई प्रकार की असमानताएँ दूर हो गयी थीं। अनेक संसदीय सुधार भी हो गये थे। लेकिन तब भी और व्यापक सुधारों की माँग हो रही थी। इन आन्दोलनों का नेता जॉन स्टुअर्ट मिल था।

जॉन स्टुअर्ट मिल उपयोगितावादी विचारधारा का सबसे महान् विचारक था और उसके विचारों पर अपने युग की छाप सबसे अधिक मिलती है।

१. जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)

१.१ **जीवन परिचय**--जॉन स्टुअर्ट मिल की जीवनी जितनी आकर्षक और मनोरंजक है--उतनी शायद ही अन्य किसी राजदर्शनशास्त्री की हो।

जॉन स्टुअर्ट मिल अपने पिता जेम्स मिल की सबसे पहली सन्तान था। उसका जन्म सन १८०६ का २० मई को हुआ था। जॉन के पिता जेम्स मिल और जेरेमी बेन्थम बड़ घनिष्ठ मित्र थे और इन दोनों ने आपस में पहले ही यह तय कर लिया था कि वे जॉन को उपयोगितावाद का एक महान् विचारक बनायेंगे।

इसी निश्चय के अनुसार जेम्स मिल ने काम भी किया। तीन वर्ष की स्वल्प और कोमल अवस्था से जॉन की शिक्षा आरंभ हो गयी। शिक्षा प्राप्त करने के लिए जॉन को किसी सामान्य स्कूल म नहीं भेजा गया--बल्कि यह भार जेम्स मिल ने स्वयं अपने ऊपर लिया। सबसे पहले उसे ग्रीक भाषा पढ़ायी गयी। यह क्रम पूरे पाँच वष तक चलता रहा। ग्रीक के साथ हो सहायक विषयों के रूप में उसे अँग्रेजी और गणित की शिक्षा भी मिलती रही। आठ वर्ष की अवस्था में ही मिल को प्लेटो के डॉयलॉग कण्ठाग्र हो गये। आठवें वर्ष के बाद उसे लैटिन भी पढ़ायी जाने लगी। किशोरावस्था तक मिल को तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीतिक अर्थशास्त्र भली भाँति सिखा दिया गया। उसके पिता जेम्स मिल ही उसका पाठ्यक्रम तैयार करते थे, वही यह तय करते थे कि पाठ्यक्रम के अनुसार किस प्रकार शिक्षा दी जाय और वही शिक्षक का कार्य भी करते थे। कुछ ही समय में जॉन की प्रखर बौद्धिक

प्रतिभा का प्रकाश चारों ओर छिटकने लगा। चौदह वर्ष की अवस्था में उसे जेरेमी बेन्थम के भाई सर सैम्यूअल बेन्थम के साथ फ्रांस भेज दिया गया। यहाँ उसे घूमने-फिरने का खूब अवकाश दिया गया और साथ ही जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र आदि की भी शिक्षा दी गयी। लौटने के बाद एक वर्ष तक जॉन ऑस्टिन ने मिल को रोमन लॉ पढ़ाया। मिल की वक्तृत्व-शक्ति का विकास करने के लिए उसे 'यूटिलिटेरियन सोसाइटी' और 'पॉलिटिकल इकनामी क्लब' में भी भेजा गया। सत्रह वर्ष की अवस्था में मिल को अपने पिता से सहायक के रूप में 'इण्डिया ऑफिस' में नौकरी भी मिल गयी। लेकिन नौकरी के बाद भी विभिन्न साहित्यिक पत्रों में मिल बराबर निबंध आदि लिखता रहा और इण्डिया ऑफिस में उन्नति करते-करते अपने पिता के पद पर पहुँच गया। सन् १८५६ में उसने पार्लमेण्ट के नाम कम्पनी की ओर से एक आवेदन-पत्र लिखा जिसके संबंध में कहा जाता है कि वैसा अच्छा राजकीय पत्र आज तक नहीं लिखा गया है। सन् १८५६ में वह बीमार पड़ गया। बचपन से उसके ऊपर जो अस्वाभाविक भार पड़ा था—उसके फलस्वरूप उसके स्नायु अत्यन्त निर्बल हो गये लेकिन मिल ने क्लान्त स्नायुओं का वर्ड्सवर्थ और कालरिज का काव्य पढ़कर विश्राम दिया और यह आदत उसने अन्त तक नहीं छोड़ी। कुछ दिनों बाद वह मिसेज टेलर नाम की एक सम्भ्रान्त महिला के सम्पर्क में आया। मिसेज टेलर की व्यापक दृष्टि, उच्च कोटि की बौद्धिक प्रतिभा का उस पर बड़ा असर पड़ा और परिवार तथा पिता के विरोध के बावजूद उसने मिसेज टेलर से सन् १८५१ में विवाह कर लिया। मिसेज टेलर की आयु मिल से अधिक थी लेकिन मिल और उसकी पत्नी के प्रेम में इसकी वजह से कोई अन्तर नहीं पड़ा। उसने अपनी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक "ऑन लिबर्टी" अपनी पत्नी को ही समर्पित की है। सन् १८६५-६८ में वह ब्रिटिश संसद का सदस्य भी रहा। संसद में विरोधी और समर्थक दोनों ही मिल के व्याख्यानों को बड़े सम्मान से सुनते थे। अपनी पार्लमेण्ट की सदस्यता के काल में उसने तीन बातों के लिए निरन्तर आन्दोलन किया—(१) मजदूर वर्ग का हित, (२) महिला मताधिकार और (३) आयरलैण्ड के भूमिसुधार। इन सबके विषय में हम अगले अनुध्यायों में विचार करेंगे। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसने दक्षिणी फ्रांस के एविगनॉन (Avignon) नाम के नगर में एक मकान बना लिया। इसी नगर में उसकी पत्नी की मृत्यु हुई। यह मकान पत्नी की कब्र के पास ही था। बीच-बीच में वह इंगलण्ड जाता था लेकिन उसका अधिकांश समय यहीं बीतता था। इसी मकान में सन् १८७३ की ८ मई को उसकी मृत्यु हो गयी।

१.२ मिल की पुस्तकें और पद्धति—मिल ने बहुत से लेखों और निबंधों के अतिरिक्त बारह पुस्तकें लिखी हैं। मिल की रचनाओं के काल को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक तो वे पुस्तकें जो उसके जीवनकाल ही में छपकर प्रकाशित हो गयीं और दूसरी वे पुस्तकें जो मरणोत्तरकाल में प्रकाशित हुईं। नीचे लिखी पुस्तकें उसके जीवनकाल में छपी थीं:—

(१) सन् १८४३ में 'दि सिस्टम ऑफ लॉजिक' (The System of Logie)।

(२) सन् १८४४ में 'सम अनसेटिल्ड क्वश्चन्स इन पॉलिटिकल इकनॉमी' (Some Unsettled Questions in Political Economy)

(३) सन् १८४८ में 'दि प्रिंसिपिल्स ऑफ पॉलिटिकल इकनॉमी (The Principles of Political Economy)।

(४) सन् १८५९ में 'ए ट्रीट्राइज ऑन लिबर्टी' (A Treatise of Liberty))। इसको मिल ने सन् १८५४ में लिखना शुरू किया था और वह इसे पाँच वर्ष के परिश्रम के बाद लिख कर तैयार कर पाया था।

(५) सन् १८५९ में ही 'थॉट्स ऑन पार्लमेण्ट्री रिफॉर्म्स' (Thoughts on Parliamentary Reforms) नाम की पुस्तक भी छपी।

(६) सन् १८६० में "कन्सीडरेशन्स ऑन रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेण्ट" (Considerations on Representative Government) छपकर निकली।

(७) सन् १८६३ में 'ट्रीटाइज ऑन यूटिलिटेरियनिज्म (Treatise on Utilitarianism) ।

(८) सन् १८६५ में "एक्जामिनेशन ऑफ सर विलियम हैमिल्टन्स फिलॉसफी' (Examination of Sir William Hamiltonls Philosophy) ।

(९) सन् १८६९ में 'सबजेक्शन ऑफ वोमेन' (Subjecti on of Women) नाम की पुस्तक निकली।

इन नौ पुस्तकों में उसको स्वतंत्रता संबंधी पुस्तक "ऑन लिबर्टी" और प्रतिनिधि शासन संबंधी पुस्तक 'ऑन रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेण्ट' सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

सन् १८७३ में मिल की मृत्यु के बाद उसकीनीचे लिखी तीन पुस्तकें और निकलीं :

(१) 'ऑटोबायग्राफी' (Autobiography) सन् १८७३ में।

(२) 'थ्री एसेज ऑन रिलीजन' (Three Essays on Religion) सन् १८७४ में और

(३) 'लेटर्स' (Letters) सन् १९१० में।

इन तीनों में उसकी आत्मकथा या 'ऑटोबायग्राफी' सबसे अधिक लोक प्रिय हुई। दूसरी पुस्तक में उसके धार्मिक विचारों कासंग्रह है और तोसरी में उसके पत्रों का संग्रह। अंतिम पुस्तक का सम्पादन कार्य एच० एस० आर० इलियट ने किया है।

उक्त रचनाओं के अध्ययन से विदित हो जाता है कि अपने पिता जेम्स मिल के बाद जॉन स्टुअर्ट मिल पर जेरेमी बेन्थम का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। जॉन ऑस्टिन और मिल की पत्नी का भी उसके विचारों के निर्माण में अनुयोग उल्लेखनीय है। जीवन के अन्तिम दिनों में उसने फ्रेंच साहित्य और दर्शन का पठन-पाठन कियाथा जिससे उसके बाद के ग्रंथों पर कॉमटे और सेण्ट साइमन आदि जैसे दार्शनिकों का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

उसने सभी पद्धतियों का अध्ययन किया था और उनका विश्लेषण करके बतलाया कि पद्धतियाँ चार तरह की होती हैं--(१) रासायनिक पद्धति (Chemical Method), (२) ज्यामितिक पद्धति (Geometrical Method), (३) भौतिक पद्धति (Physical Method) और (४) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)।

पहली पद्धति अर्थात् रासायनिक पद्धति (Chemical Method) के विषय में जॉन स्टुअर्ट मिल का कहना था कि यह केवल रसायनशास्त्री के लिए ही उपयुक्त है जिसमें वह अपने प्रयोगशाला में बैठा-बैठा विभिन्न तत्वों और पदार्थों को मिला-मिलाकर परीक्षण किया करता है। जब सामाजिक तत्वों के परीक्षण का अवसर आता है तो अन्य पदार्थों की तरह उनका मिश्रण करके प्रयोग नहीं किया जा सकता। अत: राजनीति और राजदर्शन के क्षेत्र में यह पद्धति बिल्कुल निरर्थक है। दूसरी पद्धति अर्थात् ज्यामितिक पद्धति (Geometrical Method) के संबंध में मिल का कहना है कि यह पद्धति निगमनात्मक (Deductive) आधार पर चलती है और चूंकि सामाजिक क्षेत्र में पहले से ही बने-बनाये नियम नहीं होते, इसलिए इस पद्धति का प्रयोग राजदर्शन, अर्थशास्त्र आदि जैसे विषयों म नहीं किया जा सकता।

तीसरी पद्धति अर्थात् भौतिक पद्धति (Physical Method) में निगमनात्मक Deductive) और व्याप्तिमूलक (Inductive) दोनों प्रणालियों का सम्मिश्रण होता है। भौतिक शास्त्र का विद्वान पहले प्रकृति के पदार्थों का पर्यवेक्षण करता है और तब सामान्य सिद्धान्त स्थिर करता है। इन सामान्य सिद्धान्तों को पुनः पर्यवेक्षण को कसौटी पर रखा जा सकता है और उनका परोक्षण किया जा सकता है। मिल का कहना है कि इस पद्धति का प्रयोग राजनीतिशास्त्र में किया जा सकता है।

चौथी पद्धति अर्थात् ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) के विषय में मिल का मत है कि यह व्याप्तिमूलक पद्धति (Inductive) है। अतः राजदर्शनशास्त्री और राजनीतिज्ञ इसका भी प्रयोग कर सकते हैं।

मिल ने अपनी पुस्तकों के लिखने में भौतिक और ऐतिहासिक पद्धति का सम्मिलित प्रयोग किया है। वह आवश्यकतानुसार निगमनात्मक और व्याप्तिमूलक पद्धतियों को काम में लाता है। वह अनुभूति और पर्यवेक्षण पर भी बल देता है। इस प्रकार पद्धति के मामले में बेन्थम आदि जैसी कट्टरता का मिल में सर्वथा अभाव है। पाठक को मिल का व्यापक दृष्टिक्षेत्र प्रभावित किये बिना नहीं रहता।

.२· स्वतंत्रता संबंधी विचार

जॉन स्टुअर्ट मिल के सम्पूर्ण साहित्य में उसके व्यक्ति-स्वातंत्र्य संबंधी विचार ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर ही सबसे अधिक विचार किया और उसका हल निकालने की कोशिश की क्योंकि उसके युग की समस्या ही स्वतंत्रता की समस्या थी। मिल का यह मौलिक विश्वास था कि सामाजिक और राजनीतिक प्रगति व्यक्तिगत उत्साह और साहस पर निर्भर करती है और व्यक्ति में वह भावनाएँ हर दशा में बनी ही रहनी चाहिएँ। इस मौलिक विश्वास के साथ जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की रक्षा के लिए आगे बढ़ता है। मिल का कहना था कि मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिक से अधिक और ऐसे अवसर मिलने चाहिए जिनसे वह पूरी तरह निखर सके और उसका बौद्धिक क्षेत्र इतना व्यापक हो सके कि वह अपने विकसित व्यक्तित्व और बौद्धिकता द्वारा अधिक से अधिक दक्ष बन सके। ऐसी आवाज मिल ने क्यों उठायी ? इसका कारण था इंगलैण्ड का तेजी के साथ प्रजातंत्रवाद की ओर अग्रसर होना। ब्रिटिश संसद अनेक प्रजातंत्रवादी विधियाँ और अधिनियम बना रही थी। अधिक विधियों और अधिनियमों के राज्य द्वारा बनाये जाने का अर्थ था व्यक्ति तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अधिक प्रतिबंध और अधिक प्रतिबंधों का अर्थ था नागरिक के व्यक्तित्व का राज्य के समक्ष नत हो जाना। प्रजातंत्रवाद के इस शत्रु से मिल परिचित था—इसीलिए उसने व्यक्ति-स्वातंत्र्य के समर्थन में पूरे बल से आवाज उठायी। उसका यह सोचना ठीक ही था कि यदि नागरिक का व्यक्तिगत उत्साह समाप्त हो जाता है तो किसी भी प्रकार की राजनीतिक या सामाजिक प्रगति सम्भव न हो सकेगी।

लेकिन यह मान बैठना बड़ी भूल होगी कि मिल सब तरह के व्यक्तित्व को विकास के अवसर देने का पक्षपाती था। चोर को अच्छा चोर बनने देने के मौके देने को वह तैयार नहीं था और वह यह मानता था कि व्यक्ति के भावना-जगत् में एक ऐसा भी अंश होता है जिसके दमन की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु साथ ही वह व्यक्ति को ऐसी स्वतंत्रता देना चाहता था जिससे वह व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र रहते हुए भी सामाजिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को न भूले और उनका परिपालन करता चले।

व्यक्ति स्वातंत्र्य संबंधी मिल के विचार हमें उसकी पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' में मिलते हैं। इस पुस्तक की तुलना व्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थन में लिखी गयी मिल्टन की 'एरोपे-

जिटिका' (Aeropagitica) तथा रूसो के 'सोशल कान्ट्रेक्ट' (Social Contract) जैसी शास्त्रीय पुस्तकों से की जाती है।

अपनी इस पुस्तक में स्वतंत्रता संबंधी विचारों को प्रकट करने के पूर्व मिल ने बतलाया कि वह जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने जा रहा है—वे केवल अपना सामान्य प्रतिभाओं से युक्त वयस्क व्यक्तियों के लिए हैं।[१] इन सिद्धान्तों का प्रयोग बच्चों, अपरिपक्व व्यक्तियों तथा पिछड़ी जाति के लोगों पर नहीं किया जाना चाहिए। इनका प्रयोग ऐसे लोगों पर भी नहीं होना चाहिए जिनका मस्तिष्क विकृत हो, चरित्र दूषित हो या जिनकी परवाह करने की आवश्यकता अन्य लोगों को पड़ती हो। पिछड़ी जातियों के अपरिपक्व मस्तिष्कवाले लोगों के लिए मिल ने "निरकुंशतत्र" को ही उचित बतलाया। मिल का कहना था कि उक्त शासन के जो परिणाम होते हैं वे निश्चित रूप से उसकी उपयोगिता को सिद्ध करते हैं। स्वतंत्रता के सिद्धान्त का प्रयोग ऐसे ही राज्यों में होना चाहिए जिसके नागरिकों ने स्वतंत्र और समान स्तर पर वाद-विवाद करके अपनी उन्नति स्वयं करने की क्षमता अजित कर ली हो। जिस राज्य में ऐसी स्थिति न हो वहाँ स्वतंत्रता के सिद्धान्त का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।[२]

बार्कर के अनुसार कार्य और विचार स्वातंत्र्य की कल्पना से ऊपर उठकर मिल ने एक ऐसी स्वतंत्रता का स्वरूप निर्धारित किया जिसमें व्यक्ति का आध्यात्मिक और लोकोत्तर विकास भी हो सके।[3] लेकिन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों की गति दिशा कुछ ऐसी थी जिनमें उक्त प्रकार का विकास होता दिखलायी नहीं पड़ता था और ब्रिटिश सरकार भी मिल के मतानुकूल व्यक्ति स्वातंत्र्य देने को प्रस्तुत नहीं थी। ऐसी स्थिति में मिल के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह "मानव जाति के मानसिक कल्याण की आवश्यकता, विचार रखने और विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर" विशेष रूप से बल देता।[४]

२.१ **विचार और भाषण स्वातंत्र्य**—मिल की दृष्टि से मनुष्य को विचारों और उनके प्रकट करने की पूरी-पूरी स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए। मिल का कहना था कि प्रत्येक

---

1 See Davidson's *Utilitarians*, p. 74.

2 "Despotism is a legitimate mode of government and the means justified actually effectively that end. Liberty as a principle has no application to any state of things anterior to the time when mankind have become capable of being improved by free and equal discussion. Ibid. p. 73.

3 "From conception of liberty as external freedom of action, necessary, for the discovry and pursuit of his material interest by each individual Mill rose to the conception of liberty as free play for that spirtual originaliity with all its results in individual vigour manifold diversity which a lone can constitute a rich balanced and developed society." E. Barker in *Political Thought* 1849 to 1914, p. 10.

4 He considered "the necessity of the mental well-being of mankind,.......of freedom of opinion and freedom of the expression of opinion" as imperative. A. D. Lindsay in *Utilitarianism, Liberty and Representative Government of J. S. Mill*, p. 111.

व्यक्ति का मत नीचे लिखे वर्गों में से किसी एक में आता है। या तो व्यक्ति का मत सत्य है या मिथ्या या आधा सत्य और आधा मिथ्या है। यदि सरकार या शासन किसी ऐसे मत का दमन करता है जो अपने स्थान पर सच है तो इसका अर्थ यह है कि सरकारी अधिकारी संसार की सचाई जानने से रोक रहे हैं जो सर्वथा गलत है। ऐसी अवस्था में अधिकारी-वर्ग बहुधा अपनी रक्षा करने के लिए ऐसी बातें करता है, कि हम उस समय यह नहीं कह सकते कि वह मत सही या गलत था, लेकिन कम से कम उस समय हमें वह मत गलत प्रतीत होता है और हम समझते हैं कि वह जनकल्याण की दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होगा।

२.२ अधिकारी एक दावा यह करते हैं कि उन्हें इस बात का पूरा अधिकार है कि "हानिकारक मतों को प्रकट किये जाने से रोकें।" इसका उत्तर मिल ने यह कहकर दिया कि यदि वह मत गलत और हानिकारक—यहाँ तक कि मिथ्या भी था, तो भी अधिकारियों को उसके दमन का कोई हक नहीं है। क्योंकि यदि कोई बात झूठी है तो जनता स्वयं ही उसे समझ सकती है। वह स्वयं ही झूठी बात को न मानेगी। इसके लिए शासन को प्रतिबंध लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि कोई विचार आधा सत्य है तो भी उसके ऊपर प्रतिबंध लगाने की जरूरत नहीं है क्योंकि उसमें कुछ तो सत्य है। मिल का कहना था कि झक्की या सनकी व्यक्तियों को भी अपने मतों का प्रचार करने से रोकना नहीं चाहिए क्योंकि बहुधा देखा गया है कि जिनको जमाने ने सनकी समझा है उन्हीं में से किसी ने कोई ऐसी विचार-धारा दी है जो युग की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व कर बैठी है। मिल का कहना था कि यदि किसी समाज में दस सनकी हैं तो हो सकता है उन दस सनकियों में से नौ का अनुदाय कुछ भी न हो लेकिन दसवाँ किसी बिलकुल नई विचारधारा का प्रतिपादन कर जाय। मिल भाषण की स्वतंत्रता के संबंध में कितना दृढ़ था—यह उसके नीचे के एक कथन से और प्रकट हो जायगा। उसका कहना था कि यदि सारी मानवजाति में से एक व्यक्ति का शेष समस्त व्यक्तियों से भिन्न मत हो और बाकी लोगों में मतैक्य हो तो भी जिस प्रकार उस एक व्यक्ति को शेष लोगों को अपना मत प्रकट करने से रोकने का अधिकार नहीं है ठीक उसी प्रकार शेष मानवजाति के लिए भी यह उचित नहीं है कि वह उस व्यक्ति को अपना मत प्रकट करने से रोके। मिल आगे कहता है कि मानवजाति का उस व्यक्ति को मत प्रकट करने से रोकना वैसा ही होगा जैसा यदि वह व्यक्ति शक्तिमान होकर शेष मानवजाति को मत प्रकट करने से रोके। दूसरे, नकारात्मक (Negative) तर्क सुनकर ही व्यक्ति सकारात्मक (Positive) बातों के महत्व और उनकी शक्ति को भली भाँति अनुभव कर सकता है यही नहीं सत्य किसी एक पक्ष की बपौती नहीं। उसके बहुत से पक्ष हो सकते हैं। हो सकता है किसी व्यक्ति को सचाई का एक ही पक्ष दिखलायी पड़े और किसी को एक से अधिक। यह बात चार अंधों और हाथी के दृष्टान्त से और स्पष्ट हो जायगी। एक गाँव में चार अंधे थे। उन्होंने हाथी पहले कभी नहीं देखा था। एक बार गाँव में हाथी आया तो वे चारों उसे देखने गये। वे हाथी को स्पर्श करके यह कल्पना करने लगे कि हाथी कैसा होता है। एक ने हाथी का पैर छुआ। वह बोला हाथी खंभे की तरह होता है। दूसरे ने हाथी का कान छुआ। वह बोला हाथी सूप की तरह होता है। तीसरे ने उसकी सूँड़ पकड़ने के बाद कहा हाथी छड़ी की तरह होता है। चौथे ने उसकी बगल छू कर कहा हाथी दीवाल की तरह होता है। सत्य की खोज में हम लोगों की अवस्था भी उन्हीं अंधों की तरह होती है। हम में से कोई भी सचाई को पूरी तरह देख तो पाता नहीं है केवल कल्पना और अपने अनुभव के आधार पर सत्य का अनुमान लगाता है। ऐसी दशा में यदि कोई अंधा दूसरे अंधे को बोलने न दे तो कैसी हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इससे यह आवश्यक है कि विभिन्न मत-मतान्तरों के तर्कों को समन्वित करके उनमें से सचाई को ढूंढ़ने की कोशिश की जाय। वस्तुतः भाषण की

स्वतंत्रता से सचाई खोजने में सहायता मिलती है—उसमें बाधा नहीं पड़ती। इसलिए विचार और भाषण की स्वतंत्रता का होना बहुत ही जरूरी है।

२ ३ **कार्य की स्वतंत्रता**—यदि भाषण और विचार की स्वतंत्रता का होना सामाजिक कल्याण को दृष्टि से आवश्यक है तो फिर यह भी आवश्यक है कि मनुष्य या व्यक्ति को कार्य करने की स्वतंत्रता भी मिलनी चाहिए। मिल "व्यक्तित्व को मानवीय सुख का मुख्य तत्व तो मानता ही है साथ ही व्यक्ति और सामाजिक प्रगति का भी उच्चतम तत्व समझता है।" लेकिन व्यक्तित्व को आचरण में प्रकट होने के अवसर भी मिलने चाहिए। मिल का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक सोचता है लेकिन दूसरों के आज्ञानुसार आचरण करने में अपना जीवन व्यतीत कर देता है तो उसके लिए यही अच्छा है कि वह दूसरों की दासता ही करे। स्वतंत्रतापूर्वक सोचना भी छोड़ दे। कार्य की स्वतत्रता का इस हद तक महत्व बतलाने के बाद मिल इस बात पर विचार करता है कि मनुष्य को कार्य की कितनी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और उस पर कितना सामूहिक या सामाजिक नियंत्रण रहना चाहिए। वह एक प्रकार से राज्य के हस्तक्षेप की कसौटी को खोजता है। वह मनुष्य के कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है: (१) वे कार्य जो केवल व्यक्ति से ही संबंध रखते हैं (self-regarding) और (२) वे कार्य जो दूसरों पर भी असर डालते हैं (others-regarding action)। मिल का कहना है कि जब तक कोई व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जिनका असर केवल उस पर पड़ता है तब तक समाज या राज्य को व्यक्ति के किसी कार्य में बाधा नहीं डालनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि 'क' अपने बँगले के एक बन्द कमरे में शराब पीता है तो उसे ऐसा करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए—चाहे वह ऐसा करने में अपना सब कुछ क्यों न गँवा बैठे। लेकिन यदि वह सड़क पर बैठ कर शराब पीता है और आने-जाने-वाले लोगों का उपद्रव करके रास्ता चलना दूभर कर देता है तो राज्य को इस बात का पूरा अधिकार है कि वह 'क' को सड़क पर बैठकर शराब पीने से रोक दे। मिल का आशय है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के (१) आन्तरिक और (२) बाह्य दो पक्ष होते हैं। आन्तरिक पक्ष व्यक्तिगत होता है और बाह्य पक्ष सामाजिक। दोनों के प्रति व्यक्ति के उत्तरदायित्व होते हैं। इन उत्तरदायित्वों का सम्मान किया जाना चाहिए। समाज और राज्य से केवल व्यक्ति इतनी सी माँग करता है कि समाज और राज्य संबंधी समस्त उत्तरदायित्वों को पूरा कर देने के बाद उसे व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों की पूर्ति से न रोका जाय।

डेविडसन के अनुसार मिल के व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को सारांश में इस प्रकार रखा जा सकता है:

(क) व्यक्ति की भावनाओं और इच्छाओं को उचित स्थान दिया जाय। बौद्धिकता द्वारा इनका पूर्णतः अपहरण नहीं करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि बौद्धिकता के महत्व को किसी प्रकार घटाया जा रहा है।

(ख) सार्वजनिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से व्यक्ति के दृष्टिकोण को भी समुचित महत्व दिया जाय। इससे मानव-कल्याण में वृद्धि होगी और लोगों का आगे बढ़ने के लिए उत्साह बढ़ेगा। विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रोत्साहित करने से जीवन में अपेक्षित विविधता आयेगी और आध्यात्मिक मौलिकता उत्पन्न होगी।

(ग) समाज की ऐसी परम्पराओं का विरोध होना चाहिए जिनसे विचार और भाषण स्वातन्त्र्य में बाधा पड़ती हो। मिल ऐसे कानूनों को भी हटा देने के पक्ष में है।

२.४ **आलोचना**—मिल का विचार, भाषण तथा कार्य की स्वतंत्रता की आलोचना करते समय अर्नेस्ट बार्कर के ये शब्द अपने आप हमारे कानों में प्रतिध्वनित होने लगते हैं:

"मिल, उसकी बचत के लिए काफी गुंजायश छोड़ देने पर भी, हमें थोथे स्वातंत्र्य और काल्पनिक व्यक्ति का ही पैगम्बर लगता है। व्यक्ति के अधिकारों के संबंध म उसके पास कोई दर्शन नहीं था। वह समाज की कोई ऐसी पूर्ण कल्पना नहीं कर पाया जिसमें 'राज्य' और 'व्यक्ति' का मिथ्या अन्तर अपने आप लुप्त हो जाते।"[1]

दार्शनिक दृष्टि से मिल की स्वतंत्रता में हमें बहुत से दोष दिखलायी पड़ते हैं। पहला दोष यह है कि वह सब झक्कियों और सनकियों को स्वतंत्रता देने का पक्षपाती था। सनकी और विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्ति मे क्या अन्तर है। सनकियों का भी तो एक प्रकार से विकृत मस्तिष्क होता है। तो क्या वजह है कि ऐसे लोगों को स्वतंत्रता का अधिकार छीन न लिया जाय क्योंकि यह तो मिल ने भी स्वीकार किया है कि विकृत मस्तिष्कवालों को स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए।

दूसरे, मिल इस बात पर बहुत बल देता है कि किसी भी व्यक्ति को बिना तर्क या समझ के कोई बात स्वीकार नहीं करना चाहिए। जहाँ ऊँची बौद्धिक बातों का संबंध है—मिल की यह बात ठीक है लेकिन यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति छोटी-छोटी बातों पर भी तर्क करने लग जाय और बिना बहस के उनको मानने से इन्कार कर दे तो क्या होगा? उदाहरण के लिए यदि 'क' पानी को पनाला मानने से इन्कार करे तो उसे किस प्रकार समझाया जाय?

तीसरे, मिल व्यक्ति के सारे कार्यों को (१) व्यक्तिगत और (२) सामाजिक कार्यों में विभाजित करता है। लेकिन क्या इस प्रकार का विभाजन सम्भव है? उदाहरण के लिए यदि कुछ व्यक्ति कमरे में बैठकर जुआ खेलते हैं तो मिल के मतानुसार यह बिलकुल व्यक्तिगत कार्य है, इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। लेकिन क्या जुआ खेलना सर्वथा व्यक्तिगत है? यदि कोई व्यक्ति जुआ खेल-खेलकर अपनी सारी सम्पत्ति गँवा देता है और उसका परिवार दाने-दाने के लिए मोहताज होकर दर-दर की ठोकरें खाता घूमता है तो क्या समाज के लिए यह शोभा का विषय होगा और क्या राज्य के लिए यह उचित नहीं है कि वह परिवार तथा समाज के व्यापक हितों की दृष्टि से उस व्यक्ति को ऐसा करने से रोके?

फिर भी मिल के स्वतंत्रता के दर्शन ने व्यक्तिवाद के विकास और उसकी उन्नति में बड़ा गहरा योग दिया है—उसमें कोई संदेह नहीं।

३. समाज और शासन

समाज की उत्पत्ति कैसे हुई? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल ने यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी कि कम से कम समाज की उत्पत्ति का स्रोत किसी भी प्रकार का कोई अनुबंध नहीं है। उसका कहना था कि समाज की उत्पत्ति मनुष्य-जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई और व्यक्ति की आवश्यकताएँ ज्यों-ज्यों बढ़ती गयीं त्यों-त्यों समाज का

---

1 "Yet when all these allowances are made it still remains true that Mill was the prophet of an empty liberty and an abstract individual. He had no clear philosophy of the rights, through which the conception of liberty attains a concrete meaning. He had no clear idea of that social whole in whose realisation the false antithesis of 'State' and 'individual' disappears.' E. Barker Ibid, p. 10.

2 "Society is not founded on a contract." A. D. Lindsay in the *Utilitarianism, Liberty and Representative Government of J. S. Mill*, p. 132.

भी विकास होता गया। इस विकास की तुलना सावयविक विकास से की जा सकती है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि पेड़-पौधों की तरह से समाज का भी विकास होता चला गया। समाज का विकास जड़ पदार्थों या वस्तुओं की तरह का विकास नहीं था बल्कि वह चेतन जीवों का विकास था। समाज की तरह ही राज्य और शासन की उत्पत्ति भी हुई। इन दोनों का लक्ष्य सामाजिक और सार्वजनिक कल्याण करना है। जितने भी राजनीतिक संवास हैं उन सब की उत्पत्ति मानव-समाज ने अपने हितों की पूर्ति के लिए ही की है। उन सबसे व्यक्ति मात्र या किसी विशिष्ट व्यक्तिसमूह का हित सम्पादन निश्चित रूप से होता है। जिनसे नहीं होता वे अपने आप लुप्त हो जाते हैं। शासन और राज्य दोनों का यह लक्ष्य है कि वे व्यक्ति को गुणसम्पन्न बनाने तथा उसके कल्याण की अधिकाधिक व्यवस्था करें। समाज, राज्य और शासन के संबंध में मिल का यह मत विशुद्ध उपयोगितावादी है।

४. प्रतिनिधि शासक (Representative Government)

मिल के प्रतिनिधि शासन संबंधी विचार हमें उसकी पुस्तक "कन्सीडरेशन्स ऑन रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेण्ट" में मिलते हैं। मिल ने प्रजातंत्रवादी प्रवृत्तियों को पनपने और बढ़ने का अवसर व्यक्ति-स्वातंत्र्य आदि के विचारों द्वार दिया था। मिल का मत था कि प्रतिनिधि शासन ही आधुनिक युग की समस्त व्याधियों की रामबाण औषधि है। उसका कहना था कि राज्य की सर्वोच्च सत्ता राज्य के सभी निवासियों द्वारा चुनी गयी एक सभा या संसद में परिवेष्ठित होनी चाहिए। यही संसद राज्य की संप्रभुता से शक्तियुक्त होनी चाहिए। इसके चुनाव में भाग लेने से नागरिकों में जागृति उत्पन्न होगी और वे भली भाँति अपने कर्तव्यों को पालन करने के लिए स तहोंगे। आदर्श व्यवस्था तो वह होती जिसमें सब नागरिक मिलकर शासन करते। लेकिन फिर देश-राज्यों (Country States) के भूमि-विस्तार से भी मिल परिचित था और वह जानता था कि जिस प्रकार किसी एक नगर का शासन सभी नगरवासी बैठकर कर सकते हैं उस प्रकार देश-राज्य का शासन नहीं किया जा सकता। इसलिए उसने प्रतिनिधि निर्वाचन की प्रणाली के अनुसरण किये जाने का परामर्श दिया था।

मिल ने यह बतलाया था कि इस प्रकार से निर्वाचित प्रतिनिधि सभा का कार्य केवल निरीक्षणात्मक और नियंत्रणात्मक होगा। उसे न तो स्वयं विधियाँ बन.ने की आवश्यकता है और न इस बात की कि वह प्रशासकीय कार्य में सक्रिय हस्तक्षेप करे। परन्तु मूलतः सुधार-वादी होते हुए भी, जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, वह प्रजातंत्र की दुर्बलताओं को समझता था। वह जानता था कि प्रजातंत्रवाद के अपने खतरे भी हैं। प्रजातंत्र में उसे सबसे बड़ा खतरा तो यह महसूस होता था कि उसमें बहुमत अल्पमत का दमन कर सकता है और अल्पसंख्यक बेचारे अपना सारा जीवन बहुसंख्यकों की दासता में व्यतीत करने के लिए विवश किये जा सकते हैं। उसने निर्वाचनों की मतसंख्याओं की गणना की थी और यह परिणाम निकाला था कि बहुत से स्थानों में अल्पसंख्यकों का मतदान और मताधिकार बिलकुल बेकार जा रहा है। अल्पसंख्यकों को इससे बचाने एवं जनता की प्रतिनिधि सरकार की स्थापना के लिए मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव रखा था। उसका कहना था कि आनुपातिक आधार से निर्वाचनों के होने पर अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों के दमन से बच जायेंगे।

इसके अतिरिक्त प्रजातंत्रवादी प्रवृत्तियों के उभार के साथ जॉन स्टुअर्ट मिल को एक और खतरा भी दिखलायी पड़ रहा था और वह खतरा था इस बात का कि कहीं विधान-मण्डलों म ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार अधिक मत पाकर न घुस आय जिनसे विधानमण्डलों की मर्यादा और उनका सम्मान नष्ट होन की नौबत पैदा हो जाय। वह चाहता था कि

विधानमण्डलों में जनता के प्रतिनिधि होकर जो लोग जायँ वे बुद्धिमान्, सुशिक्षित एवं व्यापक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति हों। वह समझता था कि प्रजातंत्रवाद में इस बात की हमेशा संभावना रहती है कि येन केन प्रकारेण लोग शक्ति और सत्ता के लोभ में अपने कलुषित स्वार्थों की पूर्ति के लिए विधानसभाओं और संसद में घुसने की चेष्टा करते हैं। इसके लिए मिल ने दो उपचार खोजे थे। पहला तो यह था कि लोगों को वयस्क मताधिकार दे दिया जाय और दूसरा यह कि प्रत्येक वयस्क को कम से कम एक और अधिक से अधिक पाँच मतों के देने का अधिकार रहे। वयस्कों को उनकी बुद्धिमत्ता, शिक्षा तथा अन्य उच्च गुणों के आधार पर एक से अधिक मत देने का अधिकार रहे। मिल का खयाल था कि ऐसा कर देने पर अज्ञानी, मूर्ख और अपढ़ व्यक्ति की तुलना में योग्य व्यक्तियों के मत का मूल्य बढ़ जायगा। मिल को यह बात बिलकुल पसन्द नहीं थी कि एक पढ़े-लिखे आदमी और अपढ़ व्यक्ति के मत को समान वजन दिया जाय। उसका यह भी सुझाव था कि प्रत्येक व्यक्ति को कितने मत दिये जायँ इसका निर्णय करने के लिए उचित व्यवस्था होनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति गरीब है और उसके पास अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए प्रमाण नहीं है तो उसके लिए राज्य को 'परीक्षाओं' की व्यवस्था करनी चाहिए और परीक्षाओं में प्राप्त अंकों के अनुसार उसके मतों की संख्या निर्धारित होनी चाहिए। वह इस बात के भी विरुद्ध था कि संसद के सदस्यों को किसी प्रकार का भत्ता दिया जाय। वह गुप्त मतदान के भी विरुद्ध था। उसका कहना था कि जो वयस्क व्यक्ति लिख-पढ़ सकते हों उन सबको मतदान का अधिकार दिया जाना चाहिए। वह अन्य उपयोगितावादियों की भांति लार्ड सभा के विरुद्ध नहीं था। उसका कहना था कि लार्ड सभा की अपनी जगह पर आवश्यकता है।

५. प्रतिनिधि-शासक के कर्त्तव्य

यह बतला देने के बाद कि प्रतिनिधि शासन क्या है, उसकी आवश्यकता क्यों है, जॉन स्टुअर्ट मिल ने प्रतिनिधि शासन के कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला है। दूसरे शब्दों में उसने अपनी कल्पना के आदर्श राज्य के कर्तव्यों का भी निर्धारण किया है।

मिल का कहना था कि राज्य का लक्ष्य व्यक्ति के विकास के अनुकूल ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें वह अपनी उन्नति कर सके। इस तरह के वातावरण में व्यक्ति को सत्य की शोधकर तदनुकूल अपने विचारों का निर्माण की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। मिल का मत था कि इतनी सुविधाएँ मिलने पर ही चरित्र का विकास हो सकता है। लेकिन इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए राज्य को विधियाँ बनानी होंगी और विधियों का दूसरा अर्थ प्रतिबंध होता है। अधिक विधियों का अर्थ व्यक्ति पर अधिक प्रतिबंध लगाना होता है और उपयोगितावादी व्यक्ति पर अधिक प्रतिबंधों के लगाये जाने का विरोध करते हैं। मिल भी इस प्रकार के प्रतिबन्धों का विरोधी था। इसलिए उसका कहना था कि राज्य का एक कर्तव्य विधियाँ बनाना अवश्य है लेकिन उसे कम से कम विधियाँ बनानी चाहिए। मिल ने बतलाया है कि किन-किन अवसरों पर राज्य को विधि बनाने की अपनी सत्ता का प्रयोग करना चाहिए। राज्य को व्यक्ति के ऐसे कार्यों को कानूनन रोकने का हक है जिससे सामाजिक अव्यवस्था और अशान्ति फैलती हो। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई लाउड स्पीकर लगाकर ग्रामोफोन रेकर्ड रात भर बजाता है और पड़ोसियों की नींद हराम करता है तो राज्य लोगों को ऐसा करने से रोक सकता है। युद्ध, उपद्रवों आदि जैसी संकटकालीन अवस्थाओं में राज्य को यदि आवश्यकता पड़े तो वह समाज के हित की दृष्टि से व्यक्तियों की स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है। इनके अलावा जहाँ तक हो राज्य को व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर प्रतिबंध लगाने से बचना चाहिए। मिल का आशय था कि राज्य को विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा के लिए और आन्तरिक अव्यवस्था से राज्य को बचाने के लिए पुलिस और फौज

रखनी चाहिए, विधियों के विरुद्ध आचरण करनेवालों को दण्ड देने के लिए अदालत रखनी चाहिए। न्यूनतम विधियाँ बनाने के लिए एक विधानसभा रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य सब कार्य व्यक्ति पर छोड़ देने चाहिए। उसका कहना था कि राज्य की अपेक्षा व्यक्ति अपने लाभ की दृष्टि से अन्य सभी कार्यों को अपेक्षाकृत अच्छी तरह करेगा। व्यक्ति का विभिन्न कार्यों के करने से अनुभव बढ़ेगा। राज्य अधिक से अधिक यह कर सकता है कि लोगों को अवांछनीय कार्यों के बुरे परिणामों से पहले से ही आगाह कर दे। यदि राज्य बहुत से ऐसे काम स्वयं करने लगता है जिन्हें नागरिकों को करना चाहिए तो ऐसे राज्य के नागरिक अकर्मण्य हो जाते हैं और हर काम के लिए राज्य का ही मुँह ताकने लगते हैं। राज्य के बहुत अधिक हस्तक्षेप का अर्थ बहुत अधिक राज्य कर्मचारियों का होना है। जब राज्य कर्मचारियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है तो उनमें एक प्रकार की लोक पाटने की आदत पड़ जाती है। 'लाल फीते' और नौकरशाही की बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो आगे चलकर व्यक्ति के लिए अहितकर सिद्ध होती है। मिल ने राज्य के कर्तव्यों का इस प्रकार निरूपण करके राज्य के सकारात्मक पक्ष को अत्यन्त संकुचित कर दिया और उसने कल्याणकारी राज्य के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। इसके साथ ही उसने "यद्भाव्यम् नीति" को सहारा दिया जिसके परिणाम-स्वरूप पूँजीवाद और साम्राज्यवाद जैसी अन्तर्राष्ट्रीय बुराइयाँ उत्पन्न हो गयीं।

६. महिलाओं के अधिकार

जिन परिस्थितियों में मिल ने महिला-स्वातंत्र्य के लिए आन्दोलन किया उन परिस्थितियों को समझ लेना भी आवश्यक है। मिल के जीवनकाल में विक्टोरिया के युग का मध्यान्त चल रहा था। इसमें महिलाओं को उच्च शिक्षा नहीं दी जाती थी। उन्हें ऊँचे पदों तथा अधिकांश व्यवसायों में जाने से रोका जाता था। सावजनिक जीवन में भी उनका प्रवेश निषिद्ध था। महिलाओं के लिए कोई द्वार खुला था तो केवल विवाहित जीवन बिताने का। जब कभी उनकी दशा को सुधारने के लिए कोई आन्दोलन किया जाता था—विरोधी हमेशा महिलाओं की अयोग्यता का आश्रय लेकर उस आन्दोलन को समाप्त कर देते थे। मिल ने बतलाया कि महिलाओं की अयोग्यता किसी भी प्रकार उनकी बौद्धिक प्रतिभा की कमी का लक्षण नहीं है—बल्कि वह उनकी सदियों की दासता का परिणाम है। यदि दासता के पाश से महिलाओं को मुक्त कर दिया जाय और उन्हें धीरे-धीरे पुरुषों के समान ही उन्नति और विकास के अवसर दिये जायँ तो कोई कारण नहीं कि वे भी पुरुषों के समान ही सिद्ध न हो सकें। वह महिलाओं की स्वतंत्रता का इतना पक्षपाती था कि उसने ब्रिटिश संसद में इस प्रश्न पर सबसे पहले आवाज उठायी। उसने कहा—महिलाओं को उनकी दासता से छुड़ाना चाहिए। उन्हें ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जानी चाहिए; और सब प्रकार की राजकीय नौकरियाँ भी मिलनी चाहिए। उसका कहना था कि स्त्री-पुरुषों के बीच की असमानता दूर करने का एक सबसे अच्छा उपाय यह है कि उनको मताधिकार दे दिया जाय। उसका कहना था कि यदि महिलाओं को उनके विकास के अनुकूल वातावरण और परिस्थितियों में रखा जाय तो अनिवार्यतः उनका अपेक्षित चरित्रगठन होगा। मिल ने बतलाया कि नारियों और पुरुषों की असमानता का कोई मौलिक कारण नहीं है। मिल के तर्क अकाट्य थे और इसी कारण उनका पर्याप्त असर भी हुआ।

७. मिल का अनुदाय और स्थान

मिल ने उपयोगितावाद के तर्कशास्त्र को विकसित किया और व्याप्तिमूलक पद्धति (Inductive Method) की त्रुटियों को दूर किया। बेन्थम के उपरान्त उपयोगितावाद के बहुत से आलोचक उत्पन्न हो गए थे और उक्त विचारधारा के संबंध में तरह-तरह के भ्रम फैला रहे थे। मिल ने उन सब आलोचकों को निरुत्तर किया तथा उनके द्वारा फैलाय

गये भ्रमों का अन्त किया। आज उपयोगितावादी तर्कशास्त्र ही अलग विषय हो गया है। मिल ने उपयोगिता की एक बहुत बड़ी त्रुटि को दूर किया। बेन्थम ने सुख को गुणात्मक नहीं केवल मात्रात्मक बतलाया था। बेन्थम के अनुसार कबड्डी खेलने और काव्य पढ़ने के सुख एक ही कोटि के थे। मिल ने कहा कि सुखों में गुणात्मक (Qualitative) अन्तर भी होता है। कबड्डी खेलने और काव्य पढ़ने के सुख में गुणात्मक अन्तर है। उपयोगितावादी विचारधारा को यह मिल का एक बड़ा जबर्दस्त अनुदाय था। मिल ने स्वतंत्रता की उपयोगितावादी कल्पना दी। उसने उपयोगितावाद में अन्य बहुत से सुधार भी किये। इन सुधारों की वजह से बहुत से लोग कहते हैं कि वह बेन्थम की उपयोगितावादी विचारधारा से विलग हो गया लेकिन यह बात गलत है। उसने उपयोगितावाद में संशोधन किये—उसे परिवर्तित रूप नहीं दिया। मिल का अपने युग पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। उसने व्यक्तिवादी विचारकों का एक पूरा वर्ग खड़ा कर दिया। प्रजातंत्रवाद, प्रतिनिधि-शासन और महिलाओं की स्वतंत्रता का वर्तमान रूप बहुत कुछ उसी का दिया हुआ है। ग्रोटे और बेन उसी से प्रभावित थे।

८. ग्रोटे और बेन (George Grote and Alexander Bain)

मिल के बाद बेन्थम या उस जैसा कोई भी विचारक उत्पन्न नहीं हुआ। मिल की तुलना में अपेक्षाकृत सामान्य उत्तराधिकारियों के रूप में जार्ज ग्रोटे और अलेक्जेण्डर बेन का नाम लिया जाता है।

जार्ज ग्रोटे का जन्म सन् १७९४ में हुआ था और मृत्यु सन् १८७१ में। उसने यूनानी इतिहासकार के रूप में ख्याति प्राप्त की। प्लेटो और अरस्तू के विचारों पर उसका बड़ा अधिकार था। बचपन में वह यूटिलिटेरियन सोसाइटी का सदस्य रहा था। इसी सोसाइटी में उसका मिल से परिचय हुआ। तब से दोनों एक दूसरे के बराबर मित्र रहे। मिल के विचारों का ग्रोटे पर बड़ा असर पड़ा। हालाँकि आगे चलकर मतदान की पद्धति के संबंध में ग्रोटे और मिल का मतभेद भी हो गया था। ग्रोटे खुले मतदान का बड़ा विरोधी था। उसका कहना था कि इस प्रकार के मतदान से हजारों व्यक्ति जिस प्रकार मताधिकार का उपयोग करना चाहते हैं उस प्रकार नहीं कर पाते। इसका कारण है कि मतदान करने वालों पर मतदान के समय तरह-तरह का दबाव डाला जाता है। नतीजा यह होता है कि बहुत से लोग तो हस्तक्षेप के भय से मतदान के लिए जाते ही नहीं और जो जाते भी हैं तो वे मतों का अपनी इच्छा के अनुसार प्रयोग नहीं कर पाते। दोनों ही स्थितियों में प्रतिनिधि-शासन के लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो पाती और संसद को लोकविश्वास का लाभ नहीं मिल पाता। ग्रोटे ने इस संबंध में मिल की आपत्तियों का भी बड़ा जोरदार उत्तर दिया था। गुप्त मतदान के अधिकार के समर्थन के अलावा संसदीय सुधारों के संबंध में भी ग्रोटे ने आन्दोलन किया था। उसके संसद-सुधार संबंधी विचार हमें उसकी सुधारों संबंधी एक पुस्तक (Essentials of Parliamentary Reforms) में मिलते हैं। इस पुस्तक म उसने सर्व-मताधिकार के पक्ष में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसका कहना था कि धीरे-धीरे वयस्क मताधिकार सार्वभौमिक कर दिया जाना चाहिए। वह उपयोगितावादी आचारशास्त्र और दर्शन का बड़ा समर्थक था।

अलेक्जेण्डर बेन—अलेक्जेण्डर बेन का जन्म सन् १८१८ में हुआ था। वह एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक, आचारशास्त्री और शिक्षा-विशारद था। मिल तथा ग्रोटे दोनों से ही उसके बड़े अच्छे संबंध थे। वह सुधारवादी दर्शन का सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता है। उसने शिक्षा संबंधी बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। मनोविज्ञान संबंधी उसकी पुस्तकें भी बड़ी प्रसिद्ध हैं। बेन की सन् १९०३ में मृत्यु हुई थी।

बेन ने सुख और दुख की प्रकृति पर प्रकाश डाला है। उसने सुख की परिभाषा देने का भी प्रयत्न किया। सुख और दुख के मनोभावों का बेन द्वारा किया गया विश्लेषण उपयोगितावादी विचारकों के लिए बड़ा लाभदायी सिद्ध हुआ।

बेन का उपयोगितावादी विचारकों की श्रेणी में मनोवैज्ञानिक और आचारशास्त्री के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

८. ग्रोटे और बेन (George Grote and Alexander Bain)

सन् १८७० के बाद उपयोगितावादी विचारधारा का इंगलैण्ड के राजदर्शन पर से सारा प्रभाव समाप्त हो गया। उपयोगितावाद का स्थान अन्य विचारधाराओं ने ग्रहण कर लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ और मध्य तक उपयोगितावाद का जो नेतृत्वात्मक स्थान था—वह समाजवाद आदि जैसी अन्य विचार-धाराओं ने ग्रहण कर लिया। इसलिए उपयोगितावाद पर विचार समाप्त करने के पूर्व उसका संक्षिप्त सिंहावलोकन कर लेना यहाँ समाचीन होगा।

जिस समय उपयोगितावाद ने जन्म लिया उस समय के पूर्व इंगलैण्ड तथा यूरोप में राजदर्शन के क्षेत्र में अनुबंधवादियों तथा प्राकृतिक अधिकारवादियों का बोलबाला था। अनुबंध एवं प्रकृतिवादी राजदर्शन स्वरूप और प्रयोजन की दृष्टि से बड़ा ही अनिश्चित और निरर्थक-सा था। यही नहीं फ्रांस की राजक्रान्ति की असफलता के बाद से उसका प्रभाव समाप्त होता जा रहा था। उसका स्थान कल्पनावादी राजदर्शन ग्रहण कर रहा था। कल्पनावादी विचारक राज्य को ही सब कुछ समझते थे और उनका कहना था कि राज्य के समक्ष व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। परिणाम यह हो रहा था कि राज्य की सर्वशक्ति-सम्पन्नता के समक्ष व्यक्ति का अस्तित्व ही समाप्त होता जा रहा था। उपयोगितावाद ने एक ओर तो अनुबंधवादी दर्शन के विरुद्ध क्रान्ति का झण्डा गाड़ा और दूसरी ओर कल्पनावादी विचारकों के पंजे से व्यक्ति की रक्षा करने का प्रयत्न किया। उपयोगितावादी विचारकों को इसमें सफलता भी खूब मिली। इंगलैण्ड में उपयोगितावादी विचारकों ने राजनीतिक सुधार कराये। सन् १८३२ और १८५९ में दो-दो बार संसदीय सुधार हुए। प्रजातंत्रवादी पद्धतियों को प्रोत्साहन दिया गया और मताधिकार का क्षेत्र व्यापक बनाया गया। इंगलैण्ड की म्युनिसिपल व्यवस्था बड़ी खराब हो गयी थी। उसके सुधार के लिए सन् १८३५ में ब्रिटिश संसद से एक अधिनियम पारित करवाया गया। इंगलैण्ड के लोगों को ऐसी सामाजिक परम्पराओं को तोड़ने के लिए उत्साहित किया गया जो अनुपयोगी हों और प्रगति में बाधा डालती हों। इंगलैण्ड के ही नहीं बल्कि भारत के कानूनों में भी संशोधन किया गया। इंगलैण्ड और भारत दोनों ही स्थानों म विश्वविद्यालयों की शिक्षा को सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गयी। मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए उनको ट्रेड-यूनियनें बनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। मजदूर-आन्दोलनों को भी बढ़ावा दिया गया। लेकिन इन परिणामों से यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि उपयोगितावादी विचारधारा में सब गुण ही गुण थे और उसमें दोष कोई भी नहीं था। आरंभ में ऐसा लगा कि उपयोगितावादी विचारधारा सब तरह से पूर्ण है लेकिन यह भ्रम था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों इस विचारधारा के आलोचक उसके दोषों को सामने लाने लगे। उपयोगितावादी विचारधारा के विरुद्ध उसके आलोचकों का सबसे पहला आरोप तो यह है कि मानव-स्वभाव संबंधी उसका सिद्धान्त अपूर्ण, संकुचित और आवश्यकता से अधिक भौतिकवादी है। मनुष्य के कार्यों का एक बड़ा भाग सुख प्राप्त करने की प्रवृत्तियां तथा दुख से बचने की वृत्तियों पर आधारित होता है लेकिन सभी कार्य वैसे नहीं होते। दूसरी बात यह है कि यदि व्यक्ति सारे कामों को भौतिक

और इन्द्रिय सुखों के लिए करता है तो वह बड़ा ही स्वार्थी है और इस संकुचित स्वार्थ-वृत्ति के कारण उसका नाश हो जाना अनिवार्य था। इस प्रकार मनुष्य-जाति के संबंध में उपयोगितावादी विचारों का अध्ययन करने के बाद कोई अच्छी धारणा नहीं बनती। दूसरे उन्होंने समाज के संबंध में जो कल्पना की वह भी त्रुटिपूर्ण थी। उनका कहना था कि समाज उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित है। अर्थात् समाज की उत्पत्ति इसलिए हुई कि समाज में रहकर व्यक्ति के कुछ हितों की पूर्ति हो सकती थी। लेकिन इसके बाद समाज, राज्य आदि के संबंध में उपयोगितावादी मौन हो गये और उन्होंने व्यक्ति को ही अपने अध्ययन का मूल विषय बना लिया। उन्होंने समाज को व्यक्तियों का समूह मात्र मानकर छोड़ दिया। यह अनुभव नहीं किया कि अ+ब+स+द आदि व्यक्ति जब एक समाज में आ जाते हैं तो उनका निजी व्यक्तित्व होने के अलावा एक सामाजिक व्यक्तित्व भी हो जाता है। व्यक्तियों का सामाजिक व्यक्तित्व ही समाज का व्यक्तित्व होता है और व्यक्तियों के निजी व्यक्तित्व की भाँति ही समाज का व्यक्तित्व भी निरन्तर विकसित होता रहता है। इसी प्रकार उन्होंने राज्य की भी उपेक्षा की और राज्य के संबंध में जो कुछ भी कहा वह आचारात्मक अधिक था। फलतः वह राजदर्शन न होकर शासन (Government) का दर्शन बन गया। समाज और राज्य की तरफ पर्याप्त ध्यान न देने के कारण उपयोगितावादी दर्शन व्यक्तिवादी हो गया और अन्त में वह अपने लक्ष्य में स्वयं परास्त हो गया अर्थात् वह अधिकांश व्यक्तियों के हितों की रक्षा करने में असफल रहा और उसने समाजवाद आदि जैसे सिद्धान्तों को अपनी प्रतिक्रिया के रूप में जन्म दिया।

इतने पर भी यह तो मानना ही होगा कि उपयोगितावाद ने मनोवैज्ञानिक अनुसंधान, आचार संबंधी वाद-विवाद तथा बहुत से सार्वजनिक सुधारों के युग का द्वार खोल दिया—जिसके लिए न केवल उपयोगितावादी विचारकों की पीढ़ी उनके प्रति कृतज्ञ है अपितु आनेवाली पीढ़ियाँ भी उपयोगितावादियों को नहीं भूलेंगी और कुछ मौलिक सिद्धान्तों के पथप्रदर्शक के रूप में उनको हमेशा याद रखेंगी।

हर्बर्ट स्पेन्सर और कॉमटे

(HERBERT SPENCER AND AUGUSTE COMTE)

१. स्पेन्सर का जीवन-परिचय—२. स्पेन्सर के ग्रंथ और उनके प्रेरणासूत्र—३. दर्शन के संबंध में स्पेन्सर के विचार—४ विकासवादी सिद्धान्त की पृष्ठभूमि—५. विकासवाद—६. विकासवाद का व्यावहारिक रूप—७. विकरण पद्धति—८. प्रतियोगिता और चयन का सिद्धान्त—९ व्यक्तीकरण का सिद्धान्त—१०. चेतनोतर जगत का विकास—११. समाज की मौलक व्यवस्था—१२. स्पेन्सर की व्यक्तिवादिता—१३. समाज के नियंत्रण के साधन—१४. राज्य संबंधी स्पेन्सर के विचार—१५. राज्य का सावयवी रूप—१६. आदर्श समाज—१७. प्राकृतिक विधियाँ और अधिकार—१८. औगस्टे कॉमट।

मिल के बाद व्यक्तिवाद का जिस विद्वान् ने अपने दर्शन द्वारा सबसे प्रबल समर्थन किया वह हर्बर्ट स्पेन्सर ही था। हर्बर्ट स्पेन्सर को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का सबसे असाधारण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति माना जाता है। उसकी प्रतिभा का प्रमाण उसका विकासवादी दर्शन है जिसमें उसने भौतिकशास्त्र तथा जीवशास्त्र जैसे दो भिन्न विषयों को एक साथ ग्रंथितकर समन्वित करने की चेष्टा की है। इस चेष्टा में वह कितना सफल अथवा असफल रहा इस पर तो हम लोग आगे के अनुच्छेदों में विचार करेंगे लेकिन सम्प्रति यह आवश्यक है कि उसके जीवन तथा ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय पहले दे दिया जाय।

१. स्पेन्सर (Spencer) का जीवन-परिचय

हर्बर्ट स्पेन्सर का जन्म एक अपेक्षाकृत निर्धन परिवार में सन् १८२० में हुआ था। उसे आरंभिक और शायद थोड़ी-सी माध्यमिक शिक्षा मिल पायी। विश्वविद्यालय में पढ़ने का उसे अवसर ही नहीं मिला। बाद में, उसको जब ख्याति हो गयी तो कुछ विश्वविद्यालयों ने उसे 'आचार्य' की उपाधि देनी चाही लेकिन उसने लेने से इनकार कर दिया। जीवशास्त्र में उसकी बचपन से ही रुचि थी—यह बात इसी से प्रकट हो जाती है कि उसे बाल्यावस्था से ही कीड़े-मकोड़े पालने का बड़ा शौक था। बड़े होने पर वह अपने चाचा रेवरेण्ड टॉमस स्पेन्सर के सम्पर्क में आया। वे बहुत बड़े व्यक्तिवादी थे और उन पर बेन्थम आदि उपयोगितावादियों का काफी प्रभाव पड़ा था। लेख तथा निबंध आदि लिखने का उसे बड़ा शौक था और उसने अपने चाचा द्वारा प्रोत्साहन पाने पर 'नॉन कनफर्मिस्ट' में १२ निबंध लिखे थे। इन निबंधों में उसने जो विचार प्रकट किये वे अन्त तक उसके विश्वासों का अंग बने रहे। राजनीति में उसे शुरू से ही रुचि था। वह डर्बी स्थित पूर्ण मताधिकार समिति की शाखा का सेक्रेटरी था। उसने पूर्ण मताधिकार संबंधी आन्दोलनों में खूब भाग भी लिया था। निर्वाचनों में प्रचलित रिश्वतखोरियों के विरुद्ध इंगलैण्ड में जो प्रदर्शन हुए—उनमें भी स्पेन्सर का सक्रिय सहयोग रहा। सन् १८४८ में वह 'इकनॉमिस्ट' नाम के प्रसिद्ध समाचारपत्र में उप-सम्पादक हो गया। बाद में उसने यह पद भी छोड़ दिया। सन् १९०३ में उसकी मृत्यु हो गयी।

२. ग्रन्थ और स्पेन्सर के प्रेरणा-सूत्र

हर्बर्ट स्पेन्सर के शिक्षा, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र आदि संबंधी बहुत से लेख प्रकाशित हुए हैं लेकिन उन सारे लेखों का ब्योरा यहाँ देना बड़ा कठिन है। उसकी रचनाओं में

निम्नलिखित ग्रन्थ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं और इनमें प्रायः उसके सारे विचार संकलित रूप में मिल जाते हैं:—

१. प्रॉपर स्फीयर ऑफ गवर्नमेण्ट (Proper Sphere of Government) नाम की उसकी पुस्तक सन् १८४२ में प्रकाशित हुई थी।

२. 'सोशल स्टेटिक्स' (Social Statics) सन् १८५१ में निकली थी।

३. 'प्रिंसपिल्स ऑफ सोशियोलॉजी' सन् १८९६ में छपी, हालाँकि स्पेन्सर ने इसका लिखना सन् १८७६ में ही शुरू कर दिया था।

४. 'मैन वर्सेस स्टेट' (Man Versus State) का प्रकाशन सन् १८८४ में हुआ था।

इन ग्रंथों की जानकारी पा लेने के बाद हम स्पेन्सर के विचारों के प्रेरणा सूत्रों पर भी एक दृष्टि डाल सकते हैं। स्पेन्सर के विचार जब निर्माण की अवस्था में थे तब इंगलैण्ड का वातावरण उपयोगितावादी राजदर्शन के गहरे आवरण में लिपटा हुआ था। उसके चाचा रेवरेण्ड टॉमस स्पेन्सर स्वयं ही 'यद्भाव्यम् नीति (Lassaiz Faire) के बड़े भक्त थे। उन दिनों के इस व्यक्तिवादी वातावरण का स्पेन्सर के कोमल मस्तिष्क पर बड़ा असर पड़ा। वह लेमार्क के जीवशास्त्र के सिद्धान्त से भी बड़ा प्रभावित हुआ था। लेमार्क ने जीवशास्त्र का यह सिद्धान्त स्थिर किया था कि सभी प्राणियों पर अपने आस-पास के वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बाद में बकिल की 'हिस्ट्री ऑव सिविलाइजेशन' के अध्ययन से भी स्पेन्सर ने लेमार्क के मत की पुष्टि होते हुए देखी। स्पेन्सर जर्मन भाषा नहीं जानता था लेकिन उसने कोलरिज द्वारा अनूदित जर्मन आदर्शवादी विचारकों के दर्शन को सामान्यतः पढ़कर यह जानकारी प्राप्त की कि इस भौतिक जगत् की सारी चराचर प्रकृति में कोई ऐसी एक शक्ति है जो हर पदार्थ में विद्यमान रहती है। 'इकनॉमिस्ट' के सम्पादक तथा सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री हॉजस्किन का भी उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। हॉजस्किन स्वयं बेन्थम-विरोधी था—इसलिए स्पेन्सर उपयोगितावादी विचारक नहीं बन पाया—हालाँकि हॉजस्किन के सुधारवादी विचारों का स्पेन्सर पर अवश्य प्रभाव पड़ा। यह कहना ठीक नहीं होगा कि स्पेन्सर जीवशास्त्री था और उसने जीवशास्त्र से विकासवाद का सिद्धान्त ग्रहण किया।[1] सच तो यह है कि वह अपने विचारों के लिए जर्मन विद्वान् शेलिंग तथा हॉजस्किन के विचारों के अजीब से मिश्रण पर निर्भर करता है। उस पर कॉमटे का भी थोड़ा सा प्रभाव पड़ा था।

३. दर्शन (Philosophy) सबध में स्पन्सर के विचार

जैसा कि पहले अध्याय में हम कह आये हैं स्पेन्सर असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति था फिर भी मॉण्टेस्क्यू की भाँति उसने असाधारण भूलें कीं। उसने जीवशास्त्र और भौतिकशास्त्र को एक दूसरे के समानान्तर ले जाने की कोशिश की लेकिन अपनी विलक्षण बौद्धिकता के होते हुए भी वह ऐसा करने में असफल रहा। लेकिन तथ्य यह है कि उसने यह प्रयत्न किया और इसी आधार पर अपना दर्शन बनाने की कोशिश भी की। नतीजा यह हुआ कि स्पेन्सर के दर्शन में हम बहुत-सी असंगतियाँ पाते हैं और इन असंगतियों के कारण उसके बहुत से सिद्धान्त ऐसे ही गये हैं जिन पर सामान्यतः लोग विश्वास नहीं कर पाते।

1 "Speneer did non start from Biology, the positive science of life in the restricted sense of that word; nor did he borrow the idea of evolution from Biology in order to extend it to the universe." E. Barker in *Pol. Thought from 1848 to 1914*, p. 74.

स्पेन्सर ने अपने एक निबंध 'दर्शन का समन्वय' (Synthesis of Philosophy) में बतलाया कि पदार्थ और सत्य—ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। एक तो पदार्थ जगत् है—वह जगत् जिसमें हम लोग रहते हैं और जिसे भौतिक जगत् भी कहा जाता है और दूसरा वास्तविकता अथवा सत्य का जगत् है। हमारा जगत्, अर्थात्, भौतिक या पदार्थ जगत् (The World of Phenomena) अस्थिर, अपूर्ण और परिवर्तनशील है जब कि सत्य-जगत् स्थिर, पूर्ण और अपरिवर्तनशील है। लेकिन स्पेन्सर ने सत्य जगत् और भौतिक जगत् को दो भिन्न जगत् बतला कर कोई नयी बात नहीं कही। हमें स्मरण है कि भौतिक और सत्य जगत् का यह अन्तर प्लेटो ने भी बतलाया था। प्लेटो ने कहा था कि दार्शनिक का कर्तव्य सत्य-जगत् में अन्वेषण कार्य करना है। यह सत्य जगत् कल्पना की वस्तु है और उसमें भौतिक संसार की कोई वस्तु नहीं है। अंतिम सत्य एक कल्पित विचार है। इसी की खोज में प्रत्येक दार्शनिक को रहना चाहिए।

लेकिन हर्बर्ट स्पेन्सर ने भौतिक संसार और सत्य जगत् के अन्तर को नहीं माना। उसने कहा कि दार्शनिक को केवल उसी चीज का अस्तित्व मानना चाहिए जिसे उसने देखा हो; जिसका उसे अनुभव हो। जिस जगत् को आज तक किसी ने कभी देखा ही नहीं और जिसका कोई वैज्ञानिक आधार ही नहीं है—उसे कैसे माना जा सकता है। सत्य जगत् का इस प्रकार बहिष्कार कर देने पर स्पेन्सर फिर भौतिक या पदार्थ जगत् की ओर झुकता है और कहता है कि दार्शनिक को भौतिक जगत् का ही अध्ययन करना चाहिए।

स्पेन्सर का दर्शन सर्वथा अपनी कल्पना भी बड़ी अजीब सी थी।[1] उसका कहना था कि दर्शन संसार के समस्त विज्ञानों का विज्ञान है। दर्शन में ही हम विज्ञानों की विधियों को लेकर उनको सैद्धान्तिक रूप दे सकते हैं। जिस सीमा के बाद विज्ञान का आगे बढ़ना असंभव हो जाता है—उसी सीमारेखा के बाद दर्शन का विषय क्षेत्र आरंभ होता है। स्पेन्सर का दर्शन सर्वथा कल्पना का प्रभाव हम स्पष्ट रूप से उसके सभी दार्शनिक सिद्धान्तों पर देखते हैं। स्पेन्सर ने अपने पूर्व निश्चित मतों को सिद्ध करने के लिए इसी आधार पर सभी विज्ञानों का प्रयोग किया है और उक्त कल्पना द्वारा उनका औचित्य भी सिद्ध किया है। यही कारण है कि भौतिक-शास्त्र और जीवशास्त्र जैसे दो असंगत विषयों के सिद्धान्तों का भी उसने उपयोग किया है।

४. विकासवादी सिद्धान्त की पृष्ठभूमि

स्पेन्सर का कहना था कि हमारा संसार—यह भौतिक जगत् बड़ा ही जटिल है। इसमें एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में इस तरह मिला हुआ है कि उस पदार्थ के तत्वों को हम किसी प्रकार अलग करके उनके संबंध में अपेक्षित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। रासायनिक द्रव्यों की भांति उनका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। तब इस दृश्य-जगत् (भौतिक जगत्) का किस प्रकार विश्लेषण किया जाय? हर्बर्ट स्पेन्सर का दावा था कि उसने वह सूत्र खोज निकाला है जिसकी सहायता से दृश्य जगत् का भी विश्लेषण किया जा सकता है। उसका यह भी कहना था कि इस सूत्र की सहायता से हम न केवल दृश्यजगत् का विश्लेषण ही कर सकते हैं अपितु उसकी यथार्थताएं भी जान सकते हैं। यथार्थताओं

---

1 "Spencer's synthetic philosophy was an astonishing system of nineteenth century rationalism (covering the whole range of knowledge from Physics to Ethics) worked out through third-five years and in ten volumes, and constructed with no important change of plan between the prospectus and the concluding volume." G. H. Sabine in *A History of Political Theories*, p. 605

को एक बार जान लेने के बाद हमारे लिए यह बहुत ही आसान हो जायगा कि दृश्य जगत् की कठिनाइयों को सुलझा लें तथा ऐसी पहेलियों का हल खोज निकालें जो साधारणतः समझ ही में नहीं आतीं।

४.१ **दृश्य जगत् के विश्लेषण का सूत्र**——स्पेन्सर ने बतलाया कि यह संसार——यह सारा दृश्य जगत्–शक्ति और पदार्थ से बना है। शक्ति और पदार्थ ये दो ऐसे तत्व हैं जिनका किसी भी प्रकार विश्लेषण किया जा सकना असंभव है। इनके संबंध में यह बतला सकना बड़ा कठिन है कि कौन कहाँ समाप्त होता है और कहाँ से आरंभ होता है। न यही बतलाया जा सकता है कि शक्ति कहाँ समाप्त होती है और पदार्थ कहाँ से आरंभ होता है। स्पेन्सर के मतानुसार यह कहना अधिक उचित होगा कि शक्ति और पदार्थ (Matter and Force) अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं।

तब शक्ति और पदार्थ ये दो भिन्न तत्व हैं——यह कैसे माना जा सकता है ? स्पेन्सर का कहना है कि इन दोनों तत्वों को अपनी-अपनी विशेषताएँ अलग-अलग हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति और पदार्थ दोनों अलग-अलग हैं।

४.२ **शक्ति को विशेषताएँ**——शक्ति (Force) की विशेषता यह है कि वह बराबर गतिमान रहती है। शक्ति की इस विशेषता में कभी कोई अन्तर नहीं आता। इसलिए वह शाश्वत भी है। शक्ति कभी समाप्त भी नहीं होती। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि शक्ति को न तो कोई बना सकता है और न कोई मिटा सकता है। उसकी राशि में कभी कोई अन्तर[1] ही नहीं आ सकता अर्थात् शक्ति को नष्ट नहीं किया जा सकता, उसका स्वरूप भले ही बदल जाय। उदाहरण के लिए हम लोग बिजली की शक्ति पैदा करके उससे प्रकाश का काम ले लेते हैं किन्तु इससे विद्युत शक्ति को राशि में कोई कमी नहीं आती, केवल उसका स्वरूप बदल जाता है। स्पेन्सर स्वरूपान्तर द्वारा शक्ति का अन्त होना नहीं मानता।

४.३ **पदार्थ को विशेषताएँ**——यही बातें पदार्थ के संबंध में भी स्पेन्सर ने बतलायी हैं। स्पेन्सर का कहना है कि जलाने, काटने या पीटने से किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता, केवल उसका रूप बदल जाता है। उदाहरण के लिए लकड़ी जल जाती है तो वह नष्ट नहीं होती——उसका कोयला बन जाता है। इसी प्रकार यदि कोयला भी जल जाता है तो उसकी राख बन जाती है। इस राख को मिट्टी में मिला दीजिए तो मिट्टी-मिट्टी एक-सी हो जायगी। सामान्य अर्थों में लकड़ी के जल जाने के बाद कोयले के रूप में पाकर हम यह मान लेते हैं कि लकड़ी नष्ट हो गयी। इसी प्रकार कोयले को राख के रूप में देखकर हम यह भी कह सकते हैं कि कोयला नष्ट हो गया। लेकिन यदि स्पेन्सर के मत से देखा जाय तो लकड़ी या कोयला नष्ट नहीं हुआ——केवल उसका रूप बदल गया है।

शक्ति और पदार्थ को नष्ट होने की विशेषता के आधार पर हर्बर्ट स्पेन्सर ने दोनों तत्वों को **अविनाशमानता का सिद्धान्त** (Principle of Inderstructibility of Matter and Force) स्थिर किया।

४.५ **शक्ति और पदार्थ को परिवर्तनशोलता**——इसके बाद हर्बर्ट स्पेन्सर ने बतलाया कि यद्यपि शक्ति और पदार्थ अविनाशमान हैं फिर भी इनमें बराबर परिवर्तन होता रहता

---

१ स्पेन्सर के बाद संसार विज्ञान की खोजों की दिशा में काफी आगे बढ़ चुका है। इस वैज्ञानिक प्रगति की वजह से यह सिद्धान्त भी थोड़ा-सा बदल गया है। अब शक्ति को पदार्थ में और पदार्थ को शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। अणु बम के विस्फोट में एक अणु पदार्थ को शक्ति में करके ही अपार शक्ति पैदा कर ली जाती है। किन्तु स्पेन्सर ने जब अपना सिद्धान्त स्थिर किया उस समय यह बात सचमुच कल्पनातीत थी।

है। ये दोनों कभी एक से स्वरूप में नहीं रहते। शक्ति और पदार्थ से बने इस दृश्य जगत् की परिवर्तनशीलता कहावत बन गयी है। स्पेन्सर का कहना है कि जब से यह विश्व बना है तब से लेकर इसके रूप में अपार परिवर्तन हो चुका है और अभी होता भी जायगा। लेकिन 'परिवर्तन' का प्रयोग यहाँ किन अर्थों में किया गया है यह समझ लेना चाहिए। स्पेन्सर ने जहाँ-जहाँ 'परिवर्तन' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ-वहाँ उसका अभिप्राय शक्ति और पदार्थ के उन पारस्परिक संबंधों से है जो बराबर एक दूसरे के अनुकूल रहने के लिए बनते-बिगड़ते रहते हैं।

अब सवाल उठता है कि क्या परिवर्तन उद्देश्यहीन होता है? या इन परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में भी कोई विधि कार्य करती है? हर्बर्ट स्पेन्सर का कहना है कि शक्ति और पदार्थों के परिवर्तन सोद्देश्य होते हैं। शक्ति और पदार्थ के स्वरूपों का परिवर्तन एक विशेष विधि की प्रेरणा के अनुसार होता है और इसीलिए इन परिवर्तनों का परिणाम भी किसी दुर्घटना का फल नहीं समझना चाहिए। इन सब परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में जो विधि कार्य करती है—वह है विकासवाद की विधि।

विकासवाद की इस विधि या सिद्धान्त को हम दृश्यजगत् के सभी पदार्थों पर लागू कर सकते हैं।

५. विकासवाद

वैज्ञानिक शब्दावली में विकासवाद के सिद्धान्त की परिभाषा इस प्रकार की गयी है: "शक्ति के विकरण के साथ पदार्थ का विलयन।"[1] लेकिन विकासवाद के सिद्धान्त की इस वैज्ञानिक परिभाषा मात्र से ही सामान्य पाठक की समझ में कुछ भी आना कठिन है। इस उलझी हुई परिभाषा का स्वयं स्पेन्सर ने ही स्पष्टीकरण किया है। उस स्पष्टीकरण को पढ़ने से हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं।

विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार सरलता की गति-दिशा जटिलता, अनिश्चितता की निश्चितता, असंसक्ति की संसक्तीकरण तथा सजातीयता से विजातीयता की ओर होती है।[2] यह सिद्धान्त स्पेन्सर ने बेयर्स से ग्रहण किया था।

इतना स्पष्ट कर देने के बाद स्पेन्सर ने विश्व या ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का गुरु प्रश्न उठाया। वह पूछता है, इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति किस प्रकार हुई?

स्पेन्सर का कहना है कि आरंभ में समस्त पदार्थ एक स्वरूपहीन ढेर मात्र था, लेकिन साधारण कूड़े के ढेर की भाँति नहीं—यह ढेर शक्तिमान् था। इसी शक्तिमानता के कारण वह लट्टू की तरह बराबर घूमता रहता था। शक्ति और पदार्थ की इस आरंभिक अवस्था में सारे अणुओं का रूप बिलकुल एक-सा ही था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों अणुओं का स्वरूप क्रमशः बदलता चला गया। सितारे और नक्षत्र धीरे-धीरे बने और हमारी दुनिया भी बनी। जल और मिट्टी ने हरियाली पैदा की। इन हरियाले पेड़-पौधों ने जीवों की विभिन्न जातियों को जन्म दिया। स्पेन्सर यह बतलाने में असमर्थ रहा है कि

---

1. "The integration of matter together with the dissipation of force" H. Spencer in his essay on "Synthesis of Philosophy."

2. "From Von Bayer's embryology he took the law of differentiation and integration from an indefinite; incoherent homogeneity to a definite, coherent neterogeneity." G. H. Sabine in *A History of Political Theories*, p. 605.

जीव का जन्म वस्तुतः कब और कैसे हुआ लेकिन उसका कहना है कि सामान्य रूप से इसी प्रकार की दशा में जीव का जन्म हुआ होगा। विभिन्न जाति के जीवों में जीवन आने के पहले स्पेन्सर का कहना है, कि बहुत सी जाति के जीवों का जन्म हुआ होगा और वे जातियाँ नष्ट भी हो गयी होंगी जिनका अब हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार दृश्यजगत् की अन्य बहुत-सी वस्तुएँ भी नष्ट हुई होंगी लेकिन जीव नष्ट होने के बावजूद पैदा होता चला गया होगा।

स्पेन्सर के विकासवाद और डारविन के विकासवाद में कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं है लेकिन डारविन और स्पेन्सर के बीच यह एक मौलिक भेद है कि डारविन ने विकासवादी सिद्धान्त केवल जीवशास्त्र में लागू किया है जब कि स्पेन्सर ने विकासवाद के सिद्धान्त को दृश्यजगत् को सभी वस्तुओं पर लागू किया है। इस प्रकार स्पेन्सर के विकासवाद का प्रयोग-क्षेत्र डारविन से कहीं अधिक व्यापक है।

६. विकासवाद का व्यावहारिक रूप

विकासवाद के सिद्धान्त को स्पेन्सर ने दृश्यजगत् के अचेतन (Inorganic), चेतन (Organic) और चेतनोत्तर (Super-Organic) संसारों पर समान रूप से लागू किया है। इस प्रकार विकासवाद के व्यावहारिक स्वरूप पर प्रकाश डालकर हर्बर्ट स्पेन्सर ने यह सिद्ध कर दिया कि विकासवाद के सिद्धान्त में ब्रह्माण्ड की शाश्वत परिवर्तनशीलता निहित है और ब्रह्माण्ड कभी एक जगह स्थिर नहीं रह सकता। परिवर्तन का चक्र बराबर घूमता रहता है। अब हम सबसे पहले यह देखेंगे कि अचेतन जगत् की वस्तुओं पर स्पेन्सर का विकासवादी सिद्धान्त कैसे लागू होता है:

६.१ अचेतन जगत् और विकासवाद—ईसाई धर्म की धर्मपुस्तक बाइबिल में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के संबंध में एक कथा दी हुई है। इस कथा का आशय यह है कि ब्रह्माण्ड का निर्माण बादलों द्वारा हुआ है। स्पेन्सर ने इस धार्मिक कथा का आधार तो ग्रहण नहीं किया है लेकिन प्रचलित वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पहले सारा ब्रह्माण्ड निरन्तर घूमतो रहने वाली गैस का एक बड़ा भारा गोला था। यह बड़ा गरम था। कुछ समय के पश्चात् जब गैस कुछ ठंडी होने लगी तो उस बड़े गोले से छोटे-छोटे टुकड़े अलग होने लगे और ग्रहों तथा उपग्रहों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार अन्य बहुत से नक्षत्र भी बने। इस प्रकार गैस का वह गोला जिसमें केवल शक्ति और पदार्थ वाष्प के रूप में था—ऐसी वाष्प के रूप में जिसका कोई स्वरूप ही नहीं था—उस स्वरूपहीनता से उसने ग्रहों उपग्रहों और नक्षत्रों का रूप धारण किया; अनिश्चितता से निश्चितता प्राप्त की।

६.२ चेतन जगत्—चेतन जगत् में दृश्यजगत् के सारे जीव आते हैं। डारविन ने यह सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया है कि जीवजगत् में विकासवाद का सिद्धान्त किस प्रकार लागू हुआ। सभी जीवों को वर्तमान रूप ग्रहण करने में असंख्य वर्षों का समय लगा है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, जीव की उत्पत्ति कब और कैसे हुई इस पर तो स्पेन्सर कोई प्रकाश नहीं डाल सका। इसीलिए उसने यह सिद्धान्त उस स्थल से लागू किया जहाँ जीव की उत्पत्ति हो गयी और बतलाया कि आरंभ में जीव कैसा रहा होगा और उस शक्ल से बढ़ते-बढ़ते उसने आधुनिक रूप किस प्रकार पाया। स्पेन्सर का कहना है कि शुरू में पेड़-पौधों तथा प्राणियों में कोई अन्तर नहीं था। किन्तु विकरण की पद्धति द्वारा धीरे-धीरे पेड़-पौधों का जगत् अलग हो गया और जीवजगत् अलग हो गया।

७. विकरण की पद्धति

आरंभ में जो जीव था—उसमें जीवन तो अवश्य था किन्तु उसका कोई रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि न था। पानी में एमीबा नाम का कीड़ा अब भी मिल जाता है

जिसके न कोई मुँह होता है, न कोई पैर होते हैं और न आँखें आदि ही होती हैं। वह जब किसी चीज को खाना चाहता है तो उसके चारों ओर लिपट जाता है और उस चीज को जब्त कर लेता है। जब उसे चलना पड़ता है तो वह एक बार लम्बा होता है, फिर सिकुड़ता है और इस प्रकार अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाता है। वह देख नहीं सकता केवल अनुभव ही कर सकता है। मनुष्य की तथा अन्य सभी जीवधारियों की आरंभिक अवस्था इसी से मिलती-जुलती रही होगी, लेकिन बाद में विकासवाद का सिद्धान्त लागू हुआ और इसी एमीबा के कारण सम्पूर्ण प्राणिजगत् बन गया। प्राणिजगत् के बनने में विकासवाद के अनुसार एमीबा भी सरलता से जटिलता, अनिश्चितता से निश्चितता और असंसक्ति से संसक्तीकरण तथा सजातीयता से विजातीयता की ओर बढ़ा होगा जिसकी वजह से हम आज न केवल मनुष्य का यह रूप देखते हैं बल्कि असंख्य जीवधारियों को भी देखते हैं।

८. **प्रयोगिता और चयन का सिद्धान्त**—विकासवाद को चेतन जगत् पर लागू करने के दौरान में ही स्पेन्सर ने एक और सिद्धान्त स्थिर किया था और वह था—"योग्यतम के ही जीवित रहने का सिद्धान्त" (The Principle of Survival of the Fittest)।

स्पेन्सर का कहना था कि चेतन जगत् (Organic World) में अस्तित्व की रक्षा के लिए बराबर संघर्ष होता रहता है। प्रत्येक जीव की जाति अलग-अलग होती है। एक जाति का जीव दूसरी जाति के जीवन के आहार पर निर्भर रहता है। प्रकृति केवल उन जीवों को जीवित रहने देती है जिनके बारे में वह समझती है कि वे जीवित रहने के सबसे अधिक योग्य हैं। चेतन जगत् में असंख्य जातियों के जीव हैं। इस जीव जगत् में कुछ जातियों के जीवों की कुछ जीवजातियाँ (Species) शत्रु होती हैं और कुछ मित्र। उदाहरण के लिए गाय घास खाती है क्योंकि घास ही उसका भोजन है और शेर गाय का शिकार करता है। ऐसी अवस्था में शेर जाति गाय जाति का शत्रु हुई लेकिन वह अपने मांस भक्षण के स्वभाव के कारण घास जाति का मित्र हो गया क्योंकि एक ओर तो शेर ने घास को अपना भोजन नहीं बनाया और दूसरी ओर ऐसी जाति के जीव को समाप्त कर दिया जो घास को अपना भोजन बनाता है। इसलिए गाय की हत्या घास के लिए जीवनदायी हो गयी। इस प्रकार स्पेन्सर का कहना है कि जीव-जगत् में केवल वे ही जीवजातियाँ जीवित रहती हैं जिनकी अधिक जीवजातियाँ मित्र होती हैं और शत्रु कम।

योग्यतम के जीवित रहने के सिद्धान्त से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

(क) यह कि प्रकृति में भी अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बराबर संघर्षरत रहते हैं, और

(ख) हर जाति का जीव अपने आपको वातावरण और परिस्थितियों के अनुकूल बनाये रहने की चेष्टा करता रहता है। जो ऐसा नहीं करता वह मर जाता है।

इन दोनों निष्कर्षों के संयुक्तीकरण से ही योग्यतम के जीवित रहने का सिद्धान्त स्थिर होता है।

चयन का सिद्धान्त भी (The principle of Selection) जीवों की इस वृत्ति पर आधारित है कि वे अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना लेने का अधिक से अधिक प्रयत्न करते हैं। जो जीव या जीवों की जातियाँ अपने आपको वातावरण के अनुकूल नहीं बना पातीं उनको प्रकृति चयन के सिद्धान्त के अन्तर्गत संसार से बाहर निकाल फेंकती है और वे जीव या जीवों की जातियाँ अपने आप नष्ट हो जाती हैं। इस स्थल पर प्रकृति का व्यवहार बहुत कुछ उस बच्चे की तरह होता है जो रेत में बार-बार अपने घरौंदे बनाता है और जब उसको पसन्द नहीं आता तो उसे बिगाड़ता रहता है। प्रकृति भी उन जीवों को जो उसके अनुकूल नहीं बन पाते अपने हाथ से ही नष्ट कर देती है। जीव अपने आपको किस प्रकार

जीवन रक्षा के लिए वातावरण के अनुकूल बनाते रहते हैं—इसका एक बहुत ही अच्छा उदाहरण डारविन ने दिया है। एक बार वह यात्रा करता हुआ जा रहा था तो उसने देखा कि एक द्वीप के सारे के सारे कबूतर एक ही रंग के हैं। इसका कारण यह था कि जिस प्रकार का कबूतरों का रंग था ठीक वैसा ही रंग उस द्वीप की चट्टानों का था। उस द्वीप में शिकारी बहुत पहुँचते थे। जिन कबूतरों का रंग चट्टानों से मिलता-जुलता था वे तो जल्दी ही छिप जाते थे और उनका पता ही नहीं मिलता था लेकिन जिनका रंग भिन्न होता था वे तुरन्त शिकारी का निशाना बन जाते थे। इसका अर्थ यह था कि केवल वही कबूतर जिन्दा रह पाते थे जिनका एक-सा रंग होता था और शेष सब मार डाले जाते थे।

९. व्यक्तिकरण (Individuation) का सिद्धान्त

स्पेन्सर ने व्यक्तिकरण का सिद्धान्त भी स्थिर किया है। वह इस सिद्धान्त के संबंध में अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता दिखलाता है और इसका कई बार लेकिन हर बार बड़ी सावधानी से प्रयोग करता है। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों प्रकृति विभिन्न वर्गों को अलग-अलग विभक्त करती जाती है और इसके साथ ही वर्गों का विलयन भी होता जाता है। व्यक्तिकरण के सिद्धान्त के दो पक्ष हैं। एक पक्ष जीव विशेष के निजी गुणों से संबंध रखता है और दूसरा पक्ष उस जाति के सभी जीवों के सामान्य गुणों पर प्रकाश डालता है।

व्यक्तिकरण के सिद्धान्त का एक सबसे स्पष्ट उदाहरण बन्दरों तथा मनुष्य की जाति का है। आरंभ में बदरों तथा मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं था लेकिन बाद में एक ऐसा समय आया जब बन्दर और मनुष्य दोनों की जातियाँ अलग-अलग हो गयीं। मनुष्य ने कुछ नये गुण सीख लिये और बन्दरों की जाति उन्हें नहीं सीख पायी—इसलिए वह इस सिद्धान्त का जहाँ को तहाँ ही रह गयी। लेकिन व्यक्तिकरण के सिद्धान्त का यह केवल एक ही भाग है। दूसरा पक्ष चेतन और चेतनोत्तर जगत् दोनों में एकता और सामंजस्य उत्पन्न करता है। इसका बड़ा अच्छा उदाहरण मानवीय मस्तिष्क है। आरंभ में एक बच्चे का दिमाग बिलकुल सरल, अनिश्चित, असंसक्त और सजातीय अणुओं से युक्त होता है लेकिन ज्यों-ज्यों बच्चे के मस्तिष्क का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उसका मस्तिष्क अधिकाधिक जटिल, निश्चित, संसक्तियुक्त और विजातीय अणुयुक्त होता चला जाता है।

कुछ मिलाकर विकासवादी सिद्धान्त का लक्ष्य और उद्देश्य अधिक से अधिक सामंजस्य उत्पन्न करता है। लेकिन जब तक सामंजस्य का उच्चतम बिन्दु नहीं आ जाता तब तक यह खतरा बना ही रहता है कि वे जातियाँ जो सामंजस्य के लिए हानिकर सिद्ध होती होंगी नष्ट कर दी जायँगी। सामंजस्य का अर्थ है शरीर की बाह्य वातावरण के अनुकूल बना लेने की अधिक से अधिक शक्ति का उत्पन्न हो जाना। इस शक्ति के उत्पन्न हो जाने से अर्थात् सामंजस्य की शक्ति के आ जाने से न केवल जीव के अस्तित्व की व्यक्तिगत रूप से रक्षा होती है अपितु सम्पूर्ण जाति का अस्तित्व बच जाता है।

१०. चेतनोत्तर (Super Organic) जगत् का विकास

चेतनोत्तर जगत् के विकास से हर्बर्ट स्पेन्सर का आशय मनुष्य और समाज के विकास से था उसके नैतिक पक्ष के विकास से नहीं।

लेकिन मनुष्य और समाज तथा उनकी नैतिकता के विषय में विचार करने के पूर्व हर्बर्ट स्पेन्सर मानव-मस्तिष्क के संबंध में अपने विचार प्रकट करता है। इसलिए हम लोगों के लिए भी यही उत्तम होगा कि हम लोग भी पहले मानव-मस्तिष्क के संबंध में ही विचार कर

लें क्योंकि मनुष्य का मस्तिष्क ही सबसे पहले विकसित हुआ था और उसी ने सभ्यता का रथ आगे बढ़ाया।

स्पेन्सर का कहना है कि मनुष्य का मस्तिष्क भी क्रमशः विकसित होता है। वयस्क व्यक्ति का मस्तिष्क कुत्ते या किसी बच्चे के मस्तिष्क से अधिक विकसित होता है। बच्चे के मस्तिष्क की विशेषता यह होती है कि वह कल्पना और सत्य––इन दो के बीच में कोई अन्तर नहीं कर पाता। यही बात पशुओं के संबंध में भी लागू होती है। जिस प्रकार बच्चा अनुमान लगाकर यह नहीं समझ पाता कि कौन सी बात या चीज सच्ची है और कौन सी झूठी––ठीक उसी प्रकार पशु भी तथ्य और कल्पित या नकली वस्तु के विषय में कोई अन्तर नहीं कर पाते। बच्चे के हाथ में एक छड़ी दे दीजिए। उससे कह दीजिए यह घोड़ा है तुम्हारा। वह उसे अपनी टाँगों के नीचे दबा लेगा और उस छड़ी को ही घोड़ा मानकर उस पर खूब उछलने-कूदने लगेगा। लेकिन यही बात किसी वयस्क के संबंध में लागू नहीं हो सकती। लेकिन वयस्क व्यक्ति के मस्तिष्क को विकसित होने में जिस प्रकार समय लगता है ठीक उसी प्रकार असभ्य अवस्था के मनुष्य के मस्तिष्क को भी आधुनिक युग की अवस्था तक पहुँचने में काफी समय लगा है। उसमें भूख, दर्द, भय आदि की भावनाएँ भी काफी समय के बाद आनुवंशिक प्रभाव के कारण उत्पन्न हो पायी है।

१०.१ **नैतिकता का विकास**––चेतनोत्तर जगत् में नैतिकता का विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने यह भी स्पष्ट किया है कि नैतिकता से उसका आशय ऐसे आचरण से है जिससे जीवन की रक्षा ही नहीं होती बल्कि दीर्घता भी बढ़ती है। ऐसा तभी हो सकेगा जब हमारे आचरण वातावरण के अनुकूल होंगे। उदाहरण के लिए बदन को ढँकने के लिए हम कपड़े क्यों पहनते हैं। इसीलिए कि हमारा शरीर सरदी, गरमी आदि से बचता रहे। सरदी-गरमी से अपने शरीर को बचाये रखकर हम न केवल अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं अपितु अपने जीवन तथा अपनी जाति––जाति का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थों में किया जा रहा है–अर्थात् मनुष्य जाति की दीर्घजीविता में वृद्धि करते हैं। इसलिए सामान्यतः नंगा रहना अनैतिक समझा जाता है। यदि हम किसी को नंगा देखते हैं तो चाहे वह व्यक्ति हमसे निकट से संबंधित हो या नहीं, हमें बुरा लगता है। हमारे इस बुरा लगने के भाव के पीछे नैतिकता की भावना कार्य करती है––जिसके द्वारा हम जीवन बचाना चाहते हैं। अपनी तथा अपनी जाति के लोगों की रक्षा करना चाहते हैं।

स्पेन्सर का कहना है कि ज्यों-ज्यों मानव-जाति तथा सभ्यता का विकास होता जाता है त्यों-त्यों नैतिकता भी विकसित होती जाती है। विकसित नैतिकता का अर्थ है नैतिकता का जटिल, निश्चित, संसक्त और विजातीय (Heterogenous) होता जाना।

स्पेन्सर के अनुसार नैतिकता का मानदण्ड है––उसका मानव-जाति की रक्षा में सहायक होना। नैतिकता जितनी ही अच्छी होगी, मानव को व्यक्तिगत और सामूहिक––दोनों प्रकार से जीवन-रक्षा में उतनी ही अधिक सहायक सिद्ध होगी। स्पेन्सर की उक्त कल्पना के अनुसार ऐसा आचरण जिससे मनुष्य के अपने जीवन की रक्षा न होती हो––जिससे उसकी दीर्घता न बढ़ती हो––अनैतिक आचरण है। केवल वही आचरण नैतिक माना जायगा जिससे हमारा जीवन दीर्घ हो, व्यापक हो और अधिक पूर्णता प्राप्त कर सके। नैतिक आचरण व्यक्ति की ही नहीं बल्कि सारी मानवजाति के जीवन की दीर्घता की वृद्धि करता है।

---

1 "Morality" he (Spencer) writes "is essentially one with physical truth—is in fact a species of transcendental physiology." Ernest Barker in *Political Thought from* 1843 to 1941, p. 71

असमंजस्य की मात्रा जितनी ही स्वल्प होगी हमारा जीवन भी उतना ही पूर्ण होगा। यही कारण है कि दिन-प्रतिदिन नैतिकता के सिद्धान्तों में विकास होता जा रहा है—वे जटिल होते जा रहे हैं किन्तु उनकी उपयोगिता में भी वृद्धि होती जा रही है। इस तरह नैतिकता की स्पेन्सर ने उपयोगितावाद और विकासवाद दोनों दृष्टियों से व्याख्या की।

१०.२ **समाज**—स्पेन्सर ने समाज पर भी विकासवाद का सिद्धान्त लागू किया। उसका कहना है कि इस संसार में अनेक समाजों की उत्पत्ति और उनका नाश होता रहता है। जो समाज अपने आपको भौतिक वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं वे अस्तित्व-रक्षा के लिए होने वाले संघर्ष में विजयी हो जाते हैं—जो ऐसा नहीं कर पाते वे नष्ट हो जाते हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वही समाज जिन्दा रह सकेगा जो अपने आप को अन्यों की तुलना में अधिक योग्य सिद्ध कर सकेगा। अतः समाजों कि मामले में "योग्यतम ही जीवित रहेगा" की विधि लागू होती है।

लेकिन जिस समय स्पेन्सर समाजों पर विकासवाद का सिद्धान्त लागू करता है—वहाँ हम देखते हैं कि वह दो नावों में अपने पैर रखकर आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। यह चीज उसकी इस बात से सिद्ध हो जाती है कि वह एक साथ दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रयोग करने की कोशिश करता है। ये दोनों विचारधाराएँ उसके हर तर्क में करीब-करीब समानान्तर चलती प्रतीत होती हैं। वह अपनी बात को सिद्ध करने के लिए पहले एक विचारधारा के तर्कों का आश्रय लेता है लेकिन जब यह देखता है कि कृतकार्य नहीं हो पा रहा तो तत्काल ही दूसरी विचारधारा का आश्रय ग्रहण कर लेता है। ये विचारधाराएँ हैं—सावयवी (Organic) और व्यक्तिवादी (Individualistic)। लेकिन वह इन दो विचारधाराओं के मौलिक अन्तरों में कोई सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता—इसलिए ऐसा लगता है कि वह शब्दों के साथ खिलवाड़ कर रहा है।

पहले वह समाज पर सावयवी विचारधारा की सहायता से विकासवाद का सिद्धान्त लागू करने का प्रयत्न करता है। उसका कहना है कि जब मनुष्य बनजारों की अवस्था में रहते थे तो वह एक बड़ा समूह मात्र था। समूचा समूह का समूह एक इकाई के रूप में इधर से उधर घूमा करता था। किसी व्यक्ति का कोई विशेष कार्य निर्दिष्ट नहीं था। सब लोगों का एक ही सा काम था। तन ढकना, भोजन की व्यवस्था करना और सन्तानोत्पत्ति करना। नतीजा यह था कि उस इकाई में जब कोई व्यक्ति मर जाता था या घायल हो जाता था तो उसकी अनुपस्थिति के अभाव को लोग अनुभव नहीं करते थे। किन्तु धीरे-धीरे विलयन (Integration) आरम्भ हुआ। मानव-समाज में कार्य-विभाजन की प्रणाली से काम होने लगा। कुछ व्यक्तियों को एक काम सौंपा गया तो कुछ को दूसरा, जैसे कुछ किसान बन गये कुछ बढ़ई का काम करने लगे, इत्यादि। कार्य-विभाजन (Division of Labour) के फलस्वरूप पहले की भाँति लोग स्वतंत्र नहीं रहे बल्कि एक दूसरे पर निर्भर रहने लगे। धीरे-धीरे समाज ठीक उसी प्रकार सुग्रन्थित हो गया जैसा कि आज हम उसे देखते हैं। इसी प्रकार समाज अधिकाधिक संसक्त (Coherent) भी होता गया। एक दूसरे पर निर्भर करने की सामाजिक परम्पराएं उसकी संसक्ति (Cohesion) की ओर ही संकेत करती हैं। संसक्ति की वजह से सामाजिक रूपरेखा भी अधिकाधिक जटिल होती जा रही है। उसका स्वरूप भी पहले की अपेक्षा अधिकाधिक निश्चित होता जा रहा है—जैसा कि पहले नहीं था।

यदि हम सभ्यता के पूर्व के मानव-समाजों के इतिहास का अध्ययन करें तो हमें प्रतीत होगा कि उस समय समाज का कोई निश्चित रूप नहीं था। कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ भी काम करने लगता था। उस समाज के लोग आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक आत्मनिर्भर थे। यही कारण है कि यदि घूमते-फिरते मानव-समूहों

में से एकाध व्यक्ति छूट भी जाता था तो न तो मानव-समाज को ही इसका अभाव खलता था और न उस व्यक्ति को ही जो पीछे रह जाता था क्योंकि वह अपनी मरजी के अनुसार जैसा जीवन चाहता था—बिता लेता था। जब जीव की उत्पत्ति हुई तो हम देख चुके हैं कि एमीबा भी लगभग इसी प्रकार से जीवन बिताता था। यदि उसको बीच से या कहीं से भी कोई दो टुकड़ों में बाँट देता तो भी वह मरता नहीं था। उसका जीवन यथापूर्व बना रहता था। लेकिन जब जीव की वह अवस्था समाप्त हो गयी और उसने एक निश्चित रूप धारण कर लिया तब ऐसा होना असंभव हो गया क्योंकि यदि मनुष्य के कोई दो टुकड़े कर दे तो वह जीवित नहीं रह सकता। इसी तरह से समाज ने कार्य-विभाजन तथा एक दूसरे पर बढ़नेवाली निर्भरता के आधार पर अधिकाधिक निश्चित स्वरूप प्राप्त किया। जिस प्रकार हमारे शरीर में निरन्तर पुराने कोष मरते जाते हैं और नये पैदा होते हैं लेकिन मनुष्य जीवित रहता है उसी प्रकार समाज में भी वृद्ध मरते हैं, बच्चा पैदा होते हैं और समाज का जीवन यथापूर्व चलता रहता है।

११ समाज की मौलिक व्यवस्था

समाज की मौलिक व्यवस्था पर प्रकाश डालते समय स्पेन्सर ने एक बार पुनः उसकी तुलना मानव-शरीर से की है। उसका कहना है कि जिस प्रकार मानव-शरीर में पाचन-व्यवस्था होती है जिसकी वजह से शरीर को बल और रक्त तथा अन्य आवश्यक पदार्थ मिलते हैं—ठीक उसी प्रकार समाज की भी एक मौलिक व्यवस्था है जिससे उसे बल मिलता है और समाज का जीवन बराबर आगे बढ़ता चला जाता है।

स्पेन्सर ने विस्तारपूर्वक बतलाया कि जो भोजन हम करते हैं वह मुँह द्वारा हमारे उदर में जाता है। उदर की आंत्रिक-व्यवस्था उस भोजन का पाचन कर डालती है और इस पाचन-क्रिया से शरीर को रक्त, हड्डी, मज्जा तथा जीवन बनाये रखने के आवश्यक तत्व मिल जाते हैं।

ठीक यही बात समाज पर इस तरह लागू होती है: श्रमिक वर्ग परिश्रम करता है और उसके परिश्रम से धन पैदा होता है। इस धन का उपभोग श्रमिक के साथ ही अन्य वर्गों के लोग भी करते हैं। जिस प्रकार शरीर के बने हुए ताजे रक्त को हृदय अपनी धौंकनी द्वारा शरीर के हर भाग में पहुँचाता है ठीक ससी प्रकार समाज की वितरण-व्यवस्था धन का वितरण करके उसे हर वर्ग के पास पहुँचाती है।

मस्तिष्क शरीर का स्नायुओं द्वारा नियंत्रण करता है और शरीर का हर अंग मस्तिष्क के आदेशों का पालन करता है। ठीक उसी प्रकार समाज में शासन की स्थिति है। समाज में शासन (Government) मस्तिष्क का कार्य करता है और सरकार का डाक-तार विभाग समाज के स्नायुओं का समाज के विभिन्न वर्ग उसके अंग हैं। सरकारी आदेश डाक-तार विभाग द्वारा संबंधित वर्गों तथा व्यक्तियों तक पहुँचाये जाते हैं।

इस प्रकार स्पेन्सर ने समाज के हर कार्य को शारीरिक रचना की सहायता से अत्यन्त परिश्रमपूर्वक समझने का यत्न किया है।

---

1. "The main organs of the society were the sustaining system, under which the industrial organisation of society was compared to the alimentary organs of the individual, the distributing system. udder which the commercial organisation of society was compared to the circulatory organs of the individual, and the regulatory system, nervo-motor organs of the individual." R. G. Gettell in *History of Political Thought*, p. 407.

लेकिन समाज का यह विकास साधारण जीवों के विकास से भिन्न है इसीलिए सामाजिक विकास को स्पेन्सर ने चेतनोत्तर जगत् (Super organic World) का विकासवाद बतलाया है।

आलोचना—लेकिन स्पेन्सर के तनोत्तर जगत् के विकासवाद में हमें लिखे दोष दिखलायी पड़ते हैं—

(१) शरीर तो साक्षात् भौतिक रूप में हमारे सामने होता है वह दृष्य-जगत् को दृढ़ वस्तु है, जब कि समाज का सावयवी रूप केवल काल्पनिक है। उसका कोई भौतिक स्वरूप नहीं है।

(२) हमारे शरीर और प्रकृति में कार्यों का विभाजन हो चुका है। हर अंग ने अपने-अपने कार्यों को भली भांति करने की विशेष क्षमता अर्जित कर ली है। समाज के बारे में हम अभी ऐसा नहीं कह सकते। शरीर के अंगों की भांति ही समाज के प्रत्येक वर्ग का कार्य-विभाजन हुआ है और न समाज के हर अंग ने अपने-अपने निर्दिष्ट कार्यों को उत्तम से उत्तम ढंग से करने की क्षमता ही अर्जित कर ली है।

(३) व्यक्ति का चैतन्यता (Consciousness) का एक केन्द्रीय स्थल होता है। उसमें प्राणवायु होती है। इस प्राणवायु के गायब होते ही व्यक्ति मर जाता है। सामाजिक चैतन्यता के संबंध में यह बात नहीं है। उसकी चैतन्यता का कोई एक केन्द्रीय स्थल नहीं होता। सब व्यक्तियों के सामूहिक रूप का नाम समाज है।

व्यक्ति के मरने से समाज नहीं मरता। वह एक स्थायी संवास है। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि स्पेन्सर की सामाजिक विकास की कल्पना बहुत कुछ ठीक ही है। समाज का विकास धीरे-धीरे हुआ है। उदाहरण के लिए आरम्भिक समाज का परिवार पति-पत्नी और बच्चों का होता था। उसका काम शुरू में केवल अपनी प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना रहता था। वह अपने सामने केवल वर्तमान को रखता था। उसका ध्यान न गुजरे हुए काल पर रहता था और न आगे आने वाले दिन पर। पति-पत्नी और बच्चे सभी जब भूख लगती तभी जंगल में चले जाते और ऐसे पदार्थों को एकत्रित करने में जुट जाते जिनसे उनकी भूख शान्त हो सकती थी। इसके बाद एक साथ भोजन करते और जब श्रान्त हो जाते तो कहीं भी एक साथ पड़कर सो जाते। आशय यह है कि वे जो काम करते एक साथ करते। इस दशा में कार्य-विभाजन और अपने-अपने कार्य में विशेष योग्यता प्राप्त करने जैसी कोई बात नहीं थी। शनैः-शनैः परिवार ने कार्य-विभाजन के सिद्धान्त को स्थिर किया। ज्यों-ज्यों परिवार बढ़ता गया त्यों-त्यों यह अनुभव किया गया कि यदि उत्तरदायित्वों को बाँट लिया जाय तो अच्छा है। फलतः पत्नी घर की देख-भाल और भोजनादि बनाने का व्यवस्था करने लगी और पति ने जंगल में जाकर शिकार वगैरह लाने का काम सँभाल लिया। बच्चों को भी काम दिया जाने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि व्यक्तियों की सामाजिकता की दिशा में और प्रगति हुई। आगे चलकर कृषि-युग में कार्य-विभाजन और विस्तृत हो गया। समाज में खेती करते, वाणिज्य करने, पुरोहित का कार्य करने तथा सेवा करनेवाले व्यक्तियों के अलग-अलग वर्ग बन गये। इसी प्रकार सामाजिक संघटन जटिल होता चला गया। यह विकास आज भी जारी है।

१२. स्पेन्सर की व्यक्तिवादिता

समाज की प्रगति का चित्रण कर देने के बाद स्पेन्सर का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण हमारे सामने आता है।

समाज के संबंध में स्पेन्सर ने उपयोगितावादियों के प्रभावान्तर्गत यह कहना शुरू किया कि वह व्यक्तियों का समूहमात्र है।

स्पेन्सर समाज को व्यक्तियों का समूह मात्र बताने के उपरान्त स्वयं ही प्रश्न करता है कि व्यक्ति समाज में क्यों रहता है ? और फिर स्वयं ही यह उत्तर भी देता है कि व्यक्ति के समाज में रहने का कारण उसकी यह इच्छा अथवा मूल प्रवृत्ति है कि वह अपने तथा अपनी जाति के जीवन की रक्षा कर सके। यदि मनुष्य समाज के साथ न रहता होता तो प्रकृति और मनुष्य के संघर्ष में वह परास्त हो जाता। वह प्रकृति पर विजय न प्राप्त कर पाता। इस प्रकार प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष में स्पेन्सर समाज को एक उपयोगी अस्त्र मानता है।

ऐसी अवस्था में समाज का नियंत्रण किस प्रकार किया जाय ? इस संबंध में स्पेन्सर के कुछ अपने विशेष सूत्र हैं। उसका कहना है कि किसी भी संवास (Institution or Association) का लाभ करने के लिए हमें उसकी सदस्यता प्राप्त करनी पड़ती है। और जब हम किसी संवास के सदस्य हो जाते हैं तो उसके लाभ तो हमें मिलते हैं लेकिन उन लाभों को प्राप्त करने के लिए हमें कुछ त्याग भी करने पड़ते हैं। जैसे, किसी क्लब में जाकर उसके समाज का आनन्द लेने के लिए हमें अपना समय देना पड़ता है, माहवारी चन्दा देना पड़ता है आदि। यह बहुत छोटा-सा त्याग है। लेकिन क्लब एक छोटा सा संवास है। समाज एक बहुत बड़ा संवास है, उससे हमें लाभ भी बहुत अधिक होता है। इसलिए उसके लिए अधिक त्याग भी करने पड़ते हैं। समाज में रहने के लिए हम मनमाने तौर पर कोई काम नहीं कर सकते। फिर, समाज की व्यवस्था चलाने के लिए किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण तो चाहिए ही—इसलिए वे नियंत्रण विभिन्न रूपों में हमारे सामने आते हैं।

१३. समाज से नियंत्रण के साधन

स्पेन्सर ने समाज के नियंत्रण के चार साधन बतलाये हैं—जो इस प्रकार हैं :—

(१) शासन (Government)
(२) धर्म (Religion)
(३) सामाजिक प्रथाएँ (Social Customs) और
(४) नैतिकता (Morality)।

सामाजिक नियंत्रण के इन चारों साधनों की मौलिक वृत्तियों का स्पेन्सर ने विश्लेषण किया है और यह परिणाम निकाला है कि इनमें से प्रत्येक का आधार या तो भय है अथवा बल। समाज के नियंत्रण के लिए व्यक्ति के साथ जो भी कठोरता अथवा भय या बल का प्रयोग किया जाता है, उस सबका उद्देश्य व्यक्ति का हित ही सिद्ध करना होता है।

समाज की तरह ही व्यक्ति का अब भी विकास होता जा रहा है। वह बराबर ऐसे नये-नये साधन और मार्ग खोजता जा रहा है जिनकी सहायता से वह अधिक से अधिक दिनों तक जीवित रह सके, अधिक प्रसन्न और शान्त रह सके। चिकित्सा और औषधि विज्ञान में होनेवाली प्रगति, उद्योगों तथा कृषि के उत्पादन को बढ़ाने के लिए की जानेवाली वैज्ञानिक शोधें और अनुसंधान सभी कुछ इसी दिशा में संकेत करते हैं।

मनुष्य और समाज की ही भाँति नैतिकता का भी दिन-प्रति-दिन विकास होता जा रहा है और इस विकास से व्यक्ति को अपनी जीवन-रक्षा के संघर्ष में मिलनेवाली सुविधाएँ बढ़ती जा रही हैं। स्पेन्सर यह नहीं मानता कि मनुष्य दिन-प्रति-दिन पतन के गर्त में गिरता जा रहा है। मनुष्य के ऊपर शासन, विधियों और दण्डों की सहायता से बाह्य नियंत्रण करता है, लेकिन नैतिकता मनुष्य के नियंत्रण का आन्तरिक साधन है। स्पेन्सर का मत है कि क्रमशः व्यक्ति के आन्तरिक-नियंत्रण के साधन इतने बलवान हो जायँगे कि उसे बाह्य नियंत्रण की कोई अपेक्षा ही नहीं रह जायगी। ऐसी अवस्था में बाह्य नियंत्रण के साधन स्वयं ही समाप्त हो जायँगे। वह अपने कथन को इस प्रकार सिद्ध करता है—

पहले मनुष्य भी बन्दरों की तरह जीवन व्यतीत करता था। उसे बराबर पेड़ों पर उछलना-कूदना पड़ता था। न सब कामों के लिए उसे शरीर का सन्तुलन बनाये रखने की बड़ी आवश्यकता थी। इसीलिए उसके एक पूँछ थी। लेकिन जब आदमी वर्तमान स्वरूप में आ गया तो उसे पूँछ की जरूरत नहीं रही और वह लुप्त हो गयी। हमारी रीढ़ की हड्डी का निचला भाग अब भी उस लुप्त पूँछ की याद दिलाता है। स्पेन्सर का कहना है कि जिस तरह आवश्यकता न रहने पर पूँछ लुप्त हो गयी––इसी प्रकार बाह्य नियंत्रण की उपयोगिता समाप्त होते ही उसके साधन भी समाप्त हो जायँगे और शासन (Government) तथा राज्य (State) आदि को कोई जरूरत नहीं रहेगी।

यह सब कुछ अपनी गति से होगी। इसमें न तो किसी शीघ्रता की आवश्यकता है और न राजक्रान्ति की। विकास स्वयं ही व्यक्ति को निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचा देगा। राज्य और शासन के प्रति इसी दृष्टिकोण के कारण लोग स्पेन्सर को अराजकतावादी (Anarchist) भी कहते हैं।

१४. राज्य के संबंध में स्पेन्सर के विचार

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में स्पेन्सर के विचार हमें उसकी पुस्तक 'मैन वर्सस स्टेट' (Man Versus State) में मिलते हैं।

स्पेन्सर के अनुसार राज्य का जन्म का स्रोत या तो भय है या बल। मनुष्य यह समझता था कि वह प्रकृति के अंक में रहने अथवा समाज में रहने मात्र से सुरक्षित नहीं है। उसको जानवर मार सकते हैं, समाज में कोई भी व्यक्ति आक्रमण कर सकता है और उसके अधिकार छीन सकता है। यही भय था जिसकी वजह से समाज में रहनेवाले मनुष्यों ने राज्य को जन्म दिया। लेकिन राज्य के अधिकार कैसे कार्यान्वित होते हैं ? बल प्रयोग द्वारा। राज्य व्यक्ति को उसके कुछ अधिकारों से वंचित कर देता है और तब उसे जीवन-रक्षा की कुछ सुविधाएँ देता है। लेकिन मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह नियंत्रणों में सुखी नहीं रहता। उसको आत्मिक शान्ति तभी मिलती है जब वह सब प्रकार के अधिरक्षणों और नियंत्रणों से मुक्त रहे। राज्य का नियंत्रण जितना ही अधिक होगा उतना ही मनुष्य को कष्ट होगा और जितनी ही कष्ट मिलेगा उतना ही वह दुखी रहेगा। लेकिन राज्य का अस्तित्व इसलिए बरदाश्त किया जाता है कि उससे कुछ बड़ी बुराइयाँ पैदा नहीं हो पातीं। अतः, राज्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह बड़ी बुराइयों को पैदा होने से रोके। स्पेन्सर की राज्य संबंधी कल्पना अनिवार्यतः व्यक्तिवादी पुलिस-राज्य की कल्पना है। वह इस बात में तो विश्वास ही नहीं करता कि राज्य को कल्याणकारी भी होना चाहिए। पुलिस-राज्य की कल्पना को स्पेन्सर ने विस्तारपूर्वक समझाया है। स्पेन्सर का मत है कि राज्य का प्राथमिक कार्य व्यक्ति की बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक अशान्ति एवं अव्यवस्था से रक्षा करना है। इसके लिए राज्य को स्थायी रूप से आवश्यकतानुसार फौज और पुलिस रखनी चाहिए। समाज-विरोधी तत्वों से विधि-व्यवस्थाप्रिय नागरिकों की रक्षा करने तथा अपराधियों को दण्ड देने के लिए राज्य को न्यायालय खोलने चाहिए। राज्य के अस्तित्व का कारण है अनैतिकता का अस्तित्व। यदि अनैतिकता समाप्त हो जाय तो फिर राज्य की भी आवश्यकता नहीं है। स्पेन्सर का दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य नैतिकता की दिशा में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा और अनैतिकता कम होती जायगी, राज्य का प्रभाव और शक्ति भी अपने आप कम होती जायगी––ठीक उसी तरह जैसे मनुष्य की पूँछ लुप्त हो गयी है।

१५. राज्य का सावयवी रूप

राज्य को मनुष्य के दुख का साधन बतलाने के बाद स्पेन्सर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि राज्य अनावश्यक भी है। राज्य की अनावश्यकता को बतलाने के लिए

वह एक बार पुनः सावयवी विचारधारा का सहारा लेता है और व्यक्तिवादियों को छोड़ देता है।

वह अपने तत्संबंधी मत को इस प्रकार प्रकट करता है। मानव-शरीर में कुछ ऐसे अंग होते हैं जो अत्यन्त आवश्यक होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जिनकी कम आवश्यकता पड़ती है या बिलकुल ही नहीं पड़ती। आरंभ में मनुष्य के पूँछ नहीं थी लेकिन पेड़ों पर उछलने-कूदने के लिए उसे पूँछ की आवश्यकता हुई। उसे वह मिल गयी। कुछ समय बाद पूँछ की आवश्यकता नहीं रही तो वह क्रमशः लुप्त हो गयी। यही बात राज्य के संबंध में भी है। शुरू में राज्य नहीं था क्योंकि उसकी आवश्यकता नहीं थी लेकिन जब आवश्यकता पड़ी तो वह भी बन गया। इसी तरह जब मनुष्य पूर्ण हो जायगा तो राज्य भी स्वतः लुप्त हो जायगा।

इस संबंध में हीगल आदि आदर्शवादी जर्मन विद्वानों से स्पेन्सर मतभेद प्रकट करता है। उसका कहना है कि राज्य की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है और न राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार ही है।

१५.१ **आलोचना**—सच पूछा जाय तो स्पेन्सर का राज्य संबंधी समूचा मत ऐसा था जिसमें उसने राज्य की सब तरफ से आलोचना ही आलोचना की है। यद्यपि स्पेन्सर व्यक्ति को समाज और राज्य का अंग मानता था लेकिन इतने पर भी उसका यह कहना था कि राज्य व्यक्तिस्वातंत्र्य पर प्रतिबंध लगाता है—इसलिए वह एक प्रकार से व्यक्ति-हित-विरोधी है और इसी आधार पर उसने **व्यक्ति बनाम राज्य** (Man Versus State) का पूरा सिद्धान्त खड़ा कर दिया है। उसने अपनी बातों को सिद्ध करने के लिए बहुत-सी विचारधाराओं और तर्कों का सहारा लिया—लेकिन इन सब में वह कुछ ऐसा फँस गया कि उसका मत एक संश्लिष्ट और पूर्ण सिद्धान्त का रूप ग्रहण नहीं कर सका।[1] वह कहता है कि राज्य का नियंत्रण कम से कम होना चाहिए और उसको कम से कम अधिकार दिये जाने चाहिए। लेकिन इस स्थल पर वह यह भूल जाता है कि जब राज्य समाज का एक आवश्यक अंग है तब तक यदि राज्य को क्षति पहुँचती है तो उसका असर अनिवार्यतः समाज पर और अंततोगत्वा व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इससे व्यक्ति को अवश्य नुकसान होगा। स्पेन्सर ने बन्दर-मानव का उदाहरण देते हुए कहा है कि पहले उसके पूँछ थी बाद में वह लुप्त हो गयी। ठीक है—लेकिन जब तक पूँछ थी तब तक यदि पूँछ को कोई क्षति पहुँचती तो क्या मानव-बन्दर को चोट न लगती? ठीक इसी तरह राज्य भी है। यदि राज्य को कोई भी क्षति पहुँचती है तो यह निश्चित है कि उसका असर व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यदि राज्य को चोट लगती है तो व्यक्ति को भी अनिवार्यतः चोट लगेगी। इसलिए जब तक राज्य है—राज्य की आज्ञाओं का पालन व्यक्ति को करना ही होगा।

स्पेन्सर ने शासनतंत्रों की एक और आलोचना की है। स्पेन्सर का कहना है कि सभी प्रकार के शासनतंत्र एक न एक सीमा के बाद निरंकुश हो जाते हैं। शासक शासन करना कर्तव्य न समझकर उसे अपना विशेष अधिकार समझने लगता है। लेकिन यदि वे अपने कर्तव्यों का पालन करें तो लोगों को यह समझने में अधिक कठिनाई नहीं होगी कि राज्य निरपेक्ष और निस्वार्थ भाव से उनके हित के लिए कितना काम कर रहा है।

स्पेन्सर का मत था कि विधानमण्डलों के सारे सदस्य अनुभवहीन और नौसिखिए होते हैं। उन्हें अपने काम का कोई ज्ञान नहीं होता। उनके बनाये हुए सारे कानून अनुमानों पर

---

1. "...he draws his inspiration from many different sources, which he tries, but fails to gather together into a single whole." E. Barker in *Political Thought from* 1848 to 1914, p. 72.

आधारित होते हैं। उन्हें भविष्य का कोई ज्ञान नहीं होता और विकास का सिद्धान्त उनके सारे कामों को धूल में मिला देता है। स्पेन्सर ने ऐसे कामों की एक पूरी तालिका दी है जिन्हें राज्य को तुरन्त छोड़ देना चाहिए।[1] इसकी वजह यह है कि इस प्रकार के अदूरदर्शितापूर्ण बनाये जानेवाले कानून जब जनता पर लागू किये जाते हैं तो उसे अनावश्यक परेशानी होती है। दूसरे, इस प्रकार के कानूनों में अल्पसंख्यकों के मत की हमेशा अवहेलना की जाती है। शासनतंत्रों का रूप चाहे जैसा हो--चाहे वे राजतांत्रिक हों या प्रजातांत्रिक--वे या तो अल्पमत का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा अधिक से अधिक बहुमत का। सम्पूर्ण नागरिक समूह का--या स्पेन्सर के शब्दों में समूचे समाज के हितों का प्रतिनिधित्व किसी भी शासन में कभी भी नहीं हो पाता। इसलिए शासनों की अवांछनीयता स्वयंसिद्ध है। उस पर किसी को प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। विधान-मण्डलों या संसदों में होनेवाले सारे वादविवाद को भी वह राजनीतिज्ञों के "मक्कर" बतलाता है। उसका कहना है कि राजनीतिज्ञ अपने बहुमत के बल के भरोसे पर प्रत्येक कानून के विषय में उसके औचित्य-अनौचित्य पर तो पहले ही विचार कर पर्दे के पीछे फैसला कर लेते हैं लेकिन संसद के सम्मुख उस विधि के विधेयक (Bill) को रखकर अपनी प्रजातांत्रिकता का ढोंग रचते हैं। इसके अलावा एक बात यह भी है कि राज्य व्यक्ति को विधियों के सहारे भय का दण्ड दिखला कर बाह्य साधनों द्वारा नैतिक बनाना चाहता है। लेकिन यह पद्धति मौलिकता की दृष्टि से गलत है। व्यक्ति को नैतिक बनाने के बाह्य प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। मनुष्य नैतिक अपनी अन्तःशक्ति से ही होता है। स्पेन्सर का एक और बड़ा ही विचित्र मत है। वह कहता है कि विधियों को बना कर राज्य व्यक्ति को आचारिकता में हस्तक्षेप करता है--जब कि कायदे से उसे ऐसा करने का कोई भी अधिकार नहीं है। वह औद्योगिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी राज्य के कानून बनाने का विरोधी है। उसका कहना है कि ऐसा करने से उन लोगों को संरक्षण मिलता है जो अस्तित्व-रक्षा के संघर्ष में हिस्सा नहीं ले सकते; जो जीवित रहने योग्य नहीं हैं। इस तरह से राज्य का सबको सुख देने का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। स्पेन्सर का यह भी कहना है कि राज्य व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार के अधिकारों की रचना नहीं कर सकता--इसलिए उसे यह भी हक नहीं है कि वह व्यक्ति के अधिकारों को छीन ले।

जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं स्पेन्सर ने राज्य के व्यापक अधिकारों का कठोर विरोध किया है और उसे केवल तीन अधिकार दिये हैं :--

(क) विधि व्यवस्था को रक्षा के लिए पुलिस रखने का अधिकार।

(ख) बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक शांति की रक्षा के लिए सेना रखने का अधिकार, और

(ग) अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्यायालय रखने का अधिकार।

इतने काम तो न्यूनतम हैं जिन्हें राज्य से एक आवश्यक बुराई होते हुए भी लिया जायगा। रहा शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि का मामला, सो व्यक्ति इस तरफ स्वयं ध्यान दे लेगा। यदि वह महसूस करेगा कि ज्ञान अर्जित करना अच्छी बात है, बच्चों को पढ़ाना

---

1 "Indeed Spencer's theory of the state was very largely a list of functions that the state should at once abandon, since they had been assumed in the first place by some of the innumerable sins of legislators or of functions that will be made unnecessary by the progress of evolution". G. H. Sabine in *His. of Pol. Theories.*, p. 606.

कल्याणप्रद है तो वह स्वयं स्कूल खोल लेगा। सरकार की या किसी भी शासन को इस बात की न तो जरूरत है और न अधिकार है कि वह किसी व्यक्ति के बच्चों को या उसे किसी स्कूल में जाने के लिए बाध्य करे। इसी प्रकार स्वास्थ्य और सफाई के प्रश्न भी स्पेन्सर ने हल कर दिये हैं। स्पेन्सर का कहना है कि यदि लोग स्वास्थ्य का महत्व समझेंगे तो स्वयं उसकी रक्षा करेंगे। सफाई के प्रति उनकी रुचि होगी तो वे स्वयं सफाई रखेंगे। राज्य का यह काम नहीं है कि वह अस्पताल, दवाघर आदि खोले। सरकार को म्युनिसिपैलिटियाँ आदि खोलने में भी मदद करने की कतई कोई आवश्यकता नहीं है। स्पेन्सर का कहना था कि यदि राज्य से कोई सहायता नहीं मिलेगी तो लोग इन क्षेत्रों में और भी अधिक उत्साह से काम करेंगे क्योंकि उस समय वे जो कुछ भी करेंगे उसका महत्व स्वयं भी समझेंगे। इसी प्रकार स्पेन्सर गरीबों को किसी भी प्रकार की सहायता दिये जाने में नहीं था। उसका कहना था कि गरीब या तो अपनी हालत स्वयं सुधारें नहीं तो उनका मर जाना ही अच्छा है क्योंकि यदि उनको जीवित भी रखा जाय तो वे समाज के लिए भारतुल्य ही सिद्ध होंगे। जीकर भी अयोग्य होने के कारण वे समाज के किसी भी काम में नहीं आ सकते। स्पष्ट है कि स्पेन्सर का राज्य संबंधी यह दर्शन अत्यधिक बर्बरतापूर्ण है। इसे स्पेन्सर भी स्वीकार करता है लेकिन उसका कहना है कि वास्तविकता यही है। प्रकृति हमें स्वयं निर्दयी होना सिखाती है। स्पेन्सर का तो यहाँ तक कहना था कि सरकार को डाकघर, बैंक, करेन्सी आदि की व्यवस्था करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।[1] यदि जनता इनकी आवश्यकता महसूस करेगी तो ये चीजें व्यक्तिगत उद्योगों से स्वयं खुल जायँगी और वे सरकार से अधिक समाज की सेवा कर सकेंगी।

स्पष्ट है कि जिस समय स्पेन्सर ने ये विचार प्रकट किये थे—उस समय उसने यह नहीं सोचा कि वह किस विचारधारा को किस युग के लिए प्रकट कर रहा है। उसने अपने उक्त मतों में क्रान्तिकारी सुधारवादियों के दर्शन को अभिव्यक्त किया था[2] लेकिन वह यह भूल गया कि इन विचारों का जमाना लद चुका है। उसने विधानमण्डलों के सदस्यों पर तो यह आरोप लगाया कि वे अदूरदर्शी होते हैं लेकिन वह स्वयं भविष्य को न देख सका और अनुमान न लगा सका कि अब पुलिस-राज्यों का नहीं, कल्याण-राज्यों का जमाना आ रहा है। इस प्रकार स्पेन्सर के दर्शन में हमें प्रतिक्रियावादिता की दुर्गन्ध आती है।

१६. आदर्श समाज

स्पेन्सर ने आदर्श समाज की कल्पना भी की है। उसकी दृष्टि से वह समाज आदर्श समाज होगा जिसमें व्यक्ति पर किसी भी प्रकार के बाह्य नियंत्रण की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और मनुष्य की नैतिकता ऐसी पूर्ण अवस्था को पहुँच जायगी कि वह अपने सारे कर्तव्यों का पालन बिना किसी के निर्देशों के ही करने लगेगा। ऐसे समाज को राज्य की जरूरत नहीं रहेगी। वह अराजक समाज होगा। इस समाज का नाम स्पेन्सर ने "औद्योगिक समाज" (Industrial Society) रखा है। उसका कहना है कि आजकल का समाज एक ऐसा समाज है जैसा कि कोई भी समाज किसी सैनिक सत्ता के नीचे हो सकता है। इस समाज में चारों तरफ अन्याय और दमन का ही बोलबाला है।

---

1 "Indeed, in *Social Statics* he proposed that the state should turn over the mint and the post offices to private enterprises." G. H. Sabine in *His. of Pol. Theories*, p. 606

2 "Spencer's political philosophy on the other hand was merely reactionary. He remained a philosophical radical after philosophical radicalism had been obsolete for a generation." *Ibid.*

१७. प्राकृतिक विधियाँ और अधिकार

उपयोगितावादी विचारकों ने प्राकृतिक विधियों और अधिकारों का अस्तित्व अस्वीकृत करके जो परम्परा स्थापित की थी––हर्बर्ट स्पेन्सर ने उस परम्परा को थोड़ा-सा और आगे खिसका दिया।

हर्बर्ट स्पेन्सर का प्राकृतिक विधियों में विश्वास अवश्य है लेकिन वे विधियाँ ऐसी नहीं हैं जिन पर मध्य युग में विश्वास किया जाता था अथवा जिनका प्रतिपादन अनुबंधवादियों (Contractualists) ने किया था। हर्बर्ट स्पेन्सर स्वतंत्र प्रतियोगिता के सिद्धान्त को ही प्राकृतिक विधि मानता है। उसका कहना है कि बिना इस प्रतियोगिता के योग्य तथा अयोग्य का चयन नहीं हो सकता और जब तक योग्यतम व्यक्ति चुने हुए रूप में सामने नहीं आता तब तक समाज की भली भाँति प्रगति होना संभव नहीं है। इसलिए स्पेन्सर का कहना है कि स्वतंत्र प्रतियोगिता में––जो प्राकृतिक विधि है––राज्य को कोई बाधा नहीं डालनी चाहिए। युद्धों आदि पर भी प्रतिबंध लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है––क्योंकि युद्धों से व्यक्ति का चरित्र गठित होता है। वे परिश्रम करना सीखते हैं, कठिनाई सहने की उनकी आदत पड़ती है। कहा नहीं जा सकता कि अणु तथा उद्जन बमों पर भी वह प्रतिबंध लगाये जाने के आन्दोलन का समर्थन करता या नहीं? उसकी जो विचारधारा है उससे तो ऐसा लगता है कि संयुक्त राष्ट्र-संघ की अणुशस्त्रास्त्र प्रयोग प्रतिबंध समिति की बहसें सुन कर, कब्र में, उसकी आत्मा को बड़ी तकलीफ होती होगी।

व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों संबंधी स्पेन्सर के मत कुछ कम विचित्र नहीं हैं। वह जो सादृश्यात्मक दृष्टान्त देता है––वे भी अपनी जगह पर बड़े अजीबोगरीब हैं। स्पेन्सर दुनिया की हर चीज पर विकास का सिद्धान्त लागू करता है, हर चीज को वह परिवर्तनशील बतलाता है। लेकिन यह कम जिज्ञासा की बात नहीं है कि उसके प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना ऐसी है जिस पर परिवर्तन का शाश्वत नियम भी लागू नहीं होता। इस संबंध में उसकी कल्पना उसके विचारों की परिवर्तनीयता ही प्रकट करती है।

वह अपनी बात अधिकारों के विकास की चर्चा छेड़ कर आरंभ करता है। वह कहता है कि जिस प्रकार अन्य वस्तुएँ विकसित होती हैं उसी प्रकार अधिकारों का भी विकास होता है। समाज का और अधिकारों का विकास एक साथ चलता है। स्पेन्सर यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है और प्रत्येक व्यक्ति का यह भी कर्तव्य है कि वह दूसरे को भी जीने दे। लेकिन यह अधिकार ऐसा है जो केवल "औद्योगिक समाज" में ही व्यक्तियों को दिया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पेन्सर ने वर्तमान समाज के लिए प्राकृतिक अधिकारों की कोई व्यवस्था नहीं दी है––बल्कि भावी समाज के प्राकृतिक अधिकार स्थिर किये हैं। स्पेन्सर जीवन, सम्पत्ति और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अधिकारों को लॉक की भाँति अतीत के आधार पर व्यक्ति को नहीं देता बल्कि वह उन्हें भावी समाज में उन अधिकारों का उपयोग करने के लिए देता है। यहाँ स्पेन्सर यह भूल जाता है कि आज से हजार वर्ष बाद समाज कैसा होगा––उसकी अभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। हम केवल यही कह सकते हैं कि विकास का नियम शाश्वत है––इसलिए परिवर्तन बराबर होते रहेंगे। जब हम यह मान लेते हैं कि परिवर्तन बराबर होते रहेंगे तो यह कैसे हो सकता है कि "औद्योगिक समाज" यदि एक बार बन भी गया तो वह वैसा ही हमेशा रहेगा और इस वजह से प्राकृतिक अधिकार भी वैसे ही रहेंगे? इसलिए हम आज के अधिकारों को भावी अधिकारों के आधार पर कैसे तय कर सकते हैं। लेकिन स्पेन्सर स्वयं कहता है कि भावी समाज के अधिकारों को भावी अधिकारों की कल्पना के आधार पर ही तय करना चाहिए।

स्पेन्सर की सारी बौद्धिक अस्तव्यस्तता का कारण उसका दो विरोधी दिशाओं में जाने-

वाले मार्गों पर एक साथ चलने का प्रयत्न है। वह अधिकारों के संबंध में पहले से ही एक निश्चित धारणा बना लेता है जिसका परिणाम यह होता है कि वह उसे परिवर्तनवाद के अनुकूल नहीं बना पाता और बार्कर के शब्दों में "उसका सम्पूर्ण दर्शन प्राकृतिक अधिकारों और शारीरिक रचना संबंधी रूपकों का एक बेमेल मिश्रण-सा होकर रह जाता है।"[1]

१८. ऑगस्टे कॉमटे (Auguste Comte)

१८.१ **परिचय**—ऑगस्टे कॉमटे फ्रांसीसी दार्शनिक था। कॉमटे का जन्म सन् १७९८ में हुआ था और मृत्यु सन् १८५७ में। जीवन-काल की दृष्टि से इसका नाम हर्बर्ट स्पेन्सर के पहले आता है लेकिन महत्व की दृष्टि से कॉमटे स्पेन्सर से पीछे रह जाता है—इसीलिये कॉमटे के विचारों पर हम स्पेन्सर के बाद विचार कर रहे हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति और नैपोलयन के पतन के बाद फ्रांस में राजदर्शन का जो ह्रास हो गया था—कॉमटे ने फ्रेंच राजदर्शन को उससे ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। कॉमटे के समय में राजदर्शन की दो विचारधाराएँ थीं। पहली प्राकृतिक अधिकार तथा अनुबंधवादियों की—जिसके आधार पर फ्रांस की राजक्रान्ति हुई—और दूसरी उन पादरियों और धार्मिक विचारकों की जो सुधारवादी प्रवृत्तियों का विरोध कर एक प्रतिक्रियावादी शिविर बना रहे थे। कॉमटे ने इन दोनों विचारधाराओं को अमान्य कर एक नये मार्ग का अनुसरण किया और वह था वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का यत्न। अपना वह कार्य करने में कॉमटे ने व्यक्तिमूलक ऐतिहासिक पद्धति का अनुगमन किया। कॉमटे ने दो पुस्तकें भी लिखीं। एक का नाम था 'कोर्स ऑफ दि पॉजिटिव फिलॉसफी' (Course of the Positive Philosophy) और दूसरी का नाम था 'सिस्टम ऑफ पॉजिटिव पॉलिटिक्स' (Syetem of Positive Politles)। इन दोनों पुस्तकों के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कॉमटे पर माण्टेस्क्यू, कॉण्डरसेट तथा सेण्ट साइमन का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था। इसके अलावा उसने अँग्रेज दार्शनिकों में हॉब्स का भी अध्ययन किया था।

१८.२ **समाजशास्त्र का जन्मदाता**—कॉमटे को समाजशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। समाजशास्त्र को 'सोशियोलॉजी' (Sociology) नाम भी उसी ने दिया था। समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र भी कॉमटे ने ही निर्धारित किया था। इस शास्त्र में हम अचेतन (Inorganic) और चेतन (Organic) जगत् का अध्ययन करते हैं। कॉमटे का कहना था कि जीवशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों एक ही विषय की दो शाखाएँ हैं। लेकिन इस संबंध में बार्कर का स्पष्टीकरण अधिक प्रासादयुक्त है, वह जल्दी समझ में आता है। बार्कर ने लिखा है; "मोटे तौर पर समाजशास्त्र, जीव-विज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान के संश्लिष्ट रूप का प्रतिनिधित्व करता है—हालाँकि इसमें मानवविज्ञान, न्यायशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदि का भी अध्ययन किया जाता है।"[2] इसमें एक प्रकार से सारे सामाजिक

---

1 "The fundamental confusion which he never surmounts is due to the fact that the *a priori* conception of individual rights with which he starts, do not and cannot accord with the organic and evolutionary conception of the state which he attains through the natural science. His Philosophy begins and ends as an incongruous mixture of nature rights and physiological metaphor." E. Baurker in *Pol. Th. from* 1848 1914, p. 71.

2 "Sociology roughly speaking attempts a synthesis of biology and social psychology, though it also runs into other studies like

ज्ञान विज्ञान का अध्ययन समाविष्ट हो जाता है। बार्कर ने आगे यह भी लिखा है कि, "कॉमटे समाजशास्त्र को मानवीय क्रियाओं का एकमात्र विज्ञान मानता था।"[१]

१८.३ इतिहास का दर्शन—कॉण्डरसेट ने मानव-जाति की प्रगति के संबंध में जो विचार प्रकट किये थे उनके आधार पर कॉमटे ने सम्पूर्ण इतिहासों का अध्ययन कर उनका विश्लेषण किया था। इस विश्लेषण के अनुसार उसने मानवजाति की प्रगति को तीन भागों में विभक्त किया था।

मानवजाति की प्रारंभिक अवस्था में धार्मिक विश्वासों और सैनिक बल का बोल-बाला था। उन दिनों सामाजिक संबंधों का नियंत्रण बल द्वारा ही होता था। भूमि-विस्तार तथा सैनिक-विजय प्राप्त करना जीवन का उच्चतम लक्ष्य समझा जाता था। आर्थिक व्यवस्था दासता पर निर्भर थी। खेतों में अन्न आदि दासों से ही पैदा करवाया जाता था। उद्योगों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। बढ़ई, लुहारों आदि के छोटे-मोटे उद्योग थे जो केवल सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते थे। राजनीतिक क्षेत्र में दैवी सिद्धान्त और आनुवंशिक राजतंत्र का दौरदौरा था।

माध्यमिक अवस्था को हम मानवजाति के आध्यात्मिक जगत् और वैधानिक कल्पनाओं की संक्रान्ति का युग कह सकते हैं। दासों पर निर्भर रहनेवाली अर्थ-व्यवस्था के अंजर-पंजर ढीले हो गये थे। उद्योग-धंधों का तेजी से विकास हो रहा था। सैनिक बल का अब भी प्रयोग होता था लेकिन उस पर से लोगों की रुचि क्रमशः उठती जा रही थी। मानव क्रमशः अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ रहा था।

अंतिम अवस्था वैज्ञानिक तथा औद्योगिक युग का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें लोगों का ध्यान राजनीतिक समस्याओं से क्रमशः हट रहा है और सामाजिक उलझनों को दूर करने की तरफ अधिक आकृष्ट हो रहा है। इस युग में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न अधिक हो रहा है। इस युग की समस्याओं का हल समाजशास्त्र द्वारा ही खोजा जा सकता है।

१८.४ समाज, शासन और राज्य—समाज की उत्पत्ति मनुष्य के सामाजिक स्वभाव के कारण हुई। उपयोगितावादियों के शब्दों में मनुष्य समाज में इसलिए आया क्योंकि इसमें उसके हितों की पूर्ति आसानी से हो जाती थी। कॉमटे की समाज संबंधी कल्पना अनिवार्यतः सावयविक है। वह यह मानता है कि यदि मनुष्य समाज में न आता तो नष्ट हो जाता। वह भय के बल से ही समाज में आया क्योंकि "प्रत्येक मानव-समाज का मूल आधार बल ही है।"[२] कॉमटे सामाजिक अवस्था की अनिवार्य इकाई परिवार को मानता है। बोदाँ भी परिवार को ही समाज की इकाई मानता था। परिवारों से समाज बना और ऐसे समाज के आधार पर ही शासन और राज्य का निर्माण हुआ। राज्य और फिर शासन की आवश्यकता मनुष्य को दो कारणों से हुई : (क) सभी व्यक्तियों को उचित काम बाँटे जा सकें और (ख) सभी व्यक्तियों के कार्यों के उचित रूप से ग्रंथित करके उनका समन्वय

Anthropology and even Jurisprudence and Economics......it seeks to incorporate in its empire the whole continent of social sciences." E. Barker, *Pol. Theo. from* 1848 *to* 1914, p. 136.

1 "Comte had regarded sociology as the one and only one science of human action." *Ibid.* 137.

2 "Force is the basis of every human society." W. A. Dunning *Pol. Theories* Vol. III, p. 392.

किया जा सके। ये दोनों काम बिना शासन और राज्य के नियंत्रण के संभव नहीं थे, हालाँकि कॉमटे नतिकता और बौद्धिकता द्वारा होनेवाले, नियंत्रण का अस्तित्व भी स्वीकार करता है। इतने पर भी कॉमटे का कहना है कि यह कार्य शासन के जरिए राज्य जितनी अच्छी तरह कर सकता है, अन्य कोई नहीं कर सकता। कॉमटे का कहना था कि सर्वोच्च शासन को खोजने का प्रयत्न करना निरर्थक है। उसने अपनी कल्पना के शासन का जो वर्णन किया है उसमें अधिनायकतंत्र और मानवीय स्वतंत्रता की माँगों के बीच समन्वय कराया गया है। उसका कहना था कि शासन के कार्यों में अध्यापकों, महिलाओं और मजदूरों को कोई आवाज नहीं रहनी चाहिए। शासनकार्य उद्योगों, कृषि और व्यापार के विशेषज्ञों की समिति के हाथ में होना चाहिए।

कॉमटे का हर्बर्ट स्पेन्सर आदि पर प्रभाव पड़ा था। राजदर्शन के इतिहास में उसका नाम समाजशास्त्र के जन्मदाता के रूप में सुरक्षित है।

आदर्शवादी विचारक (पूर्वार्द्ध)
(IDEALIST THINKERS)

१. आदर्शवाद क्या है--२. आदर्शवाद की उत्पत्ति और विकास--३. आदर्श राज्य के आधार--४. आदर्श राज्य की विशेषता--५. इमनुअल कॉण्ट--६. नैतिक इच्छा और स्वतंत्रता को (काण्टवादी) कल्पना--७. राज्य--८. शासन--९. संप्रभुता और विधियाँ--१०. आलोचना--११.स्थान और अनुदाय--१२. फिक्टे--१३. होगल-परिचय और पद्धति--१४. विवेक और यथार्थ संबंधी कल्पना--१५. राज्य--१६. राज्य की नैतिकता--१७. व्यक्ति के अधिकार--१८. संप्रभुता, विधियाँ और शासन--१९. आलोचना।

१. आदर्शवाद क्या है ?

आदर्शवाद (Idealism) राजनीतिशास्त्र का वह दर्शन या राज्य संबंती सिद्धान्त है जो किसी यथार्थ राज्य की विवेचना नहीं करता, अपितु कल्पना या विचार-जगत की वस्तु है। इसका संबंध राज्य के ऐसे स्वरूप का निर्धारण करने से है जो आदर्श हो। आदर्शवादी विचारक यथार्थ राज्य का निरूपण नहीं करते। इसीलिए इनको आदर्शवादी या कल्पनावादी विचारधारा का पोषक माना जाता है। ये विचारक यह भी बतलाते हैं कि राज्य और व्यक्ति के संबंध कैसे होने चाहिए और राज्य में व्यक्ति का आचरण किस प्रकार का होना चाहिए। इसीलिए आदर्शवादी विचारधारा को आचारवादी (Ethical) भी कहा जाता है। क्योंकि आदर्शवादी विचारक राज्य को सर्वाधिक महत्व देते हैं, उसके दर्शन का अत्यधिक विवेचना करते हैं और उसे भौतिकता से परे बतलाते हैं, इसलिए आदर्शवाद को राज्य का निरकुशतावादी (Absolutist), दर्शनवादी (Philosophical), आध्यात्मवादी (metaphysical) या रहस्यवादी (mystic) सिद्धान्त भी कहा जाता है। लेकिन ये केवल आदर्शवाद के पर्याय हैं। इनका विभिन्न स्थलों पर विभिन्न विचारकों न एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। कल्पनावाद 'आइडीयलिज्म' शब्द का अनुवाद है और अंग्रेजी शब्द 'आइडोयलिज्म' 'आइडियल' (Ideal) या आदर्श से नहीं बल्कि 'आइडिया' (Idea) या विचार से बना है। फिर भी इसका अनुवाद 'आदर्शवाद' अधिक प्रचलित है।

२. आदर्शवाद की उत्पत्ति और विकास

आदर्शवाद का आधार तो हमें प्लेटो और अरस्तू के यूनानी साहित्य में मिलता है। हमें स्मरण है कि प्लेटो ने ही सबसे पहले कल्पना जगत् में अपने आदर्श राज्य का निर्माण किया था। लेकिन यूनान के राजनीतिक पतन के पश्चात् इतिहास के प्रवाह में प्लेटो का आदर्शवाद व्यावहारिक जगत् में खो गया। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में आकर इसका पुनर्जन्म हुआ। आदर्शवाद को आधुनिक युग में जन्म देनेवालों में सबसे पहले जर्मन विचारकों का नाम आता है। इनमें काण्ट और हीगल प्रमुख हैं। इनके बाद उन्नीसवीं शताब्दी में ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके आदि अंग्रेज विद्वानों ने आदर्शवादी विचारधारा का निरूपण किया। अतः हीगल को एक प्रकार से आदर्शवादी विचारकों का नेता माना

जाता है। हीगल को यह स्थान क्यों मिला? इसके लिए हमें तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालनी होगी। इंगलैण्ड में तथा इंगलैण्ड के जरिए सारे यूरोप तथा अमेरिका में व्यक्तिवादी दर्शन का प्रचार हो रहा था। लॉक, ह्यूम तथा इनके अनुयायी विचारक भौतिकवाद का अत्यधिक प्रचार कर रहे थे। इनके प्राकृतिक अधिकार-वाद का ही यह प्रभाव था कि बहुत से फ्रेंच विचारक फ्रांसीसी राजक्रान्ति कराने में सफल हो गये। अमेरिकन क्रान्ति को पृष्ठभूमि में भी बहुत कुछ इसी दर्शन का हाथ था। प्राकृतिक अधिकारवादी भौतिक राजदर्शन की प्रतिक्रिया सबसे पहले जर्मनी में हुई। हीगल इसी प्रतिक्रिया का वातावरण पैदा हो सका। हीगल तथा उसके अनुयायियों ने मानव इतिहास के दर्शन का निरूपण किया और मानव मस्तिष्क का अध्ययन करके बतलाया कि सारे मानवीय संवास मनुष्य की कल्पना और विवेक के ही प्रकट रूप हैं। इसी प्रकार आदर्शवादियों ने राज्य को मानवीय संवास बतलाया और कहा कि वह मनुष्य के विवेक का भौतिक पर है। लेकिन राज्य का यह भौतिक स्वरूप, आदर्शवादियों के मतानुसार, त्रुटिपूर्ण है। प्लेटो की भाँति वे भी यह मानते हैं कि राज्य का आदर्श रूप कल्पना जगत् में ही निर्मित हो सकता है। आदर्श राज्य की यथार्थता उसकी भौतिकता नहीं है अपितु विवेक-सम्मत पूर्णता है। तो फिर इस काल्पनिक राज्य का आधार क्या है? इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए हमें एक बार पुनः यूनानी इतिहास का सहारा लेना पड़ेगा।

३. आदर्श राज्य के आधार

आदर्श राज्य के आधार रूप में जो मान्यता कार्य करती है वह इस प्रकार है कि राज्य का अस्तित्व हमारे जीवन को उन्नत और विकासशील बनाये रखने के लिए है। अरस्तू ने भी यही बात कही थी। चूँकि राज्य का कार्य नागरिक के जीवन को अच्छा बनाना है—इसलिए वह नागरिक के आचरण को नियंत्रित करने का अधिकारी है और क्योंकि राज्य मनुष्य के आचरण को नियंत्रित करता है, इसलिए वह नैतिकता की स्थापना का साधन है। यहाँ से यूनानी विचारक थोड़ा-सा अपना दृष्टिकोण बदल देते हैं और वे राज्य को नागरिक की नैतिकता का साधन मानने के साथ ही उसे नैतिकता की इकाई मानने लगते हैं। व्यक्ति को वे इसी इकाई का हिस्सा मानते हैं। इसी आधार पर आधुनिक आदर्शवादियों ने समाज और व्यक्ति के संबंधों को राज्य में संश्लिष्ट (synthesize) करने का यत्न किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आदर्शवादियों के काल्पनिक राज्य के दो आधार हैं: (अ) सबसे पहला तो यह कि मनुष्य राजनीतिक (सामाजिक) जीव है। यह यूनानी सिद्धान्त था जो अब सार्वभौमिक हो गया है। इस सिद्धान्त का अर्थ है कि राज्य और समाज में व्यक्ति का निश्चित स्थान है। व्यक्ति इसके बिना जीवित नहीं रह सकता और न उन्नतिशील जीवन ही व्यतीत कर सकता है। राज्य कोई ऐसा बाह्य या कृत्रिम संवास नहीं है जो व्यक्ति पर लाद दिया गया हो—बल्कि उसकी जड़ व्यक्ति की प्रकृति और स्वभाव में है और इस दृष्टि से राज्य मनुष्य की आन्तरिक (Internal) इच्छा का ही बाह्य (External) रूप है; (आ) इसी सिद्धान्त के आधार पर हम दूसरे आधार का भी अन्वेषण करें तो पता चलेगा कि राज्य में ही नैतिक रूप से जीवनयापन करना संभव है। इसलिए हम यह मान लेते हैं कि ऐतिहासिक या कालक्रम की दृष्टि से असंभव होते हुए भी तर्क की दृष्टि से राज्य का जन्म व्यक्ति के पूर्व हुआ था।

४. आदर्श राज्य की विशेषता

आदर्श राज्य की विशेषताओं पर विचार करते समय हमारे सामने तीन प्रकार के

सवाल उठते हैं। इन प्रश्नों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं; वाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक दृष्टि से दो प्रश्न किये जा सकते हैं। पहला यह कि आदर्श राज्य में राथ्य तथा व्यक्ति के पारस्परिक संबंध क्या रहते हैं? दूसरा यह कि समाज और राज्य का परस्पर संबंध क्या है? वाह्य दृष्टि से तीसरा और एक मात्र प्रश्न यह पैदा होता है कि ऐसे राज्य का दूसरे राज्यों से क्या और कैसे संबंध रहेगा? ये प्रश्न, सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो आदर्श राज्य के ही संबंध में नहीं बल्कि किसी भी राज्य के संबंध में उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए इनके उत्तर भी इसी दृष्टि से देखे जा सकते हैं।

पहले प्रश्न के उत्तर में तो यह कहा जा सकता है कि राज्य और नागरिक अथवा व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों का निर्धारण अधिकारों और कर्तव्यों (Rights and Duties) के जरिए होता है। राज्य व्यक्ति को कुछ निश्चित अधिकार देता है। इन अधिकारों के दिये जाने का अर्थ यह है कि व्यक्ति का राज्य में कुछ कार्यों के करने की स्वतंत्रता है। इस स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि व्यक्ति का न कार्यों के करने की छूट है जिनकी चर्चा अधिकारों के अन्तर्गत की गयी है। इस प्रकार की मुक्ति का रूसो ने राज्य में व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता की संज्ञा दी थी। नैतिक स्वतंत्रता (Moral Freedom) का यह दर्शन उसी ने तैयार किया था। उसने नैतिक स्वतंत्रता को सकारात्मक भी बतलाया था। सकारात्मक (Positive) से उसका आशय यह था कि इस स्वतंत्रता में केवल प्रतिबंध ही नहीं हटा लिये जाते बल्कि व्यक्ति का कुछ कार्य करने के लिए भी उत्साहित किया जाता है। इसलिए रूसो की नैतिक स्वतंत्रता सकारात्मक या रचनात्मक भी थी। नैतिक स्वतंत्रता द्वारा व्यक्ति को कुछ ऐसे अधिकार मिलते हैं जिनके द्वारा मनुष्य सामान्य इच्छा (General Will) द्वारा अनुमादित जर्मन दार्शनिक काण्ट ने ग्रहण कर लिया। अतः हम देखेंगे कि काण्ट ने इसमें किस प्रकार परिवर्तन किये और इसे आदर्शवादो विचारधारा के अनुकूल बनाया।

५. इमैनुअल काण्ट (Immanuel Kant)

इसके पूर्व कि हम काण्ट के नैतिक स्वातंत्र्य के दर्शन पर विचार करें यह उचित ही होगा कि हम उसके जीवन तथा कृतियों संबंधी जानकारी प्राप्त कर लें तथा यह भी देख लें कि उसके पूर्ववर्तियों का उस पर क्या और कितना प्रभाव पड़ा था?

५.१ जीवन परिचय और ग्रंथ—काण्ट का जन्म सन् १७२४ में हुआ था। प्रारंभ से ही उसकी दर्शन में बड़ी रुचि थी। अपनी प्रतिभा के बल पर वह बढ़ते-बढ़ते कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन का प्राध्यापक हो गया था। समय की नियमितता के लिए वह विख्यात था। क्रियात्मक राजनीति में उसने कोई भाग नहीं लिया—यद्यपि जनवादी भावनाओं से उसे सहानुभूति थी और वह सामन्तवाद से चिढ़ता था। उसके अनुसार जर्मनी की प्रगति ही सामन्तवाद के कारण अवरुद्ध थी। सन् १८०४ में उसकी मृत्यु हो गई।

काण्ट के राजनीतिक अधिकारों के सिद्धान्त और राजनीतिक व्यवस्था के प्राकृतिक सिद्धान्त संबंधी लेख बहुत प्रसिद्ध हैं और वे पुस्तकाकार छप भी चुके हैं। इन निबंधों के अतिरिक्त उसने ये पुस्तकें भी लिखी हैं:

(१) 'फर्स्ट' मेटाफिजिकल प्रिंसिपिल्स ऑव दि थ्योरी ऑफ लॉ' (First metaphysical Principles of the Theory of Law), जो सन् १७९६ में प्रकाशित हुई।

(२) 'परपेचुअल पीस' (Perpetual Peace) पहली पुस्तक से एक वर्ष पूर्व सन् १७९५ में छपी थी।

(३) इन दो के साथ 'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' (Critique of Pure Reason) भी प्रकाशित हुई है। ये पुस्तकें मूलतः जर्मन में थीं लेकिन अँग्रेजी में इनके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।[1]

५·२ **काण्ट पर पूर्ववर्ती विचारकों का असर**—राज्य संबंधी कल्पना को स्थिर करने में काण्ट ने सबसे अधिक सहायता रूसो से ली। शासनतंत्र का विश्लेषण करने में उस पर मॉण्टेस्क्यू का प्रभाव भी पड़ा है। फ्रांस की राजक्रान्ति का भी काण्ट ने विशेष रूप से अध्ययन किया था। इसलिए काण्ट पर मुख्यतः इंगलैण्ड की तुलना में फ्रांसीसी विचारकों का प्रभाव अधिक पड़ा है। काण्ट ने प्लेटो तथा अरस्तू के अलावा शेष यूनानी दार्शनिकों का भी अध्ययन किया था। लेकिन यूनान की अपेक्षा रोमन विचारों और इतिहास का काण्ट पर अधिक प्रभाव पड़ा।

६· नैतिक इच्छा और स्वतंत्रता की कल्पना

काण्ट के विचारों में उसकी नैतिक इच्छा और स्वतंत्रता (Moral Will and Freedm) संबंधी कल्पना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसकी नैतिक इच्छा संबंधी कल्पना०से ही यह पता चल जाता है कि वह राजनीति की समस्याओं और विशेषतः राजदर्शन की समस्याओं को किस दृष्टिकोण से देखता था। काण्ट यह अनुभव करता था कि यदि म ष्य को अपनी नैतिक इच्छा के अनुसार काम करने की मुक्ति दे दी जाय तो वह वस्तुतः स्नुतंत्र हो जायगा। काण्ट ने इस संबंध में रूसो से सबसे अधिक सहायता ली। रूसो मानव सवयता की भौतिकवादी प्रगति को उसकी उन्नति नहीं बल्कि अवनति मानता था। उसका कहना था कि मनुष्य का महत्व इसलिए नहीं है कि वह भौतिकवादी दृष्टि से भी सोचता है, बल्कि मनुष्य के महत्व का कारण उसकी नैतिक प्रकृति है। सम्पत्ति को, जो भौतिकता का मूर्तरूप है, रूसो ने 'सर्प' (Serpent) की संज्ञा दी थी। मनुष्य की नैतिक प्रकृति का दर्शन काण्ट ने रूसो से ही लिया और फिर आगे हीगल ने भी यही सिद्धान्त अपनाया।

काण्ड ने मानवीय इच्छाओं (Human Will) को दो भागों में बाँटा था। मनुष्य में एक प्रकार की तो ऐसी इच्छाएँ होती हैं जिन्हें हम वासनात्मक इच्छाएँ कह सकते हैं और जो अनैतिक होती हैं। ये इच्छाएँ मनुष्य की यथार्थ इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। दूसरी वे इच्छाएँ होती हैं जो विवेक-प्रेरित होती हैं और जिनका आधार नैतिकता होती है। यह इच्छाएँ ही मनुष्य की यथार्थ इच्छा (Real Will) का प्रतिनिधित्व करती हैं स्वतंत्रता (Freedom) नैतिक या यथार्थ इच्छा का गुण है। इसको अर्थात् व्यक्ति की नैतिक इच्छा को रूसो ने 'भली इच्छा' (Good Will) की संज्ञा भी दी है। "भली" का प्रयोग आचारक (Ethical) अर्थों में किया गया है। काण्ट का कहना है कि "भली इच्छा" (Good Will) की तुलना में अन्य किसी भलाई का इतना अधिक शुद्ध रूप नहीं हो सकता। इसलिए नैतिक स्वतंत्रता इसी बात में निहित है कि लोग अपनी "भली इच्छा" की आज्ञाओं के अनुसार ही कार्य करें।

काण्ट का मत था कि "भली इच्छा" के आदेशों को बिना परिणामों की परवाह किये माना जाना चाहिए। इन आदेशों को उसने "निरपवाद कर्तव्यादेशों (Categorical Imperatives) की संज्ञा दी थी। ये आदेश सबके लिए बिना किसी भेदभाव के सार्वभौमिक होते हैं। उदाहरण के लिए "भली इच्छा" एक आज्ञा देती है—"चोरी मत करो" या "झूठ मत बोलो।" यह आदेश केवल किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं है। सबके लिए है।

---

१ काण्ट की पुस्तकों का अनुवाद डब्लू० हेस्टी ने किया है।

यदि सारी दुनिया इसके अनुसार आचरण करे तो सबका लाभ ही होगा—हानि कुछ भी नहीं। इसके विरुद्ध अभ्युपगत आदेश (Hypothetical Imperatives) प्रथम प्रकार की आज्ञाओं के ठीक विरुद्ध होते हैं। इन पर अधिक से अधिक कुछ व्यक्ति आचरण कर सकते हैं? सार्वभौमिक रूप से इनका पालन कभी नहीं हो सकता। यदि कोई इन आदेशों के अनुकूल कार्य करेगा तो उसको निश्चित रूप से हानि होगा। उदाहरण के लिए "चोरी करो" या "झूठ बोलो"—इनमें से किसी एक या दोनों पर न तो दुनिया के सारे लोग चल सकते हैं और इसे न मान हो सकते हैं। यदि इस इच्छा का कोई पालन भी करता है तो उसे एक न एक दिन जल में अवश्य जाना होगा। ऐसी अवस्था में अभ्युगत आदेश (Hypothetical Imperatives) हमेशा सीमित होते हैं। उनका बहुत अधिक प्रयोग किया जाना असंभव है। यदि कोई इनके अनुसार आचरण करता है तो उसे निश्चित रूप से हानि होगी।

काण्ट ने कहा कि नैतिक स्वतंत्रता में वे सारे काम आ जाते हैं जो "केवल उन सूक्तियों (Maxims) के अनुकूल होते हैं जिन्हें व्यक्ति स्वयं तो मानता ही है—साथ ही यह भी इच्छा करता है कि वे (सूक्तियाँ) सार्वभौमिक विधियाँ बन जायें।" काण्ट के मतानुसार बुराइयाँ, भलाइयों के आसरे पर ही जीवित रहती हैं। इसको स्पष्ट करते हुए काण्ट ने कहा है कि यदि संसार के सब लोग झूठ बोलने लगें और सचाई का नाम-निशान भी न रहे तो फिर कोई किसी का विश्वास ही नहीं करेगा और झूठ बोलने से जो लाभ होता है वह किसी को न होगा। ऐसी दशा में झूठ बोलने की कोई उपयोगिता न रह जायगी और वह स्वयं ही समाप्त हो जायगा। झूठ तभी तक बोला जाता है जब तक झूठ बोलनेवाला यह समझता रहे कि वह जो कुछ कह रहा है वह सच माना जा रहा है। इसीलिए, बुराइयों को काण्ट ने पराश्रित (Parasitic) कहा है। ये बुराइयाँ एक स्थल पर जाकर आहितकारी भी हो जाती हैं। इसलिए मनुष्य का हित इसी में है कि वह इनकी आज्ञाओं का पालन न करे। इसी अवस्था में व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है। "भली इच्छा" के सर्वोपरि आदेशों के पालन द्वारा ही हम अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। काण्ट ने अधिकारों को भी इसी नैतिक स्वतंत्रता से संबद्ध कर दिया था और बतलाया था कि मनुष्य की नैतिक स्वतंत्रता (१) आन्तरिक (Subjactive), (२) सीमित, (व्यक्ति तक) (Limited) और (३) नकारात्मक (egative) होती है। आन्तरिक इसलिए कि उसका स्रोत मानवमस्तिष्क होता है, सीमित इसलिए कि वह केवल व्यक्ति की ही स्वतंत्रता होती है और नकारात्मक इसलिए कि वह व्यक्ति को बुरे कामों के करने से रोकती है।

७ राज्य (State)

इस प्रकार काण्ट की मनुष्य की नैतिक-स्वतंत्रता संबंधी कल्पना को समझ लेने के बाद अब हम उसके राज्य संबंधी विचारों पर दृष्टिपात कर सकते हैं। काण्ट का कहना था कि मनुष्य स्वभावतः समान होता है। यह ठीक है; लेकिन उसमें कुछ त्रुटियाँ भी होती हैं। वे त्रुटियाँ यह हैं कि मनुष्य सांसारिक मोह, माया, ममता और यशलिप्सा आदि के फेर में पड़ जाता है। यदि वह समान ही बना रहता तो कभी कोई संघर्ष ही उत्पन्न न होता लेकिन मनुष्य के उक्त दोषों ने उसे अशान्त बना इस प्रकार देखते हैं कि मनुष्य में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों होती हैं। काण्ट का कहना था कि राज्य इन दोनों के बीच समाज में समन्वय स्थापित करता है।

राज्य की उत्पत्ति अनुबंध द्वारा मानते हुए काण्ट कहता है कि इसके द्वारा ही मनुष्य (व्यक्ति) अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को (वे अधिकार जो उसे नैतिक स्वतंत्रता द्वारा मिलते हैं।) राज्य को समर्पित कर देता है। उसके इस अधिकार-समर्पण के बदले सम्पूर्ण समाज व्यक्ति को आश्वस्त करता है कि उसको "भली इच्छा" द्वारा दी जानेवाली आज्ञाओं के

पालन की छूट रहेगी। अर्थात् व्यक्ति अनुबंध द्वारा जिस बाह्य स्वतंत्रता को समर्पित करता है—वह उसे समाज के सदस्य के रूप में लगभग तत्काल ही वापस मिल जाती हैं।[1] इसके साथ ही व्यक्ति को समाज और राज्य द्वारा सुरक्षा का आश्वासन भी मिल जाता है। उनकी स्वतंत्रता का दायरा कुछ और बढ़ जाता है। लेकिन काण्ट ने अनुबंध वाली बात का विस्तार नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अनुबंध को केवल ऐसा साधन मानता था जिसके जरिए व्यक्ति अपेक्षाकृत नीची सामाजिक व्यवस्था से उच्चतर सामाजिक व्यवस्था में आ जाता है। सामाजिक अनुबंध की कल्पना को वह नहीं मानता था। वह इसे कोई महत्व भी नहीं देता। काण्ट तो यह अनुभव करता था कि राज्य में मनुष्य की नैतिक स्वतंत्रता (Moral Freedom) की इच्छा का समाज और राज्य की सामान्य इच्छा (General Will) के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

काण्ट अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के विरुद्ध था और उसका कहना था कि एक न एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब मनुष्य अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए युद्धों का परित्याग करने के लिए विवश हो जायगा। काण्ट का यह भी मत था कि राज्य पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी कोई न कोई नियंत्रण अवश्य होना चाहिए। वह आधुनिक युग का संभवतः पहला कल्पनावादी विचारक था जिसने विश्व-राज्य की कल्पना की। काण्ट का कहना था कि विश्वराज्य अवश्य होगा क्योंकि दैवी इच्छा यहीं है। काण्ट ने यह विचार यूरोप की अराजकता को दृष्टि में रखते हुए प्रकट किये थे।

८. शासन (Government)

मॉण्टेस्क्यू की भांति काण्ट ने भी शासन (Government) के कृत्यों को तीन भागों में विभक्त किया था अर्थात् (१) विधेयन कार्य (Legislative Functions) (२) कार्यपालिका (Executive) के कार्य और (३) न्यायपालिका (Judiciary) के कार्य। काण्ट का कहना था कि व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह बहुत ही जरूरी है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका के विभाग एक दूसरे से अलग और स्वतंत्र रहें।

---

1 By contract men, "surrender their external freedom in order to receive it immediately, back again as members of a commonwealth: hey abandon their wild lawless freedom in order to substitute a perfect freedom—a freedom undiminished, because it is the creation of their own free legislative will ; but a freedom which nevertheless assumes the form of a lawful dependence, becausc it takes its place in a realm of Right or Law." E. Barker. *Pol. Th. of Eng. from* 1844 to 1914, p. 18.

2 "Whether an actual contract of subjection to the ruler was as a fact the first step or whether force was the first step anb laws only came in a later state . . . . . these are for the people which already stand under the protection of civil law, quite empty subtleties and for the state ful of danger." C. E. Vaughan, *Studihs in History of Pol. Philos. before and after Rousseau.*

3 "........Remedy was a system of international right, founded upon public laws conjoined with power, to which every state must submit." R. G. Gettell, *His. of Pol. Th.* p. 316.

शासन के (१) राजतंत्रात्मक, (२) आभिजात्यतंत्रात्मक, और (३) प्रजातंत्रात्मक स्वरूपों को भी काण्ट ने माना है। काण्ट का कहना है कि जिस राज्य में न्यायपालिका और कार्यपालिका विभाग अलग-अलग होते हैं—उस राज्य का शासन गणतंत्रात्मक (Republican) होता है। शासन का स्वरूप चाहे जो हो—काण्ट का कहना था कि उसमें जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व अवश्य होना चाहिए। यह प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधित्व कोई भी कर सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि काण्ट को शासन के किसी विशेष स्वरूप से प्रेम न था। शासन चाहे जो हो—व्यक्ति को नैतिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। यही काण्ट का अभीष्ट था। शासन का सबसे बड़ा कर्तव्य इस स्वतंत्रता के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करना है। शासक को वह शासन का अधिकार देने के उपरान्त उक्त कर्तव्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी बंधन में नहीं बाँधता था। शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार भी वह किसी को नहीं देता।

संप्रभुता और विधियाँ (Sovereignty & Laws)

सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली जनता की इच्छा को काण्ट संप्रभुता की मान्यता देता था। लेकिन सामान्य इच्छा काल्पनिक होती है—इसलिए काण्ट का कहना था कि उसका कोई न कोई भौतिक स्वरूप अवश्य होना चाहिए। उसका कहना था कि सामान्य इच्छा एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों के समूह, या बहुत व्यक्तियों द्वारा प्रकट की जा सकती है।[1] सामान्य इच्छा स्थित संप्रभुता को वह किसी एक स्थान में नहीं मानता।

विधियों का स्रोत काण्ट जनता को मानता है। इस संबंध में उसका कहना था कि चूँकि जनता ही वस्तुतः संप्रभु होती है—इसीलिए वही सर्वोच्च विधायिका-शक्ति का भी प्रयोग कर सकती है। सामान्यतः व्यक्तियों का कोई एक संघटन समूह से अधिक मूल्य नहीं रखता लेकिन संविधान ही व्यक्ति समूह को राष्ट्र की संज्ञा देता है—जाति बनाता है। राज्य की सदस्यता प्रत्येक व्यक्ति को इसी संविधान द्वारा ही प्राप्त होती है। विधि का लक्ष्य क्या है ? इसके उत्तर में काण्ट का कहना है कि विधि का लक्ष्य राज्य के प्रत्येक सदस्य की स्वतंत्रता के बीच समन्वय स्थापित करना है।

१०. आलोचना

अन्त में काण्ट के विचारों पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डाल लेना भी आवश्यक है। सबसे पहले काण्ट की संप्रभुता की कल्पना को ही ले लीजिए। वह कहता था कि संप्रभुता जनता की सामान्य इच्छा द्वारा प्रकट होती है और सामान्य इच्छा में ही अवस्थित रहती है। यहाँ तक तो ठीक है लेकिन काण्ट का यह कहना कि वह कई स्थानों में एक हो सकती है—ठीक नहीं है। संप्रभुता की विभाज्यता पर आलोचकों को आपत्ति है।

दूसरे एक ओर तो काण्ट जनता की संप्रभुता पर बल देता है और दूसरी ओर ऐसे शासक के बने रहने को उचित बतलाता है जो किसी भी प्रकार की वैधानिक नियंत्रण से मुक्त हो। यह असंगति भी उसके विचारों से साफ प्रकट हो जाती है।

तीसरे, काण्ट अनुबंध की कल्पना को स्पष्ट करने में सर्वथा असफल रहता है। एक ओर तो वह कहता है कि जो शासन जनता की सहमति पर निर्भर है वह न्याय और व्यवस्था का समुचित प्रबंध नहीं कर सकता और दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि जो शासन जनता

1. "To give it objective, practical reality, it must be experessed in physical form, as one, or few or many persons." W.A. Dunning *Political Theories,* Volume III, p. 133.

को अनुमति बिना चलाया जाता है उसमें जनता की नैतिक स्वतंत्रता हमेशा खतरे में रहती है। नतीजा यह होता है कि पाठक असमंजस में पड़ जाता है और वह समझ नहीं पाता कि किस मार्ग का समर्थन करे।

चौथे, हालाँकि आदर्शवादी विचारधारा यूरोप में फैली व्यक्तिवादी दर्शन की प्रतिक्रिया थी फिर भी काण्ट को एक तो निगमात्मक जीवन (Corporate life) का अनुभव न होने के कारण तथा दूसरे नैतिक स्वतंत्रता पर बहुत अधिक जोर दिये जाने के कारण उसका दर्शन भी व्यक्तिवाद की तरफ ही झुक सा गया था।

११. स्थान और अनुदाय

आदर्शवादी जर्मन विद्वानों के प्रवर्तक के रूप में काण्ट का स्थान सदैव सुरक्षित रहेगा। कहा जाता है कि आदर्शवादी दर्शन के क्षेत्र में काण्ट का कोई विशेष अनुदाय नहीं है फिर भी उसने दो तीन कार्य ऐसे अवश्य किये जो काण्ट के ही अनुदाय माने जाते हैं। सबसे पहली बात तो काण्ट ने यह की कि उसने व्यक्तिवादी दर्शन द्वारा फैलाये गये अति-भौतिकवाद का विरोध किया और कहा कि मनुष्य की आत्मिक शक्ति उसकी भौतिक शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। उसने यह भी कहा कि अनुभूति सदैव सत्य ही नहीं होती। कभी-कभी गलत अनुभूतियाँ भी हो जाती हैं। सही और गलत अनुभूतियों को छाँटने का क्या साधन है? काण्ट का उत्तर था, "विशुद्धि विवेक" (Pure Reason)। विशुद्ध विवेक द्वारा ही हम सही और गलत अनुभूतियों को छाँट सकते हैं। इसलिए विवेक का स्थान अनुभूति से कहीं अधिक ऊँचा है। इसके अतिरिक्त काण्ट ने सार्वभौमिक नैतिक विधि और स्वतन्त्रता की कल्पना भी की। उसने बतलाया कि विधि ही स्वतन्त्रता की संरक्षक और प्रेरक शक्ति है। यह सच है कि काण्ट के विचारों में कई असंगतियाँ हैं, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, फिर भी उसने व्यक्तिवादी विचारधारा का सबसे पहले विरोध किया। काण्ट ने परस्पर विरोधी और संघर्षशील विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करने की भी कोशिश की। वास्तविकता यह है कि काण्ट ने राजदर्शन पर व्यावहारिक राजनीति की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान दिया। यही कारण है कि शासन या संविधान की अपेक्षा स्वतंत्रता, विधि और अधिकार संबंधी काण्ट के विचार अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं। जर्मनी ने काण्टवादी दर्शन को अपनाया क्योंकि वह समकालीन परिस्थितियों में लोगों के सबसे अधिक अनुकूल था—परिणामतः जर्मनी में उदारतावादी विचारों की उन्नति हुई, सामन्तवाद का अन्त हुआ और जनता की प्रतिनिधि संवासों की स्थापना करने की इच्छा भी बढ़ी। इसी के साथ जर्मनी में राष्ट्रीय एकता की भावना भी आयी। काण्ट के बाद फिक्टे और हीगल ने बचे हुए कार्य की पूर्ति की।

१२. फिक्टे (J. G. Fitchte)

फिक्टे का पूरा नाम जे० जी० फिक्टे था। यह भी जर्मन आदर्शवादी विद्वान था। इसका जन्म सन् १७६२ में और मृत्यु सन् १८१४ में हुई। फिक्टे काण्ट और हीगल के

1. "It was the Hegelian conception of the state which was dosigned to turn the edge of the principle of freedom by identifying freedom with law; of equality, by substituting the conception of discipline of personality itself by mergingthe individual in the state of humanity by erecting the state as the supreme and final form of human associa tions." L. T. Hobhouse in *The Metaphysical Theory of State*, p. 23.

बीच की कड़ी समझा जाता है। इसकी रचनाओं में चार पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। इनमें से दो का अंग्रेजी में ए० ई० क्रोजर्स ने अनुवाद किया है। इन पुस्तकों में 'एक्लोज्ड कमर्शियल स्टेट' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। फिक्टे राजदर्शन के क्षेत्र में रूसो, मार्टिन लूथर आदि से प्रभावित हुआ था और काण्ट का शिष्य था। सन् १७९४ से लेकर अपनी मृत्यु तक वह जेना तथा बर्लिन विश्वविद्यालयों में दर्शन का अध्यापक रहा। उसकी रचनाओं के अध्ययन से उसकी विचारधाराओं का ज्ञान हो जाता है। इस दृष्टि से फिक्टे के जीवन को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। पहले भाग में तो उसने विश्व-बंधुता, जनवादिता और व्यक्तिवादिता अपनायी, लेकिन क्रमशः उसके विचार बदल गये और वह व्यक्तिवाद का विरोध करने लगा और अधिनायकतंत्र का समर्थन। उसने राष्ट्रवाद का भी प्रतिपादन किया।

उसने आध्यात्मवाद के प्रभाव के अन्तर्गत मनोविज्ञान के सहारे यह सिद्धान्त स्थिर किया कि मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी मानसिक शक्तियों द्वारा विकसित होता है। भौतिक जगत् की वस्तुओं का व्यक्तित्व के विकास से कोई मतलब नहीं है। इस संबंध में फिक्टे ने फ्रेंच विचारकों की आलोचना भी की थी।

फिक्टे ने सम्पूर्ण इतिहास का विश्लेषण किया था और इस संबंध में अपना दर्शन बिलकुल स्वतंत्र रूप से बनाया था।

फिक्टे की आदर्श राज्य संबंधी कल्पना उसके अपने ऐतिहासिक विश्लेषण और दर्शन पर आधारित है। अपने आदर्श राज्य के संबंध में फिक्टे ने व्यवस्था दी कि उसमें विवेक द्वारा शासन होगा। आदर्श राज्य में व्यक्ति को अपनी आन्तरिक और नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का अवसर मिल सकेगा।

लेकिन इस आदर्श राज्य की स्थापना के पूर्व मानव-जाति की चार अवस्थाओं से गुजरना पड़ेगा। इन चार अवस्थाओं में से वह तीन अवस्थाओं को तो पार कर चुके हैं और चौथी अवस्था से गुजर रही है। आदर्श राज्य के अतिरिक्त ये अन्य चार अवस्थाएँ कौन-कौन-सी हैं? इसके उत्तर में फिक्टे ने बतलाया है कि सबसे **पहली**, अवस्था प्राकृतिक अवस्था थी; **दूसरी**, अवस्था बलप्रयोग द्वारा राज्य की उत्पत्ति की थी; **तीसरी**, अवस्था में व्यक्तिस्वातंत्र्य की रक्षा के लिए आवाज उठायी गयी, इसलिए उसे हम व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आन्दोलन की अवस्था कह सकते हैं, और **चौथी**, आदर्श राज्य की पूर्वावस्था है जिसमें बौद्धिक एवं शारीरिक बल के समन्वय द्वारा सामाजिक और राजनीतिक संवासों की पुनर्रचना हो रही है। इसके बाद आदर्श राज्य का युग ही आयेगा। फिक्टे के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति के पूर्व मानव-समाज जब प्राकृतिक अवस्था में था—तब वह बड़ा सुखी था। उसे सब तरह की सुख और शान्ति थी। प्राकृतिक-अवस्था की फिक्टे द्वारा की गयी वह सुनहली कल्पना उस पर रूसो के प्रभाव को प्रकट करती है। फिक्टे के मतानुसार व्यक्ति को वे सारी सुविधाएँ अब आदर्श राज्य में ही मिल सकेंगी। दूसरी और तीसरी अवस्थाएँ कठोर संघर्षों का युग थीं जिनमें बड़े-बड़े युद्ध हुए। संसार उन अवस्थाओं से गुजर चुका है।

फिक्टे का कहना था कि राज्यों पर नियंत्रण करने के लिए, कोई न कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। उसका यह भी कहना था कि युद्धों को बंद कर दिया जाना चाहिए। नैपोलियन के आक्रमणों से जर्मनी को जो हानि उठानी पड़ी—उन्हीं हानियों की वजह से वह युद्धों के विरुद्ध हो गया था।

फिक्टे के अनुवादों में राष्ट्रवाद संबंधी उसका सिद्धान्त उल्लेखनीय है। उसने राष्ट्रवाद को दो आवश्यक तत्व दिये। पहला, भाषा की एकता का और दूसरा आर्थिक एकता का। फिक्टे ने कहा कि राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने में ये दो तत्व बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। उसका

यह भी कहना था कि राज्य को सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिए। हीगल तथा मार्क्स फिक्टे के दर्शन से बहुत प्रभावित हुए। हिटलर और मुसोलिनी ने भी फिक्टे की यह शिक्षा अपनायी कि राज्य को सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पूर्णतः अपने हाथ में रखनी चाहिए। इस प्रकार फिक्टे का असर नाजीवाद और फासिस्टवाद पर भी पड़ा। मार्क्स और हीगल को फिक्टे के ऐतिहासिक-दर्शन ने अधिक प्रभावित किया।

फिक्टे का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में काण्ट से अधिक पड़ा है। इसका कारण यह है कि काण्ट से अधिक फिक्टे ने राजकीय समस्याओं पर ध्यान दिया था। यही कारण है कि राजनीतिक दृष्टि से जर्मनी के जागरण का श्रेय काण्ट से अधिक फिक्टे को है।

१३. हीगल (Hegel)--परिचय और पद्धति

जार्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हीगल (George Wilhelm Fredrick Hegel) का जन्म जर्मनी के एक छोटे से नगर में सन् १७७० में हुआ। हीगल का परिवार धनाढ्य था और उसकी गणना ऊँची श्रेणी के मध्यवर्गीय परिवारों म की जाती थी। हीगल के पिता सरकारी नौकरी करते थे। हीगल को उच्चतम शिक्षा दिलायी गयी थी क्योंकि उसके पिता की इच्छा थी कि बड़े होने पर उनका पुत्र प्रोटैस्टेण्ट पादरी बने। लेकिन हीगल बजाय पादरी बनने के दार्शनिक बन गया। बर्लिन विश्वविद्यालय म वह दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त हुआ। हीडलबर्ग विश्वविद्यालय में भी वह पढ़ाता था। दार्शनिक के रूप में हीगल अपने समय में ही इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया था कि देश-विदेश के नरेश उससे राजकीय बातों तथा समस्याओं के सुलझान म परामर्श लिया करते थ। हीगल की मृत्यु सन् १८३१ में हुइ।

हीगल को जर्मन आदर्शवादी विचारकों का नेता माना जाता है। काण्ट और फिक्टे की ही भाँति हीगल ने भी मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुकरण किया। उसने मनोवैज्ञानिक पद्धति की ही सहायता से आत्म-निश्चयात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता की कल्पना की। तर्क और विवेक का हीगल की पद्धति में बहुत ऊँचा स्थान था।

हीगल का दर्शन काण्ट और फिक्टे के दर्शन का समन्वित और संश्लिष्ट रूप उपस्थित करता है। हीगल में इतिहास को समझने की क्षमता **वीको या मॉटेस्क्यू** से किसी भी प्रकार कम नहीं थी।

हीगल और काण्ट के दर्शनों में यह भेद है कि काण्ट की तरह वह काल्पनिक और सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर ही बल नहीं देता वरन् समस्त मानवीय संवासों के अस्तित्व की विवेकयुक्तता पर भी विश्वास करता है उसका कहना है।क प्रत्येक संवास मनुष्य की एकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और उसका विकास काफी लम्बे समय म हुआ है। इसलिए हीगल का कहना है कि उन संवासों को आकस्मिक भावावेश में आकर नष्ट नहीं कर देना चाहिए। इन्हीं अर्थों म वह फ्रांस की राजक्रान्ति का भी विरोधी था।

हीगल ने यूनान और रोम के दर्शन का अध्ययन किया था लेकिन काण्ट के विपरीत उस पर रोम की अपेक्षा यूनान के दर्शन का अधिक प्रभाव पड़ा था। यूनानी दर्शन म हीगल ने देखा कि आचारिक आदर्शों को सामाजिक तान-बाने म किस प्रकार सफलतापूर्वक बुन दिया गया था।[1]

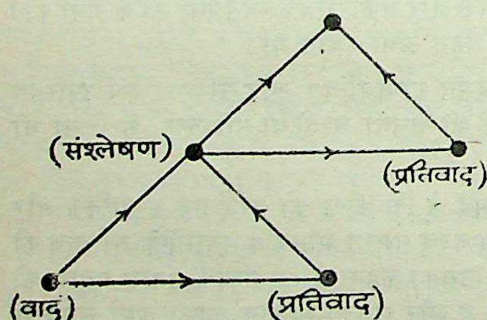
---

1 He was deeply influenced by the city states of Greece in which "ethical ideals had been wrought into the texture of social life." F.J.C. Hearnshaw in *The Age of Reaction & Reconstruction*, p. 1.

१४. विवेक और यथार्थ संबंधी कल्पना

हीगल की विवेक और यथार्थ (Reason and Reality) संबंधी धारणा अत्यन्त **महत्वपूर्ण** है। उसके दर्शन के रहस्य की कुंजी भी वही है। विवेक की महत्ता को सिद्ध करने में हीगल काण्ट से भी एक कदम आगे बढ़ गया। काण्ट की आदर्शवादिता उसकी असंगतियों और त्रुटियों के कारण अधूरी रह गयी थी। लेकिन हीगल ने उन त्रुटियों को दूर किया और बतलाया कि मनुष्य मानसिक शक्ति से सब कुछ जान सकता है और यह भी कहा कि विवेक ही यथार्थ है और यथार्थ ही विवेक है। हीगल की इस कल्पना को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम विवेक की प्रकृति को समझ लें।

१४.१ विवेक की प्रकृति—हीगल का कहना था कि मनुष्य का विवेक स्थिर नहीं रहता। ऐसा कभी नहीं होता कि वह हमेशा एक-सी ही स्थिति में रहे। वह हमेशा गतिमान रहता है। लेकिन इसकी प्रगति सदैव **द्वन्द्वात्मक** (Dialectical) होती है। मानवीय मस्तिष्क में एक विचार उत्पन्न होता है। उसके समर्थन में अन्य बहुत-से विचार उत्पन्न होते हैं और एक **वाद** (Thesis) तैयार हो जाता है। इस वाद में अनेक त्रुटियाँ होती हैं। वह स्वयं अपना खण्डन करता है। आत्मखण्डन से वाद के विरुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं और उनसे क्रमशः **प्रतिवाद** (Antithesis) की सृष्टि होती है। अन्त में मस्तिष्क, **वाद** (Thesis) और **प्रतिवाद** (Antithesis) के सबल तर्कों को लेकर समझौता करता है जिसे हीगल ने **संश्लेषण** (Synthesis) बतलाया है। संश्लेषण की स्थिति वाद और **प्रतिवाद** दोनों से उच्चतर होती है क्योंकि उसमें वाद और प्रतिवाद दोनों के सत्य की मात्राओं का मिश्रण हो जाता है। संश्लेषण के बाद एक ऐसी स्थिति आती है जब संश्लेषण (Synthesis) स्वयं एक वाद (Thesis) हो जाता है और फिर पहली तरह वाद और प्रतिवाद (Antithesis) में संघर्ष होता है और दोनों का संश्लेषण होता है। नीचे के बिन्दुचित्र से यह बात अधिक समझ में आ जायगी :



(संश्लेषण जिसका कालान्तर में स्वरूप पुनः 'वाद' हो जाता है।)

ऊ (संश्लेषण जो पुनः 'वाद' हो जाता है। यह क्रिया अनन्त रूप से चलती रहती है।)

इसी प्रकार वाद, प्रतिवाद, संश्लेषण और संश्लेषण का वाद होने का त्रिकोणात्मक क्रम अनन्त रूप से चला करता है। अतः हीगल के दर्शन का रहस्य विकास (evolution) है—विचार या कल्पना का द्वन्द्वात्मक प्रणाली से विकास।

ब्रह्माण्ड काल और स्थान में फैला हुआ है। इसी प्रकार मानवीय विवेक भी विस्तृत है। हीगल के दर्शन में असंख्य त्रिकोणात्मक तर्क हैं और उसका कहना है कि इन्हीं के द्वारा हम अंतिम सत्य तक पहुँच सकते हैं। अंतिम सत्य केवल एक विचार (Idea) है। ब्रह्माण्ड भी स्वतः एक विचार के अलावा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार सारांश में हीगल का दर्शन तीन मौलिक आधारों पर स्थित है और वे आधार ये हैं :

(१) चेतन मस्तिष्क की सारी गतिविधियाँ द्वन्द्वात्मक होती हैं, (२) यथार्थता वस्यं चेतन मस्तिष्क की एक प्रणाली है और (३) यथार्थता केवल एक विचार है। हीगल का कहना है कि यथार्थ सत्य की प्राप्ति केवल आत्मा (spirit) से ही हो सकती है। आत्मा का एक बाह्य रूप भी होता है। यह बाह्य रूप भौतिक होता है। इस रूप का प्रतिनिधित्व राज्य करता है।[1]

राज्य की उत्पत्ति और उसके विकास संबंधी हीगल के विचार सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। हीगल के अनुसार राज्य भी विवेक (Reason) का फल है। लेकिन यह विवेक या मस्तिष्क की हर अवस्था का परिणाम नहीं है। राज्य उसकी एक निश्चित अवस्था के फलस्वरूप पैदा होता है। इसके लिए हमें विवेक की तीन अवस्थाओं को जान लेना चाहिए तभी हम यह समझ सकेंगे कि राज्य विवेक की किस निश्चित अवस्था का फल है। जैसा कि अभी उपरोक्त पंक्तियों में संकेत किया गया है—मानवीय विवेक की तीन अवस्थाएँ होती हैं:—(१) आन्तरिक अवस्था (व्यक्ति का मस्तिष्क जो मनुष्य के मनोविज्ञान के विषय से संबंध रखता है), (२) बाह्य अवस्था (यह व्यक्ति के भौतिक वातावरण से संबंध रखती है और (३) पूर्ण अवस्था (जिनका प्रतिनिधित्व कला, धर्म और संस्कृति तथा दर्शन आदि में होता है)। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो राज्य विवेक की दूसरी अवस्था के वर्ग में आता है। यह मनुष्य के भौतिक वातावरण से संबद्ध होता है। अतः हम मस्तिष्क या विवेक की बाह्य अवस्था के संबंध में ही विचार करेंगे।

तो फिर मानवीय विवेक की बाह्य अवस्था किस प्रकार हमारे सामने आती है? हीगल ने इसका उत्तर दिया है, विभिन्न सांसारिक संवासों और संस्थाओं (Institutions and Asseociations) के रूप में। समाज रीति-रिवाज तथा इनसे संबंधित संघ आदि मानवीय विवेक के बाह्य रूप का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

बहुत से संवासों को हम सार्वभौमिक पाते हैं। इसकी वजह यह है कि वे संवास सामान्य मानवीय विवेक के परिणाम होते हैं। लेकिन सभी संवास सार्वभौमिक नहीं होते कुछ स्थानीय होकर ही रह जाते हैं और कुछ क्षेत्रीय या प्रादेशिक ही। यह अन्तर हीगल को मानवीय मस्तिष्क या विवेक को पुनः तीन भागों में विभक्त करने के लिए विवश करता है। यह वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है:—

(१) काल्पनिक विवेक (Abstract Reason)।
(२) नैतिकता (Morality)।
(३) सामाजिक आचार (Sacial Ethics)।

इन तीनों विवेकों से प्रेरित होकर मनुष्य विभिन्न कार्य करता है। काल्पनिक विवेक हमें कई प्रकार के अधिकार देता है। इन अधिकारों में सम्पत्ति रखने और दण्ड देने का अधिकार भी सम्मिलित है। ये अधिकार व्यक्ति को अनुबंध की सहायता से मिलते हैं। हीगल ने सम्पत्ति का अर्थ विशेष रूप से स्पष्ट किया है। सम्पत्ति का अर्थ है किसी भौतिक पदार्थ से व्यक्ति का ममत्व हो जाना। जब व्यक्ति किसी निश्चित वस्तु से अपनी इच्छा का संबंध जोड़ देता है (identification of will to a certain object) तो वह उसकी सम्पत्ति हो जाती है। अनुबंध का अर्थ है कि व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति

---

1 "The state is the divine will as a present spirit, which unfolds itself in the actual shape of an organised world." G.W.F. Hegel in *The Philosophy of Right*, Sec. 270, note.

याकाल्पनिक विवेक द्वारा प्राप्त किसी भी अधिकार के उपयोग या परित्याग की स्वतंत्रता है। काल्पनिक विवेक द्वारा प्राप्त अधिकारों का स्वरूप बाह्य ही होता है।

अब नैतिकता को लीजिये। नैतिकता पूर्णतः आन्तरिक होती है। इसका संबंध व्यक्ति की अन्तर्प्रेरणाओं और उसकी निजी भावनाओं से होता है। इसलिए नैतिक अधिकार और नैतिक भावनाएँ सर्वथा आन्तरिक होती हैं। काण्ट ने भी नैतिक इच्छा को आन्तरिक, सीमित आदि इसीलिए बतलाया था लेकिन काण्ट ने नैतिक इच्छा और काल्पनिक विवेक द्वारा व्यक्ति को दिये गये बाह्य अधिकारों का संश्लेषण (Synthesis) नहीं किया था। हीगल ने बाह्य अधिकारों या काल्पनिक विवेक (Abstract Reason) को नैतिकता (Morality) द्वारा दिये जानेवाले आन्तरिक अधिकारों से संश्लिष्ट कर दिया है। हीगल का यह कार्य काण्ट द्वारा किये गये काम से अधिक बढ़ जाता है। इन आन्तरिक और बाह्य अधिकारों के संश्लेषण को ही हीगल ने **सामाजिक आचार** (Social Ethics) की संज्ञा दी है।

सामाजिक आचार का उन्नततम स्वरूप राज्य (State) है। हीगल के मतानुसार परिवार (Family) एक वाद (Thesis) है और समाज (Society) उसका प्रतिवाद (Antithesis) और राज्य (State) में इन दोनों का संश्लेषण हो जाता है। अब जरा हम इस पर भी विचार कर लें कि परिवार और समाज किस तरह वाद और प्रतिवाद हैं और उनका राज्य में किस तरह संश्लेषण होता है।

१५.१ **परिवार** (Family)—मनुष्य मात्र में प्रेम की भावना होती है। प्रेम के वशीभूत होकर ही दो प्राणी विवाह के बंधन को स्वीकार करते हैं। जब तक स्त्री और पुरुष विवाहित मात्र रहते हैं तब तक उनका प्रेम आन्तरिक (Subjective) रहता लेकिन दाम्पत्य जीवन के फलस्वरूप बच्चे पैदा होते हैं। ये बच्चे दाम्पत्य जीवन की आन्तरिक प्रेम-भावना के बाह्य स्वरूप के प्रतिनिधि हैं। लेकिन जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो उनका एक अपना व्यक्तित्व हो जाता है और वे आन्तरिक भावनाओं के क्षेत्र में अपने माता-पिता से कम नहीं होते। ऐसी दशा में एक ऐसी अवस्था का आ जाना बिलकुल स्वाभाविक है, जिसमें बच्चे अपने माता-पिता से अलग हो जायँ। हीगल का कहना है कि बच्चों को एक अवस्था के बाद अलग हो जाने का पूरा अधिकार है। यह अधिकार साबित करता है कि परिवार में अपने विभक्तीकरण और विघटन के तत्व पहले से ही विद्यमान रहते हैं क्योंकि बच्चों के अलग हो जाने का अर्थ परिवार का टूटना है।

१५.२ **समाज** (Society)—लेकिन परिवार एक नहीं होता। परिवार बहुत से होते हैं। ये सभी इसी प्रकार टूटते हैं और नये-नये परिवार बनते हैं। परिवारों की संख्या बढ़ जाने के फलस्वरूप सभ्य समाज बनता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार में जिस व्यक्तित्व का निर्माण होता है; जो एकता स्थापित होती है—वह समाज के निर्माण से समाप्त हो जाती है। परिवार द्वारा किये गये कार्य को समाज एक प्रकार से भंग कर देता है इसलिए परिवार और समाज (Thesis) और प्रतिवाद (Antithesis) हुए। लेकिन राज्य परिवार द्वारा उत्पन्न की गयी एकता तथा समाज में प्राप्त होनेवाली स्वतंत्रता के बीच समन्वय स्थापित करता है। राज्य सम्पूर्ण समाज के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए राज्य में परिवार और समाज के दोनों तत्व संश्लिष्ट हो जाते हैं। हीगल ने इसी आधार पर राज्य को संश्लेषण (Synthesis) बतलाया है।

१५.३ **राज्य**—हीगल का कहना है कि राज्य सामाजिक आचार का सबसे अधिक विकसित प्रतीक है। "सामाजिक आचार की उन्नततम कल्पना राज्य में अभिव्यक्ति होती

है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और वही अंतिम सत्य का संरक्षक है।"[1] संरक्षक इन अर्थों में कि राज्य में रहकर ही व्यक्ति द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा अंतिम सत्य की खोज कर सकता है। अंतिम सत्य के अनुसंधान की परिस्थितियों की रक्षा करनेवाला और सुविधाएँ देनेवाला राज्य ही है—इसलिए वही सत्य का संरक्षक भी है। एक ओर राज्य मनुष्य की चेतना का प्रतीक है और दूसरी ओर वह भौतिक संसार की साक्षात् वस्तु है। पहले दृष्टिकोण से वह एक आत्मा है और दूसरे दृष्टिकोण से ऐसे नियमों की संहिताओं और रीति-रिवाजों का रक्षक है जिनसे राज्य में रहनेवाले मनुष्यों के आचार का नियमन और नियंत्रण होता है।

संक्षेप में हीगल राज्य को एक मानसिक व्यवस्था बतलाने की कोशिश करता है। राज्य में रहनेवाले सभी व्यक्तियों को अपनी-अपनी चेतना होती है। इन व्यक्तियों की सामूहिक चेतना का प्रतिनिधित्व राज्य करता है।[2] अतः व्यक्ति तथा राज्य के बीच का संबंध वही है जो शरीर के एक अंग का सम्पूर्ण शरीर से होता है। दूसरे शब्दों में हीगल राज्य की सावयविकता (Organism) का प्रतिपादन करता है।[3] लेकिन राज्य की सावयविकता सामान्य सावयविकता नहीं है—वह नैतिक सावयविकता (Moral Organism) है। सावयविकता तो इसलिए है कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास राज्य में ही हो पाता है और नैतिक सावयविकता इसलिए है कि राज्य की सावयविकता भी सोद्देश्य (purposeful) होती है। राज्य का उद्देश्य भी वही है जो राज्य के सदस्य व्यक्तियों का होता है। व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करना चाहता है, अंतिम आनन्द या सत्य को चाहता है और राज्य व्यक्ति की इस कार्य में मदद करता है—अतएव दोनों के उद्देश्य समान ही हैं।

लेकिन हीगल राज्य को व्यक्ति से श्रेष्ठ बतलाता है। वह राज्य को साक्षात् ईश्वर का अवतार समझता है। यह श्रेष्ठता वह कैसे सिद्ध करता है?

हीगल का कहना है कि राज्य सम्पूर्ण है और व्यक्ति उस संपूर्णता का एक भाग। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि राज्य व्यक्ति से श्रेष्ठ हो।

लेकिन इसके साथ ही यह भी सच है कि राज्य का निर्माण व्यक्तियों की सदस्यता से ही होता है। उसका निर्माण किसी अनुबंध से नहीं होता। हीगल राज्य को यथार्थ पुरुष मानता है और राज्य की इच्छाओं को ही उस पुरुष की यथार्थ इच्छाएँ मानता है। हीगल

---

1 "The state is the highest realised ethical idea. It is the highest embodiment of reason, the guardian of Reality" Hegel as quoted by G.P. Gooch, *Studies of Modern History*, p. 220.

2 "We cannot by means of predicates, prepositions, etc., reach any right estimate of the state, which should be apprehended as an organism." G. W. F. Hegel in *The Philosophy of Right* (S.W. Dyde's Translation) Sec. 269.

3 "It is an expression and the highest expression of that social morality, at once precipitated in and enforced by social opiuion, which lies behind the life of the family, behind the life of all other social groups and behind the life of the political community itself." E. Barker in *Pol. Th. from 1848 to 1914*, p. 19.

का कहना है कि राज्य की इच्छाएँ ही पूर्ण विवेक का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनमें ही सार्वभौमिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं का वास्तविक संश्लेषण होता है।[1]

१६. राज्य की नैतिकता

हीगल ने राज्य की नैतिकता को व्यक्ति की नैतिकता से श्रेष्ठतर बतलाया है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य बात है कि रूसो ने भी सामान्य इच्छा (General Will) के आदेश को व्यक्ति की इच्छाओं से महत्तर बतलाया था। रूसो का कहना था कि सामान्य इच्छा व्यक्ति से कहीं अधिक दूरदर्शितापूर्वक और निरपेक्ष भाव से सोच सकती है। इसी प्रकार हीगल ने भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य की नैतिकता व्यक्ति की नैतिकता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है। अब एक बार फिर यह सवाल पैदा होता है कि राज्य और व्यक्ति के बीच परस्पर क्या संबंध है ? उक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि राज्य का दर्जा उन्हीं अर्थों में ऊँचा है जिन अर्थों में सम्पूर्ण शरीर का दर्जा विभिन्न अंगों से। इसलिए व्यक्ति की स्वतंत्रता इसी बात में है कि वह राज्य की आज्ञाओं का पालन करे। स्वतंत्रता का यह विचार यूनानी है और यह कल्पना प्राकृतिक अधिकार-वाद का भी विरोध करती है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि हीगल प्रतिबंधों के अभाव (Absence of Restraint) को ही व्यक्ति की वास्तविक स्वतंत्रता नहीं मानता। इस प्रकार की कल्पना का हीगल के विचारों में कोई स्थान ही नहीं है। वह राज्य को हर्बर्ट स्पेन्सर आदि की भाँति आवश्यक बुराई नहीं मानता। अपितु उसे नैतिता का प्रतीक मानता है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि हीगल राज्य की सेवा में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा माने। सच तो यह है कि हीगल के सिद्धान्तों द्वारा रूसो की नैतिक स्वतंत्रता की कल्पना का और भी अधिक विकास हुआ है। रूसो ने कहा था कि व्यक्ति ने सामाजिक अनुबंध द्वारा अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता का विनिमय कर सामान्य इच्छा के अन्तर्गत कार्य करने की और भी अधिक नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है। इसी प्रकार हीगल के दर्शन में भी राज्य के अन्तर्गत व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया गया है और उसे अधिक अच्छा बतलाया गया है। हीगल का यह भी कहना है कि राज्य की इच्छा समाज की न्यायिक चेतना की अभिव्यक्ति ही है। 'राज्य की इच्छा' (The Will of the State) शब्द से यहाँ उन समस्त सामाजिक संवासों का आशय ग्रहण करना चाहिए जो समाज में व्यक्ति के आचरण का और उसके जीवन का निर्धारण करते हैं। इन्हीं अर्थों में हीगल ने कहा था कि राज्य स्वतंत्रता का वास्तविक रूप है। इस कथन से हीगल का अभिप्राय यह था कि स्वतंत्रता केवल राज्य ही में अभिव्यक्ति पा सकती है। यहीं एक स्थल पर हीगल ने स्वतंत्रता की काण्टवादी कल्पना की आलोचना करते हुए कहा है कि राज्य के द्वारा ही मनुष्य की आन्तरिक चेतना को बाह्य और भौतिक स्वरूप मिलता है और इस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्रताका समाज के समस्त संवास प्रतिनिधित्व करते हैं। यह राज्य और व्यक्ति के संबंधों का सामूहिक दृष्टिकोण है। व्यक्तिवाद का इसमें अभाव है। अतएव, यह स्वाभाविक समझना चाहिए कि हीगल काण्ट की विचारधारा का वहाँ खण्डन कर देता है जहाँ वह निजतापरक हो जाती है क्योंकि हीगल व्यक्तिवादी दर्शन के विरुद्ध है।

1 "Hegel viewed the state as the real person, it will as the manifestation of perfect reality—the synthesis of universal and individual freedom. Only as a member of the state had the individual reality; a perfect life consisted in living in accordance with the universal will R.G. Gettell in *His. of Pol. Th*, pp. 318-19.

काण्ट की स्वतंत्रता की कल्पना आन्तरिक (Subjective), नकारात्मक (Negative) और सीमित (Limited) थी। वह कहता था कि व्यक्ति को हर अवस्था में अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते रहना चाहिए। राज्य पर अधिक निर्भर नहीं रहना चाहिए। हीगल का इससे विपरीत यह कहना है कि व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता का कोई मूल्य ही नहीं है। वह जितना ही अपने आपको राज्य में विलयित करेगा व्यक्तिगत स्वतंत्रता उतनी ही अधिक पूर्ण होगी। इसलिए व्यक्ति के लिए यही अभीष्ट है कि वह अपनी निजता को अधिक से अधिक राज्य में विलीन करता चले। राज्य और व्यक्ति की निजता का यह विलयन जितना ही अधिक होगा व्यक्ति की स्वतंत्रता उतनी ही अधिक होगी। इस प्रकार के तर्कों द्वारा हीगल प्लेटो के इस आदर्श की और भी अधिक पुष्टि करता है कि मनुष्य को राज्य की अधिकाधिक सेवा करना चाहिए और उसे राज्य के अन्तर्गत जो भी काम सौंपा जाय उस काम को अपना परम कर्तव्य मान कर पूरा करना चाहिए।

१७. व्यक्ति के अधिकार

व्यक्ति के किन्हीं भी अधिकारों को हीगल ऐसा नहीं मानता जिन्हे राज्य अनिवार्यतः देने के लिए बाध्य हो। राज्य और व्यक्ति के संबंधों के बारे में ऊपर हम जो कुछ भी कह आये हैं, उसको देखते हुए हीगल का व्यक्ति के अधिकारों को इतना नीचा स्थान देना स्वाभाविक ही है। जब वह व्यक्ति को राज्य में अपनी सारी निजता डुबा देने की सलाह देता है और यदि कोई व्यक्ति उसकी यह सलाह मान लेता है तो इतना निश्चित है कि वह फिर राज्य से इस बात के लिए झगड़ा नहीं करेगा कि उसे अमुक अधिकार अनिवार्यतः दिये ही जायँ। फिर तो राज्य उसे जो भी अधिकार दे देगा—वहीं उसे शिरोधार्य होंगे, जो अधिकार नहीं देगा उन अधिकारों को पाने की बात भी वह नहीं सोचेगा। चूंकि, व्यक्ति और राज्य का लक्ष्य एक ही है, इसलिए चाहे राज्य कोई अधिकार दे या न दे, उससे हीगल के राज्य के व्यक्ति का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है।

१८. संप्रभुता, विधियाँ और शासन

हीगल यह नहीं मानता कि संप्रभुता राज्य के सदस्यों द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों की किसी प्रतिनिधि संस्था में निवास करती है। उसका यह मत है कि राज्य स्वयं एक वैधानिक पुरुष (Legal Person) है और राज्य की संप्रभुता इसी में निवास करती है। लेकिन वैधानिक पुरुष एक कल्पना ही कल्पना है। हीगल का कहना है कि इस कल्पना को भौतिक स्वरूप भी मिलना चाहिए। वैधानिक पुरुष की अपनी कल्पना का भौतिक स्वरूप हीगल ने राजा में खोज निकाला था। उसका कहना था कि राज्य में राजा ही वैधानिक पुरुष है और उसी में संप्रभुता निवास करती है। यही कारण है कि हीगल ने वंशानुगत राज-वंश के शासन की परम्परा का समर्थन किया था। हीगल क्रान्तियों या विद्रोहों के अत्यन्त विरुद्ध था। उसका कहना था कि हर देश का संविधान क्रमशः विकसित होता है। यदि उसमें कोई आकस्मिक परिवर्तन किया जायगा तो उससे अहित के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। इसीलिए उसने फ्रांस की राजक्रान्ति का भी विरोध किया था।

राज्य और राजा की इच्छा को ही वह विधि मानता था। विधियाँ हीगल के लिए एक प्रकार से राज्य के आदेश ही थीं। उसका यह भी कहना था कि विधियाँ हमेशा नैतिक

होती हैं; यदि ऐसा न हो तो वे एक क्षण भी आगे नहीं बढ़ सकतीं। ऐसी विधियों में एकताकारी शक्ति नहीं रहती।[1]

हीगल ने शासन के कृत्यों पर भी प्रकाश डाला। इन कर्तव्यों को उसने तीन भागों में विभक्त किया। उसका यह विभक्तीकरण सामान्य से कुछ भिन्न है : (१) विधानमण्डल, (२) कार्यपालिका और न्यायपालिका तथा (३) राजतंत्र। हीगल राजा को बहुत अधिक महत्व देता है। उसका कहना है कि राजा ही विधानमण्डल तथा कार्यपालिका और न्याय-पालिका के कार्यों का संयुक्तीकरण करता है। इसी में विभिन्न 'तंत्रों' का प्रतिनिधित्व भी हो जाता है।

मैकियावली की भाँति हीगल भी इस बात का पक्षपाती था कि राजा को निरन्तर राज्यविस्तार के लिए सतत चेष्टा करते रहना चाहिए। हीगल का यह भी कहना था कि यदि राजा ऐसा नहीं करेगा तो राज्य नष्ट हो जायगा। यही कारण है कि हीगल ने किसी भी स्थल पर इस बात का विरोध नहीं किया कि राज्यों के बीच युद्ध नहीं होने चाहिए। इसके विपरीत उसने यह कहा कि युद्ध आवश्यक है। उसका यह भी ख्याल था कि राज्य के जिस अधिकतम विकसित स्वरूप की कल्पना की जा सकती है——जर्मनी उसके सबसे अधिक निकट है।

१९. आलोचना

हीगल के दर्शन का समीक्षात्मक सिंहावलोकन करने में जो सबसे पहली और शायद सबसे बड़ी त्रुटि हमें प्रतीत होती है—वह है उसकी दुरूहता। स्थल-स्थल पर हीगल का दर्शन इतना रहस्यवादी हो जाता है कि उसमें से साधारण पाठक के लिए अर्थ निकाल लेना सरल कार्य नहीं है। एक विद्वान् ने यह ठीक ही लिखा है कि हीगल के रहस्यवादी दर्शन के दस पृष्ठों को पढ़कर यदि कोई एक पृष्ठ भी समझ ले——तो वही उसकी बड़ी सफलता है। फ्रांस की राजक्रांति के बाद नैपोलियन के युद्धों और शासन के काल में एक ऐसा अवसर भी आया था जब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई थी और लोगों ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया था कि राष्ट्र-राज्य में लोगों के हृदयों को बन्दी बना लेने की कुछ ऐसी अद्भुत शक्ति है जो केवल अनुबंध की सहायता से ही स्पष्ट नहीं की जा सकती। हीगल का विचार-दर्शन इसी युग में विकसित हुआ। इसलिए वह 'राज्य दर्शन को रहस्यवाद के अत्यन्त ऊँचे शिखर तक चढ़ा ले गया। लेकिन इस रहस्यवाद के कुछ बड़े दुःखद परि-णाम हुए।' एक ओर उसने राज्य को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वह व्यक्ति के सारे अधिकार हड़प ले और दूसरी ओर राज्य को सामाजिक नैतिकता का उच्चतम स्वरूप बतलाते हुए भी सभी प्रकार के नैतिक बंधनों से मुक्त कर दिया। फलतः उसके राज संबंधी दर्शन द्वारा राज्य को अत्यधिक अधिकार मिल गये जिसका परिणाम आगे चलकर जनता के लिए हितकारी सिद्ध हुआ। आधुनिक युग का अधिनायकतंत्र (ताना-

1 "How blind are the who can imagine that institutions, contitution and laws can persist after they have ceased to be in accord with morals, the needs and the purposes of mankind, and after the meaning has gone out of them; that forms in which understanding and feeling no longer inher can retain the power to bind a nation." G.E.W. Hegel, *Constitution of Germany*, ed. by Lasson, Vol· VII: p. 1. footnote.

तानाशाही) और फासिज्म एक प्रकार से हीगल की ही देन है। दूसरे शब्दों में हिटलर और मुसोलिनी एक तरह से हीगल की ही कृतियाँ थीं। दुनिया जानती है कि इन दोनों ने एक बार संसार के सामने क्या नारकीय दृश्य उपस्थित कर दिया था।

फिक्टे का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में काण्ट से अधिक पड़ा है। इसका कारण यह है कि काण्ट से अधिक फिक्टे ने राजकाजी समस्याओं पर ध्यान दिया था। यही कारण है कि राजनीतिक दृष्टि से जर्मनी के जागरण का श्रेय काण्ट से अधिक फिक्टे को है।

आदर्शवादी विचारक (उत्तरार्द्ध)

१. इंगलैंड में आदर्शवादी विचारधारा---२. टॉमस हिल ग्रीन---३. वैयक्तिक और सामाजिक चेतना का सिद्धान्त--४. व्यक्ति स्वातंत्र्य--५. नैतिकता--६. राज्य का आधार क्या है?--७. राज्य और समाज---८. राज्य के कर्तव्य--९. शिक्षा--१०. संयम और सदाचरण--११. सम्पत्ति---१२. अन्तर्राष्ट्रीय संबंध और युद्ध--१३. ग्रीन का अनुदाय और स्थान--१४. एफ० एच० ब्रेडले--१५. बी० बोसाँके--१६. बोसाँके का स्थान और अनुदाय---१७. आदर्शवादी विचारधारा की समीक्षा।

१. इंगलैंड मे आदर्शवादी विचारधारा

इंगलैण्ड में आदर्शवादी विचारधारा का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इंगलैण्ड में आदर्शवादी दर्शन का प्रतिपादन मुख्य रूप से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने किया। इसलिए इंगलैण्ड की आदर्शवादी विचारधारा को ऑक्सफोर्ड दर्शन ही कहा जाता है। ऑक्सफोर्ड में आदर्शवादी दर्शन के व्यवस्थित विकास के पूर्व ही **कोलरिज** और **कार्लाइल** द्वारा जर्मन आदर्शवादी दर्शन का इंगलैण्ड की विचारधारा पर प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। आदर्शवादी अंग्रेज विचारकों ने बाद में विस्तारपूर्वक जर्मन आदर्शवादी दर्शन का अध्ययन किया और स्वतंत्रता संबंधी अपनी सीमित कल्पना स्थिर की। यह कल्पना उपयोगितावादियों की व्यक्ति-स्वातंत्र्य की कल्पना से भिन्न थी। उन्होंने राजनीति को ऐसी सामाजिक परिस्थितियों को उत्पन्न करने का साधन माना जिनमें व्यक्ति का अधिकतम नैतिक विकास संभव हो सके। लेकिन इस नैतिक विकास की पूर्णता को प्राप्त करने का साधन था? इसका उत्तर अँग्रेज आदर्शवादी विचारकों ने यह दिया कि समुदाय और व्यक्ति के सशक्त संबंधों से ही मनुष्य को वे अधिकार प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा वह अपने अधिकतम विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।[1] ऑक्सफोर्ड के दार्शनिकों की यह विचारधारा एक तरह से उपयोगितावादियों की अति-व्यक्तिवादिता के विरुद्ध विद्रोह थी। जिस समय आदर्शवादी इंगलैण्ड के राजनीतिक क्षेत्र में आये उस समय 'यद्भाव्यम् नीति' के कुफल इंगलैण्ड भली भाँति भोग चुका था। वह देख चुका था कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर किस प्रकार समाज के अधिकांश व्यक्तियों की स्वतंत्रता का हनन किया गया था। स्वयं इंगलैण्ड की सरकार भी यह अनुभव कर रही थी कि वह अधिक समय तक चुपचाप बैठी "यद्भाव्यम् नीति" जनित क्रूरताओं को बरदास्त नहीं कर सकती।

1 "The vital relation between the life of the individual and the life of the community, which alone gives the individual worth and significance, because it alone gives him the power of full moral development, the dependence of individual, for all his rights and for all his liberty, on his membership of community; the correlative duty of the community to guarantee to the individual all his rights..... There were the premises of new philosophy." E. Barker, *Pol· Thought in England from* 1848 to 1914, p. 4.

इंगलैण्ड के मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए उसे औद्योगिक नियंत्रण कानून तथा फैक्टरी एक्ट जैसी विधियाँ बनाने को विवश होना पड़ रहा था। 'पुलिस राज' की कल्पना का स्थान क्रमशः 'कल्याणकारी राज' ग्रहण कर रहा था।

ऐसी अवस्था में आदर्शवादी विचारकों ने ब्रिटिश व्यक्तिवादी विचारधारा को काण्ट और हीगल की नैतिक स्वतंत्रता की कल्पना से संबद्ध कर दिया। इन्होंने अठारहवीं शताब्दी की अनुभूतिपरकता और विवेक का भी विरोध किया लेकिन साथ ही उन्नीसवीं शताब्दी के विकासवाद को भी नहीं माना।

यदि ध्यान से देखा जाय तो इंगलैण्ड के आदर्शवादी विचारकों के दर्शन के तीन मुख्य स्रोत थे : (१) प्लेटो और अरस्तू का राजदर्शन, (२) काण्ट और हीगल का दर्शन और (३) अनुबंध के विरोधी विचारकों का दर्शन। प्लेटो और अरस्तू के राजदर्शन से आदर्शवादी विचारकों ने यह सूत्र ग्रहण किया कि राज्य नैतिक है और वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। काण्ट और हीगल के दर्शन से उन्होंने नैतिक स्वतंत्रता की कल्पना ग्रहण की। अनुबंधवाद-विरोधी विचारकों से उन्होंने अधिकारों संबंधी कल्पना स्थिर की।

इंगलैण्ड की आदर्शवादी विचारधारा के दार्शनिकों की परम्परा में सबसे पहला नाम **टॉमस हिल ग्रीन** का आता है। **ब्रेडले** तथा **बोसांके** उस के अनुयायी थे। आधुनिक युग में इस परम्परा का प्रतिनिधित्व **ए० डी० लिण्डसे, अर्नेस्ट बार्कर** आदि ने किया है। लेकिन यहाँ हम केवल ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके के संबंध में ही विचार करेंगे।

२. टॉमस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green)

२·१ **जीवन परिचय**--टॉमस हिल ग्रीन का जन्म सन् १८३६ में और मृत्यु ४६ वर्ष की अपेक्षाकृत स्वल्पायु में सन् १८८२ में हुई थी। आरंभ से ही ग्रीन ने अपनी प्रतिभा-सम्पन्नता का पारिवारिक स्वजनों और गुरुओं पर बड़ा प्रभाव डाला था। यही कारण था कि सन् १८६० में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में वह दर्शन का प्राध्यापक हो गया और इस पद पर अपनी मृत्यु तक बना रहा। विश्वविद्यालय में अध्ययन-अध्यापन जैसे व्यस्त-जीवन के होते हुए भी ग्रीन ने सार्वजनिक और व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १८६७ के बाद वह निरन्तर ऑक्सफोर्ड नगरपालिका का मुख्य सदस्य रहा। ग्रीन को शिक्षा संबंधी कमीशन का सदस्य भी बनाया गया था। अपने सक्रिय राजनीतिक जीवन में वह **जे० ब्राइड** की विचारधारा का अनुयायी माना जाता था।

२·२ **रचनाएँ**--ग्रीन अपनी प्रतिपाद्य विचारधारा के लिए कोई पुस्तक नहीं लिख सका। उसके विचार हमें उसके व्याख्यानों के संग्रहों से मिलते हैं जिनको उसकी छात्र-मण्डली ने प्रकाशित किया। ऐसे व्याख्यान-संग्रहों में सबसे पहला नाम 'ऑन दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल ऑब्लीगेशन' (On the Principles of Political Obligation) का आता है। ये व्याख्यान सन् १७७९-८० में दिये गए थे। दूसरे ग्रंथ का नाम 'लिबरल लेजिस्लेशन एण्ड फ्रीडम ऑफ काण्ट्रेक्ट' (Liberal Legislation & Freedom of Contract) है। यह ग्रंथ उन व्याख्यानों पर आधारित है जो ग्रीन की मृत्यु से एक वर्ष पूर्व सन् १८८१ में दिये गये थे।

२·३ **प्रभाव-स्रोत**--ग्रीन यूनानी साहित्य के अतिरिक्त काण्ट, हीगल तथा अनुबंधवाद विरोधी विचारकों से तो प्रभावित हुआ ही था, किन्तु उनके साथ उस पर टॉमपेन, मैकियांवली आदि का भी बड़ा प्रभाव पड़ा था। आरम्भ में वह हीगल का बड़ा भक्त था। लेकिन

बाद में उसने हीगल दर्शन के संबंध में कम से कम यह तो दृढ़ मत बना लिया कि उसको व्यावहारिक क्षेत्र में क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। राजदर्शन के उक्त प्रभावों के अलावा धर्मशास्त्र का भी उसके विचारों पर असर पड़ा था। वह क्रॉमवेल के प्योरिटनिज्म को मानता था और करीब-करीब कट्टर नॉन कनफर्मिस्ट था।

३. वैयक्तिक और सामाजिक चेतना का सिद्धान्त

ग्रीन के अन्य सिद्धान्तों का अध्ययन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उसके वैयक्तिक और सामाजिक चेतना के सिद्धान्त को समझ लें, क्योंकि इसी चेतना के सिद्धान्त पर उसके स्वतंत्रता, राज्य की उत्पत्ति तथा अधिकार आदि संबंधी सिद्धान्त भी टिके हुए हैं।

जीवन का उद्देश्य क्या है? ग्रीन इस प्रश्न से अपने सिद्धान्त की विवेचना शुरू करता है और बतलाता है कि जीवन का उच्चतम लक्ष्य व्यक्ति का अधिकतम नैतिक विकास करना है। यह विकास तभी संभव हो सकता है जब मनुष्य का मस्तिष्क अधिक से अधिक विकसित होता जाय और उसमें अपेक्षित जागरूकता आती चली जाय। इस मानसिक जागरूकता के फलस्वरूप ही वह यह चयन कर सकता है कि क्या उत्तम है और क्या नहीं।

हमने रूसो का अध्ययन करते हुए यह देखा था मनुष्य की दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। इन दो इच्छाओं में से एक व्यक्ति की वास्तविक या बौद्धिक इच्छा (Rational Will) होती है। यह बौद्धिक-इच्छा कुछ निश्चित आदेश देती है। ग्रीन ने भी मानव मस्तिष्क की विवेचना की और रूसो की बौद्धिक इच्छा (Rational Lill) जैसी ही मनुष्य की "भली इच्छा", (Good Lill) बतलायी। ग्रीन का कहना था कि "भली इच्छा" कुछ निश्चित कार्यों को करने की प्रेरणा देती है। इन प्रेरणाओं को ग्रीन ने "नैतिक आदेश' (Moral Imperatives) की संज्ञा दी है। ग्रीन का कहना था जो व्यक्ति इन 'नैतिक आदेशों' के अनुसार कार्य करता है वह नैतिक है। जो व्यक्ति इन आदेशों का निरन्तर पालन करता हुआ अपनी नैतिकता पर दृढ़ रहेगा——वह एक-न-एक दिन अवश्य पूर्णता प्राप्त कर लेगा। ऐसा व्यक्ति शाश्वत जागरूकता या चेतना (Eternal Consciousness) भी प्राप्त कर लेगा। यह शाश्वत जागरूकता या चेतना सामाजिक चेतना की जननी है जिससे राज्य की उत्पत्ति होती है। फलतः राज्य एक ऐसी शक्ति है जो शाश्वत चेतना के आदेशों को क्रियान्वित होने में मदद करती है। लेकिन रूसो ने यह भी बतलाया था कि मनुष्य में एक प्रकार की वासनात्मक इच्छा भी होती है। यह इच्छा अदूरदर्शितापूर्ण और अनैतिक होती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य वासनात्मक इच्छाओं के चक्कर में पड़ जाता है और राज्य या सामाजिक चेतना के आदेशों का पालन नहीं करता। ऐसी अवस्था में राज्य का यह कर्तव्य होता है कि वह बल-प्रयोग करे और सामाजिक चेतना के आदेशों का पालन करने के लिए व्यक्ति को विवश करे।

४. व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अधिकार

जहाँ तक व्यक्ति-स्वातंत्र्य का संबंध है ग्रीन ने इस क्षेत्र में काण्ट का अनुगमन किया। ग्रीन ने स्वतंत्रता की परिभाषा करते हुए लिखा "स्वतंत्रता ऐसे कार्य या आनन्द प्राप्त

1 "But it must be remembered that behind his conception of the state lies the ideaof an eternal self-consciousness which communicates to human consciousness the idea of the social good, and whose perfection, in turn, human consciousness is ever seeking to attain, and, in the higher forms of the human society, has already, partially attained." F. Barker, *Political Th. from* 1848 *to* 1914 on p. 23.

करने की एक ऐसी सकारात्मक शक्ति या क्षमता है जो किये जाने योग्य हो"।[1] ग्रीन के पूर्व बेन्थम तथा उनके अनुवर्तियों ने प्रतिबंधों की हीनता को ही स्वतंत्रता माना था। ग्रीन ने इसे नकारात्मक स्वतंत्रता कहा और सकारात्मक स्वतंत्रता की उक्त परिभाषा दी। स्वतंत्रता की उक्त परिभाषा के बाद ग्रीन ने बतलाया कि इस प्रकार की सकारात्मक स्वतंत्रता मिल जाने का क्या परिणाम होता है? वह कहता है कि इस स्वतंत्रता से मनुष्य नैतिक चेतना के आदेशों का पालन कर लेनेकी मुक्ति पा लेता है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि एक स्वतंत्र मनुष्य ऐसे कार्यों को करने या आनन्द प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है जिन्हें उसे उपलब्ध करना चाहिए। इसलिए ऐसी स्वतंत्रता वैयक्तिक (Subjective) या आन्तरिक होते हुए भी सकारात्मक होती है। अतः स्वतंत्रता का अर्थ ही 'भली इच्छा' के आदेशों के पालन की स्वतंत्रता है।'[2] इस स्वतंत्रता द्वारा मनुष्य केवल भली इच्छा के आदेशों को पालन करने की स्वतंत्रता प्राप्त करता है। यही उस स्वतंत्रता का लक्ष्य भी है। जब तक मनुष्य को यह बाह्य स्वतंत्रता नहीं मिलती तब तक वह अपने नैतिक आदेशों का पालन नहीं कर सकता। लेकिन इस स्वतंत्रता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं है। भली इच्छा ही स्वतंत्रता प्राप्त करने योग्य होती है--बुरी इच्छा नहीं। इस स्वतंत्रता की अवस्था में व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करता है और यह अनुभव करता है कि उसे राज्य की विधियों का पालन करना ही चाहिए। उसकी इच्छा और व्यक्ति की इच्छाएँ समान हो जाती हैं। वह अनुभव करता है कि वह एक प्रकार से विधियों के आदेशों द्वारा अपनी ही इच्छा की पूर्ति कर रहा है।

ग्रीन का कहना है कि मनुष्य को किसी भी दशा में ऐसे कार्यों को करने की छूट नहीं मिलनी चाहिए जिनसे उसके अपने पूर्ण नैतिक-विकास के लक्ष्य को प्राम्त करने में सहायता न मिले।

लेकिन व्यक्ति की अपनी कुछ माँगें भी होती हैं--कुछ दावे होते हैं। ग्रीन का कहना है कि इनको अधिकारों की मर्यादा को सीमा के अन्तर्गत बाँध देना चाहिए। एक बार जब अधिकार निश्चित हो जायँ तो यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति को ऐसी परिस्थितियाँ दी जायँ जिनमें वह अपने अधिकारों का प्रयोग कर सके।

ग्रीन का मत है कि मनुष्य किसी न किसी दशा में प्राकृतिक अवस्था में अवश्य रहा होगा। लेकिन वह हॉब्स, लॉक या रूसो की भाँति यह नहीं मानता कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के कोई निश्चित अधिकार थे।

---

1 Liberty is "a positive power or capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoyin." T. H. Green as quoted by G.H. Sabine in *His. of Political Theoories*, p, 310.

2 "Liberty can only be liberty for this good will : it can only be liberty for the pursuit of the objects which such a will presents to itself." E. Barker, *Pol. Th. in England from* 1848 *to* 1919, p. 24.

3 Freedom is that "state in which he (the individual) shall have realised his ideal of himself, shall be at one with law which he recognizes as that which he ought to obey, shall have become all that he has it in him to be and so fulfil the law of his being." Phyllis Doyle, *A His. of Pol. Theories*, p. 287.

व्यक्ति की किसी भी माँग या दावे का उस समय तक कोई भी मूल्य नहीं है जब तक समाज की स्थापना नहीं हो जाती क्योंकि समाज जब व्यक्ति के दावों को स्वीकार कर लेता है तभी उनको प्राकृतिक अधिकार माना जा सकता है।

ग्रीन ने यह भी बतलाया कि वस्तुतः अधिकार हैं क्या चीज? उसका कहना है कि अधिकार उस बाह्य दशाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक होती हैं। अधिकारों का अनुबंधात्मक सौदेबाजी से कोई भी संबंध नहीं है। ये अधिकार राज्य द्वारा अपने आप उत्पन्न होते हैं। राज्य किन्हीं भी अधिकारों की रचना नहीं करता।

इसके बाद ग्रीन बतलाता है कि अधिकारों के दो पक्ष होते हैं। पहला पक्ष तो व्यक्ति का है जो अपनी एक निश्चित चेतना के बाद कुछ वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है और दूसरा पक्ष समाज का है जो व्यक्ति को कुछ निश्चित वस्तुएँ रखने या कार्य करने की अनुमति देता है। जब समाज व्यक्ति की किसी माँग की पूर्ति अपनी स्वीकृति देकर देता है तो वह व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि समाज यह कह दे कि प्रत्येक व्यक्ति का औसत वेतन सौ रुपया मासिक से कम नहीं होना चाहिए तो फिर वह व्यक्ति का अधिकार—प्राकृतिक अधिकार (Natural Right) हो जाता है।

लेकिन प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) और वैधानिक अधिकारों (Legal Rights) में अन्तर होता है। जब तक व्यक्ति के दावों पर केवल समाज की स्वीकृति रहती है तब तक राज्य बलप्रयोग द्वारा किसी भी वर्ग या व्यक्ति को उन अधिकारों को मानने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। इसका यह भी अर्थ है कि प्राकृतिक अधिकारों को क्रियान्वित कराने का अधिकार राजशक्ति को नहीं है।

एक बार प्राकृतिक अधिकारों को राज-स्वीकृति प्राप्त हो गयी कि वे फिर व्यक्ति के वैधानिक अधिकार हो जाते हैं और वैधानिक अधिकारों को मानने के लिए राज्य किसी भी व्यक्ति को या व्यक्तिसमूह को बाध्य कर सकता है और इसके लिए अपनी शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है।

कभी-कभी प्राकृतिक अधिकार केवल सामाजिक चेतना के अंग ही बने रहते हैं और उन्हें राज्य की स्वीकृति नहीं होती। अधिकांश सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराएँ इसी श्रेणी में आती हैं। ग्रीन का कहना था कि आदर्श राज्य या समाज में प्राकृतिक अधिकारों और वैधानिक अधिकारों में कोई अन्तर नहीं होता।

राज्य की आज्ञाओं का विरोध करने का अधिकार व्यक्ति को है या नहीं? ग्रीन सामान्यतः व्यक्ति के इस अधिकार को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है। उसका कहना है कि यदि राज्य कभी नैतिक चेतना या सामाजिक-चेतना के विरुद्ध भी आदेश दे तो भी उन आदेशों के वापस लिए जाने के लिए सांविधानिक और शांतिपूर्ण उपायों से ही आन्दोलन करना चाहिए। उपद्रवों द्वारा अशान्ति और अव्यवस्था नहीं फैलानी चाहिए। किन्तु, यदि राज्य सांविधानिक और शांतिपूर्ण ढंग से विरोध और आन्दोलन करने के सारे दरवाजे ही बन्द कर दे और निरन्तर नैतिक स्वतंत्रता और चेतनाविरोधी आदेश देता चला जाय तो फिर व्यक्ति को उनका प्रतिरोध करने का अधिकार है। लेकिन जिन परिस्थितियों में इस अधिकार के प्रयोग करने की इजाजत ग्रीन ने दी—वे परिस्थितियाँ बड़ी कठिनाई से आती हैं—इसलिए राज्य के विरुद्ध प्रतिरोध करने का अधिकार अत्यन्त ही सीमित है।

५· नैतिकता (on Morasity)

ग्रीन ने नैतिकता और अधिकारों के बीच का अन्तर बतलाया है। नैतिकता व्यक्ति के अधिकारों से ठीक विपरीत अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। अधिकारों का संबंध

केवल बाह्य परिस्थितियों से होता है जब नतिकता मनुष्य के अन्तर-विवेक का संचालन करती है। नैतिकता वहाँ कार्य करती है जहाँ राजशक्ति की पहुँच ही नहीं होती। उदाहरण के लिए राज्य लोगों को चर्च जाने के लिए कानून बनाकर बाध्य कर सकता है लेकिन वह चर्च में गये व्यक्तियों को ईश्वर का ध्यान करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। अधिकारों का संबध केवल बाह्य कृत्यों से होता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी "भली इच्छा" के आदेशों के अनुकूल ही कार्य करता है तो उसे नैतिक व्यक्ति ही माना जायगा। नैतिकता की एक विशेषता यह भी है कि उसे राजशक्ति द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता।

विधियाँ वैधानिक अधिकारों, प्राकृतिक अधिकारों और नैतिक सिद्धान्तों का ही समन्वित रूप होती हैं।

विधियों की आवश्यकता क्यों पड़ती है? ग्रीन का कहना है कि समाज में रहनेवाले सभी व्यक्तियों का एक समान लक्ष्य होता है। लेकिन प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति निकल ही आते हैं जो अपनी नैतिक चेतना के आदेशों के विरुद्ध कार्य करते हैं। उनके ये कार्य सामाजिक चेतना के विरुद्ध भी होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को समाज-विरोधी कार्यों से रोकने के लिए विधियों की आवश्यकता पड़ती है। विधियों की सहायता से राज्य का काम आसान हो जाता है और वह अन्य लोगों की "स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग करता है।"

६. राज्य का आधार क्या है?

ग्रीन ने लोकमत की स्वीकृति को राज्य का आधार बतलाया है। उसका कहना है, "लोक सहमति ही राज्य का आधार है—बलप्रयोग नहीं।" (Will not force is the basis of State)। यह सिद्धान्त ग्रीन ने किस प्रकार स्थिर किया—इस पर यहाँ जरा विस्तारपूर्वक विचार कर लेना उचित होगा।

ग्रीन के राज्य सबधी विचार मुख्यतः हमें उसके उन व्याख्यानों में मिलते हैं जो उसने सन् १८७९-८० में राजनीतिक उत्तरदायित्वों के सिद्धान्तों के संबंध में दिये थे। इन व्याख्यानों में ग्रीन ने यह प्रयत्न किया कि सामान्य राजदर्शन और राजनीति के समस्त पक्षों की इस प्रकार व्याख्या की जाय कि उससे सामान्य इच्छा या शाश्वत चेतना की यह प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाय कि वह सदैव विवेकयुक्त नैतिक आदर्शों की ओर ही बढ़ती है।

उसने अपने व्याख्यानों के आरम्भ में ही यह बात स्पष्ट कर दी कि, "नागरिक जीवन के संवास का मूल्य इस बात में निहित है कि उसमें मानवीय इच्छा और विवेक की नैतिक क्षमताओं को यथार्थ रूप दे दिया जाय।" इस तरह के लक्ष्य के निर्धारित हो जाने का सामान्य परिणाम यह होता है कि मनुष्य बेपेंदी के लोटे की भाँति इधर से उधर लुढ़कता नहीं फिरता और वह उन शक्तियों पर नियंत्रण पाने की कोशिश करता है जो सामान्यतः उसे पथभ्रष्ट करने की चेष्टा करती हैं।

उक्त निर्दिष्ट लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए ग्रीन ने राज्य की जो कल्पना की है वह बिलकुल स्वतंत्र है। ग्रीन की कल्पना के अनुसार राज्य एक संवास के रूप में सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और वह हमेशा लोक-कल्याण को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक कार्य करता है। अतः ग्रीन की राज्य की कल्पना हमारे सामने किसी ऐसे संघटन का रूप उपस्थित नहीं करती जो सर्वथा दृढ़ और निश्चित विशेषताओं सहित हमारे सामने आता हो। ग्रीन की कल्पना के राज्य का मौलिक आधार शक्ति या बल नहीं है अपितु नागरिकों का आध्यात्मिक स्तर पर यह अनुभव करना है कि उनका सच्चा और वास्तविक कल्याण किस बात में निहित है। इस तरह की मान्यता में लोक-सम्मति स्वयं प्रकट हो जाती है और जनइच्छा को ही राज्य का मौलिक आधार मान लिया जाता है—बल को नहीं।

इस दृष्टिकोण को ग्रोन ने अपनी संप्रभुता संबंधी व्याख्या में बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। संप्रभुता संबंधी विभिन्न सिद्धान्तों और विशेषकर ऑस्टिन के सिद्धान्त पर विचार कर लेने के बाद ग्रोन कहता है कि मनुष्य समाज में कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए रहता है और एक दूसरे से सहयोग करता हुआ उस लक्ष्य की ओर बढ़ने की चेष्टा करता है। इस पारस्परिक सहयोग और संबंध से जिस सामान्य इच्छा और चेतना का निर्माण होता है वही सामान्य इच्छा व्यक्ति को संप्रभु (या शाश्वत चेतना) की आज्ञा का स्वभावतः पालन करने की आदत डलवाती है। यह एक ऐसी शक्ति है जो सार्वभौमिक विवेकयुक्त इच्छा (शाश्वत चेतना) को प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्तियों से ऊँचा रखती है और जिसकी उच्चता सिद्ध करने के लिए शारीरिक शक्ति के प्रयोग की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है।

ग्रीन ने बेन्थम के उदारतावाद की आलोचना की थी और उसकी वे बातें नहीं मानी थीं जो हॉब्स और लॉक के प्राकृतिक अधिकार और अनुबंधवाद पर आधारित थीं। ग्रीन यह भी नहीं मानता कि प्रत्येक व्यक्ति का आचरण कष्ट और दुख से बचने के सिद्धान्त द्वारा ही संचालित होता है। दूसरे शब्दों में ग्रीन यह नहीं मानता कि मनुष्य अपने सारे काम भय-वश ही करता है। समाज की कल्पना के संबंध में भी ग्रीन का यही कहना है कि समाज केवल अनिवार्य बल प्रयोग के भय से ही एकता के सूत्र में ग्रन्थित नहीं रहता क्योंकि बल केवल कुछ काल तक ही चल सकता है। इसलिए समाज की एकता का मौलिक आधार, उसके सदस्यों का यह विश्वास है, कि समाज में सब के साथ रहने से सब का भला होगा। मनुष्य को सामाजिक बनाने में भय का तो अपवादात्मक रूप से ही प्रयोग होता है। ग्रीन का यह कहना ठीक ही था। मनुष्य समाज में अपने सामाजिक स्वभाव के कारण रहता है। इसलिए नहीं रहता कि उसे समाज में रहने के लिए कोई विवश कर रहा है।

राज्य का मौलिक आधार लोक सम्मति है, यह बात हम इन कारणों से कह सकते हैं :—

६.१ यह माननीय इच्छा के कारण उत्पन्न होता है;

६.२ राज्य में ही मानवीय आत्मा का पूर्ण विकास होता है। अरस्तू ने भी यही कहा था कि मनुष्य राज्य में ही मनुष्यता प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह है कि ग्रीन राज्य की सोद्देश्यात्मक कल्पना (Telelogical Conception) में विश्वास करता था। वह यह भी मानता था कि राज्य अन्य सभी संवासों से अधिक बड़ा संवास है। अरस्तू ने यह भी कहा था कि राज्य मनुष्य की जीवन-रक्षा के लिए अस्तित्व में आया था लेकिन राज्य का अस्तित्व अब भी इसलिए बना है क्योंकि वह अच्छा जीवन बिताने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार ग्रीन और अरस्तू के मतों में हम बड़ा सामंजस्य देखते हैं; और,

६.३ ग्रीन ने बल को भी इच्छा में परिवर्तित कर दिया है। ग्रीन का कहना है कि असंदिग्धतः बल ने राज्य की स्थापना में बड़ी मदद की है लेकिन यदि हम राज्य की सोद्देश्यात्मक कल्पना को ध्यान में रखें तो हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे कि राज्य का आधार बल नहीं है। राज्य का जन्म बल द्वारा नहीं हुआ। राज्य बल का प्रयोग करता है, यह ठीक है। लेकिन वह ऐसा केवल व्यक्ति की यथार्थ इच्छा (Real Will) की पूर्ति के लिए करता है। बल से व्यक्ति की यथार्थ इच्छा की रक्षा होती है। दूसरे, राज्य बल का प्रयोग सामाजिक चेतना की अनुमति से ही करता है, और सामान्य इच्छा में सभी व्यक्तियों की इच्छा सम्मिलित रहती है। जब कोई व्यक्ति चोरी करता है तो वह अपनी नैतिक चेतना के आदेशों के विरुद्ध ऐसा करता है। पुलिस समाज के सभी व्यक्तियों की नैतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें चोर की नैतिक-चेतना भी सम्मिलित है। इसलिए

का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः चोर को मिलनेवाली सजा का स्रोत कोई बाहरी शक्ति नहीं बल्कि उसके अन्तर की ही शक्ति है। इस सजा द्वारा चोर को अपनी वासनात्मक इच्छाओं के बंदीत्व से मुक्ति प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ग्रीन ने अपने आदर्शवादी दर्शन में यूनान और जर्मनी के दर्शन की सहायता से अपने सिद्धान्तों की इंगलैण्डवासियों के लिए अत्यन्त सफलतापूर्वक व्याख्या की है और इस व्याख्या करने में भी उसने इंगलैण्डवासियों की स्वतंत्रता की भावना और राज्य के प्रति अविश्वास का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। कुछ तो काण्ट के प्रभाव के अन्तर्गत और कुछ इंगलैण्डवासियों की व्यक्तिवादी भावनाओं के कारण ग्रीन ने व्यक्ति को ही अंतिम लक्ष्य माना है। उसने व्यक्तिवाद को आदर्शवाद से संबद्ध कर दिया है। आदर्शवादी के रूप में वह व्यक्ति को समाज से अलग मानने के लिए तैयार नहीं है। वह केवल ऐसे ही व्यक्ति को व्यक्ति मानता है जो समाज का सदस्य हो। आदर्शवादी के रूप में वह यह भी कहता है कि व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता का प्रयोग केवल नैतिक विकास के लिए ही होना चाहिए लेकिन एक व्यक्तिवादी के रूप में उसके सारे विचारों का केन्द्र स्थल व्यक्ति ही है। राज्य के संबंध में यह कथन कि "लोक सहमति ही राज्य का आधार है—बल नहीं"—उसकी इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। वह प्लेटो से अधिक अरस्तू के निकट है और हीगल से अधिक काण्ट के।

७. राज्य और समाज

ग्रीन का कहना है कि राज्य और समाज एक ही समान नहीं हैं। राज्य को शक्ति-प्रयोग का अधिकार है लेकिन समाज को नहीं। इस शक्तिशालिता और शक्तिहीनता के कारण राज्य और समाज को एक ही जैसी शक्तियाँ नहीं माना जा सकता। समाज में विभिन्न तरह के तत्व, वर्ग और व्यक्ति रहते हैं। राज्य का यह लक्ष्य होता है कि इन सबके बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सके। समाज का लक्ष्य है—कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपना उच्चतम आत्मिक विकास करने का अधिक से अधिक अवसर प्रदान करे।[1] ऐसा तभी संभव है जब लोग सामाजिक-जीवन में अधिक से अधिक भाग लें। समाज केवल ऐसा अवसर दे सकता है। वह किसी को इस बात के लिए विवश नहीं कर सकता कि वह अमुक कार्य करे और अमुक गतिविधि में भाग ले।

८. राज्य के कर्तव्य

ग्रीन ने राज्य के रचनात्मक और निषेधात्मक दोनों तरह के कर्तव्य बतलाये हैं। वह कहता है, राज्य लोगों की आन्तरिक या नैतिक दृष्टि से बहुत अधिक सहायता नहीं कर सकता लेकिन वह यह कर सकता है कि आन्तरिक-विकास के उपयुक्त बाह्य परिस्थितियाँ पैदा कर दे। राज्य ऐसे लोगों को समाज में रहने से रोक सकता है जो अपनी वासनात्मक इच्छाओं के प्रवाह में समाज के अन्य सदस्यों के नैतिक-विकास में बाधा डालते हैं। वह ऐसे लोगों को जेल में बन्द करके बाधाओं के मार्ग की बाधाएँ (Hindrance of Hindrances) बन जाता है। राज्य का यह कृत्य बाह्य और निषेधात्मक (Negative) है। राज्य व्यक्ति को एक निश्चित प्रकार के आचरण के लिए बाध्य कर

---

1 "Full moral participation in a social life was for Green the highest form of self-development and to create the possibility of such a participation was the end of a liberal society."' G.H. Sabine in *A His. of Pol. Theories*. p. 610.

सकता है लेकिन वह उनको नैतिकता के सिद्धान्त मानने के लिए विवश नहीं कर सकता। लेकिन राज्य का कर्तव्य उस समय रचनात्मक या सकारात्मक हो जाता है जब व्यक्ति को स्वतंत्रता मिल जाती है और वह अपनी सारी क्षमताओं को काम में लाने योग्य हो जाता है। राज्य को रचनात्मक कार्यों के करने की अनुमति सामाजिक चेतना (Social Consciousness) से मिलती है। राज्य के रचनात्मक कर्तव्यों के कुछ उदाहरण भी ग्रीन ने दिये हैं। ग्रीन का कहना है कि राज्य को शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य करनी चाहिए। मद्यपान आदि पर नियंत्रण रखना चाहिए। भूमि-व्यवस्था भी राज्य को अपने ही हाथ में रखनी चाहिए। साथ ही राज्य को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति सुरक्षित रहे। राज्य को शिक्षा आदि जैसे कल्याणकारी कार्यों के करने का परामर्श देते हुए भी ग्रीन ने पूँजीवाद या पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध नहीं किया है, बल्कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के लाभ बतला कर उसका औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आदर्शवादियों के लिए यह कोई नयी बात नहीं है। अरस्तू ने स्वयं दासता का ठीक उसी तरह समर्थन किया था जिस तरह ग्रीन ने पूँजीवाद का।

ग्रीन राज्य को व्यक्ति को नैतिक बनाने का कर्तव्य नहीं सौंपता; उसका कहना है कि यह कार्य राज्य कर ही नहीं सकता।

राज्य समाज के कुछ व्यक्तियों से काम कराने के लिए बल का प्रयोग भी करता है। राज्य के इस बल-प्रयोग का ग्रीन ने इस प्रकार औचित्य सिद्ध किया है। राज्य का बल प्रयोग करना नैतिक दृष्टि से सर्वथा उचित है। लेकिन व्यक्ति द्वारा बल प्रयोग किया जाना उचित नहीं। जब बलप्रयोग व्यक्ति द्वारा होने लगता है तो व्यक्ति के इस अनुचित और अनैतिक कार्य को रोकने के लिए राज्य शक्ति काम में ला सकता है। ऐसी दशा में राज्य का बलप्रयोग सर्वथा उचित है क्योंकि वह ऐसा अनैतिकता को रोकने के लिए करता है।

राज्य जब किसी अपराधी को दण्ड देता है तो दण्ड देने का कार्य नैतिक दृष्टि से नहीं किया जाता। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि यदि कोई व्यक्ति हत्या करने का इरादा करता है लेकिन हत्या नहीं कर पाता, केवल अपने प्रतिद्वंदी को घायल ही कर पाता है तो न्यायालय द्वारा उसे हत्या की सजा नहीं दी जायगी। बल्कि घायल करने के अपराध का ही दण्ड दिया जायगा। ग्रीन का कहना है कि राज्य मनुष्य को उसके आन्तरिक इरादों के लिए दण्डित नहीं कर सकता। उसे उसके गलत काम के लिए ही दण्ड दिया जा सकता है। इसलिए दण्ड की मात्रा व्यक्ति के अपराध के कम या अधिक होने पर निर्धारित होती है। इसीलिए दण्ड में भिन्नता भी होती है। दण्ड केवल बाह्य ही होता है और वह केवल बाह्य कृत्यों के लिए ही दिया जा सकता है। किसी भी मनुष्य को शारीरिक रूप से बन्दी बनाया जा सकता है लेकिन उसकी आत्मा को बन्दी नहीं बनाया जा सकता। राज्य व्यक्ति को समाज में नैतिकता बनाये रखने के लिए दण्ड देता है—इसलिए राज्य का लक्ष्य नैतिकता का प्रसार करना है। उदाहरणार्थ राज्य यदि किसी व्यक्ति को चोरी के अपराध में दण्डित नहीं करता तो और लोग भी जो उसी की प्रवृत्ति के होंगे चोरी करने के लिए उत्साहित होंगे और इस प्रकार अनैतिकता फैलेगी। चूँकि सजा देने से चोरी करने की इच्छा रखने वाले लोगों में डर पैदा होता है और वे चोरी करने से बचते हैं—इसलिए राज्य का दण्ड देने का कार्य भी नैतिक उद्देश्य से होता है।

एक और बात है—जिस पर ग्रीन ने प्रकाश डाला है। अपराधी को दण्ड दिये जाने का यह असर तो होता ही है कि अन्य लोग वैसा अपराध करने से बचते हैं; साथ ही यह भी संभावना रहती है कि जिस व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है शायद वह भी यह अनुभव करे कि उसने गलत काम किया है जिसके परिणामस्वरूप उसे शारीरिक यातना भोगनी पड़ रही है। वह भविष्य में वैसा काम फिर कभी न करने की बात भी सोच सकता है और संभवतः

अपने जीवन को सदाचारी बनाने की कोशिश भी कर सकता है। वह यह सोच सकता है कि उसे सजा मैजिस्ट्रेट ने दी है। मैजिस्ट्रेट राज्य का प्रतिनिधि है। राज्य उस सामाजिक चेतना का प्रतीक है जिसमें उसकी "भला इच्छा" जनित नैतिक चेतना भी सम्मिलित है। इस प्रकार उसे जो दण्ड मिला है—वह किसी बाह्य शक्ति ने नहीं दिया—वल्कि उसी ने अपने आपको दिया है। दण्ड का यह पक्ष भी है जिसकी ग्रीन ने अवहेलना न करने की सिफारिश की है। व्यक्ति का सुधार अवश्य ही हो जायगा—यह ग्रीन ने नहीं कहा है; केवल इस संभावना की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

९. शिक्षा (Education)

ग्रीन ने शिक्षा, संयम, सदाचरण आदि जैसी सामाजिक समस्याओं के संबंध में भी विचार प्रकट किये हैं। इसका कारण यह है कि ग्रीन के समय में इंगलैण्ड में एक प्रकार से सुधारवादी आन्दोलनों का दौरदौरा था जिससे वह स्वयं भी मुक्त नहीं रह सका। उसके शिक्षा संबंधी विचार बड़े महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं की वजह से वह शिक्षा संबंधी शाही कमीशन का सदस्य भी नियुक्त किया गया था।

ग्रीन का कहना है कि मानव-जीवन एकांगी नहीं होता। वह विविधांगी होता है। उसके अनेक पक्ष होते हैं। मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समन्वित विकास तभी संभव है जब उसके जीवन के प्रत्येक अंग को विकसित होने का अवसर मिले। जब तक मनुष्य को ज्ञान प्राप्त नहीं होगा तब तक उसको अपने व्यक्तित्व को उन्नत करने के समुचित मार्ग दिखलायी नहीं पड़ेंगे। यही कारण है कि निरक्षरता को दूर किया जाना बड़ा आवश्यक है। नागरिकों को सदाचारी और संयमी बनाने के लिए राज्य को स्कूल खोलने चाहिए और उनमें प्रजा की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा का प्रचार करना रचनात्मक कार्य अवश्य है लेकिन इसमें भी अनैतिकता को फैलने से रोकने का भाव निहित है; इसलिए, यह कार्य भी निषेधात्मक कहा जा सकता है।

१०. संयम और सदाचरण

ग्रीन का यह भी कहना था कि राज्य को अपने नागरिकों को संयमी और सदाचारी भी बनाना चाहिए क्योंकि यदि वे असंयमी और आचारहीन होंगे तो इससे उनके आत्म-विकास में बाधा पड़ेगी। इसका यह भी अर्थ है कि व्यक्तियों के आत्मविकास में बाधा पड़ने से राज्य का उद्देश्य भी सिद्ध न होगा। इसलिए अपने नैतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए राज्य को नशेबाजी रोकनी चाहिए। उसे नागरिकों को अफीम खाने और बहुत ज्यादा शराब पीने से रोकना चाहिए। वह इस बात के भी पक्ष में था कि राज्य को शराब पीने पर पूर्णतः प्रतिबंध लगा देना चाहिए। भारत की राज्य सरकारों का मद्यनिषेध संबंधी कार्य तथा यहाँ के राज्यों की मद्यनिषेध संबंधी विधियाँ ग्रीन के मतानुकूल हैं।

११. सम्पत्ति (On property)

हालाँकि राजदर्शन में आदर्शवादी और व्यावहारिक राजनीतिक में ग्रीन उदारतावादी था फिर भी वह सम्पत्ति के मामले में अनुदार और कट्टरतावादी था। उसका कहना था कि सम्पत्ति मनुष्य के अपने व्यक्तित्व के विकास का साधन है।[1] इस प्रकार सम्पत्ति में

1 "Property is a condition necessary for the free play of a capacity which can be exerted for the common benefit: it is the means of realizing a will which in possibility is a will directed to social good." Ernest Barker in *Pol. Th. from* 1848 *to* 1914, p. 42.

सामाजिक-कल्याण के मौलिक तत्व निहित हैं। लेकिन इस स्थल पर ग्रीन ने अँग्रेज विचारकों की सतर्कता के गुण का पुनः प्रदर्शन किया है। वह यह नहीं कहता कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का होना बड़ा जरूरी है और हर दशा में उसकी रक्षा राज्य द्वारा की ही जानी चाहिए; बल्कि वह यह कहता है कि यदि सम्पत्ति रखने की अनुमति दे दी जाय तो यह कोई बहुत अनुचित बात नहीं होगी। वह पूंजीवाद की बुराइयों से परिचित था। वह जानता था कि एक ओर तो कुछ लोगों के पास अपार धनराशि संचित होती जा रही है और दूसरी ओर असंख्य व्यक्ति दाने-दाने को तरस रहे हैं। इसलिए वह ऐसी सम्पत्ति के संचय के विरुद्ध था और कहता था कि असमानता के सिद्धान्त को मानते हुए भी धनी और निर्धन में इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए जितना उसके समकालीन इंगलैण्ड में था।

१२. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धी और युद्ध

हीगल के राजदर्शन पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि वह राज्य को मानव-संबंधों के विकास का चरम रूप मानता है और उसके ऊपर किसी सत्ता का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। न केवल इतना ही, वह युद्धों को कल्याणकारी घोषित करता है। इसके विपरीत ग्रीन विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है और वह एक सार्वभौम अथवा संसार-व्यापी समाज की कल्पना करता है। व्यक्ति को जीवनाधिकार इसी सार्वभौम समाज से प्राप्त है, इसलिए कोई व्यक्ति यदि अपने राज्य से किसी दूसरे राज्य में जाता है तो उसकी जीवन-रक्षा उस राज्य का उत्तरदायित्व हो जाता है। सार्वभौम अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समाज की कल्पना ग्रीन का एक विशिष्ट अनुदाय है। ग्रीन युद्धों का विरोधी था और वह अपने देश की रक्षा के लिए किये जाने वाले युद्ध को भी केवल तुलनात्मक दृष्टि से ही उचित मानता था। ग्रीन का मत था कि एक अवस्था ऐसी आयेगी जब राज्य युद्धों की निरर्थकता एवं उनकी हानिकारकता से पूर्णरूपेण अवगत हो जायँगे। तब स्वतः ही युद्धों का अन्त हो जायगा।

१३. ग्रीन का अनुदाय स्थान

ग्रीन का सबसे बड़ा अनुदाय उसका राज्य संबंधी सिद्धान्त है। उसने यह बड़ी सफलतापूर्वक बतला दिया कि राज्य की उत्पत्ति सामाजिक और व्यक्ति की निजी चेतनाओं का परिणाम है। ग्रीन के दर्शन में प्लेटो और हीगल जैसी दुरूहता और रहस्यवादिता नहीं है। उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके अधिकारों का क्षेत्र बड़े अच्छे ढंग से विवेचित किया और राज्य की मर्यादाएँ निर्धारित कीं। उसने ब्रिटिश दर्शन की स्वतंत्रता की कल्पना को निश्चयात्मक तथा सकारात्मक रूप प्रदान किया। विश्वशान्ति और प्रजातंत्र का ग्रीन बड़ा प्रेमी था। हीगल और काण्ट का आदर्शवाद जर्मन परिस्थितियों के अनुकूल था। उनके सिद्धान्तों को ग्रीन ने ब्रिटेन की परिस्थितियों के अनुकूल ढाला और उन्हें ब्रिटेन की दृष्टि के अनुकूल बनाया। ग्रीन हीगल की भाँति समाज और राज्य के बीच अन्तर स्थापित करने में असफल नहीं रहा। उसने दोनों का भेद बहुत साफ-साफ ढंग से बतला दिया।

प्रथम ब्रिटिश आदर्शवादी दार्शनिक के रूप में तो उसका स्थान सुरक्षित ही है।

१४. एफ० एच० ब्रेडले (F.H. Bradley)

ब्रेडले का जन्म सन् १८४६ में हुआ। वह बोसांके का ही समकालीन था और उसकी मृत्यु सन् १९२४ में हुई। वह अपनी पुस्तक 'एथीकल स्टडीज' (Ethical Studies) के कारण प्रसिद्ध हुआ। इस पुस्तक में राजदर्शन की दृष्टि से 'मेरा स्थान और उसके

कर्तव्य' शीर्षक अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी अध्याय मे हमे उसके तत्संबंधी विचार मिलते ह।

यदि ग्रोन, अरस्तू और काण्ट के अधिक निकट था तो ब्रडले प्लेटो और हीगल के निकट था। ग्रान को अपेक्षा ब्रडले में आदर्शवाद को रहस्यवादिता अधिक स्पष्ट हुई। फिर भी राजदशन के क्षत्रय में ब्रडले का कोई बहुत महत्वपूर्ण मोलिक अनुदाय नहीं है। अध्ययन को दृष्टि से राज्य संबंधो नैतिक सावयविक.ता (ConcePtion of Moral Organism) की कल्पना महत्वपूर्ण है।

ब्रडले का कहना है कि राज्य की इच्छा हो सामाजिक न्याय्यता (Social Righteousness) का प्रतिनिधित्व करती है। राज्य के सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास उन संवासां तथा वातावरण को उन वस्तुओं पर निर्भर करता है जो राज्य अपने सदस्यों को देता है। इसलिए वयस्क हो जाने के बाद प्रत्येक व्यक्ति का राज्य का सदस्य होने के नाते यह कतव्य है कि वह पहले अपने उपयुक्त स्थान तलाश करे ओर इसके बाद उस स्थान के प्रति अपने कतव्यां का पालम करे। ब्रडले का कहना है कि चूँकि राज्य में व्यक्ति की सारी नैतिक च तना विलयित रहता है—इसलिए राज्य भा नैतिक हुआ आर चूँकि उसका निर्माण व्यक्तियां के समूह द्वारा होता है—इसालए राज्य सावयव। हुआ। इस सबध म ब्रडले न हागल का सहारा लिया है। हागल कहता है, "किसा भा राष्ट्र का आत्मा (जो कि सामाजिक न्याय्यता को प्रताक होता है) प्रत्यक व्यक्ति के अन्तर से प्रत्यक काय का नियत्रण करता है आर उस पर अपना आधिपत्य रखता है। व्यक्ति यह अनुभव करता है कि राज्य का सारा काय वहा कर रहा है और वह राज्य को हा अपना लक्ष्य मान लेता है। उसे एसा करन म कोई आपत्ति नहीं होगा।" ब्रडले हागल के उक्त सिद्धान्त का पकड़ लेता ह आर कहता है "राष्ट्र का आत्मा को स्पष्ट करन के लिए हम 'सावयिक यथाथंता' का किसा नैतिक व्यवस्था को अवश्य स्वाकार करना होगा।" इसी नैतिक व्यवस्था को वह राज्य का नैतिक सावयविकता (Moral Organism) मानता है।[1]

साराश यह है कि सामूहिक रूप से व्यक्तियां का इच्छाएँ संयुक्त होकर राष्ट्र का आत्मा का निर्माण करता है आर इनका अभिव्यक्ति विभिन्न सवासा तथा राज्य की विधियों द्वारा होता है।

लेकिन राज्य का नैतिक सावयविकता को सिद्ध करने के चक्कर म ब्रडले राज्य और समाज के बाच का अन्तर भूल जाता है आर इस संबंध में हागल को भांति उसे भी मौन का हो आश्रय लेना पड़ता है।

१५. बी० बोसं के (B. Bosanquet)

इगलैण्ड को आधुनिक आदर्शवादा विचारधारा के प्रवतंक तीन दार्शनिकों की परम्परा में बी० बोसाँके का नाम सबसे अन्त म आता है।

बी० बोसाँके का जन्म सन् १८४९ म हुआ था ओर मृत्यु सन् १९२३ मे। अपने गुरु टी० एच० ग्रान को भाँति वह भा आॅक्सफोड विश्वविद्यालय म नैतिकदशन का शिक्षक था।

---

1 Hegel says, "The spirit of a nation (which is a spirit of social righteousness) controls and entirely dominates from within each person so that 'he feels it to be his own very being and looks upon it as his absolute final aim', then we must postulate an 'organic actuality' af a moral order to explain that spirtit. It is is teis oonception of moral organism which Rradley urges." E. Barkeı, *Pol. Th. in England from* 1814 *to* 1914, p. 50.

सक्रिय राजनीतिक क्षेत्र में उसने भी काम किया था। ग्रीन के दर्शन को लिखित रूप देने में बोसाँके ने काफी कार्य किया।

ग्रीन की तरह बोसाँके पुस्तक लिखने में असफल नहीं रहा। उसने **"फिलॉसॉफिकल थ्योरी ऑफ स्टेट'** (Philosphical Theory of State) नाम की पुस्तक लिखी? बोसाँके पर रूसो, काण्ट, हीगल तथा ग्रीन आदि आदर्शवादी दार्शनिकों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। प्लेटो का भी उसने गहन अध्ययन किया था। अपनी पुस्तक में राज्य के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए बोसाँके ने सामान्यत ग्रीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही अनुगमन किया है लेकिन अपनी बातों की व्याख्या करने में उसने नवीनतम सामाजिक अनुभूतियों का आश्रय लिया है और मनोविज्ञान के अनुसंधानों के परिणामों का भी उदारतापूर्वक प्रयोग किया है। एक दृष्टि से बोसांके ने ग्रीन के सिद्धान्तों की आधुनिक भाषा में व्याख्या और विवेचना करके उन्हें आगे बढ़ा दिया है।

१५ १ **मानव स्वभाव**—सब से पहले बोसाँके मानव-मस्तिष्क का विश्लेषण कर उसके स्वभाव के संबंध में अपना मत स्थिर करता है। वह कहता है, मनुष्य की इच्छाओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहली कोटि में मनुष्य मात्र की वे इच्छाएँ आती हैं जिनको स्वार्थी इच्छा की संज्ञा दी जा सकती है। ये इच्छाएँ विशुद्ध वासनात्मक होती हैं। ये अस्थायी होती हैं। इनके प्रवाह में मनुष्य केवल अपने हित के संबंध में सोचता है—उसे अन्य किसी का ख्याल नहीं रहता। दूसरी कोटि की इच्छाओं का स्थान पहली कोटि की इच्छाओं से बिलकुल उलटा और उच्चतर होता है। दूसरी कोटि की इच्छाओं को हम मनुष्य मात्र की यथार्थ इच्छा (Eeal Will) कह सकते हैं। मनुष्य की यथार्थ इच्छाओं का आधार क्षणिक भावावेश नहीं होता। सामान्य प्रकार की वासनाओं की पहुँच से भी ये इच्छाएँ बाहर होती हैं। इनमें दूरदर्शिता और सामाजिक कल्याण की भावना होती है। यथार्थ इच्छा द्वारा मनुष्य समाज का महत्व समझता है और यह मानता है कि समाज की मर्यादाओं के अनुकूल चलने में ही उसका तथा सभी का कल्याण है। यह इच्छा समाज के अन्य व्यक्तियों की यथार्थ इच्छा (Real Will) से भी संबद्ध होती है। यह इच्छा व्यक्ति को स्वच्छन्द हो जाने के लिए प्रोत्साहित नहीं करती क्योंकि वह व्यक्ति को यह समझने में मदद करती है कि कोई भी व्यक्ति समाज को छोड़कर एकान्त में जीवन-यापन नहीं कर सकता। अपने जीवन को उत्तम बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को समाज में ही रहना है और जब समाज में रहना है तो उसे समाज के अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं और सामाजिक गतिविधियों से समन्वय तथा सामंजस्य भी स्थापित करना है।

१५.२ स्वतंत्रता——मानव-स्वभाव की उक्त प्रकार से विवेचना कर देने के बाद बोसाँके बतलाता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को अच्छा और उत्तम बनाने के लिए कितनी आवश्यक है। बोसाँके कहता है कि स्वतंत्रता उत्तम जीवन व्यतीत करने की एक अनिवार्य दशा है। वह हर व्यक्ति के जीवन का एक अनिवार्य गुण है। लेकिन यह स्वतंत्रता तभी मिल सकती है जब व्यक्ति नैतिक दृष्टि से सचेत हो जाय।

बोसाँके की दृष्टि से स्वतंत्रता का मिल जाना ही पर्याप्त नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्त होते ही मनुष्य को कुछ अधिकार मिलते हैं——और उन अधिकारों के साथ कुछ कर्तव्य संबद्ध हो जाते हैं। व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह इन अधिकारों का अपनी उन्नति के लिए प्रयोग करता हुआ अपने कर्तव्यों का पालन करता चले।

बोसाँके का कहना है कि यदि व्यक्ति स्वतंत्र हो, और अपने अधिकारों का प्रयोग तथा कर्तव्यों का पालन करता चले तो फिर व्यक्ति और समाज में कोई संघर्ष, कोई मतभेद या कोई विरोध हो नहीं हो सकता।

१५.३ **राज्य**—बोसाँके ने हीगल की यह परिभाषा स्वीकार कर ली थी कि राज्य व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति (self-actualisation) ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के लिए समाज या राज्य पर ही निर्भर करता है। सच तो यह है कि राज्य बोसाँके की दृष्टि में जीवन के व्यावहारिक रूप (Working Conception of Lifs) का ही प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए वह राज्य को आचारिक कल्पना का मूर्त रूप भी मानता है। समाज में बहुत से व्यक्ति रहते हैं। इन सभी व्यक्तियों की रुचियाँ समान तो होती नहीं। अलग-अलग व्यक्ति-समूहों की अलग-अलग रुचियाँ होती हैं। इन्हीं रुचियों के अनुकूल लोग संघों, संस्थाओं और संवासों की स्थापना करते हैं। बोसाँके का यह भी कहना है कि एक ही संवास या संस्थान की सदस्यता द्वारा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सके और अपनी विभिन्न रुचियों को शान्त करने के लिए उसे कई संवासों की सदस्यता स्वीकार करनी पड़े। लेकिन व्यक्ति चाहे कितने ही संवास या संस्थानों का सदस्य हो—हर दशा में समूह-मस्तिष्क (Group-mind) ही हमारे सामने आता है। विभिन्न संघ, संवास और संस्थान इसी समूह-मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन सबके संबंधों के बीच सामंजस्य स्थापित करना राज्य का कार्य होता है। सब समूह-मस्तिष्कों की सामूहिक इच्छा सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। सामान्य-इच्छा का प्रतीक राज्य है—इसलिए राज्य संवासों का संवास, समुदायों का समुदाय और संघों का संघ है। और इस प्रकार वह समस्त सामाजिक गति-विधियों का संश्लेषणकारी तत्व है। राज्य को इतने व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर हमें उसके निहित कार्यों को समझने के लिए उसको दो प्रकार से देखना होगा। पहली तरह से देखने पर राज्य का कार्य निरीक्षणात्मक और समन्वयात्मक है। जीवन की व्यावहारिकता को दृष्टि में रखते हुए राज्य इस अवस्था में प्रत्येक समुदाय और संवास की समीक्षा करता है और उनके पारस्परिक संबंधों को इस तरह बनाये रखता है कि समाज के सम्पूर्ण जीवन से वे विलग न हो सकें और उनकी व्यवस्था बनी रहे। राज्य का दूसरा काम ऐसी शक्ति की रचना करना है जिससे समाज के प्रत्येक संवास या व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का ज्ञान रहे और वे उनके प्रति उदासीन न हो सकें।

बोसाँके ग्रोन की भांति व्यक्ति पर राज्य के अधिक नियंत्रण से नहीं घबड़ाता। वह

---

1 "State is an ethical idea or rather *the* ethical, since it is the final working conception of life as a whole." Dr. B. Bosanquet in *The Philosophical Theory of the State*; p. 298.

2 "If we take the state in its fuller sense; not as a political mechanism using force but as a general organisation and synthesis of life, which includes and correlates all other organizations, we shall see it as a group of groups, a community of communities, embracing and sustaining the whole field of social operation." E. Barker, *Pol. Th. from* 1848 *to* 1918 p. 58.

3 "We can see it first of all as a source of adjustments, criticizing and adjusting, in the light of a warking conception of life as a whole the institutions which it contains, and reducing them by such criticism to ordered and graded system. We can see it *again* as a driving wheel, giving motive power to the system—as a 'force' invigorating by a constant reminder and suggestion of their duties every member and every institution and preventing the lethargy and inertia into which, without such reminder and suggestion they might too readily fall." *Ibid.*

बिना हिचकिचाहट के व्यक्ति को राज्य या 'राष्ट्र की आत्मा' के आँचल में डाल देता है।[1] यही कारण है कि बोसाके ग्रीन की अपेक्षा आदर्शवाद के कहीं अधिक निकट है।

बोसाँके ने व्यक्ति को राज्य के हाथ में सौंप अवश्य दिया है लेकिन इसका आशय नहीं है कि राज्य की इच्छा में अपनी इच्छा को विलीन कर देने के बाद व्यक्ति की इच्छा ही समाप्त हो जाती है। बोसाँके का कहना है कि राज्य में विलयित हो जाने से व्यक्ति की इच्छाओं का दायरा और भी व्यापक हो जाता है।

राज्य, विधि और व्यवस्था की सहायता से, समाज और व्यक्ति को समुचित उन्नति का प्रबंध करता है। ऐसे संघों या संवासों को नहीं बनने देता जो व्यक्ति या समाज की प्रगति में बाधक सिद्ध होते हैं।

ऐसे राज्य को बोसाँके ने सर्वश. तिमान (Omnipotent) बतलाया है। यह राज्य किसी भी समाजविरोधी तत्व का दमन करने की क्षमता रखता है। वह सर्वाधिक व्याप्त सामान्य इच्छा का प्रतिनिधि है।

शान्ति की अवस्था में राज्य की सर्वशक्तिमानता अधिक अनुभव नहीं होती। वह युद्ध काल में ही सबसे अधिक अनुभव होती है—जब कि राज्य सम्पूर्ण शक्तियों को अपने हाथ में ले लेता है और एक व्यक्ति की भाँति अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लड़ता है।

संक्षेप में राज्य समस्त संघों का अंतिम रूप है। वह सभी प्रकार के समुदायों और संवासों का संश्लिष्ट प्रतीक है। वह सामूहिक मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करता है।

दण्ड देने के कार्य में भी हम राज्य की सर्वशक्तिमानता का प्रमाण पाते हैं। पुलिस का सिपाही यथार्थ इच्छा (Real Will) का प्रतिनिधित्व करता है और जिस व्यक्ति ने अपनी वासनात्मक इच्छा (Actual Will) की झोंक में काम किया होता है उसे दण्ड मिलता है। बोसाँके के अनुसार पुलिस का सिपाही अपराधी व्यक्ति की यथार्थ इच्छा का ही मूर्त रूप है। इस प्रकार पुलिस अपराधी को दण्ड नहीं दिलाता बल्कि अपराधी व्यक्ति की यथार्थ इच्छा (Real Will) वासनात्मक इच्छा (Actual Will) को दण्डित करती है।

बोसाँके का राज्य सबंधी सिद्धान्त हीगल से अधिक स्पष्ट है क्योंकि हीगल ने राज्य और राजा को मिला दिया है जब कि बोसाँके ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सारे अधिकार राजा को नहीं राज्य को मिलने चाहिए।

बोसाँके के राज्य सबंधी सिद्धान्त के अध्ययन से हम निम्नलिखित दो परिणामों पर पहुँचते हैं :—

पहला व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए राज्य की बहुत आवश्यकता है। यदि राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है तो व्यक्ति का अस्तित्व भी निश्चित रूप से खतरे में पड़ जायगा। इसके अलावा व्यक्ति की स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है जब वह अपनी यथार्थ इच्छा (Real Will) की आज्ञाओं के अनुसार कार्य करे। उसकी यथ.र्थ इच्छा ही व्यक्ति की नैतिक चतना की प्रतीक है।

दूसरा राज्य का दायरा सर्वव्यापी है। वह सम्पूर्ण सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। सामाजिक चेतना व्यक्ति की नैतिक चेतना या यथार्थ इच्छा का ही परिवर्द्धित रूप है। सामाजिक चेतना में व्यक्ति की सारी यथार्थ इच्छाओं का सब प्रकार से प्रतिनिधित्व

1 "In the first placc Bosanquet abandons Green's cautious and hesitating treatment of the relation of the frec will of the average citizen to the state and its institutions and comes closer to the Hegelian conception of the free absorption of the individual in one spirit of nation. *Ibid*, p. 59.

हो जाता है। इसलिए राज्य के समस्त उपादान व्यक्ति की यथार्थइच्छा को ही प्रकट करते हैं। अतः राज्य की शक्तियाँ जितनी ही अधिक होंगी व्यक्ति के विकास में राज्य उतना ही अधिक सहायक हो सकेगा। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि राज्य के ऊपर स्वयं कोई नैतिक दायित्व नहीं है। व्यक्ति की इच्छाएँ मानने के लिए राज्य को बाध्य नहीं किया जा सकता लेकिन व्यक्ति राज्य की इच्छा मानने के लिए अवश्य बाध्य है। ग्रीन यह नहीं मानता था।

१५.४ **आलोचना**—बोसाँके के राज्य संबंधी सिद्धान्तों का अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित त्रुटियाँ भी पाते हैं :—(१) राज्य ही व्यक्ति का अंतिम स्वरूप नहीं है। राज्य को भी ऊपर से किसी नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है। इसके प्रमाण के लिए लीग ऑफ नेशन्स और संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमाण पर्याप्त है। राज्य के ऊपर भी कुछ शक्तियाँ हो सकती हैं। यह शक्तियाँ क्रमशः उभर रही हैं। निकट भविष्य में ही यह आशा की जाती है कि राज्य को उनके सामने नतमस्तक होना पड़ेगा। धर्म और संस्कृति आदि ऐसे तत्व अभी भी विद्यमान हैं जो राज्य की सीमा और उसके अधिकार-क्षेत्रों से परे हैं।

(२) यह कहना भी बड़ा कठिन है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य संप्रभु होने के नाते एक दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र हैं। आजकल के औद्योगिक और आर्थिक विकास के युग में किसी राज्य का पूर्ण स्वतंत्र होने का दावा करना पाखण्डमात्र है। सचाई यह है कि हर राज्य किसी न किसी रूप में एक दूसरे पर सदैव आश्रित रहता है। उदाहरण के लिए संचार और आवागमन के साधनों को ही ले लीजिए। क्या कोई भी राज्य अपने यहाँ के संचार और आवागमन के साधनों को बिना अन्य राज्यों की सहायता के बनाये रख सकता है? नहीं। तब फिर उसको सर्वशक्तिमानता की बात गलत हो जाती है।

(३) राज्य केवल सामान्य इच्छा का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता। कभी-कभी वह केवल बहुमत की ही इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। कभी-कभी राज्य से गलतियाँ भी होती हैं—कभी-कभी ही क्यों अधिकांशतः राज्य से गलतियाँ ही होती हैं। इसके उदाहरण के लिए किसी भी राज्य की विधिसंहिता को देखा जा सकता है। हर वर्ष उसमें नयी विधियों को जोड़ना पड़ता है और फिर कुछ समय बाद इन विधियों में भी संशोधन करना पड़ता है। अपने ही किसी कृत्य में राज्य को जब बार-बार संशोधन करना पड़े तो यह सिवा उसकी गलतियों के और किस दशा की ओर संकेत करता है। इसलिए, हीगल तथा बोसाँके का यह मत सर्वथा अमान्य है कि राज्य के हर काम को व्यक्ति को शिरोधार्य करना चाहिए। हिटलर के हर काम को जर्मन मानते गये जिसका परिणाम जर्मनों की तबाही ही नहीं सारी दुनिया की बरबादी के रूप में आज भी हमारे सामने है।

(४) राज्य को हम सब संघों का संघ, समुदायों का समुदाय और संवासों का संवास नहीं मान सकते। वह अधिक से अधिक बहुत से समुदायों के वर्ग में एक समुदाय ही माना जा सकता है।

(५) राजनीतिक दृष्टि से भी इस बात में संदेह है कि राज्य का दीर्घकाल तक अस्तित्व बना रह सकता है। बाह्यतः अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह आवाज उठायी जा रही है कि विश्वराज्य बने और आन्तरिक दृष्टि से राज्यों के अन्दर ऐसे तत्व पनप रहे हैं जो बहुलवादी (Pluralistic) हैं। बहुलवादी आन्दोलनकारी यह चाहते हैं कि सत्ता विकेन्द्रित हो और राज्य के हाथ में बहुत शक्ति न रहे। इनमें दोनों ही आन्दोलनों के सफल होने की संभावना है लेकिन यदि एक भी आन्दोलन सफल हो गया तो वह राज्य की सर्वोच्च या उच्चतम स्थिति को समाप्त कर देने के लिए पर्याप्त होगा।

इन सब बातों को बोसाँके नहीं देख सका था।

१६. बोसाँके का स्थान और अनुदाय

बोसाँके ब्रिटिश आदर्शवादी विचारधारा का अन्तिम विचारक था। इस विचारधारा का प्रभाव इसी बात से समझा जा सकता है कि इन विद्वानों के बाद आदर्शवादी विचारकों की परम्परा इंगलैण्ड में बहुत दिनों तक नहीं चली। बोसाँके का सबसे बड़ा अनुदाय यह है कि वह काफी हद तक इस बात को स्पष्ट कर देने में सफल हो गया कि व्यावहारिक मामलों में राज्य सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है और सामाजिक चेतना अन्य कुछ नहीं, व्यक्ति की नैतिक चेतनाओं का सामूहिक स्वरूप है। बोसाँके ने यह भी अधिक स्पष्टतापूर्वक बतला दिया कि राज्य ऐसा संवास है जो हमें अधिक से अधिक सुरक्षा प्रदान करता है और आदर्शादी विचारधारा एक ऐसी मानसिक अभिरुचि है जिसमें हम इस बात पर नहीं विचार करते कि वर्तमान परिस्थितियाँ और संवास क्या हैं बल्कि इस बात पर विचार करते हैं कि उन्हें कैसा होना चाहिए। आदर्शवादियों के नेता प्लेटो ने यही किया; अरस्तू ने यही किया, हीगल और काण्ट ने यही किया तथा ग्रीन, ब्रैडले और बोसाँके ने भी इन्हीं की परम्परा का अनुगमन किया। बोसाँके ने समाज तथा राज्य में अन्तर बतलाया। वह हीगल आदि की भाँति इस मामले में भ्रमित नहीं है।

बोसाँके के स्थान और अनुदायों पर विचार कर लेने के बाद अन्त में हम आदर्शवादी दर्शन की भी संक्षेप में समीक्षा कर सकते हैं।

१७. आदर्शवादी विचारधारा की समीक्षा

आदर्शवादी विचारधारा के जन्म की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर ध्यान जाते ही उसकी उपयोगिता हमारी समझ में आ जाती है। आदर्शवादियों ने उस समय नैतिकतापूर्ण स्वतंत्रता की आवाज बुलंद की जब सर्वत्र व्यक्तिवादी विचारधारा का दौरदौरा था। व्यक्तिवादी केवल नकरात्मक स्वतंत्रता के हिमायती थे। प्रतिबंधों का अभाव ही स्वतंत्रता है—यह उनका नारा था लेकिन आदर्शवादियों ने स्वतंत्रता की इस मर्यादा को मानने से इन्कार कर दिया। व्यक्तिवादी कहते थे यदि कोई शराब पीता है, जुआ खेलता है तो उसे ऐसा करने दो। आदर्शवादियों ने कहा व्यक्ति का ऐसा करना अनैतिक है और अनैतिक कार्यों के करने की स्वतंत्रता अभीष्ट नहीं है। स्वतंत्रता केवल ऐसी हो सकती है जो नैतिक हो। आदर्शवाद के आरंभिक विचारक काण्ट और ग्रीन न तो प्रजातंत्रविरोधी थे और न पुलिस राज्य के समर्थक। इन लोगों ने राज्य को बहुत अधिक ऊँचा भी नहीं बतलाया। ग्रीन तो विशेष अवस्थाओं में राजविद्रोह का अधिकार भी दे देता है। लेकिन हीगल, ब्रैडले और बोसाँके ने राज्य को अत्युच्च पद दिया है और यह सिद्ध कर दिया कि सब कुछ राज्य ही है और व्यक्ति को अपने सब अधिकार राज्य को दे डालने चाहिये।

अति-व्यक्तिवादी विचारधाराओं के प्रभाव में जब राज्य 'यद्भाव्यम् नीति' के कारण पुलिस राज्य बना हुआ था, उस समय आदर्शवादियों ने राज्य की बहुत अधिक सराहना करके कल्याणकारी राज्य की स्थापना का मार्ग खोल दिया। लेकिन उनकी विचारधारा में भी अनेक कठिनाइयाँ और त्रुटियाँ हैं।

१७.१ उदाहरणार्थ आलोचकों का सब से पहले यह कहना है कि आदर्शवादी विचारक बड़े ही अयथार्थवादी हैं। वे केवल कल्पनाजगत् में विचरण करते हैं और जो वास्तविक समस्याएँ होती हैं उन पर विचार नहीं करते। इस पर भी जैसे राज्य की कल्पना वे करते हैं वह स्वर्ग में हो तो हो; इस पृथ्वी पर तो कम से कम वह कभी स्थापित नहीं हो सकता आलोचकों का यह भी कहना है कि आदर्शवादी जीवन की यथार्थताओं से अपरिचित होते हैं और लोगों की आदतों, भावनाओं आदि की अपेक्षा करते हैं।

१७.२ आदर्शवादियों के विरुद्ध दूसरी शिकायत यह की जाती है कि एक ओर तो वह अपने आदर्शवाद द्वारा आदर्श परिस्थितियों की स्थापना पर बल देते हैं और दूसरी ओर प्रतिक्रियावादिता को भी प्रश्रय देते हैं। उदाहरण के लिए काण्ट आदर्शवादी होते हुए भी व्यक्तिवादिता की तरफ झुक गया है। इसी तरह ग्रीन मजदूरों और निर्धनों के प्रति सहानुभूति प्रकट करता हुआ भी पूँजीवाद का समर्थन करता है। यह बात उसके सम्पत्ति (Property) संबंधी विचारों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है। हीगल तो राज्य की उपासना को इतना महत्व दे देता है कि दैवी राजतंत्र की पद्धति पर ही हमसे विश्वास कर लेने के लिए कहता है। यह केवल जर्मन और अँग्रेज विचारकों के संबंध में ही सत्य नहीं है बल्कि यूनानी दार्शनिकों ने भी ऐसा ही किया था। दासता के संबंध में प्लेटो का मौन और अरस्तू का समर्थन उनकी प्रतिक्रियावादिता की ही ओर संकेत करता है।

१७.३ सभी आदर्शवादी विचारकों ने मानसिक पद्धति (Psychological method) का अनुगमन किया है। इस पद्धति की वजह से वह मस्तिष्क के अध्ययन पर बहुत अधिक बल देते हैं और तर्क (Logic) को ही सब कुछ मान बैठते हैं। लेकिन यह सब नहीं है। मनुष्य सावयवी होता है। उसके समस्त शरीर के महत्व की मस्तिष्क के महत्व की तुलना में उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है। आखिर मस्तिष्क भी तो शरीर में ही रहता है। इसलिए राजदर्शन में मनोविज्ञान के बराबर ही जीवशास्त्र का भी महत्व है जिसकी ओर आदर्शवादी ध्यान नहीं देते। दूसरे, उनकी अति मनोवैज्ञानिकता ने आदर्शवाद को आवश्यकता से अधिक जटिल और दुरूह बना दिया है।

१७.४ आदर्शवादी यह कहते हैं कि राज्य मनुष्य के मस्तिष्क और तर्कशक्ति के कारण पैदा हुआ है। आलोचकों का यह कहना है कि इस बात को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। राज्य कुछ अंशों में मस्तिष्क और तज्जनिक तर्कों से अवश्य उपस्थित हुआ है लेकिन राज्य का सर्वांश में जन्म इसी से नहीं हुआ। वह धीरे-धीरे विकसित हुआ है।

१७.५ समाज और राज्य के संबंध में आदर्शवादी विचारधारा में बड़ी अस्तव्यस्तता है। समाज और राज्य में आदर्शवादी विचारक विशेष अन्तर नहीं करते।

इन आलोचनाओं में काफी सार है लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं है कि आलोचकों के सभी तर्क ठीक हैं। **बार्कर**, जो स्वयं आदर्शवादी विचारधारा का आधुनिक विचारक है, लिखता है कि आदर्शवादियों को अयथार्थवादी कहना भ्रम है। राजनीतिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में, आचारशास्त्र की भाँति, दार्शनिक का कर्तव्य केवल आदर्श उपस्थित कर देना है। ये आदर्श ऐसे होने चाहिए जो मनुष्य की नैतिक आत्मा तथा अच्छे राज्य की सामान्य इच्छा से एकात्म स्थापित कर दें। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक है कि राजदर्शन में आदर्शवादी मनुष्य की केवल उच्चतम शक्तियों पर विचार करें। **बार्कर**, ने इस संबंध में सिजविक जैसे उपयोगितावादी के मत को उद्धृत करते हुए बतलाया है कि राजदार्शनिक के लिए आदर्शवादी होना कोई गुनाह नहीं है।[1] जब विचारक को आदर्श संबंध स्थिर करने हैं तो वह कल्पना का आश्रय अवश्य लेगा। आलोचकों की दूसरी शिकायत यह है कि आदर्शवादी प्रतिक्रियावादी होते हैं। ग्रीन, हीगल और अरस्तू आदि के विषय में लोगों ने यही कहा है। किन्तु इस आलोचना से आलोचकों की पहली शिकायत का समुचित उत्तर मिल जाता है और वह इस प्रकार कि आदर्शवादियों ने समाज के सभी संवासों को तोड़ डालने की अनुमति नहीं दी है। प्लेटो और अरस्तू ने देखा कि यूनानी समाज दासता पर

1 "Sidgewick was a utilitarian; but Sidgewick holds that the study of Politics is concerned primarily with . . . the system of relations whice *ouaht to be* established . . in a society of civilized men." Sidgewick as quoted by E. Barker in *Pol. Th. from* 1848 *to* 1914, pp. 66-67.

आधारित है—इसीलिए उन्होंने दासता-प्रथा के विरुद्ध राय नहीं दी; अपितु समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। ग्रीन के समय में समाज पूँजी पर आधारित था। यदि वह पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाता तो निश्चित रूप से यह उस समय के समाज के अस्तित्व पर प्रहार होता। हीगल के बारे में भी यही बात है। उस समय जर्मनी को किसी ऐसे राजा की आवश्यकता थी जो पूरे राज्य को तलवार और अपने प्रभाव की शक्ति से एक बनाये रख सके। इन सब बातों से आदर्शवादी विचारकों की यथार्थवादिता ही प्रकट होती है अयथार्थवादिता नहीं। दूसरे ग्रीन, ब्रैडले, बोसाँके आदि निरन्तर निर्धनवर्ग से सहानुभूति प्रकट करते रहे। उनकी उन्नति के लिए सार्वजनिक जीवन में रहकर, वह जो कुछ भी कर सकते थे, किया। यह सच है कि मनोविज्ञान पर उन्होंने अधिक बल दिया और उनके विचारों में इसकी वजह से जटिलता और दुरूहता आ गयी है लेकिन इसका उत्तर यह है कि जीवशास्त्र ही तो सब कुछ नहीं है। मनोविज्ञान का महत्व आज सर्वत्र अनुभव किया जाता है। उस पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। रही दुरूहता की बात—सो जब हम मानसिक जगत् की ऊँचाइयों पर चढ़ेंगे तो उसमें जटिलता और दुरूहता अवश्य आयेगी। वह तो विषय का दोष है, विचारक का नहीं।

हमें देखना यह चाहिए कि उन विचारकों का मूल उद्देश्य क्या था ? वे मानवता का कल्याण चाहते थे या नहीं ? उन्होंने जो कुछ किया उसमें सार्वजनिक भलाई का भाव था या नहीं ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर हम खोजें तो इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे कि अन्य विचारकों की भाँति आदर्शवादी विचारकों के प्रेरणासूत्र अन्य किसी भी विचार-धारा के विचारकों के प्रेरणासूत्रों की तुलना में तुच्छ कोटि के नहीं थे। उनकी उच्चता और महत्ता का यही कारण है।

———

कार्ल मार्क्स और उनके पूर्ववर्ती
(KARL MARX & HIS PREDECESSORS)

१. स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारक—२. इंगलैण्ड के दार्शनिक—३. फ्रांसीसी विचारक—४. कार्ल मार्क्स—५. मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—६. ऐतिहासिक भौतिकवाद का महत्व—७. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त—८. मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना—९. पूंजीवाद के संबंध में मार्क्स का मत—१०. श्रमजीवियों की क्रान्ति—११. क्रान्ति के बाद—१२. फ्रेडरिक ऐंजिल्स—१३. मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया—१४. मार्क्सवादी आधार पर विकसित अन्य विचार-धाराएँ।

कार्ल मार्क्स तथा उनके अनुयायियों ने जिस विचारधारा का प्रतिपादन किया, स्थूल रूप से हम उसे समाजवादी विचारधारा कह सकते हैं। समाजवाद की कोई एक निश्चित विचारधारा नहीं है—बल्कि समाजवाद में कई शाखा-प्रशाखाएँ हैं। लक्ष्यों और पद्धतियों की कुछ विभिन्नताओं के होते हुए भी समाजवादी विचारधारा की प्रत्येक शाखा का यह लक्ष्य समान है कि उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो जाय; व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत हो जाय और सबको अपनी उन्नति करने के समान अवसर मिलें।

यदि ध्यान से देखा जाय तो समाजवादी विचारधारा के ये तत्त्व, जो अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में विशेष रूप से पनपे, बिलकुल ही नये नहीं थे। समाजवादी विचारधारा के समस्त तत्त्वों का एकमात्र अन्वेषणकर्ता मार्क्स ही नहीं था। मार्क्स के पहले भी ऐसे विचारक हुए थे जिन्होंने समाजवादी विचारधारा के किसी न किसी पक्ष का प्रतिपादन किया था।

यूनानी सभ्यता के युग में प्लेटो साम्यवादी या समाजवादी समाज की कल्पना की थी। उसने शासकवर्ग के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति रखना वर्जित कर दिया था। इसी प्रकार मध्य-काल के आरंभ और उत्तरकाल में भी कई विचारक हुए जिन्होंने प्लेटो के आदर्शानुसार अथवा अन्य सूत्रों से समाजवादी विचारों का प्रतिपादन किया। लेकिन इन सब विचारकों की साम्यवादी या समाजवादी योजनाएँ कल्पना और दया पर आधारित थीं। उनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। कार्ल मार्क्स ऐसा पहला विचारक था जिसने समाजवादी विचारधारा को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। इसीलिए मार्क्स के पूर्व के समाजवादी विचारकों को 'स्वप्नलोकीय विचारक' (Utopian Thinkers) कहा जाता है। ये लोग रामराज्य या स्वर्ग जैसे समाज की कल्पना तो कर लेते थे लेकिन अपनी कल्पना को मूर्तरूप देने का कोई साधन नहीं बता पाते थे।

कार्ल मार्क्स ने वैज्ञानिक समाजवाद का युग इन अर्थों में आरंभ किया कि वर्गहीन समाज का लक्ष्य केवल स्वप्नलोकीय कल्पना ही नहीं है—बल्कि आगे आनेवाला एक निश्चित तथ्य है। समाजवाद का लक्ष्य ऐतिहासिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अवश्य पूरा होगा।

कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद तथा उसकी शाखाओं प्रशाखाओं पर विचार करने के पूर्व हम संक्षेप में स्वप्नलोकीय विचारकों की समाजवादी कल्पनाओं का विहं-गावलोकन करेंगे।

१. स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारक

स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारकों को अपनी कल्पनाएँ करने का अवसर व्यक्तिवादी राजनीतिक और आर्थिक विचारधाराओं के कारण मिला। औद्योगिक क्रान्ति के बाद सामान्यतः सारे यूरोप में और विशेषकर इंगलैण्ड और फ्रांस में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि एक वर्ग तो उत्पत्ति के साधनों पर एकाधिकार स्थापित कर धन संचित करता चला जा रहा था और दूसरा ओर सर्वसाधारण की ओर विशेषरूप से किसान और मजदूरवर्ग की आर्थिक दशा निरन्तर खराब होती चली जा रही थी। 'यद्भाव्यम् नीति' के अनुसार राजकाज करनेवाले शासक या तो कोई हस्तक्षेप करते ही नहीं थे और यदि करते भी थे तो केवल श्रमजीवियों के विरुद्ध। उन्हीं के विरुद्ध कानून बनाये जाते थे तथा उनका ही निर्दयतापूर्वक दमन किया जाता था; निर्धनता-जनित कष्टों का इंगलैण्ड तथा फ्रांस के विचारकों पर बड़ा असर पड़ा और उन्होंने बतलाया कि निर्धनता ही सारी सामाजिक बुराइयों की जड़ है, और निर्धनता की जड़ व्यक्तिगत सम्पत्ति है। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति ही जड़ से साफ कर दी जाय तो अधिकांश सामाजिक बुराइयाँ दूर हो जायँगी और इन बुराइयों के साथ ही राजनीतिक अभावाभियोग भी समाप्त हो जायँगे।

इंगलैण्ड में ऐसे विचारकों का नेतृत्व सर राबर्ट ओवेन ने किया तथा फ्रांस में जीन डी सिसमण्डी ने।

२. इंगलैण्ड के विचारक—वैसे तो स्वप्नलोकीय समाजवाद की कल्पना इंगलैण्ड में सर टॉमस मोर ने की थी लेकिन अठारहवीं शताब्दी में यह कार्य राबर्ट ओवेन तथा डॉक्टर हॉल ने किया। ओवेन के अनुयायियों में विलियम थॉम्पसन का नाम भी उल्लेखनीय है।

२.१ राबर्ट ओवेन (Robert Owen)—राबर्ट ओवेन का जन्म इंगलैण्ड के एक सम्पन्न घराने में सन् १७७१ में हुआ था और मृत्यु सन् १८५८ में। ओवेन स्वयं एक मिलमालिक था लेकिन उसकी मनोवृत्ति अपने समय के मिलमालिकों की भाँति संकुचित नहीं थी। उसे मानव-प्रकृति की अच्छाइयों पर बड़ा विश्वास था। इसके साथ ही वह बड़ा उत्तम व्यवसायी भी था।

ओवेन ने दो पुस्तकें लिखीं—जो उसके विचारों की जानकारी की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। पहला है 'ए न्यू व्यू ऑफ सोसाइटी' (A New View of Society) और दूसरा है 'दि बुक ऑफ दि न्यू मॉरल वर्ल्ड' (The Book of the New Moral World)। ये दोनों पुस्तकें क्रमशः सन् १८१२ और सन् १८२० में प्रकाशित हुईं।

ओवेन का कहना था कि मनुष्य का चरित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चरित्र के निर्माण में भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का बड़ा हाथ रहता है। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म, विवाह आदि ऐसी बाधाएँ हैं जिनसे मनुष्य के समुचित विकास में बड़ी अड़चन पड़ती है। अतएव, ओवेन पूँजीवादी व्यवस्था के साथ ही व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म का भी विरोधी था। अपने इसी विरोध के कारण ओवेन के वर्ग के लोग तथा पादरी उसके कट्टर शत्रु हो गये थे। उन्होंने ओवेन के प्रयोगों को असफल बनाने के प्रयत्नों में कोई कसर न छोड़ी।

ओवेन ने अपनी पूँजी के बल से छोटे-छोटे समुदायों की स्थापना की थी। ये समाज आत्मावलम्बी बने रहें, इसका ओवेन ने खास ध्यान रखा। उसके ऐसे समुदायों में इण्डियाना का न्यू हारमनी स्थित समुदाय तथा स्कॉटलैण्ड स्थित लानार्क का समुदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन समुदायों में ओवेन ने अपनी कल्पना के अनुकूल शिक्षा तथा उद्योग सबधी विभिन्न प्रयोग किये। इन समुदायों की स्थापना का उद्देश्य यह था कि उनमें व्यक्ति सर्वथा स्वतंत्र रहकर अपने चरित्र का अपेक्षित विकास कर सके। इन समुदायों की आन्तरिक

व्यवस्था करने के लिए एक सर्वसाधारण परिषद् की व्यवस्था थी। आन्तरिक प्रशासन के सभी कार्य यही परिषद् करती थी और इसकी सदस्यता का अधिकार ३० से लेकर ४० वर्ष की आयु तक के लोगों को था। बाह्य संबंधों को बनाये रखने के लिए अलग परिषद् थी जिसमें ४० से लेकर ६० वर्ष तक की आयु के लोग रहते थे। इन समुदायों में जेल नहीं थी। अपराधियों को नैतिक, मानसिक और शारीरिक अस्पतालों में उनके अपराध के अनुरूप चिकित्सा के लिए भेज दिया जाता था। इन समुदायों की स्थापना का एक लक्ष्य यह भी था कि प्रत्येक श्रमजीवी अपने आपको जिस औद्योगिक संस्थान (Industrial Establishment) में काम करे, उसका स्वामी समझे—दास नहीं। यह भावना तभी उत्पन्न हो सकता है जब व्यक्ति या श्रमजीवी को उपार्जित धनराशि का उसके श्रम के अनुसार पूरा-पूरा हिस्सा मिले। ओवेन ऐसे वर्ग को बिलकुल उड़ा देना चाहता था जो बीच में दलाली करके बिना श्रम किये गुलछर्रे उड़ाना चाहता था। ओवेन के इन समुदायों में ५०० से लेकर ३००० तक व्यक्ति रहते थे। इन समुदायों के पास पर्याप्त भूमि भी थी। इस भूमि पर ये लोग अपने श्रम द्वारा अन्न उत्पन्न करते थे, या उद्योगों की स्थापना करते थे।

ओवेन के ये समुदाय उसकी मृत्यु के पश्चात् छिन्न-विच्छिन्न हो गए। उनका कोई चिरस्थायी रूप स्थिर न हो सका। फिर भी इंगलैण्ड में मजदूरों के बीच सहकारिता के आन्दोलन का प्रचार ओवेन के उक्त विचारों के कारण संभव हो सका। ओवेन के विचारों के कारण ही श्रमजीवियों के कल्याण के लिए कुछ कानून बनाये गए। इंगलैण्ड का फैक्टरी एक्ट ओवेन तथा उसके अनुयायियों के कारण ही बन सका। इस अधिनियम (ऐक्ट) द्वारा काम के अधिकतम घण्टे निश्चित हो गए; न्यूनतम वेतन निर्धारित हो गया तथा कारखाने के मालिकों को छोटे बच्चों तथा गर्भवती स्त्रियों से काम कराने से रोका जा सकता। मिल-मालिकों को इस बात के लिए भी विवश किया जा सका कि वे अपने लाभ का कुछ अंश मजदूरों के मनोरंजन, शिक्षण आदि जैसे कल्याणकारी कामों में भी खर्च करें। कालान्तर में मजदूरों को अपना यूनियन बनाने तथा "सामूहिक सौदा" (Collective Bargain) करने का अधिकार भी मिल सका।

२.२ **डाक्टर हॉल** (Doctor Hall)—डाक्टर हॉल भी ओवेन के समकालीन ही थे। डॉक्टर हॉल ने भी दो पुस्तकें लिखी थीं। पहली थी 'दि एफेक्ट्स ऑफ सिविलायजेशन ऑन यूरोपियन स्टेट्स (The Effects of Civilization on European States) और दूसरी थी 'एन आनसर टू मालथस (An Answer to Malthus)। दूसरी पुस्तक में डॉक्टर हॉल ने मालथस के जनसंख्या संबंधी सिद्धान्त का खण्डन किया। पहली पुस्तक में उसने तत्कालीन यूरोपियन सभ्यता की आलोचना करते हुए लिखा कि यह सभ्यता एक ऐसे परिश्रमजीवी वर्ग को जन्म दे रही है जो स्वयं निठल्लों का जीवन बिताता है और अपनी चालाकी से उत्पत्ति के साधनों (Means of Production) पर अधिकार कर मजदूरों को उपार्जित धन का उचित हिस्सा नहीं लेने देता। हॉल का मत था कि पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त कर दिया जाना चाहिए और उत्पत्ति के साधन श्रमजीवियों के हाथ में रहने चाहिए।

२.३ **विलियम थॉम्पसन आदि** (William Thompson & Others)—विलियम थॉम्पसन ओवेन तथा हॉल आदि का अनुयायी था। थॉम्पसन का जन्म आयरलैण्ड में हुआ था। सन् १८२४ में थॉम्पसन ने 'डिस्ट्रिब्यूशन ऑफ वेल्थ' (Distribution of Wealth) नाम की एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने बतलाया कि श्रम द्वारा उपार्जित धन का किस प्रकार ऐसा वितरण किया जा सकता है जिससे अखिल मानवता को अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति हो सके। थाम्पसन ने बतलाया कि श्रम ही सारे

धन की उत्पत्ति का साधन है। जो श्रम करता है वही धन का उचित अधिकारी है। सामाजिक और नैतिक व्यवस्थाओं के संबंध में थॉम्पसन ने कहा कि वे ओवेन द्वारा निर्दिष्ट रेखाओं पर बनायी जानी चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति हटा दी जानी चाहिए। व्यवस्थापकों और श्रमजीवियों के बीच सहयोग होना चाहिए। थॉम्पसन महिला स्वातंत्र्य का भी बड़ा पक्षपाती था। उसके समाजवादी विचारों ने कार्ल मार्क्स को और महिला-स्वातंत्र्य संबंधी विचारों ने जॉन स्टुअर्ट मिल को बड़ा प्रभावित किया था।

टॉमस हॉजस्किन, जॉन ग्रे, फ्रांसिस ब्रे आदि भी लगभग ऐसी ही विचारधाराओं के पोषक थे। हॉजस्किन के विचार तो अराजकतावादियों से मिलते-जुलते थे। ब्रे ने गिल्ड समाजवाद की विचारधारा के विकास का प्रारंभिक कार्य किया। इनके अलावा चार्ल्स किंग्सले तथा एफ० डी० मारिस आदि जैसे कुछसमाजवादी विचारक भी हुए जिन्होंने ईसाई धर्म के सहारे समाजवादी विचारों के प्रचार का यत्न किया। लेकिन ये विचारक अपने कार्य में अधिक सफल नहीं हो सके।

३· फ्रांसीसी विचारक

इंगलैण्ड के बाद यूरोप के जिस देश में स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारों का विकास हुआ—वह फ्रांस ही था। इंगलैण्ड के विचारकों की भाँति फ्रेंच विचारकों ने भी इस बात पर विशेष बल दिया कि राजनीतिक कष्टों और दुखों के निवारण का सबसे अच्छा मार्ग यही है कि सामाजिक बुराइयों को दूर किया जाय। फ्रेंच विचारकों की विशेषता यह है कि इन्होंने आरंभ से ही व्यक्तिवादी आर्थिक और राजनीतिक विचारधारा की आलोचना करना आरंभ कर दिया। वे 'यद्‌भव्यं नीति' के भी कट्टर निन्दक थे। फ्रेंच विचारकों का ऐसा करना स्वाभाविक भी था क्योंकि फ्रांस की राजक्रान्ति के उपरान्त फ्रांस की घरेलू आर्थिक व्यवस्था तो चौपट हो ही गयी थी, एडम स्मिथ आदि के अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित आर्थिक "यद्‌भाव्यम् नीति" के कारण वह बाहरी क्षेत्र में भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्वता के कारण अपनी आर्थिक स्थिति को नहीं सँभाल पा रही थी। लेकिन फ्रांसीसी विचारधारा में ओवेन आदि अँग्रेज विचारकों की भाँति व्यावहारिकता का सर्वथा अभाव है।

फ्रांसीसी समाजवादी विचारकों की स्वप्नलोकीय परम्परा जीन डी सिसमण्डी और काउण्ट हेनरी डी सेण्ट साइमन से आरंभ होती है और वह फूरियर, प्रूदों आदि द्वारा आगे बढ़ायी जाती है।

३.१ जीनन्डी सिसमण्डी (Jean De Do Sismoni)—जीन डी सिसमण्डी का जन्म फ्रांस में हुआ था। उसका जीवनकाल सन् १७७३ से १८४२ तक है। सन् १८१९ में उसकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी—जिसका नाम 'न्यू प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकनॉमी' (New Principle of Political Economo) है। इसी पुस्तक में हमें उसके विचार मिलते हैं।

सिसमण्डी, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है आर्थिक यद्‌भाव्यम् नीति का अत्यन्त कठोर निन्दक था। उसका कहना था कि वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का पूर्णतः उन्मूलन होना तो संभव नहीं है लेकिन यह बिलकुल संभव है कि व्यक्तिवादियों के पुलिस राज्य को कल्याणकारी राज्य में बदल दिया जाय। कल्याणकारी राज्य से वह यह नहीं चाहता था कि तत्काल ही सारी व्यक्तिगत सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो जाय बल्कि यह चाहता था कि करों आदि द्वारा आर्थिक विषमता को दूर किया जाय। सिसमण्डी का यह भी कहना था कि पूँजीवादी कभी राज्य को कल्याणकारी न होने देंगे—इसलिए बेहतर यही होगा कि पूँजीवाद को ही समाप्त कर दिया जाय। लेकिन यदि ऐसा न हो सके तो

मजदूरों को ट्रेड यूनियन बनाने, हड़ताल करके अपने वेतन को बढ़वाने के अधिकार अवश्य मिलने चाहिए। वह यह भी चाहता था कि काम के अधिकतम घण्टे निर्धारित हो जाने चाहिए। बच्चों से कारखानों में काम न लिया जाना चाहिए और हर श्रमजीवी को सप्ताह में एक दिन का अवकाश अनिवार्यतः मिलना चाहिए। प्रजातांत्रिक राज्यों की मजदूरों संबंधी उदारतावादी नीति का सिसमण्डी प्रथम दार्शनिक था।

३.२ **काउण्ट हेनरी डी सेण्ट साइमन** (Count Henri de St. Simon)—सेण्ट साइमन का जन्म फ्रांस के प्रसिद्ध सामन्तवादी घरानों में से एक में सन् १७६० में हुआ था। सेण्ट साइमन ६५ वर्ष की अवस्था प्राप्त करने के बाद सन् १८२५ में मरा। उसका आरंभ से ही ईसाई पादरियों से सम्पर्क रहा। वह फ्रांस के शासक वर्ग के एक घराने में पैदा हुआ था—इसलिए अपने देश की स्थिति से भली भाँति परिचित था। उसके विचार हमें दो पुस्तकों में मिलते हैं—'दि इण्डस्ट्री' (The Industry) और 'दि न्यू क्रिश्चियनिज्म (The New Christianism)। ये दोनों ही पुस्तकें फ्रेंच में हैं और क्रमशः सन् १८१७ और १८२५ में प्रकाशित हुई थीं। सेण्ट साइमन के एक शिष्य **एनफेण्टाइन** (Enfantine) ने अपने गुरु के दर्शन की बड़ी अच्छी व्याख्या की है।

साइमन इस बात से परिचित था कि लोगों पर से क्रमशः धर्म का प्रभाव घटता जा रहा है। अतः, ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक है कि लोग नैतिक सिद्धान्तों को भी नहीं मानेंगे। ऐसी अवस्था में उसकी यह इच्छा थी कि नैतिक सिद्धान्तों का, ईसा की धार्मिक शिक्षाओं के प्रकाश में, अभिनवीकरण किया जाय। इस नयी नैतिकता को उसने सकारात्मक अथवा रचनात्मक नैतिकता (Positive Morality) की संज्ञा दी।

सेण्ट साइमन राजनीति को मुख्यतः 'उत्पत्ति का विज्ञान' (Science of Production) मानता था। उसका कहना था कि यदि हम किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना या विश्लेषण करना चाहते हैं तो हमें उस समय के उत्पत्ति के साधनों की खोज करनी होगी, उनकी प्रकृति को समझना होगा। सेण्ट साइमन ने यह भी बतलाया कि समस्त याजनीतिक उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में आर्थिक या उत्पत्ति के साधनों में होनेवाले परिवर्तन ही कार्य करते हैं। यहाँ हमें कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पूर्वध्वनि सुनायी पड़ती है।

सेण्ट साइमन ने भी वर्गहीन समाज की कल्पना की थी। उसने बतलाया कि वर्गहीन समाज में केवल श्रमजीवी वर्ग ही रहेगा। परश्रमजीवी वर्ग के लोगों का—चाहे वे आभिजात्य वर्ग के हों और चाहे पूँजीवादी वर्ग के—बिलकुल सफाया हो जायगा। जो परिश्रम करेगा—वही जिन्दा रहेगा। सेण्ट साइमन का कहना था कि यदि वर्तमान समाज से पूँजीवादी, सामन्तवादी और आभिजात्यवर्ग के लोगों को निकाल दिया जाय तो कोई हर्ज नहीं है। इसके विपरीत यदि श्रमजीवी वर्ग किसी तरह नष्ट हो जाता है तो समाज का समाज ही नष्ट हो जायगा।

वर्गहीन समाज की शासन व्यवस्था की रूपरेखा भी सेण्ट साइमन ने दी है। वह अपने आदर्श शासन के क्षेत्र में शीर्षतम स्थान तो एक राजा को देना चाहता था, परन्तु विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियों को वह तीन सदनों के बीच विभक्त कर देना चाहता था। उसका कहना था कि पहले सदन (First House) का कार्य यह होना चाहिए कि वह विधेयक बनाए जाने के संबंध में दूसरे सदन के सामने अपनी सिफारिशें रक्खें; दूसरे सदन (Second House) का कार्य उस विधेयक (Bill) को विधि (Law) का रूप देना होना चाहिए, तीसरे सदन (Third House) का कार्य विधियों (Laws) को कार्यान्वित करना होना चाहिए। सेण्ट

साइमन ने यह भी बतलाया कि इन सदनों का, जो संयुक्त रूप से संसद (Parliament) कहलायेंगे, संघटन किस प्रकार किया जाय। पहले सदन में सेण्ट साइमन के मतानुसार कवि, चित्रकार, शिल्पी तथा इंजीनियर आदि रहें। दूसरे सदन में मनोवैज्ञानिक, गणितज्ञ, दार्शनिक आदि रहें। तीसरे सदन में बड़े-बड़े उद्योगों आदि के कर्णधार रहें। सेण्ट साइमन का कहना था कि राज्य का प्रथम और अंतिम लक्ष्य प्रजा अथवा नागरिकों की आर्थिक उन्नति करना है। उसने नयी सामाजिक व्यवस्था की जो कल्पना की उसमें इस बात का ध्यान रक्खा कि राज्य का नेतृत्व श्रमजीवियों के हाथ में ही रहे और इस प्रकार सत्ता का उपयोग किया जाय कि उद्योगों की भली भाँति प्रगति हो सके।

सेण्ट साइमन ऐसी व्यक्तिगत सम्पत्ति को शोषण या चोरी का परिणाम मानता था जो श्रम द्वारा अर्जित न की गयी हो। उसने यह भी कहा कि जो वर्ग चोरी के श्रम पर जीवित रहेगा उसका एक न एक दिन श्रमजीवी वर्ग के साथ अवश्य संघर्ष होगा। फ्रांस की राजक्रान्ति को भी उसने एक ऐसा ही वर्ग संघर्ष माना था।

सेण्ट साइमन ने अपनी मृत्यु के बाद जिन अनुयायियों और शिष्यों की परम्परा को छोड़ा—उस परम्परा के लोगों में एनफेण्टाइन के अतिरिक्त बेजार्ड का नाम भी उल्लेखनीय है। इन लोगों ने साइमन के दर्शन का विकास कर क्रान्तिकारी समाज की स्थापना की; लेकिन इस समाज को १८३१ में विघटित कर दिया गया क्योंकि इसकी गतिविधियों को फ्रांस की सरकार सहन न कर सकी।

सेण्ट साइमन की विचारधारा ने जॉन स्टुअर्ट मिल, ऑगस्ट कॉमटे, कार्ल मार्क्स आदि को विशेषरूप से प्रभावित किया था। सेण्ट साइमन के सिद्धान्तों के आधार पर ही इतिहास के इस दर्शन की स्थापना की गयी कि अतीत की घटनाओं के प्रकाश में आगामी युग की तरफ बढ़ने का मार्ग प्रशस्त किया जाय। इतिहास केवल राजाओं और साम्राज्यों के उत्थान-पतन की निर्जीव कथा ही नहीं है बल्कि मानवता का मार्गदर्शक भी है। दूसरे ज्ञान-विज्ञानों के सहारे युग की सारी समस्याओं के हल की कुंजी प्राप्त की जा सकती है।

३.३ **चार्ल्स फौरियर** (Charles Fourier)—चार्ल्स फौरियर एक और ऐसा फ्रांसीसी स्वप्नलोकीय विचारक था जिसकी विचारधारा की अन्तर्वृत्तियाँ अराजकतावादी दर्शन की पूर्वध्वनियाँ थीं। वह राज्य की सत्ता के केन्द्रीकरण के बजाय विघटनीकरण के पक्ष में था। फौरियर का जन्म फ्रांस में सन् १७७२ में हुआ था। सन् १८२२ और १८२९ में उसकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। सन् १८३७ में उसकी मृत्यु हो गई। पहली पुस्तक में फौरियर ने कृषि की उपयोगिता पर प्रकाश डाला और दूसरी पुस्तक में एक आदर्श समाज की रूपरेखा खींची।

फौरियर सेण्ट साइमन की भाँति अत्यधिक औद्योगीकरण का पक्षपाती नहीं था—हालाँकि साइमन की भाँति उसके विचारों पर भी धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित है।

वह उत्पादित वस्तुओं के अपव्यय का बड़ा आलोचक था। उसका कहना था कि केवल उतनी ही वस्तुओं की उत्पत्ति की जानी चाहिए जितनी आवश्यकता हो।

उसने आदर्श समाजों की जो रूपरेखा अंकित की उसमें बतलाया कि सारी मानवता को छोटे-छोटे समुदायों में विभक्त कर दिया जाना चाहिए। इन समुदायों को फौरियर 'फेलान्ज' (Phalange) कहता था। ऐसे प्रत्येक समुदाय में १६०० से २००० तक व्यक्ति रहने चाहिए। ये व्यक्ति चार-चार व्यक्तियों की पारिवारिक इकाई के रूप में ४०० से ५०० परिवारों की शकल में रहें। इन समुदायों में श्रमजीवी, उद्योगपति, डाक्टर, इंजीनियर आदि सभी लोग होने चाहिए। वैसे इन समुदायों में कुछ कारखाने भी खोले जायँ लेकिन आय का मुख्य साधन कृषि ही रहे। कार्य के घण्टे अपेक्षाकृत सीमित होने चाहिए

जिससे श्रम के प्रति लोगों का आकर्षण बना रहे। निम्नकोटि के तुच्छ तथा अप्रिय कार्यों के लिए अधिक पैसा दिया जाना चाहिए। प्रत्येक परिवार की न्यूनतम आय इतनी होनी चाहिए कि वह आराम से जीवन बिता सके। समुदाय को जो भी लाभ हो वह एक निश्चित अनुपात के अनुसार समस्त परिवारों के बीच बाँट दिया जाना चाहिए। इन समस्त समुदायों को राजधानी कुस्तुनतुनिया होनी चाहिए। इन समुदायों की विशेषता यही है कि वे आत्मनिर्भर रहें और पारस्परिक सहयोग पर आधारित रहें। इन समुदायों में सबसे महत्वपूर्ण वर्ग **फौरियर** ने श्रमिक को ही माना है। इसके बाद पूँजीपति को स्थान दिया है और सबसे अन्त में व्यापारी वर्ग को स्थान मिला है। यह बात लाभांश वितरण के अनुपात से सिद्ध हो जाती है। फोरियर का कहना था कि समुदाय के समस्त परिवारों के निश्चित वेतन को देने के बाद संपूर्ण लाभ को बारह हिस्सों में बाँट दिया जाना चाहिए और इसके तीन हिस्से व्यापारी वर्ग को, चार हिस्से पूँजीवाले वर्ग को और पाँच हिस्से श्रमिक वर्ग को दिये जाने चाहिए।

फोरियर का कहना था कि यदि उसके सुझाव के अनुसार समुदायों की स्थापना की जाय तो मनुष्य मात्र की प्रगति और स्वतंत्रता सुरक्षित हो जायगी।

फोरियर महिलाओं को भी सार्वजनिक क्षेत्र में लाने का पक्षपाती था।

३.४ **पियरे जोसेफ प्रूदों** (Pierre Joseph Proudhon)—प्रूदों, सच पूछा जाय, तो अराजकतावादी था। उसके विचार फ्रांस में सन् १८४८ के उपरान्त अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। प्रूदों का जन्म सन् १८०९ में हुआ था और मृत्यु सन् १८६५ में। उसने वैसे तो चार-पाँच पुस्तकें लिखीं लेकिन इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध 'ह्वाट इज प्रॉपर्टी' (What Is Property), जो सन् १८४० में प्रकाशित हुई, प्रसिद्ध हुई। उसकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ पॉवर्टी' (Philosophy of Poverty) है, लेकिन वह खोज की दृष्टि से इतनी प्रसिद्ध नहीं है जितनी इस बात से कि उसके उत्तर में कार्ल मार्क्स ने 'पॉवर्टी ऑफ फिलासॉफी' (Poverty of Philosophy) जैसी पुस्तक लिखी।

प्रूदों सब प्रकार के शासन को साधारण व्यक्ति के दमन का साधन मानता था और कहता था कि राज्य सर्वथा अनावश्यक है और उसकी समाप्ति जितनी ही जल्दी हो उतनी ही अच्छी बात है।

प्रूदों पर गॉडविन के विचारों का काफी प्रभाव पड़ा था।

प्रूदों ने सबसे पहली बार तर्कसंगत दृष्टि से यह सिद्ध किया कि सारी सम्पत्ति चोरी का फल होती है। जब तक कोई व्यक्ति चोरी नहीं करेगा तब तक वह सम्पत्ति अर्जित नहीं कर सकता। इस संबंध में प्रूदों का कहना था कि धन श्रम द्वारा पैदा होता है। यदि प्रत्यक व्यक्ति को जितना वह श्रम करता है उतना धन दे दिया जाय तो किसी भी व्यक्ति के पास अटूट धनराशि कभी भी एकत्रित नहीं हो सकती। किसी एक व्यक्ति के पास अधिक सम्पत्ति तभी एकत्रित होती है जब वह दूसरों से श्रम कराये और जितना श्रम वे करें उतना धन उनको न देकर उससे कम दे। श्रम के अनुपात से श्रमजीवी को कम देना प्रूदों चोरी मानता था। वह सब प्रकार की सम्पत्ति के विरुद्ध था और उसका कहना था कि राज्य के पास भी कोई सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रूदों के इन विचारों को—विशेषकर राज्य के उन्मूलन संबंधी अराजकतावादी विचारों को—आगे चलकर बाकुनिन, क्रोपॉटकिन, रिक्सल आदि रूसी दार्शयनकों ने विकसित किया। स्टर्नर, टॉल्स्टाय तथा नीत्शे आदि भी प्रूदों से प्रभावित थे।

अन्य फ्रेंच स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारकों में एटिने केबट का नाम भी उल्लेखनीय है।

४. कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

कार्ल मार्क्स के दर्शन ने स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारकों के युग का अन्त कर दिया। कार्ल मार्क्स ने कहा कि वर्गहीन समाजवादी संसार की कल्पना थोथा आदर्शवाद नहीं है। वह यथार्थ जगत् का अवश्यंभावी परिणाम है। इन परिणामों को उसने वैज्ञानिक साधनों से सिद्ध किया। इसीलिए कार्ल मार्क्स के साथ वैज्ञानिक समाजवाद तथा उसकी धाराओं-प्रधाराओं का युग आरंभ होता है। मार्क्स ने ही समाजवाद को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप भी दिया।

४.१ **जीवन परिचय**--कार्ल मार्क्स का जन्म जर्मनी के एक यहूदी परिवार में सन् १८१८ में हुआ था। मार्क्स के माता-पिता साधारण वित्त के मध्यवर्गीय लोगों में से थे। इन लोगों ने अपने पुत्र को यथाशक्ति शिक्षा दिलायी और वकालत की ट्रेनिंग दी। लेकिन मार्क्स का ध्यान वकालत की अपेक्षा दर्शन के अध्ययन की ओर अधिक था। उसने वाइमार विश्वविद्यालय (Weimar University) के अध्ययन के दिनों में ही हीगल का दर्शन पढ़ना आरंभ कर दिया था। बाद में उसकी रुचि अर्थशास्त्र की तरफ हुई और उसने बर्लिन जाकर अर्थशास्त्र पढ़ा। इन्हीं दिनों वह क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आया और क्रमशः मार्क्स के विचार इतने उग्र हो गये कि उसे सरकार ने जर्मनी से निष्कासित कर दिया। जर्मनी से चल कर वह फ्रांस पहुँचा। वहाँ प्रूदों की सहायता से उसने समकालीन फ्रेंच समाजवादी साहित्य का अध्ययन किया। लेकिन फ्रांस से भी उसे हटना पड़ा और वह इंगलैण्ड और अमेरिका आदि स्थानों में घूमता फिरा। सन् १८४४ में उसका परिचय फ्रेडरिक एंजिलस से हुआ। मार्क्स का यह परिचय शीघ्र ही प्रगाढ़ हो गया और मार्क्स-एंजिलस की मैत्री ऐतिहासिक घटना हो गयी। कुछ तो अपने विचारों के कारण, कुछ अपनी हस्तलिपि के कारण मार्क्स को कभी कोई अच्छा काम न मिल सका। उसका सारा जीवन निर्धनता में ही बीता। यदि उसकी पत्नी को अपने मायके से धन न मिला होता और एंजिलस उसकी आर्थिक सहायता जीवन पर्यन्त न करता रहता तो शायद मार्क्स भूखों मर जाता। मार्क्स की मृत्यु सन् १८८३ में हुई। अपनी इन परिस्थितियों के बावजूद मार्क्स ऐसी दार्शनिक खोजें कर गया जिनकी वजह से उसकी गणना चोटी के दार्शनिकों के साथ की जाती। उसने पूँजीवाद की बुरी तरह आलोचना की और उसे एक हद के बाद मानवता के लिए अभिशाप बतलाया।

४.२ **कार्ल मार्क्स के ग्रंथ**--कार्ल मार्क्स के प्रमुख ग्रंथों की सूची इस प्रकार है--

(१) दि केपिटल (The Capital), (२) दि पॉवर्टी ऑफ फिलॉसफी (The Proverty of Philosophy), (३) मेनीफेस्टो ऑफ कम्यूनिस्ट पार्टी (Manifesto of Communist Party), (४) एट्टीन्थ ब्रमायर ऑफ लुई बोनापार्ट (Eighteenth Brummaire of Louis Bonaparte), (५) ए कण्ट्रीब्यूशन टु दि क्रिटिक ऑफ पॉलिटिलइकनॉमी (A Contribution to the Critique of Political Economy) (६) सिविल वार इन फ्रांस (Civil War in France), (७) दि गोथा प्रोग्राम (The Gotha Programme), (८) क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस (Class Struggle in France) और (९) रिवॉल्यूशन एण्ड काउण्टर रिवॉल्यूशन (Revolution & Counter Revolution)।

४.३ **मार्क्स पर अन्य विद्वानों** का प्रभाव--मार्क्स पर जिन विद्वानों का प्रभाव पड़ा उनमें हीगल, एडम स्मिथ रिकार्डो, विलियम थॉम्पसन आदि का नाम उल्लेखनीय है। स्थूल रूप से मार्क्स के प्रभाव-सूत्रों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं-(अ) हीगल का द्वन्द्ववाद, (आ) एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि द्वारा प्रतिपादित यद्भाव्यम् आर्थिक नीति और (३) फ्रांस के क्रान्तिकारी समाजवादी विचारकों का दर्शन। लेकिन मार्क्सवादी

दर्शन पर इन तीनों सूत्रों का प्रभाव एक विशेष और सीमित रूप से पड़ा है। उदाहरण के लिए मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को ग्रहण तो अवश्य किया है लेकिन उसके कल्पनावादी स्वरूप को एक दम छोड़ दिया है। हीगल कहता है, अंतिम सत्य विचारतत्व है। मार्क्स यह नहीं मानता। मार्क्स कहता है अंतिम सत्य भौतिकतत्व है। वह हीगल के द्वन्द्ववाद को केवल यह समझकर स्वीकार करता है कि मानवता की प्रगति द्वन्द्वात्मक गति से हुई है और आगे भी इसी प्रकार होगी। इसी प्रकार वह एडम स्मिथ तथा रिकार्डो के आर्थिक विचार दर्शन से केवल इतना तत्व ग्रहण करता है कि सत्य की उत्पत्ति श्रम द्वारा होती है। क्रान्ति और वर्ग संघर्ष का तत्व वह फ्रांस की समाजवादी विचारधाराओं से लेता है।

मार्क्स के दर्शन के अध्ययन से ये बातें बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं:—(१) उत्पादन व्यवस्था के अनुकूल हो वर्गों की सृष्टि होती है; (२) वर्गों में संघर्ष होना अनिवार्य है और यह वर्ग संघर्ष श्रमजीवियों के अधिनायकतंत्र का मार्ग प्रशस्त करता है और (३) श्रमजीवियों के अधिनायकतंत्र के बाद समाज में केवल श्रमजीवी ही रह जायँगे और ऐसे वर्गहीन समाज को राज्य आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

मार्क्स इन परिणामों पर दो सिद्धान्तों द्वारा पहुँचा है। पहला सिद्धान्त तो है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से इतिहास की व्याख्या (Historical & Dialectical Materialism) और दूसरा है अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)। अब हम क्रमशः इन दोनों सिद्धान्तों पर एक-एक करके विचार करेंगे।

५. मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materinlism)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पद्धति के प्रयोगकर्ता जगत् की प्रत्येक वस्तु को भौतिकवाद दृष्टि से देखते हैं और यह मानते हैं कि प्रकृति में हर वस्तु द्वन्द्वरत रहती है। इस द्वन्द्व के कारण ही प्रकृति बराबर परिवर्तित होती रहती है। पुरानी वस्तुएँ सड़-गल कर मरती और नष्ट होती रहती हैं और उनका स्थान नयी चीजें लेता रहता हैं। द्वन्द्ववाद का आरंभिक रूप जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है हीगल ने स्थिर किया था लेकिन मार्क्स ने हीगल द्वारा स्थिर किये गये द्वन्द्ववाद का उक्त 'बौद्धिकतत्व' ले लिया और बाकी चीजें छोड़ दीं। इसका कारण यह था कि मार्क्स भौतिकवादी था और हीगल आध्यात्मवादी।

द्वन्द्ववाद अंग्रेजी के शब्द 'डायलेक्टिसिज्म' का अनुवाद है जो 'डायलेक्टिकस' की भाववाचक संज्ञा है। 'डायलेक्टिक्स' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से यूनानी भाषा के शब्द 'डायलोज' से बना है, जिसका अर्थ होता है, 'बहस करना,' 'वादविवाद करना'। वाद-

---

1 "My dialectical method is not only different from the Hegelian, but is its direct opposite. To Hegel, . . .the process of thinking, which under the name of 'the Ideal', he even transforms into an independent subject, is the demiurgos (creator) of the real world is only the external, phenomenal form of the Idea'. With me on the contrary, the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into forms of thought." K. Marx in *The Capital* Vol. I, as quoted by J. Stalin in his essay on Historical & Dialectical Materialism, p. 6.

विवाद में एक दूसरे का विरोध होता है--एक पक्ष दूसरे पक्ष के मत को पछाड़ने का यत्न करता है--इसीलिए, इसको 'द्वन्द्व' कहा गया है। भौतिक जगत् में भी चूँकि यह द्वन्द्व बराबर चलता रहता है और 'जीवन बदलता रहता है, उत्पत्ति की शक्तियाँ उभरती रहती हैं पुराने संबंध नष्ट होते रहते हैं,"--इसलिए भौतिक जगत् की परिवर्तनशीलता भी एक प्रकार के द्वन्द्व की ओर संकेत करती है। यह प्राकृतिक नियम ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

यह बतलाने के पहले कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या किस प्रकार की है--यह अच्छा होगा कि हम पहले मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद और मार्क्सवादी भौतिक दर्शन की विशेषताओं को समझ लें।

५.१ मार्क्स वादी द्वन्द्ववाद की विशेषताएँ--मार्क्सादी द्वन्द्ववाद की सबसे पहली विशेषता तो यह है कि वह यह मानकर चलता है कि प्रत्येक वस्तु गतिमान है। उनमें बराबर परिवर्तन होता रहता है। कुछ भी स्थिर अपरिवर्तनीय या अगतिमान् नहीं है।[1] परिवर्तन मात्रात्मक (Quantitative) तथा गुणात्मक (Qualitatives) दोनों प्रकार होते हैं। उदाहरण के लिए पानी की तरलता पर एक सीमा तक तापमान के परिवर्तन का कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं दिखलायी पड़ता लेकिन यदि पानी का तापमान बराबर घटता ही चला जाय और एक सीमा ऐसी आ जाय जब उस में गरमी शेष ही न रह जाय तो पानी बर्फ हो जायगा और पानी में शीतलता की बहुलता के फलस्वरूप गुणात्मक परिवर्तन हो जायगा। इसी प्रकार पानी को यदि बहुत अधिक गरम किया जाय तो उसके फलस्वरूप पानी भाप बन कर उड़ जायगा। यह विशेषता विकास के सिद्धान्त की ओर संकेत करती है। एंजिल्स ने द्वन्द्ववाद की इस विशेषता की सहायता से जीवशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में होने वाले विकास-चक्र को स्पष्ट किया है। द्वन्द्ववाद की एक और भी विशेषता है और वह यह कि यह मानकर चलता है कि प्रत्येक वस्तु में कुछ अपने मौलिक विरोधी तत्व (Inherent Contradictions) भी होते हैं। इन विरोधी तत्वों के बीच बराबर संघर्ष होता रहता है। नये और पुराने के बीच का शाश्वत संघर्ष यही बतलाता है।[2] द्वन्द्ववाद की इन विशेषताओं के अध्ययन के फलस्वरूप हम किन परिणामों पर पहुँचते हैं? यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो हम देखेंगे कि द्वन्द्ववाद हमें सबसे पहली बात बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु का महत्व परिस्थितियाँ, समय और स्थान निर्धारित करते हैं। एक समय ऐसा था जब दासता, सामन्तवाद और पूंजीवाद का अस्तित्व भी प्रगतिकारी था। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि चूंकि वे किसी समय प्रगतिकारी थे--इसलिए हम उनसे चिपके ही बैठे रहें। दूसरे द्वन्द्ववाद एक ऐसा साधन है जिसके जरिए हम इतिहास का विश्लेषण कर उसे समझ सकते हैं और आगे की घटनाओं के संबंध में भविष्यवाणी कर सकते हैं।

---

1 "All nature from the smallest thing to the biggest, from a grain of sand to the sun, from the protista (the primary living cell to man, is in a constant state of coming into being and going out of being, in a constant flux, in a ceaseless state of movement and change." K. Marx and F. Engels, Vol XIV, p. 484.

2 "In its proper meaning, dialectics is the study of the contra. diction, within the very essence of the things . . . Development is the struggle of opposites." Lenin as quoted by J. Stalin in his essay on Hist. & Dialectial Materialism, p. 14.

५·२ मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन की विशेषताएँ—मार्क्स कहता है कि भौतिक पदार्थ ही इस चराचर जगत् या प्रकृति का मौलिक आधार हैं। पदार्थ ही अन्तिम सत्य है।[1] मार्क्स पदार्थ तत्व के सम्मुख चेतना तत्व को कोई महत्व नहीं देता। उसका कहना है कि पदार्थ तत्व के विकास के बाद ही चेतना तत्व उत्पन्न होता है। कल्पनावादियों की तरह मार्क्स यह नहीं मानता कि कोई सम्पूर्ण कल्पना या सार्वभौमिक चेतना भी होती है।' मार्क्स और एंजिल्स के पहले लगभग यही विचार हेराक्लिटस (Heraclitus) ने भी प्रकट किये थे। लेनिन ने भी यह स्वीकार किया है। दूसरे, मार्क्स का कहना है कि भौतिक पदार्थ का महत्व प्राथमिक है और चेतना का महत्व द्वितीय। मनुष्य का मस्तिष्क, उसकी आत्मा आदि सब कुछ पदार्थ के ही अति विकसित रूप हैं। पदार्थ तत्व और विचार तत्व एक दूसरे से संयुक्त हैं। उदाहरण के लिए यदि हम यह जिज्ञासा करें कि हमारे विचार का साधन क्या है तो उत्तर मिलेगा, 'मस्तिष्क'। यदि हम यह जानने की कोशिश करें कि मस्तिष्क क्या है तो हमें यह पता लगाने में अधिक कठिनाई न होगी कि मस्तिष्क पदार्थ तत्वों के सम्मिश्रित रूप का एक अत्यन्त विकसित रूप है। यदि मस्तिष्क के पदार्थ तत्व जरा भी गड़बड़ कर दिये जायँ तो मस्तिष्क की सोचने की शक्ति तत्काल नष्ट हो जाती है। भौतिकवाद की अंतिम विशेषता यह है कि मनुष्य अपने सतत और जागरूक प्रयत्नों द्वारा प्रकृति के सारे रहस्यों का उद्घाटन करने की क्षमता रखता है। मार्क्स यह नहीं मानता कि व्यक्ति संसार के किसी रहस्य को समझने का उचित प्रयत्न करने के बाद भी उसे समझ न सके। मार्क्सवादी के लिए काण्ट का यह कथन हास्यास्पद है कि मनुष्य के लिए प्रकृति रहस्यमय है और उसके कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जिनको वह नहीं समझ सकता।

५.३ मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कुछ महत्वपूर्ण उपसिद्धियाँ—मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से एंजिल्स ने विज्ञान के कई विषयों की व्याख्या की है लेकिन स्वयं मार्क्स ने इसका उपयोग इतिहास पर किया है। स्टालिन ने अपने एक निबंध में बतलाया है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को यदि हम मान लेते हैं तो उसके परिणाम स्वरूप निम्नलिखित उपसिद्धियाँ स्वभावतः हमारे सामने आती हैं—

पहली, इतिहास कुछ राजनीतिक दुर्घटनाओं की कहानी नहीं है। इतिहास की गति कुछ निश्चित विधियों द्वारा स्थिर होती है और ये विधियाँ अपने स्थान पर उतनी ही दृढ़ हैं जितनी वैज्ञानिक विधियाँ।

दूसरी, समाज के प्रगतिशील वर्ग की गतिविधियों का दिशा-निर्धारण इतिहास की वैज्ञानिक विधियों द्वारा ही होना चाहिए।

तीसरी, क्योंकि इतिहास एक विज्ञान है और उसकी निश्चित विधियाँ हैं तथा उन विधियों का अध्ययन कर उन्हें समझा जा सकता है, इसलिए इतिहास की भावी गति के संबंध में भी भविष्यवाणी की जा सकती हैं।

---

१. "The materialistic outlook on nature means no more than simply conceiving nature just as it exists, without any foreign admixture" F. Engeles as quoted by J. Stalin, *Ibid*,. p. 19.

२. The material sensuously perceptible world to which we ourselves belong is the only reality....our consciousness and thinking, however supra-sensuous they may seem are the product of a material, bodily organ, the brain. Matter is not a product of mind, but mind itself is merely the highest product of matter," K. Marx *Ibid* p. 20.

चौथी, प्रगतिशील श्रमजीवी वर्ग को इन्हीं विधियों से प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन ग्रहण करना चाहिए। इस वर्ग को किसी व्यक्ति का आश्रय पकड़ने की आवश्यकता नहीं है—चाहे वह व्यक्ति कितना ही महान् क्यों न हो।

यही कारण है कि मार्क्सवाद की विचारधारा को वैज्ञानिक समाजवाद की विचारधारा माना जाता है; स्वप्नलोकीय समाजवाद की कल्पना नहीं।

मार्क्स का कहना है कि मनुष्य की चेतना का निर्माण उसकी भौतिक परिस्थितियाँ करती हैं—इसलिए प्रगतिशील मानवता को सदैव भौतिकवादी सिद्धान्त की विधियों के अनुसार अपने आचरण कर नियमन करना चाहिये। इन विधियों के पालन करने से मनुष्य का मस्तिष्क उन्नत और विकसित होता है। मस्तिष्क के विकसित होने का अर्थ है नये विचारों और नये सिद्धान्तों की सृष्टि। नये विचारों और नये सिद्धान्तों द्वारा नये समाज का निर्माण होता है। जैसे ही जनता यह समझने लगती है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विधियाँ क्या हैं—वे विधियाँ जनता की सामूहिक शक्ति बन जाती हैं और समाज के उच्चतम विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

५.४ ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से जब हम मार्क्स के इतिहास की व्याख्या का अध्ययन करते हैं तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उत्पत्ति के साधनों का निरन्तर विकास होता रहता है। वे गतिमान् और परिवर्तनशील रहते हैं। उत्पत्ति के साधनों की निरन्तर परिवर्तनशीलता का ही यह परिणाम होता है कि हमारे जीवन-यापन के ढंगों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए सभ्यता के आरंभ में, जब मनुष्य ने कृषि-कला नहीं सीखी थी, उस समय वह घूम-घूम कर शिकार करता, वनों, जंगलों आदि से कन्द- मूल, फल एकत्र करता और जंगली जानवरों से बचने के लिए पहाड़ी गुफाओं में शरण ग्रहण करता था, लेकिन कृषि युग के आरंभ होते ही जीवन-यापन की भौतिक दशाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। मनुष्य ने घूमना छोड़ दिया और उसने एक स्थान पर जम कर रहना सीखा। रहने के लिए गुफाओं के बजाय उसने झोपड़ियाँ बनायीं क्योंकि खेती बारी का काम मैदान में हो हो सकता था—पहाड़ी भूमि में नहीं। जीवन-यापन के ढंग में यहपरिवर्तन उत्पत्ति के साधन के स्वरूप के बदल जाने की ओर संकेत करता है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उत्पत्ति के साधनों का स्वरूप या दूसरे शब्दों में भौतिक-परिस्थिति इतिहास की गति को निर्धारित करती है। इतिहास की गति संबंधी विधियों का ज्ञान हम इतिहास के दर्शन का अध्ययन कर प्राप्त कर सकते हैं।

यह तो हुई सकारात्मक पक्ष से की गयी इतिहास की एक व्याख्या। निषेधात्मक पक्ष से व्याख्या करते हुए मार्क्स ने बतलाया है कि मनुष्य के जीवन-यापन के ढंग को स्थिर करने में भौगोलिक वातावरण का कोई निर्णयात्मक हाथ नहीं होता। इसका कारण यह है कि उत्पत्ति के साधनों के स्वरूप में जितनी तेजी से परिवर्तन होते हैं उतनी तेजी से भौगोलिक वातावरण में परिवर्तन नहीं होते। सामाजिक व्यवस्था में कुछ शताब्दियों के अन्दर ही बड़ी अदल-बदल हो जाती है—जब कि भौगोलिक स्थितियों में कुछ शताब्दियों में संभवतः नाममात्र के लिए भी परिवर्तन नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए आज से दो सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष में अधिकांशतः सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था थी। अब इस

1. "It is not the consciousness of men that determines their being, but on the contrary, their social being that determines their consciousness." K. Marx *Selected Works*, Vol. I, p. 269.

सामाजिक व्यवस्था का काफी मात्रा में औद्योगिक स्वरूप हो गया है। सामाजिक व्यवस्था के इन परिवर्तनों की तुलना में यहाँ की भौगोलिक स्थिति में शायद ही कोई उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। अतः इतिहास की गति पर, निषेधात्मक दृष्टि से भी, आर्थिक परिवर्तनों का अधिक प्रभाव पड़ता है। भौगोलिक कारण तो अत्यन्त सीमित प्रभाव ही डालते हैं।

दूसरे, सकारात्मक पक्ष के दृष्टिकोण से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बतलाता है कि समाज के उत्पादक तत्व भी बराबर बदलते रहते हैं : उत्पादक शक्तियों के परिवर्तित होने का अर्थ यह भी है कि उत्पत्ति का भी बराबर विकास होता चलता है। उत्पत्ति और उत्पादनकारी शक्तियाँ निरन्तर एक दूसरे के समानान्तर चलती हैं। यदि कृत्रिम साधनों से इनके विकास को रोका जाय तो स्वाभाविक ही है कि संकट उत्पन्न हो जायगा। मार्क्स का कहना है कि पूंजोवादी व्यवस्था में इन दोनों का संयुक्त विकास नहीं हो पाता। यही कारण है कि पूंजीवादी जगत् में कभी-कभी उत्पादन जनता की क्रयशक्ति से अधिक हो जाता है और पूंजोपति को चूंकि उस गिरी हुई जन क्रयशक्ति के कारण मुनाफा मिलने की कम ग्रेजाइश होती है——इसलिए वह उत्पादित माल को नष्ट कर देता है ; पूंजीवादी संकट का चित्र यह होता है : एक ओर तो जनता होती है; नंगी, भूखी और आवश्यकताओं से त्रस्त लेकिन उसके पास इतना पैसा नहीं होता कि वह पूंजीपति द्वारा उत्पादित माल को खरीद सके और दूसरी ओर पूंजीपति तथा उसके उत्पत्ति के साधन होते हैं——जिनके बनाये गये माल से पूंजीपति के गोदाम के गोदाम भरे होते हैं। वह बिना पैसे के इस माल को बेच नहीं सकता। ऐसी अवस्था में वह उत्पादित माल को जलवाकर या डुबाकर नष्ट कर देता है और बंद मशीनों को फिर चालू करवाता है। मजदूरों को श्रम का पैसा देकर उनसे फिर अपने सामान को खरीदाता है। संकट की यह अवस्था मार्क्स के अनुसार पूंजोवादी जगत् में हर दसवें वर्ष आती है। मार्क्स के अनुसार इस तरह का आर्थिक संकट समाजवादी व्यवस्था में कभी उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है——मुनाफे के लिए नहीं।

निषेधात्मक दृष्टि से मार्क्स यह नहीं मानता कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण कोई आर्थिक संकट उत्पन्न होता है। वह यह भी नहीं मानता कि सामाजिक व्यवस्थाओं के स्वरूप-निर्धारण में जनसंख्या की वृद्धि का कोई निर्णयात्मक हाथ रहता है।

तीसरे, हर सामाजिक व्यवस्था में ऐसे वर्ग होते हैं जिनका परस्पर संघर्ष होता रहता है। इन वर्गों में उत्पादनात्मक संबंध होता है। इतिहास में ऐसे पाँच प्रकार के संबंध हमें मिलते हैं——(१) आरंभिक समाज, (२) दास, (३) सामन्त, (४) पूंजीवादी और (५) समाजवादी। इन सभी व्यवस्थाओं में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। केवल आरंभिक समाज में ऐसा कोई संघर्ष नहीं था क्योंकि इसमें हर व्यक्ति स्वयं उत्पादन और स्वयं उपभोग करता था। लेकिन दास युग और उसके बाद सदा यह अस्था रही कि एक वर्ग, जिसके पास उत्पत्ति के साधन न होते श्रम करता, और दूसरा वर्ग जिसके पास साधन होते श्रमजीवी वर्ग के परिश्रम की चोरी के बल पर गुलछर्रे उड़ाता। यह वर्ग-संघर्ष दास, सामन्त और पूंजीवादी युग में बराबर चलेगा और इसका अन्त समाजवादी व्यवस्था में होगा। जहाँ केवल श्रमजीवी ही समाज होगा।

चौथी, बात यह है कि श्रमजीवी वर्ग की शक्ति निरन्तर बढ़ती ही जायगी और यह बढ़ती हुई शक्ति ही उस वर्ग के नाश का कारण बनेगी जो आज उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे कब्जा किये बैठा हुआ है।

६. ऐतिहासिक भौतिकवाद का महत्व

ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा मार्क्स ने पहली बार यह बतलाया कि इतिहास की गति

के निर्धारण में आर्थिक परिवर्तनों का निर्णयात्मक हाथ रहता है। एक राजा का पतन और उसकी जगह दूसरे नरेश का सिंहासनासीन होना, एक साम्राज्य का उठना, दूसरे का गिरना ये सब घटनाएँ केवल आकस्मिक या सहसा हो जानेवाली घटनाएँ नहीं हैं बल्कि इनके पीछे तत्कालीन समाज की आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तनकारी शक्तिशाली तत्व होते हैं। किसी भी देश या राज्य का राजनीतिक स्वरूप दरबारी षड्यन्त्रों या कुछ महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के संकेत पर नहीं नाचता बल्कि राजनीतिक परिवर्तन किसी भी समाज की परिवर्तित आर्थिक व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं। इन परिवर्तनों के कारणों को समझा जा सकता है। मार्क्स का कहना था कि उसने एक हद तक इन कारणों को समझ लिया है और वह इतिहास के दर्शन की सहायता से भविष्य को देख सकता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर ही उसने कुछ भविष्यवाणियाँ की थीं और उनमें से कई सच निकलीं। पूँजीवादी जगत में आनेवाले संकटों, महायुद्धों, आदि के संबंध में उसकी वाणी सत्य निकली लेकिन उसके सिद्धान्त के अनुसार सर्वहारा या श्रमजीवियों की क्रान्ति किसी औद्योगिक देश में होनी चाहिए थी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। श्रमजीवी वर्ग ने क्रान्ति तो अवश्य की लेकिन रूस और चीन में--जो मुख्यतः कृषि प्रधान देश हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद का महत्व इस बात में निहित है कि वह मनुष्य को निरन्तर भौतिकवादी परिस्थितियों के अध्ययन और पर्यवेक्षण के लिए विवश करता रहता है और बतलाता रहता है कि वह उनके आधार पर भावी घटनाओं के संबंध में कल्पना करे। वह एक अंधश्रद्धा नहीं बल्कि एक मार्गप्रदर्शक का कार्य करता है। इसका एक और अन्य महत्व इस बात में निहित है कि वह श्रमजीवी वर्ग को वह वर्ग मानता है जो अन्त में जाकर विजयी होगा। इसी सिद्धान्त की वजह से कार्ल मार्क्स को समाजवादी विचारधारा का पिता समझा जाता है।

७. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Surplus Value Theory)

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का विवेचन कार्ल मार्क्स ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दि केपिटल' में किया है। उसने पहले धन की परिभाषा दी है; फिर 'वस्तु' (Commodity) की और इसके बाद वस्तु का विनिमय मूल्य बतलाया है।

मार्क्स का कहना है कि प्रत्येक पूँजीवादी समाज में धन (Wealth) विपुल वस्तुओं की संचित राशि के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार मार्क्सवादी दृष्टि से वस्तुओं की संचित राशि ही धन है।

लेकिन 'वस्तु' क्या है? इस शब्द का प्रयोग कार्ल मार्क्स ने एक विशिष्ट अर्थ में किया है। 'वस्तु' वह पदार्थ है जिसमें उपयोगिता है; अर्थात् जो हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। यहाँ मार्क्स स्पष्ट कर देता है कि उसका संबंध उस 'वस्तु' के प्रयोग में लाने पर लाभदायी या हानिकारी प्रभाव से नहीं है। रोटी भी 'वस्तु' है और गाँजा, चरस तथा शराब भी; क्योंकि इन सभी वस्तुओं में मनुष्य की निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति की शक्ति होती है।

इसके बाद मार्क्स ने बतलाया कि प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार की औपयोगिक क्षमता होती है। पहली बाह्य और दूसरी आन्तरिक। उदाहरण के लिए कपड़ा ले लीजिए। जब मैंने कपड़ा खरीद कर उसके नाप की कमीज बनवा ली तो उस कपड़े की कमीज ने मेरी आवश्यकता की पूर्ति कर दी। लेकिन यदि मैं बाजार में उस कमीज को बेचने की कोशिश करूँ तो शायद मैं अपने प्रयत्न में बिलकुल सफल न हो सकूँगा, क्योंकि उस कमीज में मेरी अपनी आवश्यकता पूर्ति करने की क्षमता तो है लेकिन दूसरे के नाप की न हो सकने के कारण वह कमीज किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। कमीज की मेरी आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता का गुण उसकी आन्तरिक उपयोगिता प्रकट करता

है। बाह्य उपयोगिता कपड़े में है जो बहुत से व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता रखता है। जिस वस्तु में बहुत से व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता होती है––वह वस्तु सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होती है और जो वस्तु सामाजिक उपयोगिता युक्त होती है––वही विनिमय (Exchauge) साध्य होती है। किसी वस्तु की विनिमय-साध्यता ही उसका मूल्य बतलाती है। विनिमय-साध्यता के अनुसार ही हम किसी वस्तु का मूल्य देने के लिए तैयार हो जाते हैं।

लेकिन अब हमें यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि किसी 'वस्तु' का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है।

इसके लिए एक छोटा-सा उदाहरण ले लीजिए। 'अ' के बाग में एक पेड़ ऐसा है जिसे वह बेचना चाहता है। 'ब' को लकड़ी चाहिए और वह दस रुपये में वह पेड़ खरीद लेता है। इसके बाद वह पेड़ काट डालता है और लकड़ी को लाकर बाजार में पन्द्रह रुपये में बेच देता है। 'ब' से वह लकड़ी 'स' खरीद लेता है और उसकी मेज-कुर्सी बनाकर सौ रुपये में उनको बेचता है। मेज-कुर्सी में वही लकड़ी है जो उस पेड़ में थी जिसे दस रुपये में 'अ' ने 'ब' को बेचा था और 'ब' ने जिसे पन्द्रह रुपये में 'स' को बेचा था। हम देखते हैं 'अ' से लेकर 'स' के ग्राहक तक उसी लकड़ी की कीमत बराबर बढ़ती चली गयी। ऐसा क्यों हुआ? इसका कारण यह है कि उसमें 'अ' से ज्यादा 'ब' ने और 'ब' से ज्यादा 'स' ने अपना श्रम लगाया और यह श्रम ऐसा वैसा नहीं था बल्कि उस श्रम से उस पेड़ की लकड़ी की सामाजिक उपयोगिता बराबर बढ़ती चली गयी। यदि 'ब' केवल पेड़ के पास खड़ा रहता और उस पर चढ़ता-उतरता रहता तो इससे 'ब' का समय और श्रम दोनों खर्च होता लेकिन उस वस्तु का मूल्य तनिक भी न बढ़ता। इसीलिए मार्क्स ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य इस सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होता है कि उसके बनाने में सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से कितना समय (Socially Necessary Laboure Time) लगाया जाता है।

लेकिन किसी वस्तु को उपयोगी बनाने के लिए केवल मानवीय श्रम की ही आवश्यकता नहीं पड़ती। ऊपर के ही उदाहरण को ले लीजिए। 'ब' ने पेड़ काटा उसमें उसका अपना श्रम तो लगा लेकिन पेड़ काटने के लिए कुल्हाड़ी की जरूरत भी पड़ी। इसी प्रकार 'स' को फर्नीचर बनाने में आरी आदि बढ़ई के सामान की भी आवश्यकता पड़ी। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वस्तु विनिमय साध्यता बढ़ाने के लिए अथवा उसका मूल्य बनाने के लिए मानवीय श्रम के अतिरिक्त कुछ साधनों (Instruments) की भी आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं को उत्पत्ति के साधन (Means of Production) कहा गया है। जिस प्रकार कुल्हाड़ी के अभाव में लकड़हारा और बढ़ई के औजारों के अभाव में बढ़ई कुछ नहीं कर सकता उसी प्रकार पूँजीवादी समाज में उत्पत्ति के साधनों पर एक वर्ग विशेष का अधिकार होने के कारण श्रमजीवी वर्ग बिलकुल असहाय और लाचार हो जाता है। पूँजीपति वर्ग उनकी इस असहायता और लाचारी का पूरा फायदा उठाता है।[1] उदाहरणार्थ, जिस मजदूर द्वारा बनायी गयी चीज को वह बाजार में दस रुपए में बेचता

---

1 "But inasmuch as the workman is unprovided with the means of production, he has in fact no alternative but sell the one commodity he possesses, namely, his labour; to the capitalist, who after paying him a bare subsistence wage pockets the proceeds." C. E. M. Joad in *Modern Pol. Theoris*, p. 43.

है और जिसमें मजदूर की मजदूरी पाँच रुपये होती है--वह उस पाँच रुपये में से मजदूर को केवल दो रुपये ही देता है और बाकी तीन रुपये हड़प कर जाता है। यही तीन रुपये अतिरिक्त मूल्य हैं। मार्क्स का कहना है कि अतिरिक्त मूल्य श्रमिक की गाढ़ी कमाई में से की गयी[1] चोरी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पूंजीवादी व्यवस्था में लाभांश का अधिकांश भाग इसी चोरी पर निर्भर करता है। पूंजीवादी व्यवस्था की एक खास बात यह भी होती है कि उसमें जो कुछ भी वस्तु तैयार होती है--वह प्रत्यक्ष उपयोग के लिए नहीं बल्कि बेच कर मुनाफा कमाने के लिए तैयार की जाती है। यदि किसी वस्तु के बिकने की और उससे मुनाफा मिलने की संभावना न हो तो सामाजिक दृष्टि से आवश्यक होने पर भी पूंजीपति वह वस्तु कभी नहीं बनायेगा। पूंजीपति का दृष्टिकोण सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं बल्कि मुनाफा कमाना होता है। उदाहरण के लिए शस्त्रास्त्र बनाना पेनिसिलिन के इंजेक्शन तैयार करने से अधिक मुनाफा देता है, तो पूंजीपति यह जानते हुए भी कि पेनिसिलिन के इंजेक्शनों की सामाजिक दृष्टि से अधिक उपयोगिता है--उन्हें नहीं बनायेगा और शस्त्रास्त्र बनायेगा।

कार्ल मार्क्स पूंजीपति द्वारा इस अतिरिक्त मूल्य के हड़पे जाने के पूंजीवादी कार्य को अन्याय मानता है। उसका कहना है कि इस अन्याय को दूर करना ही समाजवाद का उद्देश्य है।

मार्क्स के इस कथन से प्रायः सभी समाजवादी विचारधाराएँ सहमत हैं और उन सब का यह मत है कि इस मौलिक अन्याय को निश्चित रूप से दूर किया जाना चाहिए।

८. मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना

बहुत से पूंजीवादी विचारकों ने मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचन की है। इस सिद्धान्त की आलोचना किये जाने का एक मुख्य कारण यह भी है कि इसी के आधार पर श्रमजीवी और पूंजीपति का वर्ग संघर्ष आधारित है।

८.१--सबसे पहली आलोचना तो यह की जाती है कि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त सभी वस्तुओं पर लागू नहीं होता। उदाहरण के लिए अप्राप्य डाक टिकट, शाहजहाँ का ताज आदि ऐसी कुछ वस्तुएँ हैं जिनका मूल्य उस मूल्य से कहीं अधिक दिया जाता है जो उन पर कभी भी व्यय किया गया होगा। लेकिन इन वस्तुओं में ऐसा कौन-सा अतिरिक्त मूल्य है जिसे पूंजीपति हड़प लेता है?

८.२--कुछ लोग यह कहते हैं कि मार्क्स केवल शारीरिक श्रम को ही श्रम मानता है। ऐसी अवस्था में मानसिक श्रम का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। यह भी एक दोष है।

८.३--कुछ पूंजीवाद-समर्थक अर्थशास्त्री कहते हैं कि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त प्रबंध-क्षमता पर कोई ध्यान नहीं देता।

८.४--कुछ आलोचक यह भी कहते हैं कि श्रमजीवियों का शोषण तो केवल उसी अवस्था में होता है जब वे पूंजीपति के लिए श्रम करते हैं। इसके बाद तो वे स्वतंत्र हो जाते हैं।

८.५--**आलोचनाओं का उत्तर**--लेकिन देखा जाय तो इन आलोचनाओं में कोई दम नहीं है। वे या तो मार्क्सवादी अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की नासमझी पर आधारित हैं

---

1 "This difference between the exchange value of the manufactured commodity and the price paid to the workman and appropriated by the capitalist who employs him; it is in fact the product of unpaid labour." *Ibid.* 43.

या उस सिद्धान्त के आलोचकों की बुद्धि पर पूँजीवाद के पक्षपात का परदा पड़ा हुआ है। पहली आलोचना (८.१) जिसमें यह कहा गया है कि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त सब वस्तुओं पर लागू नहीं होता—उसमे आलोचक यह भूल जाते हैं कि जिन वस्तुओं का अभाव होता है उनका मूल्य उनके अभाव के कारण बढ़ता है, उन पर किये गये श्रम के कारण नहीं। यह बात स्वयं मार्क्स ने भी स्पष्ट कर दी है। इसलिए अभावात्मक मूल्यों पर मार्क्स के सिद्धान्त को लागू किया ही नहीं जा सकता।

दूसरी (८.२) आलोचना भी गलत है क्योंकि मार्क्स ने शारीरिक या मानसिक—दोनों प्रकार के श्रमों को स्वीकार किया है। वह स्वयं कहता है कि "श्रम से मनुष्य की उन सभी शारीरिक और मानसिक शक्तियों से अभिप्राय है जिनका प्रयोग किसी वस्तु को उपभोग योग्य बनाने में किया जाता है।"

तीसरी आलोचना (८.३) का उत्तर मार्क्सवादियों ने यह कह कर दिया है कि बिना योग्यता के उत्पादनशीलता नहीं आ सकती। इसलिए यदि किसी में उत्पादनशीलता है तो प्रबंध संबंधी योग्यता भी उसी में सन्निहित है और जब उत्पादनशीलता के लिए पैसा दिया जाता है तो प्रबंध-क्षमता का भी पैसा उसे मिल जाता है।

चौथी आलोचना का भी उत्तर मार्क्स ने दे दिया है। मार्क्स का कहना है कि श्रम-जीवियों का शोषण न केवल कारखानों में ही किया जाता है—बल्कि उपभोक्ता के रूप में भी उनसे पूँजीपति अधिक पैसा लेता है। इसलिए श्रमिक श्रम करता है तब भी और पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं का उपभोग करता है—तब भी शोषण का शिकार समान रूप से होता है।

९. पूँजीवाद के संबंध में मार्क्स का मत

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उसके द्वारा इतिहास की व्याख्या की सहायता से मार्क्स ने बतलाया है कि पूँजीवाद का किस तरह विकास होगा—वह किस तरह चरम शक्ति प्राप्त करेगा और अन्त में किस प्रकार उसका पतन होगा।

पूँजीवाद का आधुनिक रूप सन् १७५० से लेकर १८५० तक होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति के दौरान में पनपा। पूँजीवाद का जन्म सबसे पहले इंगलैण्ड में हुआ। इसके बाद वह यूरोप के अन्य देशों में फैला और तब अमेरिका पहुँचा।

इंगलैण्ड के औद्योगीकरण के बाद वहाँ के पूँजीपतियों को सबसे पहली आवश्यकता यह महसूस हुई कि एक तो उन्हें बाजार मिलें जहाँ वे अपना तैयार माल खपा सकें और दूसरे उन्हें माल तैयार करने के लिए कच्चा माल मिले। उदाहरण के लिए मैनचेस्टर और लंका-शायर में जब कपड़ा बनाने के कारखाने खुल गये तो उनका कपड़े का उत्पादन इंगलैण्ड की आवश्यकता से अधिक था। इसलिए अँग्रेज पूँजीपतियों को यह जरूरत महसूस हुई कि कपड़ा बाहर भेजा जाय तथा साथ ही रुई की भी आवश्यकता पड़ी। फलतः इंगलैण्ड, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका में उपनिवेश बनाये गये तथा भारत से साम्राज्य स्थापित किया गया। इंगलैण्ड की देखा देखी अन्य यूरोपियन राज्यों ने भी यही किया और लगभग सारी दुनिया साम्राज्यों में विभक्त हो गयी। लेकिन जैसा कि मार्क्स का अनुमान था जब भी आर्थिक संकट उत्पन्न होता है, एक साम्राज्य दूसरे साम्राज्य के बाजारों को हड़प लेने की कोशिश करता है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी के बहुत से बाजारों को अमेरिका, इंगलैण्ड और फ्रांस हड़प गये। लेकिन जर्मनी भी चुप कैसे बैठता। उसने फिर राजनीतिक संघटन किया और अपने बाजारों की माँग की जिसके परिणामस्वरूप दूसरा महायुद्ध हुआ।

मार्क्स का कहना है कि जब तक यह पूँजीवाद रहेगा—महायुद्धों का क्रम बराबर चलता रहेगा। यह महायुद्ध पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों को ही स्पष्ट करते हैं। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि मार्क्स ने केवल पूँजीवाद की आलोचना ही आलोचना की है। मार्क्स ने एक सीमा तक पूँजीवाद की उपयोगिता भी स्वीकार की है। उसका कहना है कि पूँजीवादी युग समाजवाद का मार्ग प्रशस्त करता है। संसार के सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था से ग्रस्त देशों को प्रगति के पथ पर लाने के संबंध में पूँजीवाद ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है।

१०. श्रमजीवियों की क्रान्ति

पूँजीवाद की चरमस्थिति में एक ऐसी अवस्था आयेगी जब सारी सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों के वर्ग के हाथ में आ जायगी और अधिकांश लोग निर्धन हो जायँगे। ऐसी अवस्था में श्रमजीवी अपनी अवस्था के सुधार के लिए आन्दोलन करेंगे। लेकिन पूँजीपति इनकी अवस्था सुधारने की तरफ कोई ध्यान न देंगे और जहाँ भी मौका पायेंगे—आन्दोलन का दमन करने से न चूकेंगे। ऐसी अवस्था में श्रमजीवी एकता का पाठ सीखेंगे। ट्रेड यूनियनें बनायेंगे। क्रमशः इन यूनियनों का क्षेत्र और इनकी शक्ति बढ़ती जायगी और एक दिन ऐसा आयेगा जब वे सशस्त्र क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी अवस्था को उलट देंगे क्योंकि उस समय वह अनुभव करेंगे कि उनके दुखों, कष्टों तथा महायुद्धों का कारण पूँजीवाद ही है। वे यह भी समझ जायँगे कि उनकी अवस्था पूँजीवाद में कभी सुधर नहीं सकती तथा पूँजीपतियों को राज्य व्यवस्था में सदैव उनका ही दमन किया जायगा। श्रमजीवियों की इस क्रान्ति की विशेषता यह होगी कि वह क्रान्ति शोषकों के एक वर्ग की दूसरे वर्ग के विरुद्ध नहीं होगी—बल्कि शोषित शोषकों को पदच्युत कर देने के लिये वह क्रान्ति करेंगे। लेकिन ऐसा उस समय तक नहीं हो सकेगा जब तक पूँजीवाद को नये बाजार मिलते जायँगे। जब पूँजीवाद सारे संसार को बाजार बना लेगा और इसके बाद जब विश्वव्यापी आर्थिक संकट उत्पन्न होगा तभी पूँजीवाद के अन्तर्विरोधी उसका खातमा कर देंगे।

११. क्रान्त के बाद

कार्ल मार्क्स ने यह भी बतलाया है कि श्रमजीवियों की क्रान्ति के बाद क्या होगा। श्रमजीवियों की क्रान्ति के बाद श्रमिकों का अधिनायकतंत्र स्थापित होगा। यह अधिनायकतंत्र पूँजीवाद के सारे तत्वों का उन्मूलन कर देगा। उत्पत्ति के साधनों का निजी स्वामित्व समाप्त हो जायगा। वे राज्य के हाथ में चले जायँगे और चूँकि राज्य श्रमिक का होगा इसलिए प्रकारान्त से उत्पत्ति के साधनों पर श्रमिकों का ही अधिकार हो जायगा पूँजीपति या भूमिपतियों का ऐसा कोई वर्ग न रहेगा जो दूसरों के श्रम की चोरी पर मौज उड़ायेगा। उत्पादन में सामाजिक उपयोगिता का ध्यान रखा जायगा, केवल मुनाफा कमाने के लिए कोई वस्तु तैयार नहीं की जायगी। श्रमजीवी समाज अपने देश के सभी प्राकृतिक साधनों का विकास करेगा और अपने सदस्यों को ज्ञान-विज्ञान की अधिक-से अधिक शिक्षादि देने की व्यवस्था करेगा। प्रारंभ में श्रमजीवी समाज में प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करना पड़ेगा। सिद्धान्त यह होगा कि जो श्रम नहीं करता उसको भोजन का भी अधिकार नहीं है। प्रत्येक को अपनी योग्यता के अनुसार काम और काम के अनुसार वेतन मिलेगा। लेकिन वृद्धों, बीमारों और अपाहिजों से काम नहीं लिया जायगा। बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था रहेगी। धीरे-धीरे राज्य एक ऐसे समाज की रचना कर सकेगा जिसमें केवल श्रमजीवी ही होंगे। इसका आशय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति परिश्रम करेगा और अपने श्रम से अर्जित रोटी ही खायगा। इस समाज को मार्क्स ने वर्गहीन समाज की संज्ञा दी है। इस समाज में उत्पादन की एक ऐसी अवस्था आयेगी जब प्रत्येक व्यक्ति को

योग्यता के अनुसार काम और आवश्यकता के अनुसार वेतन मिलेगा। संस्कृति, कला आदि के विकास को पूरा-पूरा क्षेत्र मिल सकेगा। प्रगति इस समाज का मूलमंत्र होगी।

वर्गहीन समाज के बाद कौन-सी अवस्था आयेगी—इसकी चिन्ता मार्क्स ने नहीं की है। उसका कहना है कि वह समाज अपने युग की समस्याएँ सुलझाने के सर्वथा योग्य होगा।

राज्य के संबंध में मार्क्स का मत है कि यह धीरे-धीरे लुप्त हो जायगा। वर्गहीन समाज इतनी उन्नति कर लेगा कि उसके सदस्यों को राज्य के नियंत्रण की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। अतः राज्य लुप्त हो जायगा। लेकिन राज्य के लुप्त होने की एक शर्त यह भी है कि सारा संसार समाजवादी हो जाय। यदि संसार के राज्यों का एक समूह पूँजीवादी बना रहता है तो वह शक्ति द्वारा समाजवादी राज्य को समाप्त करने का यत्न करेगा। ऐसी दशा में जब तक समाजवाद संसार भर में नहीं फैल जाता तब तक समाजवादी राज्य को शक्ति संचित करनी पड़ेगी जिससे वह पूँजीवादी देशों के संयुक्त आक्रमण का सामना कर सके। यही कारण है कि सोवियत रूस में समाजवाद होते हुए भी राज्य के नियंत्रण में वहाँ कोई कमी नहीं आयी है।

आलोचकों ने समाजवाद की और खास तौर से रूसी समाजवाद की तरह-तरह से आलोचनाएँ की हैं। लेकिन रूस में न केवल सच्चा समाजवाद ही है बल्कि सच्चा जनतंत्र भी है क्योंकि वहाँ अल्पसंख्यक पूँजीपति बहुसंख्यक श्रमिकों पर शासन नहीं करते बल्कि बहुसंख्यक अपना शासन आप करते हैं।

समाजवादी विचारधारा आज किसी एक राष्ट्र या राज्य की विचारधारा नहीं रही है; वरन् वह एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है। संसार का शायद ही कोई ऐसा देश हो जिसमें इस विचारधारा की पोषक एक न एक पार्टी न हो।

१२. फ्रेडरिक एंजिल्स (Fredrich Engles)

कार्ल मार्क्स के अध्याय में फ्रेडरिक एंजिलस की चर्चा किये बिना वह अधूरा ही रह जायगा। फ्रेडरिक एंजिलस का जन्म सन् १८२० में हुआ था और मृत्यु सन् १८९५ में। एंजिल्स भी जर्मन था। एंजिल्स का परिवार व्यवसायियों और धनिकों का परिवार था। एंजिल्स बाद में जर्मनी छोड़ कर इंगलैण्ड में आ बसा था और उसकी सन् १८४४ में मार्क्स से दोस्ती हो गई थी। मार्क्स की भाँति एंजिल्स ने भी समाजवादी विचारधारा संबंधी छः ग्रंथ लिखे।[1] उसके पत्र तथा निबंध तो प्रसिद्ध ही हैं। मार्क्स के विचारों को मार्क्सवादी रूप देने में एंजिल्स ने बड़ी सहायता की। सच तो यह है कि जिन विचारों को हम मार्क्सवादी कहते हैं उन विचारों में फ्रेडरिक एंजिलस का कितना हाथ था—यह बतलाना कठिन हो जाता है। कुछ भी हो एंजिल्स का अनुदाय मार्क्सवादी विचारों के क्षेत्र में सदैव अमूल्य माना गया है और आगे भी माना जाता रहेगा।

१३. मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया

मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कई 'वाद' बने लेकिन इनमें सबसे महत्वपूर्ण 'रिवीजनिस्ट' (Revisionist) या पुनरावृत्तिवाद है। 'रिवीजनिस्ट' विचारकों में सबसे अधिक प्रसिद्ध नाम एडवर्ड बर्नस्टी का है।

पुनरावृत्तिवादियों का यह मत है कि पूँजीवाद का पतन निकट भविष्य में संभव नहीं है। इसलिए यह भी उचित नहीं है कि पूँजीवाद का पतन नकटभविष्सशस्त्र क्रान्तियाँ

1. Engles is the author of the following works:—(1) *Anti Duehring*, (2) *Ludwig Fuerbrch*, (3) *The Origin of the Family*, (4) *Private Property & State*, (5) *Socialism Utopian & Scientific* (6) *Conditions of working Class in England.*

की जायँ। इतने विरोध के बावजूद वे यह मानते हैं कि सामाजिक विकास संबंधी मार्क्सवादी अनुमान सही है। उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक युग में वर्ग संघर्ष बढ़ने के बजाय और घटा है। पूँजीवादियों की संख्या घटने के बजाय बढ़ी है। अतः मार्क्स का यह कहना भी ठीक नहीं है कि धन क्रमशः सिमट कर कुछ पूँजीपतियों के हाथ में चला जायगा। ज्वायंट स्टाक कंपनी तथा सहयोगिता आन्दोलन ने इस बात को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। अतः सामाजिक विकास संबंधी काल की गति का अनुमान गलत है। मार्क्स के समर्थकों ने पुनरावृत्तिवादियों की शंकाओं का खण्डन किया है और बतलाया है कि उनकी मार्क्सवाद संबंधी टीकाएँ सर्वथा गलत हैं।

१४. मार्क्सवाद आधार पर विकसित अन्य विचारधाराएँ

मार्क्सवाद के आधार पर या उसके प्रभाव से कार्ल मार्क्स के बाद यूरोप में कई प्रकार की विचारधाराओं का जन्म और विकास हुआ। मार्क्सवादी विचारों के सबसे अधिक निकट साम्यवादी और बोलशेविक विचारधारा है। इस दल के लोग मार्क्स की बातों पर अक्षरशः विश्वास करते हैं। इसका विकास लेनिन और स्टालिन ने किया। इसके अतिरिक्त उदार समाजवादी विचारधारा का भी नाम उल्लेखनीय है। इस विचारधारा के पोषक क्रान्तिकारी पद्धति में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि समाजवाद अपने आप धीरे-धीरे आ जायगा। इसके अतिरिक्त फेबियनवादी, सिंडीकलवादी, गिल्डवादी विचारधाराएँ भी पनपी हैं। अराजकतावादी, जो पहले मार्क्सवादियों के साथ थे—बाद में अलग हो गये और इन सब ने मार्क्सवाद से अलग अपनी विचारधारा का विकास किया। इन सभी विचारधाराओं के दर्शन, पद्धति आदि पर हम लोग अगले कुछ अध्यायों में विचार करेंगे।

———

साम्यवाद और अराजकतावाद

(COMMUNISM ANARCHISM)

१. साम्यवाद के प्रचार के यत्न--२. राज्य संबंधी मत--३. क्रान्ति की पद्धति और उसका दर्शन--४. साम्यवादी विचारधारा और कार्यपद्धति की आलोचना--५. अराजकतावाद--६. अराजकतावादी विचारक--७. अराजकतावादी के स्वतंत्रता संबंधी आदर्श--८. राज्य और शासन की अनुपयोगिता--९. वर्गहीन समाज--१०. अराजकतावाद और साम्यवाद--११. अराजकतावाद का प्रभाव।

मार्क्स की मृत्यु के वाद मार्क्सवादी विचारों का प्रचार कार्य एंजिल्स तथा एंजिल्स के वाद लेनिन और स्टालिन ने जारी रखा। मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन और स्टालिन द्वारा प्रतिपादित समाजवादी विचारधारा को ही संसार साम्यवाद कहता है। 'साम्यवाद' 'अँग्रेजी के शब्द 'कम्यूनिज्म' (Communism) का अनुवाद है। 'कम्यूनिज्म' व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'कम्यून' या समाज से वना है। अतः समाजवाद और साम्यवाद में शब्दार्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है लेकिन मार्क्स ने सन् १८४७ की साम्यवादी घोषणा में सबसे पहले इस शब्द का प्रयोग किया गया था और एक निश्चित प्रसंग में 'साम्यवाद' के अर्थों की व्याख्या की थी। हमें प्रस्तुत 'साम्यवाद' को इसी प्रसंग में समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

जहाँ तक 'साम्यवाद' या 'कम्यूनिज्म' (Communism) शब्द के प्रयोग का संबंध है इसका प्रयोग अतीत में स्वयं प्लेटो ने किया था। इसके वाद ऐसे आरंभिक ईसाई समाज ने भी इस शब्द का प्रयोग किया था जिसके सदस्य अपनी कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रखते थे।

वर्तमान साम्यवाद मार्क्सवादी अर्थों में इस परिभाषा द्वारा समझा जा सकता है--"साम्यवाद वह सिद्धान्त या पद्धति है जो उन मूल तत्वों को स्थिर करती है जिनके द्वारा पूंजीवाद व्यवस्था के हाथ से राजसत्ता समाजवादी व्यवस्था के हाथ आयेगी।"

साम्यवाद ने दो मूल तत्व भी स्थिर कर लिए हैं और वे हैं--(१) वर्ग संघर्ष और (२) सशस्त्र बल द्वारा सत्ता का हस्तान्तरण।

१. साम्यवाद के प्रचार के यन्त्र

उक्त मूलतत्वों के आधार पर मार्क्स ने किस प्रकार पूंजीवाद के पतन की भविष्यवाणी की थी--यह हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं। प्रस्तुत अनुच्छेद में हम संक्षेप में यह बतलाने का यत्न करेंगे कि मार्क्स ने अपने जीवन काल तथा उसके बाद उसके अनुयायियों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी विचारधारा को फैलाने का कैसे यत्न किया ?

१.१ प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन--मार्क्स के विचारों के अनुसार पहली 'अन्तर्राष्ट्रीय' (First International) सन् १८६४ में स्थापित की गयी लेकिन लगभग बारह वर्ष बाद यह संस्था भंग हो गयी क्योंकि इसमें दो पक्ष थे। एक पक्ष तो मार्क्स के विचारों का समर्थक था और दूसरा मार्क्स के विचारों का विरोधी। विरोधी पक्ष के लोग मार्क्स के आदर्शों को तो स्वीकार करते थे लेकिन वे मार्क्स की पद्धतियों से सहमत न थे। इस पक्ष का नेता बाकुनिन था और बाकुनिन के समर्थक अपने आपको अराजकतावादी कहते थे। मार्क्सवादियों और अराजकतावादियों का यह मतभेद सन् १८७२ में इतना अधिक बढ़ गया कि

अराजकतावादियों को इन्टरनेशनल से निकाल दिया गया, परन्तु इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय भी भंग हो गई।

१.२ **द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन**——सन् १८८३ में मार्क्स की मृत्यु हो गयी। मार्क्स की इच्छा थी कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना अवश्य की जाय। सन् १८८९ में एंजिल्स ने इसका संघटन किया और बाद में इसका नेतृत्व लेनिन, काट्स्की, रेमजे मैकडानाल्ड आदि के हाथ में चला गया। लेनिन द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय में पहली अन्तर्राष्ट्रीय से भी अधिक मतभेद उत्पन्न हो गये। उसने प्रथम महायुद्ध के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें मजदूरों से अपील की गयी कि वे युद्ध कार्यों में भाग न लें। लेकिन यह प्रस्ताव कार्यान्वित न हो सका। कई देशों के मजदूर नेता राष्ट्रीयता और देश प्रेम की भावनाओं में वह गये। ऐसी अवस्था में लेनिन तथा उसके कुछ साथी ही स्फुट रूप से महायुद्ध का विरोध करते रह गये और द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय भी बिना किसी के भंग किये विघटित हो गयी।

१.३ **तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय**——प्रथम महायुद्ध और सोवियत रूस की क्रान्ति के बाद सन् १९१९ में तीसरी अन्तर्राष्ट्रीय स्थापित की गयी। इसमें पूर्णतः रूसी साम्यवादियों का ही हाथ था। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय एकता के आधार पर मजदूरों का संघटन करना था। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के नेताओं का कहना था कि वे संसार भर में साम्राज्यवादविरोधी राजक्रान्ति कराना चाहते हैं और समझते हैं कि प्रत्येक देश में क्रान्ति उस देश के मजदूर और किसान ही कर सकते हैं। सन् १९४३ में यह भी समाप्त कर दी गयी।

१.४ **कोमिनफॉर्म**——सन् १९४३ में ही अन्तर्राष्ट्रीय की जगह कोमिनफार्म नाम की नयी संस्था स्थापित की गयी। आजकल यही काम कर रही है। ट्राट्स्की ने भी अपनी एक अलग अन्तर्राष्ट्रीय बनायी थी। इसकी विचारधारा वर्तमान साम्यवादी विचारधारा से भिन्न है।

वर्तमान साम्यवादी विचारधारा तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के सिद्धान्तों, लक्ष्यों और उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करती है। इसी के आधार पर रूस में बोल्शेविज्म का विकास हुआ है। बोल्शेविज्म ने मार्क्स के सामाजिक आदर्शों को व्यावहारिक रूप दिया है। बोल्शेविज्म चूँकि साम्यवाद का विकसित और आधुनिक रूप है——और साम्यवाद की प्रारंभिक बातों के संबंध में पिछले अध्याय में हम लोग विचार कर आये हैं——इसलिये यहाँ केवल उसके विकसित और नये विचारों पर ही हम विचार करेंगे।

२. राज्य संबंधी मत

साम्यवादी विचारकों की राज्य संबंधी कल्पना अनिवार्यतः ऐसी है जो राज्य के दमनात्मक रूप पर अधिक बल देती है। साम्यवादी राज्य के संबंध में अपना मत प्रकट करते हुए बहुधा मार्क्स के ये शब्द उद्धृत करते हैं——"राज्य पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों के हाथ में एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह श्रमजीवी वर्ग को दासता के पाश में बाँधकर उस पर निरंकुश शासन करता है।" इसी आधार पर साम्यवादी विचारक कहते हैं कि पंजीपतयों के राज्य में जानबूझ कर ऐसे कार्यों और नीतियों का प्रतिपादन किया जाता है जिनसे श्रमजीवी वर्ग का अधिक से अधिक शोषण हो। इसका मूल लक्ष्य श्रमजीवियों के श्रम से अधिकाधिक अतिरिक्त मूल्य की वसूली कर लेना होता है। लेकिन जैसे ही राज्य साम्यवादियों के हाथ में आ जाता है——वे भी उसके दमन यंत्र को पूँजीवादी तत्वों को कुचलने के लिए काम में लाते हैं। उनका कहना है कि साम्यवादी अधिनायकतंत्र का यह कर्तव्य है कि शासन के हाथ में आ जाने के बाद उसका प्रयोग साम्यवाद के शत्रुओं को साफ कर देने के लिये करें। लेनिन का तो यह कहना था कि कोई भी पूंजीवादी राज्य चाहे कितना ही प्रजातंत्रवादी होने का दावा क्यों न करे वह कभी भी जनता के साथ समानता का व्यवहार नहीं कर सकता। वह

हमेशा एक वर्ग विशेष के हितों को, उसके अहं की और दंभ की ही रक्षा करेगा। इसलिए साम्यवादियों का अराजकतावादियों से इस बात में कोई मतभेद नहीं है कि अन्त में एक स्थिति ऐसी अवश्य उत्पन्न कर दी जानी चाहिए जिसमें राज्य अपने आप ही समाप्त हो जाय। श्रमजीवियों को भी राज्य की तभी तक आवश्यकता है जब तक पूँजीवादी या श्रमजीवी वर्ग का विरोध करनेवाले तत्व जीवित हैं। उनका अन्त होते ही राज्य की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

३. क्रान्ति की पद्धति और उसका दर्शन

साम्यवादी क्रान्ति की पद्धति में हिंसात्मक साधनों को बड़ा महत्व देते हैं। उनका कहना है कि बिना हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किये श्रमजीवी वर्ग राज्यसत्ता को हस्तगत नहीं कर सकता; क्योंकि सांविधानिक आन्दोलनों तथा माँगों आदि का पूँजीवादी राज्यों पर कोई विशेष असर नहीं पड़ता। दूसरे पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों द्वारा पोषित मध्यवर्ग भी होता है। यह मध्यवर्ग निरन्तर श्रमजीवियों को लक्ष्यपूर्ति में बाधा पहुँचाता रहता है। चूंकि राजसत्ता पूंजीपतियों के हाथ में रहती है--इसलिए विधानमण्डल पूँजीपतियों के समर्थन में विधियाँ बनाता है और न्यायपालिका भी विधियों की पूँजीवादी व्याख्या ही करती है अमेरिका के विधानमण्डल और वहाँ की न्यायपालिका इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। अमेरिका की न्यायपालिका की विधियों की व्याख्या करने की सम्पूर्ण अन्तरप्रवृत्ति ही ऐसी है कि उससे पूँजीवाद को सहारा मिला है, व्यक्तिवाद पोषित हुआ है और प्रजातंत्र तथा जनवादी हितों का गला घोंटा गया है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी व्यवस्था के हाथ में प्रचार के सारे साधन होते हैं। धर्माधिकारी भी पूँजीवादी और प्रतिक्रियावादी व्यवस्था का ही समर्थन करते हैं।

ऐसी अवस्था में साम्यवादी विचारकों का कहना है कि शांतिपूर्ण वैध उपायों से किसी भी प्रकार का परिवर्तन होना संभव नहीं है। उसके लिए बल और हिंसात्मक साधनों का प्रयोग अनिवार्य और आवश्यक है। वे अपनी इस पद्धति का औचित्य इतिहास के उदाहरण देकर भी सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि अतीत में राज्य की सत्ता को हमेशा हिंसा द्वारा ही प्राप्त किया गया है और हिंसा द्वारा ही उसकी रक्षा भी की गयी है। लास्की ने भी 'कम्यूनिज्म' नाम की पुस्तक में लिखा है कि पूँजीवादी वर्ग को नष्ट करने का हिंसा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

साम्यवादियों का कहना है कि वे हिंसा का प्रयोग सार्वभौमिक हितों की पूर्ति और उनकी रक्षा के लिए करते हैं; इससे स्वाभाविक विकास के कार्य में सहायता मिलती है। इसलिए हिंसा का प्रयोग सर्वथा उचित ही नहीं पवित्र भी है। वह इस पद्धति को गौरवपूर्ण भी समझते हैं।

राज्य को बल प्रयोग द्वारा प्राप्त कर लेने के बाद वे श्रमजीवी अधिनायकतंत्र द्वारा उस समय तक शासन करेंगे जब तक राज्य अनावश्यक होकर स्वयं लुप्त न हो जाय। श्रमजीवियों के अधिनायकतंत्र पर हम पिछले अध्याय के एक अनुच्छेद में प्रकाश डाल आये हैं।

४. साम्यवादी विचारधारा और कार्य पद्धति की आलोचना

पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थकों ने साम्यवादी विचारधारा, उसकी क्रान्तिपद्धति तथा क्रान्ति दर्शन की विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना की है। इनमें कुछ मुख्य आलोचनाएं इस प्रकार हैं--

४.१ साम्यवादी व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक आलोचकों का कहना है कि साम्यवादी विचारकों का यह सोचना ठीक नहीं कि मानव-प्रवृत्तियों में ऐसा सुधार हो जायगा कि मनुष्य स्वार्थभावना से ऊपर उठकर, केवल सामाजिक भावना से प्रेरित होकर कार्य करने लगेगा और वह स्वाभाविक आलस्य को सर्वथा त्याग देगा।

४.२ कुछ अन्य आलोचकों का कहना है कि साम्यवादी विचारक सबके साथ समानता का व्यवहार करना चाहते हैं लेकिन बुद्धि में असमान लोगों के साथ समानता का व्यवहार करने का क्या अर्थ होता है ? यदि अधिक योग्य तथा कम योग्य--दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के साथ समानता का व्यवहार किया जायगा तो लोगों की दक्षता पर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।

४.३ प्रजातंत्रवादी आलोचकों का कहना है कि साम्यवादी स्वतंत्रता और लोकतंत्र-वाद के शत्रु हैं क्योंकि श्रमजीवी समाज के राज्य में जो अधिनायकतंत्र स्थापित हो जाता है वह सर्वाधिकार सम्पन्न होता है और उसके विरुद्ध कोई चूं भी नहीं कर सकता। अधिनायक-तंत्र के विरुद्ध आवाज उठानेवाले व्यक्ति को राजद्रोही समझा जाता है और उसे तुरन्त गोली मार दी जाती है।

४.४ अधिनायकतंत्रीय समाजवादी राज्य में केवल एक ही दल होता है और वह है--साम्यवादी दल। साम्यवादी दल के सदस्यों का दर्जा औसत जनता से ऊपर होता है। **बर्ट्रेण्ड रसेल** जैसे व्यक्तिवादी विद्वानों का कहना है कि इस प्रकार के समाजवादी राज्य में, विशेषाधिकार प्राप्त एक नौकरशाही आभिजात्य वर्ग के उत्पन्न हो जाने की आशंका सदा बनी रहती है। हो सकता है आगे चल कर यह वर्ग राजसत्ता का प्रयोग अपनी निजी शक्ति की वृद्धि के लिए करने लगे।

४.५ **मार्क्सवादियों का उत्तर**--मार्क्सवादियों ने इन सब आलोचनाओं के करारे उत्तर दिये हैं। मनोवैज्ञानिक आधार पर जिन लोगों ने साम्यवाद की आलोचना की है उनके संबंध में मार्क्सवादी विचारकों का कहना है कि मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाइयों में उनका विश्वास है। दूसरे मनुष्य वैसा ही बनता है जैसी उसकी भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं। चेतना मनुष्य की भौतिक परिस्थितियों की देन होती है। इसलिए यह असंभव है कि जब मनुष्य अपने आसपास के वातावरण को सक्रिय गति-विधियों से युक्त पायेगा तो उसमें काम करने की इच्छा पैदा न होगी और वह आलसी हो जायगा। यदि इतने पर भी किसी व्यक्ति में काम करने की स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न नहीं होगी तो इसका मतलब है कि उसकी शारीरिक या मानसिक रचना में कोई दोष है। ऐसी अवस्था में वह व्यक्ति सामान्य नहीं समझा जायगा और उसकी चिकित्सा आदि के लिए समुचित प्रबंध करना होगा।

समानता के संबंध में साम्यवाद की जो आलोचना (४.२) की जाती है--वह भ्रम पर आधारित है। यदि साम्यवादी विचारक यह कहते हैं कि साम्यवादी राज्य में सबके साथ एक-सा व्यवहार होगा तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ सब धान बाइस पसेरी ही होगा। समानता से उनका अभिप्राय केवल यही है कि सबको विकास के समान अवसर मिलेंगे। यदि किसी व्यक्ति में अपना विकास करने की अत्यन्त सीमित क्षमता है तो स्वाभाविक है कि वह अपने साथियों से नीचे रह जायगा तथा उससे अधिक योग्य व्यक्ति ऊपर चढ़ जायँगे।

प्रजातंत्रवादी आलोचकों (४.३) की आलोचनाओं की तो साम्यवादी विचारक एक प्रकार से हँसी उड़ाते हैं। उनका कहना है कि पूंजीवादी समाज में यदि भूखे मजदूर को मताधिकार दे दिया जाता है और उससे कह दिया जाता है कि वह सब प्रकार से स्वतंत्र है तो वह उस अधिकार और स्वतंत्रता का क्या करेगा, क्योंकि उसके मत की कीमत कुछ रुपयों से अधिक नहीं है। कोई भी पूंजीपति थोड़ी-सी रकम खर्च करके सैकड़ों मजदूरों के मत प्राप्त कर सकता है। दूसरे, उत्पत्ति के साधनों के अभाव में मजदूर की स्वतंत्रता भी कोई मूल्य नहीं रखती क्योंकि वह स्वतंत्रता भूखों मरने की स्वतंत्रता से अधिक कुछ भी नहीं है। यह सच है कि श्रमजीवी अधिनायकतंत्र में विरोध का दमन बड़ी सख्ती से किया जाता है। लेकिन यह जरूरी है; क्योंकि श्रमजीवी अधिनायकतंत्र के विरुद्ध पूंजीवादी तत्व ही सबसे अधिक सिर उठाते हैं और यदि उनको क्रूरतापूर्वक दबा नहीं दिया जाता तो वे समूचे राज्य को ही

ले डूबेंगे। साम्यवादियों का कहना है कि इसलिए श्रमजीवी अधिनायकतंत्र में श्रमिकों को जितनी स्वतंत्रता और जनवादी अधिकार मिलते हैं उतने अधिकार न तो किसी पूँजीवादी प्रजातांत्रिक राज्य में मिले हैं और न कभी मिल सकते हैं।

बर्ट्रेण्ड रसेल की यह आलोचना कि ऐसे समाज में (४.४) नौकरशाह आभिजात्यवर्ग उत्पन्न हो जायगा अनुभूति पर आधारित नहीं है। उन्होंने मार्क्सवाद के प्रगतिशील तत्वों की सच्चाई को जानबूझ कर अन्य पूँजीवादी दार्शनिकों की भाँति ही छिपाने की चेष्टा की है। रूस में समाजवादी राज्य पिछले २०—२५ वर्षों से है लेकिन वहाँ अभी तक ऐसा कोई वर्ग उत्पन्न नहीं हो पाया है। यदि इक्के-दुक्के लोग शक्ति जुटाने की कोशिश करते भी हैं तो साम्यवादी दल के शुद्धिकरण (purge) की तलवार तो हमेशा उनके ऊपर लटकती ही रहती है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि वहाँ कोई ऐसा वर्ग उत्पन्न हो जायगा तो क्या श्रमजीवी समाज जो पूँजीवाद जैसे प्रतिक्रियावादी वर्ग को उलट सकता है—उस वर्ग के षड्यंत्रों का अन्त नहीं कर सकेगा ?

सच तो यह है कि ब्रिटेन में विकासवादी समाजवाद की असफलता के बाद से क्रान्तिकारी साम्यवाद का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया है और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-परिस्थितियों की विषमताओं और अमेरिकी नीतियों के कारण वह निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है।

५. राजकतावाद (Anarchism)

साम्यपादियों और अराजकतावादियों के लक्ष्यों का जहाँ तक संबंध है—दोनों में कोई गहरा सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। इन दोनों का अन्तर पद्धतियों के संबंध में है। साम्यवादी जहाँ एक ओर इस बात में विश्वास करते हैं कि सशस्त्र और हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा राज्य पर कब्जा कर लिया जाय—वहाँ अराजकतावादी किसी स्पष्ट पद्धति की ओर कोई निर्देश नहीं करते। अराजकतावादी कहते हैं कि वे साम्यवादियों की अपेक्षा मार्क्सवाद से अधिक निकट हैं। लेकिन उनके इस तर्क में अधिक बल नहीं है; क्योंकि सन् १८७२ में बाकुनिन आदि विद्वानों का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय में स्वयं मार्क्स से मतभेद हो गया था और उन्हें मार्क्स तथा उनके अनुयायियों का मार्ग स्वच्छ करने के लिए हट जाना पड़ा था।

६. अराजकतावाद विचारक

अराजकतावादी विचारकों का सबसे बड़ा नेता प्रिंस क्रोपाटकिन (prince Kropatkin, १८४२-१९१९) और माइकेल बाकुनिन (Michael Bakunin १८१४-१८७६) को माना जाता है। इन दोनों विचारकों के विचारों ने सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पायी है। इन दोनों दार्शनिकों के अतिरिक्त जर्मनी में मेक्स टर्नर (Max Turner, १८०६-१८५६) तथा अमेरिका में जोशिया वारेन् तथा बेञ्जामिन टकर आदि जैसे अराजकतावादी दार्शनिक भी हुए। यदि ध्यान से देखा जाय तो अराजकतावादी विचारों का श्रीगणेश गॉडविन से हुआ। गॉडविन के अराजकतावादी दर्शन को प्रूदों ने ग्रहण किया और यह सिद्ध करने का प्रयास भी किया कि वही सबसे पहला अराजकतावादी है। लेकिन प्रूदों के विचारों में अराजकतावादी दर्शन का अपेक्षित विकास नहीं हुआ है।

६.१ **अराजकतावादी दर्शन के प्रभाव-स्रोत**—अराजकतावादी दार्शनिक अपनी शताब्दी की व्यक्तिवादी और साम्यवादी दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं से प्रभावित हुए तथा उनका दर्शन इन दो विचारधाराओं के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्तिवाद और साम्यवाद एक दूसरे के इतने अधिक विरोधी हैं कि उनका सम्मिश्रण अराकतावाद जसे किसी भी दर्शन में बिना गंभीर गड़बड़ी किये नहीं रह सकता। यहीं नहीं अराजकतावादी विचारकों में से कुछ तो उग्र व्यक्तिवाद की तरफ झुके हुए हैं—जो व्यक्ति को निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार देते हैं और हर तरह से व्यक्ति को अपने सारे विचारों तथा आदर्शों का

केन्द्र मानते हैं और दूसरे वर्ग में ऐसे दार्शनिक हैं जिनके विचारों पर साम्यवाद की छाप अधिक है। पहली परम्परा में मेक्स टर्नर वगैरह आते हैं। दूसरी परम्परा में प्रिंस क्रोपाटकिन, बाकुनिन तथा लिओ टॉलस्टॉय आदि का नाम आता है। अराजकतावादी दर्शन की पहली परम्परा जिसका नेता जर्मन विचारक टर्नर के (असली नाम के सपरश्मिट) था, पहले ही समाप्त हो गयी। क्रोपाटकिन का दर्शन कुछ आगे चला लेकिन वह भी अब समाप्त हो गया है। हम यहाँ क्रोपाटकिन के दर्शन पर ही विचार करेंगे।

६.२ **अध्ययन स्रोत**—अराजकतावादी साहित्य हमें मुख्यतः प्रिंस क्रोपाटकिन के निम्नलिखित ग्रंथों में मिलता है—(१) फ्रेंच रिवॉल्यूशन (French Revolution), (२) दि स्टेट, इट्स पार्ट इन हिस्ट्री (The State Its Part in History), (३) मेमॉयर्स ऑफ ए रिवॉल्यूशनरी (Memoirs Of A Revolutionary), और (४) म्युचुअल एड (Mutual Aid)। बाकुनिन के भी चार मोटे-मोटे ग्रंथ फ्रेंच में हैं। लिओ टॉल्स्टॉय ने इस दर्शन का विश्लेषण निम्नलिखित पुस्तकों में किया है—(१) ह्वाट टु डू (What To Do); (२) दि किंगडम ऑफ गॉड इज विदइन यू (The Kıngdom of God is Within You): और (३) पेट्रियॉटिज्म एण्ड गवर्नमेण्ट (Patrintism & Government)।

७. अराजकतावादियों के स्वतंत्रता संबंधी आदर्श

अराजकतावादी दर्शन के प्रतिपादक व्यक्ति को सब प्रकार के बंधनों से मुक्त कर देना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि व्यक्ति को न केवल पूँजीवादी आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के बंधनों से मुक्ति मिल जाय; वरन् 'राज्य' के सारे बंधनों को ही समाप्त कर दिया जाय। 'राज्य' के बंधनों के अतिरिक्त वे व्यक्ति को धर्म, परम्परागत नैतिक एवं आचारशास्त्रों के नियमों, मर्यादाओं और सीमाओं से भी मुक्त कर देना चाहते हैं। अराजकतादियों की नास्तिकता मुहावरा हो गयी है। पूँजीवादी प्रभाव से व्यक्ति और समाज को मुक्त करने की आवश्यकता क्यों है—इस पर तो हम मार्क्स और साम्यवाद का अध्ययन करते हुए भली भांति विचार कर चुके हैं; धर्म और नैतिकता के बंधनों से अराजकतावादी व्यक्ति तथा समाज को क्यों मुक्त करना चाहते हैं, यह प्रश्न आचारशास्त्र का है; अतः इस पर यहाँ विचार करना आवश्यक नहीं है। नी के कुछ अनुच्छेदों में हम केवल इस बात पर विचार करेंगे कि अराजकतावादी राज्य और शासन को क्यों अनावश्यक समझते हैं।

८. राज्य और शासन की अनुपयोगिता

राज्य (State) और शासन (Government) अनावश्यक हैं—यह सिद्ध करने के लिए अराजकतावादियों ने ऐतिहासिक, मनावैज्ञानिक और राजनीतिक तथा आर्थिक कारणदिये हैं :

८.१ **ऐतिहासिक दृष्टि से** अराजकतावादियों का कहना है कि राज्य आवश्यक नहीं है; क्योंकि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व भी मनुष्य रहते ही थे। उस अवस्था में लोगों का जीवन सुखी, समृद्ध और सन्तुष्ट था। राज्य की उत्पत्ति ता समाज में वर्गों के उत्पन्न हो जाने के बाद हुई। राज्य ने वर्ग-हितों का पोषण किया, उनकी रक्षा की। जब समाज में वर्ग-विहीन व्यवस्था वर्ग को ही लाभ है, इसलिए उसे समाप्त कर देना ही उचित है।

८.२ **व्यक्ति की स्वतंत्रता** का राज्य ने सदैव हनन किया है। राज्य का बनाया हुआ प्रत्येक कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता को छीनता है और उसकी गतिविधि के क्षेत्र का सीमित करता है। शासन राजतंत्रात्मक हो, आभिजात्यतंत्रात्मक और चाहे लाकतंत्रात्मक हो, उसकी विधियों से स्वतंत्रता अवश्य नष्ट होती है। राजतंत्र में सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती है और वह व्यक्ति समूची प्रजा को अपनी मुट्ठी में रखने का प्रयत्न करके सबकी स्वतंत्रता का अपहरण कर लेता है। आभिजात्यवर्गीय शासन में व्यक्तियों का एक वर्ग अन्य सब वर्गों

को स्वतंत्रता समाप्त कर देता है। लोकतंत्र में बहुमत की क्रूरता अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता समाप्त कर देती है। इसलिए राज्य और शासन——चाहे वे किसी प्रकार के हों——वर्ज्य और निषिद्ध हैं। उनका अस्तित्व जितनी जल्दी समाप्त हो उतना ही अच्छा है।

८.३ **श्रमजीवी वर्ग और राज्य** के पारस्परिक संबंध ऐसे कभी नहीं हो सकते हैं जिनकी वजह से यह आशा की जा सके कि श्रमिक राज्य पर विश्वास कर सकें। इतिहास साक्षी है कि राज्य ने अपनी शासन-शक्ति के द्वारा सदैव निजी सम्पत्ति की रक्षा की है। यह निजी सम्पत्ति मार्क्स के अनुसार श्रमिकों की गाढ़ी कमायी में से की गयी चोरी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चोरी की इस चीज की रक्षा के लिए राज्य ने श्रमिकों के आन्दोलन को कुचला है, उनका दमन किया है, उन पर कोड़े और डण्डे बरसाये हैं। ऐसे राज्य से किस प्रकार यह आशा की जा सकती है कि वह श्रमजीवी वर्ग का अपने प्रति उत्पन्न अविश्वास दूर कर सकेगा। जो राज्य प्रतिनिधिमूलक होने का दावा करते हैं——उनमें भी उत्पत्ति के साधन (Means of Production) कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में रहते हैं। हालाँकि उत्पत्ति के इन साधनों को या तो श्रमजीवी वर्ग के हाथ में होना चाहिए अथवा सब के हाथ में। लेकिन श्रमिक जब भी उत्पत्ति के साधनों के राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण की माँग करते हैं उनकी यह आवाज दबा दी जाती है। राज्य कभी भी वर्गहीन समाज के नये युग का समारंभ नहीं होने देता। वे सोवियत रूस का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मार्क्सवाद के अनुसार सोवियत रूस में अब तक वर्गहीन समाज स्थापित हो जाना चाहिए था और राज्य लुप्त हो जाना चाहिए था लेकिन राज्य द्वारा की जाने वाली परम्परागत शरारतों का ही यह फल है कि वहाँ अभी तक ऐसा कुछ भी नहीं हो सका है। इसलिए श्रमजीवी वर्ग को यह अधिकार है कि वह राज्य पर कभी विश्वास न करे और उसे बराबर शक की निगाह से देखता रहे।

८.४ **प्रतिनिधि सरकार की स्थापना असंभव है।** अराजकतावादी का कहना है कि अभी तक ऐसी कोई राजनीतिक पद्धति सामने नहीं आ सकी है जो सच्ची प्रतिनिधि सरकार की स्थापना कर सके। अराजकतावादी दार्शनिकों ने अपने युग के आधुनिकतम विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल का नाम ले कर कहा है कि वह भी कोई ऐसी पद्धति स्थिर करने में असफल रहा जिससे यह संभव हो सकता कि सच्चे अर्थों में कोई प्रतिनिधिमूलक सरकार स्थापित हो सकती यदि यह भी मान लिया जाय कि एक बार किसी तरह प्रतिनिधिमूलक शासन स्थापित भी हो जाय तो क्या वह हर प्रश्न पर जनता से परामर्श कर सकता है? स्पष्ट है कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में जो शासन जनता की बिना इच्छा जाने उस पर शासन करता है——वह निरंकुशतंत्र के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। दूसरे क्या अभी तक कोई भी व्यक्ति यह समझ पाया है कि वस्तुतः वह क्या चाहता है और उसका अंतिम हित किस बात में निहित है? इसका भी उत्तर निषेधात्मक ही मिलता है। ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति समूह किसी एक व्यक्ति को अपना प्रवक्ता किस प्रकार बना सकता है?

८.५ **सत्ता का मद** हर शासन को पागल बना देता है। जो व्यक्ति या व्यक्ति समूह राजसत्ता के उच्च सिंहासन पर आसीन हो जाता है——वह यह सोचने लगता है कि सबसे अधिक बुद्धिमान वही है। एक बार कोई व्यक्ति शासक हुआ कि वह सामयिक और क्षणिक लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के साधनों का आश्रय लेता है। अपने साथी और मित्रों को, जिनसे वह समहत नहीं होता——वह मौत के घाट उतरवा देता है जिससे से उसका विरोध न कर सकें। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह शासक एक मनुष्य में भी वैसा दुष्ट है;

---

१. यह बात संभवतः स्टालिन के कृत्यों को ध्यान में रख कर कही गयी है। रूस का सर्वेसर्वा हो जाने के बाद स्टालिन ने अपने बहुत से विरोधियों को समाप्त करवा दिया था। हिटलर ने भी ऐसा ही किया था।——ले०

बल्कि इसका कारण यह है कि शासक की परिस्थितियाँ ही ऐसी होती हैं कि वह ऐसा न करे तो जिन्दा नहीं रह सकता। हर राज्य "बल प्रयोग, विलगीकरण, शोषण (चाहे वह किसी भी प्रकार का हो) हत्या तथा घृणा" पर आधारित होता है।

८.६ **राज्य का अस्तित्व निराशाकारी** और लोगों को अनुत्साहित करनेवाला होता है। उसके अंतर्गत लोगों का नैतिक पतन हो जाता है। राज्य के अस्तित्व का अर्थ होता है कि उसमें दो वर्ग हैं––पहला शासकों का और दूसरा शासितों का। शासकों का नैतिक पतन तो इन अर्थों में होता है कि वे अपने वादों को भूल जाते हैं, गर्वीले हो जाते हैं और अपनी इच्छा के सामने सब को तुच्छ समझने लगते हैं। शासित वर्ग का दमन किया जाता है; उसकी आशाएँ और आकांक्षाएँ कुचल दी जाती हैं; जिसका परिणाम निराशा और अनुत्साह के रूप में सामने आता है। ऐसी अवस्था में लोगों का नैतिक स्तर गिरना स्वाभाविक है।

८.७ **राज्य की अनुपयोगिता** हर दृष्टि से सिद्ध है। राज्य की न तो रक्षा की दृष्टि से आवश्यकता है, न शिक्षा की दृष्टि से। व्यवस्था और शांति बनाये रखने के लिए भी राज्य जरूरी नहीं है। राज्य के कानूनों को भी मानव-समाज को कोई जरूरत नहीं है। यातायात, स्वास्थ्य, उद्योग, संचार साधनों को बनाये रखने के लिए भी राज्य सर्वथा निरर्थक है।

राज्य की अनुपयोगिता और निरर्थकता सिद्ध करने के लिए अराजकतावादी लगभग हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे तर्कों का सहारा लेते हैं। उनका कहना है कि राज्य की आवश्यकता देश-रक्षा के लिए बिलकुल नहीं है। अराजकतावादी दार्शनिक बाकुनिन ने बतलाया है कि किसी भी राज्य की स्थायी सेना को जब भी जनवादी सेना का सामना करना पड़ा है––उसकी पराजय हुई है। कोरिया का उदाहरण इस संबंध में दिया जा सकता है। वहाँ अमेरिका की सर्वश्रेष्ठ फौजें लड़ीं लेकिन चीनी और कोरियाई स्वयंसेवकों की फौजों ने कई बार उन्हें समुद्र तक पीछे हटा दिया और अन्त में यह स्थिति आ गयी कि वे ३४वीं समानान्तर से आगे नहीं बढ़ सकीं। साम्यवादी चीन की फौजों ने अमेरिका से सहायता प्राप्त च्यांग की फौजों को परास्त कर दिया। सोवियत रूस के क्रान्तिकाल में यूरोप के एक दर्जन से भी अधिक राज्यों ने रूस पर अपनी फौजें दौड़ा दी थीं––लेकिन लाल सेना ने उन सबका सफलतापूर्वक सामना कर लिया। ऐसी दशा में यह सोचना तो परले सिरे की भूल है कि राज्य द्वारा रखी जानेवाली सेना ही बाह्य हमलों से समाज, जाति और देश की रक्षा करने में सफल हो सकती है। जब भी आवश्यकता होगी––जनता अपनी सेना आप बना लेगी और आनेवाले खतरे का मुकाबिला कर लेगी।

शांति और व्यवस्था के लिए राज्य पुलिस रखता है। पुलिस द्वारा, पराधियों को पकड़वाया जाता है और न्यायपालिका उन्हें दण्डित करती है। लेकिन अनुभव साक्षी है कि पुलिस से ज्यादा जनता में अपराधियों का पता लगा लेने की क्षमता होती है। पुलिस बहुधा कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिए बेकार मुकदमें चला देती है, लोगों को झूठमूठ पकड़ कर उन्हें तंग करती है और कभी-कभी तो बिना अपराध के ही सजा भी दिला देती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या सजा दिलवा देने से अपराधी सुधर जाते हैं? इसका उत्तर अनिवार्यतः नकारात्मक मिलता है। लेकिन इस बात का प्रमाण है कि समाज ने बहुत अपराधियों को केवल अपनी शक्ति से ही ठीक कर लिया है। रूस में ऐसे कई व्यक्तियों के दृष्टान्त मिलते हैं जो अपराधी होने की आरंभिक दशा में ही सामाजिक बहिष्कार द्वारा ठीक हो गये। अतः शांति और व्यवस्था की दृष्टि से अराजकतावादी राज्य को नितान्त अनुपयोगी मानते हैं।

शिक्षा के संबंध में अराजकतावादियों का कहना है कि यदि राज्य की जोर-जबर्दस्ती लोगों पर न होगी तो वे अपने आप शिक्षा प्राप्त करने की ओर झुकेंगे। शिक्षा की तरफ लोगों

की यह अभिरुचि स्वाभाविक होगी और ऐसी अवस्था में लोग मनचाही शिक्षा की व्यवस्था अपने आप कर लेंगे। उदाहरण के लिए प्राचीन यूनान के अनेक नगर-राज्य ऐसे थे जिसमें राज्य द्वारा शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी लेकिन इस बात के प्रमाण हैं कि उन राज्यों के लोग शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से किसी भी स्थान के लोगों से पिछड़े हुए नहीं थे।

यही बात स्वास्थ्य, उद्योग, यातायात और व्यापार वाणिज्य के बारे में ही है। जब राज्य न होगा और राज्य द्वारा व्यवस्थित नगरपालिकाएँ और नगरनिगम आदि जैसी संस्थाएँ न होंगी तो जनता स्वच्छता और स्वास्थ्य की समस्याओं के प्रति स्वयं जागरूक हो उठेगी और लोग सफाई की तरफ स्वयं ध्यान देंगे। स्वास्थ्य की समस्याओं का वह स्वयं अध्ययन करेंगे। ऐसी अवस्था में जो कुछ कार्य होगा—वह अत्यन्त मूल्यवान् और उपयोगी होगा। मितव्ययिता भी होगी; क्योंकि लोग स्वास्थ्य के नियमों का स्वयं और स्वेच्छा से पालन करेंगे और ऐसी अवस्था में रुपया कम खर्च होगा।

केवल वही उद्योग-धंधे चलाये जायँगे——जो जनहित के लिग उपयोगी होंगे। जो उद्योग सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं होंगे वे अपने आप बंद हो जायँगे। यातायात की व्यवस्था भी उपयोगिता के आधार पर संघटित हो जायगी। व्यापार-वाणिज्य भी वर्गहित में नहीं बल्कि वर्गहीन समाज के हित में होगा।

सारांश यह है कि अराजकतावादी हर क्षेत्र में जनता के स्वतंत्र, स्वेच्छित और अनिवार्यता रहित सहयोग और उसकी सहकारिता की मौलिक भावना को दृष्टि में रखकर ही कोई बात सोचते हैं।

वे कल्पनावादियों के इस मत को भी नहीं मानते हैं कि राज्य की आवश्यकता व्यक्ति की नैतिकता बनाये रखने के लिये आवश्यक है। उनका कहना है कि मनुष्य स्वभाव से ही नैतिक होता है और उसे ऐसे बाह्य उपादानों की कतई आवश्यकता नहीं होती जो उसकी और अधिक नैतिक होने में मदद करें। अराजकतावादी दार्शनिकों का कहना है कि ऐसे बहुत से कार्य हैं जिनको कराने के लिए राज्य के पास भी कोई साधन नहीं है लेकिन लोग फिर भी उनको करते हैं। जुए में हार जानेवाला व्यक्ति बिना राज्य के दबाव के ही अपनी जिम्मेदारी समझता है और अपनी पत्नी के गहनों तक को बेचकर वह रुपया अदा करता है। जहाँ तक सेवाकार्य करने का संबंध है——लोग स्वेच्छा से बिना किसी स्वार्थ के पीड़ितों की आवश्यकतानुसार सेवा करने के लिए राजी हो जाते हैं। यह भावना दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है और इसका प्रमाण है आधुनिक युग में बढ़नेवाली समाजसेवी संस्थाओं की संख्या।

८.८ तो राज्य को आवश्यक क्यों समझा जाता है——अराजकतावादियों के उक्त तर्कों से ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य बिलकुल अनुपयोगी, निरर्थक एवं अनावश्यक संस्था है। तो फिर अतीतकाल से लेकर अब तक राज्य को क्यों आवश्यक समझा जाता रहा है। अरस्तू ने कहा है कि राज्य आवश्यक ही नहीं नैतिक और अच्छे जीवन के लिए अनिवार्य भी है। मध्य युग के विचारकों ने भी राज्य की आवश्यकता के पक्ष म ही विचार प्रकट किये हैं। मैकियावली स्वयं अत्यन्त शक्तिशाली राज्य का पक्षपाती था। आधुनिक युग के व्यक्तिवादी और उदारवादी भी राज्य को जरूरी समझते हैं। हीगल आदि जैसे कल्पनावादी विचारकों ने तो राज्य को साक्षात् ईश्वर का अवतार ही बतला दिया था।

इस तर्क का उत्तर अराजकतावादी इस प्रकार देते हैं। जो लाग सैकड़ों, हजारों वर्षों से राज्य का आनन्द लेते आये हैं, शासन के सूत्रधार होने के नाते जिन्हें अपने युग की सर्वोत्तम भोगविलास की वस्तुएँ मिलती चली आयी हैं—उन लोगों ने ही या तो स्वयं या अपने प्रतिनिधियों द्वारा राज्य के पक्ष में प्रचार कराया है। जनता भी जो सदियों से राज्य

का बोझ उठाने के लिए तत्पर रही है और उसकी आदी हो गयी है, इस प्रचार के सामने सिर झुका देती है। लेकिन एक बार जहाँ जनता ने अनुभव किया कि उसके अधिकांश दुःखों की जड़ राज्य है कि उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

९. वर्गहीन समाज

इस शोर्षक के अन्तर्गत हम दो चीजों का अध्ययन करेंगे। पहले यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि वर्गहोन समाज से अराजकवावादियों का क्या आशय है और दूसरे यह कि वे अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए क्या-क्या साधन काम में लाने की सलाह देते हैं।

९.१ वर्गहोन समाज क्या है?——वर्गहीन समाज में सबको पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी। इस समाज में न तो व्यक्ति से बलात् काम लिया जायगा और न उस पर किसी प्रकार के सामाजिक, राजनोतिक अथवा आर्थिक बंधन रहेंगे। **जोड़** के शब्दों में इस समाज की विशषेता व्यवस्था का अभाव नहीं बल्कि बलप्रयोग का अभाव होगी। इस समाज में हर जवान व्यक्ति स्वेच्छा से काम करेगा। श्रमिकों की अवस्था २४ से ५० वर्ष तक होगी। यह सोचना ठीक नहीं है कि यदि आदमी के सिर पर डंडा नहीं बजता तो वह काम नहीं करता। कोई भी मनुष्य बेकार बैठ ही नहीं सकता, क्योंकि नरक से लोग इसीलिए घबराते हैं कि वहाँ हमेशा छुट्टी ही छुट्टी रहती है। शॉ ने ठीक ही कहा है कि नरक की इससे अच्छी अन्य कोई परिभाषा नहीं हो सकती कि वहाँ हमेशा छुट्टी रहती है। वर्गहीन समाज में प्रत्येक व्यक्ति को इतना धन मिलेगा कि वह सुखपूर्वक जीवन बिता सके। किसी व्यक्ति को ऊँचा-नीचा नहीं समझा जायगा। हरिजन, दलित वर्ग या अछूत जैसी कोई श्रेणी वर्गहीन समाज में नहीं होगी। गन्दे और अप्रिय कार्य करने के लिए या तो विज्ञान की सहायता से ऐसी मशीनें लगायी जायँगी जो वे कार्य कर दें अथवा जिन लोगों से ऐसा काम कराया जायगा उन्हें समाज में समानता का पद दिया जायगा और ऐसे व्यक्तियों की आय को भी प्रलोभनात्मक बनाया जायगा। समाज में जितनी भी वस्तुओं का उत्पादन किया जायगा—उन सब का उपभोग करने का समस्त व्यक्तियों को समान रूप से अधिकार होगा। प्रत्येक व्यक्ति के काम के घण्टे नियमित और अल्प होंगे। इसलिए यह स्वाभाविक ही होगा कि वर्गहीन समाज के लोग संगीत, संस्कृति तथा ज्ञान-विज्ञान की तरफ अधिक ध्यान देंगे। अतः इस समाज में इन सबका खूब विकास हो सकेगा।

सामाजिक और सामूहिक संघटनों की अराजकतावादी कल्पना की एक और विशेषता यह है कि वह विकेन्द्रीकरण पर विशेष बल देती है। अराजकतावादियों का कहना है कि केन्द्रीकरण ही राज्य की उत्पत्ति का कारण है, और सारी बुराइयों की जड़ है। यदि इस प्रवृत्ति को हटा दिया जाय तो बहुत-सी बुराइयाँ अपने आप दूर हो जायँगी।

९.२ लक्ष्यपूर्ति कैसे हो?——इस संबंध में **सी० ई० एम० जोड़** का तो कहना है कि राज्य का अन्त करने तथा वर्गहीन समाज की स्थापना करने के लिए अराजकतावादी यह नहीं बतलाते कि वे किस साधन का प्रयोग करेंगे। सच पूछा जाय तो इस संबंध में अराजकतावादी दार्शनिक अपने विचारों में स्पष्ट नहीं हैं। लेकिन इस संबंध में प्रिंस क्रोपॉटकिन का कहना है कि राज्य का अन्त क्रान्ति द्वारा होगा। लेकिन यह क्रान्ति कौन करेगा—यह अराजकतावादी बिलकुल नहीं बतलाते। उनका तो कहना है कि जनता के बीच अराजकतावादी आदर्शों और लक्ष्यों के प्रचार से जनता स्वयं समझ जायगी कि राज्य का अन्त किया जाना जरूरी है। एक बार यह समझ लेने पर वह स्वयं राज्य का अन्त कर देगी। यह संकेत बड़ा स्पष्ट और निरर्थक-सा है। अराजकतावादी हमेशा इसी स्थल पर मात भी खा जाते हैं।

१२. अराजकतावाद और साम्यवाद

१०.१ **अराजकतावादियों के अभियोग**—अराजकतावादी साम्यवादियों के कट्टर विरोधी हैं और साम्यवादी भी इनको अपना शत्रु समझते हैं।[१] अराजकतावादियों का कहना है कि साम्यवादी विचारधारा निश्चित रूप से केन्द्रीकरण की ओर ले जाती है जो अन्त म जाकर जनता के लिए हानिकारी सिद्ध होगी। वे व्यक्ति को, व्यक्तिसमूह को नहीं, अपना लक्ष्य मानते हैं। अराजकतावादियों के आदर्श तो बहुत कुछ मार्क्स से मिलते हैं लेकिन वे **मार्क्सवादी** द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पद्धति को आध्यात्मिक बतलाते हैं। वे मार्क्स को **कूवियर** से प्रभावित बतलाते हैं। कूवियर अध्यात्मवादी दार्शनिक था और आकस्मिक घटनाओं (cataclysm) और चमत्कारों में विश्वास करता था। अराजकतावादी मार्क्स के भौतिकवादी सिद्धान्त की भी आलोचना करते हैं। वे साम्यवादियों को सच्चा मार्क्स-वादी या साम्यवादी लोकतंत्र को क्रान्तिकारी नहीं मानते।

१०.२ **साम्यवादियों का उत्तर**—अराजकतावादियों की इन आलोचनाओं का खरा उत्तर स्टालिन ने 'अराजकतावाद या समाजवाद' शीर्षक एक लेख में दिया है।

उसका कहना है कि अराजकतावादियों के मौलिक सिद्धान्त अनिवार्यतः छिछले हैं। उनमें गहराई नहीं है और वे वास्तविक कठिनाइयों के समक्ष जरा भी नहीं टिक सकते।

अराजकतावादी यद्यपि मार्क्सवाद की बड़ी दुहाई देते हैं लेकिन वे उसके सिद्धान्तों की मौलिकताओं से सहमत नहीं हैं। अराजकतावादियों के मार्क्सवादी न होने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि बेल सम्मेलन में मार्क्स और उनके आनुयायियों से मतभेद हो जाने के कारण अराजकतावादियों के नेता बाकुनिन और उनके अनुयायियों को प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय से त्यागपत्र देना पड़ा था। इसलिए अराजकतावादियों का यह कहना कि साम्यवादी सच्चे मार्क्सवादी नहीं हैं कुछ फबता नहीं। यह दोष तो उल्टा उन्हीं पर लागू होता है।

साम्यवादी अराजकतावादियों की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के कठोर निन्दक हैं। उनका कहना है कि मार्क्सवाद की सफलता में यह मनोवृत्त सबसे बड़ी बाधा है। अराजकतावादी कहता है कि हर चीज व्यक्ति के लिए होनी चाहिए जब कि साम्यवादी कहता है हर चीज समाज के लिए होनी चाहिए। जो चीज केवल व्यक्ति के लिए होगी वह अवश्य ही कठि-नाइयाँ पैदा कर देगी। इसलिए समाज के हितों को ध्यान में रखना चाहिए, व्यक्ति के हितों को नहीं।

अराजकतावादियों के इस कथन को साम्यवादी हास्यास्पद समझते हैं कि मार्क्स की द्वन्द्वात्मक प्रणाली अध्यात्मवादी थी। साम्यवादियों ने इसके उत्तर में स्वयं मार्क्स को उद्धृत किया है और बतलाया है कि द्वन्द्वात्मक प्रणाली पूर्ण रूप से भौतिकवाद पर आधारित है। दूसरे उसमें कल्पना को कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। वैज्ञानिकता ही उसका मौलिक आधार है।[२] साम्यवादी इसीलिए कहते हैं कि अराजकतावादियों ने मार्क्स की द्वन्द्वात्मक प्रणाली को नहीं समझा है।

---

१ "We believe that the Anarchists are Real Enemies of Marxism." J. Stalin in his Essay on "*Anarchism or Socialism*", p. 9.

२ "In the opinion of Anarchists dialectics are metaphysics' (and as they want to free science from metaphysics philosophy from theology) they repudite dialectical method.....but in this way they prove their own ignorance". *Ibid.*, p. 20.

अराजकतावादी कहते हैं कि केवल भौतिक परिस्थितियाँ ही मनुष्य की विचारधारा का निर्माण नहीं करतीं। विचारधारा (Ideology) के निर्माण में अन्य तत्वों का भी हाथ रहता है। यह बात अपनी जगह पर बिलकुल ठीक है लेकिन मार्क्स ने यह किसी भी स्थल पर नहीं कहा कि विचारधारा के निर्माण में केवल भौतिक परिस्थितियों का हाथ रहता है। मार्क्स का कहना था कि भौतिकवादी परिस्थितियाँ व्यक्ति की चेतना (Consciousness) का निर्माण करती हैं। यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी कि मान लीजिए एक ग्रामीण जुलाहे को मन्दी और मिल के कपड़े की प्रतिद्वन्द्विता की वजह से अपना काम बन्द करना पड़ता है और कानपुर की एक कपड़े की मिल में मजदूरी करने के लिए जाना पड़ता है। वह कानपुर इस इरादे से जाता है कि मिल में काम करके कुछ रुपया एकत्रित कर लेगा और उसे लेकर अपने गाँव वापस चला जायगा जिससे वह अपना कर्जा पटा दे और अपना काम-काज फिर शुरू कर दे। वह मिल में काम करने के लिए साधारण बुर्जुआ मनोवृत्ति से जाता है। लेकिन वहाँ कुछ दिन काम करने के बाद देखता है कि उसे जो कुछ मजदूरी मिलती है उससे उसकी दैनिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं होती। ऐसी अवस्था में बचाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। फिर वह ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं की बातें सुनता है जो हर मजदूर से कहते हैं कि उन्हें अपनी अवस्था सुधारने के लिए अपने पैरों पर खड़ा होना होगा, आन्दोलन करना होगा। हड़तालें करनी होंगी और आवश्यकता पड़ने पर पुलिस की गोलियाँ भी खानी होंगी। वह यह भी देखता है कि मिल मालिकों पर मजदूरों की मिन्नतों और प्रार्थनाओं का कोई असर नहीं होता और अन्त में वह जी-जान से मजदूर आन्दोलन को सफल बनाने में जुट जाता है। ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि वह ग्रामीण जुलाहा जो पहिले मजदूर आन्दोलन का अर्थ भी नहीं समझता था, कानपुर में काम करके एक नये भौतिक वातावरण के कारण मजदूर आन्दोलन के रंग में रँग जाता है। मार्क्स ने इन्हीं अर्थों में कहा था कि भौतिक परिस्थितियाँ व्यक्ति की चेतना का निर्माण करती हैं। उसका यह अर्थ नहीं था कि भौतिक परिस्थितियाँ व्यवस्थित मार्क्सवादी या अराजकतावादी विचारधारा तैयार कर देती हैं। व्यवस्थित विचारधाराओं के लिए तो यह जरूरी है कि भौतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त अन्य मानसिक और भौतिक उपादान भी हों।

साम्यवादी यह भी नहीं मानते कि अराजकतावादियों के कथन के अनुसार समाजवाद में लोकतंत्र नहीं होता।

११. अराजकतावाद का प्रभाव

आज के युग में अराजकतावाद अतीत की वस्तु हो चुका है। इसके अनुयायियों और विचारकों दोनों की संख्या शून्य है। लेकिन बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में एक समय ऐसा अवश्य था जब अराजकतावाद का बड़ा जोर था। स्टालिन को उन्हीं दिनों अराजकतावादियों की आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए एक निबंध लिखना पड़ा था। अराजकतावाद का गिल्ड और सिण्डीकल (श्रेणी और शिल्पीसंघ) समाजवाद पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। अराजकतावादियों के विकेन्द्रीकरण के विचार से ही प्रभावित होकर बहुलवादी आन्दोलन (pluralism) भी चला।

———

श्रमिक संघवाद और श्रेणी संघवाद (SYNDICALISM & GUILD SOCIALISM)

१. श्रमिक संघवाद को जन्म देनेवाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ--२. श्रमिक संघवाद क्या है ?--३. श्रमिक संघवादी आन्दोलन का उत्कर्ष--४. श्रमिक संघवाद के दार्शनिक--५. श्रमिक संघवादियों की कार्य पद्धति और लक्ष्य--६. आलोचना--७. श्रमिक संघवाद का प्रभाव-८. श्रेणी समाजवाद--९. इंगलैंड के श्रेणी समाजवादी विचारक--१०. श्रेणी समाजवाद के मौलिक सिद्धान्त--११. लक्ष्य और कार्य-पद्धति--१२. राज्य संबंधी विचार--१३. श्रेणी समाजवाद की त्रुटियाँ--१४. अनुदाय और प्रभाव।

'श्रमिक संघवाद' अंग्रेजी भाषा शब्द 'सिंडीकलिज्म' का अनुवाद है। 'सिंडीकलिज्म' अंग्रेजी के 'सिंडीकेट' से बना है जिसका हिन्दी में शब्दार्थ है 'संघ'। श्रमिक संघों के लिए इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले फ्रांस में किया गया था। तभी से यह शब्द फ्रांस के मजदूरों के आन्दोलन-विशेष का अर्थ देने लगा है।

'श्रमिक संघवाद' या सिण्डीकलिज्म क्या है ? इसका दर्शन क्या है ? इसके दार्शनिक कौन-कौन हैं ? श्रमिक संघवाद पद्धति के विश्वास और लक्ष्य क्या हैं ? इन सब प्रश्नों का उत्तर खोजने के पहले हम यह देखेंगे कि इस आन्दोलन का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ।

१. श्रमिक संघवाद को जन्म देनेवाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

श्रमिक संघवाद का जन्म और विकास फ्रांस में बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ। इसलिए हम फ्रांस की समकालीन परिस्थितियों पर विचार करेंगे। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में फ्रांस एक संक्रान्ति-काल से गुजर रहा था। उन दिनों वहाँ क्रान्तिकारी विचार विकसित हो रहे थे। मजदूर यह अनुभव कर रहे थे कि राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करके सांविधानिक साधनों से वे अपना हित-साधन नहीं कर पा रहे हैं। इससे उनको बड़ी निराशा हो रही थी। इंडलैण्ड की भाँति फ्रांस में मजदूरों की अवस्था में उस गति से सुधार नहीं हो पा रहा था जिसकी आवश्यकता थी। इसका कारण यह था कि इंगलैण्ड में पूँजीवादी उद्योग तेजी से उन्नति कर रहा था—उसका व्यापार फैल रहा था; लेकिन फ्रांस में न तो उन दिनों बड़े-बड़े कारखाने ही थे और न फ्रांसीसी व्यापार ही व्यापक पैमाने पर हो रहा था, जिसकी आय से फ्रांसीसी पूँजीपति अंग्रेजी पूँजीपतियों की भाँति मजदूरों की दशा में सुधार कर पाते। इसका परिणाम यह हुआ कि मजदूरों की आर्थिक अवस्था बहुत खराब हो गयी और उन्होंने जब अपनी आर्थिक अवस्था में सुधार किये जाने की माँग की तो वह अस्वीकार कर दी गयी। फ्रांसीसी पूँजीपतियों की उस अस्वीकृति से भड़ककर मजदूरों ने सिर उठाया तो वे कुचल दिये गये। मजदूरों की ऐसी ऐतिहासिक क्रान्तियाँ सन् १८३० से लेकर सन् १८७१ तक तीन[1] बार हुई। इन मजदूर क्रान्तियों का दमन चूंकि राज्य द्वारा हुआ—इसलिए मजदूर आन्दोलन के नेता इस परिणाम पर पहुँचे कि 'राज्य केवल उनके दमन का ही साधन है।' राज्य द्वारा उनका कोई हित सम्पादित

---

१. ये क्रान्तियाँ क्रमशः सन् १८३०, १८४८ और १८७१ में हुई थीं।

नहीं हो सकता। इसके साथ ही फ्रांसीसी श्रमिकों ने यह भी देखा कि राज्य के शासनतंत्र में कितना भ्रष्टाचार फैला हुआ है। कई बार बड़े-बड़े राजकर्मचारियों और सेना के अधिकारियों की रिश्वतखोरी का भण्डाफोड़ हो गया।[1] पनामा काण्ड ने तो जलती अग्नि में घृताहुति का काम किया। पनामा काण्ड में यह हुआ था कि पनामा-नहर बनाने के लिए जो कम्पनी बनायी गयी थी और जिसके संघटन में सरकार का भी हाथ था——उसके शेयर बहुत से फ्रांसीसी नागरिकों ने खरीदे। कम्पनी द्वारा इस प्रकार एकत्रित की गयी पूँजी को फ्रांस के बहुत से मंत्रियों, अधिकारियों तथा संसद के सदस्यों ने बाँट लिया और वह कंपनी दिवालिया घोषित कर दी गयी। इस घोषणा से जिन नागरिकों का रुपया डूब गया उनमें स्वभावतः बड़ा असंतोष फैला। जाँच किये जाने पर पोल खुल गयी लेकिन मामला दबा दिया गया। यह भ्रष्टाचार केवल राजकर्मचारियों तक ही सीमित नहीं रहा। इसमें फ्रांस के राष्ट्रपति ग्रेवी भी फँस गये। राष्ट्रपति ग्रेवी की पुत्री का विवाह विलसन नाम के एक अँग्रेज से हुआ था। विलसन महाशय ने बहुत से लोगों को काम दिलाने का प्रलोभन देकर उनसे रुपया हजम कर लिया था। इसकी रकम इतनी बड़ी थी कि ग्रेवी तथा विलसन के विरुद्ध एक व्यवस्थित आन्दोलन खड़ा हो गया। राष्ट्रपति ग्रेवी पर मामला चला जिसमें वे निर्दोष सिद्ध हुए। लेकिन इस मामले के सिलसिले में राजकर्मचारियों के भ्रष्टाचार की बहुत-सी बातें सामने आईं। इन सब बातों का स्वभावतः यह परिणाम हुआ कि श्रमिक पूँजीपतियों को शोषक और राज्य को भ्रष्ट पूँजीपतियों के कदाचारों का केन्द्र और अड्डा समझने लगे। आरंभ में उन्होंने राज्य का सुधार करने के लिए फ्रांसीसी संसद में अपने कुछ प्रतिनिधि[2] भी भेजे लेकिन इन्होंने संसद में पहुँचते ही ऐसा रंग बदला कि मजदूरों का समर्थन करने के बजाय पूँजीपतियों और राज्य के भ्रष्ट कर्मचारियों का समर्थन करने लगे। नतीजा यह हुआ कि श्रमिकों का यह विश्वास भी समाप्त हो गया कि वे सांविधानिक साधनों के द्वारा कोई सफलता प्राप्त कर सकते हैं। श्रमिक आन्दोलन के नेता इस परिणाम पर पहुँचे कि ये सब बुराइयाँ शक्ति के एक स्थान पर केन्द्रित हो जाने से पैदा होती हैं। यदि इस शक्ति का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाय तो अवस्था काफी सुधर सकती है। यही सब कारण हैं जिनकी वजह से श्रमिक संघवादी (सिण्डीकलिस्ट) बड़े हठी होते हैं और वे अपनी बातों पर किसी भी पक्ष से कोई भी समझौता करने के लिए जरा भी राजी नहीं होते।

२. श्रमिक संघवाद (Syndicalism) क्या है ?

श्रमिक संघवाद की परिभाषा करते हुए **आर० मैकडानॉल्ड** ने लिखा है कि यह एक ऐसा आन्दोलन है जो श्रमिक सभाओं द्वारा चलाया जाता है और इस आन्दोलन का उद्देश्य एक ऐसे नये समाज को जन्म देना है जिसमें उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली को समाप्त कर दिया जायगा, श्रमिकों की यूनियनों का उत्पादन के सामनों पर अधिकार होगा और कुल उद्योगों की प्रबंध-व्यवस्था वही करेंगी। वितरण और उपभोगों का नियमन भी उन्हीं के द्वारा किया जायगा और वह समाज के सभी हितों के अनुकूल कार्य करेंगे। यह तो श्रमिक, संघवाद की सकारात्मक व्याख्या है। नकारात्मक दृष्टि से श्रमिक संघवाद राज्य की राष्ट्रीयता और राष्ट्रप्रेम का, सैन्यवाद का, संसदीय प्रणाली का, राजनीतिक दलों का, मध्यवर्ग का और यहाँ तक सोवियत रूस के समाजवाद तक का विरोधी है। श्रमिक संघवादी (Syndicaist) राज्य का क्यों विरोध करते हैं——यह तो हम ऊपर बतला ही आये हैं

---

१ बाउलेञ्जर कांड तथा ड्रेफ्यूज कांड इसके उल्लेखनीय उदाहरण हैं।
२ ऐसे प्रतिनिधियों म मिलेरां, ब्रियां और विवियानी का नाम लिया जा सकता है।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रप्रेम को भी वे पूँजीपतियों का एक ऐसा अस्त्र समझते हैं जिसके द्वारा दो देशों के पूँजीपति अपने लाभों के लिए लड़े जानेवाले युद्धों में दो देशों के श्रमिक वर्गों को आपस में लड़ाते हैं। श्रमिक संघवादियों का कहना है कि मजदूरों को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए और अपने यहाँ के पूँजीपतियों के लाभों के लिए दूसरे देश के मजदूरों के खून से अपने हाथ रंगने से इन्कार कर देना चाहिए। सैन्यवाद (militcrism) को भी वे एक वर्गविशेष के हित के सम्पादन का साधन मानते हैं। संसदीय प्रणाली के सम्बन्ध में उनका अनुभव है कि संसद में चले जाने के बाद पूँजीवादी उन प्रतिनिधियों को तरह-तरह के प्रलोभन देकर अपनी तरफ मिला लेते हैं। विभिन्न राजनीतिक दल अपने हितों की सिद्धि में ही इतने अधिक लगे रहते हैं कि उन्हें श्रमिकों की बात सोचने का ही अवकाश नहीं मिलता और यदि वे मजदूरों की चर्चा भी करते हैं तो केवल अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए। वे यह भी नहीं मानते कि रूस में श्रमिकों का राज्य स्थापित हो गया है। वे समझते हैं कि वहाँ केवल एक वर्ग विशेष के हाथ में राजसत्ता चली गयी है जो मजदूरों की दशा सुधारने की तरफ अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देती है।

श्रमिक संघवाद की उपरोक्त नकारात्मक व्याख्या **कुकर** (F. W, Cooker) ने की है।

३. श्रमिक संघवादी आन्दोलन का उत्कर्ष

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस में श्रमिक संघों की अवस्था बहुत खराब थी। सन् १८४४ की क्रान्ति के बाद उन्हें अवैधानिक घोषित कर दिया गया था और कहा गया था कि किसी भी स्थान में बीस श्रमिकों से अधिक जमा न हो सकेंगे। इस राज्याज्ञा के परिणामस्वरूप श्रमिकों ने छोटे-छोटे आमोद-प्रमोदगृह स्थापित कर लिये थे। ये गृह ऊपर से देखने में तो सामाजिक लगते थे लेकिन इनके जरिए मजदूरों की चेतना को जागृत किया जाता था। इन क्लबों को **बोर्ज** (Bourge) कहकर पुकारा जाता था। बोर्जों में श्रमिकों को अपने हित की सारी सूचनाएँ मिल जाती थीं। वह नौकरी कहाँ तलाश करें ? वह कितना वेतन माँगे ? आदि। नौकरी की तलाश में यात्रा करनेवाले मजदूरों के लिए इन बोर्जों में मजदूरों के ठहरने की व्यवस्था भी होती थी। उनके पढ़ने-लिखने के लिए पुस्तकों के अतिरिक्त शिक्षा की भी व्यवस्था थी। इनमें यह भी बतलाया जाता था कि मजदूरों को अपनी जीविका का अर्जन करते हुए पूँजीवाद का विरोध किस प्रकार करना चाहिए। सरकार ने आरंभ में इन बोर्जों (मजदूरों के आमोद-प्रमोद गृहों) को पथ भ्रष्ट करने के लिए और उनके राजनीतिक प्रचार को बन्द कराने के लिए नगरपालिकाओं से वित्तीय सहायता (Financial aids) भी दिलवायीं। लेकिन मजदूरों की चेतना और बोर्जों के कार्यों में इस वित्तीय सहायता के बावजूद कोई अन्तर न पड़ा और अन्त में सरकार को स्वयं ही यह कार्य बन्द करना पड़ा। मजदूर आन्दोलन के जोर पकड़ने पर जब श्रमिक स्वतंत्रताओं पर लगाये गये प्रतिबंध हटा लिये गये तो इन बोर्जों के अतिरिक्त फ्रांस में एक केन्द्रीय श्रमिक संघ बना जिसे फ्रेंच में 'कॉनफेडरेशन जनरल ड्यू ट्रेवेल' (Confederation Gencrel Du Travail) या सी० जी० टी० का नाम दिया गया।

४. श्रमिक संघवाद के दार्शनिक

श्रमिक संघवाद के दर्शन पर हम दूसरे अनुच्छेद में संक्षेप में प्रकाश डाल आये हैं। इस दर्शन पर मार्क्सवाद, अराजकतावाद और बर्गसाँ के अतः प्रेरणावाद का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। ये लोग हड़तालों के संबंध में ब्लैंकी (Blanqui) से प्रभावित हैं।

कहने को तो प्रूदों (Proudhon) अपने आपको श्रमिक संघवाद का पहला दार्शनिक मानता था लेकिन सच यह है कि इस आन्दोलन का प्रूदों केवल 'स्वयंभू वकील (Unsolicited Apologist) ही था। जार्ज सोरेल को श्रमिक संघवादी आन्दोलन का पहला और अंतिम दार्शनिक माना जाता है। वैसे इसके अन्य विचारकों में **एडमण्ड बर्थ** (Edmund Berth), **पॉल लुई** (Paul Louis), **ह्यूबर्ट** लागार्डेल (Hubert Lagardelle) और डब्लू० एच० हेवुड (W. H. Haywood) का भी नाम लिया जाता है। बर्थ ने श्रमिक संघवाद का आर्थिक दृष्टि से विवेचन किया। लुई ने तत्संबंधी राजनीतिक समस्याओं को उठाया। लागार्डेल ने श्रमिक संघवादी समाज की कल्पना का निरूपण किया और हेवुड ने उसकी कार्यपद्धति पर प्रकाश डाला। लेकिन इन सबके विचारों का आधार जार्ज सोरेल ही था। इसलिए सोरेल को ही श्रमिक संघवाद का मूल दार्शनिक माना जाना चाहिए।

जार्ज सोरेल धनिकवर्ग के परिवार का था। उसने इंजीनियरी की शिक्षा प्राप्त की थी। लेकिन वह फ्रांस के मजदूरों की दुरवस्था की वजह से उनकी तरफ झुका और इस परिणाम पर पहुँचा कि श्रमिक संघवाद ही उसकी एकमात्र औषधि है।

जार्ज सोरेल ने मार्क्स साहित्य का अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त बर्गसाँ के अन्तः प्रेरणावाद (Intuitionism) का भी उसने अध्ययन किया था। क्रोपॉटकिन आदि के सत्ता-विकेन्द्रीकरण के विचारों से भी वह प्रभावित हुआ था। जर्मन विद्वान् नीत्शे का भी उस पर कुछ प्रभाव दिखलायी पड़ता है।

सोरेल का दर्शन क्रिया-प्रतिक्रिया के दर्शन (Philosophy of Pragmatism) से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। सोरेल का कहना है कि मार्क्सवाद ऐतिहासिक घटनाओं का दर्शन है और वह हमें बतलाता है कि वर्ग-संघर्ष आदिकाल से होता आया है और जब तक शोषकवर्ग का अन्त नहीं हो जायगा वह चलता रहेगा। इसलिए श्रमिकों को शोषकवर्ग का--अर्थात् पूँजीपतियों का, आधुनिक युग में अन्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन पूँजीपति सब तरह के साधनों से सुसज्जित हैं। उनका अन्त करना उस समय तक संभव नहीं है जब तक सारे मजदूर एक न हो जायँ और क्रान्ति करके उनकी सत्ता को उलट न दें। इस बीच मजदूरों को अपनी दशा में सुधार करने के लिए चाहिए कि वे कुछ न कुछ ऐसे कार्य करते रहें जिनकी वजह से उनकी वर्ग-चेतना जागृत रहे। उन्हें चाहिए कि वे शोषकवर्ग को परेशान रक्खें जिससे दुखी होकर वह उनको अपेक्षाकृत अधिक पैसा और सुविधाएँ देता रहे। और साथ ही उनकी अपनी वर्ग-चेतना में किसी प्रकार का अन्तर न आए।

सोरेल इसके बाद बतलाता है कि श्रमिक वर्ग के पास पूँजीपति को डराने तथा परेशान करने के क्या-क्या साधन हैं। इन साधनों में सबसे बड़ा साधन हड़ताल का है। सोरेल हड़तालों को किसी संघ द्वारा आयोजित करने की सलाह नहीं देता। वह कहता है कि मजदूरों को अन्तःप्रेरणा से काम लेना चाहिए। वह जब उचित समझें हड़ताल कर सकते हैं। समय-समय पर हड़ताल करते रहना उपयोगी सिद्ध होता है क्योंकि इससे मजदूरों का संगठन कायम रहता है। सभी श्रमिक संघों को एक दिन सामान्य हड़ताल (General Strike) करने के लिए तैयार रहना चाहिए, क्योंकि ऐसी हड़ताल से ही राज्य की समस्त शक्ति मजदूरों के हाथ में आ सकती है। सोरेल इस बात पर कोई प्रकाश नहीं डालता कि सारे मजदूरों द्वारा हड़ताल कर देने के बाद क्या होगा। उसका कहना है कि सामाजिक व्यवस्था विवेक से नहीं चलती। अन्तःप्रेरणा से सब काम होते हैं और इसी प्रेरणा से मजदूर एक ऐसा समाज स्थापित कर सकेंगे जो सब तरह से सुखी और समृद्धिवान होगा। वह सार्वजनिक हड़ताल को एक ऐसी 'सामाजिक अन्ध-श्रद्धा' (Social Myth) का रूप देना चाहता

था जो मजदूर को कार्य करने की निरन्तर प्रेरणा देती रहे। जिस प्रकार राम के न होते हुए भी रामराज्य की कल्पना विद्यमान है और वह निरन्तर आन्दोलनकर्ताओं और सुधारकों को कार्य करने के लिए प्रेरित करती रहती है—उसी तरह ही सोरेल का कहना था कि आम हड़ताल' को एक ऐसी कल्पना बना देना चाहिए जो मजदूरों को कार्य करने के लिए बराबर प्रेरित करती रहे। सोरेल ध्वंसात्मक कार्यों का विरोधी था, लेकिन उसकी यह बात फ्रांस के श्रमिक संघवादी आन्दोलकों ने नहीं मानी। सोरेल ने बतलाया कि मजदूरों को ध्वंसात्मक कार्य क्यों नहीं करने चाहिए। उसका कहना था कि ध्वंसात्मक कार्यों से मजदूरों की नैतिकता का ह्रास होता है और चूंकि नये समाज का निर्माण करनेवाले मजदूरों को नैतिक होना चाहिए—अतः उन्हें अपनी नैतिकता की रक्षा की दृष्टि से ध्वंसात्मक कार्य नहीं करने चाहिए। सोरेल की इस बात को न मानने वाले फ्रांसीसी श्रमिक संघवादियों का कहना है कि सोरेल ने स्वयं ही सलाह दी है कि मजदूरों को पूंजीपति वर्ग को हमेशा भयभीत रखना चाहिए। भयभीत रखने का ध्वंसात्मक कार्यों से अच्छा और क्या साधन हो सकता है ? अतः इस संबंध में मजदूरों को सोरेल की बात मानने की आवश्यकता नहीं है।

५. श्रमिक संघवादियों की कार्य-पद्धति और अंतिम लक्ष्य

श्रमिक संघवादियों की कार्य-पद्धति विशुद्ध पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष की है। उनका कहना है कि हर परिस्थिति में मजदूरों को पूंजीपतियों के विरुद्ध कार्य करते रहना चाहिए। श्रमिक संघवादियों ने अपनी कार्य-पद्धति को दो भागों में विभक्त कर दिया है—(१) ध्वंसात्मक कार्य (Policy of Cacany) और (२) सार्वजनिक हड़ताल। सार्वजनिक हड़ताल चूंकि हर समय नहीं हो सकती और उसके लक्ष्य तक पहुँचने में काफी समय लगेगा—इसलिए अन्तरिम काल में श्रमिक संघ के कार्यकर्ताओं को ध्वंसात्मक कार्यों पर अधिक जोर देना चाहिए।

५.१ **ध्वंसात्मक नीति**—इसका फ्रेंच नाम 'केकेनी' (Cacany) है जिसका अर्थ होता है 'कम वेतन मिले तो कम काम' किया जाय। अँग्रेजी में इस नीति को 'सेबोटाज' (Sabotage Policy) कहा जाता है। इस नीति के समर्थकों का कहना है कि यदि पूंजीपति मजदूरों को कम पैसा देंगे तो वे वैसा ही काम भी करेंगे। इस नीति का आधार हमारे यहाँ की लोकोक्ति 'जितना गुड़ डालोगे उतना ही मीठा होगा' प्रतीत होती है। श्रमसंघवादी यह भी कहते हैं कि यदि कोई बाजार में अंगूर खरीदने जाय तो उसे कई तरह के अंगूर दिखलायी पड़ेंगे। कुछ अच्छे होंगे और कुछ खराब। यदि ग्राहक कम पैसे खर्च करेगा तो उसे खराब अंगूर मिलेंगे और यदि वह अधिक पैसे खर्च करेगा तो उसे अच्छे अंगूर मिलेंगे। ठीक यही बात मजदूरों के काम के संबंध में लागू होती है।

लेकिन इससे यह अर्थ निकलता है कि मजदूर 'शिफ्ट' पर काम करते हुए कामजोरी करें। परन्तु कामचोरी बहुत सीमित अर्थों में ही 'केकेनी' के अर्थों को स्पष्ट करती है। केकेनी नीति के अन्तर्गत इस तरह के काम भी आते हैं कि कोई मजदूर चुपके से जाकर कारखाने के गोदाम में आग लगा दे। मशीन को काम करते-करते जान-बूझकर तोड़ डाले। यदि किसी पूंजीपति की कोई कपड़े की दुकान है तो वह कपड़े के थानों में चुपके से आँख बचाकर तेजाब डाल दे। ग्राहक आवें तो उनको माल की गुप्त त्रुटियाँ बतला दे। ट्रेन यदि 'लेट' चल रही हो तो गाड़ी को निश्चित गति से अधिक तेज न ले जाय। पूंजीपति का माल यदि किसी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रहा हो तो उस माल को जहाँ जाना है उस स्थान की ट्रेन में लादने के स्थान पर उलटी दिशा में जानेवाली ट्रेन में लाद दे जिससे वह पूंजीपति को निश्चित समय पर न मिल सके और उसकी हानि हो जाय। छोटी-छोटी

हड़तालें बराबर करते रहने से श्रमिक की चेतना जाग्रत रहती है। इसलिए हड़तालें मौके-बमौके करता रहे। इन सब बातों का एकमात्र उद्देश्य यही है कि उत्पादक पूँजीपतिवर्ग उससे हमेशा भयभीत रहे और समझता रहे कि मजदूर वर्ग न जाने कब क्या कर बैठे। इसका फल यह होगा कि वे श्रमिकों को अनुचित ढंग से नहीं दबा पायेंगे और उनको संतुष्ट रखने के लिए हमेशा सुख-सुविधाएँ देने का यत्न करेंगे।

ध्वंसात्मक कार्यों को श्रमिकसंघवादी तनिक भी अनैतिक नहीं मानते। सच तो यह है कि न केवल फ्रांस में अपितु जर्मनी, बेलजियम, स्वीडन आदि देशों में इन कार्यों से श्रमिकों को बहुत बार सफलताएँ मिलीं और वे इस बात में सफल हो सके कि उनका वेतन बढ़ जाय और उनको वे न्यायोचित अधिकार मिल जायँ जो साधारण अवस्था में पूँजीवादी शासक शायद कभी भी देने को तैयार न होते।

श्रमिकसंघवादी समझौते में जरा भी विश्वास नहीं करते। उनका मत है कि हर समझौते में उन्हीं को नुकसान रहता है और पूँजीपति अपना इष्ट सिद्ध कर ले जाते हैं।

५.२ क्रान्ति के बाद का समाज—सोरेल ने क्रान्ति के बाद के आदर्श समाज का कोई चित्र नहीं दिया लेकिन उसके बाद के संघवादियों ने श्रमिक संघवादी समाज की रूपरेखाएँ बतलायी हैं। ये रूपरेखाएँ बहुत हलकी हैं और इनसे केवल सामान्य ज्ञान ही हो सकता है। कोई दृढ़ परिणाम नहीं निकाला जा सकता। ये इस प्रकार उल्लिखित की जा सकती हैं :

एक दिन अकस्मात् कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों से श्रमिक हड़ताल कर देंगे जिनकी वजह से अन्य उद्योगों का काम भी बंद हो जायगा और इसके बाद वे राजसत्ता को पूँजीवादियों के हाथ से छीन लेंगे। राजसत्ता इसके बाद समाप्त कर दी जायगी। राजसत्ता को क्रान्ति के बाद समाप्त करने में श्रमिकसंघवादियों तथा अराजकतावादियों के विचार काफी मिलते हैं। लेकिन कुछ मामलों में श्रमिकसंघवादी अराजकतावादियों से भी बढ़े-चढ़े हैं। वे क्रान्ति के बाद वाले समाज को ऐसी हर संस्था के बंधन से मुक्त कर देना चाहते हैं जो उत्पादन के कार्य से प्रत्यक्षतः संबंधित नहीं है। भावी समाज श्रमिकों का ऐसा संघ होगा जिसकी समृद्धिशीलता में वे स्वेच्छा से योग देंगे। आवश्यक प्रबंध-कार्यों को दो भागों में विभक्त किया जायगा—(१) स्थानीय और (२) केन्द्रीय। स्थानीय प्रबंधकार्य बोर्ज करेंगे तथा केन्द्रीय सी० जी० टी०। थोड़े से प्रबंध-कार्यों के अतिरिक्त अन्य सारे कार्य श्रमिकों के स्वतंत्र सहयोग पर ही आधारित रहेंगे। वे सारे समाज की व्यवस्था को इस प्रकार करने की कल्पना करते हैं जिसमें सभी व्यक्तियों के हितों का समन्वय तो हो जाय लेकिन सत्ता किसी एक स्थान पर केन्द्रित (centralise) न हो। इन अर्थों में वे बहुलवादियों के पूर्ववर्ती हैं। वर्तमान युग की सभ्यता को वे पूँजीवादी सभ्यता और संस्कृति को पूँजीवादी संस्कृति मानते हैं और उनका कहना है कि भावी समाज में इस सभ्यता और संस्कृति सभी बुराइयों का उन्मूलन कर दिया जाय। ये विचार बहुत अंशों में मार्क्स से प्रभावित हैं। वे श्रमिक सभ्यता और संस्कृति को भावी समाज का आदर्श मानते हैं। उन्होंने श्रमिकसंघवादी क्रांति के बाद जिस 'सतयुग' की कल्पना की—वह वैज्ञानिक विचारकों की दृष्टि से एक 'अंधश्रद्धा' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। श्रमिकसंघवादी स्वयं यह नहीं जानते कि ऐसा युग कब आयेगा। और न वे ऐसा युग संभालने के लिए तैयार ही कहे जा सकते हैं। वे कहते हैं जिस प्रकार ईसा ने आश्वासन दिया था कि उनके पुनर्जन्म के बाद एक 'सामाजिक स्वर्ग' पृथ्वी पर स्थापित हो जायगा और उस स्वर्ग के लिए लोग अभी तक लालायित हैं और उसके लिए कार्य करते चले जा रहे हैं—ठीक उसी प्रकार श्रमिक संघवादी समाज भी एक 'सतयुग' का चित्र खींचकर लोगों को कार्य करने के लिए उत्साहित कर सकता है। श्रमिकसंघवादियों की इस नीति का मुसोलिनी ने भी प्रयोग किया था। उसने एक सुनहले

राष्ट्रवाद की कल्पना करते हुए उसे ही राष्ट्रवादियों की अंधश्रद्धा[1] बतलाया था। इन्हीं अर्थों में एलफ्रेड रोजेनवर्ग ने अपने दर्शन में अंधश्रद्धा[2] का प्रयोग किया था। भावी समाज का चित्रण सोरेल ने तो दिया ही नहीं था; यह कार्य तो बाद के श्रम संघवादियों ने किया और इनमें **फर्डीनण्ड पेलोते** (Ferdinand Pelloutier)[3] का नाम विशष रूप से उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने भावी समाज का जो चित्र अंकित किया—उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—(१) पेलोते ने जिस समाजवाद की कल्पना की वह समाज इन अर्थों में **साम्यवादी या समाजवादी** होता कि उसमें सम्पत्ति को चोरी समझा जाता और वर्ग संघर्ष समाप्त करके वर्गहीन समाज या श्रमिकों का समाज स्थापित किया जाता; (२) उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर दिया जाता और (३) प्रबंध कार्य श्रमिक संघ करते। इस समाज का मौलिक सिद्धान्त यह होता कि जो श्रमिक उत्पादन करते हैं—वे केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं राजनीतिक क्षेत्र में भी उच्चतम अधिकारी होने के योग्य हैं। राज्य पूँजीवादी या मध्यवर्गीय संस्था है। उसकी समाप्ति इसलिए जरूरी है कि उसके रहते हुए श्रमिक-हितों को क्षति ही पहुँचेगी। श्रमिक संघवादी विकासवादी समाजवादियों से इस मामले में सहमत नहीं हैं कि राज्य अपने आप लुप्त हो जायगा।

६. आलोचना

६.१ विकासवादी समाजवादी विचारक श्रमिकसंघवादियों की ध्वंसात्मक पद्धति से बिलकुल सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि इससे पूँजीपतियों की वचत, मजदूरों का अधिक नुकसान होता है। पहली बात तो यह है कि मजदूरों की प्रवृत्ति ध्वंसात्मक कार्यों की तरफ मोड़ देने से यह खतरा पैदा हो जाता है कि वे न जाने कब उसका कैसा प्रयोग कर बैठें ? दूसरे, जब अन्ततोगत्वा सम्पत्ति या उत्पादन के साधन मजदूरों के ही हाथ में आनेवाले हैं तो उन्हें नष्ट क्यों किया जाय[4] !

६.२ श्रमिकसंघवादी आलोचक इस बात से सहमत नहीं हैं कि मजदूर सांविधानिक पद्धतियों (Constitutional means) द्वारा अपनी अवस्था सुधारने के लिए आन्दोलन न करें।

---

1 We have created our myth. The myth is a faith, it is a passion. It is not necessary that it shall be reality. It is reality by the fact that it is a good, a hope, a faith, that it is a courage. Our myth is the nation, our myth is the greatness of nation.'' B. Mussolini in a speech near Naples in 1922, as quoted by Hermann Finer in his book '*Mussolin's Italy*, p. 218.

2 "The life of a race or people is not a philosophy that is logically developed and consequently is not a process that grows according to natural laws. It is the construction of a mythical synthesis or activity of soul which cannot be explained by rational inferences or made comprehensible by exhibiting causes and effects.'' A Rosenberg's De *Mythus Dee*, p. 114.

3 **फर्डीनण्ड पेलोते बोर्जों का मंत्री था और उसने सन् १९०२ तक फ्रांस के बोर्जों की सेवा की। सन् १९०२ में उसकी मृत्यु हुई थी। वह अराजकतावादी दर्शन में विश्वास करता था।**

4 See Ramsay Mac Donalds *Syndicalism* p. 62-8.

६.३ विकासवादी समाजवादी विचारकों का यह भी कहना है कि अपनी बहुलवादी प्रवृत्तियों के कारण श्रमिकसंघवादी (Syndicalist) सामाजिक संघटन की इकाई को इतना अधिक सीमित कर लेते हैं कि केन्द्रीय व्यवस्था की बहुत कम गुंजायश रह जाती है। इससे व्यापक अशान्ति और अव्यवस्था का खतरा पैदा हो जाता है।

६.४ भावी समाज संबंधी उनकी कल्पना अत्यन्त अस्पष्ट और न समझ में आनेवाली है। उससे अधिक प्रेरणा नहीं मिलती।

७. श्रमिक संघवाद का प्रभाव

प्रथम महायुद्ध के पूर्व श्रमिक संघवाद का फ्रांस में काफी प्रचार था। फ्रांस के इस आन्दोलन से स्पेन और इटली के मजदूरों ने भी कुछ प्रेरणा ग्रहण की थी और वहाँ भी यह आन्दोलन चला था। लेकिन प्रथम महायुद्ध छिड़ते ही इस आन्दोलन के नेताओं ने यह कहना शुरू कर दिया कि जर्मनी के हमले का फ्रांस के मजदूरों को सामना करना चाहिए। और यह कहकर विश्व भर के श्रमिकों की एकता के आदर्श को उन्होंने स्वयं समाप्त कर दिया। इसका फल यह हुआ कि अन्य देशों में भी श्रमिकसंघवादी आन्दोलन का अन्त हो गया। महायुद्ध के बाद इस आन्दोलन को पुनः जीवनदान देने की चेष्टा की गयी लेकिन यह सफल न हो सकी।

यह आन्दोलन अद्वैतवादी विचारधारा की प्रतिक्रिया था। हालाँकि अब इसका कुछ भी प्रभाव शेष नहीं है लेकिन इसकी कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे गिल्ड समाजवाद तथा फासिज्म ने प्रेरणा ली।

८, श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)

श्रेणी समाजवाद अँग्रेजी के 'गिल्ड सोशलिज्म' (Guild Socialism) का शब्दानुवाद है। अँग्रेजी में गिल्ड का अर्थ एक ऐसा संघ या संवास संस्थान होता है जिसे उद्योगों के नियंत्रण का अधिकार हो। श्रेणी समाजवाद में विभिन्न औद्योगिक, राजनीतिक और सामाजिक संवासों का इस प्रकार संघटन किया जाता है कि वे जनवादी और शोषण रहित बन सकें। श्रेणी समाजवादी यह मानते हैं कि औद्योगिक उन्नति तथा समाज के आर्थिक विकास के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि मजदूरों की गरीबी दूर की जाय और उन्हें विश्वास दिलाया जाय कि यदि वे अच्छा कार्य करेंगे तो उनको आर्थिक लाभ तो होगा ही साथ ही यश और पद भी मिलेगा।

८.१ **श्रेणी समाजवाद की परिभाषा**—वैसे तो किसी भी वाद की परिभाषा करना खतरे से खाली नहीं है; लेकिन समाजवाद का उपरोक्त अनुच्छेद में अर्थ समझ लेने के बाद हम मोटे तौर पर कह सकते हैं कि "श्रेणी समाजवाद ऐसा मजदूर (नेताओं का) आन्दोलन है जिसमें औद्योगिक उत्पादन साधनों पर श्रमिक संघों के स्वामित्व और नियंत्रण का प्रचार किया जाता है।" "यह आन्दोलन श्रमिक संघवाद (Syndicalism) और विकासवादी समाजवाद के बीच (Evolutionary Socialism) समझौते का प्रतिनिधित्व करता है।"[1] यह आन्दोलन एक ओर तो श्रमिक संघवादियों के उग्रतावाद का विरोधी है और दूसरी ओर यह भी नहीं चाहता कि पूँजीवादी आधिपत्य उद्योगों को न पनपने दे और समाज में कुरूपता तथा सड़न पैदा कर दे।

---

1 "Guild Socialism . . . . . represents a compromise between syndicalism and collectivism" R. G. Geettll in *His of Pol. Thought*, p. 481.

८.२ श्रेणी समाजवाद की मानसिक पृष्ठभूमि—इस आन्दोलन की मानसिक पृष्ठभूमि समझने के लिये हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि श्रेणी समाजवाद इंगलैण्ड की देन है। यह आन्दोलन इंडलैण्डवासियों के मानसिक गठन तथा उनके स्वभाव को प्रतिबिम्बित करता है। इंगलैण्ड में फ्रांस की भाँति श्रमिक संघवाद यदि जोर न पकड़ सका तो इसका मुख्य कारण यह था कि वहाँ के लोग अति उग्रता को पसन्द नहीं करते। इंगलैण्डवासियों का यह स्वभाव है कि वे जीवन की यथार्थताओं को दृष्टि में रखकर तदनुकूल अपने आपको मोड़ने की चेष्टा करते हैं। समझौते, मेल-मिलाप और समन्वयवादी मार्ग में उनकी स्वाभाविक अभिरुचि रहती है। उनके स्वभाव की ये सारी विशेषताएँ श्रेणी समाजवाद के आन्दोलन में प्रकट हो जाती हैं।

८.३ श्रेणी समाजवाद का क्रमिक विकास—श्रेणी समाजवाद के क्रमिक विकास को समझने के लिए हमें एक बार मध्ययुग के यूरोप के इतिहास की ओर पुनः देखना पड़ेगा। औद्योगिक क्रान्ति के और सामन्तवादी व्यवस्था के उन्मूलन के पूर्व यूरोप में कारीगरों के छोटे-छोटे अपने संघ हुआ करते थे। उदाहरण के लिए कपड़ा बुनने वालों का, उसे रँगने-वालों का, दरजियों आदि का अलग-अलग संघ होता था। इस प्रकार के संघों का कार्य यह होता था कि वे अपने कारीगर सदस्यों को पूँजी देकर सहायता करते थे। उन्हें कच्चा माल और यंत्रादि दिलाते थे। उनके उत्पादित माल को बाजार तक पहुँचाने की व्यवस्था करते थे। यदि किसी कारीगर पर अकस्मात कोई संकट आ जाता तो वे उस संकट से उबरने में उसे सहायता देते थे और किसी कारीगर की यदि मौत हो जाती तो उसके परिवार की आर्थिक सहायता करते थे। भारत में भी बौद्धकालीन युग में यही व्यवस्था थी। अब भी इस प्रथा के यत्र-तत्र अवशेष मिल जाते हैं। लेकिन ये अवशेष केवल जातीय पंचायतों के रूप में ही हैं। धोबियों, नाइयों, मालियों और चमारों की पंचायतें कुछ हद तक अब भी इस प्रकार के सहायता-कार्य करती हैं। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति की वजह से सामन्तवादी व्यवस्था के उन्मूलन के साथ ही यूरोप में इन श्रेणी संघों का भी नाश हो गया।

बहुत दिनों तक इन संघों की ओर लोगों का फिर कोई ध्यान नहीं गया। लेकिन सन १८५० के करीब **पी० जे० बकेज** (P.J. Buchez) ने कारीगरों के सहकारी आन्दोलन के मध्यकालीन स्वरूप की ओर लोगों का पुनः ध्यान आकृष्ट किया। **बकेज** के इस संकेत का क्रिश्चियन सोशलिस्टों ने लाभ उठाया और कहा कि मजदूरों की अवस्था इस प्रकार के संघों द्वारा सुधर सकती है। लेकिन क्रिश्चियन सोशलिस्ट आधुनिक युग की औद्योगिक समस्याओं को ठीक प्रकार से नहीं समझ सके—अतः उनका यह आन्दोलन सफल नहीं हुआ। फिर भी जर्मनी और आस्ट्रिया के कैथोलिक सोशलिस्टों ने मजदूर क्षेत्रों में इसका आन्दोलन जारी रखा। यूरोप के विचारकों से इंगलण्ड के **एच० बेलाक** (H. Bellock) तथा सी० **चेस्टरटन** (C. Chesterton) ने समाजवाद के आन्दोलन की कल्पना को ग्रहण किया।

९. इंगलैंड के श्रेणी समाजवादी विचारक

९.१ परिचय—बेलाक और चेस्टरटन श्रेणी संघवाद की कल्पना का इंगलैण्ड के विचारकों के सामने उपस्थित हो कर सके। इस संबंध में उन्होंने कोई विस्तृत कार्य नहीं किया। इस दशा में सबसे पहले विस्तारपूर्वक कार्य सन् १९०५ में **ए० जे० पेण्टी** (A. J. Penty) ने किया। किन्तु इनकी श्रेणी समाजवादी कल्पना में स्वप्नलोकीयता अधिक थी। यही कारण है कि पेण्टी के विचार अपने समय में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके। **पेण्टी ने विलियम मॉरिस** (Wiliam Morris) के प्रभाव के अन्तर्गत विषय वस्तु का विकास भावुकता, (Sentimentality) सौन्दर्यात्मकता (Aestheticism) और आधुनिक युग के उद्योगीकरण के विरोध के आधार पर माना। व्यावहारिकता शून्य होने के कारण पेण्टी के यह विचार

आनेवाली युगान्तरकारी विचारधारा की ओर संकेत ही कर सके, उन्हें अधिक प्रभावित नहीं कर पाये।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व सन् १९११-१२ में यूरोप तथा इंगलैण्ड में जो आर्थिक संकट आया था उससे परेशान होकर वहाँ के श्रमिकों ने पूँजीवादी उद्योगपतियों के विरुद्ध जबर्दस्त आन्दोलन किया था। इस आन्दोलन ने श्रमिकों की समस्याओं को सुलझाने के लिये अनेक दार्शनिकों को विचार करने के लिये विवश किया। इस काल में जिन विचारकों ने समस्या के हल को श्रेणी समाजवाद के दृष्टिकोण से खोजने का यत्न किया—इनमें **ए० आर० ओरेज** (A. R. Orage) और **एस० जी० हॉब्सन** (S. G. Hobson) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ए० आर० ओरेज क्रान्तिकारी विचारों के पत्रकार थे।[1] उन्होंने श्रमिकों के मार्गदर्शन में बड़ी रुचि दिखलायी। श्रेणी समाजवाद के राजनीतिक स्वरूप को स्पष्ट करने में उन्होंने बड़ा कार्य किया। **हॉब्सन** ओरेज के सहयोगी आन्दोलनकारी थे। उन्होंने श्रेणी समाजवाद को आर्थिक आधार प्रदान किया।

वर्तमान काल में जी०डी०एच० कोल (G.D. H. Cole.) ऐसे विचारक हैं जिन्होंने इस आन्दोलन को बड़ा बल दिया है। उन्होंने श्रेणी समाजवाद की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक —कई दृष्टिकोणों से व्याख्या की है। कृत्यात्मक प्रजातंत्र संबंधी सिद्धान्त (Principle of Functional Democracy) इनका विशेष अनुदाय है।[2]

९.२ **कृतियाँ**—ए० जे० पेण्टी की सबसे प्रमुख कृति **"रेस्टोरेशन ऑफ गिल्ड सोशलिज्म,** (Restoration of Guild Socialism) है। इसी पुस्तक के कारण पेण्टी को श्रेणी समाजवाद का 'मूल पुरुष' (The Original man) माना गया है। ओरेज ने दो मुख्य पुस्तकें लिखीं जिनके नाम हैं **'एन० एलफेबेट ऑफ एकनामिक्स'** (An Alphabet of Economics) और दूसरी का नाम है **"पॉलिटिक्स ऑफ क्रफ्ट्समैन"** (Politics of a Craftsman)। एस० जी० हॉब्सन की सबसे प्रमुख कृति है **'नेशनल गिल्ड्स एण्ड दि स्टेट'** (National Guilds & the State)। इसी प्रकार जी० डी० एच० कोल की पुस्तक का नाम है **'गिल्ड सोशलिज्म'** (Guild Socialism) : यही साहित्य है जिस पर श्रेणी समाजवाद आधारित है।

९.३ **प्रभाव स्रोत**—श्रेणी समाजवाद की अध्ययन सामग्री की रूपरेखा समझ लेने के बाद अब हम यह विचार कर सकते हैं कि श्रेणी समाजवाद पर कुल मिलाकर किन-किन प्रवृत्तियों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। ये प्रभाव स्रोत इस प्रकार हैं :—

पहली प्रवृत्ति, जिसने श्रेणी समाजवादियों को सबसे अधिक प्रभावित किया वह थी आधुनिक युग में होने वाली अति उद्योगीकरण के विरोध की। इंगलैण्ड और यूरोप में नगरों का उद्योगीकरण हो जाने से और पूँजीवादी व्यवस्था के प्रचार से गरीब मजदूरों की दशा बड़ी खराब हो गयी थी, उन्हें धुएँ भरी गन्दी बस्तियों में रहना पड़ता था। उनके रहने की कोठरियाँ अँधेरी, छोटी और काली होती थीं, जिनकी वजह से अधिकांश मजदूर और उनके परिवारों को क्षय हो जाता था और वे मर जाते थे। फल यह हुआ कि राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, साहित्यिक क्षेत्रों से भी उद्योगीकरण के विरुद्ध आवाज उठने लगी। डिजरेली, किंग्सले लार्ड टेनीसन, ब्राउनिंग, गॉल्सवर्दी[3] आदि ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी। इंगलैण्ड

---

१ श्री ओरेज 'न्यू' (*New Age*) नाम के पत्र के संपादक थे।

२ श्री जी० डी० एच० कोल के अनुदायों के संबंध में श्री नील कारपेन्टर द्वारा लिखित पुस्तक गिल्ड सोशलिज्म (*Guild Socialism*) के पृष्ठ ८१ से ९० तक पढ़िए।

३ साहित्यकों ने मजदूरों की बेबसी और गरीबी पर हृदय हिला देनेवाली अनेक कविताएँ, नाटक और निबंध लिखे।

की भाँति भारत में भी गाँधीजी और टैगोर ने उद्योगीकरण की नीति का विरोध किया। कुछ लोग तो सामन्तवादी व्यवस्था की ओर वापस लौट चलने की आवाज उठाने लगे।

दूसरी प्रवृत्ति थी मार्क्सवाद की। मार्क्स ने मजदूरों की गरीबी का मुख्य कारण यह बतलाया था कि पूँजीपति श्रमिक से जितना श्रम करवाता है—उस श्रम की एवज में उसे जितना पैसा देना चाहिए उतना नहीं देता। श्रम का अतिरिक्त मूल्य वह हजम कर जाता है। श्रेणीसमाजवादी विचारक मार्क्स के इस सिद्धान्त से सहमत थे और उन्होंने इस अन्याय का विरोध किया।

तीसरी प्रवृत्ति जिससे श्रेणो समाजवाद प्रभावित हुआ—वह थी विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism) की। इससे श्रेणी समाजवादी विचारकों को उग्र क्रान्तिकारी संघवाद से बचने में काफी सहायता मिली। लेकिन उन्होंने फेबियानवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया क्योंकि श्रेणी समाजवादी यह मानते हैं कि फेबियनवादी प्रवृत्तियाँ कला के सौन्दर्यात्मक पक्ष को मुखरित नहीं होने देतीं।

चौथी प्रवृत्ति श्रमिक संघवाद (Syndicalist) की थी। इस विचारधारा ने श्रेणी समाजवादियों को हिंसा के खतरों से सावधान किया और साथ ही मजदूरों की दशा सुधारने की आवश्यकता को स्पष्ट किया।

१०. श्रेणी समाजवाद के मौलिक सिद्धान्त

श्रेणी समाजवाद के मौलिक सिद्धान्तों का अनुशीलन करने पर निम्नलिखित बातें प्रकाश में आती हैं :—(१) **कृत्यात्मक** प्रजातंत्र का सिद्धान्त (Principle of Functional Democracy), (२) शारीरिक और मानसिक श्रम करनेवाले सभी व्यक्तियों का एकता के सूत्र में बलयन और (३) श्रम करने वालों का ही उत्पत्ति के साधनों पर स्वामित्व।

१०.१ **कृत्यात्मक प्रजातंत्र का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त की विवेचना कोल ने की है। कोल का कहना है कि वैसे तो किसी भी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता लेकिन कुछ व्यक्तियों के सामूहिक हितों का प्रतिनिधित्व एक व्यक्ति कर सकता है। उदाहरणार्थ, राम, श्याम, कल्लन आदि हॉकी के खिलाड़ी हैं। ये तीनों व्यक्ति अपने हितों की रक्षा करने के लिये किसी एक व्यक्ति को नियुक्त कर सकते हैं। लेकिन वह प्रतिनिधि उक्त खिलाड़ियों के केवल हॉकी संबंधी हितों का ही प्रतिनिधि होगा—अन्य हितों का नहीं। इस प्रकार कृष्ण, बलराम, जम्मुन आदि किसी मिल में काम करते हैं तो वे मालिक से बातचीत करने के लिये किसी भी व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि निर्वाचित कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रतिनिधि न केवल औद्योगिक क्षेत्र में ही निर्वाचित किये जा सकते हैं; बल्कि इनकी नियुक्ति सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी की जा सकती है। इन प्रतिनिधियों का निर्वाचन जिस आधार पर होता है—वह कृत्यात्मक प्रजातंत्र का सिद्धान्त कहलाता है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि जो भी प्रतिनिधि नियुक्त किये जाते हैं उनका कार्यक्षेत्र सीमित होता है।

१०.२ **श्रम का संयुक्तीकरण या एकता के सूत्र में बलयन**—इस प्रकार प्रतिनिधियों के निर्वाचित हो जाने पर श्रेणी समाजवाद के विचारकों का कहना है कि इन श्रमिकों के प्रतिनिधियों का इस प्रकार संयुक्तीकरण कर दिया जाना चाहिये कि वे उत्पादन कार्य में भाग ले सकें।

१०.३ **उत्पत्ति के साधनों का स्वामित्व**—चूँकि पूँजीवाद का एक न एक दिन पतन होना अनिवार्य है। इसलिए यह जरूरी है कि उनका स्थान ग्रहण करने के लिये कोई न कोई व्यवस्था तैयार रहे। कृत्यात्मक लोकतंत्र के आधार पर जो प्रतिनिधि चुने जायेंगे और उनकी जो समितियाँ बनेंगी—श्रेणी समाजवादियों के अनुसार वही समितियाँ उत्पत्ति के साधनों की स्वामी होंगी। अपने-अपने विषय क्षेत्र में उनके निर्देश अन्तिम होंगे। बाह्य

नियंत्रण केवल नाममात्र का होगा। इस प्रकार के सिद्धान्त के क्रियान्वित होने से सत्ता विकेन्द्रित हो जायगी।

११. लक्ष्य और कार्यपद्धति

मौलिक सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण कर लेने के बाद अब प्रश्न उठता है कि श्रेणी समाजवाद के लक्ष्य क्या हैं और उनको प्राप्त करने की पद्धति क्या है ?

श्रेणी समाजवादियों की अपनी एक राष्ट्रीय संस्था है——जिसका नाम है 'नैशनल गिल्ड लीग' (National Guild League)। इस संस्था के उद्देश्य और लक्ष्यों का अध्ययन करने से हमें श्रेणी समाजवादियों का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है।

श्रेणी समाजवादियों का सबसे पहला लक्ष्य वेतन प्रथा का अन्त करना है। उनका कहना है कि वेतन प्रथा के कारण ही अन्यायपूर्ण शोषण संभव होता है। श्रेणी समाजवाद के पोषक यह कल्पना करते हैं कि प्रत्येक कारखाना उसके कर्मचारियों द्वारा चलाया जायगा और उत्पादन की बिक्री से जो भी रकम आयेगी——वह आवश्यक खर्च तथा संकटकालीन सुरक्षा निधि आदि के लिए रकमें काट लेने के बाद सभी कर्मचारियों में उनके श्रम के अनुपात के अनुसार वितरित कर दी जाएगी। इससे शोषण का अन्त हो जायगा।

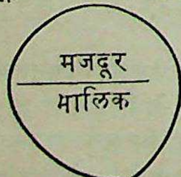
दूसरा लक्ष्य है कि प्रत्येक कारखाने को प्रबन्ध और व्यवस्था की दृष्टि से लगभग पूर्णतः स्वायत्त बना देना। इसका अर्थ है कि प्रत्येक कारखाने के कर्मचारियों को यह बता दिया जायगा कि वे ही कारखाने के मालिक हैं और उन्हें इस तरह काम करना है जिससे उद्योग संस्थान अच्छी से अच्छी तरह चल सके।

इन लक्ष्यों की पूर्ति कैसे होगी ?

श्रेणी समाजवादियों का कहना है कि उक्त लक्ष्यों की पूर्ति के लिए संभवतः कहीं-कहीं हिंसात्मक मार्ग का भी अवलम्बन करना पड़ेगा। लेकिन यह असंभव नहीं है कि प्रचार के साधनों द्वारा ही एक लम्बे अरसे के बाद पूँजीवादी यह समझ जायँ कि उनको एक न एक दिन अवश्य हटना है और इसलिए उन्हें स्वयं श्रमिकों का साथ देना चाहिए। श्रेणी समाजवादियों का कहना है कि वर्तमान ट्रेड यूनियनों को ही श्रेणी मजदूर सभा (गिल्ड) बना देना चाहिए। ऐसे गिल्डों की सदस्यता मैनेजर से लेकर मजदूर तक के लिए अनिवार्य हो। इन्हीं गिल्डों के जरिए परिवर्तन कराया जाय। यह आन्दोलन किया जाय कि उक्त संवासों को कारखानों की व्यवस्था का सारा कार्य सौंप दिया जाय और राज्य इस क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। सारे कार्य सांविधानिक आन्दोलनों और संसदीय विधियों द्वारा किये जाँय। उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए खूनी क्रान्ति करने की आवश्यकता नहीं है। कोल ने इस संबंध में हिंसात्मक पथ अपनाये जाने के विरुद्ध मत दिया है।[1]

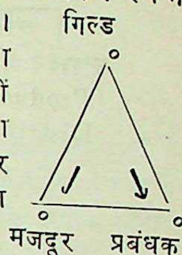
११.१ ट्रेड युनियनें और गिल्डें——यहाँ ट्रेड यूनियन और गिल्डों का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। आजकल ट्रेड यूनियनों के संघटन का आधार यह है कि उसके संघटनकर्ता मालिकों और मजदूरों को अलग-अलग दो शिविरों में रखते हैं। ट्रेड यूनियन का सदस्य मजदूरों को बनाया जाता है, लेकिन मालिकों या प्रबंधकारी कर्मचारियों को नहीं। इस प्रकार उनकी सदस्यता अर्धवृत्तात्मक होती है। श्रेणी समाजवादी कहते हैं कि गिल्डों का संघटन त्रिकोणात्मक होगा। इसमें पूँजीपति तो नहीं रहेगा लेकिन वर्तमान ट्रेडयूनियनों और भावी गिल्डों की सदस्यता संस्था के प्रत्येक कर्मचारी के लिए खुली रहेगी। ऐसा न होगा कि उसमें प्रबंध भार सँभालने वाले कर्मचारियों को न रखा जाय।

ट्रेडयूनियनों का संघटन



1 See C. E.M. Joad's *Modern Political Theories* pp. 84-87

संस्था में वैसे तो प्रबंधक और मजदूर दोनों काम करेंगे लेकिन गिल्ड के सदस्य के रूप में उनका समान स्तर हो जायगा। गिल्ड में सब लोगों का समान मत होगा। हर पद पर नियुक्ति निर्वाचन पद्धति द्वारा होगी।[1] बाह्य शक्ति का न्यूनतम नियंत्रण होगा। गिल्डें, मजदूरों के हितों की रक्षा ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण कारखाने और उद्योगों की रक्षा की दृष्टि से प्रत्येक समस्या का हल निकालेंगी। गिल्डों का प्राथमिक उद्देश्य संघर्ष नहीं होगा, और न वे वर्गीय हितों को ही देखेंगी। इनका कार्य सार्वजनिक हितों की रक्षा और उत्पादन बढ़ाना होगा।[2]



१२· राज्य सम्बन्धी विचार

श्रेणी समाजवादियों के राज्य संबंधी विचार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। लेकिन इन विचारों को समझने के लिए हमें इन्हें दो भागों में विभक्त करना होगा। एक पक्ष तो उन श्रेणी समाजवादियों का है जो राज्य को अत्यन्त पवित्र संस्था मानता है और उसे बड़ा ऊँचा स्थान देता है। इस मत का प्रतिपादन हॉब्सन ने किया है और दूसरा पक्ष कोल का है। कोल तथा उनके मतानुयायी राज्य को अत्यन्त निम्नकोटि का समझते हैं और उनका कहना है कि राज्य को तो बिल्कुल समाप्त ही कर देना चाहिए। हम इन दोनों के मतों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

१२·१ हॉब्सन का राज्य संबंधी मत[3]––हॉब्सन की राज्यसंबंधी कल्पना कल्याणकारी राज्य (Welfare State) से मिलती-जुलती थी। हॉब्सन का कहना था कि श्रेणी समाजवाद में राज्य का परम लक्ष्य समाज-सेवा करना होगा। राज्य का मुख्य कृत्य होगा श्रेणी संघों के पारस्परिक संबंधों का समन्वय एवं संयुक्तीकरण। राज्य को वह नागरिक समाज के संघटित रूप की अभिव्यक्ति मानता था। राज्य ही को वह व्यक्ति की नैतिक और मानसिक उन्नति का साधन समझता था। उसका कहना था कि नागरिकों के साम्पत्तिक विकास का निरीक्षण कार्य करना भी राज्य का ही कर्तव्य है।

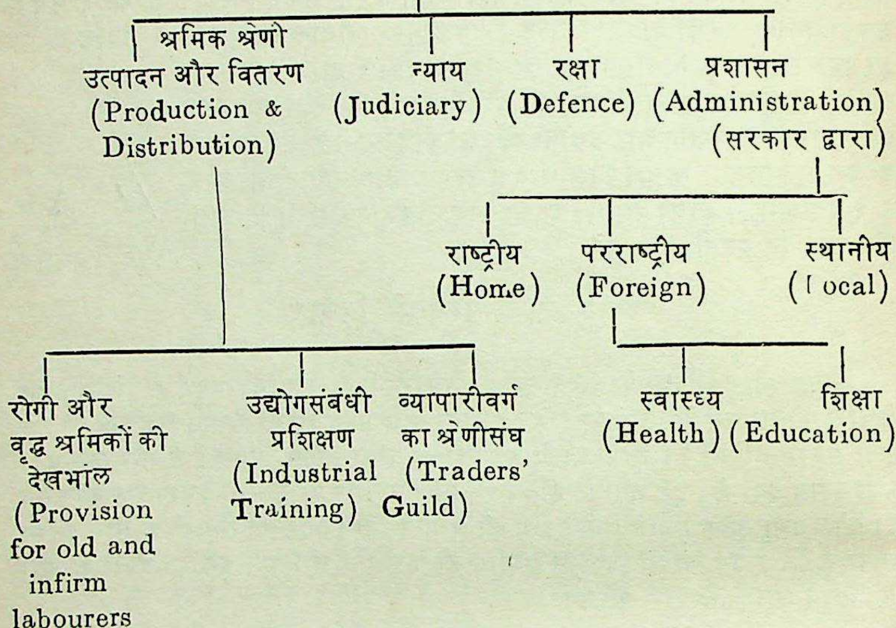
राज्य के कृत्य––वह राज्य के मुख्य कृत्य प्रशासन, न्याय, रक्षा तथा उत्पत्ति और वितरण मानता था। उसका कहना था कि शासन (सरकार) का कार्य राज्य के राष्ट्रीय, (जैसे जन-स्वास्थ्य, शिक्षा आदि) स्थानीय, औपनिवेशिक और परराष्ट्र विभागों को देखना होगा तथा उत्पादन और वितरण का कार्य औद्योगिक श्रेणी संघों द्वारा किया जायगा। श्रेणी संघ ही बीमार और वृद्ध मजदूरों की रक्षा तथा भरण-पोषण का कार्य करेंगे तथा शिक्षा की व्यवस्था करेंगे। व्यापारियों (वितरकों) की देखभाल करना भी उनका काम होगा। इन सब के ऊपर राज्य रहेगा। सम्पूर्ण राज्य पर लोकतांत्रिक नियंत्रण होगा। राजकर्मचारी प्रजा के साथ स्वामियों जैसा नहीं बल्कि सेवकों-सा व्यवहार करेंगे। वह हर राज्य कर्मचारी को राज्य के निवासियों का सेवक मानता था। हॉब्सन की राज संबंधी कल्पना निम्न तालिका से और स्पष्ट हो जायगी :

---

1 See G. D. H. Cole's *Guild Socialism*, p. 41.

2 See A. R. Orage's *An Alphabet of Ecodomics*, p. 53.

3 This Theory has been developed in the admirable work of S. G. Hobson in his book, *National Guilds*, (1913).



१२.२ **कोल की 'कम्यून' कल्पना**[1]—राज्य के संबंध में श्री जी० डी० एच० कोल की कल्पना 'कम्यून' (Commune) के सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। कोल का कहना है कि राज्य के अधिकार अत्यन्त सीमित होने चाहिए। उत्पादन कार्य विभिन्न श्रेणियों को देखना चाहिए और उन सबके कार्यों का समन्वय और संयुक्तीकरण केन्द्रीय श्रेणी संघ को करना चाहिए। यदि उपभोक्ताओं और उत्पादकों में कोई मतभेद हो तो उसका फैसला न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए। किसी भी दशा में औद्योगिक स्वामित्व राज्य के हाथ में नहीं होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कोल के मतावलम्बी राष्ट्रीयकरण और औद्योगिक राष्ट्रीयकरण (Industricl Nationalisation) के बड़े विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि राज्य को अत्यन्त सीमित अधिकार दिये जाने चाहिए जिससे राज्य का अन्त आसानी से किया जा सके। कोल ऑस्टिन तथा उनके साथियों की अद्वैतवादी संप्रभुता का तीखा आलोचक है। वह राज्य की सत्ता को बिल्कुल विकेन्द्रित कर देना चाहता है। कोल ने उत्पादन-उपभोग और विविध विषयों का विभाजन किया है और बतलाया है कि उत्पादन के कार्य को श्रमिक श्रेणियाँ देखेंगी और वितरण कार्य को उपभोक्ताओं की श्रेणियाँ। जो विषय स्थानीय होंगे वे स्थानीय श्रेणियों के हाथ में रहेंगे और जो केन्द्रीय वह राष्ट्रीय श्रेणी संघ के हाथ में। इन सबका एक 'कम्यून' होगा जो स्थानीय और केन्द्रीय संस्थाओं के पारस्परिक संबंध को संयुक्त करेगा।

वर्तमान प्रतिनिधिक प्रजातंत्र का विरोध—कोल ने प्रतिनिधिक प्रजातंत्रवाद का बड़ा विरोध किया है। उसका कहना है कि नागरिकों के जीवन के कई पक्ष होते हैं। हर पक्ष के हित अलग-अलग होते हैं। एक ही व्यक्ति एक समूह के जीवन के हर पक्ष का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसके अलावा संसद में चुने जाने वाले प्रतिनिधि हर विषय के विद्वान नहीं

---

1 G. D. H. Cole develops this thought in his book *Social Theory* (1920).

हो सकते। इसलिए यह आशा नहीं की जा सकती कि वे हर विषय के विद्वान होंगे और हर क्षेत्र में उन लोगों के प्रत्येक हित का समर्थन कर सकेंगे। इन्हीं सब कारणों से कोल ने कृत्यात्मक प्रजातंत्र के सिद्धान्त (Principle of Functional Democracy) का अन्वेषण किया है।

१३. श्रेणी समाजवाद की त्रुटियाँ

श्रेणी समाजवाद का अध्ययन करने पर उसमें बहुत-सी त्रुटियाँ भी दिखलायी पड़ती हैं :

१३.१ सबसे पहली त्रुटि तो यह है कि एक बार जब उद्योगों पर श्रमिकों का एकाधिकार स्थापित हो जायगा तो इसके बाद इस बात का क्या भरोसा है कि श्रमिक श्रेणियाँ उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान ही रखेंगी। ऐसी अवस्था में यह भी संभव है कि वे सार्वजनिक हितों की अवहेलना करने लगें, समाज में व्यक्तिगत स्वार्थपरता बढ़ जाय और लोग समाज-सेवा के उच्च लक्ष्य को मानने से इनकार कर दें।

१३.२ ऐसी कोई निश्चित विधि संहिता उपस्थित करने में श्रेणी समाजवादी अपने आपको असफल पाते हैं जो श्रेणी समाजवाद के स्थापित होते ही लागू हो जाय। उनका कहना है कि नया समाज अपने उपयोग के विधानों का निर्माण स्वयं ही कर लेगा। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि उस अवस्था में निश्चित नियम न होने से नए समाज के कर्णधारों को पथप्रदर्शन कैसे मिलेगा।

१३.३ अन्त में श्रेणी समाजवादियों के राज्य संबंधी विचार अत्यन्त अस्पष्ट और अन्तरविरोधी हैं। राज्य की आवश्यकता के संबंध में स्वयं उनके अपने दल में मतैक्य नहीं है।

१३.४ कार्य पद्धति के संबंध में श्रेणी समाजवाद के विचारकों में मतभेद है : स्पष्ट रूप से हिंसात्मक या सांविधानिक पद्धति के पक्ष-विपक्ष में कोई मत नहीं प्रकट करते हैं। उनके विचारों की अस्तव्यस्तता इस बात से भी जाहिर होती है कि एक ओर तो वे स्वयं ही कहते हैं कि सशस्त्र क्रान्ति से सफलता नहीं मिल सकती और दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि यदि आवश्यकता हो तो हिंसा का प्रयोग भी कुछ स्थानों में किया जा सकता है।

१३.५ उनके कल्पित समाज की स्थापना होना कार्य-पद्धति संबंधी मतभेदों के कारण बड़ा कठिन है।

१३.६ **आलोचना का उत्तर**—पहली आलोचना के उत्तर में कोल का कहना है कि समाजसेवा की वृत्ति का लुप्त होना समाजवादी मनोवृत्ति का नष्ट हो जाना है। अतः, ऐसी दशा उपस्थित नहीं हो सकती। फिर भी इस खतरे से बचने के लिए प्रचार के साधनों का समुचित उपयोग करना चाहिए।

१४. अनुदाय और प्रभाव

श्रेणी समाजवाद आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व ही इतिहास की वस्तु बन गया। फिर भी इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा निषेधात्मक अनुदाय यह है कि इस विचारधारा के विचारकों ने प्रजातंत्रवाद की निर्बलताओं को जनता के सामने रखा और यह भी बतलाया कि नौकरशाही में कौन-कौन से खतरे छिपे हुए हैं। इनके रचनात्मक अनुदायों के परिणाम-स्वरूप बहुलवादी विचारधारा की सृष्टि हुई।

श्रेणी समाजवाद इंगलैण्ड से कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में गया। लेकिन सभी देशों में अत्यन्त अल्प अवधि में ही इसका प्रभाव नष्ट हो गया।

३४

विकासवादी समाजवाद

(EVOLUTIONARY SOCIALISM)

१. विकासवादी समाजवाद क्या है? २. लक्ष्य पद्धति और सिद्धान्त--३. राज्य संबंधी विचार- ४. फेबियन वाद--५. फेबियन विचारक--६. फेबियनों का आर्थिक दर्शन--७. समाज संबंधी कल्पना--८. आलोचना--९. अनुदाय और प्रभाव।

१. विकासवादी समाजवाद क्या है ?

विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism) को बहुत से व्यक्ति राज समाजवाद (State Socialism), सामूहिक समाजवाद (Collective Socialism), समाजवादी प्रजातंत्र (Socialistic Democracy), प्रजातंत्रवादी समाजवाद (Democraaic Socialism) या सुधारवादी समाजवाद (Revisionism) के नाम से भी पुकारते हैं। लेकिन ये सब एक ही विचारधारा के नाम हैं जिनका विकास इंगलैण्ड में हुआ। इस विचारधारा का मुख्य प्रवक्ता ब्रिटेन का श्रमिक दल (Labour Party) है जिसे वहाँ की फेबियन विचारधारा से काफी सहायता मिली है। यह विचारधारा इंडलैण्ड में गिल्ड समाजवाद के पूर्व पनपी और अभी तक चली जा रही है। लेकिन इस आधार पर यह समझ लेना भूल होगी कि श्रमिक दल में केवल समाजवादी सिद्धान्त में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को ही रखा जाता है। फिलिप मॉर्गन के अनुसार श्रमिक सुधारों में विश्वास करने वाला कोई भी व्यक्ति दल का सदस्य हो सकता है। विकासवादी समाजवाद की दो मुख्य विशेषताएँ हैं। पहली तो यह कि वह समाज की वर्तमान वितरण-व्यवस्था से असन्तुष्ट है और चाहता है कि धन का वितरण अपेक्षाकृत और अधिक अच्छा हो। दूसरे सामुदायिक जीवन का नियमन समाज द्वारा हो। लेकिन विकासवादी समाजवादी सशस्त्र या हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास नहीं करते। उनका तो कहना है कि वे पहले अपनी बातों का प्रचार करेंगे और फिर निर्वाचनों में बहुमत प्राप्त कर संसद में प्रवेश करेंगे और अपनी सरकार बनायेंगे। यही सरकार उनके सुधारों को क्रियान्वित करेगी। सफलता प्राप्त करने की अपनी इस प्रणाली को वे जनवादी प्रणाली कहते हैं। उनका कहना है कि समाजवादी परिवर्तनों के लिए रक्तपूर्ण क्रान्ति ठीक नहीं है। परिवर्तनों के पीछे जन-सहमति होनी आवश्यक है। यह जन-सहमति किस प्रकार प्राप्त की जायगी। विकासवादी समाजवाद के विचारकों का कहना है कि वे समाजवादी सिद्धान्तों के आदर्शों और लक्ष्यों का पहले डटकर प्रचार करेंगे। इसके बाद जैसे ही उन्हें विश्वास हो जायगा कि जनता पर उनका प्रभाव हो गया है--वे निर्वाचनों में भाग लेंगे। निर्वाचनों में जनता की स्वीकृति प्राप्त कर लेने के बाद यदि वे बहुमत में आ गए तो अपनी सरकार बनायेंगे। इस सरकार का काम समाजवादी कल्पनाओं को मूर्त रूप देना होगा। यह सरकार आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के सुधार करेगी। विकासवादी समाजवाद की विचारधारा जो समाजवादी आदर्शों की ओर क्रमशः बढ़ती है—केवल ब्रिटेन तक ही में सीमित नहीं रही। सन् १८८९ की द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय द्वारा इस प्रकार की विचारधारा यूरोप के अन्य राज्यों में भी फैली। ऐसे देशों में जर्मनी, फ्रांस, बेलजियम, नार्वे, हंगरी और पोलैण्ड का नाम उल्लेखनीय है। इन सब देशों में से कई में विकासवादी समाजवाद के पोषक कई-कई बार सरकारें बनाने में सफल हो गये।

२. लक्ष्य, पद्धति और सिद्धान्त

सन् १९१९ में इंगलैण्ड के श्रमिक दल ने एक छोटी-सी पुस्तिका[1] तैयार की थी—जिसमें यह बतलाया गया था कि यदि श्रमिक दल की सरकार स्थापित हो गयी तो वह सरकार किन-किन लक्ष्यों की पूर्ति की चेष्टा करेगी। उसके क्या व्यावहारिक आदर्श होंगे। संक्षेप में वे आदर्श इस प्रकार हैं :—

२.१ **निजी स्वामित्व का उन्मूलन**—हर पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पत्ति के साधनों पर एक वर्गविशेष का अधिकार होता है। इस स्वामित्व के कारण समाज और श्रमिकों के हितों की क्षति होती है। श्रमिक दल की सरकार उत्पत्ति के साधनों के निजी स्वामित्व की प्रथा का अन्त करेगी।

२.२ **शासन द्वारा उद्योग संचालन**—सार्वजनिक उपयोगिता का महत्व रखनेवाले उद्योगों और व्यवसायों का संचालन स्वयं राज्य करेगा जिसका लक्ष्य समाज-सेवा होगा और किसी प्रकार का मुनाफा कमाना नहीं।

२.३ **समाज-सेवा को उच्चतम स्थान**—यह सरकार क्रमशः ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न करेगी—जो मुनाफा कमाने की भावना को पृष्ठभूमि में डाल देगी और समाज-सेवा की भावना को ही उच्चतम स्थान देगी।

अब प्रश्न उठता है कि इन आदर्शों या लक्ष्यों की पूर्ति के **साधन** क्या हैं—**पद्धतियाँ** क्या हैं ? उक्त पुस्तिका में ही उन पर भी प्रकाश डाला गया है।

२.४ एक निश्चित न्यूनतम राष्ट्रीय पारिश्रमिक का निर्धारण;

२.५ सभी अथवा हर महत्वपूर्ण उद्योग का प्रजातांत्रिक नियंत्रण;

२.६ राष्ट्रीय वित्त-व्यवस्था (Financial Set-up) में समाजवादी क्रान्ति और

२.७ सार्वजनिक हितों के लिए अतिरिक्त पूँजी का प्रयोग।

इस पद्धति को अपनाने के लिए विकासवादी समाजवाद के विचारक अपनी यह सैद्धान्तिक व्याख्या उपस्थित करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था की सबसे बड़ी खराबी यह है कि उसमें श्रमिकों तथा मध्यवर्ग के लोगों को पर्याप्त वेतन नहीं मिल पाता। जो वेतन मिलता है—वह केवल इतना ही होता है कि उनके शरीर और आत्मा को एक साथ बनाये रखे। इस तरह की अवस्था ही गरीबी, भुखमरी और बीमारियाँ पैदा करती है। इसलिए विचारकों का कहना है कि यदि समस्त श्रमिक देशवासियों के लिए एक राष्ट्रीय और न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारित कर दिया जाय तो उक्त समस्याओं का अन्त हो सकता है। यह मजदूरी इतनी होगी कि श्रमिक अपने शरीर को अच्छी अवस्था में रख सकेगा और अपने मानसिक विकास के लिए भी थोड़ा-बहुत कार्य निरन्तर कर सकेगा। सरकार इस बात का भी ध्यान रखेगी कि बेकारी न फैलने पाये।

डाकखानों, रेलों, खानों, बिजली घरों, बैंकों और नहरों आदि की व्यवस्था को राष्ट्रीय उपयोगिताओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। इसीलिए श्रमिक दल का कहना है कि इन उद्योगों के संचालन में मूल-प्रवृत्ति मुनाफाखोरी नहीं बल्कि समाज के हितों की रक्षा होनी चाहिए। इसलिए श्रमिक दल इन सब उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का पक्षपाती है। वह शिक्षा, जीवन-बीमा आदि को भी ऐसे ही कार्य मानता है।

वित्त-व्यवस्था में क्रान्ति करने से श्रमिक दल का आशय यह है कि धन का वितरण अधिक उत्तम रीति से हो। धनियों के मुनाफे में से अधिक से अधिक रकम ले ली जाय और

---

1 *Labour and New Social Order.*

उस रकम को ऐसे कार्यों पर खर्च किया जाय जिससे गरीबों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो। करोड़पति के मुनाफों में से श्रमिक दल की सरकार एक हद से ऊपर रुपए में से पन्द्रह आने तक आयकर वसूल लेने की पक्षपाती है। इसके अतिरिक्त वह उत्तराधिकार कर, मृत्यु कर तथा पूंजो राजस्व' (Capital Levy) आदि जैसे करों के लगाने में भी विश्वास करती है।

प्राकृतिक साधनों को श्रमिक दल के विचारकों द्वारा राष्ट्र की ऐसी अतिरिक्त पूंजी समझा जाता है जो बेकार पड़ी हुई है। उनका कहना है कि वे इसका विकास करेंगे। इस विकास कार्य के लिये धनिकों पर जो कर लगाये जायेंगे और उनसे जो आय होगी उसका प्रयोग किया जायगा।

३. राज्य सम्बन्धी विचार

विकासवादो समाजवादी विचारकों के लक्ष्यों, पद्धतियों एवं उनके सिद्धान्तों को समझ लेने के बाद अब हम उनके राज्य संबंधो विचार पर भो थोड़ी दृष्टि डालेंगे। ऊपर जो कुछ हम लिख आये हैं--उसके अध्ययन से कभी-कभी ऐसा लग सकता है कि विकासवादी समाजवाद के दार्शनिक संभवतः राज्य सत्ता के केन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं। यह धारणा विशेषकर उस समय किसी भो व्यक्ति के मस्तिष्क में उत्पन्न हो सकती है जब वह यह पढ़ेगा कि राज्य समाजवाद में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जायगा। लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न है। विकासवादी समाजवाद राजसत्ता के विकेन्द्रीकरण का पक्षपाती है। विकासवादी समाजवाद के पोषकों का कहना है कि राज्य अपने हाथ में केवल इतनी ही सत्ता रखेगा जितनो आवश्यक होगी और स्थानीय संवासों का प्रजातंत्रीकरण करके अधिक से अधिक कार्य उनको सौंप दिया जायगा। **जार्ज बर्नार्ड शॉ** ने, जो इस विचारधारा के समर्थकों में से थे, सन् १८८९ में एक लेख में बतलाया था कि विकासवादी समाजवादी राज्य पानी बिजलीघर, गैस, पुस्तकालय, मनोरंजन-गृहों आदि की व्यवस्था को स्थानीय संस्थाओं के सुपुर्द कर देगा, लेकिन वह ऐसा तभी करेगा जब स्थानीय संवासों को प्रशिक्षित कर देगा। एक बार जब उक्त कृत्य स्थानीय संवासों या निकायों के सुपुर्द कर दिये जायेंगे तो फिर राज्य केवल उक्त मामलों में सलाह भर ही देगा। शेष कार्य वे संवास अपने आप करेंगे। उक्त कृत्यों को करने का दायित्व राज्य अपने ऊपर इसीलिए नहीं रखेगा कि उसके पास सत्ता का केन्द्रीकरण न हो पाये और सत्ता विकेन्द्रित हो जाय।

४. फेबियनवाद

विकासवादी समाजवाद की विचारधारा का विकास जिन विचारकों ने इंडलैण्ड में किया--वे अपने आपको फेबियनवादी कहते हैं। यही दार्शनिक वस्तुतः उक्त विचारों के प्रतिनिधि हैं। इन विचारकों पर इंगलैण्ड की व्यक्तिवादी विचारधाराओं और मार्क्स-वाद दोनों का असर पड़ा है।

सन् १८८१ के पूर्व इंगलैण्ड मार्क्स के विचारों से सर्वथा अपरिचित था। यूरोपियन भाषाओं में तो मार्क्सवादी विचारधारा पर काफी पुस्तकें प्रकाशित हो गयी थीं लेकिन उस समय तक अँग्रेजी में कोई पुस्तक नहीं आयी थी। इसका एक कारण अँग्रेजों की रूढ़िप्रियता और कट्टरवादिता भी था। वे यूरोपियन विचारकों से कुछ ऐसे विलग हो गए थे कि इंगलैण्ड से बाहर की चीजों को सहसा मान्यता देने को तैयार न होते थे। यही कारण है कि हेनरी हाइण्डमेन ने जब इंगलैण्ड की जनता के लिए समाजवादी विचारों से युक्त पहली पुस्तक[1]

1 Henry Hyndman's *England For All* published in 1881.

लिखी तो उनका यह साहस न हुआ कि वे मार्क्स के विचारों के प्रभाव को खुल्लम-खुल्ला पुस्तक में स्वीकार कर सकते। कुछ इस पुस्तक की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप और कुछ विदेशी घटनाओं तथा इंगलैण्ड की औद्योगिक व्यवस्था में मजदूरों की गिरी हुई हालत के कारण इंगलैण्ड के कुछ नवयुवकों ने उक्त व्यवस्था में परिवर्तन लाने के इरादे से प्रजातंत्रवादी संघ की स्थापना की। ये युवक "समाज का पुनर्निर्माण कर सुख-शान्ति की स्थापना"[1] करना चाहते थे। इस संघ की शाखाएँ इंगलैण्ड में कई स्थानों में खुलीं। वे कुछ दिनों चलीं भी लेकिन शनैः शनैः इनके सदस्यों पर अराजकतावादियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया और इंगलैण्डवासी इन संस्थाओं के सदस्यों को कुपथगामी समझने लगे। अतः यह स्वाभाविक था कि एक समय ऐसा आता जब इन संस्थाओं को जनविरोध के कारण विघटित होना पड़ता और यही हुआ भी। लेकिन उत्साही नवयुवक इससे हताश नहीं हुए और उन्होंने अपना कार्य जारी रखा। उन्हीं के प्रयत्नों से सन् १८८४ में फेबियन सोसाइटी की स्थापना हुई। फेबियन सोसाइटी के सदस्यों ने अपनी संस्था को स्थापित करते समय कहा कि वे उस समय तक प्रतीक्षा करेंगे जब तक इंगलैण्ड में समाजवाद की स्थापना के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं हो जातीं। लेकिन उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न होते ही अपना अवसर आने पर वे अपना कार्य दृढ़तापूर्वक करने से नहीं चूकेंगे। इस सोसाइटी के सदस्यों की एक इच्छा यह भी थी कि समाजवादी विचार के युवकों को मतिभ्रष्ट न समझा जाय और उन्हें समाज में उतना ही प्रतिष्ठापूर्ण स्थान दिया जाय जितना कि अन्य किसी विचारधारा के समर्थकों को मिलता है। कहना न होगा कि इंगलैण्ड की फेबियन सोसाइटी ने यह बात अत्यल्पकाल में ही कर दिखलायी।

५. फेबियन विचारक

फेबियन सोसाइटी ने इंडलैण्ड को कुछ अत्यन्त प्रतिभावान् प्रथम श्रेणी के विचारक प्रदान किये। इन विचारकों में जार्ज बर्नार्ड शॉ, एच० जी० वेल्स, रैमजे मैकडॉनल्ड, सिडनी वेब और उनकी पत्नी बीट्रिस वेब, श्रीमती एनी बेसेण्ट, हेरल्ड जे० लास्की, ग्राहम वैलेस, एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड तथा जी० डी० एच० कोल के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। एटली भी फेबियनवादी ही हैं। इनके विचार विभिन्न पुस्तकों में तो मिलते ही हैं लेकिन प्रमुख स्रोत 'फेबियन एसेज' (Fabian Essays) या फेबियनवादियों के निबंध हैं। इनमें फेबियनवाद के हर पक्ष पर ब्रिटिश विकासवादी समाजवाद का दृष्टिकोण मिल जाता है।

फेबियन विचारकों का प्रायः इस बात में बिल्कुल मतैक्य है कि समाजवादी परिवर्तनों की ओर लोकमत के सहयोग और सहमति से, प्रचार द्वारा, जनतंत्रात्मक तरीकों से सांविधानिक मार्गों का अवलम्बन करते हुए, संसद में बहुमत को प्राप्त कर, आगे बढ़ना चाहिए। वे अधिनायकवाद के संयुक्त रूप से विरोधी हैं। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का भी उन्होंने नरमी से ही सही विरोध अवश्य किया है। वे ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों को दास बनाकर नहीं एक सहयोगात्मक राष्ट्रमण्डल बनाकर और उन्हें बराबरी का दरजा देकर रखना चाहते हैं।

६. फेबियनों का आर्थिक दर्शन

फेबियनों का आर्थिक दर्शन श्रमिक दल के आर्थिक-कार्यक्रम से झलकता है। इस कार्यक्रम पर हम अभी ऊपर विचार कर आये हैं। यहाँ उसका दार्शनिक दृष्टि से थोड़ा-सा

1. Edward Pease's, *A History of Fabian Society*, p. 32:

और विश्लेषण किया जायगा। फेबियनों के आर्थिक विचार मार्क्स से बहुत भिन्न हैं। उन पर जॉन स्टुअर्ट मिल के विचारों का एक विशिष्ट ढंग से प्रभाव पड़ा है। वे मार्क्स से इस बात में तो सहमत हैं कि पूँजीवाद एक सीमा के बाद उपयोगिताहीन हो जाता है लेकिन यह नहीं मानते हैं कि वर्ग संघर्ष ही सारी व्यवस्था का आधार है। उनका कहना है कि यदि किसी पड़ोसी धनिक के घर में आग लग जाय तो उसके गरीब पड़ोसी यह नहीं सोचेंगे कि वह पूँजोपति है, अच्छा ही हुआ जो उसके घर में आग लग गयी, उस घर को जलकर नष्ट हो जाने दो। इसके विपरीत सब लोग तत्काल आग बुझाने के लिए दौड़ पड़ेंगे। इससे वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता बल्कि वर्ग सहयोग का व्यावहारिक आदर्श सामने आता है। फेबियन विचारकों ने मिल के आर्थिक व्यक्तिवाद के पूँजीवादी तत्व को तथा मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को छोड़ कर एक ऐसे समाज की कल्पना की जो समाजवादी होते हुए भो पारस्परिकवर्ग सहयोग पर आश्रित हो। मिल को व्यक्तिवाद ने पूँजीवादी व्यवस्था का समर्थन कर सामाजिक निर्धनता और दुख का जो दृश्य उपस्थित किया था—फेबियनों ने उसी व्यक्तिवाद की धारा को सामाजिक कष्ट-निवारण की दिशा में मोड़ दिया। ब्रिटिश श्रमिक दल ने इसी अर्थशास्त्र का सत्तारूढ़ होने पर प्रयोग किया। सर स्टेफर्ड क्रिप्स भी इस दर्शन के आचार्य थे।

६.१ **सम्पत्ति**—श्रमिक दल के फेबियन विचारों के साथ ही सम्पत्ति संबंधी विचार भी नयी विचारमाला का प्रतिनिधित्व करते हैं। व्यक्तिवादियों की भाँति व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को फेबियन विचारक अत्यन्त पवित्र नहीं समझते। वे इसे राज्य का नैतिक और वैधानिक अधिकार मानते हैं कि वह किसी भी सम्पत्ति का निजी स्वामित्व समाप्त कर उस पर अधिकार कर सकता है। यह मार्क्स का प्रभाव है। लेकिन इस बिन्दु से आगे चलकर उनका मार्क्सवादियों से मतभेद हो जाता है। वे कहते हैं, 'यह सच है कि राज्य को किसी भी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति को अपने कब्जे में कर लेने का अधिकार है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सम्पत्ति रखने वाले व्यक्ति के साथ राज्य न्याय भी न करे—न्याय का यह तकाजा है कि जिस व्यक्ति की सम्पत्ति पर कब्जा किया जाय उसे उस सम्पत्ति का मुआविजा दिया जाय।

६.२ **श्रम और आलसी व्यक्ति**—श्रीमती ऐनी बेसेण्ट ने अपने एक निबंध में बतलाया है कि श्रम से जी चुरानेवाले आलसी व्यक्ति के लिए समाज में कोई स्थान नहीं रहेगा। सबसे पहले तो जो श्रम नहीं करेगा उसेअपनीक्षुधा शान्त करने के लिये पैसा ही नहीं मिलेगा; इसके बाद यदि वह काम करते हुए उसमें कोई गड़बड़ी करेगा तो उसे पदच्युत कर दिया जायगा। ये सब बातें उसे आलस छोड़ कर काम करने के लिये विवश करेंगी। यदि इतने पर भी वह न मानेगा तो उस व्यक्ति के विरुद्ध सबसे बड़ा शस्त्र होगा—सामाजिक बहिष्कार का सबसे बड़ी चीज तो यह होगी कि समाजवादी राष्ट्र में लोगों की वे सारी मानसिक ग्रंथियाँ दूर हो जायँगी जो आज कल उसे श्रम से जी चुराने के लिए मजबूर करती हैं।[२]

७ समाज सम्बन्धी कल्पना

फेबियन विचारक मार्क्सवादियों के विपरीत एक ऐसे श्रमशील समाज की कल्पना करते हैं जो सर्वथा वर्गहीन नहीं होगा। यह सच है कि उस समाज में व्यक्तिगत अधिकार में लोगों के पास उत्पादन के ऐसे साधन न रह जायँगे जो उन्हें व्यापक शोषण का अवसर दें।

1. For detailed discussion please consult Graham Wallace's admirable Essay in *Fabian Essays* pp. 211-2.
2. Annie Beasant's Essay in *Fabin Essays* pp. 152-3.

सकें, किन्तु इतने पर भी उसमें मध्यम श्रेणी और श्रमिक वर्ग ये दो तत्व रहेंगे। वे एक मौलिक समाजवाद की कल्पना के अनुसार समाज का निर्माण चाहते हैं। वे सहकारी समाज की कल्पना करते हैं। समाज संबंधी उनकी कल्पना भी सावयवी है। उनका कहना है कि वह समाज भी प्रगतिशील है जिस समाज का व्यक्ति प्रगतिशील है। वे व्यक्ति को प्रगतिशील बना कर समाज को गतिवान् बनाना चाहते हैं।

८. आलोचना

८.१ विकासवादी समाजवाद की विचारधारा श्रमिकों की विचारधारा नहीं है। फेबियन विचारक श्रमिकों के प्रतिनिधि हैं, शॉ के शब्दों में 'ऐसा कहना कोरे दंभ और पाखण्ड के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होगा।' वस्तुतः यह विचारधारा और इसके विचारक दोनों हो मध्यवर्ग के हैं और इसी वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मार्क्सवादी तो विकासवादी समाजवाद को समाजवाद की कोई शाखा ही नहीं मानते और उनका यह कहना ठीक भी है क्योंकि स्वयं मार्क्स मध्यवर्ग को ऐसा वर्ग नहीं मानता जो कोई स्थायी वर्ग हो और जिसके सहारे कोई दृढ़ कार्य किया जा सके। मार्क्स का कहना था कि या तो मध्यम वर्ग नीचे खिसक कर श्रमिकों के साथ हो जायगा अथवा पूँजीपतियों के साथ मिल जायगा और उन्हीं के साथ यह भी समाप्त हो जायगा। ऐसी दशा में जो विचारधारा नितान्त मध्यवर्ग के आधार पर ही समाज का स्वप्न देखती हो और जो मार्क्स के वर्ग संघर्ष के मौलिक सिद्धान्त को ही न मानती हो उसके संबंध में मार्क्सवादियों का यह सोचना सर्वथा स्वाभाविक है कि मार्क्सवाद का इस विचारधारा पर कुछ प्रभाव भले ही पड़ा हो लेकिन यह मार्क्सवाद की शाखा नहीं हो सकती।

८.२ ब्रिटिश समाजवादी विचारकों के आदर्श भी त्रुटिहीन नहीं हैं। यह ठीक है कि वे सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के उन्मूलन के पक्षपाती हैं, लेकिन वे इस आदर्श को साम्यवादियों की भाँति तत्काल क्रियान्वित नहीं कर सकते; क्योंकि मुआविजे की बड़ी जबर्दस्त शर्त इसके साथ लगी हुई है। मुआविजे के बंधन के कारण समाजवादियों या श्रमिक दल को सरकार बन जाने पर भी इस आदर्श को शत प्रतिशत क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि किसी भी राज्य के खजाने में एक साथ इतना धन नहीं हो सकता कि वह सांविधानिक मार्गों से सत्तारूढ़ होने पर शासन की बाडडोर सँभालते ही सारे उद्योगों से पूँजीपतियों के निजी स्वामित्व का अन्त कर सके। वह सरकार अधिक-से-अधिक कुछ उद्योगों में ऐसा कर सकती है। ऐसी दशा में समाजवाद के लाभ केवल कुछ मुट्ठी भर लोगों को ही मिलते हैं। मजदूर वर्ग के शेष व्यक्ति जहाँ के तहाँ रह जाते हैं और इससे उनमें निराशा और अविश्वास का फैलना स्वाभाविक है।

८.३ विकासवादी समाजवादियों की प्रणाली भी त्रुटिपूर्ण है। वे शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा पूँजीवाद को समाप्त करना चाहते हैं। लेकिन यह कर सकना असंभव नहीं तो बड़ा कठिन अवश्य है। उदाहरण के लिए एटली की श्रमिक दल की सरकार इंगलैण्ड के फौलाद आदि के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना चाहती थी; लेकिन वह अपने कार्यकाल में इसके लिए प्रयत्न ही करती रह गयी और कोई निश्चित कदम न उठा सकी। इसके बाद एटली की उत्तराधिकारी चर्चिल सरकार ने एटली की योजनाएँ ही समाप्त कर दीं।

८.४ विकासवादी साजवाद के पोषक, समाजवादी होते हुए भी समाज से अधिक व्यक्ति पर बल देते हैं जिसके कुछ स्वाभाविक परिणाम उनके लक्ष्यों की सिद्धि में बाधा डालते हैं। उदाहरणार्थ, मुआविजा देकर निजी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने का सिद्धान्त व्यक्ति के साथ न्याय करने की भावना पर आधारित है; लेकिन यह सिद्धान्त ही

वैयक्तिक सम्पत्ति के उन्मूलन का सबसे बड़ा रोग है। स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में व्यक्तिवाद ही कार्य कर रहा है।

८.५ विकासवादियों के राज्य संबंधी विचारों में भी दोष हैं। जिन परिस्थितियों में विकासवादी समाजवादी राज्य के नियंत्रण को कम करना चाहते हैं उनमें राज्य की सत्ता को सीमित करने का अर्थ निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादियों का उभरना ही है। ऐसी दशा में प्रतिक्रियावादी तत्वों का उभार समाजवादी राजतंत्र को भी उलट सकता है—इसमें कोई शक नहीं।

८.६ मार्क्सवादी सिद्धान्तों की आलोचनाओं में कहीं-कहीं बड़ा छिछलापन नजर आता है। वर्ग सहयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन और उसके साथ वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का खण्डन इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित एक व्यवस्थित तर्क का विषय है—शब्दों के साथ किया गया खिलवाड़ नहीं। इसकी आलोचना भी उतनी ही गंभीर होनी चाहिए।

इन्हीं सब त्रुटियों की वजह से श्रमिकदलीय सरकार का इतिहास सफलताओं का इतिहास नहीं है। वह एक मध्यवर्गीय विचारधारा की ऐसी कठिनाइयों और बाधाओं का इतिहास है जो किसी भी सरकार की असफलता का कारण बन जाती है। यही कारण है कि स्वयं ब्रिटेन से भी फेबियनवाद का असर कम हो रहा है।

९. अनुदाय और प्रभाव

इस विचारधारा का ब्रिटेन और संसार के लिए संभवतः सबसे बड़ा अनुदाय यह है कि इसने काफी दिनों तक मार्क्सवाद का जादू इंगलैण्डवासियों पर न चलने दिया और अन्य बहुत से देशों को भी साम्यवादी होने से बचाये रखा। सन् १९१७ में रूस में जो क्रांति हुई—उसके भीषण रक्तपात से संसार दहल गया था। विकासवादी समाजवादियों ने जब यह आश्वासन दिया कि क्रान्ति के साधनों का सहारा लिये बिना भी उन उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है—तो दुनिया को बड़ी आशा बँधी। पूँजीवादियों की भी कठोरता कम हुई और वे समझने लगे कि यदि उनके उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हुआ तो कम से कम उन्हें मुआविजा तो मिल जायगा।

इस समाजवाद का यूरोप और अमेरिका के अतिरिक्त भारत तथा आस्ट्रेलिया पर भी प्रभाव पड़ा है। भारत की प्रजा समाजवादी पार्टी इसी वाद से प्रभावित हुई है तथा हमारे नए संविधान में निजी सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण की जो शर्त रखी गई है जिसमें कहा गया है कि मुआवजा देने पर ही ऐसी सम्पत्ति पर सरकार कब्जा कर सकेगी, इसी प्रभाव का द्योतक है।

बहुलवाद

(PLURALISM)

१. बहुलवाद के विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ--२. बहुलवाद पर अन्य विचारधाराओं का प्रभाव---३. राज्य और संवासों के पारस्परिक संबंध—४. बहुलवाद की प्रगति--५. समाजवादी विचारधाराओं और बहुलवाद का अन्तर-- ६. बहुलवाद के आधुनिक विचारक--७. हेरल्ड जे० लास्की--८. समाज और राज्य संबंधी विचार---९. प्रजातंत्र के संबंध में---१०. लास्की की व्यक्तिवादिता-- ११. सत्यासत्य की विवेचना---१२. विश्व की एकता---१३. बहुलवाद की आलोचना--१४. अनुवाद।

बहुलवाद अँग्रेजी के 'प्लूरलिज्म' (Pluralism) का अनुवाद है जिसका अर्थ होता है, 'एक ऐसा सिद्धान्त जो किसी एक अंतिम सत्ता में विश्वास नहीं करता।' इस सिद्धान्त का विकास मुख्यतः बीसवीं शताब्दी में--प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के दौरान में हुआ। इस सिद्धान्त के समर्थक राजसत्ता के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध हैं और उनका कहना है कि अद्वैतवादी सिद्धान्त आधुनिक युग की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से अक्षम है--अतः उसे हटा दिया जाना चाहिए। उनका कहना है कि राजसत्ता को इस प्रकार विकेन्द्रित कर देना चाहिए कि राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक संवासों को अपनी इच्छानुसार गतिविधियाँ जारी रखने का पूरा-पूरा अवसर मिलता रहे।

१. बहुलवाद के विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

बहुलवाद के इस प्रारंभिक परिचय के बाद अब हम उसके क्रमिक विकास पर इतिहास की सहायता से विचार करेंगे।

बहुलवाद की वर्तमान स्थिति को ठीक तरह से समझने के लिए हमें एक बार मध्य युग के इतिहास के पृष्ठ उलटने होंगे। मध्य युग में यूरोप की जो राजनीतिक अवस्था थी उसमें राज्य ही सब कुछ नहीं समझा जाता था। कुछ ऐसे भी क्षेत्र थे जहाँ राज्य को ही उस क्षेत्र के प्रतिनिधि संवासों की इच्छा के अनुकूल कार्य करना पड़ता था। उदाहरणार्थ, धार्मिक क्षेत्र में चर्च राज्य पर बड़ा असर रखता था। इस बात के एक से अधिक दृष्टान्त हैं जब राज्य को अपनी इच्छा के विपरीत चर्च की आज्ञाओं के अनुसार कार्य करना पड़ा। इसी प्रकार सामाजिक मामलों में राजाओं को सामन्तों की इच्छाओं के अनुसार कार्य करना पड़ता था। इसका कारण यह था कि विभिन्न क्षेत्रों के सामन्त अपने-अपने प्रदेशों की क्षेत्रीय रीतियों और नीतियों से परिचित होते थे और राज्य को उन्हीं के अनुकूल न्याय करना पड़ता था। अतएव, सामन्तों की राय अपना निर्णयात्मक महत्व रखती थी। इससे स्पष्ट है कि राजा के हाथ में ही सारी सत्ता न रहती थी। कभी-कभी केन्द्रीय सत्ता का विरोध भी हो जाता था जिसके फलस्वरूप गृह-युद्ध होते रहते थे और अशान्ति तथा अव्यवस्था का वातावरण बना रहता था। लेकिन धीरे-धीरे इसी युग में राष्ट्रीयता की भावना पनपी। व्यापार-वाणिज्य का युग आया। आर्थिक दृष्टि से यह आवश्यक हो गया कि राजसत्ता का केन्द्रीकरण किया जाय। हॉब्स जैसे विचारकों ने आन्तरिक अव्यवस्था तथा अशान्ति को घातक बतलाया और राज्य के विरोध को सर्वथा निषिद्ध घोषित कर दिया। उन्होंने यह भी

कहा कि कोई संवास राज्य की सत्ता को घटाने का काम नहीं कर सकता। राज्य हॉब्स का 'नश्वर देव' था और समस्त संवास उसके उदर की अँतड़ियों के कृमि थे। हॉब्स के बाद राजसत्ता के केन्द्रीकरण की जो परम्परा शुरू हुई वह रुकी नहीं, अद्वैतवादी आस्टिन और रूसो ने उसे आगे बढ़ाया। आस्टिन ने 'निश्चित जनश्रेष्ठ' की आज्ञा को ही सब कुछ बतलाया। रूसो ने जनतांत्रिक कल्पना तो की लेकिन राज्य की 'सामान्य इच्छा' (General Will) को सर्वथा संप्रभु बतलाया और उसका विरोध करने की अनुमति किसी को नहीं दी। हीगल ने तो न केवल राजसत्ता के केन्द्रीकरण का समर्थन किया बल्कि राज्य को पृथ्वी पर साक्षात् ईश्वर का अवतार ही बतला दिया। अद्वैतवादी और कल्पनावादी विचारधारा ने बीच में आनेवाले सारे संवासों की सत्ता का उन्मूलन कर राज्य और व्यक्ति के बीच सीधा संबंध स्थापित कर दिया। उन दिनों राज्य की सर्वोच्चता इतनी सर्वमान्य और व्यापक थी कि मार्क्स ने भी राज्य का विरोध नहीं किया। लेकिन राज्य और व्यक्ति के सीधे संबंध स्थापित हो जाने के कारण अब व्यक्ति ने राज्य से विभिन्न सुधारों की माँग की। उसने अपनी प्रगति के लिए व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की सुविधाएँ माँगीं। लेकिन व्यक्ति राज्य के समक्ष बहुत छोटा था—इसलिए विभिन्न संवासों के रूप में उसने अपने संघटन स्थापित किये। इन संवासों ने व्यक्ति को स्वतंत्रता के पहले अपनी स्वतंत्रता माँगी। यह माँग ही बहुलवाद के जन्म का कारण बनी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुलवाद एक क्रान्तिकारी विचारधारा है और वह अद्वैतवादी तथा कल्पनावादी विचारधाराओं के विरुद्ध होनेवाली जनता की प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है। हीगल ने राज्य की इतनी अधिक पूजा करनी आरंभ कर दी थी कि वह राज्य के अन्याय के सामने भी व्यक्ति को नतमस्तक हो जाने की सलाह देता था। बहुलवाद ने इसका विरोध किया और कहा कि अन्याय, अन्याय है। उसके सामने झुकने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह क्रान्ति थी। बहुलवाद के जन्म का एक अन्य कारण व्यक्तिवाद था। व्यक्तिवाद ने पूँजीवादी राज्य के पनपने में बड़ी मदद की थी। हालाँकि पूँजीवादी राज्य प्रजातंत्रवाद के समर्थक थे और कहते थे कि उनमें होनेवाला शासन प्रजा की सहमति से होता है लेकिन यह बात उनकी असफलताओं को छिपा न सकी। उपनिवेशवाद द्वारा साम्राज्य के सुदूरवर्ती अंगों में जो शोषण हुआ सो तो हुआ ही—साथ ही दुख और दारिद्रय से स्वयं राज्य का केन्द्रीय भाग भी न बच सका। कुछ विचारकों ने उक्त सारी बुराइयों पर विचार किया और कहा कि बहुलवाद ही एकमात्र ऐसा मार्ग है जिससे सब बुराइयों का निराकरण हो सकता है।

२. बहुलवाद पर अन्य विचारधाराओं का प्रभाव

बहुलवाद पर जिन विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा उनमें वे प्रमुख हैं जिन्होंने अद्वैतवादी और कल्पनावादी विचारधाराओं की आलोचना की। इसलिए सबसे पहले हम इन विचारधाराओं का अध्ययन करेंगे। इन विचारधाराओं में सबसे **पहला** नाम है व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी विचारधारा का, **दूसरा** नाम है पुनर्अभ्युदयवादियों का, **तीसरा** स्थानीय निकायवादियों का **चौथा** समाजवादी विचारधाराओं का और **पाँचवाँ** विधानवाद का। अब हम इन पर संक्षेप में विचार करेंगे।

२.१ **व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी**—व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी विचारधारा के पोषकों की परम्परा जॉन लॉक, मॉण्टेस्क्यू और जॉन स्टुअर्ट मिल ने चलायी और उसे आगे भी सिंचित करते रहे।

जॉन लॉक ने अपने समय में हॉब्स के 'नश्वर देव' (Leviathan) के संप्रभु अधिकारों का विरोध करते हुए कहा कि राज्य जो चाहे सो नहीं कर सकता। उसे भी व्यक्ति के जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति के अधिकारों का सम्मान करना होगा। राजसत्ता राज्य के

हाथ में सौंपी गयी धरोहर है। उस धरोहर की मर्यादाओं की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है। लॉक की इस पुकार का परिणाम यह हुआ कि लोग हॉब्स के इस मत से असहमति प्रकट करने लगे कि राज्य जो चाहे सो कर सकता है और व्यक्ति उसका कोई विरोध नहीं करेगा।

मॉन्टेस्क्यू ने व्यक्ति स्वातंत्र्य के लिए राज्य की सत्ता के केन्द्रीयकरण को अत्यन्त भयावह बतलाया और व्यक्ति को राजसत्ता के दुरुपयोग के खतरों से बचाने के लिए शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसका शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त (Principle of Separation of Powers) सत्ता के विकेन्द्रीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने राज्य के कृत्यों की मर्यादा को 'अन्य व्यक्तियों संबंधी कार्यों (Other Regarding Actions) की सीमा में बाँध दिया और यह साफ कह दिया कि राज्य को व्यक्ति के निजी मामलों में बोलने का कोई हक नहीं है।

इन तीनों विचारकों ने विभिन्न मार्गों से एक ही लक्ष्य को बेधने का यत्न किया और वह यह था कि राजसत्ता का विकेन्द्रीकरण हो और केन्द्रीय शक्ति सीमित हो जाय।

२.२ **पुनर्अभ्युदयवाद**—उन्हीं दिनों कुछ ऐसे भी विचारक सामने आये जिन्होंने मध्य युगीन सामन्तवाद का अत्यन्त सुनहला चित्रण किया और बतलाया कि उन दिनों राज्य का कोई केन्द्रीय अत्यधिक शक्तियुक्त दमन यंत्र न होने के कारण लोग कितने सुखी थे। इन विचारकों की माँग थी कि उसी युग की विशेषताओं को पुनः अपनाया जाय। इसलिए इन्हें पुनर्अभ्युदयवादी कहा जाता है। इन विचारकों में जर्मन विचारक **गिर्के** और **फिगिस** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बहुलवादी विचारधारा की उन्नति में पुनर्अभ्युदयवादियों का सहयोग इन अर्थों में उल्लेखनीय है कि उन्होंने राज्य की केन्द्रीय सत्ता को अत्यधिक अधिकार प्राप्त करने तथा एकाधिकार की प्रवृत्तियों का कठिन विरोध किया।

२.३ **स्थानीय निकायवाद**—इन्हीं दिनों एफ० डब्ल्यू० मेटलेण्ड तथा उनके सहयोगियों ने यह आन्दोलन आरंभ किया कि स्थानीय निकायों (Local Bodies) को स्थानीय प्रबंध तथा व्यवस्था के मामलों में अधिक से अधिक स्वतंत्रता दी जाय। संवासों की स्वतंत्रता के आन्दोलन में इस विचारधारा ने भी मदद की। इसलिए बहुलवाद पर इस विचारधारा का भी असर पड़ा।

२.४ **समाजवादी विचारधाराएँ**—समकालीन समाजवादी विचारधाराओं का भी बहुलवाद की अग्रगति पर प्रभाव पड़ा। इनमें अराजकतावाद (Anarchism), श्रम संघवाद (Syndicalism) और श्रेणीवाद (Guild Socialism) का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी विचारधाराओं ने किसी न किसी रूप में राजसत्ता का विरोध किया। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उक्त विचारधाराएँ बहुलवादी दर्शन पर अपना प्रभाव डालतीं।

२.५ **विधानवाद**—विधानवादियों ने राज्य को सबसे बड़ी विधायिनी (Legislative) शक्ति तो माना लेकिन उन्होंने यह मानना अस्वीकार कर दिया कि राज्य के किसी एक अंग को ऐसा करने का अधिकार है। राज्य को वे समाज की शक्ति या पहुँच से बाहर नहीं मानते थे। उनका कहना था कि राज्य की विधियाँ सामाजिक न्याय की भावना पर आधारित होती हैं। ऐसी दशा में यह भावना राज्य की परावलम्बता की द्योतक है—स्वतंत्रता की नहीं। अद्वैतवाद को वे बिलकुल काल्पनिक सिद्धान्त मानते थे। फ्रेंच न्यायशास्त्री ड्यूगी और क्राब इस विचारधारा के जनक थे। क्राब तो कहता था कि अद्वैतवाद (Monism) जैसी किसी कल्पना का व्यावहारिक राजनीति के जगत में कोई स्थान ही नहीं है और उसे राजदर्शन से निकाल देना ही उचित होगा।

३. राज्य और संवासों के पारस्परिक संबंध

चूँकि बहुलवाद संवासों की स्वतंत्रता का समर्थक है और राजसत्ता के संवासों के बीच विकेन्द्रित किये जाने का पक्षपाती है--अतएव यह आवश्यक है कि हम राज्य और संवासों के पारस्परिक संबंधों[1] के विभिन्न दृष्टिकोणों पर संक्षेप में विचार कर लें। संवासों और राज्य के पारस्परिक संबंधों के विषय में निम्नलिखित चार सिद्धान्त हैं: पहला सिद्धान्त है भावात्मक अद्वैतवाद (Abstract Monisn) का, दूसरा है दृढ़ अद्वैतवाद (Concrete Monism) का, तीसरा है राजनीतिक बहुलवाद (Political Pluralism) का और चौथा है अति बहुलवाद (Extreme Pluratlism) का।

३.१ **भावात्मक अद्वैतवाद**--भावात्मक अद्वैतवाद यह मानता है कि प्रत्येक संवास राज्य का शत्रु है। यदि कोई संवास जीवित रहता है तो वह कार्य करता है: कार्य करने का अर्थ है वह स्वतंत्रता माँगेगा और कुछ अधिकार भी। उस संवास को स्वतंत्रता और अधिकार देने का अर्थ होगा राज्य की स्वतंत्रता और अधिकार में उसी अनुपात से कमी। यदि बहुत से संवास पैदा हो जायँ और उन सबको राज्य स्वतंत्रता और अधिकार देता चला जाय तो एक दिन राज्य के पास कोई भी शक्ति नहीं रह जायगी और राज्य समाप्त हो जायगा। इसीलिए भावात्मक अद्वैतवाद मानता है कि हर संवास राज्य का शत्रु है और राज्य का यह कर्तव्य है कि वह उस संवास का यथाशक्ति दमन करे। जर्मनी नाजी शासक यही समझते थे और यही कारण है कि वे अपने राज्य में किसी राजनीतिक दल या सामाजिक संवास को उत्पन्न होने या जीवित रहने नहीं देते थे। कुछ विचारकों का कहना है कि यही दशा आजकल सोवियत रूस की भी है। वहाँ भी शासक अपने दल के सामाजिक और राजनीतिक संवासों के अतिरिक्त अन्य किसी भी विरोधी पक्ष के संवासों को बने रहने नहीं देते। उनका उन्मूलन कर दिया जाता है।

३.२ **दृढ़ अद्वैतवाद**--दृढ़ अद्वैतवाद का दृष्टिकोण कुछ सावयवी-सा है। राज्य और संवासों के इन संबंधों को माननेवाले विचारक कहते हैं कि जो संवास राज्य में पहले से ही हैं--वे राज्य के ही अंग हैं। इन संवासों को राज्य की इच्छा के अनुकूल चलना चाहिए और राज्य को भी इन संवासों का नियंत्रण ठीक उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार मस्तिष्क शरीर के विभिन्न अंगों का नियंत्रण करता है। दृढ़ अद्वैतवादी यह मानते हैं कि राज्य की स्थिति सर्वोच्च है और प्रत्येक संवास उसी के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार संबंधों की व्यवस्था में संवासों का अस्तित्व तो बना रहता है लेकिन उन्हें अधिक स्वतंत्रता नहीं मिल पाती।

३.३ **राजनीतिक बहुलवाद**--राजनीतिक बहुलवाद के विचारक मानते हैं कि राज्य भी एक संवास है। जिस प्रकार एक संवास दूसरे संवास का दमन नहीं कर सकता ठीक उसी प्रकार राज्य को भी यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे संवासों का दमन कर सके। इस विचारधारा में राज्य का समन्वयकारी रूप माना जाता है और इन अर्थों में उसे उच्चतर स्थान भी दिया जाता है; लेकिन राज्य के अस्तित्व का उन्मूलन नहीं किया जाता। वह अन्त तक बना रहता है।

३.४ **अतिबहुलवाद**--इस विचारधारा के प्रतिपादक कहते हैं कि समाज का प्रत्येक संवास अपने सदस्यों के जीवन के किसी न किसी पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है लेकिन राज्य ही एक ऐसा संवास है जो व्यक्ति के किसी भी पक्ष का प्रतिनिधि नहीं है। प्रत्येक संवास

---

१ यह अनुच्छेद प्रोफेसर जे० डी० मेबट (Prof J.D. Mabbot) की प्रसिद्ध पुस्तक दि स्टेट एण्ड दि सिटिजन (*The State & The Citizen*) के पृष्ठ ११२ से १३८ के आधार पर लिखा गया है।

का कोई न कोई निश्चित कर्तव्य होता है लेकिन राज्य का कोई निश्चित कर्तव्य नहीं होता। अतएव अति बहुलवादियों का कहना है कि अन्त में राज्य का उन्मूलन हो जाना चाहिए।[१]

राज्य और सवासों के संबंधों का उक्त सिंहावलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि बहुलवाद पर समाजवादी विचारधाराओं तथा अन्य स्रोतों का किस क्रम से प्रभाव पड़ा है। भावात्मक अद्वैतवाद जहाँ कल्पनावाद से प्रभावित है, वहाँ दृढ़ अद्वैतवाद विधानवादियों से तथा राजनीतिक बहुलवाद श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) ; और अति बहुलवाद श्रमसंघवाद (Syndicalism) तथा अराजकतावाद (Anarchism) से। इन पर व्यक्तिवादियों का प्रभाव भी प्रकट होता है।

४. बहुलवाद की प्रगति

बहुलवादियों का कहना है कि आधुनिक राज्य क्रमशः बहुलवाद की दिशा में आगे बढ़ा जा रहा है। यह प्रगति आन्तरिक और वाह्य दोनों तरफ से हो रही है। इस प्रगति पर हम इन दोनों दृष्टियों से विचार करेंगे।

४.१ **आन्तरिक दृष्टि से** बहुलवादी अद्वैत संप्रभुता के समर्थकों की यह बात गलत सिद्ध करते हैं कि राज्य की स्थिति अन्य संवासों से उच्चतर है। वे यह भी मानने को तैयार नहीं हैं कि अन्य संवासों पर राज्य जैसा चाहे नियंत्रण रख सकता है। संक्षेप में वे भावात्मक और दृढ़ अद्वैतवादों द्वारा समर्थित राज्य और संवासों के पारस्परिक संबंधों में कोई विश्वास नहीं करते। जैसा कि **जी० डी० एच० कोल** ने अपने कृत्यात्मक प्रजातंत्र (Functional Democracy) का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—मानवजीवन स्वभावतः विविधाङ्गीय है। उदाहरण के लिये राम को ले लीजिए। वह अखबार पढ़ने सुबह लायब्रेरी जाता है, दोपहर को काम करने कारखाने में जाता है और शाम को मनोरंजन के लिए क्लब में जाता है। एक राम के तीन व्यक्तित्व हैं। लायब्रेरी का रामू, कारखाने का रामू और क्लब का रामू। इन तीनों व्यक्तियों के हित अलग-अलग हैं। कोई एक संस्था उसके इन तीनों व्यक्तियों के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। कृत्यात्मक प्रजातंत्र के अनुसार राम के उक्त तीनों व्यक्तित्वों के हितों के लिए अलग-अलग संवास होने चाहिए और बहुलवाद इन संवासों की स्वतंत्रता का प्रतिपादन करता है। बहुलवाद का कहना है कि राज्य उक्त सारे हितों की रक्षा नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि आज के व्यक्ति का जीवन इतना जटिल हो गया है कि कोई एक संवास उसका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता और क्योंकि राज्य भी एक संवास है—इसलिए वह भी हर व्यक्ति के हितों के प्रतिनिधित्व का भार सँभालने में असमर्थ है। चूँकि राज्य में बहुत से संवास होते हैं और वे व्यक्ति के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं—अतः उन संवासों के नियम भी उतने ही मूल्यवान हैं जितनी राज्य की विधियाँ और राज्य को उन नियमों के अनुसार प्रत्येक संवास को कार्य करने की छूट देनी चाहिये।[२] बहुलवादी संवासों की स्वतंत्रता के औचित्य को ऐतिहासिक, वैधानिक और व्यावहारिक तीनों दृष्टियों से सिद्ध कर देते हैं। डा० जे० एन० फिगिस (Dr. J. N. Figgis) ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में राजसत्ता को परामर्श दिया है कि वह उपासनागृहों, श्रमिक संघों (Trade Unions) तथा स्थानीय निकायों (Local Bodies) के कार्यों में कोई हस्तक्षेप न करे क्योंकि ऐसा करने

---

१ *Ibid*, p. 112-13.

२. J. Paul Bancours, in *Le Federalisme Econoque*, pp. 1-5, 178-24, 369-422.

का अर्थ अनिवार्यत: व्यक्ति और समाज के विकास में बाधा डालना होगा।[१] इसी प्रकार कुछ विचारक कहते हैं कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व भी विभिन्न संवास थे। राज्य की उत्पत्ति के बाद भी विभिन्न संवास रहे। राज्य के लुप्त होने के बाद भी बहुत से संवास रहेंगे। राज्य ऐसी दशा में संवासों से कनिष्ठ है। राज्य के बिना समाज रह सकता है लेकिन संवासों के बिना नहीं; इसलिए राज्य को संवासों का दमन कभी भी नहीं करना चाहिये।[२] **लास्की** ने भी, जिसके दर्शन पर हम आगे के पृष्ठों में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे, राज्य को अन्य संवासों की तुलना में समान ही स्थान दिया है।[३] वे यह मानते हैं कि राज्य जीवन के लिए आवश्यक है क्योंकि राज्य में ही अच्छा जीवन संभव है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य को अन्य संवासों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पूँजीवादी राज्य में यदि ट्रेड यूनियनें न हों तो व्यक्ति की आर्थिक स्वाधीनता समाप्त हो जायगी। इसलिए समाज को संवासों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी राज्य की। लास्की का कहना है कि राजसत्ता को उन अधिकारों का परित्याग कर देना चाहिये जिनसे संवासों के हितों के छिनने की संभावना हो।[४] राज्य पवित्र है—इसमें सन्देह नहीं लेकिन संवास भी उतने ही पवित्र हैं जितने राज्य। राज्य यह कह कर अपेक्षाकृत अधिक अधिकार नहीं माँग सकता कि वह लोगों का सामूहिक प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि प्रत्येक संवास अपने आप में व्यक्तियों के एक निश्चित समूह का प्रतिनिधित्व करता है। संवासों की स्थिति राज्य की अपेक्षा दृढ़तर है। इसकी वजह यह है कि प्रत्येक संवास चाहे वह आर्थिक हो या सामाजिक अथवा राजनीतिक, हर दशा में जनता अर्थात् अपने सदस्यों के सम्पर्क में रहता है। यह बात आधुनिक युग के राज्यों के संबंध में नहीं कही जा सकती क्योंकि आज का राज्य पुरानी प्रथाओं और परम्पराओं पर भी चलने का अधिक प्रयत्न करता है। इसलिए उसकी अनुभूति का क्षेत्र सीमित और संकीर्ण हो गया है। इसका प्रमाण है 'कन्वेशन' या वैधानिक प्रथाएँ। आज भी वैधानिक प्रथाओं के विरुद्ध चलने का प्रयत्न इंगलैण्ड में बुरा माना जाता है। राज्य की शक्ति के ह्रास होने का एक यह भी कारण है।

बारकर ने भी लास्की के समान ही विचार प्रकट किये हैं। उसका कहना है कि राज्य संवासों की उत्पत्ति तथा उनके विकास का एकमात्र साधन नहीं है। (यह हम ऊपर भी बता आये हैं।) ऐसी अवस्था में राज्य को यह अधिकार नहीं कि वह चाहे जिस संवास का अन्त कर दे। यदि किसी राज्य को यह अधिकार न हो कि वह अपनी सीमा के अन्तर्गत रहनेवाले संवास के अस्तित्व को समाप्त कर सके तो उसे संप्रभु नहीं माना जा सकता। यदि वह संप्रभु नहीं है तो मनमानी विधि भी नहीं बना सकता। आजकल की परिस्थितियों में यह निष्कर्ष सत्य उतरता है। आज किसी भी राज्य में यह क्षमता नहीं है कि वह जनता के प्रतिनिधि-संवासों की इच्छा के विरुद्ध कोई विधि बना सके। **ड्यूगी** और **क्राब** ने इसी आधार पर अद्वैतवाद की आलोचना करके उस सिद्धान्त की मान्यताओं को नष्ट कर दिया है। ड्यूगी और क्राब दोनों ही 'विधि' और 'राज्य'—को बिलकुल भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मानते हैं। विधि की शक्ति को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है। यह शक्ति शाश्वत होती है। राजशक्ति के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। राजशक्ति के विरुद्ध कभी-कभी

१ J. N. Figgis in *Modern State* p. 78.

२. E. Barker, *Op. Cit*, pp. 175-82.

३. H. J. Laski in *Foundation of Sovereignty and other Essays*, p. 240.

४. R. G. Gettell in *The His. of Political Thought*, Ch. 29. pp 458-466.

लोकमत हो जाता है और ऐसी अवस्था में लोकमत को राज्य की इच्छा के अनुकूल नहीं बल्कि राज्य को लोकमत को इच्छा के अनुसार चलना पड़ता है। राज्य तो भूमि का एक ऐसा टुकड़ा है जिस पर व्यक्तियों का एक समूह रहता है और इस समूह के कुछ व्यक्तिविशेष, शेष लोगों पर अपने डण्डे के जोर से शासन करते हैं। वे बलप्रयोग का भय दिखला कर अपनी इच्छाएँ मनवाते हैं। इसके विपरीत विधियाँ सामाजिक प्रगति की अनिवार्य दशाएँ हैं। वे सबकी इच्छाओं और आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। इसलिए विधि की उत्पत्ति शक्ति में नहीं बल्कि उपयोगिता में है।

अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि राज्य के होते हुए भी उसमें संवासों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है और उन संवासों द्वारा स्वतंत्रता और अधिकारों की माँग भी बढ़ती जा रही है।

४.२ **बाह्य दृष्टि से** विश्व की एकता की कल्पना क्रमशः प्रबल रूप धारण करती जा रही है। हर देश के निवासी इस बात के लिए चिन्तित हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की अवस्था को समाप्त किया जाय। संयुक्त राष्ट्र संघ वगैरह की स्थापना के कारण अब यह दशा हो गयी है कि आज किसी भी राज्य के लिए दूसरे राज्य पर आक्रमण करके उसे हड़प लेना संभव नहीं है। यही चीज सत्रहवीं-अठारहवीं शती में बिलकुल संभव थी लेकिन आज ऐसा नहीं हो सकता। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यह ध्यान रखता है कि यदि वह कोई कार्य करता है तो उसका नैतिक प्रभाव अन्य राज्यों पर क्या पड़ता है। अद्वैतवादी इन अवस्थाओं और कल्पनाओं की उपेक्षा करते हैं और अपनी कल्पना से तरह-तरह की ऐसी बातों की सृष्टि करते हैं जो एक राज्य तथा दूसरे राज्य के बीच दीवालों का काम करती हैं। वास्तविकता यह है कि राज्यों के बीच अब कोई भौगोलिक बाधाएँ नहीं रही हैं। जो नागरिक हवाई जहाजों से यात्रा करता है, जो व्यापारी संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक अपने घर बैठे रेडियो टेलीफोन द्वारा व्यापार करता है——वह अनुभव करता है कि अब राज्य की सीमाओं का कोई मूल्य नहीं रह गया है और संसार सिकुड़ कर समीप आ गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय एकता की इस कल्पना का भी राज्य की शक्ति को सीमित करने में बड़ा हाथ रहा है।

५. समाजवादी विचारधाराओं और बहुलवाद का अन्तर

समाजवादी विचारधाराओं में अराजकतावाद और श्रमसंघवाद (Syndicalism) राज्य के उन्मूलन के पक्ष में हैं। वे यह कहते हैं कि राज्य का उन्मूलन जितनी जल्दी हो जाय, मानवता का कल्याण भी उतनी ही शीघ्रता से होगा। इस मान्यता के विपरीत बहुलवादी विचारक यह स्वीकार करते हैं कि राज्य अनिवार्य है और वे पूर्णतः उसके उन्मूलन के पक्ष में नहीं हैं। वे उसकी सत्ता को विकेन्द्रित करके सीमित कर देना चाहते हैं। वे राज्य को इसलिए नहीं अनिवार्य मानते कि उसके बिना निश्चित जनश्रेष्ठ (Determinate Human Superior) नहीं रह सकेगा बल्कि इसलिए मानते हैं कि वह 'संवासों का संवास और संघटनों का संघटन' है। इसका अर्थ यह है कि राज्य की अनिवार्यता इसलिए है कि वह एक संवास का दूसरे संवास से समन्वय स्थापित करता है। अराजकतावादी यह नहीं मानते कि समाज को किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो विभिन्न संवासों के बीच समन्वय स्थापित करे। उनका कहना है कि यदि किसी बक्स में खूब कंकड़ियाँ भर दी जायँ और उस बक्स को हिलाया जाय तो सारी कंकड़ियाँ उतनी ही व्यवस्था से उसमें बैठ जायँगी जितनी व्यवस्था से कोई भी बाह्य शक्ति उन्हें लगा सकती। स्पष्ट है कि अराजकतावादियों से इस मामले में बहुलवादी तनिक भी सहमत नहीं हैं।

६. बहुलवाद के आधुनिक विचारक

बहुलवाद के आधुनिक विचारकों में **ए० डी० लिण्डसे, अर्नेस्ट बारकर, जी० डी० एच०, कोल, सिडनी और बीट्रिस वेब** तथा **हेरल्ड लास्की** का नाम उल्लेखनीय है। इनमें लास्की के बहुलवादी विचार सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं और इन पर हम एक अलग अनुच्छेद में विचार करेंगे। सबसे पहले लिण्डसे, अर्नेस्ट बारकर तथा कोल और वेब दम्पति के बहुलवादी विचारों पर संक्षेप में विचार किया जायगा।

६.१ **ए० डी० लिण्डसे और अर्नेस्ट बारकर**——(A.D.Lindsay and Ernest Barker)——ये दोनों ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। दोनों ही अभी जीवित हैं। लिण्डसे और बारकर दोनों ही कल्पनावादी होते हुए भी अपने विचारों में उदार हैं। और यह अनुभव करते हैं कि कल्पनावादी विचारधारा ने कुछ दर्शक पूर्व जिस सर्वशक्तिशाली और सर्वनियन्ता राज्य की कल्पना की थी——वह आज के युगों की माँग और आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती। इसलिए इनको उदारतावादी कल्पनावाद का विचारक माना जाता है।

लिण्डसे ने आधुनिक राज्य और समाज की विस्तृत विवेचना करते हुए बतलाया है कि राज्य वस्तुतः 'संवासों का संवास' (Association of Associations) है। इसका कार्य समाज में समन्वय स्थापित करना है। सब संवास अपने-अपने लक्ष्यों के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र रहें——यह देखना ही राज्य का प्रथम कर्तव्य है। राज्य इससे अधिक कर्तव्य भार लेने के योग्य नहीं रहा है और इसका मुख्य कारण यह है कि आज के युग के मानव का जीवन इतना व्यापक और जटिल हो गया है कि उस पर नियंत्रण करना या व्यक्ति के प्रत्येक हित की रक्षा करना उसके लिए संभव ही नहीं है।

बारकर पर गिर्के और मेटलैण्ड का प्रभाव विशेषरूप से पड़ा है। बारकर के बहुलवादी विचार हमें मुख्य रूप से उनकी 'पॉलिटिकल थॉट इन इंगलैण्ड फ्रॉम हर्बर्ट स्पेन्सर टु प्रेजेण्ट डे' (Political Thought in England from Herbert Spencer to Present Day) नाम की एक पुस्तक में मिलते हैं।

बारकर ने बहुलवाद का समर्थन उन विश्वासों पर प्रहार करके आरंभ किया है जो बेंथम के समय से चले आ रहे थे। बेंथम और उनके अनुयायियों ने राज्य तथा व्यक्ति के बीच संबंध तो स्थापित कर दिया लेकिन उसके बाद जो संवास स्थापित हुए उनकी स्थिति को वे निर्धारित नहीं कर पाये। बारकर ने बेंथमवादी परम्पराओं की इस त्रुटि की ओर संकेत किया और बतलाया कि संवासों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। वस्तुतः राजसत्ता से दैनिक जीवन में व्यक्ति नहीं बल्कि संवासों का मुकाबिला होता है। वे ही व्यक्ति के विचारों को प्रतिनिधिमूलक ढंग से शासन के सामने रखते हैं। इस प्रकार के संवासों की संख्या बहुत अधिक है। अतः राज्य को यह देखना है कि प्रत्येक संवास अपने लक्ष्य के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र है या नहीं। अतएव, बारकर की बहुलवादी विवेचना 'संवास बनाम राज्य' की समस्या का विश्लेषण करती है।

६.२ **जी० डी० एच० कोल और वेब**——(G.D.H. Cole and Webb)—अपने ज्येष्ठ विचारकों की भाँति कोल भी ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के व्याख्याता थे। ये श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) से संबद्ध होने के कारण पहले ही ख्याति प्राप्त कर चुके हैं और इनके तत्संबंधी विचारों पर हम पहले विचार कर चुके हैं। बहुलवादी विचारक की हैसियत से कोल ने बेंथम की इस कल्पना का अन्त कर दिया कि व्यक्ति का व्यक्तित्व भी एक अविभाज्य इकाई होता है। उन्होंने जीवन की विविधता दिखलाने के बाद मानव-स्वभाव और उसके व्यक्तित्व की भी विविधता दिखलायी और बतलाया कि

किसी व्यक्ति समूह के जीवन के प्रत्येक अंग का प्रतिनिधित्व एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता। व्यक्ति के जितने पक्ष होते हैं—उतने ही उसके प्रतिनिधि होने चाहिए। यह कैसे पता लगाया जाय कि किस व्यक्ति का जीवन कितनी विविधताओं से पूर्ण है ? इसका उत्तर कोल ने दिया है—संवासों से।" व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न संवासों की सदस्यता स्वीकार करता है। यदि संवासों के प्रतिनिधि लिये जायें तो उचित प्रतिनिधित्व की समस्या हल हो सकती है। इसी आधार पर उसने व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का दावा किया था। कोल ने रूसो के संप्रभुता सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। रूसो का कहना है कि राज्य की संप्रभुता 'सामान्य इच्छा' में वास करती है। कोल का कहना है 'सामान्य इच्छा' एक कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः संप्रभुता स्वयमेव निराधार सिद्ध हो जाती है।

सिडनी तथा बीट्रिस वेब मजदूर आन्दोलन से संबंधित विचारक हैं। इन दोनों व्यक्तियों ने राजनीतिक क्षेत्र में बहुलवाद का प्रचार किया। वेब ने सबसे पहले यह आवाज उठायी कि एक संसद द्वारा सभी हितों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है। अतएव राजनीतिक हितों तथा सामाजिक हितों की पूर्ति के लिए कार्य करनेवाली दो संसदें होनी चाहिए। ऐसा करने से एक तो दोनों क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक कार्य हो सकेगा तथा संसदों की बहुलता की वजह से सत्ता विकेन्द्रित हो जायगी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि कोई भी संसद मनमाना कार्य न कर सकेगी।

वेब के साथ ही एच० बेलॉक (H. Bellock) ने भी राजसत्ता के विकेन्द्रीकरण की एक योजना बनायी थी।

७. हेरल्ड जे० लास्की (H. J. Laski)

७.१ **जीवन परिचय**—हेरल्ड जे० लास्की का जन्म सन् १८९३ में हुआ था। उनके माता-पिता काफी सम्पन्न थे और उन्होंने अपने पुत्र को उच्चतम शिक्षा दिलवायी। बचपन से ही लास्की को राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन का बड़ा शौक था। इसी शौक की वजह से ये बी० ए० करके पत्रकारिता करने लगे। भावुक होने की वजह से मानवतावाद की ओर यह सहज ही आकृष्ट हो गये। प्रथम महायुद्ध के दौरान में इन्हें कनाडा और अमेरिका जाना पड़ा। यहाँ कई विश्वविद्यालयों में इन्होंने दर्शन के व्याख्याता के पद पर कार्य किया। दर्शन के व्याख्याता के रूप में इन्हें बड़ी ख्याति मिली। सन् १९२० में युद्ध समाप्त होने पर ये अमेरिका से जब वापस लौटे तो इन्हें लन्दन स्कूल ऑफ एकनॉमिक्स का डाइरेक्टर नियुक्त किया गया। तब से १९५० तक—जब तक लास्की की मृत्यु नहीं हुई वे बराबर उक्त पद पर बने रहे। सन् १९३४ में वे सोवियत रूस भी गये। वहाँ उन्होंने जो भाषण दिया था वह आज भी प्रसिद्ध है।

७.२ **लास्की की कृतियाँ**—लास्की के विचार हमें मुख्यतः निम्नलिखित ग्रंथों में मिलते हैं—(१) प्रोब्लम ऑफ सॉवरेण्टी (Problem of Sovereignty), (२) ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स (A Grammer of Politics), (३) स्टेट इन थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस (State in Theory & Practice), (४) लिबर्टी इन मॉडर्न स्टेट (Liberty in Modern State), (५) पार्लमेण्ट्री गवर्नमेण्ट इन ग्रेट ब्रिटेन (Parliamentary Government in Great Britain), (६) अमेरिकन प्रेसीडेंसी (American Presidency), (७) अमेरिकन डेमोक्रेसी (American Democracy), (८) कार्ल मार्क्स-एन एस्से (Karl Marks—An Essay)।

७.३ **प्रभावस्रोत**—लास्की पर इंगलैण्ड के जिन विद्वानों ने प्रभाव डाला उनमें लिण्डसे और बारकर का नाम उल्लेखनीय है। सांविधानिक विषयों में वे ए० वी० डायसी से

प्रभावित हुए। जार्ज लेन्सबरी तथा एच० ने विन्सन के विचारों का भी उन पर असर पड़ा था। ग्रीन की 'नैतिक चेतना' की कल्पना तथा ग्रीन के व्यक्तिवाद का लास्की पर आजीवन प्रभाव रहा। अपने समय में इंगलैण्ड के मजदूर आन्दोलन को अपने विचारों से उन्होंने बड़ा प्रभावित किया। गिल्ड समाजवाद के समर्थक थे। बाद में मार्क्सवाद का भी उन पर असर पड़ा था। पूँजीवाद के वह जबर्दस्त विरोधी थे।

८. समाज और राज्य सम्बन्धी विचार

लास्की ने आधुनिक समाज की व्याख्या करते हुए बतलाया कि आजकल के समाज का शासन ऐसा कोई राज्य नहीं कर सकता जो सारे संवासों को समाप्त कर दे। ऐसी राजसत्ता का पतन होना अनिवार्य हो जाता है। हिटलर और मुसोलिनी ने राजसत्ता के विरोधी पक्षों से संबंधित समस्त संवासों का अन्त कर दिया था। नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली का पतन इसका स्पष्ट उदाहरण है--हालाँकि उनमें अन्य बहुत-सी त्रुटियाँ भी थीं। आज का समाज लास्की की दृष्टि से बहुलवादी है क्योंकि इस समाज में व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व विभिन्न संवास करते हैं और ये संवास काफी शक्तिशाली और अधिकारयुक्त हैं। संवासों के हाथ में आजकल इतनी शक्ति आ गयी है कि उनके आन्दोलनों के समक्ष बड़े-बड़े राज्यों तक को अपनी इच्छा के विरुद्ध झुकना पड़ता है। उदाहरणार्थ, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक राजनीतिक संवास थी। उसने भारतीय स्वाधीनता के लिए आन्दोलन किया और उसके सामने शक्तिशाली ब्रिटिश राज्य की सत्ता को नतमस्तक होना पड़ा। इसी प्रकार नेहरू सरकार हिन्दू कोड बिल पारित करना चाहती थी लेकिन रामराज्य परिषद् आदि जैसे कुछ धार्मिक संवासों ने इतना आन्दोलन किया कि जनता की इच्छा के सामने राजसत्ता को उक्त विधेयक पारित न करने के लिए विवश हो जाना पड़ा। राज्य का स्थान ऊँचा है--यह लास्की स्वीकार करता है। वह कहता है कि सभी सामाजिक संवासों से, राज्य का स्थान उच्चतर है लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि राज्य के पास शक्ति अधिक है--बल्कि यह है कि वह समाज और उनके संवासों का नियंत्रण करता है और एक प्रकार के संयुक्त लक्ष्यों की सृष्टि कर यह इंगित करता है कि समाज, राज्य तथा सभी संवासों को किस दिशा में आगे बढ़ना है। लास्की संवासों को इतनी स्वतंत्रता देता है कि वे अपनी समझ के अनुसार जिस दिशा में उचित समझें कार्य करें। जहाँ तक राज्य के कृत्यों का संबंध है लास्की का कहना है कि राज्य की विधियाँ बनाने की शक्ति है। लेकिन वह केवल ऐसी ही विधियाँ बना सकता है जिनके सम्बन्ध में बहुसंख्यक राज्यवासी यह समझें कि वे उनके हित के लिए बन रही हैं। यदि किसी तरह बहुसंख्यक यह मानते हैं कि उस विधि से उनका कल्याण न होगा तो राज्य को चाहिए कि वह विधि न बनाये। ऐसी दशा में राज्य के अधिकार काफी हद तक सीमित हो जाते हैं। लास्की का कहना है कि राज्य को सांविधानिक दृष्टि से ऊँचा पद देने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। उसने राज्य की सत्ता का जो विरोध किया उसके निम्नलिखित छः आधार हैं :—

८.१ अद्वैतवादियों, कल्पनावादियों और व्यक्तिवादियों ने राज्य को इतना ऊँचा उठा दिया, उसके अधिकार इतने असीमित कर दिये कि वह केवल कुछ पूँजीवादियों द्वारा किये जानेवाले शोषण का एक साधन बन कर रह गया;

८.२ यह ठीक है कि नागरिक जीवन को व्यवस्थित करने की, उसे नैतिकता की ओर ले जाने की क्षमता राज्य में है लेकिन पूँजीवादी ढाँचा—जिसके प्रतिनिधियों के हाथ में राज्य की बागडोर रहती है--बिलकुल अयोग्य है और उसमें कल्याणकारी नेतृत्व करन का एक भी तत्व नहीं है।

८.३ अद्वैतवादी राज्य की जिस दृढ़ता के गुण गाते हैं--वह गलत है। इतिहास साक्षी है कि राज्य को अनेक अवसरों पर झुकना पड़ा है;

८.४ यह कहना भी गलत है कि राज्य किसी भी आन्तरिक या बाह्य सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं है। अनुभव इस धारणा का विरोधी है और बतलाता है कि राज्य अनुत्तरदायी नहीं रहा है—उसे अपने कार्यों की पूरी जिम्मेदारी निभानी पड़ी है;

८.५ यह कहना भी भ्रमात्मक है कि राजसत्ता अविभाज्य है। राजसत्ता विभाजित हो सकती है। शक्ति विभाजन के सिद्धान्त की क्रियात्मकता इसका सबसे बड़ा उदाहरण है;

८.६ समाज चूँकि बहुलवादी है और राज्य को समाज का प्रतिनिधि माना जाता है; इसलिए राज्य भी बहुलवादी है। समाज की शक्ति चूँकि बहुत से संवासों में विभक्त है—इसलिए समाज की बहुलवादिता स्वतः सिद्ध है।

९. प्रजातंत्र में

प्रजातंत्र संबंधी लास्की का मत भी उल्लेखनीय है। वह वास्तविक प्रजातंत्र का कट्टर समर्थक था लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में प्रजातंत्रवाद की जो छीछालेदर की जाती है उसकी लास्की ने तीव्र निन्दा की है। उसने वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली को बड़ा अनुपयुक्त ठहराया है। उसके मतानुसार पाँच साल में केवल एक बार सरकार जनता या प्रजा के प्रति अपना उत्तरदायित्व अनुभव करती है। निर्वाचन के दौरान में वह तरह-तरह के वादे जनता से करती है लेकिन एक बार शक्ति हाथ में आते ही उन वायदों को भूल जाती है जो उसने जनता के प्रति अपने घोषणा-पत्र में किये थे। लास्की एक ऐसे प्रजातंत्रवाद की कल्पना करता है जिसमें हर महत्वपूर्ण प्रश्न के संबंध में जनता के मतानुसार फैसला किया जाता है। इसी को वह आदर्श प्रजातंत्रवाद मानता है। लास्की का कहना था कि आदर्श प्रजातंत्र प्रतिक्रियावादी पूँजीवाद का समर्थक न होगा बल्कि वह समाज की प्रगति और उसकी उन्नति का साधन होगा।

१०. लास्की की व्यक्तिवादिता

लास्की के विचारों में हमें व्यक्तिवाद की रेखा स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने के बावजूद वह लॉक और मिल के व्यक्तिवाद से अपने आप को कभी भी मुक्त न कर सका। लास्की की सम्पूर्ण विचारधारा का केन्द्र व्यक्ति ही है। उसका कहना है कि समाज और राज्य दोनों का लक्ष्य यही है कि वे व्यक्ति की नैतिकता को बढ़ावा दें; उसको भौतिक समृद्धि और सम्पन्नता में वृद्धि करें। व्यक्ति को हर तरह से संतुष्ट करना ही लास्की की दृष्टि में राज्य का परम कर्तव्य है। लास्की का यह कहना था कि अशान्ति और व्यवस्था के खतरे उठा कर भी व्यक्ति की रक्षा की जानी चाहिए लेकिन उस पर अन्याय होने देने का एक भी अवसर नहीं देना चाहिए। राज्य को केवल वही कार्य करने चाहिए जिनसे व्यक्ति के हितों की सम्पुष्टि होती है। लास्की का हर विचार अपने साथ व्यक्ति की कल्पना लिये प्रकट होता है जब कि मार्क्सवाद साम्यवादी में हर कार्य समूह के लिए किया जाता है—समाज का पहले ध्यान रखा जाता है। इससे लास्की के विचारों और मार्क्सवादी विचारों का अन्तर साफ दिखलायी पड़ने लगता है।

११. सत्यासत्य की विवेचना

विलियम जेम्स (William James) नाम के एक अमेरिकन विचारक का कहना था कि जो लाभदायी है—वही सत्य है और जो हानिकारक है वह असत्य है। यह बात दार्शनिक क्षेत्र में कही गई थी। जेम्स के प्रभावान्तर्गत लास्की ने इस सिद्धान्त को राजनीति के क्षेत्र में भी क्रियान्वित किया। उसका कहना था कि राजनीति में भी केवल वही सिद्धान्त लागू किये जाने चाहिए जो लाभदायी हों क्योंकि अन्ततोगत्वा वही सत्य सिद्धान्त होंगे। अलाभकारी सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया जाना चाहिए क्योंकि उनकी असत्यता इससे स्पष्ट है।

१२ विश्व की एकता

लास्की के विश्व की एकता संबंधी विचार भी उल्लेखनीय हैं। उसका यह बड़ी इच्छा थी कि सारा विश्व एकता के सूत्र में बलयितहो जाय और मानवता ही सारे विश्व का धर्म हो। राज्य की सत्ता विश्व की एकता में बाधक थी——इसलिए यह स्वाभाविक था कि वह उसका विरोध करता। लास्की का कहना था कि विश्व की एकता में ही सारे देशों का कल्याण है। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया था कि इस लक्ष्य की ओर सारा संसार धीरे-धीरे किस प्रकार बढ़ रहा है। लास्की ने बतलाया कि आज से एक शताब्दी पूर्व राज्य जितने अनुत्तरदायी होते थे——आज वे उतने नहीं हैं। कोई भी राष्ट्र मनमानी कारवाई करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। उसे अन्य राष्ट्रों की प्रतिक्रिया का भी ख्याल सबसे पहले करना पड़ता है।

१३. बहुलवाद की आलोचना

१३.१ बहुलवाद के आलोचकों का सबसे पहला आरोप तो यह है कि सत्ता विकेन्द्रित हो जाने पर अराजकता और अशान्ति फैल जायगी। अपनी आलोचना को साधार बनाने के लिए आलोचक मध्य युग के इतिहास का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि उस युग में सत्ता विकेन्द्रित थी तो उसका परिणाम यह हुआ कि आये दिन संघर्ष, गृहयुद्ध और अन्तरराज्यीय युद्ध हुआ करते थे। स्टुअर्ट काल में जब सत्ता विकेन्द्रित हुई थी तो इंगलैण्ड भी गृहयुद्ध का अखाड़ा बन गया था। लेकिन बहुलवादी कहते हैं कि वह अशान्ति और अव्यवस्था सत्ता के केन्द्रीकरण से होनेवाले अन्याय से बेहतर है। लास्की को स्टुअर्ट काल की अशान्ति पसन्द थी लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा व्यक्ति के साथ जो अन्याय किया जाता है, वह उसे कतई नहीं सुहाता था।

१३.२ इसके अतिरिक्त बहुलवादी विचारकों की विचारधारा में कुछ अन्तर्दोष भी हैं। एक ओर तो बहुलवादी राज्य का विरोध करते हैं और दूसरी ओर समर्थन भी। यथा, **लास्की** ऐसी राजसत्ता के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में आवाज उठाते हुए भी ऐसी शक्ति का समर्थन करता है जिसे राज्य में असीम अधिकार प्राप्त हों।[१] इसी प्रकार **बार्कर** ने भी लिखा है कि व्यक्ति के हितों की पूर्ति का तथा नागरिक की भक्ति-भावनाभिव्यक्ति का राज्य मूर्त रूप है।[२] गिर्के ने भी कहा है कि संवासों में राज्य का दर्जा सर्वोच्च है। राज्य की इच्छा ही संप्रभु की भी इच्छा है।[३] **फिगिस** राज्य को समुदायों का समुदाय मानता है।[४] **लण्डसे** ने भी कहा है कि राज्य इन अर्थों में उच्चतम संस्था है कि उसकी सदस्यता अनिवार्य है।[५] यह नहीं हो सकता——जैसा कि अन्य संवासों के संबंध में होता है कि जिसकी मर्जी आये वह सदस्य बने और जिसकी मर्जी आये, वह न बने। **टॉल बैंकर** ने लिखा है कि राज्य सभी नागरिकों के हितों और राष्ट्रीय एकता का सुदृढ़ आधार है।[६] ऐसी दशा में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि बहुलवाद क्या उस हद तक राज्य का विरोध कर सकेगा जिस हद तक वह दावा करता है?

१३.३ बहुलवादियों द्वारा अद्वैतवाद की यह आलोचना ठीक नहीं है कि राज्य की संप्रभुता का जो लोग समर्थन करते हैं——वे राज्य की संप्रभुता को अमर्यादित बतलाते हैं।

---

1 Harold J. Laski in his *Foundations of Soveriegnty*, p. 236.
2 E. Barker, op. cit. *Ibid*, p. 245.
3 Gierke, op. cit. *Ibid*, p. 14.
4 J. N. Figgis, op. cit. *Ibid*, p. 49.
5 A. D. Lindsay, in *The State in Pol. Th.* pp. 134-35.
6 Paul Bancour, op. cit.; *Foundations of Sovereignty*, p. 49.

वस्तुतः, हॉब्स, बोदाँ, बोसाँके आदि विचारकों ने राज्य की उस संप्रभुता की—जिसे बहुलवादी अनुत्तरदायी और अमर्यादित बतलाते हैं, मर्यादाएँ और सीमाएँ निश्चित की हैं। इनमें से हर एक यह मानता है कि प्रजा को इच्छाओं हमेशा उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाता। रूसो की सामान्य इच्छा तो प्रजा की संयुक्त इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करती है। बहुलवादी का यह सोचना ठीक नहीं है कि वे अनिवार्यतः क्रान्ति विरोधी हैं।

१४. अनुदाय

गेटिल के शब्दों में "बहुलवाद एक ऐसी अवस्था का दृष्टिकोण है जब कि नयी स्थितियाँ उन दिनों के वैधानिक वर्गीकरण को असंतोषजनक पा रही थीं और उनके पास ऐसा कोई उपादान नहीं था जिसके सहारे वे उपस्थित संघर्षों का निवारण कर सकतीं। यह दृष्टिकोण समन्वय की उस पद्धति का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके द्वारा नये वर्गों की रचना की जाती है और विरोधी स्वार्थों का संयुक्तीकरण किया जाता है।" [१]

१४.१ बहुलवाद के अनुदाय पर विचार करते समय हमारा ध्यान सबसे पहले इस बात की ओर जाता है कि यही एक ऐसी विचारधारा है जिसने सबसे पहले सभी सामाजिक संवासों की उपयोगिता स्वीकार की। बारकर ने स्पष्टतः लिखा है कि हर सामाजिक या अन्य संवास में अपनी एक अलग उपयोगिता होती है। [२] इस उपयोगिता की किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती।

१४.२ बहुलवादी विचारकों ने विधि के लक्ष्यों की व्याख्या सबसे पहले की और इसके बाद विधि की उत्पत्ति की? विधि के लक्ष्यों की विवेचना करते हुए उन्होंने बतलाया कि समाज के लिए उपयोगी और उसकी प्रगति में सहायक होना ही उनका मुख्य लक्ष्य है। उनकी उत्पत्ति के स्रोत द्वितीय श्रेणी का स्थान रखते हैं। राज्य चाहे कितना ही सर्वशक्तिमान क्यों न हो उसे विधियाँ बनाने का कैसा भी अमर्यादित अधिकार क्यों न हो, यदि वह सामाजिक हितों की दृष्टि से विधियाँ नहीं बनाता तो अवश्य ही एक-न-एक दिन उसकी सत्ता छिन जायगी।

१४.३ राज्य के संबंध में बहुलवादियों ने स्पष्ट रूप से कहा कि वह व्यक्ति और समाज के सुख का भौतिक साधन है। संप्रभुता के मनोवैज्ञानिक आधार भी उन्होंने बतलाये।

१४.४ उन्होंने ऐसे विधानमण्डलों के संघटन की सलाह दी जिसमें वस्तुतः जनता की इच्छाओं की पूर्ति हो सके।

१४.५ अन्तर्राष्ट्रीयता ने एकता पर विशेष बल दिया। इसके अत्यन्त स्वस्थ परिणाम हुए। राज्यसत्ता के केन्द्रीकरण के दुष्परिणामों से बचने में इससे बड़ी सहायता मिली।

जिस प्रकार अद्वैतवाद ने १६वीं और १७वीं शताब्दी की राष्ट्रीय एकता की माँग को पूरा किया—ठीक उसी प्रकार बहुलवाद ने बीसवीं शताब्दी की विकेन्द्रीकरण की माँग को पूरा किया। बहुलवाद ने राज्य के एकाधिकार के गढ़ को तोड़ कर संवासों की आवश्यकता और उपयोगिता पर बल दिया।

---

१. "Pluralism is the point of view of a situation when new conditions find existing legal categories unsatisfactory, with no adequate and recognised procedure to adjudicate resultant conflicts. It represents the process of negotiation and adjustment by which legal categories are created and opposing interests are co-ordinated" R. G. Gettell in *His. of Pol. Th.*, p. 470.

२. E. Barker od. cit. in A. D. Lindsey's *The State in Pol. Th.*, p. 139.

प्रजातंत्रवाद

(DEMOCRACY)

१. प्रजातंत्र का अर्थ––२. प्रजातंत्रवाद की कल्पना का इतिहास––३. प्रजातंत्रवादी विचारक––४. प्रजातंत्रवाद की परिभाषाएँ––५. प्रजातंत्रवाद के सिद्धान्त––६. प्रजातंत्रों के भेद––७. प्रजातंत्रवाद की सफलता के कुछ आवश्यक आधार––८. अयोग्यों का शासन––९. प्रजातंत्रवाद की समस्याएँ और उसका भविष्य।

१. प्रजातंत्र का अर्थ

प्रजातंत्र जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है जनता का जनता द्वारा जनता के हित में शासन है। पाश्चात्य दर्शन में जनता के शासन की कल्पना का उद्गम अन्य बहुत-सी विचार धाराओं की भाँति यूनानी राजदर्शन ही है। अंग्रेजी भाषा में प्रजातंत्र को 'डेमोक्रेसी (Democracy) कहते हैं। यह शब्द यूनानी भाषा के 'डेमॉस' (Demos) और क्रेशिया' (Cratia) शब्दों से बना है जिसका अर्थ है जनता (डेमॉस का शासन क्रेशिया) प्रजातंत्र शब्द का स्रोत समझ लेने पर हम बहुत आसानी से इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं कि प्रजातंत्र शासन का एक ऐसा स्वरूप है जिसमें जनता के हाथ में राज्य की अंतिम व्यवस्था रहती है। लेकिन प्रजातंत्र शब्द का केवल इतना ही संकुचित अर्थ मान लेना बड़ी भारी भूल है। वास्तव में विभिन्न विद्वानों और राजनीतिज्ञों ने इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। ये अर्थ इतने अधिक हैं कि शायद ही कोई राजदर्शन का अन्य प्राविधिक (technical) शब्द इतने अर्थों में प्रयोग हुआ हो। हमने ऊपर केवल 'प्रजातंत्र' शब्द के राजनीतिक अर्थ ही बतलाये हैं लेकिन अर्थशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने इसका प्रयोग आर्थिक समानता एवं सामाजिक समानता के लिए किया है। उदाहरणार्थ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था स राजनीतिक प्रजातंत्र तो होता है––अर्थात् हर वयस्क और स्वस्थ व्यक्ति को मताधिकार मिलता है, लेकिन आथक प्रजातंत्र न होने के कारण उस मताधिकार का कोई भी मूल्य नहीं होता। कारण, धनिक वर्ग उसके मत को अपने पैसे के बल से खरीद सकता है। लेकिन यदि लोगों की आर्थिक अवस्था संतोषजनक हो तो वे अपने मत को बेचना अस्वीकार कर देंगे और अपने अधिकार का अपने विवेक से प्रयोग करेंगे। इसीलिए राजनीतिक प्रजातंत्र के साथ ही आर्थिक प्रजातंत्र को आवाज उठायी जाती है। इसी प्रकार यदि कोई एक वर्ग दूसरे वर्ग को निम्न कोटि का समझ कर उससे घृणा करता है अथवा हेय दृष्टि से देखता है तो वह देश राजनीतिक व्यवस्था की दृष्टि से प्रजातंत्रवादी होते हुए भी आगे नहीं बढ़ सकता; क्योंकि सामाजिक प्रजातंत्र का अभाव हमेशा उसके मार्ग में रोड़े अटकाता रहता है। शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में भी प्रजातंत्र का नारा लगाया जाता है जिसका अर्थ है कि सब व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त करने का सामान अवसर मिलना चाहिए। ज्ञान कुछ विशेष लोगों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। इन विभिन्न क्षेत्रों में प्रजातंत्र की आवाज उठने का कारण बहुत से देशों में व्याप्त बुराइयाँ हैं। उदाहरणार्थ ,भारत की वर्ण-व्यवस्था अमेरिका, अफ्रीका तथा यूरोप के देशों में गोरे-काले का भेद, विश्वविद्यालयों में शिक्षा का इतना अधिक व्यय-साध्य होना कि वह साधारण व्यक्तियों की पहुँच से परे हो जाय,

इन्हीं बुराइयों की ओर संकेत करती हैं। इसके विपरीत समाजवादी देशों में ऐसा नहीं होता। रूस और चीन के शासकों का दावा है कि वहाँ सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र भी है—हालाँकि उनके विरोधी कहते हैं कि वहाँ विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं है।

२· प्रजातंत्र की कल्पना का इतिहास

प्रजातंत्र की कल्पना का जन्म ईसा के जन्म से कई सौ वर्ष पूर्व हो गया था—यह बात तो इसी से सिद्ध है कि प्लेटो तथा अरस्तू ने इस संबंध में अपने विचार प्रकट किये थे। लेकिन इस बात के भी प्रमाण हैं कि यूनानी राजदर्शन के पूर्व भी यह कल्पना भारत और चीन में न केवल जन्म पाकर विकसित हो चुकी थी बल्कि इसका बहुत विस्तृत क्षेत्र में व्यावहारिक उपयोग भी हुआ था। लेकिन बाद में इस कल्पना के महत्व को विस्मृत कर दिया गया। आधुनिक युग में इस कल्पना की पुनः पुनरावृत्ति हुई और अनेक देशों के शासन-प्रबन्ध में इसे उच्च स्थान प्रदान किया गया। लेकिन इतना होते हुए भी यह दुःख की बात है कि न प्राचीन विचारकों ने और न समाजवादियों के पूर्व आधुनिक विचारकों ने वैज्ञानिक रीति से, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रजातंत्रवाद का अर्थ बतलाया।

वैसे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रजातंत्रवादी शास्त्र की प्रणाली बहुत प्राचीन है। प्रसिद्ध इतिहासकार जायसवाल के कथनानुसार बौद्धकाल में ऐसे स्वशासित नगर थे जिनका शासन प्रजा या प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा होता था। चीन के इतिहास में भी प्रजातंत्र के उदाहरण मिलते हैं। वहाँ भी मनुष्य मात्र की अनिवार्य समानता और शासन-सत्ता में प्रजा द्वारा भाग लिये जाने पर विशेष बल दिया जाता था और यह भी जनता का अधिकार माना जाता था कि यदि कोई राजा अत्याचार करता है तो उसे पदच्युत कर दिया जाय। हिब्रू जाति के इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि वहाँ भी सोलोमन जैसे राजा के अधिक कर लगाने, साम्राज्य बढ़ाने आदि की योजनाओं का जनता द्वारा विरोध किया गया था। बर्बर जातियों में प्रजातंत्रवाद की कल्पना कितनी उन्नत थी—यह तो इसी बात से सिद्ध है कि प्रतिनिधि संवासों के बहुत से विचार यूरोप ने उन्हीं जातियों से सीखे।

२·१ कुछ विद्वानों का यह मत है कि प्रजातंत्रवाद की कल्पना पश्चिम को पूर्व से ही मिली। भारत और चीन के सम्पर्क द्वारा ही यूनानियों ने इसका विकास किया।[1] लेकिन इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि पूर्व में वे सब प्रजातंत्रवादी सिद्धान्त विकसित हो गये थे जो आधुनिक प्रजातंत्रवादी विचारकों को यूनान से मिले हैं। प्रजातंत्रवादी कल्पनाओं को यूनानी विचारकों ने विकसित किया और उनके सिद्धान्तों का निरूपण किया। यही नहीं उन्होंने इसी कल्पना और सिद्धान्त के अनुसार दासों तथा विदेशियों तक को प्रजातंत्रवादी अधिकार दिये। लेकिन, इतने पर भी प्रजातंत्रवाद को यूनानी विचारकों ने कभी अच्छा नहीं समझा। **प्लेटो** ने उसे शासनतंत्र का भ्रष्टतम स्वरूप बतलाया।[2] इसी प्रकार **अरस्तू** ने प्रजातंत्र को 'समूहतंत्र' बतलाया।[3] वह राजतंत्र या आभिजात्यतंत्र को सर्वोत्तम समझता

---

1 *Advanced His. of India* by Mss. Majumdar, Choudhari and Dutta, p, 124.

2 "Democracy is the worst form of Government subject to law, but because of its essential weakness and inefficiency is least oppressive if the restraints of law are absent." *History of Pol. Th.* by R. G. Gettell, p. 46.

3 Aristotle considers Democracy a carrupt form of polity *Pol. Th.* by Prof. W. A. Dunning, p. 72.

था। रोम के नगर-राज्यों म गणतंत्र पनपा, प्रजातन्त्र नहीं। प्रजातन्त्र शासन में चुनावों का प्रयोग किया जाता है, रोम में ऐसा न होता था। रोम के साम्राज्यकाल का प्रजातंत्र को केवल एक ही अनुदाय माना जा सकता है और वह है विधि के सम्मुख सब की समानता।

२.२ मध्य युग में बर्बर जातियों के सम्पर्क तथा अन्य विभिन्न कारणों से प्रतिनिधित्व की कल्पना का व्यावहारिक क्षेत्रों में विभिन्न प्रयोगों द्वारा विकास हुआ। धार्मिक क्षेत्र में चर्चों के शासन के लिए जो परिषदें नियुक्त की जाती थीं—उनके प्रनिनिधियों का निर्वाचन होता था। औद्योगिक क्षेत्रों में भी कारीगरों के ऐसे संघ थे जिनमें उद्योगों के अपने प्रतिनिधि होते थे और जिनका कार्य कारीगरों की सहायता करना तथा संबंधित उद्योग के कल्याण की व्यवस्था करना होता था। समाज-सेवा के संवासों की व्यवस्था भी ऐसे ही निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में रहती थी।

मध्य युग में ही मेगाकार्टा के अधिकार-पत्र पर राजा जॉन ने हस्ताक्षर किये थे और यह स्वीकार किया था कि सामन्तों पर बिना उनकी सहमति के कोई कर नहीं लगाया जायगा। इसी की वजह से वहाँ एक परिषद् की नियुक्ति हुई जो बाद में बढ़ते-बढ़ते संसद हो गयी और अन्त में वह दो सदनों में विभक्त हो गयी। सन् १६४२ और १६८८ की क्रान्तियों ने यह सिद्ध कर दिया कि कार्यपालिका को जनता के प्रति उत्तरदायी होना होगा। वह मनमाने कार्य नहीं कर सकती।

२.३ इसके बाद लूथर ने जो सुधारवादी आन्दोलन छेड़ा—उसने नागरिकों के इस अधिकार की संपुष्टि कर दी कि यदि वह चाहें तो राजसत्ता का विरोध भी कर सकते हैं। लेकिन प्रजातंत्र का वास्तविक विकास उस समय हुआ जब व्यापार-वाणिज्य का युग आरंभ हुआ। इस युग में जो प्रजातंत्रवादी सिद्धान्त हुए वही आधुनिक युग के प्रजातंत्रवादी सिद्धान्त माने जाते हैं।

२.४ **प्रजातंत्रवाद और क्रान्तियाँ**—सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीं में ऐसी चार-पाँच क्रान्तियाँ हुईं जिन्होंने प्रजातंत्रवाद के सिद्धान्तों को आग बढ़ाने में बड़ी मदद की। इंगलैण्ड की सन् १६४२ और सन् १६८८ की क्रान्तियों ने स्टुअर्ट वंश का अन्त कर दिया और संसद की सर्वोच्चता स्थापित कर दी। अमेरिका की क्रान्ति ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य को स्थान दिया और यह हमेशा के लिए निश्चित कर दिया कि आत्मनिर्णय का अधिकार अत्यन्त आवश्यक है। फ्रांस की राजक्रान्ति ने समानता और बंधुता के दरवाजे खोले। उसने सांविधानिक प्रजातंत्र को ऊँचा स्थान दिया। मताधिकार तथा अन्य राजनीतिक स्वतंत्रताओं के दिलाने में औद्योगिक क्रान्ति ने बड़ा योग दिया। बोलशेविक या साम्य-वादी क्रान्ति ने आर्थिक और सामाजिक प्रजातंत्र की कल्पना को बहुत बढ़ावा दिया।

३. प्रजातंत्रवादी विचारक

प्रजातंत्रवादी विचारकों पर इस स्थल पर अलग से विचार करने की आवश्यकता इसलिए नहीं है, क्योंकि हम उनके संबंध में आरंभ से ही विचार करते आये हैं। फिर भी यहाँ उन विचारकों के नाम दोहरा देना असंगत न होगा जिन्होंने प्रजातंत्रवादी कल्पना और सिद्धान्तों के विकास तथा निरूपण में महत्वपूर्ण भाग लिया है। ऐसे विचारकों में प्लेटो, अरस्तू, पोलिबियस और सिसरो, मार्सीलिओ, वाटक्लिफ, हस, ज्विगली, कालविन, मिल्टन, फर्ग्युसन, डी लॉल्मे, हैमिल्टन, जॉन एडम्स, बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, तुकेविली, कार्लाइल, सर हेनरी मेन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें कुछ ने प्रजातंत्रवाद की बड़ी जबर्दस्त आलोचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्तलार्ड ब्राइस, ए० वी० डायसी, लॉवेल, लिंकन, सीले, हार्नशा, लास्की, पॉल केस्टर राल्फ, एडम ग्राम्स, प्रोफेसर गिडिंग्स और बार्न्स के विचार विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

४. प्रजातंत्र की परिभाषाएँ

प्रजातंत्रवाद की परिभाषा करना अत्यन्त दुष्कर ही नहीं बड़ा भयावह कार्य है क्योंकि प्रजातंत्रवाद की कोई निश्चित कल्पना और सर्वमान्य सिद्धान्तावली नहीं है। लेकिन जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं प्रजातंत्र के संबंध में बहुत विद्वानों के अपने-अपने दृष्टिकोण दिये हैं। इन्हीं दृष्टिकोणों से प्रजातन्त्रवाद की परिभाषा भी की जा सकती है। इसलिए जो परिभाषाएं नीचे दी जा रही हैं उनसे यह न सोच लेना चाहिए कि ये परिभाषाएँ ही प्रजातंत्रवाद के समग्र तत्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं—बल्कि उन्हें संबंधित विद्वानों का प्रजातंत्र संबंधी दृष्टिकोण मानना चाहिए। प्रजातत्रवाद की एकमात्र सर्वमान्य परिभाषा स्थिर करने की कठिनाई तो इसी बात से अनुभव की जा सकती है कि लॉयड जार्ज, चर्चिल, विलसन, गांधीजी, नेहरू जी और जयप्रकाशनारायण तक के विचार प्रजातंत्र के संबंध में समान नहीं हैं। फिर भी नीचे दी गयी परिभाषाओं के पर्यावलोकन से प्रजातंत्रवाद के विभिन्न पक्षों पर जो प्रकाश पड़ेगा वह राजदर्शन के हर विद्यार्थी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

अमेरिका के राष्ट्रपति **अब्राहम लिंकन**[1] (Abraham Lincoln) ने गेट्सबर्ग के भाषण में सन् १८६१ में कहा था कि प्रजातंत्र में प्रजा का, प्रजा द्वारा, प्रजा से लिए शासन होता है। **प्रोफेसर सीले**[2] (Prof. Seeley) ने प्रजातंत्र को ऐसा शासनतंत्र बतलाया है जिसमें सभी नागरिक समान रूप से भाग लेते हैं। **लार्ड ब्राइस**[3] (Lord Bryce) ने प्रजातंत्र को एक ऐसे शासनतंत्र का रूप बतलाया है जिसमें शासन की सत्ता किसी व्यक्ति या वर्ग में अवस्थित नहीं होती बल्कि सम्पूर्ण प्रजावर्ग में परिवेष्ठित होती है। **प्रोफेसर ए० वी० डायसी**[4] (Prof. A.V. Dicey) ने लिखा है कि जब किसी राज्य में शासनसत्ता उस राज्य में निवास करनेवाले सबसे बड़े समूह के हाथ में होती है तो वहाँ प्रजातंत्र होता है। इसी प्रकार **हार्नशा**[5] (Hearnshaw) ने प्रजातंत्र में समाज और राज्य के पारस्परिक संबंधों के एक विशिष्ट रूप की कल्पना की है। **पॉल केस्टर**[6] (Paul Kester) ने प्रजातंत्रवाद को ईसाई धर्म का ही एक रूप माना है। **राल्फ एडम ग्राम्स**[7] (Ralph Adam Grams) के अनुसार प्रजातंत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष को कोई सुविधाएँ नहीं दी जातीं। सबको अपने विकास के समान अवसर मिलते हैं। **मिस फॉलेट**[8] (M. P. Follet) ने प्रजातंत्र को आध्यात्मिक आदर्श माना है। **प्रोफेसर**

---

1 *Abraham Lincoln* by Charnwood, p. 361.

2 Prof. Seeley, op. cit. p. 324.

3 "Democracy is the form of Government in which ruling power of a state is legally vested, not in any particular individual or class but in the members of the community as a whole." *Modern Democracy* by Lord Bryce, Vol. I., p. 23.

4 *Law and Public Opinion*, by A. V. Dicey, p. 52.

5 *The Great State* by C. Chesterton, Hearnshaw, op. cit., p. 12.

6 See *Conservative Democracy* by Paul Kester, p. 1.

7 *The Nemesis of Mediocrity* by R. A. Grams, p. 3.

8 "Democracy is the rule of an interacting, impermeating whole ......Democracy is the fullest possible acceptance of the single life." M. P. Follet in *New State*, pp. 156-157.

गिडिंग्स[1] (Prof. Giddings) ने प्रजातंत्र को शासन और राज्य दोनों का स्वरूप माना है। वे उसे समाज का भी एक स्वरूप मानते हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि प्रजातंत्र शासन, राज्य और समाज तीनों का एक मिश्रित स्वरूप भी हो सकता है। **एच० ई० बार्न्स**[2] ने (H.E. Barnes) प्रजातंत्र को सामाजिक संघटन का एक ऐसा स्वरूप माना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति ऐसे क्षेत्रों में कार्य करने के लिए स्वतंत्र रहता है जिससे समुदाय की दक्षतापूर्ण व्यवस्था में कोई बाधा नहीं पड़ती। प्रजातंत्र में सामुदायिक नीति सब व्यक्तियों की इच्छा के अनुसार निश्चित की जाती है। **सर हेनरी मेन**[3] (Sir Henry Maine) ने प्रजातंत्र को शासन का एक विशिष्ट रूप बतलाया है। यही मत **जे० आर० लॉवेल**[4] (J. R. Lowell) का भी है।

५. प्रजातंत्र के सिद्धान्त

प्रजातंत्रवाद की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार कर लेने के बाद अब हम इस स्थिति में हैं कि प्रजातंत्रवाद के मौलिक सिद्धान्तों पर विचार कर सकें। **सी० ई० एम० जोड**[5] (C.E.M. Joad) ने प्रजातंत्रवाद के निम्न सिद्धान्तों का निरूपण किया है:—

५.१ **व्यक्ति और राज्य**—प्रजातंत्र में व्यक्ति को सब विचारों का केन्द्र माना जाता है। उसी के लिए सारे कार्य किये जाते हैं। यहाँ तक कि व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन माना गया है। लॉक, बेंथम, मिल, माण्टेस्क्यू आदि सभी विचारकों ने इस पर अत्यधिक बल दिया है। इन विचारकों का कहना है कि राज्य को वे सारे कार्य करने चाहिए जिन कार्यों को व्यक्ति अपने कल्याण के लिए नहीं कर सकता है। व्यक्ति को एक प्रजातंत्र-वादी राज्य में अपने आध्यात्मिक और भौतिक विकास के अधिकतम अवसर मिलने चाहिए।

५.२ **जनप्रतिनिधित्व**—प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि उसका हित किस बात में है और उसे कौन-सा कार्य करना या न करना चाहिए। इसलिए सबसे अच्छी तो यही व्यवस्था है कि शासन-प्रवन्ध शासित व्यक्ति स्वयं करें। लेकिन जहाँ यह संभव न हो वहाँ जनता या शासितों के प्रतिनिधियों के निर्देशानुसार शासन-कार्य किया जाय। शासन के मुख्य अंग विशेष रूप से कार्यपालिका (Executive) को इन जन-प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

५.३ **सांविधानिक परिवर्तन**—यह सिद्धान्त प्रथम सिद्धान्त की आवश्यक और अनिवार्य उपसिद्धि है। चूंकि शासन का प्रबंध जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में रहता है—इसलिए यदि

---

1 "Democracy may be either a form of Government, a form of state, a form of society or a combination of all three." Prof. F. H. Giddings in *Democracy and Empire*, p 20.

2 "Democracy is a form of social organisation in which the participation of each individual in the various phases of group activity is free from such artificial restriction as are not indispensable to the most efficient functioning of the group and in which group policy is ultimately determined by the will of the whole people. H. F. Barnes in *Sociology and Political Thought*, p. 4.

3 *Popular Government* by Sir Henry Maine, p. 59.

4 *Democracy* by J. R. Lowell, p. 20.

5 Please see *The Principles of Parliamentary Democracy* (Forum books) by C. E. M. Joad, pp. 7-8.

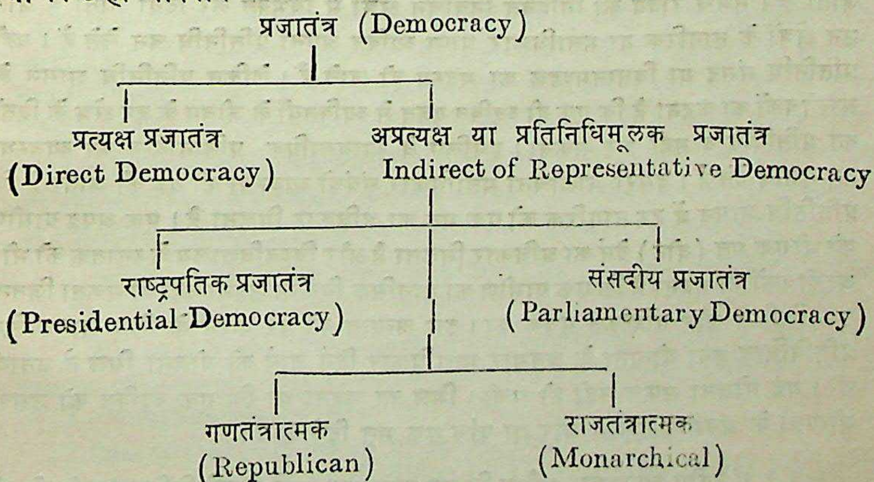
राज्य के स्वरूप या शासन के किसी अंग में कोई परिवर्तन आवश्यक हो तो वह जनता के प्रतिनिधियों या उन्हीं द्वारा बनाये गये संविधान के अनुकूल होना चाहिए। सशस्त्र क्रान्तियां या रक्तपात तथा हिंसात्मक तरीकों से कोई भी कार्य किया जाना स्पष्टरूप से वर्जित है।

५.४ **विचार-स्वातंत्र्य**—विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता प्रजातंत्र का एक अनिवार्य और मौलिक आधार माना जाता है। प्रजातंत्र में शासन जनता या जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में रहता है और चूँकि इनको शासन का अनुभव नहीं होता और जो होता है वह क्रमशः होता है इसलिए शासन को त्रुटिहीन बनाने का उपाय यही है कि वाद-विवाद और वचार-विनिमय की पूर्ण स्वतंत्रता रहे। यदि यह स्वतंत्रता नहीं रहेगी तो या तो अधिनायकवाद स्थापित हो जायगा या फिर अव्यवस्था हो जायगी।

५.५ **विधि के सम्मुख समानता**—इसके दो भाग हैं। एक तो विधि की दृष्टि में सारे नागरिक समान हैं—कोई छोटा बड़ा नहीं है। दूसरे जब तक किसी विधि न्यायालय (Court of Law) में किसी का अपराध सिद्ध नहीं हो जाता तब तक उसे शारीरिक रूप से बंदी नहीं रखा जा सकता। यह सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण है। इसी के कारण व्यक्तिवाद और पूँजीवाद को पनपने में बड़ी सहायता मिली।

६. प्रजातंत्रों के भेद

प्रजातंत्रवादी शासन का कोई एक निश्चित रूप नहीं है। उसके कई भेद हैं। प्रजातंत्र के सिद्धान्तों पर विचार कर लेने के बाद यह उपयुक्त ही होगा कि हम उसके भेदों पर भी विचार कर लें। प्रथमतः प्रजातंत्र के दो मौलिक भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष (Direct) और प्रतिनिधिमूलक अथवा परोक्ष (Representative of Indirect)। प्रतिनिधिमूलक प्रजातंत्र में भी दो पद्धतियाँ होती हैं—अध्यक्षात्मक (Presidential) और (२) संसदीय (Parliamentary)। प्रतिनिधिमूलक शासन गणतंत्रात्मक (Republican) भी हो सकता है और राजतत्रात्मक (Monarchical) भी। यह चीज नीचे के चित्र से और भी स्पष्ट हो जायगी।



६.१ **प्रत्यक्ष प्रजातंत्र**—(Direct Democracy)—प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का अर्थ है ऐसा शासनतंत्र जिसमें समस्त नागरिक शासनकार्य में स्वयं भाग लेते हों—प्रतिनिधि चुनने की प्रथा न हो। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र तभी सफल हो सकता है जब राज्य का भूमिक्षेत्र सीमित हो एवं राज्य के निवासी राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हों। इसके साथ ही राज्य

की आर्थिक-व्यवस्था ऐसी हो कि अधिकांश लोगों को फुरसत रहे और वे राजनीतिक कार्यों में अपना अधिक से अधिक समय दे सकें। प्राचीनकाल में यनान के नगर-राज्यों में इस प्रकार का प्रजातंत्र था। रोम में भी ऐसा ही था। इन दोनों स्थानों में आर्थिक-व्यवस्था का आधार दासप्रथा थी। आजकल इस प्रकार का प्रजातंत्र स्विटजरलैण्ड में है। अमेरिका के कुछ नगरों में भी यही व्यवस्था है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का सबसे बडा लाभ यह है कि इसमें सभी नागरिकों के शारीरिक और मानसिक गणों का विकास समान रूप से होता है। व्यक्तित्व निखर उठता है। **रूसो** ने इसी को आदर्श प्रजातंत्र बतलाया था। लेकिन इस प्रजातंत्र की सबसे बडी कठिनाई यह है कि देशराज्यों में जिनका भमि विस्तार और नागरिक संख्या अधिक होती है—यह संभव नहीं होता। दसरे जहाँ यह संभव भी होता है—वहाँ जनता की अनभवहीनता, भावकता तथा मानसिक अस्थिरता के कारण कोई निश्चित नीति नहीं अपनायी जा सकती। इसके अतिरिक्त दलगत पक्षपात, भेद-भाव का बोलबाला रहता है और व्यक्ति के गणों की कोई परवाह नहीं की जाती—इसीलिए **बर्क** ने प्रजातंत्र को संसार में सर्वाधिक निर्लज्ज और निर्भय कहा है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्रों के उपकरणों में (१) लोकनिर्णय (Referendum), (२) उपक्रम (Initiative), (३) पुनरावर्तन (Recall) और (४) जनमत संग्रह (Plebiscite) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रतिनिधि मूलक (अप्रत्यक्ष) प्रजातंत्र—**ए० आर० लॉर्ड** (A. R. Lord) के शब्दों में जहाँ जनता के (प्रत्यक्ष) शासन की अनपस्थिति में भी जनसत्ता हो—वहीं प्रतिनिधिमूलक प्रजातंत्र होता है। प्रतिनिधिशासन की सबसे अधिक आवश्यकता वहीं पड़ती है जहाँ राज्य का भमि-विस्तार अधिक होता है और नागरिकों की संख्या भी अधिक होती है। प्रतिनिधि शासन में विधानमण्डल के प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं और वही कार्यपालिका (Executive) की रचना करते हैं। कहीं-कहीं न्यायपालिका का भी निर्वाचन होता है। प्रतिनिधिमलक प्रजातंत्र को इसीलिए उत्तरदायी शासन भी कहा जाता है। समूचे राज्य को निश्चित निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाता है और उन क्षेत्रों के नागरिक या मताधिकार प्राप्त व्यक्ति अपना प्रतिनिधि चन लेते हैं। यही प्रतिनिधि संसद या विधानमण्डल का सदस्य हो जाते हैं। लेकिन प्रतिनिधि शासन के आलोचकों का कहना है कि एक ही व्यक्ति बहत से व्यक्तियों के जीवन के हर क्षेत्र के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसलिए वे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था का सुझाव देते हैं। दूसरी आलोचना मताधिकार संबंधी व्यवस्था की यह की जाती है कि प्रतिनिधि शासन में हर नागरिक को एक मत का अधिकार मिलता है। एक अपढ ग्रामीण को भी एक मत (वोट) देने का अधिकार मिलता है और विश्वविद्यालय के स्नातक को भी। आलोचकों का कहना है कि एक ग्रामीण का मानसिक विकास उतना नहीं हो सकता जितना एक शिक्षित और परिष्कृत यवक का। इस अन्याय को दूर करने के लिए आनपातिक प्रतिनिधित्व तथा योग्यता के अनसार मताधिकार दिये जाने की योजना **मिल** ने बनायी थी। यह योजना सफल नहीं हो सकी। **मिल** का कहना था कि एक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार एक से चार या पाँच तक मत दिये जायँ।

६.३ **संसदीय व्यवस्था**—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं प्रतिनिधि प्रजातंत्र के भी दो भेद होते हैं। एक संसदीय और दूसरा राष्ट्रपतिक। संसदीय व्यवस्था में संसद (Parliamentary) का स्थान सर्वोच्च होता है। वह देश की सबसे बड़ी विधायिनी

---

१ एथेन्स (Athens) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शक्ति (Legislative) मानी जाती है और कार्यपालिका (Executive) उसी के प्रति उत्तरदायी होती है। न्यायपालिका (Judiseiary) संसद द्वारा बनाये गये किसी कानून को अवैध घोषित नहीं कर सकती। वैसे नियुक्ति या कदाचरण (misdemeanour) के मामलों को छोड़कर न्यायपालिका अपने कर्तव्यों के पालन में बिलकुल स्वतंत्र होती है। संसदीय व्यवस्था के जन्मदाता देश इंडलैण्ड का संविधान अलिखित ही है। लेकिन ऐसे बहुत से देश हैं जहाँ संसदीय व्यवस्था होते हुए भी लिखित संविधान हैं। उदाहरण के लिए ऐसे देशों में भारत, आस्ट्रेलिया, कनाडा इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। संसदीय व्यवस्था में प्रशासन कार्य मंत्रिमण्डल के हाथ में होता है। संसदीय व्यवस्था को मंत्रिमण्डलीय व्यवस्था भी कहते हैं। उसमें ये विशेषताएँ होती हैं—(१) यथार्थ और सांविधानिक कार्यपालिका अलग-अलग होती हैं। (२) अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा मंत्रिमण्डल को अपदस्थ किया जा सकता है; (३) प्रधानमंत्री संसद और मंत्रिमण्डल का नेता होता है; (४) शासन में एकात्मता रहती है; (५) संयुक्त उत्तरदायित्व होता है; (६) दृढ़ता होती है। संसद को जनता का प्रतिनिधि माना जाता है। प्रश्न, वादविवाद आदि सरकार के कार्यों पर आन्तरिक अंकुश का कार्य करते हैं और आगामी निर्वाचन बाह्य अंकुश का। उपनिर्वाचनों के परिणाम भी सरकारी नीतियों के संशोधन, परिवर्धन की दिशा प्रशस्त करते हैं। विरोधी दल की आलोचना का बेंत तो बराबर सरकार की पीठ पर पड़ा ही करता है। ये सब अंकुश मंत्रिमण्डल को नवीन घटनाओं के प्रति अत्यन्त संचेत्य[1] रखते हैं।

लेकिन संसदीय व्यवस्था में कुछ दोष भी हैं। **लार्ड ब्राइस** ने इन पर काफी प्रकाश डाला है। सबसे **पहला** दोष तो यह है कि दल के कर्णधारों का अधिकांश समय या तो अपने दल को मजबूत करने में खर्च होता है या फिर दूसरे दल के सदस्यों को अपनी तरफ फोड़ने में। इसका नतीजा शक्ति का अपव्यय होता है क्योंकि दलबंदी के चक्कर में नेता लोग किसी रचनात्मक कार्य की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे पाते। **दूसरा,** दोष यह है कि कालान्तर में बहुमत द्वारा मंत्रिमण्डल संसद को अपना 'रबर स्टाम्प' बना लेता है। मंत्रिमण्डल संसद की मर्जी से नहीं चलता बल्कि संसद को मंत्रिमण्डल की मर्जी से चलना पड़ता है। इससे मंत्रिमण्डल की तानाशाही का खतरा बहुत ज्यादा बढ़ जाता है।[2] दलगत अनुशासन संसदीय सदस्यों के हाथ-पैर बाँध देता है। कभी-कभी उन्हें ऐसे विषयों पर भी पार्टी ह्विप (Party Whip) के कारण मत देना पड़ता है जिससे वे स्वयं सहमत नहीं होते। वे बिना दल की अनुमति या संकेत के किसी मामले को संसद में नहीं उठा पाते। **तीसरा** दोष यह है कि कभी-कभी संसद प्रशासन के दैनिक मामलों में हस्तक्षेप[3] करके मंत्रिमण्डल का कार्य करना मुश्किल कर सकती है। ऐसी अवस्था में शासनारूढ़ दल को किसी आपत्कालीन स्थिति का सामना करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ जाता है।

६.४ **राष्ट्रपतिक प्रजातंत्र**—राष्ट्रपतिक (Presidential) प्रजातंत्र प्रतिनिधि शासन

---

1 Please consult *'Parliamentary Democracy'* by H. J. Laski for full discussion esq, pp. 226-228. Also see *The British Constitution* by W. I. Jennings, pp. 10 and 11.

2 *Law of the Constitution* by A. V. Dicey. p. 484.

3 See *A Grammar of Politics* by H. J. Laski, p. 347 of. Lord Bryce's view op. cit., Vol. II, p. 5. Also of Sydney and Beatrice Webb's *A Constitution for a Social Commonwealth of Great Britain*, p. 147. Laski, op. cit.

का दूसरा रूप है। इसमें लिखित संविधान को सर्वोच्च महत्व दिया जाता है। लिखित संविधान विधान में विधानमण्डल, (Legislature), कार्यपालिका (Executive) और न्यायपालिका (Judiciary) इन तीनों की स्वतंत्र स्थिति रहती है। इस तरह के प्रजातंत्र का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण अमेरिका है। सामान्यतः राज्य का सर्वोच्च प्रवक्ता और कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्रपति माना जाता है। राष्ट्रपति का सचिवमण्डल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होता है। विधानमण्डल से उसका कोई संबंध ऐसा नहीं होता जिसके लिए सचिव विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी हों। इन अर्थों म राष्ट्रपतिक व्यवस्था लगभग संसदीय व्यवस्था की बिलकुल उलटी होती है। इसमें कार्यपालिका विधानमण्डल से प्रत्यक्षतः संबंधित न होने के कारण उसके प्रति उत्तरदायी नहीं होती। जनता की सनकों का भी कोई असर राष्ट्रपतिक व्यवस्था की कार्यपालिका पर नहीं पड़ता।

लेकिन इस व्यवस्था के दोष भी कुछ कम नहीं हैं। हर अंग अलग-अलग चलता है। शासन के तीनों अंगों में परस्पर संबंध नहीं रहता। हर कार्य में बड़ा विलम्ब लगता है।[1] परिणामतः इस व्यवस्था में राष्ट्रपति के अधिकार कभी-कभी तानाशाह जैसे हो जाते हैं। राष्ट्रपति अपने कार्यकाल में संविधान को छोड़कर अन्य किसी शासनिक अंग के प्रति उत्तरदायी नहीं होता—फलतः इस व्यवस्था को अनुत्तरदायी और अंकुशहीन भी कहा गया है।[2] सचिवमण्डल के विधानमण्डल या संसद में न बैठने के कारण कार्यपालिका सदस्यों के सम्पर्क में नहीं रहती और इस सम्पर्क के अभाव में जनता की मनोवृत्तियों का ज्ञान भी उसे नहीं हो पाता। यदि कभी न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधानमण्डल में से किन्हीं दो या तीनों में किसी बात को लेकर गतिरोध उत्पन्न हो जाय तो फिर सारा शासनयंत्र ही बेकार हो जाता है।

संसदीय व्यवस्था में अधिकांशतः राज्य का अध्यक्ष नाममात्र का राजा होता है और राष्ट्रपतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति। जो प्रजातंत्र बहुत से स्वतंत्र राज्यों के संघ से बनता है और जिसका अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है—वह गणतंत्रात्मक कहलाता है।

७. प्रजातंत्रवाद की सफलता के आवश्यक आधार

प्रजातंत्रवाद की सफलता की कुछ आवश्यक शर्तें हैं। जब तक वे शर्तें पूरी नहीं होतीं तब तक संभव नहीं है कि प्रजातंत्रवाद सफल हो जाय। सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि जनता की शिक्षा की समुचित व्यवस्था हो। शिक्षा का यह अभिप्राय नहीं है कि लोगों को लिखना-पढ़ना सिखाने की ही व्यवस्था हो—बल्कि इसका अभिप्राय यह भी है कि उनके मानसिक विकास का समुचित प्रबंध हो और सांस्कृतिक उन्नति करने के पर्याप्त अवसर हों। दूसरे बहुमत जो भी निर्णय करे—या जिस पक्ष का समर्थन करे—उसका पालन और समर्थन भी किया जाय। दूसरी शर्त यह है कि विचारों के प्रकट करने की पूरी स्वतंत्रता हो और समाचार-पत्र निर्भीक और निष्पक्ष हों—यहाँ तक कि सरकार विरोधी मत प्रकट करने पर भी उनका दमन न किया जाय। अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का ध्यान रखा जाय क्योंकि यदि उनके हितों की रक्षा न की जायगी तो वे बराबर प्रजातंत्रवादी

1 *Unforeseen Tendencies in Democracy* by Godkin, pp. 91-100

2 *Droit Constitution* by Esmein, p. 419.

३ भारत के संबंध में ऐसा नहीं है। यहाँ संसदीय व्यवस्था होते हुए भी राष्ट्रपति अध्यक्ष है।

शासन के विरुद्ध आन्दोलन करते रहेंगे। प्रत्येक वर्ग के प्रति समन्वय और समझौते की भावना रखी जाय। प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जनता की मनोवृत्तियों का बराबर ध्यान रखा जाय। विभिन्न हितों के प्रतिनिधियों के लिए राजनीतिक दलों के संघटन को प्रोत्साहन दिया जाय क्योंकि यदि ऐसा न किया गया और किसी प्रजातंत्रवादी राज्य में एक ही राजनीतिक दल रह गया तो वह शासन पर अपना कब्जा करके अपनी तानाशाही स्थापित कर लेगा और उसके जो जी में आयगा सो करेगा। इसीलिए राजनीतिक दलों को **बजहट** (Bagehot) ने प्रजातंत्रवाद की आत्मा बतलाया है। **बेंकराफ्ट** (Bancraft) ने प्रजातंत्रवाद को आदर्श व्यवस्था बतलाया है। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक दृष्टि से प्रजातंत्र में ही नागरिक को अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं। इसी प्रथा में शासन के कर्णधार अपने आपको जनता का स्वामी समझने के बजाय सेवक समझते हैं।

८. अयोग्यों का शासन (Cult of Incompetence)

लेकिन कुछ विद्वानों ने बिलकुल इसके विपरीत दृष्टिकोण अपनाया है। यह तो हम बता ही चुके हैं कि प्लेटो को प्रजातंत्रवाद पसन्द नहीं था और उसने अपने कल्पनात्मक राज्य के नाम पर प्रजातंत्र का बलिदान कर दिया था तथा अरस्तू ने अपने सर्वश्रेष्ठ राज्य 'पॉलिटी' (Polity) का एक भ्रष्ट रूप ही इसे माना था। प्रजातंत्रवाद के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण रखने की परम्परा उस समय भी समाप्त नहीं हुई जब प्रजातंत्रवाद का बहुत अधिक प्रचार हुआ और उसके समर्थन में बहुत से प्रसिद्ध विचारकों ने अपने विचार प्रकट किये। **कार्लाइल** (Carlyle) जनता को मूर्खों का समूह समझता था और यह मानने को बिलकुल तैयार न था कि वह कभी भी अपने शासकों को चुनने के योग्य हो सकती है। **एच० जी० वेल्स** (H.G. Wells) का तो यह दावा था कि वे प्रजातंत्रवाद के पक्ष में दिये जा सकने वाले समस्त तर्कों को पाँच मिनिट के अन्दर ढहा सकते हैं। **प्रोफेसर हर्नशॉ** (Prof. Hearnshaw) और **प्रोफेसर गार्नर** (Prof. Garner) ने भी प्रजातंत्रवाद के दोषों को छिपाने की कोई चेष्टा नहीं की। लेकिन प्रजातंत्र का सबसे अधिक विरोध **फगट** (Faguet) ने किया है और कहा है कि वह अयोग्यों के शासन (Cult of Incompetence) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। **फेगट** कृत्यात्मक विशेष योग्यता (Specialzation of Function) का बड़ा पक्षपाती था। वह यह ठीक नहीं समझता था कि जनता को पूर्ण अधिकार दे कर यह कह दिया जाय कि वह जो मरजी में आये सो करे। उसका कहना था कि राजकाज का हर अंग विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियों की अपेक्षा करता है और यह विशेष योग्यता, हर व्यक्ति, हर शासनिक विषय में प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए हर व्यक्ति को समान समझकर उसे मताधिकार दे देना कदापि उचित नहीं है। उसका यह भी कहना था कि जीवशास्त्र और मनोविज्ञान से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि हर व्यक्ति में समान शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्षमताएँ एवं योग्यताएं नहीं होतीं और न हर व्यक्ति समान रूप से चतुर ही हो सकता है। लेकिन प्रजातंत्रवाद सबको समानता देकर इस दृष्टिकोण की सर्वथा अवहेलना करता है।

राजनीतिज्ञों के संबंध में भी **फेगट** का मत कोई बहुत अच्छा नहीं था। वह उन्हें भेड़ की चाल चलनेवाली जनता का हरवाहा समझता था। **फेगट** के अनुसार राजनीतिज्ञ का अपना कोई मत नहीं होता, शिक्षा की दृष्टि से वह बिलकुल अधूरा होता है और राजनीति उसका पेशा होता है। यदि उसे राजनीति से हटने के लिए विवश कर दिया जायगा तो वह भूखा मर जायगा। वह अन्य कोई कार्य कर ही नहीं सकता। ऐसे राजनीतिज्ञों को **फेगट** वाक्पटु (Demogogue) कहता है। ऐसे लोग कभी जनता की मरजी के खिलाफ नहीं चलते।

अरस्तू ने कहा था कि शासन कला है। लेकिन फेगट का कहना है कि आजकल प्रजातंत्र में जो व्यक्ति शासनकार्य चलाते हैं उन्हें न शासन-कला (Art of Government) का ज्ञान रहता है और न विज्ञान का। वे निपट नौसिखिए होते हैं।

विधानमण्डल को ही ले लीजिए। विधानमण्डल का कर्तव्य विधियाँ बनाना होता है। लेकिन विधानमण्डल के अधिकांश सदस्यों को विधियों के दर्शन या विज्ञान का कोई ज्ञान नहीं होता। वे केवल अपने दल द्वारा उपस्थित किये गये विधेयकों को ही जानते हैं। ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि विधानमण्डल में जो प्रतिनिधि प्रजातंत्रवादी प्रणाली से चुन कर जाते हैं वे सर्वथा अयोग्य होते हैं।

प्रधानमंत्री का निर्वाचन विधानमण्डल के सदस्यों में से होता है। प्रधानमंत्री कभी-कभी ऐसा भी व्यक्ति चुन लिया जाता है जिसे शासनकार्य का कोई ज्ञान नहीं होता और वह केवल अपने सेक्रेटरियों के संकेतों पर नाचता है। प्रधानमंत्री के अधिकांश सहयोगियों का भी वही हाल रहता है। परिणाम यह होता है कि ये लोग ऐसे कार्य करते हैं जो दो दिन बाद ही निरर्थक हो जाते हैं और उनमें संशोधन किये जाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगती है। संसार भर के प्रजातंत्रवादी राज्यों की संसदों में नित्य पारित होने-वाली विधियाँ और संशोधन विधायकों की सूची उठा कर देख लीजिए--कार्यपालिका (Executive) की अयोग्यता का प्रमाण मिल जायगा।

जिन प्रजातंत्रवादी राज्यों में न्यायपालिका (Judiciary) के सदस्यों और अधिकारियों का भी निर्वाचन होता है और नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर न होकर दल-गत स्वार्थ-सिद्धि के निर्देशानुसार होती हैं—वहाँ न्यायाधीशों का भी अयोग्य होना स्वाभाविक है। ऐसे प्रजातंत्र में न्यायशास्त्र की इस प्रसिद्ध लोकोक्ति का भी परित्याग कर दिया जाता है कि "अनुभव व्यक्ति को योग्य बनाता है।" चुनाव की प्रणाली के कारण बड़े-बड़े अनुभवी न्यायाधीशों को हटा दिया जाता है। यदि वे सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के पक्ष में नहीं होते उनकी जगह नये व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं।

ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही है कि लोगों की नैतिकता और उनके चरित्र का पूरी तरह विकास न हो पाये और इन दोनों का मानदण्ड गिरे।

लेकिन **फेगट** का यह दृष्टिकोण अत्यन्त एकांगी और पक्षपातपूर्ण है। यह सच है कि आरंभ में इस प्रकार की बातें अवश्य होती होंगी लेकिन उनका एक दूसरा भी पक्ष है। वह है उससे होने वाले काम। इससे कोई इन्कार नहीं करता कि प्रजातंत्रवाद सदोष है लेकिन अन्य व्यवस्थाएं तो प्रजातंत्रवाद से भी अधिक दोषपूर्ण हैं। प्रजातंत्रवाद के बहुत से दोष तो उसकी तरुणता और अनुभवहीनता के कारण हैं। ज्यों-ज्यों प्रजातंत्रवाद का प्रयोग-काल बढ़ता जायगा—ये दोष भी—जो अपरिपक्वता के कारण हैं क्रमशः दूर होते जायँगे। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसको जनता की सहायता से दूर न किया जा सके।[1] यह कहना किसी भी प्रकार ठीक नहीं है कि अपने उक्त दोषों के कारण प्रजातंत्रवाद समाप्त हो जायगा। ऐसा कहना मानवजाति की प्रगति के सर्वमान्य सिद्धान्तों के प्रति अनास्था प्रकट करना है।[2] प्रजातंत्रवादी अनुभूतिमूलक है।[3] अनुभूति से व्यावहारिक ज्ञान

---

1 *Political Science and Constitutional Political* by J. W. Burgess, Vol. I, Prof. Garner, op. cit., p. 390.

2 *Popular Government* by Sir Henry Maine, p. 147.

3 *Introduction to Political Science* by R. G. Gettell, p. 101.

क्रमशः बढ़ता ही चलेगा––घटेगा नहीं। जनता की इच्छाओं के सम्पर्क[1] में रहना प्रजातंत्रवाद की इसी विशेषता की ओर संकेत करता है। प्रजातंत्रवाद का एक और लाभ यह भी है कि उसमें समाज के विकास के साथ ही परिवर्तन स्वतः होते जाते हैं––इस बात की आवश्यकता नहीं पड़ती कि रक्तपातमय क्रान्तियाँ हों।[2] देशप्रेम की भावना भी इसी पद्धति द्वारा उत्पन्न होती है। राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में भी इससे बड़ी सहायता मिलती है। और अन्त में सभी अभिनव प्रयोगों में आरंभ में थोड़ी वहुत दुर्घटनाएँ और बुराइयाँ होती हैं। लेकिन इस भय से नयी बातों को छोड़ देना वैसी ही भूल होगी जैसे दुर्घटनाओं के भय के कारण हवाई जहाज का प्रयोग छोड़ देना। **टी० वी० स्मिथ** (**T.** V. Smith) का कहना है कि दोषपूर्ण आधुनिक प्रजातंत्रवाद में रहना अधिनायकवाद के नरक में रहने से कहीं अधिक अच्छा है।

९. प्रजातंत्रवाद की समस्याएँ और भविष्य

प्रजातंत्रवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि लोकप्रिय सत्ता को बुद्धिमत्तापूर्ण शासन से किस प्रकार समन्वित किया जाय। इस पर सबसे बड़ा आरोप यह लगावा जाता है कि उसने व्यक्तिवादी शोषण की मात्रा को बढ़ाया है और संसार भर में साम्राज्यवाद का प्रसार किया है। यह ऐसा आरोप है जो अभी तक गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता है। ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड आदि देशों का प्रजातंत्रवादी इतिहास तो कम से कम यही बतलाता है। प्रजातंत्रवाद ने अपने दमन में शोषण और साम्राज्यवाद को स्थान देकर मानवता के दमन में और बृद्धि की है। सभी विचारक क्रमशः यह अनुभव करते जा रहे हैं कि उक्त दुख-दैन्य की समस्याओं को सुलझाने में प्रजातंत्रवाद क्रमशः असमर्थ सिद्ध हो रहा है। बोल्शेविक क्रांति के रूप में प्रजातंत्रवाद को पहली चुनौती मिल चुकी है। विभिन्न समाजवादी, अधिनायकवादी और अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराएँ भी प्रजातंत्रवाद को ललकार रही हैं। अब प्रजातंत्रवाद का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझा पाता है या नहीं।

---

1 *Ibid.*

2 Sidgwick, op. cit., 615.

फासी और नाजीवाद
(FASCISM AND NAZISM)

प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में बार अधिनायकवादी क्रान्तियाँ हुईं। सबसे पहली रूस में हुई, जिसने श्रमजीवियों का अधिनायकतंत्र स्थापित किया। दूसरी तथा तीसरी जर्मनी और इटली में हुई--तथा चौथी क्रान्ति स्पेन में हुई। पहली क्रान्ति के संबंध में हम यहाँ विचार नहीं करेंगे क्योंकि साम्यवाद वाले अध्याय में हम इस संबंध में पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। दूसरी तथा तीसरी क्रान्तियों के फलस्वरूप नाजी और फासीवाद का जन्म हुआ। स्पेन की क्रान्ति के फलस्वरूप जो अधिनायक तंत्र स्थापित हुआ—वह भी फासीवाद से काफी मिलता-जुलता है—अतः, फासीवाद के साथ ही उसके स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ जायगा। सबसे पहले हम फासीवाद पर विचार करेंगे और इसके बाद नाजीवाद पर।

फासीवाद नागरिक जीवन की एक नयी कल्पना का प्रतीक है। इस 'वाद' ने राज्य की प्रकृति का एक नये सिरे से अभिनवीकरण किया है और राज्य तथा व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों को भी एक नये सिरे से स्थिर किया है। फासीवाद का जन्म एक नयी संस्कृति का विधाता है।[1] यह आन्दोलन एक समय विश्वव्यापी हो गया था। लेकिन इसकी विचारधारा के मूलतत्व इटली में ही सबसे पहले विकसित हुए। निषेधात्मक दृष्टि से फासीवाद, प्रजातंत्र, उदारतावाद और समाजवाद के सभी आदर्शों, धारणाओं और पद्धतियों का घोर विरोधी है। वह इस बात में बिल्कुल विश्वास नहीं करता कि शासन और राज्य की समस्याओं को वाद-विवाद द्वारा सुलझाया जा सकता है। वादविवादों के प्रति प्रदर्शित इस विरोध के कारण फासीवाद में अबौद्धिकतावादी त्रुटियाँ भी उत्पन्न हो गयी हैं। इटली का फासीवाद वहाँ के मध्यवर्गीय समाज के हितों का प्रतिनिधित्व करता था और कट्टरतावादी आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करता था। वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति—दोनों का विरोधी था। वह हमेशा राष्ट्रीय-जेहाद का संदेश अपने अनुयायियों को देता रहता था। शक्ति-संचय को वह सबसे अधिक महत्व देता था। ऊपर हम बतला आये हैं कि फासीवाद प्रजातंत्रवाद और समाजवाद का विरोधी है। इनके साथ ही वह व्यक्तिवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, पूँजीवाद तथा संसदीय व्यवस्थाओं का भी विरोध करता है। साम्यवाद का तो वह विशेषरूप से शत्रु है।

१. फासीवादी का अर्थ

फासीवाद अंग्रेजी के 'फासिज्म' (Fascism) शब्द का अनुवाद है। 'फासी' शब्द लैटिन भाषा का है जिसका अर्थ छड़ियों का बण्डल या समूह और एक कुल्हाड़ी होता

---

१ इस संबंध में प्रजातन्त्रवादी दृष्टिकोण की जानकारी प्राप्त करने के लिए पढ़ें: *Fasim Culture by* John Strechy.

है। प्राचीन रोमवासी इसे अनुशासन का प्रतीक मानते थे लेकिन मुसोलिनी ने फासीवाद की अपने दृष्टिकोण से इस प्रकार व्याख्या की है—"फासीवाद कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसकी प्रत्येक बात को विस्तारपूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो। फासीवाद का जन्म कार्य किये जाने की आवश्यकता के कारण हुआ—इसलिए फासीवाद सद्धान्तिक होने के बजाय आरंभ से ही व्यावहारिक है।" सन १९२४ में मुसोलिनी ने एक लेख लिखा था जिसमें उसने कहा था, "हम फासीवादियों में परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तवादियों की मान्यताओं को तोड़ने का साहस है। हम आभिजात्यतंत्रवादी भी हैं और प्रजातंत्रवादी भी, क्रान्तिकारी भी हैं और प्रतिक्रियावादी भी, श्रमजीवी भी हैं और श्रमिक विरोधी भी, शान्तिवादी भी हैं और शान्ति विरोधी भी। इतना ही काफी है कि हम लोगों का एक स्थिर दृष्टिबिन्दु है—राष्ट्र। और सब बातें वाद की हैं।"[1] जब मुसोलिनी ने सन् १९१९ में यह तय किया कि फासीवाद को प्रेरणा देनेवाले कुछ सिद्धान्त होने चाहिए तो यह कार्य लगभग राजाज्ञाओं द्वारा हुआ। उसने यह सारा कार्य दो महीनों में करा डाला। इन सिद्धान्तों के आधार पर फासीवाद का जो दर्शन बना—उसे बहुत से विचारक दर्शन (Philosophy) की संज्ञा देने को ही तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि फासीवाद का कोई दर्शन ही नहीं है। यही बात वे नाजीवाद के संबंध में भी कहते हैं। फासी और नाजीवाद की पद्धतियाँ आतंकवाद पर आधारित हैं और इन आन्दोलनों के नेताओं का सत्तारूढ़ रहना ही एकमात्र उद्देश्य रहता है। आलोचकों का यह कथन एक सीमा तक ठीक है लेकिन उनका यह कहना ठीक नहीं कि फासीवाद का अपना कोई दर्शन या सिद्धान्त ही नहीं है। इस संबंध में **प्रोफसर केटलीन** का यह मत अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है, "यह इन्कार करना कि फासीवाद का कोई सिद्धान्त ही नहीं है, निरर्थक है।" फासीवाद का अपना एक बहुत ही निश्चित सिद्धान्त है और वह यह कि फासीवादी व्यक्तिगत सत्ता पर सबसे अधिक बल देते हैं। अपनी जगह यह कोई कम बड़ा सिद्धान्त नहीं है। इसी आधार पर फासीवादी शासकों ने एक बार घोषणा की थी कि इटली में केवल फासीवाद शासन ही स्थापित नहीं हो गया है बल्कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भी वह पूर्ण है।[2] कोई भी व्यवस्था बिना किसी मौलिक विचारधारा के अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती और फासीवाद तथा नाजीवाद दोनों की अपनी एक निश्चित सिद्धान्तावली है। हम उस सिद्धान्तावली की आलोचना कर सकते हैं लेकिन उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते। **जी० एच० सेवाइन** भी फासी और नाजीवादी दर्शन के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सके हैं।

---

1 "We Fascists have had the courage to discard all traditional political theories and we are aristocrats and democrats, revolutionaries and reactionaries, proletarians and anti-proletarian, pacifist and anti-pacifists. It is sufficient to have a single fixed point, the Nation, the rest is obvious." Mussolini in a speech as quoted by Franz Neuman Behemoth, pp. 462f.

2 Quoted by R. H. Solteau in *An Introduction to Politics*, p. 305.

3 "The fascist hero, especially in defeat, was a taudry figure, and the fascist philosophy was no doubt a vulgarization and a caricature, but like all caricatures it resembled something real. For better or worse it belonged to the evolution of European political ideas and practice and in that sense it was a philosophy." G. H. Sabine in *A His. of Pol. Theories*, p. 771.

मुसोलिनी ने लिखा है, "फासीवाद एक धार्मिक कल्पना है जिसमें व्यक्ति को एक उच्चतर कोटि की विधि से संबंधित देखा जाता है। यह विधि व्यक्ति की लक्ष्यात्मक इच्छा होती है और वह उसे एक आध्यात्मिक समाज की जागरूक सदस्यता प्रदान करती है।" इसे हम हीगलवादी राज्य की आधुनिक व्याख्या कह सकते हैं। फासीवाद एक ओर तो मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को अस्वीकार करता है और दूसरी ओर प्रजातांत्रिक व्यक्तिवाद को। फासीवाद का अंतिम और मौलिक आधार है— राष्ट्र। राष्ट्र को ही वह सबसे बड़ा नैतिक जीव मानता है।

इसीलिए **ज० एस० बार्न्स** (J. S. Barnes) ने लिखा है, "फासीवाद की एक ऐसे राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन के रूप में व्याख्या की जा सकती है जिसका उद्देश्य एक नयी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है। इस व्यवस्था का मौलिक आधार वे परम्पराएँ हैं जो हमारी यूरोपियन सभ्यता की रचना करती है। इन परम्पराओं का निर्माण सबसे पहले रोमन साम्राज्य ने किया था और इसके बाद रोमन कैथोलिक चर्च ने। इसके विपरीत फासीवाद को व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का खण्डनकर्ता भी माना जा सकता है। यह प्रवृत्ति सबसे पहले मूर्तिवादी आन्दोलन के पुनरोदय में प्रकट हुई थी, इसके बाद सुधारवादी आन्दोलन में और तब फ्रांस की राज्यक्रान्ति में।[1] फासीवाद ने स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के विरुद्ध उत्तरदायित्व, अनुशासन और व्यवस्था का नारा लगाया। मुसोलिनी का कहना था, 'फासीवाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रजातान्त्रिक उदारतावाद से बचने का एकमात्र मार्ग है।' वह यद्भाव्यम् नीति की मृत्यु का भी संकेत करता है।

फासीवाद की विशेषताओं को कल्पनात्मक विश्लेषण द्वारा समझना बड़ा कठिन है। चाहे सकारात्मक दृष्टि से देखा जाय अथवा नकारात्मक दृष्टि से उसमें कुछ ऐसे तत्व अवश्य हैं जो अन्य राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में भी समान रूप से पाये जाते हैं। यदि फासीवाद की परिभाषा केवल इतनी-सी ही कर दी जाय कि वह उदारतावाद (Liberalism) और संसदीय व्यवस्था का विरोधी है, तो साम्यवाद (Communism) से फासीवाद का पूर्ण अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाता क्योंकि साम्यवादी भी पुरानी प्रजातंत्रवादी व्यवस्था के तत्वों का उतना ही विरोध करते हैं जितना फासीवादी। फासीवादी की अन्य प्रशासनिक संघटनों से सादृश्यता 'अन्तर्राष्ट्रीय फासीवाद' द्वारा की जाती है। युद्ध के बाद फासीवाद अब ऐसी व्यवस्था के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता जो लोकप्रिय हो, वह अब एक अपमानास्पद राजनीतिक विशेषण समझा जाता है।

२. फासीवाद का इतिहास

फासीवाद अधिनायकवाद का ही एक रूप है। आधुनिक अधिनायकवाद का सैद्धान्तिक दृष्टि से जन्म फ्रांस की राजक्रान्ति के दौरान में हुआ था। फासीवाद आधुनिकता का

---

1 "Fascism may be defined generally as a political and social movement having as its objects the re-establishment of a political and social order based upon the main currents of traditions that have formed European civilization, traditions created by Rome, first by the Empire and subseqently by the Catholic church. Conversely Fascism may be described as the repudiation of the individualist mentality that found expression first in the Pagan Renaissance, then in the Reformation and later in the French Revolution." J. S. Barnes in *The Universal Aspects of Fascism*, p. 35.

विरोधी है। उसका यह विरोध **जौसेफ डी मेस्त्रे** (Joseph De Maistre) के विचारों में अभिव्यक्त होता है जिसे सबसे पहला अधिनायकवादी विचारक माना जाता है। **मेस्त्रे** फ्रांस की राजक्रान्ति का विरोधी था और उसका कहना था कि सद्गुणों और क्रान्ति में स्वाभाविक विरोध है। वह समानता को भी नहीं मानता था। उसका कहना था कि समाज अनिवार्यतः असमानता पर आधारित है। लेकिन इन विचारों से फासीवाद के उद्गम पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। फासीवाद की उत्पत्ति तब समझ में आती है जब हम इन विचारों को विशुद्ध इटालियन दृष्टिकोण से देखते हैं। फासीवाद आधुनिकता विरोधी है। वह मनुष्य की स्वाभाविक असमानता में तो विश्वास करता ही है साथ ही श्रम संघवाद (Syndicalism) और इटली के अति उग्र राष्ट्रीयतावाद का पुट भी उसमें देखने को मिलता है। बाद में फासीवादी विचारधारा से श्रमसंघवाद का प्रभाव कम हो गया लेकिन राष्ट्रीयता का उग्र रूप वैसा ही बना रहा। फासीवाद के प्रचार के साथ ही राष्ट्रीयतावाद का प्रचार भी बढ़ा। राष्ट्र क्रमशः रहस्यवादी होता चला गया और फासीवादी उसे पीढ़ियों से चली आनेवाली एक ऐसी अटूट शृंखला मानने लगे जो केवल ऐतिहासिक प्रतिक्रियाओं द्वारा ही बन पाती है।

फासीवाद को जन्म देनेवाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी उल्लेखनीय हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद इटली में जो भयानक आर्थिक और राजनीतिक संकट आये थे—उनके बीच फासीवाद पैदा हुआ और पला। युद्ध की पराजय ने इटली को कहीं का न रखा। युद्ध के दौरान में तथा उसके बाद इटली के सारे उपनिवेश छिन गये। एड्रियाटिक सागर भी इटली के हाथ से निकल गया। शांति संधि से जो असंतोष इटली में था सो तो था ही वित्तीय और आर्थिक कठिनाइयों से सारा देश बौखला-सा गया। राष्ट्रीय आय बहुत अधिक घट गयी।

मार्च सन् १९१९ में बेनिटो मुसोलिनी ने फासीवाद (Fascidi Combattiments) की स्थापना की। इस दल का उद्देश्य राजसत्ता के सूत्र को अपने हाथ में लेकर उसका प्रयोग राष्ट्रीय हितों में करना था। इस दल में राष्ट्रीयतावादियों के अतिरिक्त श्रमसंघवादी भी थे। कुछ अन्य तत्व भी थे। इस दल ने सन् १९२२ में २८ अक्टूबर को रोम पर कब्जा कर लिया और शासनसूत्र को हथिया लिया। मुसोलिनी के शब्दों में उस दिन से इटली का सुनहला इतिहास आरंभ हुआ। बाइस वर्षों बाद लगभग उसी दिन इटालियन जनता के एक सैनिक दल ने सन् १९४४ में मुसोलिनी को गोली से उड़ा कर उस "सुनहले इतिहास" का अन्त कर दिया। लेकिन यह सोचना भूल होगी कि फासीवादी विचारधारा का भी मुसोलिनी के पतन के साथ ही अन्त हो गया। फासीवादी विचारधारा **मेकियावेली** के विचारों के बाद इटली की अन्तर्राष्ट्रीय समाज को दी गयी सबसे बड़ी भेंट है। फासीवाद अब भी मित्रराष्ट्रीय पक्ष के अनेक देशों में अवशिष्ट है। बाइस वर्षों तक फासीवादी शासन इटली में चलता रहा और वह अपदस्थ न किया जा सका। इसका यह कारण न था कि फासीवाद अत्यन्त गुण-सम्पन्न था बल्कि यह कि फासीवाद का विरोध करनेवाला कोई शक्ति ही इटली में नहीं थी। जिस समय फासीवादी दल ने सत्ता ग्रहण करने के लिए हाथ बढ़ाया—उस समय भी उसके न तो कोई निश्चित सिद्धान्त थे और न कोई रचनात्मक कार्य-क्रम। उसने देश से एक ही वादा किया और वह था कि इटली को साम्यवाद के चंगुल में न पड़ने दिया जायगा। सत्ता हस्तगत करते ही फासीदल ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना आरंभ कर दिया और यह प्रयत्न किया कि वह पदारूढ़ बना रहे। फासीदल के नेताओं के पास इतना समय नहीं था कि वे फासीवाद के दर्शन (philosophy) की रचना की तरफ ध्यान देते। वह सब करने के बाद जब फासीदल के नेताओं ने

सिद्धान्तों के अभाव से उत्पन्न होनेवाले खतरों को देखा तो बाद में फासीवाद दर्शन के निर्माण की तरफ मुसोलिनी ने ध्यान दिया। इस प्रकार की सिद्धान्त-रचना में यह ध्यान खासतौर से रखा गया कि हर हालत में फासीदल द्वारा सत्ता हस्तगत करने का औचित्य ही सिद्ध हो। लेकिन भूतपूर्व पत्रकार मुसोलिनी ने यह कार्य अपनी प्रतिभा की बदौलत बड़ी योग्यता से सम्पादित किया और आज वह फासीवादी विचारधारा का सबसे बड़ा विचारक माना जाता है। मुसोलिनी के अलावा इटालियन विश्वविद्यालयों के कुछ आचार्य भी थे जिन्होंने फासीवाद की विचारधारा की रचना में मूल्यवान् योग दिया। इन आचार्यों को राजकाज की व्यवस्था में मुसोलिनी ने अत्युच्च पद दिये थे। इन विचारकों में एल्फ्रेडो रोक्को (Alfredo Rocco) आदि जैसों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रो० रोक्को पेदुआ विश्वविद्यालय में विधि (Law) के आचार्य थे। बाद में इनको मुसोलिनी ने अपना न्यायमंत्री बना दिया था। इनके अलावा **जिओवानी जेण्टाइल** (Giovanni Gentile) का नाम भी उल्लेखनीय है जो हीगलवादी विचारक थे और सन् १९२२ से २४ तक मुसोलिनी के मंत्रिमण्डल में शिक्षा मंत्री के पद पर रहे।

३. फासीदर्शन के स्रोत

फासीदर्शन के प्रभाव-स्रोतों का विश्लेषण करना कोई सरल कार्य नहीं है। फासीदर्शन कई विचारधाराओं का ऐसा मिश्रण है जिसमें प्रत्येक प्रभावसत्र के तत्वों को बड़ी चतुरता से मिलाया गया है। सामान्यतः, फासीदर्शन **मैकियावली, हॉब्स, फिक्टे, हीगल, ट्रीट्स्के, नीत्शे, मार्क्स, सोरेल, शॉपनहॉवर, बर्गसन, जेम्स** और **पेरेटो** से प्रभावित हुआ है। एक विशिष्ट दृष्टिकोण से **रूसो** ने भी फासीदर्शन को प्रभावित किया है। **बर्ट्रेण्ड रसल** ने एक बार कहा था कि **चर्चिल** और **रूजवेल्ट लॉक** के शिष्य भर ही हैं जब कि **मुसोलिनी** और **हिटलर, रूसो** के अनुयायी हैं। फासी विचारधारा मत की स्थिरता और स्थायित्व को कोई गुण नहीं मानती। फासीवादी कहते हैं कि सिद्धान्त-रचना का उनका उद्देश्य किसी स्थायी विचारधारा का निर्माण करना नहीं है बल्कि कुछ ऐसे निर्देशक सिद्धान्त बना देना है जो व्यावहारिक हो। मुसोलिनी का कहना था कि फासीदर्शन आज के लिए और केवल आज के लिए ही है। फासीवादी किसी "रूढ़िवादी कार्यक्रम में विश्वास नहीं करते।" फासीवादी समय के अनुसार हर वस्तु में परिवर्तन कर देते हैं तदनुसार ही जीवन व्यतीत करते हैं और कार्य करते हैं।

४. फासीवाद की विशेषताएँ

फासीवादियों के राज्य, समाज, व्यक्ति आदि संबंधी विचारों की चर्चा करने के पूर्व यह उपयुक्त ही होगा कि फासीदर्शन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर दिया जाय।

४.१ **राष्ट्र को सर्वोच्च स्थान**—फासीवाद राष्ट्र को सर्वोच्च स्थान देता है। राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता को वह पूजा की वस्तु समझता है। प्रजातंत्रवादियों, उदारतावादियों और समाजवादियों की तुलना में, एक फासीवादी की दृष्टि से नागरिक राज्य पर सबसे अधिक निर्भर करता है और इसलिए राज्य का व्यक्ति पर सब भांति अधिकार है। किसी व्यक्ति को उसका विरोध नहीं करना चाहिए। राज्य ही लक्ष्य है और व्यक्ति उस लक्ष्य की पूर्ति का साधन। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों को साधन बनाकर राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करे। प्रजातंत्र और उदारतावाद व्यक्ति के हितों पर अधिक ध्यान देते हैं और व्यक्ति की स्वतंत्रता की गारण्टी को ही शासन (Government) का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। समाजवादी श्रमजीवी वर्ग के हितों की रक्षा का नारा लगाते हैं और

1 See *Mussolini's Italy* by H. Finner pp. 17-18.

व्यक्ति के आर्थिक हितों की रक्षा के पक्ष में आवाज बुलन्द करते हैं लेकिन फासीवादी राष्ट्रीय हित के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने का लक्ष्य जनता के सामने रखते हैं। फासीवादी किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष की आवश्यकताओं या हितों की रक्षा करने का दावा नहीं करते—जैसा कि अन्य 'वाद' करते हैं; वह राज्य के कल्याण के लिए वर्ग और व्यक्ति के हितों का वलिदान करना सिखाते हैं क्योंकि राज्य की प्रकृति उनकी दृष्टि से सावयवी है और राष्ट्र का महत्व किसी भी व्यक्ति से अधिक है। राष्ट्र भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों पीढ़ियों की शृंखला का प्रतीक है।

४.२ **कृत्यात्मक प्रतिनिधित्व**—फासीवाद निगमात्मक राजदर्शन (Theory of Corporative State) में विश्वास करता है। वह राज्य को व्यक्तियों का समूह नहीं मानता बल्कि ऐसे व्यक्तियों की शृंखला मानता है जो एक ही राष्ट्रीयता में विश्वास करते हैं। फासीवादियों का यह भी कहना है कि नागरिकों का प्रतिनिधित्व भूमि-क्षेत्रों के आधार पर नहीं होना चाहिए। प्रतिनिधित्वों का आधार राष्ट्रीय समुदाय या जातीय इकाइयाँ होनी चाहिए। इस प्रकार फासीवाद एक विशिष्ट रीति के कृत्यात्मक प्रतिनिधित्व में विश्वास करता है।

४.३ **सामान्य इच्छा** (General Will) **संबंधी प्रजातंत्रवादी धारणा का बहिष्कार**—लोकप्रिय संप्रभुता की कल्पना को फासीवाद नहीं मानता। फासीवाद यह भी नहीं मानता कि निर्वाचनों द्वारा सामान्य इच्छा को जाना जा सकता है। वे सामान्य इच्छा को इरादों का प्रश्न मानते हैं। मतदान में मतगणनाओं द्वारा कोई 'इरादा' (motive) स्थिर नहीं किया जा सकता, इसलिए निर्वाचन व्यर्थ हैं। निष्पक्ष शासनतंत्र स्थापित करने का सबसे अच्छा मार्ग यही है कि शासनसूत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथ में दे दिया जाय जिनमें सामाजिकता की भावना स्वभावतः हो, जो स्वभावतः देशभक्त हों और जिनकी नैतिकता पर कोई संदेह न किया जा सके। क्योंकि हर समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या अत्यन्त सीमित होती है—इसलिए फासीवाद आभिजात्यतंत्र में विश्वास करता है। वह प्रजातंत्रवादी व्यवस्था द्वारा चुने गये शासकों की कार्य-क्षमता और दक्षता में विश्वास नहीं करता। सर्व-साधारण में यह योग्यता नहीं होती कि वे किन्हीं ऐसे व्यक्तियों को शासक चुन सकें जिन्हें विभिन्न वर्गों के हितों में सामंजस्य स्थापित करने का नियमित अभ्यास हो। इस प्रकार राजनीतिक आभिजात्यतंत्र ही फासीवादियों का आदर्श है।

४.४ **वीर पूजा**—फासीवादी दर्शन वीरपूजा (Leader Worship) पर बहुत जोर देता है। वीरपूजा में अंधश्रद्धा की भावना होती है। अंध श्रद्धा उत्पन्न करके जनता को साथ लेने का मनोविज्ञान फासीवादी विचारकों ने सर्वोत्तम समझा। उन्होंने बराबर जनता को यह समझाया कि तानाशाह अजेय होता है। कुछ दिनों तो इटली का राष्ट्रीय नारा ही हो गया था कि "मुसोलिनी हमेशा ठीक सोचता और ठीक करता है।" इस नारे ने मुसोलिनी के अनुयायियों को बड़ा बल दिया—इसमें शक नहीं। मुसोलिनी के प्रति उनमें बड़ा गहरा विश्वास उत्पन्न हो गया था। वे मुसोलिनी की आज्ञा को दैवी आज्ञा और उसके पथप्रदर्शन को दैवी पथप्रदर्शन समझते थे। सन् १९२६ में इटली के फासीदल ने घोषणा की थी—"मुसोलिनी हमारे पहले और सबसे महान् राष्ट्र-नेता हैं और वह राष्ट्र की समस्त रचनात्मक इच्छाओं के स्रोत हैं।"

४.५ **बलप्रयोग को सर्वाधिक महत्व**—फासीवादी शक्ति-प्रयोग को सबसे अधिक महत्व देते हैं। जो व्यक्ति बल का क्रूरतापूर्वक प्रयोग नहीं कर सकता। वह फासीवादियों के अनुसार राज्य के उच्चतम आसन को सँभालने योग्य नहीं है। विरोधियों को आग्रह, वाद-विवाद या समझाने-बुझाने से अपनी तरफ नहीं मिलाया जा सकता। न प्रजा ही ऐसे

शासन के प्रति स्नेह या श्रद्धा प्रकट कर सकती है जो पाशविक-बल का प्रयोग न कर सकता हो इस प्रकार फासीवादी विचारकों ने हिंसात्मक साधनों के प्रयोग के औचित्य को सिद्ध किया है। अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को फासीवादी आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य मानते हैं। उनके मतानुसार युद्धों से किसी प्रकार बचा ही नहीं जा सकता।

४.६ **व्यवस्था, अनुशासन और श्रद्धा**—फासीवाद समानता, स्वतंत्रता और बंधुता के प्रजातंत्रवादी आदर्शों को त्याज्य समझता है। वह इनका स्थान व्यवस्था, अनुशासन और श्रद्धा को देता है। व्यक्ति के जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिसमें शासन हस्तक्षेप न कर सके। राज्य के प्रति इतनी श्रद्धा होनी चाहिए कि यदि आवश्यकता पड़े तो लोग बड़े से बड़े हित का बलिदान सहर्ष कर दें। इस प्रकार फासीवादी राज्य सदैव अधिनायकवादी और सर्वाधिकारवादी होता है। एक ही व्यक्ति की इच्छा पर सारा शासन-यंत्र घूमता है। इसीलिए मुसोलिनी बहुधा 'मेरे आदेश' 'मेरा पथ-प्रदर्शन' आदि जैसे शब्दों का प्रयोग किया करता था।

४.७ **अनिवार्यतः श्रमिक हित विरोधी दर्शन**—फासीवाद ऐसा दर्शन है जो अनिवार्यतः श्रमजीवी वर्ग के हितों का विरोध करता है लेकिन वह यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करता। वह श्रमिक और स्वामी—इन दोनों के सामने अपने अलग-अलग चित्र उपस्थित करता है। श्रमजीवियों से वह कहता है कि वह पूंजीवाद का हिमायती नहीं है, पूँजीवादी वर्ग से कहता है वह समाजवाद नहीं चाहता। इस प्रकार वह पूंजीवाद और समाजवाद के बीच एक तीसरा तथाकथित हल सामने रखता है।[1] इस हल को फासीवादियों ने इटली में "निगमात्मक राज्य" (Corporate State) कहा और नाजीवादियों ने जर्मनी में इसे राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) का संज्ञा दी। लेकिन व्यवहार में देखा गया कि फासीवाद ने श्रमजीवियों के बजाय पूंजीवादियों का साथ ही अधिक दिया। फासीवाद एक ऐसा नया पद्धति निकालने में सफल हुआ जिसमें मजदूर वर्ग का दमन किया गया और पूंजीवादी हितों के हाथ में सत्ता कायम रही। फासीवाद ने एक मुनाफाखोर समाज बनाया जिसमें एक ही वर्ग था और यह वर्ग शोषण पर जिन्दा था। फासीवाद की सफलता का एक कारण यह था कि फासीवादी दल अनिवार्यतः एक ऐसे मध्यवर्ग की इच्छाओं का प्रतिनिधि था जो साम्यवाद के खतरों के प्रति अत्यन्त सचेत था। अपनी इसी विशेषता के कारण समूचे पूंजीवादी वर्ग ने उसका साथ दिया। यदि फासीदल को यह सहायता न मिल पाती तो उसका दिवाला निकल जाता और आर्थिक विपन्नता उसकी कमर तोड़ देती। फासीदल को इटली के पूंजीपतियों ने विपुल आर्थिक सहायता दी और इसके बदले में मुसोलिनी ने पूंजीपतियों के हितों का मजदूरों की हड़तालों को निषिद्ध घोषित कर रक्षा की। सभी प्रकार के प्रदर्शनों, जुलूसों आदि पर प्रतिबंध लगा दिये। लेकिन अपने आप को श्रमजीवी शुभचिन्तक प्रदर्शित करने के लिए उसने कुछ निःशुल्क सिनेमा-गृहों, छुट्टियाँ मनाने के केन्द्रों आदि को खोला। बेकारी दूर करने का उपाय युद्ध को समझा। इस संबंध में मुसोलिनी के एक भाषण का निम्न उद्धरण उल्लेखनीय है—"फासीवाद न तो शाश्वत शांति की स्थापना को संभव मानता है और न उसकी उपयोगिता ही में कोई विश्वास करता है। युद्ध ही एकमात्र ऐसा साधन है जो मानवीय शक्ति को

1 "Fascism endeavours to present itself as a third alternative distinct either from capitalism or socialism. To the workers Fascism insists that it does not stand for capitalism. To the employees Fascism insists that it does not stand for socialism. See *Fascism* by R. Palm Dutt, p. 38.

उच्चतम शिखर पर पहुँचता है और उन लोगों पर सज्जनता का सेहरा बाँधता है जिनमें उसका सामना करने की शक्ति होती है।"[१] मुसोलिनी की इस युद्धप्रियता का ही हिटलर ने निम्न शब्दों में समर्थन किया था, "शाश्वत युद्ध ने मानवजाति को इतना महान बनाया है और शाश्वत शांति ही मानवजाति का नाश कर देगी।" [२]

५. राज्य (On State)

फासीवादियों की राज्य संबंधी कल्पना राष्ट्रीयतावाद के शक्तिशाली पुनरोदय की प्रतीक है। इस प्रकार के राष्ट्रीयतावादी राज्य की कल्पना सबसे पहले फ्रांसीसी राजक्रान्ति के दौरान मे की गयी थी। लेकिन फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद की शताब्दी में जो प्रजातंत्र-वादी राज्य स्थापित हुए उनका फासीवादी सबसे अधिक विरोध करते हैं। एक विचारक के अनुसार "राज्य केवल वर्तमान पीढ़ी के कुल व्यक्तियों के समूह का योग मात्र ही नहीं है; बल्कि उसका अपना एक अलग व्यक्तित्व है—उसका अस्तित्व भूत, भविव्य और वर्तमान तीनों पर निर्भर करता है।"[३] "फासीवादी एक ऐसे सावयवी राज्यों में विश्वास करते हैं जिनमे विभिन्न श्रमसंघ हों और इन श्रमसघों का एक निगम हो जिस निगम का संचालन कुछ चुने हुए व्यक्ति करते हों।"[४] फासीवादियों के लिए राज्य सार्वभौमिक चेतना है। उनके लिए राज्य ही मनुष्य की इच्छा के ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रमाण है। इसी कल्पना को मुसोलिनी ने और भी स्पष्ट करते हुए कहा था, कि हम फासीवादियों के लिए राज्य केवल अभिभावक ही नहीं है, जो केवल नागरिक की हैसियत से हमारी रक्षा का आश्वासन देता हो और न वह केवल एक ऐसा संघ है जिसके केवल कुछ भौतिक लक्ष्य हों जो एक निश्चित स्तर के कल्याण की गारण्टी देते हों और आश्वस्त करते हों कि हम शांतिपूर्ण वातावरण में रह सकेंगे, क्योंकि यह सब काम तो प्रशासकों की एक परिषद् मात्र भी कर सकती है। राज्य केवल एक राजनीतिक सस्था मात्र भी नहीं है, जिसका जटिल भौतिक यथार्थताओं से कोई संबंध ही न हो और जो जनता से भी विलग हो। फासीवाद की कल्पना में राज्य एक आध्यात्मिक एवं नैतिक तथ्य है। . . . इसमें सन्देह नहीं कि राज्य नागरिक को उसके देश की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा का आश्वासन देता है लेकिन वह जनता की आत्मा का अधिरक्षक और प्रसारक है, उस आत्मा का जो सदियों में भाषा, परम्परा और विश्वासों

---

1 "Fascism believes neither in the possibility nor in the utility of perpetual peace . . . War alone brings up to its highest tensions all human energy and puts the stamp of nobility upon the peoples who have the courage to meet it." *The Poltical and Social Doctrine of Fascism* by B. Mussolini. p. 3.

2 "In eternal warfare mankind has become great—in eternal peace mankind would be ruined." A. Hitler in *Mein Kampf*, p. 149.

3 "The st te is more than the sum of its individuals of one generation; it has an actual entity of its own, a transcendental existence deriving from the past, from the present and the future."—*Italy Today* by Sir Frank Fox, p. 97.

4 Fascists believe in an organic state with a "varied symmetry of classes organised in syndicates and corqorations of syndicates . . directed by hierarchs." *The Keystone of Fascism* by G. M. Cresswel, p. 248.

के जरिए बनी है। राज्य केवल वर्तमान सत्य ही नहीं है वह अतीत से भी संबद्ध है और उसका महत्व भविष्य से संबद्ध होने के कारण तो और भी अधिक बढ़ जाता है। वह राष्ट्र की सर्वान्तर्यामी आत्मा का प्रतिनिधि है। राज्य ही शिक्षा देकर नागरिकों को राष्ट्रीय और जातीय एकता का बोध कराता है और उनके विकास के मार्ग को प्रशस्त करता है।... यदि राज्य के प्रति श्रद्धा की भावना का ह्रास हो जाता है तो विघटन की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ लेती हैं और वह देश, राष्ट्र या जाति पतन के गर्त में गिर जाती है।[1] राज्य संबंधी इस कल्पना में हीगलवादी विचारों की मुद्रा स्पष्ट रूप से अंकित नजर आती है। इन्हीं विचारों की परिपुष्टि **रोक्को** ने भी यह कह कर की थी, "राज्य विचारों और भावनाओं की आध्यात्मिक परम्पराओं का प्रतीक है जिन्हें हर पीढ़ी अपने सामने से जानेवाली पीढ़ी से प्राप्त करती है और जाते समय आनेवाली पीढ़ी को दे जाती है।"[2] रोक्को राज्य में समाज और व्यक्ति का पूर्ण संश्लेषण मानता है। **जेण्टाइल** ने भी यही विचार अपने निर्बंध 'दि फिलासॉफिक बेसिस ऑफ फैसिज्म" में प्रकट किये हैं। वह राज्य और व्यक्ति को एक आवश्यक संश्लेषण के दो अविभाज्य तत्व मानता है।[3]

६. निगम राज्य

फासीवाद का दावा है कि आर्थिक क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी और मौलिक देन है निगमात्मक राज्य का सिद्धान्त (The Theory of Corporative State)। फासीवाद के समर्थकों का कहना है कि उनकी यह देन पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के दोषों से मुक्त ही नहीं है बल्कि दोनों से उच्चतर और नयी है। उनकी इस कल्पना में मध्ययुग के श्रेणी संघ (Guild) और श्रम संघ (Syndicates) की कल्पना का विचित्र मिश्रण है। जैसा कि **मिस विल्किनसन** (Miss Wilkinson) ने कहा है फासीवाद पूंजीवाद की प्रतिक्रिया का ही परिणाम नहीं है। इसमें अपने कुछ समाजवादी तत्व भी हैं। लेकिन ये सब सिद्धान्त की बातें हैं। हालाँकि मुसोलिनी का इटली अपने आपको निगमात्मक राज्य कहता था लेकिन सन् १९२२ से लेकर सन् १९३४ तक उसमें कोई निगम (Corporations) नहीं थे। निगमों की स्थापना ५ फरवरी सन् १९३४ को एक राजाज्ञा द्वारा की गयी। हालाँकि राज्य तथा इटली का फासीवादी दल दोनों ही यह दावा करते थे कि वे निगमों को सर्वाधिक महत्व देते हैं। इससे यह भ्रम हो सकता है कि फासीवादी राज्य उपभोक्ताओं का सबसे अधिक ध्यान रखता है क्योंकि निगम (Corporations) उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि ही समझे जाते हैं। लेकिन फासीदल और फासीवादी राज्य के कृत्यों द्वारा यह बात सिद्ध करना बड़ा कठिन है। श्रमिकों और स्वामियों के समानान्तर संघ थे और इन दोनों के बीच फासीवादी दल पंच का कार्य करता था। शासन निगमों को मान्यता देने की दशाएँ स्थिर करता है। जो निगम उन शर्तों का पालन नहीं करते उनका वैधानिक अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता।

निगम राज्य की कल्पना व्यक्तिगत योजनाओं पर नहीं बल्कि सामूहिक योजनाओं पर आधारित है। लेकिन यह भी केवल एक सैद्धान्तिक तथ्य है। व्यावहारिक क्षेत्र में ऐसा नहीं है। मुसोलिनी के इटली में भी उत्पादन कार्य व्यक्तिगत उद्यमों पर आधारित था।

---

1 *The Political and Social Doctrine of Fascism* by B. Mussolini, p. 21-22.

2 See Rocco's essay on *The Pol. Doctrine of Fascism in International Conciliation Pamphlet* No. 223.

3 *Foreign Affairs*, Vol. VI (Jan 1928), pp. 290-304.

स्वयं मुसोलिनी निजी सम्पत्ति को आवश्यक बतलाया था। उसका कहना था कि निजी सम्पत्ति व्यक्तित्व को पूर्ण बनाती है। नागरिकों को निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार है और यदि यह अधिकार है तो फिर कर्तव्य भी हो जाता है। **जॉन स्ट्रेची** ने फासीवादी योजनाओं को ऐसी योजनाएँ बतलाया है जो पूँजीपतियों की सहमति से बनायी जाती है। इन योजनाओं के बनाने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि विरोध न्यूनतम हो।

सरसरी दृष्टि से फासीवादी निगम राज्य में राजनीतिक बहुलवाद की बहुत-सी विशेषताएँ दिखलायी पड़ेंगी। लेकिन गहरी दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होते अधिक समय नहीं लगेगा कि दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी हैं। फासीवाद में जहाँ राज्य अनिवार्यतः एकिकतापूर्ण होता है और निगम राज्य की संप्रभुता के अधीन होते हैं वहाँ राजनीतिक बहुलवादी राज्य के अधिकार-क्षेत्र को इतना व्यापक नहीं मानते। वे राज्य की संप्रभुता को सीमित रखने के पक्ष में रहते हैं जब कि फासीवादियों के साथ यह बात नहीं है।

फासीवाद का विश्वास है कि समुदाय में केवल कुछ ही ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें शासन की क्षमता होती है और बहुसंख्यक अयोग्य तथा अदक्ष होते हैं। लेकिन फासीवाद यह नहीं बतलाता कि उन महान् योग्य व्यक्तियों को खोज निकालने का साधन क्या है? फासीवादी कहते हैं कि अतीत की दोषपूर्ण पद्धतियों द्वारा फासीवादी राज्य के शासकों की नियुक्ति नहीं की जायगी। वे वंशानुगत क्रम से भी शासकों की नियुक्ति के पक्षपाती नहीं हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीकों से किये जानेवाले शासकों के चुनाव के ही पक्ष में हैं। संसदीय व्यवस्था को भी वे निन्दनीय बतलाते हैं। उनका कहना है कि शासकों की नियुक्ति का कार्य फासीदल ही अपने परिश्रम द्वारा करेगा। शायद **जेण्टाइल** ने इसी वजह से फासीदल को "राज्य की अन्तरात्मा" (conscience of state) बतलाया है। व्यवहार में इसका यह अर्थ हुआ कि फासी पार्टी ही राज्य की कर्ता-धर्ता बन बैठी और उसने अपने अलावा सभी दलों को कुचल डाला। फासीदल ही राज्य-नीतियाँ निर्धारित करने लगा, विधियाँ बनाने लगा और प्रशासन कार्य में सहायता देने लगा। दल की सहायता करनेवाले लोग पूंजीपति थे। अतः, दल में उन्हीं की बात ज्यादा मानी जाती थी और चूंकि दल ही वास्तव में शासन करता था—इसलिए वस्तुतः फासीदल के कर्णधार और इटली के शासक एक ही गये। मूल फासीवादियों ने अपने बारे में यह प्रचार कराने में कोई कोर-कसर न छोड़ी कि प्रशासनिक क्षेत्र में वे ही देश की विभूतियाँ हैं—इसलिए सत्ता हस्तगत करने में उन्हें कोई कठिनाई भी नहीं रही। एक बार दल के शासक वर्ग में आ जाने के बाद उस वर्ग से हटने की भी कोई संभावना नहीं रह जाती थी क्योंकि फासीदल की सदस्यता सबके लिए खुली न रहती थी। सदस्य-संख्या सीमित रहती थी। प्रत्येक सदस्य को भरती करते समय बड़ी सावधानी से उसके संबंध में पूछताछ की जाती थी, बाद में अत्यन्त कठोर प्रशिक्षण दिया जाता था और वैसे ही अनुशासन में भी रखा जाता था। इस व्यवस्था में बहुत से अयोग्य व्यक्ति तो अपने आप ही निकल जाते थे। और अन्त में जो बच जाते थे उनको असंदिग्धतः शासन करने योग्य माना जाता था। इस प्रकार फासीदल शासक देता था। उसके सदस्यों को इटली में समस्त सरकारी अधिकारियों से उच्चतर माना जाता था। दल का नेता ही शासन का भी उच्चतम अधिकारी था। दल की महासमिति ही राज्य की विधायिका सभा थी। तमाम सरकारी पद—ऊपर से लेकर नीचे तक—केवल फासीवादियों के लिए ही थे। फासीवादियों के अतिरिक्त उन पर अन्य किसी की भी नियुक्ति नहीं हो सकती थी। सभी प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक दलों को अवैधानिक घोषित करके उनको समाप्त कर दिया गया था। चूंकि फासीवाद सबसे ऊँचा सिद्धान्त है इसलिए फासीवादी दल को सार्वजनिक निर्वाचनों में भाग लेने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा किया गया तो संभव है कि फासीवाद दल का स्थान कोई दूसरा दल ले ले और राष्ट्रीय हितों को क्षति पहुँचे। यदि निर्वाचन

किये जायँ तो इसलिए नहीं कि कौन से दल के हाथ में सत्ता दी जाय बल्कि इसलिए कि दल द्वारा प्रस्तावित दो नामों में से किस एक को रिक्त पद के लिए चुना जाय।

फासीवाद स्वभावतः अधिनायकवादी है। लेकिन इतने पर भी फासीवादी अपने आपको अधिनायकवादी कहे जाने से बराबर डरते रहे। फासीवादी शासन में किसी भी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नहीं हो सकती थी जिसे ऊपर के अधिकारियों का विश्वास प्राप्त न होता था।

७. व्यक्ति और उसकी स्वतंत्रता

फासीवादी राज्य में व्यक्ति और व्यक्तित्व का कोई अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। फासीवादी राज्य सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर नियंत्रण रखता है। सभी व्यक्ति राज्य के सैनिक हैं और सभी संवास और संस्थाओं को अपने सदस्यों को सैनिक जीवन की शिक्षा देनी चाहिए--फासीवाद यही मानता है। बंदूक का, मक्खन की अपेक्षा अधिक महत्व है। सुख-सुविधाओं के स्थान पर, स्वतंत्रता के स्थान पर अनुशासन का दर्जा कहीं अधिक ऊँचा है। क्योंकि राज्य एकता का आदर्श है--इसलिए यह जरूरी है कि राज्य का प्रत्येक व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार रहे। प्रत्येक व्यक्ति को अपना अधिकतम विकास राज्य के अन्तर्गत ही करना चाहिए। "हर वस्तु राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है, राज्य के बाहर भी कुछ नहीं है।" फासीवादी नैतिकता का व्यक्ति के लिए यही आदर्श है। राज्य को सब अधिकार हैं लेकिन व्यक्ति को केवल अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए--अधिकारों की आकांक्षा नहीं। फासीवाद एक ऐसे राज्य का समर्थक है जिसमें व्यक्ति पूर्णतः समा जाय। फासीवादी राज्य में व्यक्ति के ऐसे कोई अधिकार नहीं होते जो राज्य के अधिकारों से अधिक पवित्र हों और जिनको राज्य छीन न सके। इतने पर भी फासीवादी कहते हैं कि उनके यहाँ व्यक्ति को निगल नहीं लिया जाता। नीत्शे, सॉरेल पेरेटो तथा अन्य ऐसे ही विचारकों से फासीवाद समर्थकों ने 'सामाजिक अंधभक्ति' (Social myth) की कल्पना ग्रहण की। फासीवाद का मूल आधार हीगलवादी राज्य विषयक सिद्धान्त है जिसके अनुसार व्यक्ति का राज्य के बिना कोई आध्यात्मिक अथवा नैतिक अस्तित्व ही संभव नहीं है। अतः ऐसी दशा में व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। **रोक्को** के अनुसार व्यक्ति को स्वतंत्रता उसी सीमा तक दी जा सकती है जहाँ तक वह उसका प्रयोग समाज और राज्य के हित में करता है। यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता से राज्य के हितों को तनिक भी क्षति पहुँचती है तो राज्य को इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वह उस स्वतंत्रता को व्यक्ति से छीन ले।[1] **मुसोलिनी** का कहना है कि फासीवादी राज्य व्यक्ति को ऐसी कोई स्वतंत्रता नहीं देता जिससे व्यक्ति अपने आपको हानि पहुँचा सके क्योंकि राज्य को हानि पहुँचाना भी व्यक्तिगत हानि के ही तुल्य है।[2] **जण्टाइल** का कहना है कि वास्तविक स्वतंत्रता फासीवादी राज्य में ही मिलती है। राज्य अपने आप में बिलकुल स्वतंत्र और स्वच्छन्द है और उसके अधिकार सर्वथा सभी बाह्य बंधनों से मुक्त है।[3] लेकिन राज्य चूँकि व्यक्ति की चेतना में ही मूर्त रूप धारण करता है--इसलिए स्पष्ट है कि राज्य ही व्यक्ति का अपेक्षाकृत अधिक प्रतिनिधित्व करता है। चूँकि राज्य व्यक्ति का बड़ा रूप है और व्यक्ति राज्य का अंग है और राज्य स्वतंत्र है--अतः, व्यक्ति भी स्वतंत्र है। यदि कभी राज्य व्यक्ति पर प्रतिबंध लगाता है तो वह उसके हित के ही लिए है, उनसे किसी भी प्रकार घबराने की आवश्यकता नहीं है। राज्य की संप्रभुता के

---

1 *International Conciliation Pamphlet* No. 223. p. 4.
2 *The Political and Social Doctrine of Fascism* by B. Mussolini, p. 24.
3 *Foreign Affairs*, Vol. VI, pp. 300 304.

विषय में फासीवादियों के विचार हॉब्स से काफी मिलते हैं लेकिन हॉब्स ने भी एक स्वतंत्र परिषद का अस्तित्व स्वीकार किया था—फासीवादी उसे भी नहीं मानते। मुसोलिनी का कहना है कि जनता को स्वशासन का न तो कोई नैतिक अधिकार है और न कोई सांविधानिक अधिकार। इस प्रकार हम देखते हैं कि फासीवादी राज्य में व्यक्ति स्वातंत्र्य जैसी किसी वस्तु का कोई स्थान नहीं है।

८. राष्ट्र संबंधी विचार (Conception of Nation)

फासीवादियों का कहना है कि राज्य का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। यही व्यक्तित्व सर्वोच्च नैतिक पुरुष है। राष्ट्र के रूप में राज्य का यह व्यक्तित्व हमारे सामने आता है। राष्ट्र को फासीवादी कुल व्यक्तियों के समूह का योग नहीं मानते। राष्ट्र एक ऐसा सावयवी जीव है जो लगातार बहुत पीढ़ियों तक विकसित होने के बाद पूर्णता प्राप्त करता है। राष्ट्र ही अंतिम सत्य है। जाति के सभी भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का राष्ट्र ही में संश्लेषण होता है। राज्य राष्ट्र का ही वैधानिक रूप है। व्यक्ति और समुदायों के राष्ट्र के प्रति कर्तव्य तो होते हैं लेकिन अधिकार नहीं। फासीवादियों के अनुसार व्यक्ति का उच्चतम विकास राष्ट्र में ही होता है। राष्ट्र के बाहर व्यक्ति का कोई मोल नहीं है। राष्ट्र का स्थान सबसे ऊँचा और स्वतंत्र होता है। कोई आन्तरिक या बाह्य शक्ति ऐसी नहीं जो राष्ट्र को नियंत्रित कर सके। यही कारण है कि विभिन्न राष्ट्रों में समन्वय कर सकनेवाला ऐसा कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधि-विधान नहीं है जिसके सम्मुख सभी राष्ट्र सिर झुकाते हों।[1] राष्ट्र स्वयं अपनी अभिव्यक्ति के साधन खोजता है और अपना प्रसार करता है। "राष्ट्र सार्वभौमिक होता है और राजनीति का उद्देश्य राष्ट्रीय आत्मानुभूति कराना है।"[2] राष्ट्र का विकास—उच्चतम विकास राज्य द्वारा होता है। राज्य द्वारा ही राष्ट्रीय गरिमा और गौरव बढ़ता है। अतः फासीवाद राज्य के प्रसार का अर्थात् साम्राज्य का कट्टर हिमायती है।

९. महिलाओं के अधिकार

फासीवाद, मिल के मत के विरुद्ध, महिलाओं की स्वतंत्रता के विपक्ष में है। फासीवादी विचारकों का कहना है कि महिलाओं का उचित स्थान परिवार है और परिवार की चहारदीवारी तक ही उनको सीमित रहना चाहिए। फासीवादी महिलाओं को शिक्षा देने के भी पक्षपाती नहीं हैं। महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे पुरुषों पर निर्भर रहें और सभी स्थानों पर पुरुषों को नौकरियाँ दी जायँ। महिलाओं का राष्ट्रीय कर्तव्य यही है कि वे पुरुषों की सेवा करें और राष्ट्र के लिए अधिक से अधिक बच्चे पैदा करें जिससे देश को पर्याप्त मात्रा में सैनिक मिल सकें। जहाँ तक महिलाओं के बौद्धिक शिक्षण का संबंध है फासीवादियों का कहना है "पहले महिलाओं को शारीरिक प्रशिक्षण दिया जाय। इसके बाद चारित्रिक विकास पर जोर दिया जाय। बौद्धिक विकास का सबसे बाद में स्थान आता है।"

१०. नाजीवाद के उद्गम का इतिहास

फासीवाद के दर्शन का अध्ययन करने के पश्चात् आवश्यक है कि हम नाजीवाद पर दृष्टि डालें। नाजीवाद का जन्म और विकास जर्मनी में हुआ। जिन परिस्थितियों में नाजीवाद जर्मनी में पनपा वे परिस्थितियाँ लगभग वैसी ही थीं जिनमें इटली में फासीवाद का उद्भव हुआ था। हालाँकि दोनों में कुछ महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय अन्तर भी थे।

---

1 *The Political and Social Doctrine of Fascism* by B. Mussolini p. 14
2 *An Outline of Modern Knowledge* Ed. by Dr. W. Rose, p. 730.

सन् १९१८ में जर्मनी पराजित और निराश देश था। सैनिक पराजय के कुछ समय पूर्व तक जर्मनी के निवासियों से यह कहा गया था कि उनकी सेना अपराजेय है। ऐसी अवस्था में जर्मनी को जब मित्रराष्ट्रों के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा तो यह स्वाभाविक ही था कि जर्मनी के निवासियों का तबियत बड़ी खट्टी हो जाती। वर्सेलीज की संधि—जिससे प्रथम महायुद्ध के बाद युरोप में शांति हुई—जर्मनी में कभी लोकप्रिय न हो सकी। शीघ्र ही इस संधि को एक ऐसे दस्तावेज के रूप में देखा जाने लगा जो राष्ट्रीय अपमान का प्रतीक था। संधि में प्रयुक्त अनेक शब्द सचमुच बड़े कठोर थे और उसकी कुछ धाराओं का यथार्थ लक्ष्य जर्मनी को संसार का तृतीय कोटि का राष्ट्र बना देना था। जर्मनी का निःशस्त्रीकरण कर दिया गया था जिससे उसकी सैनिक प्रतिष्ठा को बड़ा जबर्दस्त बट्टा लगा। विजेता राष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मनी से बहुत बड़ी रकम माँगी। यह रकम उस समय की आर्थिक स्थिति को देखते हुए जर्मनी के लिए चुका सकना असंभव था। यह सच है कि बाद में यह रकम क्रमशः घटा दी गयी और कुछ वर्ष बाद बिलकुल माफ भी कर दी गयी, लेकिन जब तक क्षतिपूर्ति की मित्र राष्ट्रीय माँग बनी रही तब तक वह जर्मनी को बराबर क्रुद्ध करता रहा। जर्मन युवक बराबर यह अनुभव करते रहे कि उन्हें जीवन भर मित्रराष्ट्रीय पूँजीपतियों का चंद सिक्कों पर गुलाम बना रहना पड़ेगा।[1] जर्मनी जब प्रयत्न करके भी क्षतिपूर्ति की रकम न चुका पाया तो सन् १९२३ में फ्रांस और बेलजियम ने जर्मनी पर अपनी फौज दौड़ा दी और कुछ वर्षों तक जर्मनी का सबसे बड़ा प्रान्त रूर उनके कब्जे में बना रहा। यही नहीं, जर्मनी के सारे उपनिवेश भी छीन लिये गये। उपनिवेशों के छिन जाने से जर्मनी को बाहर के व्यापार से जो आय होती थी—वह भी मारी गयी। जर्मनी की आन्तरिक अर्थव्यवस्था भी चौपट हो गई। मार्क[2] का मूल्य निरन्तर गिरता जा रहा था और मुद्रास्फीति (Inflation) निरन्तर बढ़ती जाती थी। मुद्रास्फीति ने जर्मनी के श्रमजीवी वर्ग को तो बिलकुल साफ कर ही दिया, मध्यवर्ग भी नितान्त दरिद्र हो गया। लेकिन जर्मनी में एक ऐसा भी वर्ग था जिसने मुनाफाखोरी से युद्ध में तथा युद्ध के बाद बड़ा धन अर्जित किया था। यह वर्ग था जर्मन यहूदियों का। बेकारी लगातार बढ़ती जा रही थी। सन् १९३२ में जर्मन युवकों में बेकारी सबसे अधिक हो गयी थी। अतः वे धनीवर्ग के विरुद्ध विशेषकर जर्मन यहूदियों के विरुद्ध, बड़ी कटुता अनुभव करने लगे।

जर्मनी की ऐसी संकटजनक स्थिति के समय ही पूर्वी यूरोप में साम्यवाद ने बड़ी तेजी से प्रगति की। ऐसा प्रतीत होने लगा कि कहीं जर्मनी में भी साम्यवाद न फैल जाय। इससे बचने का एकमात्र उपाय यही था कि जर्मनी को भी प्रजातंत्रवादी राष्ट्र बना दिया जाता। वाइमार रिपब्लिक या जर्मन गणतंत्र का जन्म इन्हीं परिस्थितियों में हुआ। उक्त गणतंत्र के संविधान के अन्तर्गत बहुत से शासन बने-बिगड़े और इसमें कोई संदेह नहीं कि जर्मनी की प्रत्येक सरकार के सामने ऐसी कठिनाइयाँ थीं जिनसे मुक्ति पाने का कोई उपाय सहज ही दिखलायी नहीं पड़ता था।

यह थी पृष्ठभूमि जिसमें जर्मनी में नाजीवाद और उसका दर्शन फला-फूला। इस आन्दोलन का जन्मदाता एक ताला बनानेवाला कारीगर था जिसका नाम था एण्टन ड्रेक्सलर (Anton Drexler)। नाजीवादी आन्दोलन जिस समय आरंभ हुआ उस समय उसके पास कोई विशेष कार्यक्रम न था। लेकिन आन्दोलनके जन्मदाता ने सबसे पहला काम यह किया कि उसने युवकों को शिक्षा दी कि वे जर्मनी की सैनिक पराजय में विश्वास न करें। जर्मन

1 Writing in 1932, a young German said, "We belong to a generation without hope in the future and without happiness in the present."

२ जर्मनी का सिक्का।

की पराजय इसलिए नहीं हुई कि उसमें कोई खराबी थी बल्कि इसलिए हुई कि जिस समय उसकी जीत होनेवाली थी उसकी "पीठ में छुरा भोंक दिया" गया। घृणा और प्रतिशोध—ये दो मूल आधार थे जिन पर नाजी आन्दोलन की नींव रखी गयी। सन् १९३३ में नाजियों के हाथ में जब शासन-सत्ता आ गयी तो वे दलगत राजनीति और सामान्य प्रशासन के कार्यों में इतने अधिक व्यस्त हो गये कि नाजीदर्शनकी रचना की तरफ उनका ध्यान ही नहीं गया।

११. नाजीदर्शन का जन्म

नाजीदर्शन के संबंध में विचार प्रकट करना बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि नाजीवाद में राज्य या शासन के संबंध में कोई स्पष्ट सिद्धान्त निरूपित नहीं किये गये। इसके विपरीत नाजीवाद एक ऐसा आन्दोलन था जिसका जन्म जर्मनों की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। नाजीवादी विचारधारा केवल राजनीतिक ही नहीं थी, उसमें सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों संबंधी विचार इस प्रकार उलझे हुए थे कि कुल दर्शन को नाजीवाद के बजाय 'हिटलरवाद' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

नाजीदर्शन पर जिन विचारकों का प्रभाव पड़ा उनमें जर्मन कल्पनावादी विचारक सबसे पहले आते हैं। ऐसे विचारकों में काण्ट, फिक्टे, हीगल आदि का नाम सबसे पहले आता है। इसके अलावा एच० एस० चेम्बरलेन तथा मुसोलिनी का नाम भी लिया जा सकता है।

हिटलर और मुसोलिनी ने जिन परिस्थितियों में शासन की बागडोर अपने हाथों में ली, जिन परिस्थितियों में वे अधिनायक बने—उनमें समानता हो सकती है लेकिन नाजीदर्शन और फासीदर्शन के जन्म के समय उनमें कोई समानता नहीं थी। फासीदर्शन का निर्माण सत्ता हस्तगत किये जाने के बाद हुआ जब कि नाजीदर्शन का विकास नाजीदल के हाथ में ताकत आने के बहुत पहले हो चुका था। नाजीदर्शन के संबंध में सबसे पहली पुस्तक सन् १९२० में लिखी गयी।[1] इसके बाद सन् १९२७ में हिटलर की आत्मकथा प्रकाशित हुई। सन् १९३० में नाजीदर्शन के संबंध में तीसरा ग्रंथ प्रकाशित हुआ।[2] हिटलर के अलावा नाजीविचारकों में **गॉटफ्रायड फेडर्स** (Gottfried Feders) और **एलफ्रेड रोजनवर्ग** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नाजीदर्शन संबंधी सभी ग्रंथ नाजियों के सत्तारूढ़ होने के पूर्व ही प्रकाशित हो गये थे।

१२. राज्य सम्बन्धी विचार

नाजीवादी विचारधारा के अनुसार राज्य "आध्यात्मिक और नैतिक तथ्य" नहीं है। हिटलर ने मुसोलिनी के इन विचारों का अनेक बार खण्डन किया था। नाजी, फासीवादियों की भाँति राज्य को **बर्क** और **सेविनी** के परम्परावाद और हीगल के कल्पनावाद का मिश्रण नहीं मानते। लेकिन इसका यह भी अर्थ नहीं है कि नाजियों ने परम्परावाद (Traditionalism) और कल्पनावाद (Idealism) की पूर्णतः उपेक्षा की हो। उन्होंने उक्त दोनों 'वादों' का भी प्रयोग किया लेकिन उनसे अपने उद्देश्यों की सिद्धि में बहुत कम सहायता मिली। **मुसोलिनी** राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता था। **हिटलर** ने अपनी आत्मकथा में एक से अधिक बार कहा है कि राज्य लक्ष्य नहीं है बल्कि लक्ष्यपूर्ति का साधन है। यहाँ प्रश्न उठता है कि तो फिर नाजीवाद का लक्ष्य क्या था ? **हिटलर** ने इस प्रश्न का उत्तर यह दिया कि राज्य जातीय एकता, जातीय शुद्धता और जातीय विकास—

---

1 See "*The Political and Economic Programme of the Notional Socialist German Workers Porty* by Gottfried Feders published in 1920.

2 See *The Myth of Twentieth Century* by Alfred Rosenburg published in 1930.

इन तीनों लक्ष्यों की पूर्ति का साधन है।[1] इस लक्ष्य को सामने रखने से स्पष्ट हो जाता है कि नाजियों ने हीगल के विचारों को इतनी अवहेलना क्यों की और उसके विचारों पर व्यंग्य क्यों कसे ? **हीगल** ने राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार' (March of God on Earth) बतलाया जब कि नाजी विचारकों ने कहा कि जाति ही वह मार्ग प्रशस्त करती है जिसको सहायता से प्रकृति जीवों को एक उच्चतर स्तर पर जन्म देती है।[3] हिटलर का कहना था कि हम "आर्य हैं, इसीलिए योग्य हैं।" वह यह भी कहता था कि किसी राज्य के संबंध में केवल इतनी ही जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता है कि वह किस राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करता है।[2] **हीगल** की राज्य संबंधी कल्पना को तिरस्कृत कर देने के बाद भी नाजी हीगल के विचारों की प्रभाव-किरणों से बच न सके। वे हीगल की राज्य की रहस्यवादी परिभाषा तो न मानते थे लेकिन उन्होंने राज्य संबंधी पूजा की भावना को हीगल की ही सहायता से राष्ट्रपूजा में प्रतिष्ठित कर दिया। राष्ट्र को नाजी एक ऐसी आध्यात्मिक अलौकिक वस्तु मानते थे जो आत्मा के रूप में सत्य है। यह बात एक प्रकार से **हीगल** ने भी राज्य के संबंध में कही थी; लेकिन नाजी इसका श्रेय हीगल को नहीं देते। शायद इसलिए कि राष्ट्रपूजा की यह विचारधारा उन्हें सीधे हीगल के अध्ययन से न मिल कर कुछ तो फासीवादियों के जरिये मिली और कुछ ऐसे जर्मन लेखकों से जो किसी न किसी रूप में **हीगल** से प्रभावित थे। लेकिन जब नाजीदल सत्तारूढ़ हो गया तो उसने राज्य और राष्ट्र में वह अन्तर करना छोड़ दिया जो वह सत्ता हस्तगत करने के पूर्व आग्रहपूर्वक किया करता था।

नाजीदर्शन ने राजनीति में जातीय रक्तशुद्धता के प्रश्न को भी मिश्रित कर दिया। उन्होंने कहा "रक्त" और "भूमि" ये दोनों चीजें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इसी आधार पर जर्मनी भर में भौगोलिक राजनीति (Geopolitics) के अध्ययन पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा। यह कहा जाने लगा कि नाजी राज्य अन्य राज्यों से बहुत अधिक भिन्न है क्योंकि वह भौगोलिक राजनीतिक विज्ञान के अनुसार निर्मित किया गया है। नाजी कभी-कभी अपने राज्य को 'राष्ट्र नेता राज्य' (Voelkischer Fuehererstate) कहते थे। नेतृत्व की कल्पना संभवतः उन्होंने फासीवादियों से ग्रहण की थी। इटली में दल का नेता ही सरकार का उच्चतम अधिकारी होता था लेकिन राज्य का अध्यक्ष नहीं। राज्य का अध्यक्ष तो राजा ही माना जाता था। लेकिन जर्मनी में दल का नेता ही राज्य और शासन (सरकार) दोनों का अध्यक्ष माना जाता था। यही नहीं वही जाति का भी सबसे बड़ा नेता माना जाता था। नाजी जर्मनो में राज्य का अध्यक्ष केवल नीचे के अधिकारियों की श्रद्धा का ही भाजन नहीं होता था बल्कि उसे एक ऐसा साधन माना जाता था जिसमें राष्ट्रीयता, राज्य और सभी राजनीतिक कार्यों का संगम हो जाता था।

नाजियों के अनुसार राज्य की मुख्य विशेषता है—बल और जीवनी शक्ति। वे न्याय, धर्म या नैतिकता को राज्य की विशेषताएँ नहीं मानते थे। नाजी "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत में पूरी तरह विश्वास करते थे। फिक्टे के इन शब्दों में कि "राज्यों के बीच बल को छोड़ कर अन्य कोई विधि नहीं होती" नाजी पूर्ण विश्वास करते थे। नाजी तलवार के बल से प्राप्त होनेवाली विजय के संदेश के प्रचारक थे। हिटलर का कहना था कि "जिसे जिन्दा रहना है उसे अनिवार्यतः लड़ना ही होगा। जो युद्ध से बचता या डरता है उसे जीने का कोई अधिकार नहीं है।" यह कहना कठोर अवश्य है—लेकिन वास्तविकता यही है।" हिटलर के एक अन्य अनुयायी **जनरल वान सीट** (General Van Seeckt)

1 *Mein kampf* by Adolf Hitler, pp. 585-601.
2 *Ibid*, p. 390.
3 *Ibid*, p. 595.

ने लिखा था, "मानव सफलताओं की शीर्षतम स्थिति है। युद्ध स्वाभाविक है। वह मानवजाति के विकास के इतिहास की अंतिम दशा है। युद्ध हर वस्तु का जनक है...." "युद्ध जीवन को पुष्टि देता है। युद्ध के दमन का अर्थ प्रकृति का दमन है। युद्ध भयानक होते हैं, लेकिन हर जीवित वस्तु भयानक होती है।"

१३. व्यक्ति स्वातंत्र्य

हालाँकि राज्य को नाजियों ने उतना ऊँचा स्थान नहीं दिया लेकिन व्यक्ति-स्वातंत्र्य को समाप्त करने में वे फासीवादियों से किसी भी प्रकार कम नहीं निकले। नाजी भी फासियों की तरह ही यह मानते थे कि व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हैं; केवल कर्तव्य हैं। हिटलर का मत था कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का कोई अर्थ नहीं है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ ही क्या होता है ? क्या प्रकृति निरन्तर व्यक्ति से ऐसे कार्य नहीं लेती जिन्हें करने में उसे कोई आनन्द नहीं आता ? स्वतंत्रता केवल एक ही होती है—और वह है राष्ट्र की स्वतंत्रता। यह स्वतंत्रता तभी उपलब्ध हो सकती है जब सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें। इस स्वतंत्रता के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने बड़े से बडे हित का बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। राष्ट्रीय स्वाधीनता का अर्थ है ऐसे नियम जो पूरी जाति के जीवन का नियमन करें।

१४. महिलाधिकार

नाजियों के कार्यक्रम में **हैर वान पेपन** (**Herr Von Papen**) के अनुसार महिलाओं का एक ही कार्य है और वह है अधिक से अधिक बच्चे पैदा करना। पिताओं को अपने बच्चों को भविष्य की सुरक्षा के लिए मोर्चों पर जाकर युद्ध करना चाहिए। महिलाओं को दी जानेवाली सबसे बड़ी उपाधि के पदक के नीचे जर्मन भाषा में लिखा होता था "किसी भी माँ के लिए इससे बड़े सम्मान की और कोई बात नहीं हो सकती कि वह प्रसन्नवदन से अपने पुत्रों को युद्धक्षेत्र में भेजे।" **स्पेंग्लर** (Spengler) ने लिखा है : "जर्मन महिलाओं को अधिक से अधिक वीर पुरुषों को जन्म देना चाहिए और इस कार्य को करते हुए अपने आपको अधिक से अधिक सुखी समझना चाहिए। महिला न साथी है और न प्रेयसी वह केवल माँ है।"[१] हिटलर ने तो महिलाओं की बौद्धिक शिक्षा को सबसे नीचा स्थान दिया ही था। एक अमेरिकन पर्यवेक्षक ने नाजी जर्मनी को महिलाओं संबंधी नीति के विषय में लिखा था। "नैशनल सोशलिस्टों की जर्मनी में यह सुचिन्त्य नीति है कि वह स्त्रियों को औद्योगिक युग के समाज की ओर ले जाने के बजाय कृषियुग के समाज की ओर ले जाना चाहता है। उक्त दल का विश्वास है कि स्त्री का सच्चा स्थान घर ही है। एक वाक्य में, स्त्रियों का एकमात्र कर्तव्य ऐसे शक्तिशाली और बलवान् पुत्र पैदा करना है जो राष्ट्र और राज्य की युद्ध और शांति काल में सेवा कर सकें।"[२]

१५. जातीय अंधभक्ति (Racial Myth)

नाजीदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे जाति को सबसे अधिक ऊँचा स्थान देते थे और उनका हर वस्तु के प्रति दृष्टिकोण उसी से निर्धारित होता था। "जाति से परे प्रत्येक वस्तु निरर्थक है" यह उनका नारा था। नाजियों का कहना था कि उनके विश्वास सर्वथा वैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित हैं। उनका वैज्ञानिक आधार डार्विनवाद था।

---

1 See *The Years of Decision* by Spengler.
2 *Germany Enters the Third Reich* by Calvin, 13. Hoover, p. 165.
3 Hitler's *Mein Kampf*, p. 406.

वह कहते थे कि जाति का विकास होता है। जीवन या अस्तित्व रक्षा के लिए संघर्ष होता है। संघर्ष में चयन किया जाता है। जो बलवान् होता है—वही बच पाता है। जहाँ तक समाज और अन्य जीवों के पारस्परिक संघर्ष का संबंध है—नाजी हर्बर्ट स्पेन्सर से सहमत थे लेकिन वे स्पेन्सर की यह बात नहीं मानते थे कि समाज में व्यक्तियों के बीच संघर्ष होता है। इस मामले में वे वाल्टर बेजहट (Walter Bagehot) की बात मानते थे जिसने कहा था कि सामाजिक संघर्ष व्यक्तियों के बीच नहीं समुदायों के बीच होता है। लेकिन चेम्बरलेन आदि विचारकों के जाति संबंधी विचारों के आधार पर नाजियों ने इस सिद्धान्त का विकास किया कि जातीय एकता और शुद्धता की रक्षा तभी की जा सकती है जब जाति में से अनैक्यताकारी अशुद्ध तत्वों को निकाल दिया जाय। इसी आधार पर उन्होंने जर्मनी से यहूदियों को निकालने का आन्दोलन चलाया। जर्मन नाजियों के उग्र राष्ट्रवाद को जातीयता संबंधी सिद्धान्तों ने और भी उग्र बना दिया था।

नाजियों का यह भी कहना था कि अबौद्धिकता ही सर्वश्रेष्ठ है। विद्यार्जन सर्वथा अनुपयोगी है। बहुत से पढ़े-लिखे व्यक्ति बड़े मूर्ख होते हैं। वे भावना के पुजारी थे। प्रजातंत्रवाद का विरोध उन्होंने इसलिए किया था कि उसमें हर व्यक्ति अपनी अक्ल से काम करने की बात ही अधिक सोचता है। उनका कहना था कि शासन जाति के एक-मात्र नेता के हाथ में रहना चाहिए।

६. उपसंहार

इतिहास साक्षी है कि फासी और नाजीवाद ने अपने आपको समग्र मानव-जाति का किस प्रकार शत्रु सिद्ध किया। उनकी आतंककारी सेनाओं, नपुंसक बना देने के केन्द्रों, नजरबंदी के शिविरों और अत्याचार करने के साधनों के पीछे सारी मानवता के प्रति उनके हृदय में छिपी उपेक्षा, अवहेलना और घृणा की भावना स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है।

फासीवादियों ने प्रजातंत्रवादी पद्धति की जो आलोचना की वह किसी भी दृष्टि से औचित्य की कसौटी पर सच्चा नहीं उतरती। राज्य को संप्रभुता को सर्वोच्च स्थान दे देने का फल बहुधा यही हुआ है कि शासक प्रजा का बुरी तरह दमन करने लगते हैं और निरंकुशता का सिंहद्वार खुल जाता है। फासीवाद कालान्तर में ऐसे अधिनायकत्व में परिणत हो जाता है जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य का दमन करके बलप्रयोग द्वारा सारी राष्ट्रीय प्रगति के द्वार अवरुद्ध कर देता है। ऐसी अवस्था में आत्मा की स्वतंत्रता भी नहीं रहती।

फासीवाद और नाजीवाद दोनों ही बलप्रयोग पर बहुत अधिक जोर देते हैं। लेकिन बल-प्रयोग द्वारा हृदय नहीं जीता जा सकता, और जो चाहे सो प्राप्त हो जाय। जहाँ किसी दल के अनुयायियों का हृदय नेता के साथ न हो वह विचारधारा कदापि स्थायी नहीं हो सकती।

दोनों ही विचारधाराओं की कार्य-पद्धतियों से महिलाओं, संस्कृति, जनता, बच्चों, बूढ़ों, बीमारों आदि के प्रति आदर या स्नेह की भावना के बजाय उपेक्षा और घृणा तथा तिरस्कार की भावना ही अधिक प्रकट होती है। अतः ऐसी विचारधाराओं का पतन अवश्यभावी था और हुआ भी ऐसा ही।

आज सारे संसार की सबसे बड़ी समस्या शांति की समस्या है। इस समस्या के हल में यदि सबसे बड़ी कोई बाधा है तो वह है जातीय अंधभक्ति। यह भावना शोषण, उपनिवेशीकरण, साम्राज्यवाद, युद्ध और घृणा की मूल भित्ति है।

इटली में फासीवादी शासन का पतन हो गया लेकिन फासीवाद विभिन्न रूपों में संसार के कोनों में अभी भी विद्यमान है। फासीवाद या नाजीवाद के इन रूपों को जितनी ही जल्दी समाप्त कर दिया जाय मानवता के कल्याण के लिए उतना ही अच्छा है।

परिशिष्ट

(१) राजदर्शन के विकास में मनोविज्ञान का योग

(Psychology and Political Philosophy)

मनोविज्ञान (Psychology) क्या है ?

राजदर्शन के विकास में मनोविज्ञान (Psychology) ने क्या योग दिया है, यह जानने के पूर्व आवश्यक है कि हम पहले मनोविज्ञान क्या है, यह जान लें। इस स्थल पर हमें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि राजदर्शन क्या है क्योंकि इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में हम उसके अर्थ, प्रकृति और विस्तार आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाल आये हैं। अतएव, मनोविज्ञान क्या है, यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजने की चेष्टा हम करें तो इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वह एक ऐसा विज्ञान या शास्त्र है जिसकी सहायता से हम मानव-मस्तिष्क का अध्ययन करते हैं। मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों का अध्ययन और विश्लेषण करते हैं और यह जानने का प्रयास करते हैं कि उनकी भावी गतिदिशा क्या होगी। इस प्रकार जब राजदर्शन या राजविज्ञान में मनोविज्ञान का प्रयोग होता है तो हमें उन मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन का अवकाश मिलता है जो राज्य की प्रत्येक विधि (Law) तथा अन्य गतिविधि के पीछे कार्य करती हैं। राजविज्ञान का अध्ययन करने में कई ढंगों से सहायता ली जाती है। मनोविज्ञान भी उसके अध्ययन का एक ढंग है।

मनोविज्ञान का प्रयोग

आधुनिक राजदर्शन (Modern Political Philosophy) में मनोविज्ञान का प्रयोग अपेक्षाकृत एक नया विकास है। नया विकास, इन अर्थों में कि राजदर्शन में मनोविज्ञान का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही आरंभ हुआ है। मनोविज्ञान का सबसे पहले फ्रांसीसी दार्शनिकों और विचारकों ने प्रयोग किया था। इसके बाद अमेरिका में और तब इंगलैण्ड में यह चीज पहुँची। हम इस ग्रंथ के मूलपाठ में बितबीं आये हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में राज्य का अध्ययन करने में सावयवी सिद्धान्त (Organic theory) का बहुत अधिक प्रयोग होने लगा था। सावयवी सिद्धान्त के संबंध में हम विस्तारपूर्वक अगला परिशिष्ट में बतलायेंगे किन्तु यहाँ यह समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि सावयवी सिद्धान्तशास्त्री राज्य की तुलना मनुष्य के शरीर से करते हैं और राज्य के विभिन्न अंगों को शरीर के विभिन्न अंगों के समान मानते हुए दोनों में एकरूपता और सादृश्यता स्थापित करते हैं। राज्य के संबंध में जीवशास्त्र (Biology) का अध्ययन करते हुए उनका ध्यान मस्तिष्क के अध्ययन की ओर गया और मस्तिष्क के अध्ययन के फलस्वरूप राजदर्शन में मनोविज्ञान का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार ध्यान से देखा जाय तो राजदर्शन और राजविज्ञान में मनोविज्ञान का प्रयोग करनेवाले दार्शनिक राज्य की सावयवी सिद्धान्त की परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं। जिस प्रकार सावयवी विचारक राज्य की एकता और सामदायिक एकता पर बल देते हैं, ठीक उसी प्रकार मनोविज्ञान का प्रयोग करने वाले राजनीतिज्ञ भी।

राजदर्शन के मनोवैज्ञानिक विचारकों द्वारा प्राकृतिक विज्ञानों का प्रयोग समग्र ज्ञान की एकता की ओर संकेत करता है और उनकी पद्धति अनिवार्यत: निगमनात्मक (Deductive) है। वे अंकों का भी प्रयोग करते हैं।

राजदर्शन में मनोविज्ञान के प्रयोग की पृष्ठभूमि

लेकिन, क्या राजदर्शन के निरूपण में मनोविज्ञान का प्रयोग सर्वथा नया है ? राजदर्शन के इतिहास से परिचित विद्यार्थी इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देगा। वह कहेगा कि यूनानी राजदर्शन में प्लेटो और अरस्तू ने मनोविज्ञान का प्रयोग किया था। प्लेटो के भी पूर्व सॉफिस्टों ने मनोविज्ञान का अध्ययन किया था। इस संबंध में प्रोटोगोराज और जॉर्जियाज का नाम उल्लेखनीय है। मनोविज्ञान के अध्ययन का उसी परम्परा को प्लेटो ने राजदर्शन में प्रयुक्त किया। प्लेटो ने धर्म की व्याख्या करते हुए बतलाया कि मनुष्य का मस्तिष्क विविधांगीय (Heterogeneous) है। प्लेटो ने इसी सिलसिले में यह भी बतलाया था कि उसके तीन पक्ष हैं—पहला विवेक (Reason) दूसरा साहस (Courage) और तीसरा बुभुक्षा (Appetite)। इसी आधार पर उसने राज्य के समस्त नागरिकों को तीन भागों में विभक्त किया था, दार्शनिक (Philosopher), सैनिक (Soldiers) और कृषक तथा कारीगर (Artisans)। अतः देखा जाय तो प्लेटो के काल्पनिक या आदर्श राज्य का समग्र आधार ही मनोविज्ञान के अध्ययन पर था।

इसी तरह अरस्तू ने भी अपने राजदर्शन का निरूपण मनोविज्ञान या मस्तिष्क के अध्ययन से आरंभ किया। लेकिन यह मौलिक समानता होते हुए भी अरस्तू के परिणाम बिलकुल भिन्न निकले। अरस्तू ने बतलाया कि मस्तिष्क विविधांगीय (Heterogeneous) नहीं अपितु एकांगीय (Homogeneous) है; अर्थात् उसके पहलू तो कई हैं लेकिन सभी पक्ष एक दूसरे में इतने घुले-मिले हैं कि उनमें से प्रत्येक को बिलकुल अलग-अलग विभक्त नहीं किया जा सकता ! सबका एक दूसरे से निकट संबंध है।

प्लेटो और अरस्तू के बाद यूनानी राजदर्शन का ह्रास हो गया। रोमन विजय-यात्राओं की पदचापों और मध्ययुग के अंधकाल में राजदर्शन में मनोविज्ञान के अध्ययन की वृत्ति लुप्त हो गया।

ज्ञान के पुनरोदय (Renaissance) के समय जब विवेकाधारित अध्ययन पर बल दिया जाने लगा तो अपने युग के शिशु मैकियावेली ने मानवीय मस्तिष्क का अध्ययन कर यह परिणाम निकाले कि मनुष्य स्वार्थी और पतनशील है और मानव-प्रकृति के सी अध्ययन पर उसने अपने राजनीतिक विचार स्थिर किये। मैकियावेली द्वारा किया गया मनोविज्ञान का अध्ययन अपूर्ण था और उसके परिणाम भी त्रुटिपूर्ण थे फिर भी मानव-मस्तिष्क के अध्ययन द्वारा उसकी प्रकृति निर्धारित करने का यह तरीका उस युग की दृष्टि से सचमुच एक नया चरण था।

मैकियावेली के बाद मनोविज्ञान का जिस दार्शनिक ने सबसे अधिक तर्कसंगत रीति से अध्ययन किया वह हॉब्स था। लेकिन हॉब्स के पूर्व ही अनेक विचारकों ने सामुदायिक वृत्तियों, स्वभाव और परम्पराओं के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान का प्रयोग सन् १८४० से ही आरंभ कर दिया था। ऐसे व्यक्तियों में जॉन डनलप, एफ० गेल्टन, पी०जी० हैमरटन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। सामुदायिक मनोविज्ञान (Group Psychology) के अध्ययन की इसी परम्परा को लजारस, स्टानहॉल, विल्हेल्म वूण्ड आदि ने सन् १८६० के आगे बढ़ाया। इस धारा के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों और जातियों की भाषाओं, परम्पराओं, अंधविश्वासों और लोक कथाओं का विस्तृत अध्ययन किया गया।

किन्तु इन सब की अपेक्षा हॉब्स का मनोवैज्ञानिक अध्ययन राजदर्शन के निरूपण की दृष्टि से सर्वाधिक व्यवस्थित और तर्कसंगत था। हॉब्स ने मानव-मस्तिष्क का अध्ययन कर मैकियावेली की ही भाँति यह परिणाम निकाला कि मनुष्य स्वार्थी, लोभी और भीरु होता है। वह अनुबंध द्वारा राज्य में इसलिए प्रवेश करता है क्योंकि वह समझता है कि वह प्राकृतिक

अवस्था (State of Nature) में सुरक्षित नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हॉब्स का सम्पूर्ण अनुबंध का, सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त(Theory of Social contract) ही मनोविज्ञान पर आधारित है। लॉक और रूसो ने भी मानव-प्रकृति का अध्ययन किया किन्तु मानव-प्रकृति संबंधी उनके विचार बिलकुल भिन्न थे। हॉब्स ने मनुष्य को जहाँ स्वार्थी, भीरु और क्रूर बतलाया था, वहीं लॉक और रूसो ने मनुष्य की अच्छाइयों पर बल दिया। उन्होंने कहा मनुष्य बुरा नहीं है, परिस्थितियाँ उसे वैसा बना देती हैं। हॉब्स ने मनुष्य की प्रकृति के अध्ययन के आधार पर राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की भीरुता के आधार पर निर्धारित की थी—वहीं लॉक ने राज्य को कुछ अधिकारों की रक्षा का साधन माना और रूसो ने कहा कि राज्य व्यक्ति के उच्चतर विवेक या सामान्य इच्छा का फल है।

सर हेनरी मेन ने भी मानव-प्रकृति का अध्ययन किया था। उन्होंने कहा—मनुष्य के मस्तिष्क पर संस्कारों का बड़ा प्रभाव पड़ता है और वह इन्हीं के आधार पर अपने सारे कार्य करता है। मेन का कहना था कि व्यक्ति आदतों का दास है और इसीलिए राज्य परम्परागत (Traditional) है। राज्य की आज्ञाओं को मानने में इसीलिए मनुष्य आगा-पीछा नहीं सोचता क्योंकि ऐसा करने की उसकी आदत पड़ गयी है।

इसी प्रकार मैकडॉगल ने भी मनोविज्ञान को समस्त सामाजिक आचरण की कुंजी माना था। उसका कहना था कि समाज में रहनेवाले सभी व्यक्तियों के आचरणों के रहस्य को मनोविज्ञान द्वारा समझा जा सकता है। इसके भी पूर्व बेजहट ने मनोविज्ञान के आधार पर परम्पराओं की उत्पत्ति का इतिहास स्पष्ट किया था और यह बतलाया कि नयी-नयी मानसिक आवश्यकताओं के कारण ही उक्त परम्पराओंको भी तोड़ने की आवश्यकता क्यों पड़ी। ग्राहम वैलेस ने मनोविज्ञानके आधार पर ही यह बतलाया कि राजनीति, सक्रिय राजनीति, में व्यक्त का जागरूक विवेक बहुत कम कार्य करता है। अधिकतर मनुष्य के मस्तिष्क की सुषुप्त प्रवृत्तियाँ ही राजनीतिक क्रियात्मक कार्यों में निर्देशन करती हैं।

इस परम्परा को उपयोगितावादियों ने भी आगे बढ़ाया। उपयोगितावादियों के पिता बेन्थम ने मनुष्य के मस्तिष्क का अध्ययन कर उसके दो स्वामी बतलाए—सुख और दुख। बेन्थम का कहना था कि मस्तिष्क इन्हीं दोनों स्वामियों के आदेशों के अनुसार कार्य करता था। वह सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति चाहता है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य की यह कसौटी है। अन्य उपयोगितावादियों ने इस मौलिक सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं किया।

कल्पनावादियों के आचार्य हीगल ने मस्तिष्क को सर्वोच्च माना था और अंतिम सत्य विचार को ही बतलाया था जो अन्य कुछ नहीं केवल मानव-मस्तिष्क की ही उत्पत्ति है।

सावयवी सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले बहुत से विचारक राज्य के सावयवी रूप को जीवात्मक न मानकर मनोवैज्ञानिक तथ्य ही मानते हैं।

इंगलण्ड के आधुनिक विचारकों में लास्की और कोल का राजदर्शन में मनोविज्ञान का प्रयोग भी उल्लेखनीय है। लास्की का कहना था कि मनुष्य का मस्तिष्क विविध भाँति की प्रक्रियाओं की उत्पत्ति का केन्द्र है। इसीलिए व्यक्ति का एक व्यक्तित्व नहीं अपितु अनेक व्यक्तित्व होते हैं। इनमें से प्रत्येक व्यक्तित्व का अलग-अलग प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जी० डी० एच० कोल का कहना है कि राजदर्शन और मनोविज्ञान एक दूसरे की पूरक विद्याएं हैं क्योंकि इन दोनों का ही मानवीय मस्तिष्क की सक्रियता से संबंध है।

फ्रांस में आधुनिक काल में ऑगस्टेकॉमटे ने मनोविज्ञान का प्रयोग किया। कॉमटे की मनोवैज्ञानिक पद्धति की परम्परा को ग्रेबील ट्रेड, एमिले डर्कहीम, गुस्टावली बॉन आदि ने आगे बढ़ाया।

अमेरिकन विचारकों में जिन्होंने मनोविज्ञान का अध्ययन किया उनमें एल० एफ० वाई०, डब्लू, जी० सुमनर, एच० एच० गिडिंग्स, ई० ए० रॉस, सी, एच० कूली, सी० ए० एलवुड के नाम उल्लेखनीय हैं। अति आधुनिक काल में आर० एम० मैकाइवर, वाल्टरलिपमैन, ए० एल० लॉवेल और जे० एल० वाल्डविन का नाम लिया जा सकता है।

(२) राज्य का सावयवी सिद्धान्त

(The organic theory of State)

राज्य के सावयवी सिद्धान्त का अर्थ

राज्य के सावयवी सिद्धान्त की उत्पत्ति भी उन्नीसवीं शताब्दी की ही देन है। सावयवी सिद्धान्त क्या है? इस जिज्ञासा के उत्तर में हमें कहना पड़ेगा कि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य की तुलना मनुष्य के शरीर से की जाती है और राज्य के विभिन्न अंगों को व्यक्ति के विभिन्न अंगों के समान बतलाया जाता है। उदाहरण के लिए सावयवी सिद्धान्त का कोई विचारक राज्य के विधानमण्डल का मनुष्य के हृदय, कार्य पालिका को मस्तिष्क, न्याय-पालिका को विवेक बतला देगा। इसी प्रकार राज्य में फैले डाक-तार विभाग तथा संचार के अन्य साधनों की वह अत्यन्त सरलता से मनुष्य के शरीर की रक्तवाहिनी शिराओं से तुलना कर बैठेगा। राज्य के सावयवी सिद्धान्त-पोषी विचारक राज्य के अनिवार्य विकास में विश्वास करते हैं? उनका कहना है कि जिस तरह मनुष्य के शरीर का विकास होता है, ठीक उसी तरह राज्य का भी।

राज्य के सावयवी सिद्धान्त के विचारक

इस सिद्धान्त के विकास में और उसके जन्म देनेवाले विचारकों में जर्मनी, फ्रांस और इंगलैण्ड तीनों ही देशों के विचारकों का नाम लिया जा सकता है। जर्मन विचारकों में कल्पनावादी विचारकों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि काण्ट ने राज्य को अनुबंधात्मक (Contractual) बतलाया था तथापि फिक्टे ने सावयविकता की ओर कदम बढ़ा। फिक्टे का कहना था कि राज्य को अनुबंध का फल मान भी लिया जाय तो भी राज्य में एक नागरिक से दूसरे नागरिक के संबंध तथा प्रत्येक नागरिक के राज्य से संबंध सावयवी ही रहते हैं। इस कथन का क्या तात्पर्य है? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के पूरे शरीर से किसी अंग को अलग कर दिया जाय या शरीर के सर्वांगों को अलग-अलग कर दिया जाय तो वह किसी मतलब का नहीं रहता। ठीक उसी प्रकार राज्य के नागरिकों का एक दूसरे से अलग होकर या राज्य से अलग होकर कोई अर्थ नहीं रहता। इन्हीं अर्थों में हीगल ने कहा था कि राज्य में आकर मनुष्य अपना वास्तविक रूप प्राप्त करता है।

सावयवी सिद्धान्त का इतिहास

यह सच है कि आधुनिक कालीन राज्य का सावयवी सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दी से आरंभ हुआ लेकिन यह सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना विवेकयुक्त दर्शन का अध्ययन। पाश्चात्य राजदर्शन की आदि भूमि यूनान के विचारक इससे अपरिचित न थे। प्लेटो ने स्वयं मानवीय मस्तिष्क को राज्य का लघु रूप माना है। वह राज्य को मनुष्य के मस्तिष्क का विकसित रूप ही समझता है। इसीलिए प्लेटो ने मानव-मस्तिष्क के संबंध में जहाँ सूक्ष्म विचारों को प्रकट करने की आवश्यकता समझी वहीं उसने मस्तिष्क की प्रकृति

बतलाने के लिए राज्य की प्रकृति बतलाना आरंभ कर दिया क्योंकि राज्य को वह मानवीय मस्तिष्क का विकसित और बड़ा रूप ही मानता है। यह बात उसके इस कथन से भी स्पष्ट हो जाती है जब वह यह कहता है कि मनुष्य के मस्तिष्क की प्रकृति सूक्ष्म अक्षरों के तुल्य है और राज्य की स्थूल। जिस तरह बड़े अक्षरों का पढ़ना छोटे अक्षरों के पढ़ने की तुलना में आसान होता है उसी प्रकार राज्य की प्रकृति का अध्ययन करना आसान होता है, बजाय एक व्यक्ति के मस्तिष्क के अध्ययन करने के। इसी प्रकार रोमन विचारों में सिसरो ऐसा था जिसने संप्रभु शासक की तुलना शरीर की आत्मा से की थी और कहा था—जिस प्रकार आत्मा का शरीर पर स्वामित्व होता है उसी प्रकार शासक का राज्य पर। इसी तरह रोमन विचारक राजकोष को वैधानिक व्यक्ति समझते थे और राजकोष के भी अधिकतर और कर्तव्य निश्चित थे। यद्यपि यूनान के अन्य बहुत से राजनीतिक सिद्धान्त मध्ययुग में आकर खो गये लेकिन सावयविकता के सिद्धान्त के संबंध में ऐसा नहीं हुआ। मध्ययुग के विचारकों ने मनुष्य के शरीर तथा राज्य दोनों में समानता स्थापित करते हुए अनेकानेक रूपक बनाये। बाइबिल में ऐसे रूपकों का अभाव नहीं है। मार्सीलिओ पेडुआ और जॉन सैलिसबरी ने राज्य के कृत्यों को निर्धारित करते हुए उसकी तुलना मनुष्य के शरीर से की थी। उन्होंने यह भी कहा था कि जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग अपना-अपना कार्य करते हैं उसी प्रकार राज्य के विभिन्न वर्गों को भी अपना-अपना कार्य करना चाहिए। इसके साथ ही सैलिसबरी ने चर्च को शरीर की आत्मा की भाँति राज्य की आत्मा, शासक या नरेश को सिर, विधानमण्डल को सिर, विभिन्न प्रान्तों के राज्यपालों (Governors) को आँख, नाक और कान, सेना को हाथ तथा किसानों और कारीगरों को पैरों जैसा बतलाया था। मार्सीलिओ ने भी राज्य को सजीव सावयवी वस्तु माना है। एलथ्यूसियस की संप्रभुता का सिद्धांत भी राज्य की सावयविकता पर आधारित है। अनुबंधवादी विचारक और दार्शनिक राज्य की सावयवी प्रकृति के विरोधी हैं लेकिन फिर भी उनमें से हॉब्स ऐसा है जो राज्य के संप्रभु शासक को दैत्याकार कृत्रिम जीव मानता है। स्वयं रूसो ने भी एक स्थल पर विधान-मंडल को हृदय और न्याय-पालिका को विवेक बतलाया है। ग्रोशस तथा पफेनडर्फ ने एलथ्यूसियस की परम्परा का अनुकरण करते हुए संप्रभुता के आधार सावविकता पर ही निर्धारित किये थे।

सामाजिक अनुबंधवादी राज्य को स्वाभाविक नहीं कृत्रिम मानते हैं क्योंकि उनका मत है कि राज्य अनुबंधजनित (Contractual) है। राज्य और व्यक्ति दो अलग वस्तुएँ हैं। वे राज्य की ऐतहासिकता में विश्वास नहीं करते। सच पूछा जाय तो राज्य के सावयवी सिद्धान्त ने सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्तों को खण्डित करने के लिए ही जन्म लिया। सावयवी सिद्धान्तशास्त्रियों ने बतलाया कि राज्य ठीक उसी प्रकार से स्वाभाविक है, जिस प्रकार मनुष्य का शरीर। जिस प्रकार शरीर कृत्रिम नहीं है, अर्थात् उसको किसी अनुबंध द्वारा नहीं बनाया गया है, ठीक उसी प्रकार राज्य भी कृत्रिम नहीं है। जिस प्रकार शरीर अकस्मात् पूर्ण विकसित रूप में उत्पन्न नहीं हो जाता उसी प्रकार राज्य भी उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य धीरे-धीरे बढ़ता है उसी प्रकार राज्य भी इतिहास के अंचलों से गुजरता हुआ आगे बढ़ता है। राज्य और व्यक्ति को अनुबंधवादियों ने दो पक्ष या दल माना था। सावयवी विचारकों ने इस मत का भी खण्डन किया और बतलाया कि राज्य और व्यक्ति इन दोनों का कोई अलग अस्तित्व नहीं है, दोनों एक दूसरे से संयुक्त हैं और दोनों की यथार्थता ही इसी में है कि वे एक दूसरे से संबद्ध रहें। अलग होकर व्यक्ति न तो व्यक्ति रहता है और न राज्य, राज्य। दोनों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

सावयवी विचार किसी एक ही यूरोपियन देश में उत्पन्न नहीं हुए। जिन देशों के

विचारक इस क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं, उनमें जर्मनी, फ्रांस और इंगलैण्ड का नाम प्रमुख हैं; किन्तु हम उनके संबंध में राष्ट्रीयता के क्रम से विचार न करके सावयविक सिद्धान्त की उन शाखाओं के अनुसार विचार करेंगे जिनसे वे संबद्ध थे। इसी प्रसंग म यह बतला देना भी अनुचित न होगा कि राज्य के सावयवी सिद्धान्त की तीन शाखाएँ हैं : (१) मनोवैज्ञानिक, (२) जोवशास्त्रीय और (३) समाजशास्त्रीय । नीचे हम इनमें से प्रत्येक के संबंध में सक्षप में प्रकाश डालेंगे।

सावयवी सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक धारा

हम यह तो बतला हा चुके हैं कि राजदर्शन में मनोविज्ञान का प्रयोग जर्मनी में उन्नीसवीं शताब्दा के मध्य से शुरू हो गया था। कल्पनावादियों ने राज्य को नैतिक सावयवितायुक्त माना था और बाद म इंगलैण्ड तथा फ्रांस आदि के कुछ विचारकों ने राज्य को जीवात्मक सावयविकता भी कहा। मानसिक या मनोवैज्ञानिक सावयविकता के समर्थकों ने दोनों मे समन्वय कराया। उन्होंने कहा, जिस प्रकार शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होता है, ठोक उसी प्रकार राज्य का भी विकास होता है। राज्य का मस्तिष्क व्यक्ति के मस्तिष्क की तुलना में बड़ा होता है। इस कथन से प्रकट है कि मनोवैज्ञानिक सावयवा विचारक प्लेटो से कितने अधिक प्रभावित थे। उन्होंने यह भी कहा कि राज्य को इच्छा व्यक्ति की इच्छा से बड़ी है। इस प्रकार के विचारकों में जोसेफ वान गोरेस का नाम अधिक प्रसिद्ध है। अन्य विचारकों ने बतलाया कि जिस प्रकार विकास के साथ हा मनुष्य के भाव, उनकी वृत्तियाँ आदि बदलती जाती हैं उसी प्रकार ज्यों-ज्यों राज्य का विकास होता है, उसके भाव और प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन होता जाता है। यहा परिवर्तन विभिन्न प्रकार के शासनतंत्रों के स्थापित होने के कारण है। यही कारण है कि उनमें कभी राजतंत्र, तो कभी प्रजातंत्र, तो कभी निरंकुश तंत्र के अनुसार शासन चलता है। व्यक्ति सोमित है और राज्य उससे कहीं अधिक व्यापक; इसलिए वह उच्चतर और पूणतर है। ऐसे जर्मन विद्वानों में कार्ल वेलकर, एफ० और टी० रोमर-एफ० जे० स्टॉल, एल० वॉनस्टोन तथा ओ० गायर्के के नाम उल्लेखनीय हैं।

सावयवी सिद्धान्त की जीवशास्त्रीय धारा

उन्नासवीं शताब्दो म एक ऐसा दर्शक भी मध्यकाल के लगभग आया जब जीवशास्त्र (Biology) का अध्ययन बड़ा व्यापक हो गया। जीवशास्त्र का प्रयोग प्रायः सभी विषयों म होने लगा। तदनुसार जीवशास्त्र राजदर्शन में भी आया। जीवशास्त्रीय विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति, विकास, संघठन और अतिविधि की तुलना मनुष्य के जन्म, विकास और उसके कृत्यों से की। जर्मनी में इस प्रकार के दर्शन का प्रथम प्रतिपदक कार्ल जकारिया था। जकारिया ने बतलाया कि राज्य जोवात्मक सावयव है क्योंकि किसी अन्यसावयव (Organism) की भाँति राज्य भी पदार्थतत्व और आत्मा के मिश्रण से बना है। मनुष्य के अन्दर उसकी आत्मा विकसित होती है, उसका मस्तिष्क विकसित होता है और बाहर से उसका शरीर। राज्य की भी यही दशा है। बाहर से वह अपने भूमि-क्षेत्र का विस्तार करता है और अन्दर से उसके नागरिकों की समृद्धि बढ़ती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य का विकास आन्तरिक और बाह्य दोनों ढंगों से होता है। यही नहीं, सावयवी वस्तुओं में अन्य जीवांश अपनी रक्षा के लिए शत्रुओं से बराबर लड़ते रहते हैं, इसी प्रकार राज्य भी अपने शत्रुओं से रक्षा करने के लिए बराबर संघर्ष-रत रहता है। जिस प्रकार शरीर का लक्ष्य अधिक से अधिक समन्वय स्थापित करना है ठीक उसी प्रकार का लक्ष्य भी समन्वय स्थापित करना है। जीवशास्त्रोय सावयविक विचारक राजतंत्र की सर्वश्रेष्ठ शासन मानते हैं। कार्ल वान ग्राफ ने मनोवैज्ञानिक और जीवशास्त्रीय पद्धतियों का समन्वय करके राज्य के कर

वसूल करने की व्यवस्था तथा उसकी व्यय-व्यवस्था को मनुष्य के भोजन करने तथा भोजन के पाचन द्वारा शक्ति मिलने की व्यवस्था के समान बतलाया था। मनुष्य के भोजन के पचने के बाद उसके बने रक्त द्वारा जिस तरह शरीर के विभिन्न अंगों का पोषण होता है, राज्य के वितरण की व्यवस्था की उसी से तुलना की गयी थी। जिस प्रकार मनुष्य अपनी रक्षा के लिए अपने हाथ-पैरों को मजबूत रखता है उसी प्रकार राज्य अपनी सैन्य शक्ति को भी सुदृढ़ रखता है। संप्रभु शासक की तुलना सिर से की गयी है। जिस प्रकार मस्तिष्क यह सोचता रहता है कि समस्त शरीर का कल्याण किस प्रकार हो उसी प्रकार शासक भी बराबर इस बात पर विचार करता रहता है कि कुल राज्य का मंगल किस तरह हो। जे० के० ब्लंशली ने इसी तरह के विचार प्रकट किये हैं। ब्लंशली ने राष्ट्रीयता को राज्य की आत्मा माना है।

सामाजिक सावयविकता का सिद्धान्त

सामाजिक सावयविकता के सिद्धान्त के पनपने का कारण समाजशास्त्र (Sociology) में जीवशास्त्र का प्रयोग किया जाना था। समाजशास्त्रीय राज्य और समाज दोनों को सावयविक मानते हैं। इस सिद्धान्त का विकास इंगलैण्ड तथा फ्रांस के विचारकों ने ही प्रमुखतः किया। कुछ अमेरिकन विचारकों ने राजदर्शन के अध्ययन में उक्त दृष्टिकोण से काम लिया। ऐसे विचारकों में ऑगस्टे कॉमटे, हर्बर्ट स्पेन्सर, लेस्ली स्टीफेन, एल० टी० हॉबहाउस, जे० एस० मेकेन्जी, रेने वॉर्म्स तथा एलफ्रेड फूली आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु हम यहाँ उदाहरण के रूप में केवल दो ही विचारकों पर विचार करेंगे।

सुप्रसिद्ध फ्रेंच विचारक ऑगस्टे कॉमटे ने प्राकृतिक अधिकारवादी तथा अनुबंधवादी राजदर्शन का फ्रांस में बड़ी तीव्रता के साथ खण्डन किया और समाजशास्त्रीय, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और व्याप्तिमूलक प्रणाली का प्रयोग करते हुए राज्य के सावयवी विकास को स्पष्ट किया। कॉमटे ने बतलाया कि राज्य के विभिन्न अंग तथा कृत्य भी, एक सीमा तक जीवधारियों से ही मिलते-जुलते हैं। राज्य का विकास कृत्यों में विशेष योग्यता प्राप्त करने में छिपा है। कॉमटे ने समाजशास्त्र और जीवशास्त्र दोनों को एक ही विद्या के दो पक्षों की संज्ञा दी है। कॉमटे की समाजशास्त्र की कल्पना में राज्यशास्त्र भी सम्मिलित है।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने बतलाया कि विकास प्रगति का परिचायक है। प्रगति तभी होती है जब कोई चीज निरन्तर विकसित होती रहती है। स्पेन्सर ने विस्तारपूर्वक यह बतलाया है कि मनुष्य के अंगों से राज्य के विभिन्न अंग किस प्रकार मिलते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के पाचक अंग होते हैं उसी तरह राज्य के भी पाचक अंग होते हैं। मनुष्य भोजन करता है। वह उसके उदर में जाता है। वहाँ उसे आँतें पचा डालती हैं जिससे रक्त बनता है। रक्त का सम्पूर्ण शरीर में वितरण होता है जिससे मनुष्य की हड्डियाँ, मज्जा तथा अन्य आवश्यक पदार्थ बनते हैं और जिनसे हमारा जीवन चलता है। इसी प्रकार राज्य में भी श्रमिक वर्ग होता है। वह धन पैदा करता है। इसके बाद वह राज्य द्वारा वितरित किया जाता है और राज्य के समस्त वर्गों का उससे निर्वाह होता है। मस्तिष्क की आज्ञा के अनुसार समस्त शरीर के अंग कार्य करते हैं। उसी तरह शासक की आज्ञानुसार प्रजा के विभिन्न वर्ग कार्य करते हैं।

जिस प्रकार मानवजाति का विकास हुआ है, चरवाहों के युग से आधुनिक सभ्यता के युग तक ठीक उसी प्रकार राज्य का भी विकास हुआ है। इस मत का प्रतिपादन लेस्ली-स्टीफेन, डी० जी० रिशी, एल० टी० हॉबहाउस आदि ने किया है। पॉल वॉन लिलिएनफेल्ड का तो कहना है कि राज्य मनुष्य के शरीर से भी अधिक पूर्ण सावयवी है। एलबर्ट शेफिल ने जीवशास्त्रीय समाजशास्त्र की सहायता से अनेक तुलनात्मक रूपक खड़े किये और बतलाया कि चेतन-अचेतन और सामाजिक जगत् एक ही प्रकार के नियंत्रण से होता

है। रेने वॉर्म्स के अनुसार राज्य एक उच्चतर समाज है। एलफ्रेड फूली ने मनोवैज्ञानिक और जीवशास्त्रीय पद्धति को समन्वित करने की चेष्टा की।

सावयवी सिद्धान्त का प्रभाव

राज्य के सावयवी सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक, जीवशास्त्रीय और सामाजिक चिन्तन धाराओं पर विचार कर लेने के बाद अब हम इस स्थिति में हैं कि उसके प्रभावों पर विचार कर सकें। उक्त सिद्धान्तों के प्रभावों का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम इन परिणामों पर पहुँचेंगे :—

(१) सामाजिक अनुबंधवादी विचारकों ने अनुबंध द्वारा राज्य की उत्पत्ति बतलाकर उसे अस्वाभाविक और कृत्रिम बना दिया था। राज्य और व्यक्ति को भिन्न बना दिया था। सावयवी सिद्धान्तशास्त्रियों ने इस मत का खण्डन कर दिया और राज्य को शरीर की भाँति ही स्वाभाविक बतलाया। उन्होंने राज्य और व्यक्ति के भेदों को भी यह कह कर समाप्त कर दिया कि शरीर का एक अंग दूसरे के विरुद्ध नहीं जा सकता।

(२) राज्य के सावयवी सिद्धान्त से जातीय और राष्ट्रीय एकता में बड़ी वृद्धि हुई।

(३) सावयवी सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक, जीवशास्त्र और समाजशास्त्र आदि के प्रयोग द्वारा उक्त विचारकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सारे संसार का ज्ञान एक इकाई है। और,

(४) इसके द्वारा व्यक्तिवादी सिद्धान्तों को पनपने में सहायता मिली।

समालोचना

अन्त में यह आवश्यक है कि इस पर एक समालोचनात्मक दृष्टि भी डाल ली जाय।

रचनात्मक और गुणों की दृष्टि से देखा जाय तो राज्य के सावयवी सिद्धान्त की वजह से ऐतिहासिक और विकासवादी सिद्धान्त का महत्व बढ़ गया। इसके अतिरिक्त राज्य की शक्ति बढ़ाये जाने में भी सहायता मिली। केन्द्रीय शासन के विषय में अनुकूल जनमत तैयार किया जा सका। लेकिन इसके साथ ही उक्त सिद्धान्त में कुछ त्रुटियाँ भी थीं; जो इस प्रकार हैं :—

(१) सावयवी सिद्धान्त के विचारकों में परस्पर परिणामों संबंधी संगति नहीं है। एक ही सिद्धान्त का प्रयोग करके भिन्न-भिन्न विचारकोंने भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम निकाले। यदि एक विचारक ने सावयवी एकता बनाये रखने के लिए राजतंत्र का समर्थन किया तो दूसरे ने सिद्ध कर दिया कि सावयवी एकता बनाये रखने के लिए आभिजात्यतंत्र ही आवश्यक है। शेफिल का कहना था कि राज्य का सावयवी सिद्धान्त अनिवार्यतः विकासवादी है, इसलिए वह हमें प्रजातंत्र की ओर ले जाता है। स्पेन्सर ने इन सबके विपरीत राज्य के कृत्यों को अत्यन्त सीमित कर दिया और राज्य को एक मर्यादा के अन्दर सीमित रहने की सलाह देकर सावयवी सिद्धान्त को अपने व्यक्तिवाद के पोषण का एक साधन बना दिया।

(२) कुल मिलाकर इस सिद्धान्त से तानाशाही प्रवृत्ति की वृद्धि हुई।

(३) राज्य की सावयविकता का सिद्धान्त मूलतः गलत है क्योंकि राज्य की रचना में मनुष्य के शरीर जैसी कोई समानता नहीं है। यदि कोई समानता दिखलायी भी पड़ती है तो वह केवल काल्पनिक है।

(४) राज्य की इच्छा सब की इच्छा नहीं है। उदाहरण के लिए यदि राज्य कर बढ़ाता है तो उसका ऐसा करना सबकी इच्छा के अनुकूल होगा या वह सबकी इच्छा के प्रतिकूल

होगा यह कैसे कहा जा सकता है ? कुछ न कुछ व्यक्ति अवश्य ही इसका विरोध करेंगे और बहुधा ऐसा होता है कि राज्य बहुत से लोगों की इच्छाओं के विरुद्ध कार्य कर बैठता है।

(५) सावयवी सिद्धान्त का उचित उपयोग नहीं हुआ। उसकी सहायता से व्यक्तिवाद पनपा जो अन्ततः व्यक्ति और समाज के हितों के प्रतिकूल सिद्ध हुआ, और

(६) सावयवी वस्तुओं का विकास स्वयमेव होता है। राज्य के संबंध में ऐसा नहीं है। उसके विकास के लिए अनिवार्यतः विधानमण्डलीय कार्रवाई की आवश्यकता होती है। इससे सिद्ध होता है कि राज्य अन्य सावयवी वस्तुओं की भाँति नहीं है।

(३) मध्ययुग में धर्मतंत्र का विकास

उचित होगा यदि हम यहाँ संक्षेप में यह बतला दें कि मध्ययुग में धर्मतंत्र (Theocracy) की कल्पना का क्रमिक विकास किस प्रकार हो गया था। सत्य तो यह है कि धर्मसत्ता और राजसत्ता में विभेद ईसा के काल से ही आरंभ हो गया था। ईसा ने यह कहा भी था कि उनका संसार अलग है। वह ईश्वर का संसार है। मनुष्य दोनों संसारों का प्राणी है। अतएव उसे दोनों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। 'जो सीजर का है वह सीजर को दो और जो ईश्वर का है उसे ईश्वर को।' ईसा के इस उपदेश में यही भाव छिपा था। सन्त पॉल ने राजसत्ता के प्रति तटस्थता दिखलाते हुए भी यह कहीं नहीं कहा था कि मनुष्य राज्य के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करे। सन्त पॉल भी राजाज्ञाओं के माने जाने के पक्ष में था क्योंकि वह राज्यशक्ति को भी ईश्वर की ही उत्पन्न की हुई दैवी शक्ति समझता था। उसकी तटस्थता में संसार के प्रति विरक्ति का भाव था। ईसा की मृत्यु के बहुत दिनों के बाद तक यह प्रश्न पड़ा रहा और इसके बाद चौथी शताब्दी में सन्त एम्ब्रोज ने पुनः सम्राट् के अधिकारों के संबंध में विवाद उठा कर सम्राट् की सत्ता को सांसारिक बतलाया और कहा कि आध्यात्मिक क्षेत्र में वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता। पोप गिलेशयस प्रथम ने भी राजसत्ता के संबंध में सन्त एम्ब्रोज का ही समर्थन किया। यहाँ तक धर्मसत्ता रक्षात्मक लड़ाई लड़ती रही। उसका यही प्रयत्न रहता था कि वह अपने अधिकार क्षेत्र को सम्राट् के हस्तक्षेप से मुक्त रखे लेकिन सन्त ऑगस्टाइन के विचारों से धर्मसत्ता का आक्रमणात्मक रुख प्रकट होता है। धर्मसत्ता ने अब यह कहना शुरू किया कि वह राजसत्ता से उत्तम है। इसलिए राजसत्ता को धर्म सत्ता का नेतृत्व स्वीकार करना चाहिए किन्तु अन्य विचारकों ने समझौते का मार्ग ढूंढ़ निकालने के प्रयत्न में दोनों सत्ताओं के सहयोग के सिद्धान्त का निरूपण कर डाला।

इसी के साथ एक तीसरा तत्व भी उदयीभूत हुआ। अभी तक ईसाई सन्त और पादरी निर्धन हुआ करते थे। अब उनके पास निर्धनों की सहायता तथा अन्य आध्यात्मिक कार्यों के लिए सम्पत्ति भी आ गयी। कालान्तर में राजसत्ता द्वारा मान्यता मिल जाने के कारण भूमि रखने का अधिकार भी पादरियों को मिल गया और अब धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ ईसाई पोपों में साम्पत्तिक और भौतिक हितों की रक्षा का दृष्टिकोण भी आ गया। चर्च और पादरियों के हाथ में यूरोप की बहुत-सी भूमि चली गयी। इसी के साथ पादरियों ने अपनी विद्वत्ता का पूरा लाभ उठाकर बर्बरों के साथ सहयोग आरंभ किया। प्रारंभ में बर्बर नरेश इनको अपना सहायक मानते थे। इसी बीच पादरियों के उच्चतम अधिकारी के रूप में पोप के पद पर रोम के बड़े पादरी (बिशप) की नियुक्ति होने लगी और चर्च की व्यवस्था को प्रशासनिक (Administrative) आधार मिल गया। पोप को नियुक्ति से, सम्पत्ति और भूमि पर अधिकार मिल जाने से तथा राजनीति के क्षेत्र में प्रशिष्ट हो जाने से धर्मसत्ता को और भी घमण्ड हो गया। उसके प्रवक्ता अपने सामने राजसत्ता को सर्वथा हीन समझने लगे। इसी काल में पोप ग्रेगरी सप्तम आदि जैसे प्रबल और

उग्र धर्मसत्ता समर्थक विचारक पैदा हुए। इन्होंने सम्पूर्ण संसार को पोप के अधिकार-क्षेत्र की वस्तु घोषित करना आरंभ कर दिया। डोमिनीकन तथा फ्रांसिस्कन सम्प्रदायों ने भी पोप का आतंक फैलाया। इन सम्प्रदायों के संत न केवल धर्म-प्रचार करते थे बल्कि अपने विरोधियों पर अत्याचार करने से भी नहीं चूकते थे। इसके बाद पोपों ने राजाओं के व्यक्तिगत आचरणों के निरीक्षण करने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया और स्कालस्टिक दर्शन द्वारा पोप के अधिकारों को विद्या का जामा भी पहना दिया।

(४) राजदर्शन में इतिहास का प्रयोग

इतिहास का प्रयोग नया नहीं

राजदर्शन के इतिहास में राजनीतिक सिद्धान्तों के निरूपण में इतिहास का प्रयोग कुछ नया नहीं है। समय-समय पर विभिन्न विचारकों ने इसका प्रयोग किया। पाश्चात्य राजदर्शन के आदि काल में अरस्तू ने इतिहास की सहायता से राजदर्शन के सिद्धान्त स्थिर किये। उदाहरण के लिए, अरस्तू द्वारा किया गया राज्यों का वर्गीकरण इसका प्रमाण है। रोमन युग में पोलिबियस ने भी यह स्वीकार किया कि अपने राज-सिद्धान्तों के निरूपण में उसने रोम के इतिहास से पर्याप्त सहायता ली है। कहा जाता है कि मैकियावली ने भी इतिहास का प्रयोग किया; किन्तु वस्तुतः मैकियावली ने इतिहास का प्रयोग नहीं किया। उसने अपने पूर्व निश्चित मतों को पुष्टि के लिए इतिहास से उदाहरणात्मक प्रमाण मात्र निकाल लिये हैं। किन्तु आधुनिक काल में इतिहास का प्रयोग बोदाँ से शुरू होता है। बोदाँ के बाद मॉण्टेस्क्यू ने ऐतिहासिक पद्धति का राजदर्शन के अध्ययन में प्रयोग किया। इसके बाद तो ऐसे विचारकों की बाढ़-सी आ गयी जिन्होंने राजदर्शन में इतिहास का प्रयोग किया। वीको और मॉण्टेस्क्यू के उपरान्त उन्नीसवीं शताब्दी में ब्लैकस्टीन, बर्क, डी मेस्त्रे, सन्त साइमन और ऑगस्टे कॉमटे के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक अध्ययन की प्रवृत्ति के सहायक सूत्र

राजदर्शन को ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने की प्रवृत्ति को सर्वाधिक बल विज्ञान और विकासवाद से मिला। विज्ञान में जीवशास्त्रियों का अनुदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह बात जीवशास्त्रियों के विषय में राज्य के सावयवी सिद्धान्त पर प्रकाश डालते समय हम बतला आये हैं। लेकिन प्रसंगवश यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि विकासवाद के जीवशास्त्रीय पक्ष को डारविन तथा हक्सले आदि ने विशेष रूप से विकसित किया था। ऐतिहासिक विचारकों को कल्पनावादी दर्शन से भी बड़ी सहायता मिली। हीगल की चर्चा करते हुए कल्पनावाद वाले अध्याय के पूर्वार्ध में हम बतला आये हैं कि इतिहास की प्रगति द्वन्द्वात्मक होती है और उसी तरह से राजदर्शन भी आगे बढ़ा है। उपयोगितावादी न्यायविदों ने भी, इनमें ऑस्टिन का नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य है, इतिहास का प्रयोग किया। संप्रभुता के सिद्धान्त को सिद्ध करने में ऑस्टिन ने विधि के इतिहास से पर्याप्त सहायता ली थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से राजदर्शन पर विचार करनेवाले विचारक इंगलैण्ड, जर्मनी तथा अमेरिका में हुए। फ्रांस में बोदाँ के और मॉण्टेस्क्यू आदि के बाद ऐसा कोई विचारक आधुनिक काल में नहीं हुआ जिसकी चर्चा अलग से की जाय।

इंगलैण्ड के विचारक

इंगलैण्ड में ऐतिहासिक अध्ययन करनेवाले विद्वानों का युग सर हेनरी मेन से आरंभ होता है। सर हेनरी मेन ने इतिहास की सहायता से विधियों को व्यवस्थित किया। उन्होंने

इस बात पर बल दिया कि विधि के दर्शन (Philosophy of Law) का रहस्य तभी समझा जा सकता है जब कोई सारे संसार के देशों की विधियों का तुलनात्मक अध्ययन करे और साथ ही प्रत्येक देश के प्रत्येक सामाजिक संवासों के इतिहास का क्रमबद्ध अध्ययन करे। सर हेनरी मेन का कार्यक्षेत्र अपने ही विचारों के समकालीन जर्मन विचारकों की तुलना में अधिक व्यापक इस दृष्टि से था क्योंकि उन्होंने विधि के विद्यार्थियों को केवल यूरोप या अपने ही देश की विधियाँ पढ़ने की सलाह नहीं दी अपितु कहा कि उन्हें सब देशों की विधियों का अध्ययन करना चाहिए। सर हेनरी मेन ने उपयोगितावादियों के तत्संबंधी विचारों से विरोध प्रकट किया। उन्होंने कहा था कि विधियाँ या संवास—चाहे वे सामाजिक हों या राजनीतिक—उन सबका भली भाँति अध्ययन किया जाना चाहिए। स्वयं मेन ने यह परिणाम निकाला था कि विधियों, परम्पराओं और संवासों में कोई आकस्मिक या सहसा परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। आगे चलकर एडमण्ड बर्क ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये थे। स्मरण रहे कि बर्क का यह विचार भी इतिहास पर ही आधारित था। मेटलैण्ड तथा सर फ्रेडरिक पोलक भी इतिहास के अध्ययन के समर्थक थे और उन्होंने मेन की ही परम्परा को आगे बढ़ाया था। मेन और बर्क को विशेष रूप से तथा सामान्यतः सभी अंग्रेज विचारकों को आभिजात्यतांत्रिक शासन में विश्वास था। मेन ने तो इसे इतिहास द्वारा भी सिद्ध कर दिया था। इतिहास के अध्ययन को परम्परा को पोलक के बाद ई० ए० फ्रीमैन, ज० आर० सीले, हेनरी सिजविक, ए० वी० डायसी, जेम्स ब्राइस आदि ने आगे बढ़ाया।

जर्मन विचारक

जर्मन विचारकों में इतिहासवादी स्कूल के प्रमुख विचारकों में हीगल का नाम सबसे पहले आता है। इसके बाद जी० बी० ह्यूगो, एफ० के० वी० सेविनी, जी० के० ब्लंशली का भी नाम उल्लेखनीय है। जिन दिनों इन विचारकों का जन्म हुआ उन दिनों जर्मनी की राजनीतिक अवस्था बड़ी ही खराब थी। जर्मनी छोटी-छोटी रियासतों में विभक्त था। केन्द्रीय सत्ता नहीं थी। कोई एक विधिसंहिता (Legal Code) नहीं थी। जर्मनी के विभिन्न राज्यों की तो अपनी-अपनी विधियाँ थीं ही, उनके अतिरिक्त रोमन विधियों का भी प्रयोग होता था। बौद्धिकतावादियों की दशा भी बहुत बुरी थी। बौद्धिकतावादियों की अवस्था सुधारने में काण्ट ने बड़ा कार्य किया। काण्ट के कार्यों से बौद्धिक विकास के लिए अन्य लोगों को उत्साह हुआ। हीगल के दर्शन ने विद्यार्थियों को इतिहास तथा उसके दर्शन का अध्ययन करने के लिए उत्साहित किया। हीगल के बाद ह्यूगो ने जर्मनी की विधियों को व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप देने का प्रयास किया। लेकिन सेविनी ने इस दिशा में बड़ा कार्य किया। सेविनी ने बतलाया कि विधियाँ इतिहास की देन हैं। वे किसी एक व्यक्ति या एक पीढ़ी में ही सहसा नहीं बन गयीं। इससे उनमें परिवर्तन करते समय बड़ी सावधानी और बौद्धिक जागरूकता की आवश्यकता है। यदि ऐसा न किया जायगा तो क्षणिक आवेश में शताब्दियों के परिश्रम पर पानी फिर जाने का खतरा है। सेविनी ने विधियों की सहायता से राज्य की श्रेष्ठता भी सिद्ध की। इसी परम्परा को जी० जेलेनिक ने भी आगे बढ़ाया। ब्लंशली ने इसका प्रयोग अपनी सावयवी सिद्धान्तावली को सिद्ध करने में किया।

अमेरिकन विचारक

इधर अमेरिका में पिछली शताब्दी से कई प्रसिद्ध इतिहासवादी विचारक हुए। इन विचारकों की परम्परा में केलहन, फ्रांसिस लाइबर, बर्जेस, उडरो विलसन, ए० एल० लॉवल क्षादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन इतिहासवादी विचारकों के पूर्व फ्रांस की भाँति अमेरिका में भी प्राकृतिक अधिकारवादियों का बड़ा बोलबाला था। ये प्राकृतिक अधिकारवादी राज्य को एक अनुबंध का परिणाम मानते थे और वे राज्य को कृत्रिम समझते थे।

कैलहून ने प्राकृतिक अधिकारवादियों के इस मत का खण्डन किया और राज्य को स्वाभाविक विकास का परिणाम बतलाया। यह विचार अमेरिकन विचारकों में ही नया नहीं था। यही बात मेन तथा उनके उत्तराधिकारियों तथा जर्मन विद्वानों ने भी कही थी। लाइबर सावयवी सिद्धान्त में विश्वास करता था। अपने मत को पुष्ट करने के लिए उसने विकासवादी सिद्धान्त का प्रयोग किया और विकासवादी के सिद्धान्त में इतिहास तो आवश्यक साधन माना ही जाता है। बर्जेस ने भी राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त की इतिहास की सहायता से पुष्टि की। बर्जेस ने ऑस्टिन की संप्रभुता का भी विरोध किया।

इतिहासवादियों के राज्य सम्बन्धी विचार

हमने ऊपर अंग्रेज, जर्मन और अमेरिकन विचारकों पर विचार करते हुए उनकी परम्परा तथा विधियों संबंधी कार्यों का उल्लेख तो किया लेकिन विस्तारपूर्वक उनके राज्य संबंधी विचारों पर प्रकाश नहीं डाला गया था। इसका कारण यह है कि सभी इतिहासवादियों के राज्य संबंधी विचार प्रायः एक से हैं। अतएव स्थान-स्थान पर उनकी चर्चा करने का अर्थ पुनरुक्ति दोष का आ जाना होता। यहाँ जो राज्य संबंधी विचार प्रकट किये जा रहे हैं, वे सभी इतिहासवादियों के राज्य संबंधी विचार माने जाने चाहिए। इतिहासवादियों के राज्योत्पत्ति संबंधी विचारों को विकासवादी सिद्धान्त भी कहा जाता है। राज्य की उत्पत्ति इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर द्वारा, युद्धों द्वारा, अनुबन्ध द्वारा या केवल आर्थिक आवश्यकताओं के ही कारण नहीं हुई। लेकिन इसका यह भी अर्थ नहीं है कि इन सबका राज्योत्पत्ति में कोई हाथ ही नहीं है। अंशतः यह सभी कारण अपनी जगह राज्य की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हैं। सामाजिक व्यवस्था में कोई एक ऐसा बिन्दु आया होगा जब इन सब कारणों ने जोर मारा होगा और राज्य जैसा कोई संवास बना होगा। इस संवास के यथार्थ रूप पर इस समय प्रकाश डालना संभव नहीं है। शनैः-शनैः इस संवास का एक राजनीतिक संघटन के रूप में विकास हुआ। राज्य का जो रूप आगे हम देखते हैं वह हजारों वर्षों के विकास का फल है। राज्य के विकास के संबंध में अरस्तू ने जो विचार प्रकट किये थे वे अब भी सत्य हैं। विद्वानों ने अरस्तू के ही सिद्धान्त का विकास कर बतलाया है कि धर्म, रक्त संबंध, सम्पत्ति-रक्षा की भावना, युद्ध और राजनीतिक चेतना ने राज्य की उत्पत्ति और उसके विकास में संयुक्त रूप से सहायता दी है।

समालोचना की कसौटी पर भी यही सिद्धान्त सत्य प्रतीत होता है।

(५) राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त

राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा उस समय उत्पन्न होती है जब हम यह सोचते हैं कि राज्य की आज्ञाओं का पालन करने के लिए हममें से प्रत्येक क्यों विवश है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य की आज्ञाओं का पालन क्यों करता है ? इसका कारण उसका स्वभाव है ? या ऐसा करने का कारण आचारिक है अथवा वह धर्म के भय से ऐसा करता है ? इसी प्रश्न से संयुक्त प्रश्न है विधियों का औचित्य। विधियों का औचित्य क्या है ? उनका उल्लंघन हो सकता है या नहीं ? क्योंकि विधियों द्वारा ही राज्य आज्ञा देता है ? और फिर राज्य की ओर से बहुत से लोग आज्ञाएँ देते हैं, कुछ लोग उनका पालन करते हैं। उदाहरण के लिए यदि भारतीय संसद को ही हम संप्रभु सत्ता मान लें तो उसमें भी कुछ सौ सदस्य ही होते हैं किन्तु उन सदस्यों द्वारा बनायी गयी विधियों को करोड़ों

व्यक्ति मानते हैं। राज्य के इसी आज्ञा देने के अधिकार को सिद्ध करने के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने राज्योत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त स्थिर किये हैं। इन सिद्धान्तों में (१) दैवी सिद्धान्त, (२) अनुबंधवादियों का राज्योत्पत्ति का सिद्धान्त, (३) शक्ति का सिद्धान्त, (४) जनसहमति का सिद्धान्त, (५) उपयोगितावादियों का राज्योत्पत्ति का सिद्धान्त, (६) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त और (७) पितृ राज्य का सिद्धान्त मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त इतिहासवादी सिद्धान्त भी है जिस पर हम गत परिशिष्ट में प्रकाश डाल आये हैं।

(१) दैवी सिद्धान्त—यह सिद्धान्त राज्योत्पत्ति के अन्य सिद्धान्तों से प्राचीन है। पहले जब मनुष्य-जाति का विकास नहीं हुआ था और वह सभ्यता के अत्यन्त प्रारंभिक युग में रहता था उस समय वही व्यक्ति देवतुल्य या देवांशी माना जाने लगता था जो उनकी रक्षा कर लेता था। एक बार यदि कोई व्यक्ति समूह की रक्षा कर लेता तो लोग उसी को नेता मानने लगते थे और उस नेता का रक्षक की हैसियत से सैनिक रूप होता था। शनैः-शनैः लोग केवल उन नेता राजा के प्रति ही नहीं, राजा के परिवार के प्रति भी भक्ति प्रकट करने लगे। और इस प्रकार वंशानुगत क्रम से राजाओं की परम्परा चलने लगी। राजाओं की स्थिति अन्य सामान्य नागरिकों की तुलना में उच्चतम थी, इसलिए अपनी उच्चता को बनाये रखने के लिए राजा और राजपरिवारों का संबंध देवताओं से इस प्रकार स्थापित किया जाने लगा कि अमुक राजा या राजपरिवार अमुक देवता का वंशज है। इस तरह के विचार न केवल यूनान में बल्कि रोम, मिश्र, भारत तथा चीन और जापान आदि में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए यूनान में एक नगर का राजा अपने आप को इन्द्र (Zeus) का वंशज बतलाता था। भारत में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं की परम्परा बहुत दिनों से प्रसिद्ध रही है। जापान में अब भी सम्राट् हिरोहितो को सूर्य का पुत्र समझा जाता है। सारांश यह है कि राज्य का निर्माणकर्ता ईश्वर ही है। यह कार्य चाहे उसने स्वयं किया हो या किसी से कराया हो। ईश्वर चूँकि स्वयं राज-व्यवस्था नहीं कर सकता इसलिए अपना अंश देकर पृथ्वी पर राजा को शासन के लिए भेज दिया है।

दैवी सिद्धान्त के विचारकों का कहना है कि राजा को राजदण्ड इसीलिए दिया गया है जिससे वह बाह्य आक्रमणकारियों को मार भगा सके और राज्य के अन्दर शांति तथा व्यवस्था बनाये रख सके। प्राचीन युग में इस सिद्धान्त का सर्वत्र बोलबाला न था किन्तु मध्ययुग में यही सिद्धान्त सर्वत्र माना जाने लगा। प्राचीन यूनान और रोम-युग में इस सिद्धान्त का बोलबाला न होने का प्रमाण हमें अरस्तू के विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त से तथा रोमनों के आनुबंधिक सिद्धान्त की दंतकथाओं से मिल जाता है। लेकिन दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के मध्ययुग में सन्त पॉल आदि ने राजशक्ति को दैवी बतलाया। सुधारवादी विचारकों लूथर, कालविन, ज्विंगली, मेल कथा आदि ने भी राज्यों को दैवी माना। इसके बाद अनेक राजाओं ने भी अपने हितों की पूर्ति के लिए राज्य की शक्ति को दैवी बतलाया। ऐसे राजाओं में पहले स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम का नाम उल्लेखनीय है। अंग्रेज विचारक फिलमर ने भी इसी विचार का समर्थन किया था। जेम्स प्रथम का कहना था कि राजतंत्र दैवी संस्था है। वंशानुगत रूप से शासन करने के राजा के अधिकार को उससे कदापि छीना नहीं जा सकता। यह अधिकार सर्वथा अपरिवर्तनशील है। जो भी इसमें हस्तक्षेप करेगा वह ईश्वरीय दण्ड का भागी होगा। राजाज्ञा का विरोध ईश्वर की आज्ञा का विरोध है। अतएव हर दशा में जनता या प्रजा को अपने राजा की आज्ञाओं का पालन करना ही चाहिए। जो भी ऐसा नहीं करता वह पाप का भागी होगा। राजा से प्रजा उसके किसी भी कार्य के लिए जवाब नहीं माँग सकती। राजा अपने प्रत्येक कार्य के लिए सीधे ईश्वर के सामने जवाब देह है। फिलमर राज्य को एक बड़ा परिवार मानता था। उसका कहना था

कि परिवार में पिता बड़ा होने के कारण सब पर शासन करता है ठीक उसी प्रकार राज्य में राजा शक्ति, बुद्धि और वंश में बड़ा होने के कारण शासन करता है। राबर्ट फिल्मर के विचारों की प्रतिध्वनि हमें फ्रांस के बोसे (Bossuet) नाम के दार्शनिक के विचारों में भी सुनायी पड़ती है। राजा को ईश्वर का अंश मानते हुए उक्त विचारक ने कहा था कि राजा और पिता का राज्य तथा परिवार में एक समान स्थान है।

सत्रहवीं शताब्दी तक इस सिद्धान्त को मानने वालों की संख्या पर्याप्त मात्रा में थी। लेकिन इसके बाद इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया गया और अठारहवीं शताब्दी में तो इसे कोई भी मानता ही नहीं था। दैवी सिद्धान्त के विरुद्ध लोग कई कारणों से हो गए। इनमें सबसे पहला कारण था उक्त सिद्धान्त का राजाओं द्वारा अपने स्वार्थ-साधन में प्रयोग। राजाओं ने दैवी सिद्धान्त की आड़ में तथा उसका सहारा लेकर मनमानी शुरू कर दी थी। इसी बीच इटली से ज्ञान के पुनरोदय की आनेवाली लहरों ने जनता की बुद्धि के कपाट खोल दिये और लोग समझने लगे कि राजा भी हम लोगों के समान मनुष्य ही है। उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे उसे देवता समझा जाय। वे यह भी समझ गए कि इस सिद्धान्त की आड में हमें हमारे उचित अधिकारों से वंचित रखा जा रहा है। आरंभ में इस सिद्धान्त ने लोगों को एकता के सूत्र में बनाये रखने में सहायता की किन्तु बाद में एकता की उपयोगिता समझ लेने के बाद लोगों ने इस सिद्धान्त का परित्याग कर देना ही उचित समझा।

अनुबंधवादी सिद्धान्त—अनुबंधवादियों ने राजा और प्रजा को दो पक्षों में विभक्त कर दिया था और कहा था कि प्रजा अपने सब या कुछ अधिकारों को राजा को दे देती है जिससे उसे शासन का अधिकार मिल जाता है। इस संबंध में इसी पुस्तक के हॉब्स, लॉक और रूसो वाले अध्यायों को देखें।

शक्ति सिद्धान्त—शक्ति द्वारा राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त का यह अर्थ है कि राज्य की आज्ञाओं का पालन इसलिए किया जाता है क्योंकि वही सबसे अधिक शक्तिशाली है। नीत्शे का कहना था कि राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए किया जाता है क्योंकि लोग यह समझते हैं कि यदि राज्य की आज्ञा को नहीं माना गया तो वह अपनी आज्ञाओं को बलात् मनवा लेने की शक्ति रखता है।

इस सिद्धान्त की परख हम दैनिक जीवन में भी इस तरह कर सकते हैं कि जो बलवान् होता है वही जीत जाता है। न्याय भी वही प्राप्त कर पाता है जो बलवान् होता है। यह बल चाहे बुद्धि का हो, धन का हो या शरीर का हो। उदाहरण के लिए प्राचीन यूनान के विचारक थ्रेसीमेकस, इसके बाद रोमन विचारक पोलीबियस तथा फ्लोरेंसवासी मैकियावली ने भी यही कहा था। थ्रेसीमेकस ने 'न्याय को शक्तिशाली का हित (Justice is the interest of stronger) बतलाया था। पोलीबियस और मैकियावली के विचारों पर भी हम इस पुस्तक में यथास्थान प्रकाश डाल आये हैं। ग्रोशस ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में शक्ति सिद्धान्त के यही अवशिष्टांश थे। सोलहवीं शताब्दी के बाद आधुनिक युग में अर्थात् १९वीं तथा २०वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन गमप्लोविक, रॉटसैनहॉवर, ओपेनहाइमर, एडवर्ड जेंक्स, ट्रीट्स्के आदि ने किया। ट्रीट्स्के का कहना था कि राज्य कोई अजायबघर नहीं है और न कोई समाधि लगाने का ही स्थान है। वह तो बल का साक्षात् रूप है। हिटलर ने भी राज्य के इसी रूप को मान्यता दी। फासिस्ट नेता मुसोलिनी तो स्पष्टतः उक्त सिद्धान्त में विश्वास ही करता था। अंग्रेजों में जॉन हिक्स का कहना था कि राज्य तलवारों के बल से जीते जाते हैं और उसी से उनकी रक्षा की जाती है। चर्चिल तक यही परम्परा इंगलैण्ड में आयी है। गमप्लोविक ने शक्ति के सिद्धान्त को

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बतलाया। ट्रीट्स्के ने राज्य को शक्ति का साकार रूप बतलाया। इसके पूर्व ओपेनहाइमर ने कहा कि राज्य एक वर्ग-संगठन है। जो वर्ग राज्य स्थापित करता है वह विजेता वर्ग है। अतः राज्य की स्थापना से विजेता अर्थात् शासक तथा पराजित अर्थात् शासित वर्ग का होना आवश्यक है। हर्बर्ट स्पेन्सर भी राज्य को शक्ति का परिणाम ही कहता है। कॉर्ल मॉक्र्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त भी इसी का एक अंग है।

यदि शक्ति सिद्धान्त पर समालोचनात्मक दृष्टि डाली जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य नहीं है। राज्य केवल शक्ति से ही टिका नहीं रह सकता। गांधीजी का कहना था कि पाशविक बल (Brute force) के माध्यम द्वारा कोई राज्यसंस्था अपना अस्तित्व बनाये नहीं रख सकती। उसकी दीर्घता के लिए जरूरी है कि प्रजा वर्ग का भी सहयोग और सहानुभूति उसे मिलती रहे। इस विचारधारा के कुछ दोष हैं लेकिन सत्यांश भी पर्याप्त मात्रा में है। इसी तरह शक्ति के सिद्धान्त में यह बात सच है कि एक हद तक राज्य की स्थापना में युद्धों का पर्याप्त हाथ रहा है। किन्तु वह बात नहीं मानी जा सकती है कि राज्य की उत्पत्ति केवल शक्ति प्रयोग द्वारा हिंसात्मक साधनों से ही हुई है ? दूसरे, जब तक शासक वर्ग बलवान् रहता है तब तक उसका राज्य जीवित रहता है, विरोधी तत्वों के प्रबल होते ही वह समाप्त हो जाता है। इस तरह नैतिक और आध्यात्मिक तत्व भी उतने ही आवश्यक हैं जितना शारीरिक बल ?

जन सहमति का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि राज्य की स्थापना जनताकी स्वीकृति या सहमति से हुई है। रूसो ने जनता की इस स्वीकृति को अपनी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट किया था। ग्रीन का कहना था कि मनुष्य की विवेक-युक्त इच्छा ही राज्य को जन्म देती है। जनता की राज्य चाहने की इच्छा में ही उसकी स्वीकृति छिपी है। ग्रीन ने राज्य का आधार व्यक्ति के स्वभाव का नैतिक तत्व बतलाया। ग्रीन का कहना था कि किसी नैतिक तत्व के प्रभाव के अन्तर्गत व्यक्ति राज्य की आज्ञाएँ मानता है और साथ ही यह भी कहा कि राज्य को न्यूनतम आज्ञाएँ देकर व्यक्ति के नैतिक पक्ष को अधिक से अधिक विकसित होने का अवसर देना चाहिए। अतः ग्रीन का कहना था कि राज्य का आधार बल नहीं (जनता की) इच्छा (या सहमति) है। ग्रीन की भाँति फ्रांसीसी विचारक ड्यूगी का भी कहना था कि राज्य का आधार बल नहीं है बल्कि वे सामाजिक उत्तरदायित्व हैं जो व्यक्ति निरन्तर अनुभव करता रहता है। किन्तु लास्की ने कहा कि केवल प्रजा की सहमति ही किसी शासन मात्र के लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि यह भी आवश्यक है कि वह राज्य प्रजा के कल्याण का ध्यान रखे।

किन्तु, इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि जनता की सहमति किसी राज्य की स्थापना के लिए ली गयी है, इसका क्या प्रमाण है ? कम से कम इतिहास में तो इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके अलावा यह भी नहीं माना जा सकता कि बल या शक्ति तत्व पर राज्य तनिक भी आधारित ही नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो विधियों की आज्ञाएँ मनवाने के लिए पुलिस की आवश्यकता न पड़ती। अतः स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त भी सर्वथा दोषहीन नहीं है।

उपयोगितावादी सिद्धान्त—उपयोगितावाद का प्रतिपादन बेन्थम तथा उनके अनुयायियों ने किया था। बेन्थम के समय में राज्योत्पत्ति के अनुबंधवादी सिद्धान्त का बड़ा प्रचार था। लेकिन बेन्थम ने इस सिद्धान्त को सर्वथा अस्वीकार कर दिया। बेन्थम ने उपयोगितावादियों के दृष्टिकोण को इस प्रकार स्पष्ट किया—राज्य की स्थापना इसलिए की गयी क्योंकि राज्य में रहने से समाज में रहनेवाले व्यक्तियों को सुख मिलता है। राज्य में रहना उपयोगी है और राज्य के बाहर रहना अनुपयोगी। समाज के सदस्य

जानते हैं कि राज्य के नियंत्रण के बिना सामाजिक कार्य-व्यापार चल ही नहीं सकता। यदि ध्यान से देखा जाय तो बेंथम का यह दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक नहीं है। बेन्थम के भी पहले इस सिद्धान्त का प्रतिपादन डेविड ह्यूम ने किया था। लेकिन उपयोगितावाद के राज्योत्पत्ति का सिद्धान्त संभवतः अन्य समस्त राज्योत्पत्ति के सिद्धान्तों से कल्पजीवी निकला। इस सिद्धान्त को वजह से पूँजीवाद और व्यक्तिवाद पनपा। इन चीजों की बुराई ने उपयोगितावादी सिद्धान्त का भी जड़ उखाड़ दी।

आर्थिक सिद्धान्त—कुछ विचारकों का मत है कि राज्य के जन्म और विकास में मनुष्य की आर्थिक आवश्यकता का बड़ा हाथ रहा है। उदाहरण के लिए भोजनाच्छादन तथा आवास ये प्रत्येक व्यक्तियों को प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। स्पष्ट है कि ये सारी आवश्यकताएँ व्यक्ति अपने आप ही पूरी नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो वह पहले तो अपने लक्ष्य में सफलीभूत ही नहीं होगा और यदि सफल हो भी गया तो भी उसका सारा समय इन्हीं में निकल जायगा और वह जो कुछ बनायेगा, उसमें से हर एक का विशेषज्ञ न होने के कारण उसकी बनायी चीजें भी अच्छी न होंगी और यदि ऐसा हुआ होता तो मनुष्य जाति की सभ्यता कभी भी न पनप पाती। अतः मनुष्य ने देखा कि समाज में रहना लाभप्रद है। क्योंकि समाज में एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरी करने वाले सभी व्यक्ति एक साथ रह सकते हैं और हर एक को हर एक कार्य करने की आवश्यकता भी नहीं रह जायगी। लेकिन इसका यह अर्थ है कि हर व्यक्ति का हर व्यक्ति से संबंध रहेगा। इन सामाजिक संबंधों को नियंत्रित करने के लिए किसी अधिकारी की आवश्यकता पड़ी। वह अधिकारी नियुक्त हुआ। धीरे-धीरे इस अधिकारी के अन्तर्गत बहुत से प्रदेश आ गए। भूविस्तार के कारण वह अधिकारी राजा बन गया और उसके अधिकार के अन्तर्गतवाला प्रदेश राज्य कहलाने लगा। इस प्रकार आर्थिक कारणों से राज्य की उत्पत्ति हुई।

आर्थिक कारणों से राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्लेटो, अरस्तू, मैकियावली, हॉब्स, लॉक, मॉण्टेस्क्यू, हैरिंगटन, आर्थर यंग, एडमस्मिथ, जॉनएडम्स, मेडीसन तथा जेफरसन आदि ने किया। इससे स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त पूर्णतः आधुनिक काल की ही उत्पत्ति नहीं है।

प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' में बतलाया है कि आर्थिक आवश्यकताजन्य प्रथम समाज का राज्य बहुत ही छोटा रहा होगा लेकिन मनुष्य के बौद्धिक विकास और आवश्यकताओं के अनुसार वह क्रमशः बढ़ता गया। भूविस्तार ने सेना को जन्म दिया होगा। सेना के नियंत्रण के लिए शासक वर्ग बना होगा। अरस्तू ने भी राज्य की उत्पत्ति के आर्थिक कारणों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला था। मैकियावली ने तो विशेष रूप से यह बतलाया कि राज्य की आर्थिक-सम्पन्नता बराबर बढ़ती जानी चाहिए अन्यथा इस बात का खतरा बना रहता है कि कहीं राज्य का पतन न हो जाय। क्योंकि कोई विपन्न अथवा आर्थिक दृष्टि से दुर्बल राज्य अधिक दिनों तक चल नहीं सकता। हॉब्स ने भी आर्थिक पहलू पर विशेष रूप से बल दिया था। लॉक ने कहा था कि राज्य की उत्पत्ति ही निजी सम्पत्ति की रक्षा के लिए होती है। अतः राज्य को कभी भी निजी सम्पत्ति रखने का मौलिक अधिकार अपनी प्रजा से नहीं छीनना चाहिए। हैरिंगटन का कहना था कि राज्य के शासन के रूप का निर्धारण राज्य में प्रचलित आर्थिक संबंधों के स्वरूपों पर निर्भर करता है। कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक में वर्ग संघर्ष की तो चर्चा की ही किन्तु राज्य की उत्पत्ति में और उनके विकास में आर्थिक कारणों को विशेष महत्व दिया। मार्क्स का कहना था कि राज्य संबंधी जितनी भी कार्रवाइयाँ होती हैं, जितनी भी राजनीतिक गतिविधियाँ हैं वे सब की सब आर्थिक कारणों पर निर्भर

करती हैं। राज्य की उत्पत्ति में आर्थिक कारणों का विशेष हाथ था, यह बात सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। हालाँकि कुछ विचारक इसका विरोध भी करते हैं।

(६) राज्य के लक्ष्य और कृत्य संबंधी मत

राज्य के कृत्य क्या हों? वह कौन-कौन से कार्य करे और कौन-कौन से कार्य न करे? यह प्रश्न राजदर्शनशास्त्रियों के सम्मुख सदैव रहा है। लेकिन राज्य के कृत्यों के संबंध में जब भी हम कोई विचार करने बैठते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि राज्य का लक्ष्य क्या है। इसका कारण है और यह कि राज्य का हम जो भी लक्ष्य मानेंगे उसी के अनुसार उसके कृत्य निर्धारित करेंगे। उदाहरण के लिए प्लेटो ने यह स्वीकार किया है कि राज्य का लक्ष्य व्यक्ति की आत्मा को ऊँचा उठाना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह व्यक्ति को सब अधिकारों से वंचित कर देता है और व्यक्ति को जन्म लेते ही राज्य के हाथ में सौंप देता है। इसी प्रकार व्यक्तिवादी विचारक मानते हैं कि राज्य का लक्ष्य केवल बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों तथा उपद्रवों से व्यक्ति की रक्षा करना है, और व्यक्ति को अधिक से अधिक अपने आन्तरिक और बाह्य विकास की सुविधाएँ देना है। फलतः व्यक्तिवादियों का राज्य पुलिस-राज्य से अधिक कुछ नहीं रह जाता। व्यक्ति को स्वतंत्र कर दिया जाता है। व्यक्ति को कुछ ऐसे अधिकार 'मौलिक' की संज्ञा से विभूषित कर दिये जाते हैं जिनका राज्य भी अपहरण नहीं कर सकता। इसलिए हम देखते हैं कि राज्य कृत्यों का निर्धारण इस बात से संबंधित है कि कोई विचारक राज्य का लक्ष्य क्या मानता है।

कल्पनावादी विचारक राज्य को लक्ष्य मानते हैं, अतएव उनका कहना है व्यक्ति साधन है और राज्य साध्य। उनका दृष्टिकोण सावयवी है, अतः वे कहते हैं कि व्यक्ति राज्य का अंग है। राज्य बिना व्यक्ति बेकार है। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि राज्य के साथ वह अपने व्यक्तित्व को एकाकार कर दे।

बेन्थम तथा हर्बर्ट स्पेन्सर, जो क्रमशः उपयोगितावादी और जीवशास्त्रीय विचारक थे, उनका भी कहना था कि राज्य को व्यक्तिगत क्षेत्र में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। लेकिन व्यक्तिवादी विचारकों का यह आधुनिक कालीन दृष्टिकोण कुछ नया नहीं है। यूनानी राजदर्शन में हमें सॉफिस्टों तथा अरस्तू के विचारों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण मिल जाता है। सॉफिस्टों का कहना था कि प्राकृतिक विधियाँ ही वे विधियाँ, जिनके बनाने में मनुष्य का कोई हाथ नहीं रहा है, सर्वोपरि है। मानवीय विधियाँ प्राकृतिक विधियों को सीमित करती है। इसलिए जहाँ तक संभव हो व्यक्ति को चाहिए कि वह प्राकृतिक विधियों का पालन करे और मानवीय विधियों का पालन करने से बचे। इस प्रकार फॉसिस्टों ने राज्य के नियंत्रण का विरोध किया था और व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन। अरस्तू ने सम्पत्ति के अधिकार को व्यक्ति का मौलिक अधिकार बतला कर व्यक्तिवादी विचारधारा का पोषण किया। ज्ञान के पुनरोदय काल (Renaissance) में भी हमें कुछ-कुछ व्यक्तिवादी विचारधारा उभरती प्रतीत होती है। यह व्यापारिक वर्ग के उत्पन्न होने के कारण हुआ था। सुधारवादी आन्दोलन (Reformation Movement) के युग में लूथर ने धर्म-स्वातंत्र्य व्यक्ति का अधिकार बतला कर राजनीतिक स्वातंत्र्य के लिए भी अजागरूक रूप से द्वार खोल दिये थे। अनुबंधवादी दार्शनिकों, हॉब्स, लॉक और रूसो ने भी व्यक्ति के अधिकारों का समर्थन किया। उनका यह समर्थन प्राकृतिक अधिकारों पर आधारित था इसीलिए, ये विचारक प्राकृतिक अधिकारवादी भी कहलाए। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् एडम स्मिथ, डेविड, रिकार्डों आदि जैसे अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन किया। उनका कहना था कि राज्य का तब तक आर्थिक विकास नहीं हो सकता जब तक हर व्यक्ति अपना

आर्थिक विकास करने के लिए स्वतंत्र न हो। फलतः यूरोप में यद्भाव्यम् नीति (Laissez Faire) का काल आया।

इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण तक राजदर्शन की गति-दिशा व्यक्तिवाद की ओर रही और बराबर यह कहा जाता रहा कि व्यक्ति के कुछ निश्चित अधिकार हैं और उन अधिकारों को राज्य का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए। वे अधिकार किसी भी दशा में अपहृत न होने चाहिए। संसार के लिखित संविधानों में मूल अधिकारों की घोषणा इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है।

आलोचनात्मक दृष्टि से व्यक्ति के कल्याण के हित में व्यक्तिवादी दर्शन से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। सामान्यतः श्रमजीवी तथा मध्य वर्ग की दशा—आर्थिक और सामाजिक—और बिगड़ी—सत्ता कुछ ऐसे व्यक्तियों के हाथ चली गयी जो पूँजीपति थे। इन्होंने राज्य को पूँजीवादी हितों का साधन बना लिया। व्यक्तिवादी विचारधारा के अन्य दोष इस प्रकार हैं : (१) व्यक्तिवादी विचारधारा कई शाखाओं में विभक्त है और व्यक्तिवादी विचारकों में परस्पर स्वयं ही कोई मतैक्य नहीं है, (२) इससे व्यक्तिगत स्वार्थपरता में वृद्धि हुई, (३) व्यक्ति पर राज्य का नियंत्रण घट गया। फलतः एक निश्चित वर्ग को मनमानी करने का अवसर मिल गया।

व्यक्तिवादियों का राज्य के कृत्यों के संबंध में प्रायः यही मत है कि वह सीमित होना चाहिए। राज्य को सामान्य नागरिक आचरण के लिए थोड़े बहुत कानून बनाने के अतिरिक्त अधिक ध्यान इस बात पर देना चाहिए कि राज्य के अन्दर शान्ति और सुव्यवस्था रहे और कोई बाहरी शक्ति राज्य पर हमला न कर पाये।

व्यक्तिवादी राज्य के लक्ष्य और विचारधारा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप समाजवादी विचारधारा का जन्म हुआ। इस विचारधारा के जन्मदाता कार्ल मार्क्स थे। हालाँकि समाजवादी विचारों का प्रचार मार्क्स के पूर्व भी कई विचारकों ने किया था लेकिन सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय मार्क्स को ही है। मार्क्स ने कहा कि राज्य व्यक्ति का नहीं समाज का कल्याण करना है। अतएव समाज के कल्याण के लिए व्यक्ति के अधिकारों का थोड़ा-बहुत दमन भी करना पड़े तो भी कोई हर्ज नहीं है। सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए कुछ समय के लिए राज्य को यदि सारे अधिकार भी दे देने पड़ें तो भी कोई हर्ज नहीं है। कुछ समय के लिए इसलिए कि मार्क्स तथा उसके समाजवादी अनुयायी राज्य को अनिवार्य बुराई मानते हैं और कहते हैं कि राज्य एक वर्ग-विशेष के दमन करने का साधन रहा है। लेकिन वे इस साधन का अपने हितों के लिए प्रयोग करना बुरा नहीं समझते। समाजवादी विचारधारा के अनुसार एक दिन राज्य को अवश्य लुप्त होना है। इसलिए राज्य को जो अधिकार मिलते हैं, एक दिन अवश्य ही समाप्त हो जायेंगे। अतः 'कुछ समय के लिए', शब्दों का उन अधिकारों का अस्थायित्व देखते हुए ही प्रयोग किया गया है।

राज्य को सर्वाधिकारवादी रूप के देखते हुए व्यक्तिवादियों के विरुद्ध समाजवादी राज्य को व्यक्ति पर पूरा-पूरा अधिकार है और वह समाज के हित में जो चाहता है करता है।

इस विचारधारा के आलोचकों का कहना है कि व्यक्ति का अत्यधिक दमन किये जाने के कारण उन्हें यह विचारधारा ग्राह्य नहीं है।

(७) संप्रभुता का विकास और उसके विभिन्न सिद्धान्त

(Sovereignty)

संप्रभुता का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति

संप्रभुता शब्द से हमारा आशय राज्य की उस उच्चतम शक्ति से है जो गत तीन-चार सौ वर्षों से आधुनिक राज्य की एक विशेषता मानी जाती रही है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से संप्रभुता का विश्लेषण करने के पूर्व यह जान लेना चाहिए कि 'संप्रभुता' अंग्रेजी शब्द 'सॉवरेन्टी' (Sovereignty) का अनुवाद है। अंग्रेजी शब्द सॉवरेन्टी लैटिन के मूल शब्द 'सुपरनस' (Supernus) से बना है। लैटिन में इस शब्द का अर्थ सर्वोच्च तथा उच्चतम है। अतः, संप्रभुता का अर्थ हुआ राज्य की उच्चतम सत्ता। विद्वानों का मत है कि राज्य भी एक संवास है। लेकिन वह अन्य संवासों से इस अर्थ में भिन्न है कि राज्य संप्रभुता-युक्त होता है जब कि अन्य संवास संप्रभुताहीन। लेकिन संप्रभुता की कल्पना ही की जा सकता है, उसका कोई भौतिक रूप नहीं है। ऑस्टिन जैसे न्यायविद् का मत था कि उसके भौतिक स्थल की ओर भी निर्देश किया जा सकता है। संप्रभुता का आधुनिकतम सिद्धान्त कई सौ वर्षों में वह रूप पा सका। इसलिए यह अच्छा ही होगा कि संप्रभुता के विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार करने के पूर्व यह देख लें कि संप्रभुता का ऐतिहासिक विकास किस रीति से हुआ है ?

संप्रभुता की कल्पना का ऐतिहासिक विकास

संप्रभुता की कल्पना के ऐतिहासिक विकास को हम दो भागों में काल की दृष्टि से विभक्त कर सकते हैं : (१) बोदाँ के पहले और (२) बोदाँ के बाद। सच तो यह है कि संप्रभुता की कल्पना बोदाँ से निश्चित रूप धारण कर आधुनिक राजदर्शन में आती है लेकिन यह सोचना गलत होगा कि बोदाँ के पूर्ववर्ती विचारक संप्रभुता जैसी किसी कल्पना से परिचित हो नहीं थे। अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में राज्य की एक उच्चतम या सर्वोच्च सत्ता की ओर संकेत किया है। मध्ययुग में भी तथा मध्ययुग के पूर्व भी रोमन काल में लोगों को राज्य की इस शक्ति का ज्ञान था। इसकी वजह यह है कि कई विचारकों ने अपने ग्रंथों में 'सुजरेण्टी' (Suzrainty), 'प्लेनीट्यूड ऑफ पॉवर्स' (Plenitude of Powers) 'सम्मा पोटेस्टाज' (Summa Potestas) आदि शब्दों का प्रयोग किया है जिसका अर्थ सर्वोच्च या परमसत्ता होता है। लेकिन बोदाँ के पूर्व किसी ने 'संप्रभुता' शब्द का प्रयोग नहीं किया और न उसकी परिभाषा ही देने का प्रयास किया। क्या कारण है कि इस कल्पना का बोदाँ के पूर्व पारिभाषिक रूप में विकास न हो सका ? इस प्रश्न पर हम अगले अनुच्छेद में विचार करेंगे किन्तु यहाँ यह बतला देना चाहते हैं कि बोदाँ के उपरान्त संप्रभुता राजदर्शन शास्त्रियों के अध्ययन का एक प्रमुख विषय हो गयी। हॉब्स, लॉक, रूसो, ऑस्टिन, बेन्थम, आदि ने संप्रभुता के विषय में महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये। जेलेनिक, ड्यूगी, केलसन लास्की आदि के भी संप्रभुता संबंधी विचार उल्लेखनीय हैं।

संप्रभुता के सिद्धान्त का आधुनिक युग में ही क्यों विकास हो सका ?

संप्रभुता के सिद्धान्त का मध्ययुग में या बोदाँ के पूर्व विकास न हो सका। इसके कई कारण थे और यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि उन कारणों के रहते हुए संप्रभुता का विकास हो ही नहीं सकता था। सबसे **पहला** कारण तो पवित्र रोमन साम्राज्य का अस्तित्व था; **दूसरा** कारण सामन्तवाद था, **तीसरा** कारण प्राकृतिक विधियों की मान्यता थी और **चौथा** कारण पोप की श्रेष्ठतर स्थिति थी। इन कारणों पर हम क्रमपूर्वक विचार करेंगे—

(१) **पवित्र रोमन साम्राज्य**—मध्ययुग में ईसाइयों की सार्वभौमिक राज्य की कल्पना का बड़ा प्राबल्य था। इस कल्पना के अनुसार सब यह चाहते थे कि सारे संसार के ईसाइयों का एक ही समाज हो और एक ही राज्य हो और इस राज्य की अध्यक्षता पवित्र रोमन सम्राट् करे। तदनुसार पवित्र रोमन सम्राट् अन्य सब राजाओं से श्रेष्ठ माना जाता था। अन्य सब नरेश उक्त सम्राट् की श्रेष्ठता मानते थे और स्वेच्छा से उसके आदेशों का पालन करते थे। फलतः ऐसे नरेशों में से किसी को भी संप्रभु नहीं कहा जा सकता था जो स्वेच्छा से किसी दूसरे राजा की आज्ञाओं को माने।

(२) **पोप की श्रेष्ठतर स्थिति**—लेकिन पवित्र रोमन सम्राट् भी अपने स्थान पर संप्रभु नहीं था यद्यपि उसकी आज्ञाओं का पालन अन्य नरेश करते थे। इसका एक कारण तो यह था कि पवित्र रोमन सम्राट् के अधीन रहनेवाले सब नरेश सब मामलों में उसकी आज्ञा नहीं मानते थे और दूसरे पवित्र रोमन सम्राट् स्वयं अपनी स्थिति के लिए पोप पर निर्भर करता था। इससे स्पष्ट है कि पोप की स्थिति उससे श्रेष्ठतर है। अतः जो नरेश अपनी शक्ति के लिए किसी अन्य शक्ति के अधीन हो वह संप्रभु नहीं हो सकता क्योंकि संप्रभुता असीम होती है। अपने स्थान पर पोप के अधिकार भी मर्यादित थे, इसलिए पोप भी संप्रभु नहीं माना जा सकता।

(३) **सामन्तवाद**—संप्रभुता का अर्थ है शक्ति का किसी एक स्थल में केन्द्रण होना किन्तु सामन्तवाद स्वभावतः विकेन्द्रण का हिमायती है। इसलिए यूरोप में जब तक सामन्तवाद की प्रबलता रही, किसी एक राजा के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति भी न आ पायी जिसका फल यह हुआ कि कोई भी राजा संप्रभु नहीं हो सका।

(४) **प्राकृतिक विधि**—इन तीनों कारणों के अलावा प्राकृतिक विधियों की उच्चता सर्वत्र मान्य थी। कहा जाता था कि प्राकृतिक विधियों की सीमाओं से राजा की विधियाँ भी सीमित हैं। जो विधियाँ ऐसी हों जिनका प्रयोग प्राकृतिक विधियों के विरुद्ध हो उनका पालन नहीं किया जाना चाहिए; चाहे उनको किसी राजा ने ही क्यों न बनाया हो।

इन चार कारणों से मध्ययुग में संप्रभुता के सिद्धान्त का विकास न हो सका और आधुनिक युग में जब पवित्र रोमन साम्राज्य, पोप की श्रेष्ठतर स्थिति, सामन्तवादी व्यवस्था का नाश हो गया और प्राकृतिक विधियों को राज्य की विधियों की तुलना में कम महत्व दिया जाने लगा तो संप्रभुता के विकास के लिए अच्छा अवसर सम्पन्न हो गया। दूसरा कारण यह भी था कि आधुनिक युग में विवेकाधारित ज्ञान पर अधिक बल दिया जाने लगा था। संक्षेप में हम यहाँ संप्रभुता की विशेषताओं पर थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना चाहते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि पवित्र रोमन साम्राज्य, पोप की स्थिति, सामन्तवाद आदि के कारण संप्रभुता का मध्ययुग में क्यों न विकास हो सका।

संप्रभुता की **पहली** विशेषता है उसका स्थायित्व। यदि किसी राज्य की संप्रभुता उसमें से कुछ काल के लिए भी हट जाती है तो वह राज्य फिर राज्य नहीं रहेगा। **दूसरी** विशेषता व्यापकता है। संप्रभुता निश्चित भूक्षेत्र में निवास करनेवाले सभी व्यक्तियों और संवासों पर लागू होती है। इससे कोई मुक्त नहीं माना जा सकता। **तीसरी** विशेषता अहस्तान्तरणीयता है। संप्रभुता किसी को दी नहीं जा सकती। ऐसा करने का अर्थ संप्रभुता का समाप्त हो जाना है। **चौथी** विशेषता संप्रभुता की सर्वोच्चता है। **पाँचवीं**, विशेषता अविभाज्यता है। यदि संप्रभुता को बाँट दिया जायगा तो वह नष्ट हो जायगी। संप्रभुता का सामना राज्य के अन्दर कोई भी नहीं कर सकता है। इन कसौटियों पर कसने से मध्ययुग में संप्रभुता के लिए स्थितियाँ कितनी प्रतिकूल थीं, यह प्रकट हो जाता है।

संप्रभुता की कुछ सीमाएँ भी बतलायी गयी हैं और वे हैं : (१) दैवी विधियाँ या नैतिक विधियाँ। स्वयं बोदाँ जैसे विचारक का कहना है कि संप्रभुता इनके विरुद्ध नहीं जा सकती। (२) संप्रभुता अन्तरराष्ट्रीय विधियों के विरुद्ध भी नहीं जा सकती। (३) राज्य का संविधान भी संप्रभुता की मर्यादा है।

संप्रभुता के भेद

विद्वानों ने संप्रभुता के भेद भी किये हैं। उनके वर्गीकरण के अनुसार संप्रभुता के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं : (१) अयथार्थ संप्रभुता (Nominal Sovereignty), (२) यथार्थ संप्रभुता (Real Sovereignty), (३) वैधानिक संप्रभुता (Legal Sovereignty), (४) राजनीतिक संप्रभुता (Political Sovereignty), (५) लोक-संप्रभुता (popular Sovereignty), (६) बौद्धिक संप्रभुता (Intellectual Sovereignty), (७) न्यायिकसंप्रभुता, (Judicial Sovereignty) (८) राष्ट्रीय संप्रभुता (National Sovereignty), (९) बाह्य संप्रभुता (External Sovereignty) और (१०) आन्तरिक संप्रभुता (Internal Sovereignty)।

जिन देशों में राजा के हाथ में शक्ति नहीं रही है लेकिन उसे फिर भी संप्रभु (Sovereign) कहा जाता है तो उस राजा की शक्ति अ**यथार्थ संप्रभुता** (Nominal Sovereignty) कहलाती है। जैसी कि इंगलैण्ड के राजा या रानी की स्थिति है। जिस निकाय या शक्ति के हाथ में राज्य-संचालन की वास्तविक शक्ति होती है उसकी शक्तियाँ यथार्थ संप्रभुता कही जाती हैं। उदाहरण के लिए यह शक्ति इंगलैण्ड में संसद के हाथ में है। इसलिए वही यथार्थतः संप्रभु है और उसकी शक्ति **यथार्थ संप्रभुता** (Real Sovereignty) कहलायेगी। जिस निकाय (body) या व्यक्ति को विधियाँ बनाने की अपरिमित शक्तियाँ प्राप्त हों वह निकाय या शक्ति **बैधानिक संप्रभु** (Legae Sovereign) है। लेकिन जो शक्ति शासन या राज्य का स्वरूप निर्धारित करती है, वह **राजनीतिक संप्रभुता युक्त** (politically Sovereign) है। किसी भी प्रजातंत्रवादी देश में यह सत्ता जनता की मानी जाती है। जहाँ राजनीतिक संप्रभुता जनता के हाथ में रहती है, वहाँ की संप्रभुता **लोक संप्रभुता** (popular Sovereignty) कहलाती है। कुछ विचारक बुद्धि और न्याय की (Intellectual Sovereignty) संप्रभुता के समर्थक हैं किन्तु उनके विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। **राष्ट्रीय संप्रभुता** (National Sovereignty) से आशय है किसी राज्य के ऐसे व्यक्ति-समूह में राज्य की परम उच्च शक्ति का केन्द्रण जो भाषा, जाति और धर्म की दृष्टि से एक हो। जो राज्य अपनी शक्ति का निर्बाध रूप से आन्तरिक मामलों में प्रयोग कर सकता है उसकी शक्तियाँ **आन्तरिक संप्रभुता** (Internal Sovereignty) के वर्ग में आ जाती हैं। जो राज्य बाहर की किसी भी शक्ति की कोई अधीनता स्वीकार नहीं करता वह **बाह्यतः संप्रभु** (Externally Sovereign) भी है।

आलोचनात्मक दृष्टि से इन सभी संप्रभुताओं के भेदों में एक या दो या इससे भी अधिक बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ दिखलायी पड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए राजनीतिक संप्रभु का अपना न्याय की दृष्टि से कोई भौतिक मूल्य नहीं है। उस संप्रभुता द्वारा हम न्यायालयों से कोई काम नहीं करवा सकते फिर भी इस संप्रभुता में बड़ी शक्ति है। वह किसी भी सरकार को निर्वाचनों में हरा सकती है। वैध-संप्रभुता में सबसे बड़ी यह कठिनाई है कि इसका कोई मूर्त्त रूप नहीं है। यह निश्चित जनों का कोई समूह भी नहीं है। लोकप्रिय संप्रभुता अपने अस्तित्व के लिए जनता पर निर्भर करती है। किन्तु अपने आप में जनता शब्द बड़ा ही निरर्थक है। क्या कोई भी समूह संप्रभु कहला सकता है ? स्पष्टतः, नहीं। संप्रभु होने के लिए उसका

संघटित होना अत्यन्त आवश्यक है। बुद्धि और न्यायकी संप्रभुता को बहुत से विद्वान् संप्रभुता नहीं मानते। उनका कहना है कि वह तो केवल एक बलवान् व्यक्ति समूह का निर्बलों पर शासन करने का बहाना है। इसी प्रकार हर प्रकार की संप्रभुता में हमें कोई न कोई अजेय कठिनाई का सामना करना पड़ जाता है। यही कारण है कि बहुत से विद्वान् इन जटिलताओं की वजह से उसे मानने को ही तैयार नहीं हैं और बहुलवादियों का एक निश्चित मत है जो संप्रभुता का विरोध करता है।

संप्रभुता संबंधी विभिन्न विद्वानों के सिद्धान्त

यहाँ हम केवल प्रमुख विद्वानों के ही तत्संबंधी विचारों को उपस्थित करेंगे।

बोदाँ--बोदाँ ने संप्रभुता की परिभाषा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सिक्स बुक्स कनसर्निंग दि रिपब्लिक' (Six Books Concerning the Republic) में की है। उसने राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है, "राज्य परिवारों तथा उनकी सम्पत्ति का समूह है जो एक सप्रभु शक्ति द्वारा शासित होता है। वह संप्रभु शक्ति विवेक द्वारा उनका शासन करती है।" इस परिभाषा का हम यहाँ विस्तारपूर्वक विश्लेषण नहीं करेंगे लेकिन इस बात की ओर अवश्य संकेत करेंगे कि आधुनिक राष्ट्र राज्य की एक प्रमुख विशेषता बोदाँ ने संप्रभुता बतलाया है। बोदाँ संप्रभुताहीन राज्य को राज्य ही मानने के लिए तैयार नहीं है। राज्य का संप्रभुतायुक्त होने की विशेषता बतला देने के बाद संप्रभुता पर वह विस्तारपूर्वक विचार करता है। अपने स्वभाव के अनुसार बोदाँ संप्रभुता को भी परिभाषा की सीमा में बाँधने की चेष्टा करता है। वह कहता है, संप्रभुता नागरिकों तथा प्रजाजनों पर विधि द्वारा असीमित निरंकुश, शाश्वत और सर्वोच्च शक्ति है।" अब हम इस परिभाषा के प्रत्येक शब्द पर अलग विचार कर सकते हैं। बोदाँ के अनुसार **पहली** बात तो यह है कि संप्रभुता सब पर लागू होती है। वह नागरिकों पर भी लागू होती है और उन पर भी जो राज्य में रहते हुए भी उसके नागरिक नहीं हैं। नागरिकों के अलावा प्रजाजन शब्द के प्रयोग की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि बोदाँ बच्चों और दासों को नागरिकता प्रदान नहीं करता लेकिन नागरिक न होने के कारण वे संप्रभुता के क्षेत्र से मुक्त नहीं हैं। **दूसरे**, संप्रभुता विधि (Law) द्वारा असीमित है। इसका अर्थ यह है कि संप्रभुता किसी भी विधि से बाध्य नहीं है। संप्रभु जब चाहे भी विधि बदल सकता है। **तीसरे** वह निरंकुश है। उस पर किसी की आज्ञा नहीं चल सकती। **चौथे** व शाश्वत शक्ति है। मान लीजिए किसी को यदि कुछ समय के लिए, राज्य की सारी शक्ति सौंप दी जाती है तो वह व्यक्ति निश्चित काल के लिए सर्वशक्तिमान होते हुए भी संप्रभु नहीं है। यथा, रोम में पहले सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के लिए तानाशाह (Dictator) पाँच वर्षों के लिए नियुक्त किये जाते थे लेकिन बोदाँ उनको संप्रभु नहीं मानेगा क्योंकि उनकी शक्तिमत्ता शाश्वत नहीं, काल द्वारा सीमित है। इसी प्रकार **पाँचवें**, जो शक्ति किसी के अधीन है वह संप्रभु नहीं है। उनका सर्वोच्च होना अनिवार्य है। यदि भारतीय संसद ब्रिटिश प्रधान मंत्री के आदेशों पर चलने लगे तो वह संप्रभु नहीं रह जायगी। बोदाँ यह मानता है कि संप्रभुता का हस्तान्तरण किया जा सकता है लेकिन वह तभी संप्रभुता रहेगी जब बिना किसी शर्त के हस्तान्तरित की जाती है। आगे चल कर हम देखेंगे कि रूसो ने संप्रभुता को अहस्तान्तरणीय भी सिद्ध कर दिया।

बोदाँ का संप्रभुता का संक्षेप में यही सिद्धान्त है। यथास्थान हम इसकी आलोचना पर प्रकाश डाल आये हैं।

टॉम्स हॉब्स--जीन बोदाँ के संप्रभुता के विवेचन के बाद इस दिशा में टॉमस हॉब्स के प्रयत्नों का ऐतिहासिक महत्व है। हॉब्स ने बोदाँ के मत के विरुद्ध अपने संप्रभु की शक्ति

को नैतिकता तथा राजनीतिक बंधनों से भी इन अर्थों में मुक्त कर दिया कि वह उन मर्यादाओं पर विचार करने के लिए ही प्रस्तुत नहीं हैं। बोदाँ ने यह अवश्य माना था कि संप्रभु की शक्ति को नैतिक और कुछ राजनीतिक मर्यादाओं का ध्यान रखना पड़ता है। वह राज्य में केवल संप्रभु की शक्ति और उसके व्यक्तित्व को ही मानता है अन्य किसी भी शक्ति, नागरिक या प्रजाजन का वह कोई भी अधिकार ही नहीं मानता है। संप्रभु को वह सबका प्रतिनिधि इन अर्थों में मानता है कि वह जो कुछ भी करता है वह सम्पूर्ण प्रजा द्वारा हुआ ही माना जायगा। सप्रभु के हर कार्य का यही विधि-सम्मत स्थिति है। सारी प्रजा संप्रभु की आज्ञाओं को मानने के लिए बाध्य है, वह अन्य किसी शक्ति की आज्ञाओं को नहीं मान सकती है। प्रजाजन बिना सप्रभु की अनुमति के ईश्वर के साथ भी किसी अनुबंध में प्रवेश नहीं कर सकते। जो नागरिक या प्रजाजन सप्रभु की आज्ञाओं का उल्लंघन करता है, संप्रभु उसका नाश कर सकता है। और संप्रभु का ऐसा करना इसलिए, अन्याय न होगा क्योंकि उस व्यक्ति ने अनुबंध का उल्लंघन कर प्राकृतिक अवस्था में प्रवेश किया था। प्राकृतिक अवस्था में कोई भी सुरक्षित नहीं है। प्रजा संप्रभु नरेश को उसके किसी भी कार्य के लिए कोई दण्ड नहीं दे सकी इस प्रकार हॉब्स सिद्ध करता है कि सप्रभु की शक्ति राज्य में सर्वोच्च, अनुत्तरदायी और निस्सीम है। सप्रभु विचारों को अभिव्यक्ति तक को नियंत्रित कर सकता है। युद्ध और शान्ति की घोषणाएँ कर सकता है। कार्यपालिका और न्यायपालिका की सारी शक्तियाँ उसमें परिवेष्ठित हैं। इस प्रकार हॉब्स अपनी संप्रभुता को असीम शक्तियुक्त बना कर एक निश्चित व्यक्ति को सौंप देता है। यह परिभाषा ऑस्टिन के मत से काफी हद तक मिलती-जुलती है। हॉब्स किसी भी नागरिक को संप्रभुता के विरुद्ध शस्त्र उठाने का अधिकार नहीं देता। वह संप्रभुता को समस्त धार्मिक और नैतिक बंधनों से मुक्त मानता है। लेकिन स्पष्टतः बोदाँ की भाँति वह राज्य और सरकार, इन दो का स्पष्ट अन्तर नहीं समझ पाया। इसीलिए वह सरकार को हटाये जाने का अर्थ राज्य का नाश समझता है। ऑस्टिन या बोदाँ की भाँति उसका सिद्धान्त वैधानिक (Legal) न होकर राजनीतिक (Political) है।

जेरेमी बेन्थम—बेन्थम संप्रभुता को राज्य का गुण मानता है सरकार का नहीं; इसलिए बेन्थम का संप्रभुता संबंधी मत निश्चित रूप से प्रगति का द्योतक है। संप्रभुता से बेन्थम का आशय उस समाज या जनसमुदाय से है जिसमें किसी एक व्यक्ति या वर्ग की आज्ञाओं का पालन लोग स्वभावतः करते हैं। इस तरह राजनीतिक समाज बनने के लिए बेन्थम दो पक्ष आवश्यक मानता है। प्रथमतः शासक और द्वितीयतः शासित। बिना इनके राज्य या राजनीतिक समाज की कल्पना असंभव है। दूसरे, यदि किसी समाज में अपने शासक के प्रति स्वभावतः आज्ञा-पालन का भाव न हो तो भी उसे राज्य नहीं माना जा सकता। वह संप्रभुता को राज्य में ही केन्द्रित मानता है। लेकिन वह भी बोदाँ की भाँति संप्रभुता को मर्यादित कर देता है, यद्यपि कुछ भिन्न आधारों पर। बोदाँ ने संप्रभुता की नैतिक और राजनीतिक मर्यादाएँ बतलायी थीं। बेन्थम ने बतलाया कि उपयोगिता ही संप्रभुता की मर्यादा है। इस प्रकार बेन्थम भी अपने संप्रभु को ऐसी आज्ञाएँ देने की अनुमति नहीं देता जो 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' न प्रदान कर सकें।

जॉन ऑस्टिन—जॉन ऑस्टिन ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर संप्रभुता के सिद्धान्त की वैधानिक व्याख्या (Legal Interpretation) और परिभाषा की। ऑस्टिन का राजदर्शन का अनुदाय ही केवल इतना सा है। संप्रभुता के सिद्धान्त को सिद्ध करने वाले समस्त तर्कों को उसने क्रमबद्ध रूप से उपस्थित कर दिया। ऑस्टिन की विधि संबंधी कल्पना पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। इसको ध्यान में रखते हुए संप्रभुता की उसने यह परिभाषा की है, "यदि किसी जनसमुदाय के अधिसंख्यक व्यक्ति किसी निश्चित

जनश्रेष्ठ की आज्ञाओं का स्वभावतः पालन करते हों और वह जनश्रेष्ठ यदि किसी अन्य अपने ही समान जनश्रेष्ठ की आज्ञाओं का पालन करने का आदी न हो उस जनसमुदाय विशेष में वह निश्चित जनश्रेष्ठ संप्रभु है और वह समाज उस जनश्रेष्ठ सहित स्वतंत्र राज्य है।" इस परिभाषा का यदि हम विश्लेषण करें तो इसमें हमें उसके यह भाग स्पष्ट प्रतीत होंगे; (१) एक ऐसा जनसमुदाय जिसके अधिकांश व्यक्तिस्वभावतः संप्रभु की आज्ञाओं का पालन करते हैं, (२) उस जनसमुदाय विशेष को आज्ञा देनेवाला एक निश्चित जनश्रेष्ठ और (३) संप्रभु की अन्य समान व्यक्तियों से आज्ञा-पालन के मामले में स्वतंत्रता। पहले भाग में ऑस्टिन यह मान लेता है कि यदि कुछ संप्रभु की आज्ञा का पालन न भी करें तो भी कोई हर्ज नहीं है और हर समाज में कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति निकल ही आते हैं। उदाहरण के लिए चोर, जेबकट आदि। ऑस्टिन का मत है कि यदि ये संप्रभु की आज्ञा का स्वभावतः न भी पालन करें तो संप्रभुता में कोई अन्तर नहीं आता। लेकिन यह जरूरी है कि संप्रभु ऐसा व्यक्ति या वर्ग हो जो निश्चित हो और जिसकी स्थिति सामान्य नागरिक से उच्चतर हो। तात्पर्य यह है कि वह तुरन्त पहचाना जा सके। यह किसी भी व्यक्ति के लिए नहीं कहा जा सकता है कि वह किसी की भी आज्ञा-पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश संसद संप्रभु है किन्तु यदि किसी मामले में जनता का बहुमत अपनी स्पष्ट इच्छा व्यक्त करता है तो उस इच्छा का पालन संसद को करना ही होगा और वह इच्छा लगभग आज्ञा तुल्य ही हो जायगी। सर हेनरी मेन ने ऑस्टिन की संप्रभुता की परिभाषा की बड़ी करारी आलोचना की है। मेन संप्रभुता-सम्पन्न निश्चित जनश्रेष्ठ का होना किसी राज्य के लिए आवश्यक नहीं मानते। दूसरे, विधि का पालन सदैव इसी लिए नहीं होता कि उसके पीछे संप्रभु सत्ता की आज्ञा है। परम्पराएँ, प्रथाएँ, विश्वासों के कारण भी विधियों का पालन किया जाता है। किन्तु मेन की यह आलोचना पौर्वात्य राज्यों को ध्यान में रखते हुए तो किसी हद तक ठीक है लेकिन आधुनिक राज्यों को देखते हुए ऑस्टिन का मत ही ठीक जान पड़ता है। ऑस्टिन संप्रभुता को अविभाज्य मानता है। कुछ आलोचकों का कहना है कि यह बात नहीं है। संघ राज्यों में जहाँ शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त लागू होता है वहाँ तो निश्चित रूप से संप्रभुता विभक्त ही रहती है। ऑस्टिन ने संप्रभुता को जो सर्वोच्च स्थिति प्रदान की है, उसे भी हेनरी सिजविक तथा लास्की आदि नहीं मानते। उनका कहना है कि राज्य की संप्रभुता किसी न किसी अर्थ में अवश्य मर्यादित रहती है और संप्रभुता का अनुत्तरदायी होना कल्पनातीत है। कुछ विचारकों ने ऑस्टिन की इसलिए भी आलोचना की है कि उसने वैधानिक संप्रभुता के समक्ष राजनीतिक संप्रभुता पर कोई ध्यान ही नहीं दिया है।

अविभाज्य, अहस्तान्तरणीय, सर्वोच्च आदि गुणों से युक्त संप्रभुता के प्रतिपादक यही विचारक थे। इनके विचारों में तीन दोष थे: पहला इन सिद्धान्तों ने विधि (Law) और तथ्य (Fact) दोनों में अन्तर नहीं किया है, इसलिए उनकी परिभाषाएँ अत्यन्त भ्रमोत्पादक हो गयी हैं; दूसरा, इनका उपयोग मध्ययुग और बहुत से आजकल के राज्यों में नहीं किया जा सकता; तीसरा इस सिद्धान्त में ऐतिहासिक सिद्धान्तों की अवहेलना की गयी है। फलतः उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के अनेक विचारकों ने सीमित संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

जिन विद्वानों ने सीमित संप्रभुता का प्रतिपादन किया उनमें जॉन लॉक, मॉण्टेस्क्यू ब्लैक स्टोन, बर्क, रूसो, जेलिनिक, ड्यूगी, केलसन तथा लास्की के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से हम लॉक, मॉण्टेस्क्यू, ब्लैकस्टोन, रूसो आदि के संप्रभुता के सिद्धान्तों पर विस्तारपूर्वक पुस्तक के मूलपाठ में प्रकाश डाल चुके हैं। वह भाग वहाँ देखा जा सकता है। कुछ विद्वानों के विचार शेष रह गये थे उन पर नीचे संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

जेलिनिक—जेलिनिक आस्ट्रियन विचारक था। इसने संप्रभुता को स्वामित्य की मौलि शक्ति (Original Power of Domination) माना है। जेलिनिक का कहना है कि राजा अपनी संप्रभु शक्ति द्वारा व्यक्ति के समस्त कृत्यों पर नियंत्रण रख सकता है। मनुष्य की भावनाओं और विश्वासों को राज्य की संप्रभुता भी नियंत्रित नहीं कर सकती। राज्य की संप्रभुता अपनी प्रजा के स्वास्थ्य, जीवन की दीर्घता, आदि को भी नियंत्रित नहीं कर सकती; लेकिन यहाँ जेलिनिक का कहना है कि राज्य को संप्रभुता ने अपने ऊपर स्वयमेव ये प्रतिबंध लगाये हैं। राज्य की संप्रभुता संविधान बदल सकती है लेकिन वह संविधान होना आवश्यक बतलाता है। जेलिनिक की संप्रभुता संबंधी व्याख्या में सबसे बड़ा दोष यह है कि स्वास्थ्य, जीवन की दीर्घता आदि ऐसे विषय हैं जिनपर संप्रभुता का वश नहीं चलता। लेकिन इसका कारण यह तो नहीं है कि संप्रभुता चाहे तो किसी को स्वस्थ रखे और चाहे किसी को अस्वस्थ। इसी प्रकार चाहे तो किसी को जीवनदान भी दे दे। ये प्रतिबंध तो दैवी हैं, संप्रभुता की इच्छाजन्य नहीं। हाँ, यह कहा जा सकता है कि संप्रभुता दैवी इच्छाओं के सामने सिर झुका देती है।

ड्यूगा—ड्यूगी ने तो संप्रभुता जैसी किसी भी कल्पना के अस्तित्व को ही मानने से इन्कार कर दिया है। वह विधियों को अनिवार्यतः भौतिक मानता है और उसका कहना है कि वे सामाजिक आवश्यकताओं, परम्पराओं आदि से निर्धारित होती हैं। ड्यूगी का कहना है कि राज्य की ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो अहस्तान्तरणीय, अविभाज्य, निस्सीम, अनुत्तरदायी एवं अदेय हो। शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को प्रतिपादित करके ड्यूगी ने असीमित संप्रभुता के सिद्धान्त को खण्ड-खण्ड कर दिया।

केलसन—केलसन विधिसम्मत आधारों पर निर्मित संप्रभुता का विरोधी नहीं है। किन्तु वह मुख्यतः राज्य को वैधानिक संघटन मानता है। वह उसके संविधान पर विचार करता है और विधान मण्डल संबंधी उदाहरण देता है। सामाजिक तथ्यों पर उसका अधिक ध्यान नहीं रहता।

लास्की—लास्को ने बहुलवादी होने के नाते संप्रभुता को केन्द्रित शक्ति के रूप में कल्पना मानने से इन्कार कर दिया है। वह गोयके और मेटलैण्ड की भाँति सामुदायिक व्यक्तित्व पर अधिक विश्वास करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक बार फिर संप्रभुतायुक्त राज्यों की कल्पना से हम संप्रभुताहीन राज्यों की ओर बहुलवाद के अनुयायियों के रूप में वापस लौट रहे हैं।

(८) संघवाद
(Federalism)

संघवाद का अर्थ

जैसा कि ऊपर के शीर्षक से प्रकट है, 'संघवाद' अंग्रेजी के शब्द 'फेडरलिज्म' का अनुवाद है। यदि हम 'फेडरलिज्म' शब्द की व्युत्पत्ति खोजें तो इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि 'फेडरल' लैटिन शब्द 'फोईडस' (Faedus) से बना है जिसका शब्दार्थ 'अनुबंध' (Contract) होता है। अतएव संघवाद का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए हमें यह कल्पना करनी होगी कि अनुबंध कौन-कौन से तत्वों के मिलने से पूरा होता है। किसी भी अनुबंध या समझौते के लिए सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि कई व्यक्ति, कई इकाइयाँ या कई पक्ष हों। ये कम से

कम दो भी हो सकते हैं और दो से अधिक भी; क्योंकि एक पक्ष या एक व्यक्ति अपने आपसे कोई समझौता नहीं कर सकता। दूसरे, अनुबंध का अर्थ ही यह है कि उभय पक्ष या सभी कुछ बंधनों या शर्तों को स्वीकार करेंगे। कारण यह है कि प्रत्येक अनुबंध किसी निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। अतएव, यह आवश्यक है कि प्रत्येक पक्ष उस लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में कार्य करे। यह निश्चय अनुबंध की एक दशा या शर्त हो जाता है। इसी प्रकार की और भी शर्तें अनुबंध में हो सकती हैं। अन्त में, अनुबंध का कोई निश्चित स्वरूप होना चाहिए। जब कोई दो या अधिक व्यक्ति कुछ काल के लिए समझौता करते हैं तो वह मुँहजबानी भी हो जाता है किन्तु जो समझौता या अनुबंध बड़े-बड़े राज्यों और बहुत से व्यक्तियों में होता है उसमें मौखिक काम नहीं चलता। इसलिए अनुबंध को लिखित रूप दिया जाता है। अतः समसंघवाद के उक्त अर्थों को समझ लेने के बाद यह कह सकते हैं कि उसकी मूल प्रकृति अनुबंधात्मक (Contractual) है और उसके लिए कई पक्षों, शर्तों, दशाओं या बंधनों का होना अनिवार्य है तथा साथ ही इसका रूप लिखित होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि संघवाद का अर्थ राज्यों का समूहीकरण होता है।

राज्यों के समूहीकरण की आवश्यकता

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि राज्यों के समूही करण की आवश्यकता ही क्यों पड़ी इसका उत्तर देने के लिए हमें एक बार फिर मनुष्य की प्रकृति की ओर देखना पड़ेगा। व्यवस्थाहीन दशा में मनुष्य सदैव अपनेको अरक्षित अनुभव करता है। यदि यहाँ हॉब्स का स्मरण कराने की अनुमति दी जाय तो कहा जा सकता है कि हॉब्स ने बतलाया कि राज्य में आकर संप्रभु की स्थापना के बाद मनुष्य की अपनी अरक्षित अवस्था का अन्त तो हो गया किन्तु संप्रभु अब भी प्राकृतिक अवस्था, या हम अपने प्रस्तुत उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह भी कह सकते हैं कि वह अब भी अरक्षित अवस्था में है। आशय यह है कि जब पड़ोस में बहुत से छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न हो जाते हैं और उन सब की शक्ति प्रायः समान ही होती है तो सभी राज्य अपने को अरक्षित अनुभव करते हुए एक दूसरे से डरते हैं और उन्हें भय रहता है——न जाने कब कौन-सा राज्य उन पर आक्रमण कर दे। इस भय से दो या कुछ राज्य मिलकर संघ की स्थापना करते हैं।

संघों के भेद

लेकिन संघों के भेद भी होते हैं। पहले प्रकार के संघ को हम अस्थायी संघ (Confederation) कह सकते हैं और दूसरे को स्थायी संघ या केवल संघ (Federation) ही कह सकते हैं। मान लीजिए किसी छोटे राज्य पर यदि अपेक्षाकृत कोई बड़ा राज्य आक्रमण कर देता है तो छोटा राज्य तो अपनी पराजय से डरेगा और उस छोटे राज्य से सहानुभूति रखनेवाले मित्र राज्य इस बात से डरेंगे कि यह बड़ा राज्य इस छोटे और मित्र राज्य को हड़प कर कहीं हम पर हमला न कर बैठें। इसलिए उस आक्रमणकारी राज्य के विरुद्ध कुछ राज्य परस्पर मिलकर एक संघ की स्थापना कर सकते हैं और जब आक्रमण का भय समाप्त हो जाय तो वे यथावत् स्थिति में भी आ सकते हैं; अर्थात् जैसे ही आक्रमण का भय समाप्त हुआ कि वह संघ समाप्त हो गया और वे राज्य जैसे पहले स्वतंत्र थे वैसे ही स्वतंत्र हो गए। इस तरह के संघ को हम अस्थायी संघ कहेंगे। ऐसा भी हो सकता है कि आक्रमण का भय सदा बना रहे और साथ ही राज्य संघीय पद्धति को अपनी प्रगति के लिए उपयोगी भी पायें तो वे उस अस्थायी संघ को स्थायी संघराज्य में भी बदल सकते हैं, जैसा कि वस्तुतः अमेरिका में हुआ भी।

संघ राज्य किन अवस्थाओं में बनते हैं

लेकिन संघों के बनने के लिए कुछ मौलिक शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। स्थानीय भक्ति (Local patriotism) के घटने के साथ जब राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती है तो इस तरह के संघ स्वभावतः बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में साम्राज्यों की स्थापना के लिए जिस तरह बल-प्रयोग किया जाता है उस तरह बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। छोटे राज्य आपस में स्वेच्छा से मिल जाते हैं। इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड का विलयन बहुत कुछ राष्ट्रीयता की भावना के उन्नत होने का ही फल था, किसी सैनिक अभियान का नहीं। इसी तरह का विलयन इटली के नगर-राज्यों तथा रियासतों का भी हुआ था। भारत में सन् १९४७ के बाद संघराज्य में सैकड़ों देशी राज्य अत्यत शान्तिपूर्वक मिल गये। इसका कारण भी राष्ट्रीयता ही की भावना थी। साम्राज्यों को भी एक प्रकार का संघ कहा जा सकता है। उनकी स्थापना कोई शक्तिशाली सम्राट् अपनी तलवार के बल से करता है। इस प्रकार के साम्राज्यों में रोमन साम्राज्य, फ्रेंच साम्राज्य, जर्मन साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लेकिन इन एकताओं का आधार वस्तुतःबल होता है। राज्यों के विलयन, या बलात् एकीकरण को हम संघ नहीं कह सकते। संघराज्य तो तभी बनता है जब स्वेच्छा से कई राज्य समानता के आधार पर पारस्परिक हितों की पूर्ति और रक्षा के लिए एक संविधान की रचना करते हैं। और संविधान को संप्रभु मान लेते हैं। ऐसे संघों की सफलताओं के लिए सबसे पहली आवश्यकता तो सभी राज्यों का निकट होना है। उदाहरण के लिए भारत, बर्मा, हिन्द चीन और चीन का संघ तो बन सकता लेकिन बर्मा या भूटान या चीन या लंका का संघ नहीं बन सकता। पाकिस्तान इस सिद्धान्त का अपवाद है जिसके दो भाग हैं, एक पूर्व में और दूसरा पश्चिम में। इसके अलावा जो राज्य संघीकरण करें उनके निवासियों में रक्त, संस्कृति, जाति आदि की समानता होनी चाहिए तथा उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हित भी एक ही होने चाहिए। किसी प्रकार की ऐसी असमानता न होनी चाहिए जिससे सदस्य राज्य एक दूसरे से अपने आपको भिन्न न समझें। कहा जाता है कि संघराज्य में गणतंत्र (Republic) और राजतंत्र (Monarch) दोनों के गुण उपलब्ध हैं। इन पर हम आगे एक अलग अनुच्छेद में समालोचकीय दृष्टि से विचार करेंगे। इसके पहले संघवाद के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टि डाल लेना उचित होगा।

संघवाद की कल्पना का ऐतिहासिक विकास

संघवाद का इतिहास उतना ही पुराना है जितना पाश्चात्य राजदर्शन का। जब यूनानियों पर बहुत अधिक हमले होने लगे तो कोरिंथ, मेगरा आदि दस-बारह नगर-राज्यों ने मिलकर एकियन लीग की स्थापना की थी। किन्तु रोमन विजय-यात्राओं ने यूनानियों का संघराज्य स्थापित करने का यह प्रयत्न विफल कर दिया। इटली के नगरों में भी इस प्रकार का संघ १४वीं शताब्दी में बना था। आधुनिक इटली के राष्ट्रीय कारण के पूर्व वहाँ के नगर-राज्यों ने उक्त प्रकार का संघ बनाया था। मध्ययुग के रेनिश (Rhenish) तथा हन्सिएटिक (Hanseatic) संघों का नाम प्रसिद्ध है। स्विस प्रान्तों ने भी आरंभ में एक छोटा-सा संघ स्थापित किया था जो कालान्तर में स्विटजरलैंड राज्य में परिवर्तित हो गया। डच प्रान्तों ने भी फ्रांस तथा जर्मनी के विरुद्ध संघ बनाया था जो काफी दिनों तक चला। जर्मनी भी पहले छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। बाद में जर्मन रियासतों के विलयन से जर्मन संघ-राज्य की स्थापना हुई। किन्तु इन सब संघों में अस्थायित्व था। स्थायी संघराज्यों में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का नाम सबसे पहले आता है जो यू० एस० ए० के नाम से विख्यात है और जिसकी स्थापना सन् १७८९ में हुई थी। सन् १८४८ और १८७४ के संविधानों द्वारा

स्विट्जरलैण्ड में संघराज्य स्थापित हुआ। १८७१ में इसी तरह का संघ जर्मनी में बना। १९०० में आस्ट्रेलिया में संघराज्य स्थापित हुआ। भारतीय संघराज्य का नाम संघराज्यों की श्रृंखला में सबसे नया है। इसी सिलसिले में संघराज्यों की विशेषताओं पर प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। संघ राज्यों में संविधान को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। यह संवि धान 'सज्ञान भाव से किया गया एक जागरूक कृत्य' है। अधिकांश संघ राज्यों में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् शासन के तीन स्वतंत्र अंगों को मान्यता दी जाती है; कार्यपालिका (Executive), न्यायपालिका (Judiciary) और विधानमण्डल (Legislature)। इनमें से प्रत्येक अंग के कार्य और कर्तव्य तथा शक्तियाँ निर्धारित कर दी जाती हैं। इसके अलावा राज्य और केन्द्र की शक्तियाँ भी स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दी जाती हैं। केन्द्र को वे सारे कार्य सौंप दिये जाते हैं जो समान रूप से प्रत्येक राज्य के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। हालाँकि आजकल संघ राज्यों में भी केन्द्र की अधिकाधिक शक्तियाँ सुपुर्द करने की प्रवृत्ति बढ़ती रही है। संघवादी राज्य आरम्भ में तो प्रगतिशील रहते हैं किन्तु कालान्तर में रूढ़ि-प्रिय हो जाते हैं।

द्वैध संप्रभुता—आरम्भ में संघवादी विचारकों का कहना था कि संघ और राज्य दोनों की संप्रभुता अलग-अलग है। सन् १८४८ में स्विट्जरलैण्ड का जो संघीय संविधान था उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया था कि जो शक्तियाँ केन्द्र के हाथ में नहीं हैं उन शक्तियों के क्षेत्र में स्विस कैण्टन (या प्रान्त) पूर्णतः संप्रभु हैं। सन् १८१५ में जर्मन संघ का आधार भी यही था। द्वैध संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले जार्ज वेट ने सन् १८५३ में किया था। वेट का कहना था कि दोनों पक्ष अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं। इसी सिद्धान्त का १८५९ में राबर्ट वॉन मोहल, १८६३ में जे० जे० ब्लसर तथा १८६३–६४ में एच० वॉन ट्रीट्स्के ने प्रतिपादन किया। किन्तु द्वैध संप्रभुता का यह सिद्धान्त अधिक समय तक न चल सकता था और चला भी नहीं। आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि केन्द्रों को अधिकाधिक शक्ति देनी पड़ी। केन्द्र की सर्वोच्चता और शक्तिशालिता पर जॉर्ज जेलिनिक ने बड़ा बल दिया किन्तु जेलिनिक के भी पूर्व जॉर्ज मेयर, एलबर्ट हैनल, पॉल लेबाण्ड आदि विचारकों ने शक्तिशाली केन्द्र के होने की आवश्यकता पर सन् १८६८, १८७३ तथा १८७६ में बहुत बल दिया था। जेलिनिक ने जब समस्त संप्रभुता को केन्द्र में सीमित करने का प्रयास किया तो आलोचकों ने कहा कि फिर राज्यों को दी गयी शक्तियों का क्या औचित्य है? इसका उत्तर यह दिया गया कि संप्रभुता यदि चाहे तो अपने अधिकारों को स्वयं सीमित कर सकती है। यह कोई नयी बात भी नहीं है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य राज्यों के साथ हुई संधियाँ आदि इसी के प्रमाण हैं। अतः जब संविधान के रूप में राज्यों से केन्द्र कोई समझौता कर लेता है तो यह तय है कि उसकी संप्रभुता पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त १८८७ में प्रतिपादित हुआ था।

संघवादी व्यवस्था का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अभी तक हम लोग कुछ राज्यों के संघों पर ही विचार करते थे लेकिन अब ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना चाहती हैं। वे चाहती हैं कि उस अन्तर्राष्ट्रीय संघ में विश्व के समस्त राज्य सम्मिलित हों। लीग ऑफ नेशन्स तथा वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ उक्त कल्पना का ही आंशिक मूर्त्तरूप है।

———

(९) राष्ट्रीयता
(Nationalism)

राष्ट्रीयता का उत्पत्ति और अर्थ

राष्ट्रीयता (Nationalism) अपेक्षाकृत एक नयी कल्पना है। आजकल राष्ट्र और राष्ट्रीयता शब्द का प्रयोग बहुत अधिक होता है। बहुधा इन शब्दों का लोग गलत अर्थों में भी प्रयोग कर जाते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि हम दोनों शब्दों की उत्पत्ति और अर्थों 'नेशन' शब्दों के अनुवाद हैं। अंग्रेजी के शब्द लैटिन की 'नाशी' (Nasci) या 'नेशियों (Natio) धातु से बने हैं जिनका अर्थ होता है समूह या समुदाय। अतः राष्ट्र शब्द एक ऐसे जनसमुदाय का द्योतक है जिसका मानववंशिक उद्भव का स्रोत एक ही हो। इसका अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि राष्ट्र एक ऐसा जनसमुदाय है जिसके सदस्यों में परस्पर रक्त संबंध होता है और जिनकी जाति एक ही होती है। राष्ट्रीयता एक भाववाचक संज्ञा है जिसका भाव एक ऐसा आन्दोलन होता है जो किसी राष्ट्र की मौलिक एकता का समर्थन करता है। राष्ट्रीयता किसी भी उक्त जनसमुदाय की एकता को प्रकट करने वाली संज्ञा है।

किन्तु कुछ विचारक राष्ट्रीयता का भिन्न अर्थ में भी प्रयोग करते हैं। वे 'नेशनलिटी' (Nationality) के अर्थ में भी इसे काम में लाते हैं।

राष्ट्रीयता के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किए हैं। इन मतों से राष्ट्रीयता का अर्थ समझने में हमें मदद मिल सकती है। उदाहरण के लिए **बार्न्स** का कहना है कि राष्ट्रीयता एकता की जटिल भावनाओं के मिश्रण को प्रकट करती है और वह संस्कृति के ऐसे संयोगकारी तत्वों के विलयन की अभिव्यक्ति है जो किसी भी राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधता है। गिलक्राइस्ट जैसा विद्वान् राष्ट्रीयता को अमूर्त्त मानता है। वह उसे 'आध्यात्मिक सिद्धान्त' कहता है। **जे०एच० रोज** ने भी राष्ट्रीयता को एक 'मनोभाव' मात्र बतलाया है। इसी प्रकार **जिमर्न** ने उसे किसी एक जनसमुदाय को 'भावनाओं का संयुक्त रूप' कहा है। मैकाइवर के अनुसार राष्ट्रीयता ये भाव प्रकट करती है। (अ) साहचर्य, (आ) जातीय, एकता और (इ) पारस्परिक संबद्धता। इस संबंध में मैकाइवर का मत सर्वाधिक स्पष्ट है हालाँकि अन्य विद्वानों का यह मत भी मानने योग्य है कि वह एक अमूर्त्त कल्पना या भावना मात्र है। मैकाइवर भी इसका खण्डन नहीं करता।

राष्ट्रीयता की कल्पना का इतिहास

राष्ट्रीयता मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी में पनपी। इसके विकास में यूरोप तथा सारे संसार में राष्ट्र राज्य या देश राज्यों की स्थापना में बड़ी मदद की। इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रीयता अपेक्षाकृत नवीन कल्पना है लेकिन यूनानियों में भी राष्ट्रीयता किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। यह बात इससे प्रकट होती है कि यूनानी लोगों को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त थे जो गैर यूनानियों या विदेशियों को नहीं दिये गये थे। यूनान के नगर-राज्यों के पतन के बाद जब रोमन साम्राज्य का युग आया तो यह कल्पना बिल्कुल न रही। सार्वभौमिक साम्राज्य तथा अखिल मानव-जाति की एकता की धुन में लोगों ने राष्ट्रीयता की कल्पना की तरफ कोई ध्यान ही नहीं दिया। यद्यपि यह सच है कि भाषा, धर्म, विधि, शासन आदि की विभिन्नताओं में राष्ट्रीयता के ये तत्व दबे-छिपे पड़े रहे। मध्ययुग की समाप्ति के निकट ज्ञान के पुनरोदय का युग आया। उस समय ये विभिन्नताएँ बढ़ीं और राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार हुआ। ज्ञान के पुनरोदय काल का सबसे बड़ा राष्ट्रवादी **मैकियावली** था जो समग्र इटली को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में ग्रंथित कर देना चाहता था। **मैकियावली** का विश्वास

था कि राष्ट्रीयता की एकता में बँधा इटली, स्पेन और फ्रांस आदि जैसे आक्रमणकारियों का भली भाँति सामना कर सकेगा। लेकिन मैकियावली के राष्ट्रीयता संबंधी विचारों से समकालीन विचारक बहुत कम प्रभावित हुए और उसके बाद मध्ययुग की प्रवृत्तियाँ पुनः वापस लौट आयीं। जीससवादी विचारकों, राजतंत्र समर्थक और विरोधी दार्शनिकों ने राजसत्ता और धर्मसत्ता संबंधी विवाद एक बार पुनः आरम्भ कर दिया। किन्तु राष्ट्रीयता के तत्व बराबर बने रहे और अन्त में सुधारवादी आन्दोलन के युग में उन्हें आगे बढ़ने का सबसे अधिक अवसर मिला। लूथर ने व्यक्ति के धार्मिक विश्वासों के संघ में स्वतंत्रता की आवाज उठा कर राजनीतिक स्वतंत्रता का दरवाजा खोल दिया और उसके साथ राष्ट्रीयता के विकास का भी। राष्ट्रीयता की भावना ने लोगों को आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग करने के लिये उत्साहित किया। इन्हीं सब भावनाओं के प्रवाह में डच गणतंत्र की स्थापना हुई और राष्ट्रीयता की जिस भावना को पहले कपोल कल्पना मात्र ही समझा जाता था उसको एक स्पष्ट आधार मिल गया। सन् १७७२ में पोलैण्ड की स्वतंत्रता से भी इसी की पुष्टि हुई। शनैः-शनैः यह आन्दोलन अमेरिका पहुँचा और वहाँ पेट्रिक हेनरी, टॉम पेन आदि विचारकों ने इसे आगे बढ़ाया। नैपोलियन की दिग्विजय यात्राओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप राष्ट्रीयता को आगे बढ़ने में मदद मिली। यूरोप के राज्यों ने राष्ट्रीयता के आधार पर नैपोलियन की साम्राज्य स्थापित करने की आकांक्षाओं का पर्याप्त विरोध किया। वियना कांग्रेस में एक प्रस्ताव के रूप में इस बात को स्वीकार किया गया कि राज्यों की सीमाओं के निर्धारण में राष्ट्रीय इच्छाओं का ध्यान रक्खा जाय। किन्तु कुछ साम्राज्यवादी शक्तियों के गुट के कारण ऐसा न हो सका। फलतः अनेक राष्ट्रों ने अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्णय के अधिकार की प्राप्त के लिए युद्ध किये और खून बहाये। अनेक सम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ विद्रोह हुए। पहले तुर्कों ने यूनानियों पर अपना कब्जा जमा रखा था। सन् १८२१ में यूनानियों ने तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। डच या हालैण्डवासियों से सन् १८३० में बेलजियम वासी अलग हो गये। सन् १८३१ में पोलैण्डवासियों ने रूस के विरुद्ध विद्रोह कर स्वाधीनता प्राप्त कर ली। फलतः सन् १८४८ में राष्ट्रवाद एक निश्चित शक्ति के रूप में संसार के सम्मुख आ गया। सन् १८७० में जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतों का बिस्मार्क ने 'रक्त और तलवार' से अन्त कर एक राष्ट्र की स्थापना की और जर्मन राष्ट्रीयता को जन्म दिया इटली में केवूर ने राष्ट्रीय एकता स्थापित की और इस प्रकार मैकियावली, मेजिनी और गैरीबाल्डी की इच्छाओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति हुई। हंगरी और ऑस्ट्रिया का वेग गतिमान हुआ और उन्होंने भी राष्ट्रीय स्वतंत्रताएँ प्राप्त कर लीं।

काव्य और साहित्य का योगदान—राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता के सार-प्रचार में काव्य और साहित्य का योगदान भी उल्लेखनीय है। राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार के लिये लॉवार्टिन, डाल्हमैन, वेट, मेजिनी आदि ने साहित्य और काव्य को माध्यम बनाया। हंगरी, पोलैण्ड, आदि के कवियों ने राष्ट्रीयता की भावनाओं से परिपूर्ण कविताएँ लिखीं, निबंध लिखे। कहानियाँ और उपन्यासों द्वारा इसका प्रचार किया गया। उपनिवेश और दास राष्ट्रों में भी इस प्रकार का साहित्य कालान्तर में लिखा गया।

राष्ट्रीयता के प्रबल वेग से जो आन्दोलन उत्पन्न हुआ, कुछ अंशों में प्रथम महायुद्ध उन्हीं अतृप्त राष्ट्रीय भावनाओं का फल था। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त लॉयड जॉर्ज, उडरो विलसन आदि राजनीतिज्ञों ने यूरोप की असन्तुष्ट राष्ट्रीय भावनाओं को यथाशक्ति सन्तुष्ट करने का यत्न किया। सन् १९१९ में साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के बाद यूरोपियन राज्यों की सीमाएँ निर्धारित करने में यदि कोई तत्व कार्य कर रहा था तो वह

राष्ट्रीयता का तत्व ही था। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध कालीन यूरोपियन राजनीतिक मान-चित्र की रचना में राष्ट्रीयता का पर्याप्त हाथ था। सन् १९१९ में ही फ्रांस और डेनमार्क को अपने वे प्रदेश मिले जो एक समय उनके हाथ से निकल गये थे। चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया आदि नए राज्य बने। पोलैण्ड की पुनर्स्थापना हुई। ब्रिटेन को आयरलैण्ड को पुनः स्वतंत्र करना पड़ा। यहूदी आन्दोलन ने भी जोर पकड़ा जिसकी वजह से अन्त में द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त फिलस्तीन में इजरायल की स्थापना हुई। इस प्रकार १९वीं शताब्दी का राष्ट्रवादी आन्दोलन जो मुख्यतः जन आन्दोलन था, आगे चलकर सरकारों की स्पष्ट नीति बन गया। यह बड़ा ही महत्वपूर्ण अन्तर था। राष्ट्रीयता के आधार पर बनी सरकारें जातीय, भौगोलिक और ऐतिहासिक एकता की माँगें करने लगीं। राष्ट्रवाद का यह स्वरूप आक्रमणात्मक हो गया। हिटलर और मुसोलिनी का नाजी और फासीवादी आन्दोलन इन्हीं आधारों पर चला। राष्ट्रीयता के आधुनिक विचारकों में फिक्टे, सेविनी, ब्लंशली, रेनान, ओकॉनेल, कैलहन, लाइवर, बर्जेश आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीयता की आलोचना

राष्ट्रीयता पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से हमें उसमें निम्नलिखित त्रुटियाँ दिखलायी पड़ती हैं:—

(१) राष्ट्रीयता ने जातीय उच्चता की भावना को जन्म दिया। हिटलर ने यहूदियों को बुरी तरह तंग करके जर्मनी से इसी आधार पर निकाल दिया था कि वे निम्न जाति के हैं और जर्मन आर्य हैं जो उच्चतर जाति है। हिटलर ने तो यहूदियों से खानपान और विवाहादि तक के संबंध भंग कर दिए। इस प्रकार राष्ट्रीयता के नाम पर किये गये अत्याचारों के पीछे जाति, भाषा और संवासों की एकता के विचार कार्य कर रहे थे।

(२) कुछ विचारकों ने आर्थिक स्वतंत्रता पर बल दिया इसका फल यह हुआ कि भाषा, जाति और संस्कृति की एकता नहीं आर्थिक आत्मनिर्भरता को राष्ट्रों की रचना का आधार माना जाने लगा। इस दृष्टि से अमेरकन राष्ट्रीयता का उदाहरण दिया जा सकता है। भाषा, संस्कृति और यहाँ तक कि जाति की विभिन्नता होते हुए भी केवल आर्थिक आधारों पर अमेरिकन राष्ट्रीयता टिकी हुई है। इस तरह के तथ्य राष्ट्रीयता संबंधी विचारों की असंगति ही प्रकट करते हैं।

(३) एक ओर राष्ट्रीयता समर्थक विचारकों ने एक राष्ट्रीयता वाले देशों के लिए एक राज्य का नारा लगाया और दूसरी ओर गमप्लोविक, लार्ड एक्टन आदि जैसे विचारकों ने कहा कि यह आवश्यक नहीं है कि एक राष्ट्रीयता एक ही राज्य में रहे। कई राष्ट्रीयताएँ एक ही राज्य में ठीक उसी तरह रह सकती हैं जिस प्रकार एक राज्य में विभिन्न धर्मा- वलम्बी रहते हैं। यहाँ दूसरी असंगति दृष्टिगोचर होती है।

(४) राष्ट्रीयता के कारण विश्व भर में रक्तपात और युद्ध हुए। पिछले दो महायुद्धों का कारण ही अतृप्त राष्ट्रीय भावनाएँ थीं।

(५) फासीवाद और नाजीवाद जैसे भयानक आन्दोलन राष्ट्रीयता की ओट में ही पनपे।

(६) आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बहाने अनुचित माँगें की गयीं जिनकी वजह से लड़ाइयाँ हुईं।

फिर भी यह तो मानना ही होगा कि प्रजातंत्रवाद का प्रचार राष्ट्रीयता के कारण ही हुआ। बहुसंख्यक लोगों को राजनीतिक दृष्टि से जागरूक बनाने का श्रेय भी राष्ट्रीयता को ही है।

(१०) साम्राज्यवाद
(Imperialism)

राष्ट्रीयता के कारण प्रत्येक राष्ट्र द्वारा जो माँगें की गयीं उनमें आर्थिक स्वतंत्रता की माँग भी प्रमुख थी। कई राष्ट्रों ने आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये औद्योगिक विकास किया। औद्योगिक विकास से कई राष्ट्रों में उद्योगों का यंत्रीकरण हुआ। यंत्रीकरण से जहाँ एक ओर उत्पादन में वृद्धि हुई वहाँ दूसरी ओर कच्चे माल की भी माँग हुई। उत्पादित वस्तुओं को खजाने के लिए बाजार तथा कच्चे माल के लिए स्रोतों की आवश्यकता प्रत्येक औद्योगिक यूरोपियन राष्ट्र को पड़ी। इस प्रकार यूरोप के औद्योगिक राष्ट्रों में इन बात के लिए होड़ शुरू हुई कि कौन कितने उपनिवेश प्राप्त कर लेता है। साम्राज्यवादी प्रसार की शीर्षतम स्थिति पर प्रथम महायुद्ध के बाद ४० लाख वर्ग मील का साम्राज्य ब्रिटेन को और मिल गया था। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ के पूर्व फ्रांस के तीसरे गणतंत्र के पास भी ५० लाख वर्ग मील के उपनिवेश थे। इटली के पास १० लाख वर्ग मील का साम्राज्य था। बालकन और जर्मन राष्ट्रों के भी उत्तरी अफ्रीका में इसी प्रकार के साम्राज्य थे। रूस ने एशियाई क्षेत्र में, जापान ने कोरिया, फारमूसा और मंचूरिया में अपने पैर फैला रखे थे। यहाँ तक कि अमेरिका प्रशान्त महासागर में अपने भावक्षेत्रों को बढ़ाने की चिन्ता में लगा था। बेलजियम, हालैंड और पुर्तगाल के भी विश्व में छोटे-छोटे अधिकृत प्रदेश थे। अमेरिका का निर्यात यदि सन् १९०० में २३ प्रतिशत था तो वह १९२३ में बढ़कर ४९.८ गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्यवाद राष्ट्रीयता जन्य का राज्यों का एक अर्थिक विस्तार का आन्दोलन था। यह साम्राज्य के प्रसार का आर्थिक तर्क भी कहा जा सकता है। हम देखते हैं कि इंगलैण्ड सूती वस्त्र निर्यात में आगे था तो अमेरिका लोहे तथा जर्मनी यंत्रों के।

राष्ट्रीयता ने साम्राज्य के प्रसार में इस प्रकार मदद की थी कि साम्राज्यवादी शक्तियों ने यह कहना आरम्भ कर दिया कि वे अधिक प्रगतिशील और सभ्य जाति की हैं, अतएव पिछड़े और असभ्य लोगों को प्रगतिशील और सभ्य बनाना उनका कर्तव्य है। वे इस प्रकार अपनी साम्राज्यवादी कल्पनाओं और नीतियों का पोषण करती थीं। औपनिवेशिक नीति जो सन् १८७५ से आरम्भ हुई, यूरोपियन राष्ट्र-राज्यों की औद्योगिक नीति का परिणाम था। इसी की वजह से साम्राज्यवाद दुनिया भर में फैला।

विस्तारवाद या साम्राज्यवाद का इतिहास

ऊपर के विवरण से ऐसा लगता है कि साम्राज्यवाद विशुद्ध रूप से आधुनिक तत्व है। किन्तु ऐसा सोचना या कहना अत्यन्त भ्रमोत्पादक होगा। हम याद है कि प्राचीन काल में तथा आधुनिक काल के आरम्भ में ऐसे कई विचारक हुए जिनका यह मत था कि यथावत् स्थिति जैसी कोई अवस्था नहीं होती। या तो किसी भी चीज का विकास होता है अथवा ह्रास होता है। राज्य भी इस नियम से मुक्त नहीं है। या तो वह नष्ट होता रहता है या विस्तृत। इस प्रकार मैकियावली के पूर्व तथा मैकियावली ने स्वयं राज्य के विस्तार-वाद की नीति का प्रतिपादन किया था। यदि कहा जाय कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में यही विस्तारवाद की नीति परिवर्तित रूप में साम्राज्यवादी नीति होकर हमारे सामने आया, विस्तारवाद या साम्राज्यवाद की नीति का किसी न किसी रूप में बराबर अनुकरण किया गया है। सिकन्दर ने साम्राज्यवादी नीति ही अपनायी थी। रोमनों की नीति भी साम्राज्यवाद ही की थी। मध्ययुग में तो बराबर इस नीति को माना गया, चाहे उसका रूप कुछ भी रहा हो। बीसवीं शताब्दी में भी प्रगतिशील राज्यों ने अपने-अपने साम्राज्यों की रचना की।

साम्राज्यवाद फैलने के कारण

जिन कारणों से साम्राज्यवाद फैला उनमें से कई पर तो ऊपर हम प्रकाश डाल आये हैं। किन्तु कुल मिलाकर ये कारण थे : (१) जातीय उच्चता की भावना जिसके कारण लोगों के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि सारे संसार का शासन उन्हीं को करना चाहिए। (२) नयी दुनिया की खोज ने भी साम्राज्यवाद के फैलने में मदद दी। इसका कारण यह था कि वहाँ तो साम्राज्य स्थापित करना अपेक्षाकृत सरल था। (३) औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व और उसके बाद वाणिज्य व्यवसाय का विकास। (४) चर्च द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार का यत्न। (५) बाजारों तथा कच्चे माल को पाने के लिए विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों में होड़ और (६) नौ सैनिकों तथा सैनिक दृष्टि से सामजिक महत्व के स्थानों पर कब्जा बनाये रखने की नीति। साम्राज्यवाद के समर्थकों का मत था कि उक्त कारणों के रहते हुए साम्राज्यवाद का फैलना बिल्कुल निश्चित और स्वाभाविक था।

साम्राज्यवाद के कारण

साम्राज्यवाद के फलस्वरूप दुनिया के दुख-दैन्य में और वृद्धि हुई। यद्धों की बाढ़ आ गयी। दो महायुद्धों के अतिरिक्त १८४८ में इंगलैण्ड और फ्रांस का युद्ध, दक्षिणी अफ्रीका का बोअर युद्ध, स्पेन, अमेरिकन युद्ध, स्पेनिश गृहयुद्ध में अमेरिका का हस्तक्षेप, चीन-जापान युद्ध, कोरिया युद्ध, इण्डोचाइना युद्ध, ये सब के सब साम्राज्यवाद के ही फल थे।

साम्राज्यवाद के विरोधी और समर्थक

साम्राज्यवाद के उक्त दोषों ने राजनीतिक विचारक आरम्भ से ही परिचित थे। इसीलिए साम्राज्यवादी नीति का रिचर्ड कॉब्डन के नेतृत्व में विरोध किया गया। उपयोगितावादी विचारकों ने भी एक हद तक साम्राज्यवाद का विरोध किया। स्वयं गेलेड्स्टन साम्राज्यवाद का विरोधी था। हाब्सनर और हॉबहाउस भी इसके विरोधी थे। लेकिन डिजरायली ने नीति बदल दी। उसने पूर्व में साम्राज्य वृद्धि की नीति अपनायी। कार्लाइल, सिसिल रोड्स, जे० आर० सीले, बेंजामिन किड आदि ने साम्राज्यवाद का समर्थन किया। कार्लाइल का कहना था कि साम्राज्य विस्तार के अभियानों में प्रजा से वीरता की भावना बढ़ती है। राष्ट्र सुदृढ़ होता है। सीले ने साम्राज्य वादी नीति की संकीर्णता दूर करने का उपाय माना। बेंजामिन किड का कहना था कि पिछड़े हुए लोगों का नेतृत्व प्रगतिशील तत्वों को करना ही चाहिए। इसी प्रकार जर्मन विचारकों में ओसवर्ड, स्पेंग्लर, नीत्शे, प्रिंस, वॉन, बोनो आदि का नाम साम्राज्यवादी विचारकों के रूप में लिया जा सकता है।

(११) अन्तरराष्ट्रीयता

(Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रीयता साम्राज्यवादी नीति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। साम्राज्यवादी नीति के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में संघर्ष, युद्ध आदि इतने अधिक बढ़ गये कि कुछ लोगों को ऐसा लगा कि कहीं उनकी वजह से मानवता की प्रगति ही अवरुद्ध न हो जाय। फलतः अनेक राजनीतिज्ञों और विचारकों ने यह

मत प्रकट किया कि कोई न कोई ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति अवश्य होनी चाहिए जो विभिन्न राज्यों को संघर्ष करने से रोक सके। दांते ने अपनी 'डी मोनार्किया' में अति उग्र राष्ट्रीयता तथा तज्जनित साम्राज्यवाद की बुराइयाँ समझ कर ही एक अन्तरराष्ट्रीय संप्रभु शक्ति की स्थापना का औचित्य सिद्ध किया था।

आरंभ में अन्तरराष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के लिए इस बात का प्रयत्न किया गया कि शक्ति-सन्तुलन (Balance of Powers) बनाये रखा जाय। लेकिन शीघ्र ही इस हल ने जवाब दे दिया। फलतः युद्धों की बुराइयों से घबड़ा कर कई नागरिकों ने व्यक्तिगत रूप से ऐसी संस्थाओं की स्थापना के यत्न किये जो राष्ट्रों में शान्तिपूर्ण साधनों से समस्याओं को सुलझाने का प्रचार कर सके। सन् १८२९ में विलियन लॉड नाम के एक अमरीकन ने ऐसी संस्था स्थापित की जिसका कार्य विश्व शान्ति की स्थापना के कार्य में मदद देना था। उसका यह भी कहना था कि सब राष्ट्र मिल कर एक पुलिसदल भी बनायें जो वक्त पड़ने पर युद्ध रोकने के काम में लाया जा सके। किन्तु जैसा अनुमान किया जा सकता है, यह राज्यों के बीच की बात थी, अतएव इस प्रकार का व्यक्तिगत यत्न असफल होना अनिवार्य था और हुआ भी यही। किन्तु इससे अन्तरराष्ट्रीयता के आन्दोलन के प्रचार को बहुत अधिक क्षति नहीं हुई। जनता बराबर माँग करती रही कि संसार के राष्ट्र मिलकर महायुद्धों को रोकने के लिए कोई न कोई व्यवस्था करें। इस संबंध में कई सम्मेलन भी हुए। सन् १८९९ और सन् १९०७ के सम्मेलन इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन सम्मेलनों की असफलता प्रमाणित हो गयी जब सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ ही गया। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते न होते सभी राष्ट्र युद्धजन्य संहार और सर्वनाश से त्रस्त हो घबड़ा उठे और विजेताओं ने प्रयत्न कर लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना की। लीग ऑफ नेशन्स विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों की स्वार्थपरतापूर्ण नीति और हितों की रक्षा के प्रयत्न के कारण सफल न हो सका। द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापित हुआ। यह संघ अब भी कार्य कर रहा है।

अन्तरराष्ट्रीयता के प्रचार में युद्ध विरोधी लेखकों का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। डॉ० एस० गारडन, पी० सी० मिचेल आदि ने युद्ध विरोधी पुस्तकें लिखीं। इन सब का कहना है कि अन्तरराष्ट्रीय अराजकता शीघ्रातिशीघ्र समाप्त होना चाहिए।

आजकल शान्ति-आन्दोलन भी अन्तरराष्ट्रीयता के प्रचार में सहायता कर रहा है।

परीक्षा प्रश्न

१. राज्य-विज्ञान और राजदर्शन का अन्तर बतलाइए और अर्थ शास्त्र (Economics), समाजशास्त्र (Sociology) और नागरिकशास्त्र (Civics) से उसका संबंध बतलाइए ? (आगरा, १९४१ और १९५१)

प्राचीन युग (यूनान और रोम)

२. (क) प्लेटो की धर्म (ustice) कल्पना स्पष्ट कीजिए। (इलाहाबाद, १९४३ और लखनऊ, १९५१)

२. (ख) "प्लेटो के लिए धर्म, मानवीय सद्‌गुण भी है और वह सूत्र भी जो राज्यों में मनुष्यों को एकता में बनाये रखता है। वह एक ऐसा गुण है जो मनुष्य को भला और सामाजिक दोनों बनाता है। यही प्लेटो के दर्शन का प्रथम तथा मौलिक सिद्धान्त है।" इस कथन के प्रकाश में प्लेटो के धर्म संबंधी दृष्टिकोण को समझाइए (इलाहाबाद, १९५४)

३. प्लेटो की धर्म (Justice) संबंधी कल्पना का वर्णन कीजिए और बतलाइए कि उससे प्लेटो के कल्पना या आदर्श राज्य (Ideal State) की उत्पत्ति अनिवार्यतः किस प्रकार होती है ? (इलाहाबाद, १९४८)

४. प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए (इलाहाबाद, १९४१, लखनऊ, १९५०, १९५३)

५. प्लेटो की साम्यवाद की योजना (Scheme of Communism) स्पष्ट कीजिए और उसके विरुद्ध अरस्तू के तर्क दीजिए (इलाहाबाद, १९५०, लखनऊ, १९४४, १९४७, १९५० और १९५२)

६. प्लेटो के सम्पत्ति संबंधी विचारों (Viewson property) की समीक्षा कीजिए और उन विचारों की अरस्तू के सम्पत्ति संबंधी विचारों से तुलना कीजिए (इलाहाबाद, १९५२)

७. 'प्लेटो गुब्बारे में बैठ कर नये प्रदेश पर घूमता हुआ कभी-कभी नीहार के आवरण को उपनिवेशवासी की भाँति उस क्षेत्र में जाता है और मार्ग का निर्माण करता है --पोलक

उक्त अवतरण को दृष्टि में रखते हुए प्लेटो और अरस्तू की तुलना करते हुए दोनों का स्पष्ट अन्तर बतलाइए (लखनऊ, १९४९)

८. प्लेटो और अरस्तू के राज्यशास्त्र और नीतिशास्त्र संबंधी विचारों का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित कीजिए (लखनऊ, १९५१)

९. 'जब तक दार्शनिक राजा और राजा दार्शनिक न होंगे तब तक नगर बुराइयों से कभी मुक्त न हो सकेंगे।' इस कथन पर अपनी टिप्पणी दीजिए (इलाहाबाद, १९४६ और लखनऊ, १९४८)

१०. प्लेटो और अरस्तू के शिक्षा संबंधी विचारों की तुलना करते हुए उनका अन्तर बतलाइए और बतलाइए आप उनसे कहाँ तक सहमत हैं ? (इलाहाबाद, १९५१)

११. फ्रेडरिक पोलक ने अरस्तू को राजशास्त्र का जन्मदाता क्यों कहा है ? (लखनऊ, १९४५, १९५३)

१२. अरस्तू द्वारा किये गये राज्यों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए (आगरा, १९४८, १९५१)

१३. अरस्तू के (अ) दासता और (आ) सम्पत्ति संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए (लखनऊ, १९४८, १९५२)

१४. 'राज्य स्वाभाविक है।'

'राज्य की उत्पत्ति जीवन रक्षा के लिए होती है और राज्य भले जीवन के लिए निन्तर जीवित रहता है।'

उक्त कथनांश के आधार पर अरस्तू के राज्य संबंधी उत्पत्ति और स्वभाव के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए। (इलाहाबाद, १९४३, १९४५, १९४९)

१५. कहा जाता है अरस्तू राज्यों के पतन को रोकना चाहता था, उसने इस समस्या को किस प्रकार सुलझाया और उसका क्या हल था? (इलाहाबाद, १९४७)

१६. क्या प्लेटो और अरस्तू में राज्य के स्वभाव, लक्ष्य और कृत्य संबंधी विचारों में कोई मौलिक मतभेद है? आप दोनों के विचारों के अन्तर को किस प्रकार स्पष्ट करेंगे? (इलाहाबाद, १९४२, १९४९)

१७. राजदर्शन को रोमनों का क्या अनुदाय है? (इलाहाबाद, १९४४)

१८. सिसरो के प्रसिद्ध राजनीतिक अनुदायों के संबंध में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (लखनऊ, १९४६)

मध्ययुग

१९. मध्ययुग में गिरजा और राज्य के पारस्परिक संबंधों के विषय में कौन-कौन से मुख्य सिद्धान्त प्रचलित थे? (इलाहाबाद, १९४१)

२०. मध्ययुग में राजदर्शन पर धार्मिक कल्पनाओं का प्रभुत्व था। इस कथन को उन विचारकों के ग्रंथों या विचारों से सिद्ध कीजिए जिनसे आप परिचित हैं (इलाहाबाद, १९४२

२१. मध्ययुग के राजदर्शन की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? इलाहाबाद, १९४२ और १९४८, लखनऊ, १९४५)

२२. प्राकृतिक विधि (Notural law) से मध्ययुग में क्या तात्पर्य ग्रहण किया जाता था? (इलाहाबाद, १९४४)

२३. मध्ययुग में राज्य की कल्पना किस सीमा तक विकसित हो पायी थी? (इलाहाबाद, १९४५)

२४. मध्ययुग में गिरजा ही राज्य हो गया था और राजसत्ता धर्मसत्ता का केवल पुलिस विभाग था—फिगिस। इस कथन पर टिप्पणी कीजिए। (इलाहाबाद, १९४७)

२५. मध्ययुग अनिवार्यतः अराजनीतिक था। (इलाहाबाद १९४८, लखनऊ, १९४४, १९४९)

२६. गिरजा और राज्य के संबंधोंके विषय में मध्ययुग के विचारकों का क्या मत है? लिखिए। (इलाहाबाद, १९४९)

२७. सामन्तवादी समाज और राज्य की मुख्य विशेषताएँ लिखिए और उनके पतन के कारण बतलाइए। (लखनऊ, १९४४)

२८. 'मध्ययुग का राजदर्शन, धर्मसत्ता और राजसत्ता के संबंधों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के बाद वस्तुतः समाप्त हो गया।'—डनिंग। स्पष्ट कीजिए। (लखनऊ, १९४६)

२९. सन्त टॉमस एक्वीनाज के राजनीतिक विचारों की रूपरेखा बतलाइए। (इलाहाबाद, १९५०, १९५२)। क्या यह ठीक है कि अरस्तू के दर्शन और ईसाई धर्म के बीच उसने साम्य स्थापित किया? (इलाहाबाद, १९५४)

३०. मासीलिओ पेडुआ को किन कारणों से मौलिक-विचारक (Original Thinker) समझा जाता है? (इलाहाबाद, १९४६)

३१' मार्सीलिओ पेडुआ के राजनीतिक सिद्धान्तों की रूपरेखा उपस्थित कीजिए। (इलाहाबाद, १९५१)

३२. सन्त टॉमस एक्वीनाज और मार्सीलियो पदुआ के राजदर्शन के क्या महत्वपूर्ण अनुदाय हैं। लिखिए। (लखनऊ, १९४६)

३३. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि मैकियावली की राज्य संबंधी कल्पना अनिवार्यतः अनैतिक थी? अपना उत्तर सकारण लिखिए। (इलाहाबाद, १९४१)

३४. कहा जाता है मैकियावली का राजदर्शन से नहीं बल्कि शासनकला से अधिक लगाव था। इस कथन पर अपने विचार प्रकट करिए। (इलाहाबाद, १९४३)

३५. 'राजदर्शन में मैकियावली नहीं अपितु बोदाँ आधुनिकता का नायक है।' इस कथन पर अपने विचार प्रकट करिए। (इलाहाबाद, १९४४, १९४९)

३६. आधुनिक राजनीतिक विचारों की वे कौन-सी बातें हैं जो मैकियावली से आरंभ होती हैं? (इलाहाबाद, १९५१ और लखनऊ, १९५३)

३७. मैकियावली के विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन उपस्थित करते हुए उसका स्थान निर्धारित करिए। (लखनऊ, १९४६)

३८. आधुनिक राजदर्शन को मैकियावली के क्या-क्या अनुदाय हैं? बतलाइए। (लखनऊ, १९५०, १९५२)

आधुनिक काल

३९. कहा जाता है हॉब्स और मॉण्टेस्क्यू की पद्धतियों और लक्ष्यों में बड़ा अन्तर था लेकिन फिर भी बोदाँ ने दोनों के लिए मार्ग तैयार किया। यह बात कहाँ तक ठीक है? (इलाहाबाद, १९४७)

४०. जीन बोदाँ की संप्रभुता की परिभाषा पर अपने विचार प्रकट करिए। (इलाहाबाद, १९५२)। कहा जाता है राजनीतिक विचारों को संप्रभुता का सिद्धान्त बोदाँ की प्रमुख देन (अनुदाय) है। इसकी व्याख्या कीजिए। (इलाहाबाद, १९५४)

४१. जीन बोदाँ की संप्रभुता की परिभाषा पर विचार प्रकट करते हुए बतलाइए कि उसमें हॉब्स और ऑस्टिन ने क्या सुधार किये? (लखनऊ, १९४९)

४२. राज्योत्पत्ति विषयक सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त (Theory of Social Contract) का वर्णन करिये और उसकी आलोचना करिये। (इलाहाबाद, १९४६, लखनऊ, १९५०, आगरा १९४१)

४३. 'सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त (Theory of Social Contract) अपने सभी रूपों में कुछ इरादों का सिद्धान्त है जिसके प्रतिपादक उसके प्रति निरन्तर जागरूक रहे हैं और जिन्होंने जानबूझ कर उसे आगे बढ़ाया है।'—वॉन। इस कथन पर अपने विचार प्रकट करिए। (इलाहाबाद, १९४८)

४४. "सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त (Theory of Social Contract) न केवल अनैतिहासिक (Unhistorical) है अपितु अत्यधिक भयावह भी है क्योंकि वह राज्य को तथा उसके अन्य संवासों को व्यक्तिगत लोलुपता पर छोड़ देता है।' इस कथन पर अपने विचार प्रकट करिए और बतलाइए कि क्या यह सिद्धान्त बिलकुल व्यर्थ है? (आगरा, १९५२)

४५. हॉब्स के प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) और संप्रभुता संबंधी विचारों की परीक्षा कीजिए? (लखनऊ, १९४४)

४६. राजदर्शन के इतिहास में हॉब्स का स्थान निर्धारित करिए। (लखनऊ, १९४५)

४७, स्वतंत्रता के संबंध में हॉब्स के मुख्य विचार बतलाइए और अन्त में एक आलोचनात्मक टिप्पणी जोड़िए। (लखनऊ, १९४८)

४८. सीमित राजतंत्र (Limited Monarchy) संबंधी लॉक के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। (इलाहाबाद, १९५२)

४९. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि लॉक पूर्णतः व्यक्तिवादी था? (लखनऊ, १९४५)

५०. लॉक के विचारों की मुख्य विशेषताएँ बतलाइए। (लखनऊ, १९४७)

५१. रूसो ने सामान्य इच्छा (General Will) और सबकी इच्छा (Will of all) के बीच किस प्रकार अन्तर स्थापित किया है ? क्या आप रूसो के तत्संबंधी मत का समर्थन करते हैं ? (इलाहाबाद, १९४१)

५२. (क) रूसो के सामान्य इच्छा संबंधी कल्पना का वर्णन कीजिए। वह सब की इच्छा (Will of all) और लोकमत (Public Opinion) के बीच किस प्रकार अन्तर स्थापित करता है ?[1] (इलाहाबाद, १९४६, आगरा, १९४०, १९४२, १९४५, १९४९ और बनारस, १९४७)

(ख) "रूसो की सामान्य इच्छा सिरविहीन हॉब्स का लेवॉयथन है।" इस कथन को स्पष्ट करते हुए इसकी व्याख्या करिए। (इलाहाबाद, १९५४)

५३. राजदर्शन को रूसो का अनुदाय बतलाइए ? (लखनऊ, १९४५)

५४. संप्रभुतासंबंधीहॉब्सऔरलॉकके मतों की तुलना कीजिए (इलाहाबाद, १९४१)

५५. राजक्रान्ति के अधिकार के संबंध में हॉब्स और लॉक के मतों की तुलना करिए। (इलाहाबाद, १९४२, लखनऊ, १९५२)

५६. सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त के बारे में हॉब्स और लॉक के मतों में क्या अन्तर है ? (बनारस, १९४९)

५७. रूसो का राजदर्शन हॉब्स के विचारों का लॉक के विचारों से समन्वय-सा स्थापित करने का प्रयत्न करता है। क्या आप इससे सहमत हैं ? (इलाहाबाद, १९४९)

५८. राज्योत्पत्ति (Origin of State) और प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) संबंधी हॉब्सऔरलॉकके विचारों की तुलना कीजिए। (इलाहाबाद, १९५०, बनारस, १९५० और १९५३)

५९. लॉक और रूसो ने सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त में राज्य की उत्पत्ति के संबंध में क्या मत स्थिर किया है; दोनों में क्या अन्तर है--स्पष्टतः बतलाइये। (इलाहाबाद, १९५१)

६०. हॉब्स और लॉक के प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) और संप्रभुता (Sovereignty) संबंधी विचारों की तुलना कीजिए। (लखनऊ, १९५१)

६१. सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त की व्याख्या और उसके परिणामों के संबंध में हॉब्स, लॉक और रूसो में क्या-क्या अन्तर हैं ? (आगरा, १९४०)

६२. 'रूसो ने कुछ हॉब्स से और कुछ लॉक से ग्रहण किया है।'--लार्ड। इस कथन की आलोचना करिए। (इलाहाबाद, १९४३)

६३. 'हॉब्स की संप्रभुता वास्तविक (de facto) है और रूसो की नामधारी।' इस संबंध में अपने विचार प्रकट करिए। (इलाहाबाद, १९४४)

६४. हॉब्स और लॉक के प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) और सामाजिक अनुबंध संबंधी विचारों की तुलना कीजिए। (लखनऊ, १९४९, आगरा, १९४४, १९४७ और बनारस, १९४५)

६५. शक्ति विभाजन के सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers) का आलोचनात्मक वर्णन करिए। (इलाहाबाद, १९४१)

६६. हालाँकि शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को आजकल भी सामान्यतः मान्यता प्राप्त है फिर भी क्या कारण है कि व्यावहारिक कठिनाइयों से उसका मूल्य इतना कम हो गया है ? (आगरा, १९४५)

६७. मांटेस्क्यू के शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के विषय में विचार कीजिए और स्वतंत्रता से उसका संबंध बतलाइए। (इलाहाबाद, १९५२, १९५४)

---

१ भिन्न टाइपवाला प्रश्नांश केवल आगरा और बनारस में पूछा गया था।--ले०

६८. ऐतिहासिक विचारधारा के विचारक के रूप में मॉण्टेस्क्यू का महत्व बतलाइए। (इलाहाबाद, १९४३, १९४९)

६९. 'बर्क ने संभवतः पहली बार संसार के समक्ष अनुदारवादी दर्शन (Philosophy of Conservatism) को पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति प्रदान की।" इस कथन पर अपने विचार प्रकट करिए। (इलाहाबाद, १९४२)

७०. एडमण्ड बर्क के अनुदायों का महत्व आँकिए (इलाहाबाद, १९४५, १९४६, लखनऊ, १९४४, १९४६, १९४९, १९५०, १९५१) और उसके (अ) समाज, (आ) मानस अधिकार और (इ) क्रान्ति संबंधो विचारों का वर्णन करिए। (इलाहाबाद, १९५०)

७१. 'बर्क का दृष्टिकोण अनुदारवाद और उदारतावाद का मनोरंजक मिश्रण है।' इस कथन पर टिप्पणो कीजिए और उसके अनुदायों (Contributions) को स्पष्ट रूप से बतलाइए। (इलाहाबाद, १९४९)

७२. 'यदि मैं न्यायपूर्वक सुधार नहीं कर सकता तो मैं सुधार ही नहीं करूँगा।'—बर्क। (इलाहाबाद, १९४९)

७३. बर्क के राजनीतिक विचारों की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए। वह आधुनिक अनुदारवाद का पिता क्यों कहलाता है? (इलाहाबाद, १९५१)

७४. कहा जाता है कि बर्क अनुदार भी था और उदार भी। इसका क्या अभिप्राय है? (लखनऊ, १९४५)

७५. उपयोगितावाद का सिद्धान्त संक्षेप में समझाइए और उसके दोषों पर प्रकाश डालिए। (इलाहाबाद, १९५२, लखनऊ, १९५०)

७६. उपयोगितावाद के नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर विचार करिए तथा बतलाइए कि राजदर्शन को उसके क्या अनुदाय हैं? (इलहाबाद, १९४९, लखनऊ, १९४५)

७७. 'सर्वाधिक व्यक्तियों का सर्वाधिक कल्याण हो'—बेन्थम का यह कथन क्या राज्य के कृत्यों को निर्धारित करने वाला उत्तम सिद्धान्त है? (लखनऊ, १९४९, आगरा, १९४२)

७८. प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) से आप क्या समझते हैं? प्राकृतिक अधिकारों के संबंध में बेन्थम के क्या विचार हैं? (इलाहाबाद, १९४१)

७९. (क) बेन्थम के अनुदाय बतलाइए और राजदर्शन के इतिहास में उसका स्थान बतलाइए। (इलाहाबाद, १९४४)

(ख) 'प्रकृति ने मनुष्य जाति को दो संप्रभु स्वामियों—सुख और दुख को सौंप रखा है। हम क्या करना चाहिए और क्या नहीं—यह बतलाना उन्हीं का कार्य है।'—बेन्थम। इस कथन पर टीका कीजिए। (इलाहाबाद, १९४८)

८०. 'प्रत्येक व्यक्ति की गिनती एक के लिए होनी चाहिए। एक से अधिक किसी को न समझा जाना चाहिए।'—बेन्थम। टिप्पणी करिए। (इलाहाबाद, १९४९)

८१. क्या यह कहना ठीक है कि अपने शासन सिद्धान्त (Theory of Government) के अतिरिक्त बेन्थम ने अन्य सभी क्षेत्रों में पूरी सफलता प्राप्त कर ली थी? बेन्थम की सफलताएँ बतलाइए। (लखनऊ, १९४७)

८२. जॉन स्टुअर्ट मिल ने किन आधारों पर भाषण और कार्य की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का औचित्य सिद्ध किया है? (इलाहाबाद, १९४२)

८३. प्रतिनिधि सरकार (Representative Government) के संबंध में एक संक्षिप्त टिप्पणो लिखिए।

८४. जॉन स्टुअर्ट मिल की वैयक्तिक स्वतंत्रता (Liberty) की कल्पना बतलाइए। (इलाहाबाद, १९४६, लखनऊ, १९४६, बनारस, १९४७)

८५. मिल को काल्पनिक व्यक्तिवाद (Abstract Individualism) का दूत

(Prophet) बतलाया गया है। आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं? (इलाहाबाद, १९४७)

८६. क्या मिल उपयोगितावादी था? (लखनऊ, १९५२)

८७. बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए और बतलाइए कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के सिद्धान्त में क्या-क्या सुधार किये थे? (इलाहाबाद, १९५१ और १९५४)

८८. जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुदाय और राजदर्शन में उसका स्थान बतलाइए? (लखनऊ, १९४४, १९५०)

८७. 'आध्यात्मिक मौलिकता, वैयक्तिक उत्साह और विविधतापूर्ण अनकताओं के लिए व्यक्तिगत स्वातंत्र्य से स्वतंत्र क्षेत्र मिल जाता है।'--जॉन स्टुअर्ट मिल। इस कथन के संबंध में अपने विचार प्रकट करिए। (इलाहाबाद, १९४८)

९०. बेन्थम और मिल को काल्पनिक व्यक्तिवाद का दूत बतलाया गया है। क्या आप उनके सिद्धान्तों की इस आलोचना से सहमत हैं? (इलाहाबाद, १९४३, आगरा, १९४३)

९१. ऑस्टिन की संप्रभुता संबंधी कल्पना स्पष्ट करते हुए उस पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करिए। (इलाहाबाद, १९४२, १९५०, बनारस, १९४५, १९४७)

९२. 'संप्रभु की आज्ञा ही विधि है।' (Law) इस कथन पर टिप्पणी लिखिए। (इलाहाबाद, १९४९)

९३. "प्रत्येक निर्माणकर्ता का लक्ष्य सुखों की वृद्धि करना तथा दुखों का निवारण करना होना चाहिए।"--बेन्थम (इलाहाबाद, १९४५)

९४. कल्पनावादी विचारकों का राज्य के संबंध में क्या मौलिक मत है? इसमें और सामाजिक अनुबंधवादियों (Social contractualists) की राज्य संबंधी विचारधारा में क्या अन्तर है? (आगरा, १९४१)

९५. कल्पनावादियों के राज्य संबंधी मत का आलोचनात्मक वर्णन करिए। (आगरा, १९४७, बनारस, १९५०)

९६. "निरंकुशतावादी विचारधारा (Absolutist Theory) राज्यों को सभी नैतिक उत्तरदायित्वों से ऊपर रखती है जो सरासर अबौद्धिक, अनुचित और शरारतपूर्ण है।' (आगरा, १९५०)

९७. कल्पनावादियों के राज्य संबंधी मत पर एक टिप्पणी लिखिए। (लखनऊ, १९४४)

९८. कल्पनावादियों के राज्य में राज्य और व्यक्ति के संबंध क्या होते हैं? इस पर प्रकाश डालिए। (इलाहाबाद, १९४२, बनारस, १९४५, १९४८)

९९. राज्य के कृत्यों (Functions of State) और लक्ष्यों के संबंध में कल्पनावादियों का सिद्धान्त बतलाइए। (इलाहाबाद, १९४३)

१००. व्यक्तिवाद और कल्पनावाद की तुलना कीजिए। (लखनऊ, १९४६, १९५०)

१०१. हीगल का कहना था राज्य में ही स्वतंत्रता (Freedom) प्राप्त होती है। इस कथन के पीछे हीगल की क्या कल्पना थी? लिखिए। (इलाहाबाद, १९४५)

१०२. 'राज्य का आधार इच्छा (Will) है--बल नहीं'---टी० एच० ग्रीन। इस कथन को स्पष्ट करिए। (इलाहाबाद, १९४६, १९४८, १९५१, लखनऊ, १९४७ आगरा, १९५३)

१०३. ग्रीन की वैयक्तिक स्वतंत्रता (Liberty) संबंधी कल्पना क्या थी? लिखिए और बतलाइए कि ग्रीन के अनुसार राज्य किस प्रकार उसे प्राप्त करने का साधन है? (इलाहाबाद, १९४७)

१०४. "वैयक्तिक स्वातंत्र्य (Liberty) ऐसे कार्य करने तथा आनन्दोपभोग की ऐसी रचनात्मक शक्ति है जो करने योग्य तथा आनन्दोपभोग के योग्य होते हैं।"---टी० एच०

ग्रीन। (इलाहाबाद, १९१९)

१०५. टी० एच० ग्रीन और स्पेन्सर के मतों से राज्य के क्या कर्त्तव्य हैं ? आप इनमें से किस के मत से सहमत हैं ? (इलाहाबाद, १९४९, १९५१ और १९५४)

१०६. लॉक, मिल और ग्रीन के अनुसार राज्य के क्या कर्तव्य हैं ? आप किस विचारक से सहमत हैं ? (इलाहाबाद, १९५०)

१०७. ग्रीन की अधिकारों संबंधी कल्पना क्या है ? ग्रीन की कल्पना की तुलना लॉक से करिए। (इलाहाबाद, १९५२)

१०८. ग्रीन का राज्य के कर्तव्यों के संबंध में जो मत है उसे संक्षेप में बतलाइए और उसके इस सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए—"राज्य को बाधाओं की बाधा होना चाहिए।" (लखनऊ, १९४८)

१०९. ग्रीन के राजनीतिक सिद्धान्तों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। (लखनऊ, १९५१)

११०. ग्रीन के अनुदायों के संबंध में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (लखनऊ, १९५२)

१११. दण्ड के संबंध में ग्रीन का मत बतलाइए। ग्रीन अपने मत का औचित्य किस प्रकार सिद्ध करता है? (आगरा, १९४०)

११२. बोसाँके ग्रीन से अधिक कल्पनावादी है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? दोनों विचारकों के मतों को स्पष्ट रूप से बतलाइए।

११३. 'राज्य जीवन की क्रियाशील कल्पना है'—बोसाँके। टिप्पणी कीजिए। (इलाहाबाद, १९४९)

११४. "राज्य सर्वोच्च आचारिक संवास (Ethical Institution) है।"—बोसाँके। (इलाहाबाद, १९४९)

११५. बोसाँके का राज्य के कर्तव्यों और लक्ष्यों के संबंध में क्या मत था ? ग्रीन से उसका कहाँ मतभेद है ? (आगरा, १९४०)

११६. हर्बर्ट स्पेन्सर के राजदर्शन संबंधी प्रमुख विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण करिए। (इलाहाबाद, १९४७)

११७. "हर्बर्ट स्पेन्सर का दर्शन प्राकृतिक अधिकारों और सावयविक रूपकों के बेमेल मिश्रण से आरंभ होता है और उसी पर समाप्त होता है।"—बारकर। क्या स्पेन्सर का राज्य संबंधी मत सचमुच सावयवी (Organic) था ? (इलाहाबाद, १९४८)

११८. स्पेन्सर का समाज संबंधी मत बतलाइए। क्या यह मत उसके व्यक्तिवाद को देखते हुए तर्क-संगत है ? (इलाहाबाद, १९५०)

११९. स्पेन्सर का अनुदाय (Contribution) बतलाइए। (लखनऊ, १९४५)

१२०. सामाजिक सन्तुलन संबंधी स्पेन्सर का सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए और बतलाइए कि इसकी सहायता से उसने राज्य की प्रकृति और कर्तव्य के क्षेत्र को किस प्रकार सीमित किया ? (आगरा, १९४०)

१२१. हर्बर्ट स्पेन्सर का राज्य का सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory of State) क्या है ? (आगरा, १९४३)

१२२. "संक्षेप में समाजवाद एक ऐसी टोपी की भाँति है जिसकी शकल हर व्यक्ति के उसे पहनने के कारण बिगड़ गयी है।" टिप्पणी करिए। (इलाहाबाद, १९४७)

१२३. समाजवाद के मौलिक सिद्धान्त स्पष्ट करिए और सबसे अधिक प्रसिद्ध समाजवादी विचारधाराएँ बतलाइए। (आगरा, १९४७)

१२४. राज्य समाजवाद (State Socialism) या अराजकतावाद (Anarchism) के संबंध में एक निबंध लिखिए। (इलाहाबाद, १९५०)

१२५. समाजवाद के पक्ष और विपक्ष में दिये जाने वाले तर्कों का वर्णन करिए।

(बनारस, १९५०)

१२६. लक्ष्य, पद्धति और कार्यक्रम की दृष्टि से समाजवादी की विभिन्न विचार-धाराओं की तुलना करिए। (आगरा, १९४२)

१२७. समाजवाद के वर्तमान समर्थकों की दृष्टि से पूंजी वाद में जो बुराइयाँ हैं उन्हें स्पष्ट करिए। (बनारस, १९५०)

१२८. श्रेणी समवाद (Guild Socialism) की मुख्य विशेषताएँ लिखिए। (इलाहाबाद, १९४२)

१२९. समाजवाद और साम्यवाद का अन्तर बतलाइए। (इलाहाबाद, १९४४, लखनऊ, १९५३)

१३०. मार्क्सवादी समाज (Society) और राज्य (State) की कल्पना का वर्णन करिए। (इलाहाबाद, १९४१, आगरा, १९५३)

१३१. राज्य क्रमशः लुप्त हो जाने के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए। (इलाहाबाद, १९४६)

१३२. आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों (Modern Political Theory) को मार्क्स का क्या अनुदाय है ? (लखनऊ, १९५२)

१३३. संक्षेप में कार्ल मार्क्स के मुख्य सिद्धान्तों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। (इलाहाबाद, १९५१)

१३४. मार्क्स का मत था कि वर्गों के उन्मूलन के साथ राज्य भी लुप्त हो जायगा। मार्क्स की यह भविष्यवाणी किस सीमा तक ठीक उतरी है ? (लखनऊ, १९४८)

१३५. साम्यवाद के सिद्धान्तों की (अ) फासिज्म या (आ) श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) से तुलना करिए। (इलाहाबाद, १९४३)

१३६. श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) में न तो अराजकतावादी साम्यवाद के खतरे हैं और न राज्य समाजवाद की भाँति नौकरशाही की प्रवृत्ति पनपने की संभावना है। लेकिन इतने पर भी उसमें बाद के दोनों समाजवादों के लाभ उपलब्ध होते हैं। (इलाहाबाद, १९४७)

१३७. अराजकतावादियों की राज्य संबंधी कल्पना क्या है ? अराजकतावाद और साम्यवाद में क्या अन्तर है ? (आगरा, १९४०)

१३८. अराजकतावाद और साम्यवाद की पद्धतियों की तुलना करिए। (आगरा, १९४४)

१३९. सामूहिक समाजवाद (Collectivist Socialism), सिण्डीकलिज्म (Syndicalism) और साम्यवाद (Communism) की तुलना करिए और यह बतलाइए कि इनमें से कौन-सा सिद्धान्त आधुनिक जीवन की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के उपयुक्त है। (आगरा, १९५२)

१४०. श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) और राज्य समाजवाद (State Socialism) की तुलना करिए और बतलाइए इनमें से आपको कौन-सी विचार-धारा पसन्द है ? (आगरा, १९५३)

१४१. (क) सिंडीकलिज्म (Syndicalism) और श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) की तुलना करिए। (बनारस, १९४५)

१४.२ (ख) श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए (इलाहाबाद, १९५४)

१४३. (ग) राज्य उत्पत्ति विषयक शक्ति सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन करिए (इलाहाबाद, १९५४)

१४४. सिण्डीकलिज्म या श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) पर एक टिप्पणी लिखिए। (इलाहाबाद, १९४५)

१४५. अराजकतावादियों की समाज (Society) संबंधी कल्पना का वर्णन करिए। अराजकतावाद क्या व्यावहारिक आदर्श है? (इलाहाबाद, १९५२)

१४६. सिण्डीकलिज्म पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (लखनऊ, १९४९)

१४७. साम्यवादी किस आधार पर आधुनिक राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देते हैं? साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए वे कौन से कदम उठाए जाने की सलाह देते हैं? (आगरा, १९४१)

१४८. साम्यवाद साधन (means) बतलाता है और अराजकतावाद आदर्श (Ideals)। इस कथन को स्पष्ट करिए। (आगरा, १९४९)

१४९. साम्यवादियों की राज्य संबंधी कल्पना बतलाइए। (बनारस, १९४५)

१५०. अराजकतावादियों के राज्य उन्मूलन संबंधी तर्कों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार करिए। (बनारस, १९४५)

१५१. 'प्रजातंत्र अयोग्यों का शासन है। (इलाहाबाद, १९४१, १९४४, लखनऊ, १९४५, आगरा, १९४३)

१५२. यह कहना गलत है कि प्रजातंत्रवाद असफल हो गया। यथार्थ प्रजातंत्रवाद का तो अभी प्रयोग ही नहीं हुआ। इस कथन के प्रकाश में प्रजातंत्र के आलोचकों के तर्कों की परीक्षा करिए। (इलाहाबाद, १९५१)

१५३. प्रजातंत्रवाद की सफलता की प्राथमिक आवश्यकताएँ क्या हैं? भारत में प्रजातंत्रवाद को सफल बनाने के लिए आप क्या सुझाव देंगे? (इलाहाबाद, १९५२, आगरा, १९४७)

१५४. प्रजातंत्रवाद के राजनीतिक सिद्धान्त बतलाइए। लखनऊ, १९४५, १९५, ११९५२,

१५५. प्रजातंत्रवाद का राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में महत्व बतलाइए (लखनऊ १९४६)

१५६. क्रियात्मक प्रजातंत्र (Functional Democracy) के संबंध में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (लखनऊ, १९४८, आगरा, १९४०)

१५७. प्रजातंत्रवाद को किसी ने शासन का स्वरूप बतलाया है तो किसी ने सामाजिक-व्यवस्था का सिद्धान्त। किसी ने इसे मानसिक प्रवृत्ति कहा है। इन कथनों के सत्यासत्य की विवेचना करिए। (आगरा, १९४५)

१५८. बहुलवादियों ने संप्रभुता के सिद्धान्त की जो आलोचनाएँ की हैं उनकी परीक्षा करिए। राज्य की संप्रभुता का सिद्धान्त इन आलोचनाओं से कहाँ तक बच पाया है। (इलाहाबाद, १९४५, लखनऊ, १९४९, बनारस, १९४६)

१५९. बहुलवाद पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (इलाहाबाद, १९४३)

१६०. राजनीतिक बहुलवाद के सैद्धान्तिक आधारों पर विचार करिए। (इलाहाबाद, १९४८)

१६१. बहुलवादियों के इस दावे पर विचार करिए कि राज्य को अपनी प्रजा से पूर्ण आज्ञाकारिता प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। (इलाहाबाद, १९५२)

१६२. राज्य के बहुलवादी सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? (आगरा, १९४५)

१६३. फासीवाद पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (इलाहाबाद, १९४४)

१६४. फासीवाद की राजनीतिक सिद्धान्तावली बतलाइए। (लखनऊ, १९४४, १९४७, १९५१, १९५२)

१६५. 'फासीवाद हर प्रजातांत्रिक, उदारतावादी और समाजवादी बात का विपरीतार्थक है।' इस कथन पर अपना मत प्रकट करिए। (लखनऊ, १९४७; १९४८, आगरा, १९४०)

१६६. फासीवाद से आप क्या समझते हैं? उसके मुख्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक वर्णन करिए। (आगरा, १९४४)

१६७. फासीवाद और साम्यवाद का अन्तर बतलाइए। (बनारस, १९०६)

विविध (Miscellaneous)

१६८. वैयक्तिक-स्वातंत्र्य (Liberty) और समानता (Equality)—इन शब्दों से आप क्या समझते हैं? (इलाहाबाद १९४३; लखनऊ, १९४७)

१६९. (अ) समानता (Equality), (आ) राष्ट्रीयता (Nationalism) और (उ) यद्भाव्यम् नीति पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए। (इलाहाबाद १९४३)

१७०. (अ) अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) और (आ) विधि तथा वैयत्तिक स्वातंत्र्य (Law and Liberty) पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए। (इलाहाबाद, १९४४)

१७१. राष्ट्रीयता के मूलतत्वों पर प्रकाश डालते हुए एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। राष्ट्रीयता और राज्यत्व का अन्तर भी बतलाइए। (लखनऊ १९४५)

१७२. वैयक्तिक स्वातंत्र्य और राष्ट्रीयता पर एक संक्षिप्त टिप्पणी अलग-अलग लिखिए। (लखनऊ, १९४६)

१७३. साम्राज्यवाद (Imperialism) के मुख्य सिद्धान्त लिखिए। साम्राज्यवाद का पतन क्यों हो रहा है। (लखनऊ, १९५३)

१७४. 'अधिकारों' की परिभाषा करिए और बतलाइए कि उनके लिए कैसी परिस्थितियाँ आवश्यक हैं? किन अर्थों में अधिकार नैतिकता से संबंधित हैं? (आगरा, १९४०)

१७५. राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद और अन्तरराष्ट्रीयता के आदर्श में समन्वय स्थापित करने की संभावनाओं पर विचार करिए? (आगरा, १९४१)

१७६. अधिकारों की कल्पना पर सावधानी से विचार करिए। (आगरा १९४१)

१७७. वयक्तिक स्वातंत्र्य (Liberty) की एक राजनीतिक कल्पना के रूप में परिभाषा करिए और विधि नैतिकता और अधिकारों से इसका संबंध बतलाइए। (आगरा, १९४२)

१७८. साम्राज्य का प्रसार किन कारणों से होता है? क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि साम्राज्यवाद राष्ट्रीयता की भावना का ही स्वाभाविक परिणाम है। (आगरा, १९४४

१७९. "साम्राज्यवाद पुँजीवाद की अंतिम अवस्था है।" इस कथन पर अपने विचार प्रकट करिए।

१८०. 'समानता' पर विचार करिए। क्या यह सत्य है कि आर्थिक समानता बिना राजनीतिक समानता के निरर्थक है? (आगरा, १९४७)

१८१. 'वैयक्तिक स्वातंत्र्य (Liberty) और समानता (Equality) एक दूसरे के पूरक शब्द हैं क्योंकि वैयक्तिक स्वतंत्रता बिना समानता के प्राप्त नहीं की जा सकती।' इस कथन पर विचार करिए। (आगरा, १९५०)

१८२. राष्ट्रीयता पर राजनीतिक आदर्श के रूप में विचार करते हुए उसके गुण-दोष बतलाइए। (आगरा १९५२)

१८३. साम्राज्यवाद के कारण बतलाइए। (बनारस १९५०)

१८४. (अ) राजनीति के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण और (आ) राष्ट्रीयता पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए। (बनारस, १९५०)

१८५. साम्राज्यवाद व राज्य के सावयवी सिद्धान्त (Theory of State) पर एक निबंध लिखिए। (लखनऊ, १९५१, १९५२)

१८६. 'राज्य सावयवी है? (आगरा, १९४१, १९४७; बनारस, १९४८, १९४५, १९४६)

पारिभाषिक शब्दावली

प्रस्तुत परिभाषिक शब्दावली में केवल वही शब्द दिये जा रहे हैं जिनका इस पुस्तक में आवश्यकतानुसार स्थान-स्थान में प्रयोग किया गया है।

अचेतन— Inorganic.
अद्वैतवाद—Monism.
अध्यक्ष—Head.
अधिकतम—Maximum.
अधिकार—Rights.
अधिनियम—Act.
अनुदाय—Contribution.
अनुबंध—Contract
अनुबंधात्मक—Contractual.
अनुभूतिमूलक— Sensuous.
अंतरग—Internal.
अन्तरराष्ट्रीय—International.
अन्तःकरण—Conscience.
अन्तः प्रेरणा—Intuition.
अन्तः प्रेरणावाद—Intuitionism.
अपसमान्य—Abnormal.
अपेक्षित—Necessary.
अमात्य—Minister.
अयोग्य धनिक तंत्र—Oligarchy.
अराजकता—Anarchy.
अराजकतावाद—Anarchism.
अविनाशमानता—Indestructibility.
अविभाज्य—Indivisible.
अविभाज्यता—Indivisibility.
अहस्तांतरणोय—Intransferable.
आकांक्षाएँ—Ambitions.
आचारशास्त्र—Ethics.
आचारिक—Ethical.
आततायी—Tyrant.
आततायित्व—Tyranny.
आत्मज्ञान—Self-realisation.
आत्माभिव्यक्ति—Self-expression.
आदर्श राज्य—Ideal State.
आध्यात्मिक—Spiritual.
आन्तरिक शांति—Internal peace.
आनुवंशिक—Hereditary.
आभिजात्य तंत्र—Aristocracy.
आभिजात्यतंत्रात्मक—Aristocratic.
आभिजात्य वर्ग—Aristocratic class.
अभ्युपगत आदेश—Hypothetical. Imperative.
आवश्यक बुराई—Necessary evil.
इकाई—Unit.
इन्द्रिय ज्ञान—Sensual knowledge.
उग्रतावाद— Extremism.
उग्रतावादी—Extremist.
उच्चतम—Supreme.
उद्भव—Origin.
उदार—Liberal.
उदारतावाद—Liberalism.
उदारतावादी—Liberal.
उन्माद— Madness.
उन्मादी संसद्— Mad Parliament.
उन्मूलन—Abolition.
उपनिवेश—Colony.
उपनिवेशोकरण—Colonisation.
उपयोगिता—Utility.
उपयोगितावाद—Utilitarianism.
उपयोगितावाद— Utilitarian.
उपसिद्धि—Carollary.
उपस्थितीकरण—Presentation
एकाई—Unit.
एफर—Ephor or Magistrate.
ऐकिक—Unitary.
औपचारिक—Formal.
औपचारिकता—Formality.
औपचारिक कारण—Formal Cause.

औपनिवेशिक—Colonial.
अंकुश—Check Limit.
आंशिक नागरिकता—Inslatii or partial citizenship
कट्टरतावाद—Conservatism.
कट्टरतावादी—Conservative.
कदाचरण—Misbehaviour.
कर—Tax.
कला—Art.
कल्पना—Imagination, idea.
कल्पनावाद—Idealism.
कल्पनावादी— Idealist
कार्यपालिका—Executive.
कार्यविभाजन—Division of Labour.
किराये की सेनाएँ—Mercenary Troops
केन्द्र—Centre.
केन्द्रीय—Central.
केन्द्रीयकरण या केन्द्रण-Centralisation.
क्रमबद्ध या क्रमागत—Well-ordered.
कृत्य—Function.
कृत्यात्मक—Functional.
कृत्यात्मक प्रजातंत्र—Functional Democracy.
क्रिया— Action.
क्रियात्मक कारण—Efficient cause.
गणतंत्र—Republic.
गुणात्मक—Qualitative.
चेतन— Organic.
चेतनोत्तर—Organic.
चयन— Selection.
जड़ अवस्था—Vegetative stage.
जागरूकता—Vigilance.
जीवन दर्शन—Philosophy of life.
जीवशास्त्र— Biology.
तत्व—Element conclusion.
तर्कशास्त्र—Logic.
दंडनायक—Magistrate.
दंडविधि—Criminal Law.
दंडविधि संहिता—Criminal Code of Law
दैवी विधियाँ—Divine Laws.
द्वन्द्व—Duel.
द्वन्द्ववाद—Dialecticism.
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—Dialectical Materialism.
द्वैध संप्रभुता—Dual Sovereignty.
धर्म—Justice Religion.
धर्मतंत्र या धर्म सापेक्ष राज्य–Theocracy or Theocratic State.
धर्मनिरपेक्ष राजसत्ता—Secular.
धर्म बहिष्कार–Ex-communication.
धर्मस्व—Religious Taxes, Taxes imposed by Church in the Middle Ages
धर्माचार्य—Pope, Bishop Ecclesiastical Authority.
ध्वंसात्मककार्य—Act of Sabotage.
नरेश—King.
नश्वर देव—Laviathan.
नागरिक—Citizen.
नागरिक दण्ड विधि—Civil Law.
नागरिकता—Citizenship.
निगम—Corporation.
निगमन—Deduction
निगमनात्मक—Deductive.
निगम सिद्धांत—Principles of Corporation.
निजी विधि—Private Law.
निरंकुश—Absolute.
निर्णय—Decision
निर्णयात्मक स्रोत— Final Source.
निर्वाचन— Election.
निर्वाचित— Elected.
निर्वाचित–राजतंत्र Elective Monarchy
निषेध— Prohibition.
निषेधाधिकार—Veto.
निषेधात्मक—Negative.
नैतिकता—Morality.
न्यायपालिका—Judiciary.
न्यायविद्—Jurist.
न्यायाधिकरण—Tribunal.
न्यायाधीश—Judge or Justice.
पदार्थ जगत–Theworldofphenomena
पद्धति—Method.

पशु-अवस्था—Animal Stage
पराश्रित—Parasitic, dependent
परिवर्तन सिद्धान्त–Theory of changes.
परिवार—Family.
पर्यवेक्षण—Observation.
पर्यवेक्षणशील—Observational.
पुनरभ्युदयवाद—Revivalism
पुनरोदयकाल (ज्ञान) Renaissance.
पैतृक परिवार–Patriarchal Family.
पौर्वात्य—Oriental.
प्रक्रिया—Process.
प्रजातंत्र—Democracy.
प्रजाराज्य—Polity
प्रतिनिधि—Representative.
प्रतिनिधि सभा—House of Representatives or popular house.
प्रतिद्वन्द्विता—Competition.
प्रतिपादक—Expounder
प्रतिवाद–Antithesis, contradiction. protest.
प्रतीक—Symbol.
प्रन्यास—Trust.
प्रतिबंध—Restraint.
प्रतिबंधों की हीनता–Absence of Restraints
प्रभुत्व क्षेत्र—Jurisdiction
प्रयोगात्मक पद्धति—Experimental Method
प्रवृत्तियाँ—Tendencies.
प्राकृतिक अवस्था—State of Nature.
प्राकृतिक विधि—Laws of Nature.
प्राविधिक—Technical.
बंदी प्रत्यक्षीकरण—Habeas Corpus.
बपतिस्मा—Baptism.
बहुलवाद—Pluralism.
बहुलवादी—Pluralist.
बुद्धि—Intellect.
बुद्धिवादी—Intellectual.
बौद्धिक अवस्था—Intellectual stage.
भली इच्छा—Good Will.
भूमिपति—Feudal lord
भिक्षु गृह—Monastery.
भेड़ों का झुण्ड—A herd of sheep.
भौतिक शास्त्र—Physics.
मनोविज्ञान—Psychology.
महापरिषद—Grand Council.
महाभियोग—Impeachment.
मात्रात्मक—Quantitative.
मातृक परिवार–Matriarchal Families
मानवता—Humanity.
मानवतावाद—Humanitarianism.
मानवाधिकार आयोग–Human Right, Commission
मानववृत्तियाँ—Human Tendencies.
मानसिक—Psychological.
मुक्त प्रतिद्वन्द्विता–Free Competition.
मुक्त व्यापार—Free Trade.
मूर्ति पूजक—Pagan
मूल्य का सिद्धांत—Theory of value.
मोक्ष—Salvation
मौलिक—Fundamental
यथार्थ इच्छा—Actual will
यथापूर्व स्थिति—Status Quo.
यद् भाव्यम् नीति—Policy of Laissez faire.
रचनात्मक विधि—Positive Law.
रहस्यवाद—Mysticism.
राजक्रांति—Revolution.
राजतंत्र—Monarchy.
राजदर्शन—Political Philosophy.
राजस्व—Revenue..
राष्ट्र राज्य—Nation, State.
राष्ट्रीयता—Nationality.
राष्ट्रीयकरण—Nationalization
रासायनिक पद्धति–Chemical Method.
वाणिज्य—Commerce.
वाणिज्यवाद—Mercantilism.
विकरण—Dissipation.
विकासवाद–Principle of Evolution.
विकासवादी–Evolutionary Persons.
वितरण प्रणाली–Distributive System.
वित्त—Finance.

वित्तीय—Financial.
विधान मंडल—Legislature.
विधायिका शक्ति–Legislative Power.
विधि—Law.
विधि का शासन—Rule of Law.
विधिगत मान्यता–Legal Recognition.
विधेयक—Bill.
विधेयन—Legislation.
विभाजन—Division.
विभिन्न जातीय—Heterogeneous.
विविध—Miscellaneous.
विवेक—Reason.
विवेकयुक्त—Age of Reason.
विवेकाधारित—Based on Reason.
विशेषता—Specialisation
विश्लेषणात्मक—Analytical.
विज्ञान—Science.
वैधानिक—Legal
वैधानिक पुरुष—Legal person.
वैयक्तिक—Personal.
वैयक्तिक अधिकार—Liberty.
व्यक्ति—Individual.
व्यक्तीकरण—Individuation.
व्यक्तिवाद—Individualism.
व्याप्तिमूलक पद्धति-Inductive Method
व्युत्पत्ति शास्त्र—Etymology.
वृत्त—Circle.
शक्ति विभाजन–Separation of powers
शस्त्र चिकित्सा—Surgery.
शाश्वत—Eternal.
शासन—Government.
शासन तंत्र—Machinery of Govt.
शिवम्—The Good.
शुद्धिकरण—Purge.
शोध—Investigation.
श्रमिक दल—Labour Party.
श्रमिक वर्ग—Labour Class.
श्रमिक संघवाद—Syndicalism
श्रेणी संघवाद या समाजवाद—Guild Socialism.
संघ—Federation.
संघवाद—Federalism.
संचार साधन—Means of Communication.
संप्रभुता—Sovereignty.
संरक्षण कर—Protection Tax.
संवास—Association.
संविधान—Constitution.
संश्लेषण—Synthesis.
संसद—Parliament
संसद सहित नरेश–King in Parliament.
संस्थान—Institution.
संसक्ति—Cohesion.
संहिता—Code.
संहिताकरण—Codification.
सचिव—Secretary.
सजातीय—Homogeneous.
सज्जन वनचारी—Noble Savage.
सतर्कतात्मक—Cautionary.
सत्तारूढ़—In-power.
सभ्य—Civil.
सभ्यता—Civiliation.
समन्वय—Harmony.
समाज—Society.
समान—Equal.
समानता—Equality.
समुदाय—Group.
समूहतंत्र—Mobocracy.
सम्पर्क, संवास–Association.
सम्पर्कात्मक मनोविज्ञान–Associational Psychology.
सविनय अवज्ञा—Civil-disobedience.
सार्वभौमिक या सार्वदेशिक–Universal.
सार्वभौमिक विधि—Universal Law.
साहस—Courage.
सिद्धान्त—Theory, Princple.
सिद्ध विधि—Proved Law.
सुअर दर्शन—Pig Philosophy.
सुधारवादी आन्दोलन का युग–The Age of Reformation Movement.
सुधार विधेयक—Reform Bill.
सूक्ष्म अध्ययन—Detailed study.

सोद्देश्य कल्पना--Teleological conception
स्रोत--Source.
सविनय आज्ञापालन--Passive Obedience.
सर्वोच्च--Supreme.
सर्वोच्च शक्ति--Supreme Power.
सर्वोपरि अनिवार्य आज्ञा-Categorical Imperative.
साधारणीकरण-- Generalisation.
सामन्तवाद-- Feudalism
सामाजिक अनुबन्ध-Sooial Contract.
सामाजिक अंधश्रद्धा--Social Myth.
सामाजिक रामराज-Socialmillennium.
सामाजिक संस्थान-Social Institution
सामूहिक सौदा-Collective Bargain.
साम्राज्यवाद--Impərialism
साम्यवाद—Communism.
सावयवी या सावयविक—Organic.
सौंदर्यवाद--Aestheticism.
स्थूल विशेषताएँ-Broad Features.
स्वतंत्र-- Indpendent.
स्वप्नलोकीय विचारक--Utopian Thinkers.
स्वभाव—Nature
स्वर्णिम मध्यमार्ग-The Golden Mean.
स्वयंभू वकील—Unsolicited Apologist.
स्वाभाविक--Natural.
स्वायत्त शासन—Local Self-Govt.
स्वेच्छित विधियाँ—Voluntary Laws.
क्षुधा— Appetite.
ज्ञान—Knowledge.

Technical Terminology

Abnormal—अपसमान्य
Absolute—निरंकुश
Abolition—उन्मूलन
Absence of Restraints—प्रतिबन्धों की हीनता
Act—अधिनियम
Action—क्रिया
Act of Sabotage—ध्वंसात्मक कार्य
Actual Will—यथार्थ इच्छा
Aestheticism—सौंदर्यवाद
A Herd of Sheep—भेड़ों का झुण्ड
Ambitions—आकांक्षाएँ
Analytical—विश्लेषणात्मक
Anarchy—अराजकता
Anarchism—अराजकतावाद
Animal Stage—पशु अवस्था
Antithesis—प्रतिवाद
Appetite—क्षुधा
Aristocratic Class—आभिजात्य वर्ग
Aristocracy—आभिजात्यतंत्र
Art—कला
Association—संपर्क, संवास
Associational Psychology—संपर्कात्मक मनोविज्ञान
Baptism—वपतिस्मा
Bill—विधेयक
Biology—जीवशास्त्र
Categorical Imperative—सर्वोपरि अनिवार्य आज्ञा
Cautionary—सतर्कात्मक
Centre—केन्द्र
Central—केन्द्रीय
Centralisation—केन्द्रण, केन्द्रीकरण
Check—अंकुश
Chemical Method—रासानिक पद्धति
Civil—सभ्य
Civil Law—नागरिक दण्ड विधि
Civil Disobedience—सविनय अवज्ञा
Civilization—सभ्यता
Citizen—नागरिक
Citizenship—नागरिकता
Circle—वृत्त
Code—संहिता
Codification—संहिताकरण
Cohesion—संसक्ति
Colony—उपनिवेश
Colonial—औपनिवेशिक
Colonisation—उपनिवेशीकरण
Collective Bargain—सामूहिक सौदा
Competition—प्रतिद्वन्द्विता
Commerce—वाणिज्य
Commission—आयोग
Communism—साम्यवाद
Conclusion—सार, अन्त
Conscience—अन्तःकरण
Conservative—कट्टरवादी
Conservatism—कट्टरवाद
Constitution—संविधान
Contribution—अनुदाय
Contract—अनुबंध
Contractual—अनुबंधात्मक
Corollary—उपसिद्धि
Corporation—निगम
Courage—साहस
Criminal Law—दण्ड विधि
Criminal Code of Law—दंड विधि संहिता
Decision—निर्णय
Deduction—निगमन
Deductive—निगमनात्मक

Democracy—प्रजातंत्र
Detailed study—सूक्ष्म अध्ययन
Dialecticism—द्वन्द्ववाद
Dialectical Materialism—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
Dissipation—विकरण
Distributive system—वितरण प्रणाली
Divine Law—दैवी विधियाँ
Division—विभाजन
Duel—द्वन्द्व
Dual Sovereignty—द्वैध संप्रभुता
Ecclesiastic Authority—धर्माचार्य
Election—निर्वाचन
Elected—निर्वाचित
Elective Monarchy—निर्वाचित राजतंत्र
Element—तत्व
Efficient Cause—क्रियात्मक कारण
Ephor—दण्डनायक, मैजिस्ट्रेट
Eternal—शाश्वत
Ethics—आचारशास्त्र
Ethical—आचारिक
Etymology—व्युत्पत्ति शास्त्र
Equal—समान
Equality—समानता
Executive—कार्यपालिका
ExperimentalMethod-प्रयोगात्मकपद्धति
Expounder—प्रतिपादक
Extreme—अति, उग्र
Extremism—उग्रता
Extremist—उग्रतावाद
Family—परिवार
Federation—संघ
Federalism—संघवाद
Feudalism—सामन्तवाद
Feudal Lord—वित्तीय
Finance—निर्णयात्मक स्रोत
Financial—शासन का रूप
Final Source—औपचारिक
Form of Govt—औपचारिक कारण
Formal—औपचारिक
Formal Cause औपचारिक कारण
Formality—औपचारिकता
Function—कृत्य
Functional—कृत्यात्मक
Functional Democracy—कृत्यात्मक प्रजातंत्र
Fundamental—मौलिक
Free Competition—मुक्त प्रतिद्वन्द्विता
Free trade—मुक्त व्यापार
Generalization—साधारणीकरण
Good Will—भली इच्छा
Government—शासन
Guild Socialism—श्रेणी समाजवाद
Grand Council—महापरिषद
Group—समुदाय
Habeas Corpus—बंदी प्रत्यक्षीकरण
Harmony—समन्वय
Head—अध्यक्ष
Hereditary—आनुवंशिक
Heterogeneous—विभिन्न जातीय
Homogeneous—सजातीय
Human Tendency—मानव वृत्ति
Humanity—मानवता
Human Rights Commission—मानवाधिकार आयोग
Humanitarianism—मानवतावाद
House of Representatives—प्रतिनिधि सभा
Hypothetical Imperative—अभ्युपगत आदेश
Idea—विचार या कल्पना
Idealism—कल्पनावाद
Idealistic—कल्पनावादी
Ideal State—आदर्श राज्य
Imagination—कल्पना
Impeachment—महाभियोग
Imperialism—साम्राज्यवाद
Independent—स्वतन्त्र
Indestructibility—अविनाशमानता
Individual—व्यक्ति
Individuation—व्यवतीकरण
Individualism—व्यक्तिवाद

Inductive Method — व्याप्तिमूलक पद्धति
Intellect—बुद्धि
Intellectual—बुद्धिवाक, बाद्धिक
Intellectual Stage—बौद्धिक अवस्था
Indivisible—अविभाज्य
Indivisibility—अविभाज्यता
Internal—आन्तरिक
Internal Peace—आन्तरिक शांति
International—अन्तर्राष्ट्रीय
Intuition—अन्त:प्रेरणा
Intuitionism—अन्त:प्रेरणावाद
Intransferable—अहस्तान्तरणीय
Ins-latti—आंशिक नागरिकता
Institution—स्थान
Jurist—न्यायविद्, न्यायाचार्य
Judiciary—न्यायपालिका
Judge—न्यायाधीश
Justice—धर्म, न्याय, न्यायालय
Jurisdiction—प्रभुत्वक्षेत्र, कार्यक्षेत्र
King—नरेश
King-in-Parliament-संसद सहित नरेश
Knowledge—ज्ञान
Labour Class—श्रमिक वर्ग
Labour Party—श्रमिक दल
Law—विधि
Law of Nature—प्राकृतिक अवस्था
Legal—वैधानिक
Legal Person—वैधानिक पुरुष
Legal Recognition—विधिगत मान्यता
Legislation—विधेयन
Legislative Power—विधान शक्ति
Legislature—विधान मंडल
Leviathan—नश्वर देव
Liberal—उदार, उदारतावादी
Liberalism—उदारतावाद
Liberty—वैयक्तिक स्वतंत्रता
Local Self-Govt.—उन्मादी संसद
Logic—तर्कशास्त्र
Madness—उन्माद
Mad Parliament—उत्मादी संसद
Magistrate—दण्डनायक
Matriarchal Families—मातृक परिवार
Method—पद्धति
Mercantilism—वाणिज्यवाद
Mercenary troop—किराये की सेना
Minister—मन्त्री, अमात्य
Misbehaviour—कदाचरण
Miscellaneous—विविध
Mobocracy—समूहतंत्र
Monastery—भिक्षुगृह
Monarchy—राजतंत्र
Monism—राजतंत्र
Morality—नैतिकता
Mysticism—रहस्यवाद
Nation State—राष्ट्र राज्य
Nationality—राष्ट्रीयता
Nationalism—राष्ट्रीयतावाद
Nationalization—राष्ट्रीयकरण
Nature—प्रकृति, स्वभाव
Natural—प्राकृतिक, स्वाभाविक
Necessary—आवश्यक
Necessary Evil—आवश्यक बुराई
Negative—निषेधात्मक
Noble Savage—सज्जन वनचारी
Observation—पर्यवेक्षण
Observational—पर्यवेक्षणशील, पर्यवेक्षाणात्मक
Oligarchy—अयोग्य धनिकतंत्र
Orderly—क्रमबद्ध
Organic—सावयवी, सावयविक चेतन
Oriental—पौर्वात्य
Origin—उद्भव
Pagan—मूर्तिपूजक
Parasitic—पराश्रित
Passive Obedience—सविनय आज्ञापालन
Partriarchal—पैतृक
Parliament—संसद
Philosophy of Life—जीवन दर्शन
Pig Philosophy—सुअर दर्शन
Pluralist—बहुलवादी
Pluralism—बहुलवाद
Policy—नीति
Policy of Laissez Faire—यद्भाव्यम् नीति

Polity—प्रजाराज्य
Political Philosophy—राजदर्शन
Positive Law—रचनात्मक विधि
Presentation—उपस्थितीकरण
Principle—सिद्धान्त
Principles of corporation—निगम सिद्धान्त
Private Law—निजी विधि
Process—प्रक्रिया
Prohibition—निषेध
Protection Tax—संरक्षण कर
Proved—सिद्ध विधि
Physics—भौतिक शास्त्र
Qualitative—गुणात्मक
Quantitative—मात्रात्मक
Reason—विवेक
Reform Bill—सुधार विधेयक
Religious Taxes—धर्मस्व
Renaissance—ज्ञान पुनरोदय काल
Representative—प्रतिनिधि
Representative House—प्रतिनिधि सदन या सभा
Restraints—प्रतिबंध
Revenue—राजस्व
Revolution—राजक्रान्ति
Revivalism—पुनरभ्युदयवाद
Rule of Law—विधि का शासन
Salvation—मोक्ष
Secretary—सचिव
Secular—धर्म-निरपेक्ष, लौकिक
Science—विज्ञान
Selection—चयन
Self-expression—अत्माभिव्यक्ति
Self-realisation—आत्मज्ञान
Sensuous—अनुभूतिमूलक
Sensual knowledge—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान
Separation of Powers-शक्ति विभाजन
Social Contract—सामाजिक अनुबंध
Social Myth—सामाजिक अन्ध श्रद्धा
Social millenniumसामाजिक रामराज्य
Social Institutions—सामाजिक संस्थान
Socialism—सामजवाद
Society—समाज
Source—स्रोत
Specialization—विशेषज्ञता
Sovereignty—संप्रभुता
Spiritual—आध्यात्मिक
Superorganic—चेतनोत्तर
Supreme—सर्वोच्च
Supreme Power—सर्वोच्च शक्ति
Surgery—शल्य चिकित्सा
Symbol—प्रतीक
Syndicalism—श्रमिक संघवाद
Synthesis—संश्लेषण
Technical—प्राविधिक
Tendencies—प्रवृत्तियाँ
The good—शिवम्
The Age of Reformation—सुधारवादी आन्दोलन का युग
The Golden Mean—स्वर्णिम मध्यमार्ग
Theory—सिद्धान्त
Theory of Change—परिवर्तनसिद्धान्त
Theory of Value—मूल्य सिद्धान्त
Theocracy—धर्मतंत्र
Tribunal—न्यायाधिकरण
Trust—प्रन्यास
Tyrant—आततायी
Tyranny—अत्याचार
Unit—इकाई, एकक
Unitary—ऐकिक
Union—संघ
Universal—सार्वभौमिक
Universal Law—सार्वभौमिक विधि
Unsolicited Apologist—स्वयंभू वकील
Utility—उपयोगिता
Utilitarianism—उपयोगितावाद
Utilitarian—उपयोगितावादी
Utopian Thinkers—स्वप्नलोकीय विचारक
Vegetative Stage—जड़ अवस्था
Veto—निषेधाधिकार
Vigilance—जागरूकता
Voluntary Law—स्वेच्छित विधि

सहायक पुस्तकों की सूची

(BIBLIOGRAPHY)

ABBOT, F. F.—"Roman Political Institutions"
,, ,, —Society And Politics In Rome.
ADAMS, A. M.—Plato, Moral And Political Ideals.
ADAMS, G. B.—Civilization During The Middle Ages.
ADDINGTON, R.—Voltaire.
ANNIE BESANT—Fabian Essays.
AQUINAS, T.—Summa Theologia.
ARMSTRONG, E.—Political Aspects of the French Wars of Religion.
ARNOLD, W. T.—The Roman System of Provincial Administration.
AUSTIN, J.—The Province of Jurisprudence Determined.
BAGEHOT, W.—Physics and Politics.
BAIRD. H. M.—Rise of Huguenots In France.
BARNES, H. E.—Sociology And Political Theory.
,, J. S.—Universal Aspect of Fascism.
BARKER, E.—Plato And His Predecessor.
,, ,,—Politics of Aristotle.
,, ,,—Political Thought of Plato and Aristotle.
,, ,,—Social Contract.
,, ,,—Politicl Thought In England From 1848 to 1914.
BANCOUR, J. P.—Foundation of Sovereignty.
BENTHAM, J.—The Principles of Morals And Legislation;
,, ,,—Fragments On Government.
BLACKSTONE, W.—Commentaries On The Laws of England.
BOSANQUET, B.—The Philosophical Theory of State.
BOLINGBROKE,—Works.
BOWLE,—The History of Western Political Thought.
BOOTH, A. J.—Saint Simon and Saint-Simonism.
BRYCE, J.—Studies in History And Jurisprudence;
,, ,,—Holy Roman Empire.
BROWN, I.—English Political Theory.
BURNS, C. D.—Political Ideals.
,, ,,—International Politics.
CALVIN, J.—The Institutes of The Chiristian Religion.
CARLYLE, R. W. & A. J.—History of Medieval Political Theory.
CHIN, V. L.—The Political Theory of T. H. Green.
COKER, F. W.—Readings In Political Philosophy.
COLE. G.D.H.—Guild Socialism.
,, ,,—Social Theory.
,, ,,The World Of Labour.
,, ,,—What Marx Really Meant.
COMTE, A.—Positive Polity.
DAVIDSON, W. L.—The Utilitarians,
,, ,,—Aristotle And Ancient Educational Ideals.
DOYLE PHYLLIS.—A History Of Political Theories.
DUNNING, W.A.—A History of Political Theories, Vol.I,II,III & IV.
DUFF, R. A.—Spinoza's Political Theory And Ethical Philosophy.
EMERTON,—Introduction to The Middle Ages.

EMERSON—Mediaeval Europe.
ENGELS, F.—Socialism, Utopian And Scientific.
FARIES, J. C.—The Rise of Internationalism.
FIGGIS, J. N.—From Gerson To Grotius.
,, ,, —Modern State.
,, ,, —The Divine Right of Kings.
,, ,, —
FILMER, R—Observation Concerning The Origin of Govt.
—Patriarcha.
FINER,.—The Theory And Practice of Modern Government.
FISHER, G. P.—A History of Europe.
,, ,, —History of The Reformation.
FOWLER, W.—City States of Greeks And Romans.
FREEMAN, F. A.—History of Federal Government.
GARNER —Political Science And Government.
GETTELL, R. G.—Political Science.
,, ,, —History of Political Thought.
GIERKE, O. F.—Political Theories of the Middle Ages (Maitland's. Trans.)
GIDDINGS, F.H.—Studies In The Theory of Human Society.
GODWIN, W.—The Political Justice.
GOOCH, G P.—Policical Thought In England From Bacon To Halifax.
,, ,, —Studies of Modern History.
,, ,, —English Democratic Ideas.
GRANT, A.—The Ethics of Aristotle.
GREEN, T. M.—Principles of Political Obligation.
HEARNSHAW F.G.C.—The Social And Political Ideas of Middle Ages.
,, ,, ,, —The Social And Political Thinkers of The Revolutionary Era.
HEGEL, G. W. F.—The Philosophy of Right.
,, ,, —The Philosophy of History.
HICKS, F. C.—Internationalism.
HOBBES, T.—Leviathan (edited by Rhys).
HOBHOUSE, L.T.—The Metaphysicl Theory of State.
HOBSON, S. G.—National Guilds.
,, J. A.—Imperialism.
HYNDMAN, H.—England For All,
JOAD, C.E.M.—Modern Political Theories.
JOWETT, B.—The Dialogues of Plato.
,, ,,—The Politics of Aristotle.
KNOX, J.—Appellations.
LASKI, H.J.—Political Thought In England From Locke to Bentham.
,, ,,—A Grammar of Politics.
,, ,, —Foundation of Sovereignty And Other Essays
,, ,, Political Ideas of James I (An Essay in the Political Science, Vol. XXXIV).
,, ,, —Communism.
LECKEY, W.—England In The Eighteenth Century.
LINDSAY. A. D.—J. S. Millon Utilitarianism, Liberty And Representative Government.
,, ,, —The State In Political Theory

LOCKE, J.—The Two Treatises on Civil Government. (Ed. by W. S. Carpenter).
LORD, A. R.—Principles Of Politics.
,, ,, —Social Contract.
LUTHER, M.—Letter to German Nobility.
,, ,, —How Far Obedience Is Due To Secular Authority.
,, ,, —Good Works.
MABBOT, J. D.—The State And The Citizen.
MACAULAY—Machiavelli (Essays).
MACCUNN, J.—The Political Philosophy Of Burke.
MACDONALD, R.—Syndicalism.
MACHIAVELLI—The Prince.
MACIVER, R. M.—Community.
MARX, K.—The Capital.
MAX BAER.—The Life of Karl Marx.
MAXEY, C.C. —Political Philosophies.
MERRIAM, C.E.—History of Sovereignty since Rousseau.
MILL, JAMES—Essay On Government.
Morley, J.—Machiavelli.
MURRAY, J. M.—The History of Political Science.
NETTLESHIP, R. L.—Lectures On Plato's Republic.
ORAGE. A.R.—An Alphabet of Economics.
PAINE, T.—The Rights of Man.
PEASE, E. —A History of Fabian Society.
POLLOCK, SIR F.—The History of Law of Nature.
,, ,, ,,—The History of the Science of Politics.
,, ,, ,,—Spinoza, His Life And Philosophy.
PUFFNDORF—The Law of Nature and of Nations.
REEVES, J. S.—Jeremy Bentham and American Jurisprudences
RICHARDS, J. W.—Phillip Melanchthon.
SABINE, G.H.—A History of Political Theory.
SE'DDILLOT R.—A Bird's Eye View of World History.
SIDGEWICK, H.—The Development of European Polity.
SPENCER, H.—Social Studies.
,, ,, —Man *Versus* State
STALIN, J. V.—An Essay on Historical and Dialectical Materialism.
,, ,, —Leninism.
SYMONDS—Renaissance In Italy.
TAYLOR, H.O.—The Medieval Mind.
,, ,, Thought and Expression In The Sixteenth Century.
VAUGHAN, C.E.—Political Writings of J. J. Rousseau.
,, ,, —R. W.B.—Life and Labours of St. Thomas Aquinas
WALKER, T.A.—History of Law of Nations.
WALLAS, G.—Fabian Essays.
,, ,,—The Great Society.
,, ,, Human Nature In Politics.
WICKSTEED, P.H.—Dante And Aquinas.
WILLOUGHBY, W.W.—Political Theories of The Ancient World.
,, ,, —The Nature of State.
WOODBRIDGE—Philosophy of Hobbes.
ZIMMERN, A. W.—The Greek Commonwealth.

अनुक्रमणिका

(INDEX)